क्षमा-प्राथना

[illegible] के दोनो [illegible] को एकसाथ ही प्रकाशित करने का था, [illegible] आने से और प्रेस की ओर से छपाई मे [illegible] उसके [illegible] दिसम्बर के अन्त मे प्रकाशित [illegible] हमको तो असुविधा हुई ही, पाठको को भी असुविधा हुई होगी [illegible] हम पाठको से क्षमा चाहते है।

[illegible] अन्त मे जो निर्देशिका (Index) दी गई है उसके तैयार कराने मे [illegible] बहुत असुविधा और मिहनत उठानी पडी। एक मित्र ने इसके तैयार करने का भार उठाया था लेकिन उनपर और दूसरे काम का भार आजाने से वह इसे पूरा न कर सके। [illegible] और कार्यो को करते हुए, यह भी हमीको करना पडा। पहले से इस कार्य का कोई अनुभव न होने से इसमे कई त्रुटिया रह गई होगी, इसके लिए हम पाठको से क्षमा चाहते है। १५०० पृष्ठो को महीने-सवा महीने के थोडे-से समय मे [illegible] उनकी निर्देशिका बनाना आसान काम नही था। अगर इस कार्य मे अपने साथी श्री पुरुषोत्तम पन्त और श्री हरिभाऊ उपाध्याय के निजी मत्री तथा 'राजस्थान-सघ' के सदस्य श्री सुधीन्द्र बी० ए० की अनवरत सहायता न मिलती तो हमे इस पुस्तक मे निर्देशिका लगाने का विचार ही छोड देना पडता। अत इन दोनो मित्रो का और 'राजस्थान सघ' का हम हृदय से आभार मानते है।

पहले खण्ड मे हमने सन् १९३३ से अबतक की घटनाओ की सूची देने की बात लिखी थी, लेकिन हमे बडा अफसोस है कि हम उसका प्रबन्ध अन्त समय तक नही कर सके। एक जिम्मेदार मित्र ने इसके तैयार करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया था, लेकिन वह भी अपने और कामो मे इतने लगे रहे कि इस ओर ध्यान न देसके। और समय पर सूची बनाकर नही दे सके। अत इसके लिए हम पाठको से क्षमा चाहते है। इसका दूसरा सस्करण हुआ तो उसमे हम अवश्य जोड देगे।

यद्यपि इस पुस्तक की छपाई मे प्रेस की ओर से काफी देरी हुई है और पाठको के सामने इसके देर मे आने मे, एक बडे अशतक, प्रेस जिम्मेदार है, लेकिन फिर भी हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस और उसके कर्मचारी धन्यवाद के पात्र है। इसको इतनी सुन्दरता मे छापने मे उन्होने मिहनत तो की ही है।

मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल

विषय-सूची

परिशिष्ट

विश्व-इतिहास की झलक

[दूसरा खण्ड]

: १३२ :

समाजवाद का आगमन

१३ फरवरी, १९३३

मै तुम्हे लोकसत्ता की प्रगति के बारे मे लिख चुका हूँ, मगर, याद रखना, इस प्रगति के लिए युद्ध करना पड़ा था। किसी प्रचलित व्यवस्था में जिन लोगो का स्वार्थ होता है वे तब्दीली नहीं चाहते और कोई तब्दीली होती है तो उसे सारा ज़ोर लगाकर रोकने की कोशिश करते है। फिर भी ऐसी तब्दीलियो के बिना कोई सुधार या तरक्की नहीं हो सकती। किसी भी सस्था या शासन-प्रणाली को उससे अच्छी के लिए जगह खाली करनी पडती है। जो लोग यह तरक्की चाहते है, उन्हे पुरानी सस्था या पुराने रिवाज पर हमला करना ही पडता है। इस तरह उन्हे सदा मौजूदा हालत की मुखालफत करनी और जो लोग उस हालत से फायदा उठाते है उनके साथ जद्दोजहद करना लाजिमी होजाता है। पश्चिमी योरप में शासकवर्ग ने हर तरह की तरक्की की कदम-कदम पर मुखालफत की। इंग्लैण्ड में उन्होने तब हथियार डाले जब देख लिया कि ऐसा न करने से हिसात्मक क्रांति होने की सम्भावना है। जैसा मै पहले बता चुका हूँ, उनके लिए आगे बढ़ने का दूसरा कारण नये व्यवसायी लोगो का यह खयाल था कि थोडी-सी लोकसत्ता तिजारत के लिए फायदेमन्द है।

मगर मैं तुम्हे फिर याद दिलाता हूँ कि उन्नीसवी सदी के पहले आधे हिस्से में ये लोकसत्तात्मक विचार पढे-लिखे लोगो तक ही महदूद थे। मामूली आदमियो पर उद्योगवाद की तरक्की का जबरदस्त असर हुआ था और वे जमीन छोड़-छोड़कर कारखानो में जाने लगे थे। कारखानो के मजदूरो का वर्ग बढ़ रहा था। आम तौर पर कोयले की खानो के पासवाले शहरो मे वे भद्दे और गन्दे मकानो मे भेड़-बकरियो की तरह भरे रहते थे। इन मजदूरो के खयालात जल्दी-जल्दी बदल रहे थे और उनके अन्दर एक नई मनोवृत्ति का विकास हो रहा था। जो किसान और कारीगर भूख के मारे कारखानो में आ-आकर भरती हुए थे उनसे ये मजदूर बिलकुल जुदा थे। जैसे इन कारखानो के खोलने मे इंग्लैण्ड सबसे आगे बढ़ा हुआ था, वैसे ही कारखानो के मजदूरो का वर्ग भी पहलेपहल इंग्लैण्ड में पैदा हुआ और बढ़ा। कारखानो के भीतर की हालत खौफनाक थी और मजदूरो के घर या झोपडे और भी बुरी हालत में थे। उन्हे तकलीफ भी बहुत थी। छोटे-छोटे बच्चो और औरतो को इतनी देर तक काम करना पडता था कि आज उस बात पर यकीन नही होता।

फिर भी इन कारखानो और घरो की हालत कानून के जरिये सुधारने के लिए जितनी कोशिशें की गई, मालिकों ने डटकर उनकी मुखालफत की। उनका कहना था कि यह सम्पत्ति के अधिकारो में शर्मनाक दस्तन्दाजी है। खानगी मकानो को जबरदस्ती साफ करवाने का उन्होने इसी बिना पर विरोध किया। बहुत-कुछ इसी तरह की मनोवृत्ति आज हिन्दुस्तान मे भी न सिर्फ कारखानेदारों और जमींदारो में बल्कि सामाजिक और धार्मिक कट्टरो में भी पाई जाती है। ये पिछले भले आदमी सुधार में बाधा डालने को सदा मजहब और रिवाज की आड़ लेते हैं।

गरीब अंग्रेज मजदूर धीरे-धीरे भूख और ज्यादा काम के बोझ से मरे जा रहे थे। नेपोलियन की लड़ाइयों से देश थक गया था और आर्थिक मन्दी फैल गई थी। इससे ज्यादा तकलीफ मजदूरो को ही हुई। (१९१४-१८ के महायुद्ध की विरासत की शक्ल में आज कुछ इसी तरह की हालत सारी दुनिया की हो रही है।) स्वभावतः मजदूर अपनी हिफाजत करने और अच्छी हालत के लिए लड़ने को संघ बनाना चाहते थे। पुराने जमाने में कारीगरो और दस्तकारो की पंचायते होती थीं, मगर वे इन संघो से बिलकुल जुदा ढग की थी। फिर भी उन पंचायतो की याद मे कारखानो के मजदूरो को अपने संघ बनाने में प्रोत्साहन मिला होगा। मगर उन्हे ऐसा नहीं करने दिया गया। ब्रिटेन का शासक-वर्ग फ्रांस की राज्यक्रांति से इतना डर गया कि उन्होने 'सम्मिलन कानून' (Combination Acts) के नाम से ऐसे नियम बना दिये कि गरीब मजदूर अपने दुःख-सुख की चर्चा करने के लिए इकट्ठे भी न हो सके। 'कानून और व्यवस्था' का सदा से यही काम रहा है---इंग्लैण्ड में भी था और हिन्दुस्तान में भी है---कि जिन मुट्ठीभर लोगो के हाथ में सत्ता है उनके उद्देश्य पूरे होते रहे और उनकी जेबो पर आँच न आने पावे।

लेकिन मजदूरो को इकट्ठा होने से रोकनेवाले कानूनो से हालत नहीं सुधरी। उनसे वे और भड़क गये और निराश होगये। उन्होने गुप्त समितियां बनाई, अपनी बाते गुप्त रखने की कसम खाई और सुनसान जगहो में आधी रात गये सभायें करने लगे। धोखा खाने या भेद खुल जाने पर षड्यंत्र के मुकदमे चलते और भयंकर सजायें दी जातीं। कभी-कभी वे गुस्से में आकर कलो को तोड़-फोड़ डालते, कारखानों में आग लगा देते और अपने मालिको का खून भी कर डालते थे। आखिर १८२५ ई० में मजदूर संगठनो पर से पाबन्दियां कुछ-कुछ हटाली गई और मजदूर-संघ (Trade Unions) बनने लग गये। ये संघ अच्छी तनख्वाह पानेवाले होशियार मजदूरों ने बनाये। मामूली मजदूर लम्बे अर्से तक असंगठित ही रहे। इस तरह मजदूर-आन्दोलन की यह सूरत होगई कि मिलकर शर्तें तय करने के तरीके पर मजदूरो

की ताकत बढ़ाने के लिए मजदूर-सघ बन गये। मजदूरो के हाथ मे असली हथि-यार था किसी कारखाने में हड़ताल करने का अधिकार था, यानी वे जिस कारखाने में या जहाँ कहीं काम करते थे उसका काम बन्द करके उसका चलना रुकवा सकते थे। बेशक यह बड़ा हथियार था, मगर उनके मालिको के हाथ में इससे भी जबरदस्त हथियार था और वे मजदूरो को भूखो मारकर कब्जे में कर सकते थे। इस तरह मजदूरो की लड़ाई जारी रही। उन्हे कुर्बानी बहुत करनी पडी और धीरे-धीरे फायदा भी होता गया। पार्लमेण्ट पर उनका सीधा असर नहीं था, क्योकि उन्हे मत देने का हक भी नहीं मिला था। १८३२ ई० के जिस 'सुधार कानून' (Reform Bill) पर इतना शोर मचा था उसने सिर्फ सम्पन्न मध्यमवर्ग के लोगो को राय देने का हक हासिल हुआ था। मजदूर ही नहीं, गरीब मध्यमवर्ग के लोग भी वोट के हक से महरूम रहे थे।

इस बीच में मञ्चेस्टर के कारखानेदारो में ही एक रहमदिल आदमी पैदा हुआ। उसे मजदूरो की दिल दहलाने वाली हालत देखकर दर्द हुआ। उसका नाम रॉबर्ट ओवेन था। उसने अपने कारखानो में बहुत-से सुधार किये और मजदूरो की हालत अच्छी की। वह अपने मालिक भाइयो में आन्दोलन मचाता रहा और दलीलो से उन्हे मजदूरो के साथ अच्छा वर्ताव करने के लिए समझाता रहा। कुछ उसके कारण और कुछ दूसरी हालतो से मजबूर होकर ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने मजदूरों को मालिको के लालच और खुदगर्जी से बचाने के लिए पहला कानून पास किया। यह १८१९ ई० का 'कारखानो का कानून' (Factory Act) था। इस कानून में एक नियम यह था कि नौ-नौ वर्ष के छोटे बच्चो से बारह घण्टे से ज्यादा काम न लिया जाय। इस धारा से भी तुम्हे कल्पना होजायगी कि मजदूरो को कैसी दर्दनाक हालत में रहना पड़ता था।

कहते हैं कि रॉबर्ट ओवेन ने ही १८३० ई० के आसपास 'समाजवाद' शब्द का पहलेपहल प्रयोग किया। अलबत्ता गरीब-अमीर को एक सतह पर लाने का और सम्पत्ति के बराबर बँटवारे का विचार नया नही था। पहले भी बहुत लोगो ने यह खयाल जाहिर किया था। पुरानी ग्राम-पचायतो में एक तरह का साम्य-वाद था ही, क्योकि उनमें जाति या गाँवभर का जमीन और दूसरी सम्पत्ति पर सम्मिलित अधिकार होता था। इसे प्रारम्भिक साम्यवाद (Primitive Communism) कहते हैं और यह हिन्दुस्तान और दूसरे कई देशो में पाया जाता था। मगर नये समाजवाद में सबको बराबर कर देने की निश्चित इच्छा के अलावा और भी बहुत कुछ था। यह अधिक निश्चित है और शुरू में इसका उद्देश्य यह था कि यह

कारखानों वाली उत्पत्ति की नई प्रणाली पर लागू होजाय। इस तरह यह औद्योगिक प्रणाली की औलाद था। ओवेन का खयाल यह था कि मजदूरों की सहयोग-समितियाँ बन जायँ और मजदूरों का कारखानो में हिस्सा होजाय। उसने इंग्लैण्ड और अमेरिका में नमूने के कारखाने और आश्रम खोले और उन्हें कहीं कम और कहीं ज्यादा कामयाबी भी मिली। मगर वह अपने मालिक भाइयो या सरकार के खयालात नहीं बदल सका। फिर भी अपने समय में उसका असर बहुत था और उसने 'समाजवाद' का एक ही शब्द ऐसा चला दिया जिसने उसी समय से करोड़ों के दिलों पर कब्जा कर लिया।

इस बीच में पूंजीवादी उद्योग-धन्धे बराबर बढ़ते गये, और जैसे-जैसे इसे कामयाबी-पर-कामयाबी मिलती गई वैसे-वैसे मजदूरो का सवाल भी जोर पकडता गया। पूंजीवाद का नतीजा यह हुआ कि उत्पत्ति बहुत बढ़ गई और उसकी वजह से आबादी भी बहुत तेजी से बढ़ी, क्योंकि अब पहले से ज्यादा आदमियो की परवरिश हो सकती थी। एक तरफ बडे-बडे व्यवसाय खडे होगये और उनके अलग-अलग विभागो में पेचीदा ढंग का सहयोग स्थापित होगया। दूसरी तरफ छोटे-छोटे धन्धों की मुकाबिला करने की ताकत कुचलकर बरबाद करदी गई। इंग्लैण्ड में दौलत का दरिया उलट पड़ा, और उसे ज्यादातर नये कारखाने और रेलें बनाने या ऐसे ही दूसरे व्यवसाय खडे करने में लगाया गया। मजदूरो ने भी हड़तालें कर-करके अपनी हालत सुधारने की कोशिश की, मगर ये हडतालें आम तौर पर बुरी तरह नाकामयाब होती थीं। बाद में मजदूर १८४० ई० के चार्टिस्ट आन्दोलन में शामिल होगये। मैं तुम्हे किसी पिछले खत में बता चुका हूँ कि यह आन्दोलन १८४८ ई० की क्रान्ति के वर्ष में बैठ गया था।

पूंजीवाद की कामयाबी से लोगो की आँखो में चकाचौंध होगई, मगर फिर भी कुछ उग्र सुधारक, ऊँचे खयालात के या दूसरो की भलाई की ख्वाहिश रखनेवाले ऐसे लोग रह गये थे, जिन्हे इस हत्यारी स्पर्धा यानी एक-दूसरे का गला काटनेवाली लाग-डाँट से खुशी नहीं होती थी। वे देश की दौलत बढती रहने पर भी इससे होनेवाले मजदूरो के दुखो से दुखी थे। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में इन लोगो ने जुदा-जुदा उपाय भी सोचे और अलग-अलग हल सुझाये। इन्हीं सबका इकट्ठा नाम समाजवाद, समष्टिवाद या सामाजिक लोकसत्ता है। थोडे-बहुत फर्क के साथ इन सब शब्दो का एक ही अर्थ है। ये सब सुधारक आमतौर पर इस बात पर सहमत थे कि झगडे की जड़ उद्योगों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और नियंत्रण यानी कुछ थोडे-से लोगों की मालिकी और कब्जे का होना है। व्यक्तियो के बजाय राष्ट्र या राज्य

लोगों [illegible] का सामूहिक जमीन और बड़े-बड़े उद्योगों का, यानी उत्पत्ति के साधनों का [illegible] मालिक बन जाय और वही उन्हें चलावे तो मजदूरों के जो चूसे जाने का खतरा न रहे। इस तरह एक [illegible] शुरू में ही सही, लोग पूजीवादी व्यवस्था से बचाने का दूसरा कोई उपाय ढूंढने लगे। मगर पूजीवादी व्यवस्था घर [illegible] नहीं जाती थी। उसका जोर तो बढ़ता चला जारहा था।

इन समाजवादी विचारों के चलानेवाले शिक्षित और दिमागी लोग थे और चलानेवालों में से रॉबर्ट ओवेन था। मजदूर-संघों का आन्दोलन कुछ समय के लिए दूसरी दिशा में चला गया और सिर्फ ज्यादा मजदूरी और पहले से अच्छी हालत के लिए कोशिश करने लगा। मगर उनपर इन विचारों का आम तौर पर असर पड़ा और उनका [illegible] असर समाजवाद के विकास पर भी खूब हुआ। योरप के बड़े-बड़े उद्योगवादी देश इंग्लैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी थे। इन तीनो में अपने-अपने यहां के मजदूरवर्ग के बल और स्वभाव के मुताबिक समाजवाद का विकास जरा अलग-अलग तरह से हुआ। सारी बातों को देखते हुए अंग्रेजों का समाजवाद अनुदार था। उनका विश्वास धीरे-धीरे उन्नति के तरीकों पर था और दूसरे यूरोपियन देशों का समाजवाद उग्र और क्रान्तिकारी था। अमेरिका की हालत बिलकुल जुदा थी, क्योंकि वह बड़ा लम्बा-चौड़ा देश ठहरा और वहाँ मजदूरों की माँग भी बहुत थी। इसीलिए बहुत अर्से तक वहाँ कोई जोरदार मजदूर-आन्दोलन नहीं पनप सका।

उन्नीसवीं सदी के बीच से लगाकर आगे एक पीढी तक ब्रिटिश उद्योग ससार पर हावी रहा और दौलत की नदी उसीकी तरफ बहती रही। कारखानों का मुनाफा और हिन्दुस्तान और दूसरे गुलाम मुल्कों से चूसा हुआ रुपया बराबर उसकी जेब में आता रहा। इस धन का एक हिस्सा मजदूरों के पास भी पहुँच गया और उनके रहन-सहन का दर्जा इतना ऊँचा हो गया जितना पहले कभी नहीं हुआ था। खुश-हाली और क्रान्ति का क्या साथ? ब्रिटिश मजदूरों की पुरानी क्रान्ति की भावना काफूर होगई। ब्रिटिश छाप का समाजवाद सबसे नरम होगया। इसका नाम फैबि-यनवाद पड़ गया। इस नाम का एक रोमन सेनापति था। वह दुश्मन से सीधी लड़ाई न लड़कर उसे धीरे-धीरे थका मारता था। १८६७ ई० में इंग्लैण्ड में राय देने का हक और भी बढा दिया गया और थोडे-से शहरी मजदूरों को भी राय देने का हक मिल गया। मजदूर-सघ इतने सयाने और खुशहाल होगये थे कि मजदूरदल का मत ब्रिटिश उदारदल को मिलने लगा था। इस समय के बारे में लिखते हुए कार्ल मार्क्स कहता है:—"अंग्रेजी मजदूर का नेता होना इज्जत की बात नहीं है, उसका नेता न होना

इज्जत की बात है; क्योंकि इन नेताओं में से ज्यादातर ने अपनेआपको उदारदल के हाथों बेच दिया है।" यह बात पचास वर्ष से ज्यादा होगया तब लिखी गई थी, मगर आज भी अंग्रेजी मजदूर नेता इस बात के लिए बदनाम हैं कि जिन लोगों के कारण वे बड़े आदमी बनते हैं उन्हींको भूल जाते हैं और अपने पुराने दल और काम के प्रति बेवफा साबित होते हैं। आज तो उन्होंने इतनी तरक्की और करली है कि उदारदल के बजाय अब उनकी राय अनुदार दल के साथ रहती है।

इधर इंग्लैण्ड वैभव के मारे फूला न समा रहा था और उधर योरप के दूसरे मुल्कों में एक नया मत जोर पकड़ता जाता था। यह मत अराजकतावाद (Anarchism) कहलाता था। जो लोग इसके बारे में कुछ नहीं जानते वे इस शब्द से ही डर जाते हैं। अराजकतावाद का अर्थ यह है कि जहाँतक होसके समाज में हुकूमत करने-वाली कोई केन्द्रीय सरकार न रहे और व्यक्तियों को खूब आजादी मिले। अराजकता के आदर्श में अलौकिक ऊँचाई थी। उसके अनुसार एक "ऐसे आदर्श राष्ट्र में विश्वास होना चाहिए, जिसका आधार परोपकार-बुद्धि, ऐक्य-भाव और दूसरे के अधिकारों का स्वेच्छापूर्वक लिहाज हो।" राज्य की तरफ से कोई बल-प्रयोग या जबरदस्ती न हो। थोरो नाम के अमेरिकन ने कहा है—"सरकार सबसे अच्छी वह है जो बिलकुल शासन न करे और जब मनुष्य ऐसी सरकार के लिए तैयार होजायँगे तब उन्हें वैसी ही सरकार मिल जायगी।"

यह आदर्श बड़ा बढ़िया मालूम होता है। हरेक को पूरी आजादी हो, हरेक आदमी दूसरे का लिहाज रक्खे, सब तरफ निःस्वार्थता का बोलबाला हो और लोग खुशी-खुशी आपस में सहयोग करें—इससे ज्यादा और क्या चाहिए? मगर आज की खुदगर्ज और हिंसा से भरी दुनिया के लिए यह दिल्ली अभी बहुत दूर है। अराजकतावादियों की यह इच्छा कि केन्द्रीय सरकार कतई न हो या वह नाम-मात्र को शासन करे, शायद इस कारण पैदा हुई होगी कि स्वेच्छाचारी एकतंत्री शासन ने लोगों को बहुत दिनों तक दुःख दिये थे। चूंकि सरकारों ने रिआया को कुचला और सताया था, इसलिए सरकार रहने ही न दी जाय। अराजकतावादियों को ऐसा भी लगा कि कुछ तरह के समाजवाद में राष्ट्र उत्पत्ति के सारे साधनों का मालिक होता है और इसलिए मुमकिन है वह खुद निरंकुश बन जाय। इस तरह अराजकतावादी लोग ऐसे समाजवादी थे जिनका स्थानीय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बहुत जोर था। समाज-वादियों में से भी बहुत लोग अराजकतावादियों के मत को एक आगे या बहुत दूर के आदर्श के रूप में मानने को तैयार थे, मगर उनकी राय में कुछ समय तक समाज-वाद में भी एक केन्द्रीय और मजबूत सरकार का होना जरूरी था। इस तरह

मार्क्सवादी समाजवाद और अराजकतावाद में काफी अन्तर था, फिर भी दोनो के बहुत-से सिद्धान्त [illegible] काम करने पर इतनी ठीक मिलती थी।

यान्त्रिक उद्योग-धन्धो से सारा एक सगठित मजदूरवर्ग पैदा हुआ। अराजकतावाद का स्वभाव ही ऐसा था कि वह कोई सुसगठित आन्दोलन नही बन सकता था। इसलिए उद्योगवादी देशो में जहा मजदूर-सघ और ऐसी ही सस्थाये बढ रही थी, वहा अराजकतावादी विचारो के फैलने की बहुत कम सभावना थी। इस तरह न इंग्लैण्ड में और न जर्मनी में ही अराजकतावादियो की कोई बडी सख्या हुई। लेकिन दक्षिणी और पूर्वी यूरप उद्योग-धन्धो में पिछड़ा हुआ था, इसलिए वहाँ इन विचारो के लिए ज्यादा उपजाऊ जमीन थी। जैसे-जैसे वर्तमान उद्योगवाद का दक्षिण और पूर्व में प्रचार हुआ, वैसे-वैसे अराजकतावाद कमजोर पडता गया। आज यह करीब-करीब एक मुर्दा उसूल हो गया है, मगर स्पेन जैसे पिछडे हुए बडे-बडे कल-कारखानो से सूने देश में फिर भी कहीं-कहीं इसके निशान मिलते हैं।

अराजकतावाद का आदर्श भले ही बहुत सुन्दर हो, मगर इससे न केवल जल्दी भडकनेवाले और असन्तुष्ट लोगो को ही बल्कि ऐसे स्वार्थियो को भी आश्रय मिला जो आदर्श की आड में अपना फायदा करना चाहते थे। और इसके कारण एक खास तरह की हिंसा का जन्म होगया जो अराजकता का नाम लेते ही तुरन्त हर किसीकी समझ में आजाती है और जो इतनी बदनाम भी हो चुकी है। अराजकतावादी चाहते तो यह थे कि समाज को बदला जाय, मगर किसी बडे पैमाने पर यह कुछ न हो सका तो उन्होंने एक नये ढग से प्रचार करने का इरादा किया। यह 'करके दिखाने का तरीका' कहलाता था। इसके अनुसार वे मुल्क के ख़िलाफ बहादुरी के काम करके और अपने प्राणो की कुरबानी देकर साहस का नमूना पेश करते और उसका असर डालते थे। इस ख़याल से अलग-अलग मुकामो पर बलवे हुए। जिन लोगो ने इनमें हिस्सा लिया उन्होंने तुरन्त किसी कामयाबी की उम्मीद नहीं रखी थी। अपने काम का इस नये ढंग से प्रचार करते हुए वे खुशी से अपनी जान जोखिम में डालते थे। पर ये विद्रोह दबा दिये गये और फिर अराजकतावादियो ने व्यक्तिगत आतकवाद का आश्रय लेना शुरू कर दिया। राजाओ और बडे हाकिमो पर बम फेंके जाने लगे और उन्हे गोली का शिकार बनाया जाने लगा। यह बेवकूफी से भरी हिंसा बढती हुई कमजोरी और निराशा की खुली निशानी थी। धीरे-धीरे उन्नीसवी सदी के ख़तम होते-होते अराजकतावाद आन्दोलन की हैसियत से एकदम ख़तम होगया। बहुत-से अराजकतावादी नेताओ ने बम फेंकने और 'कुछ काम कर दिखाने' के प्रचार के इस तरीके को नापसन्द किया और उसकी निन्दा भी की।

तुम्हे कुछ मशहूर अराजकतावादियो के नाम बताऊँगा। मज़े की बात यह है कि खानगी जीवन में अधिकांश अराजकतावादी नेता निहायत शरीफ, आदर्शवादी और पसन्द करने लायक आदमी थे। शुरू के अराजकतावादी नेताओं में पायरे प्राउढन नाम का एक फ्रांसीसी था। यह १८०९ से १८६५ ई० तक जिन्दा रहा। उससे ज़रा उम्र में छोटा माइकेल बैकुनिन नाम का रूसी रईस था। यह योरप का, और खास तौर पर दक्षिण में, एक बड़ा लोकप्रिय मज़दूर नेता था। इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाया था, मगर मार्क्स के साथ भिड़न्त हो जाने के कारण उसने इसे संघ से निकलवा दिया। तीसरा नाम रूसी राजकुमार पीटर क्रोपाटकिन का है। यह तो हमारे अपने समय की बात है। उसने अराजकतावाद और दूसरे विषयो पर कुछ बहुत ही रोचक पुस्तके लिखी है। चौथा और आखिरी नाम जो मैं तुम्हे बताऊँगा वह है इटली-निवासी एनरीको मालाटेस्टा का। यह अभी जिन्दा है और ८० वर्ष से ज्यादा उम्र का है। यह उन्नीसवीं सदी के महान् अराजकतावादियो का बचा हुआ निशान है।

मालाटेस्टा के बारे में एक सुन्दर कहानी कहे बिना मैं नहीं रह सकता। इटली की एक अदालत में उसपर मुकदमा चल रहा था। सरकारी वकील ने बहस में कहा कि उस इलाके के मजदूरो में मालाटेस्टा का बहुत ज्यादा असर है और उसने उनका स्वभाव ही बिलकुल बदल दिया है। वह तो अपराधवृत्ति का ही खात्मा कर रहा है और जुर्मों की तादाद बहुत घटती जा रही है। अगर अपराध बन्द हो गये तो फिर अदालते क्या करेगी ? इसलिए मालाटेस्टा को जेल भेजा जाय ! मालाटेस्टा को सचमुच छ महीने कैद की सजा हुई !

बदकिस्मती से अराजकतावाद के साथ हिंसा का दूध-पानी का-सा सम्बन्ध हो-गया और लोग यह भूल गये कि यह भी एक तत्त्वज्ञान और एक आदर्श है जिसने बहुत-से अच्छे-अच्छे आदमियो पर असर डाला है। आदर्श के रूप में हमारी आज-कल की अधूरी दुनिया से यह अब भी बहुत दूर है और इसने जो सरल उपाय बनाये है वे हमारी आधुनिक पेचीदा सभ्यता के अनुकूल नहीं है।

: १३३ :

कार्ल मार्क्स और मज़दूर-संगठनों की वृद्धि

१४ फरवरी, १९३३

उन्नीसवीं सदी के बीच के आसपास योरप के मजदूर और समाजवादी संसार में एक नये और प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला आदमी हुआ। यह आदमी कार्ल मार्क्स था, जिसका नाम इन पत्रों में पहले ही आ चुका है। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म १८१८ ई० में हुआ था। उसने कानून, इतिहास और तत्त्वज्ञान का अध्ययन किया और एक अखबार निकाला, जिसके कारण उसका जर्मनी के अधिकारियों से झगड़ा होगया और वह पेरिस चला गया। पेरिस में वह नये-नये लोगो के सम्पर्क में आया, उसने समाजवाद और अराजकतावाद पर नई-नई किताबें पढी और समाजवादी बन गया। वहीं पेरिस में फ्रेडरिक एञ्जेलस नामक दूसरे जर्मन से उसकी मुलाकात हुई। यह इग्लैण्ड आकर बस गया था और वहाॅ रुई के बढते हुए उद्योग में एक कारखाने का मालिक बन गया था। एञ्जेलस भी वर्तमान सामाजिक स्थिति से दुखी और असन्तुष्ट था और अपने चारो तरफ दीखनेवाली गरीबी और शोषण को रोकने के उपायो की तलाश कर रहा था। सुधार-सम्बन्धी रॉबर्ट ओवेन के ख़यालात और कोशिशें उसे अच्छी लगी और वह ओवेन का अनुयायी बन गया। पेरिस जाने पर उसकी कार्ल मार्क्स से पहलेपहल मुलाकात हुई। इससे भी उसके ख़यालात बदले। आगे से मार्क्स और एञ्जेलस गहरे दोस्त और साथी हो-गय। दोनो के एक-से ख़याल थे और दोनो एक ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। उम्र में भी दोनो करीब-करीब बराबर के थे। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो किताबें उन्होने छपाई उनमें से ज्यादातर दोनो की लिखी हुई थी।

उस वक्त की फ़्रास की सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फिलिप का ज़माना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहाॅ बहुत वर्ष तक रहा। वहाँ वह ब्रिटिश म्यूज़ियम की किताबें पढने में लगा रहता। उसने खूब मेहनत करके अपने उसूल पक्के कर लिये और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा अध्यापक या तत्त्वज्ञानी नहीं था, जो उसूल गढ़ा करता हो और मामूली बातो से सरोकार न रखता हो। जहाँ उसने समाजवादी आन्दोलन की धुंधली विचार-रेखा का विकास किया और उसे स्पष्ट किया और उसके सामने निश्चित और साफ-साफ विचार और ध्येय उपस्थित किये, वहाॅ वह मजदूरो और उनके आन्दोलन को

संगठित करने का काम भी असली तौर पर, ज़ोरों के साथ, करता रहा। सन् १८४८ में, जो योरप में क्रान्तियों का वर्ष कहलाता है, जो घटनायें हुईं उनका मार्क्स पर स्वभावतः ख़ूब असर हुआ। इसी साल उसने और एन्जेल्स ने मिलकर एक घोषणा-पत्र या मैनीफ़ेस्टो प्रकाशित किया जो बहुत मशहूर हुआ। यह 'साम्यवादी घोषणापत्र' (Communist Manifesto) था, जिसमें उन्होंने उन ख़यालात का इज़हार किया था जो फ़्रांस की महान् राज्य-क्रान्ति और बाद में १८३० और १८४८ ई० की घटनाओं की जड़ में थे। उन्होंने इस घोषणापत्र में यह भी बताया कि वे ख़यालात असली हालात से किस तरह मेल नहीं खाते थे और उनके लिए वे कितने नाकाफ़ी थे। उन्होंने उस वक़्त की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की लोकसत्तावादी आवाज़ों की आलोचना की और यह दिखाया कि इन आवाज़ों का आम लोगों के लिए तो कोई मतलब है नहीं, हाँ, मध्यम श्रेणी के अमीरों के राज्य को एक अच्छा परदा ज़रूर मिल गया है। इस घोषणा में उन्होंने आगे चलकर, मुख़्तसर में समाजवाद के अपने उसूलों का प्रतिपादन किया। इसका कुछ हाल मैं तुम्हें आगे कहूँगा। घोषणापत्र के आख़ीर में उन्होंने सारे मज़दूरों से इन शब्दों में अपील की :—"संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नहीं है सिवाय अपनी गुलामी की ज़ंजीरों के और पाने को संसार पड़ा है!"

यह अपील काम करने की पुकार थी। इसके बाद मार्क्स ने अख़बारों और पर्चों के ज़रिये ज़ोरदार प्रचार शुरू कर दिया और मज़दूर संगठनों को नज़दीक लाने की दिन-रात कोशिश करने लगा। ऐसा जान पड़ता है कि उसे योरप में कोई बड़ा संकट-काल आता दिखाई दे रहा था और वह चाहता था कि मज़दूर उसके लिए तैयार रहें, ताकि वे उससे पूरा फ़ायदा उठा सकें। उसके समाजवादी उसूलों के मुताबिक़ पूंजीवादी प्रणाली में सचमुच ऐसा संकट-काल आये बिना नहीं रह सकता था। १८५४ ई० में न्यूयार्क के एक अख़बार में लिखते हुए मार्क्स ने कहा था—'फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि योरप में छठी सत्ता भी है जो ख़ास-ख़ास मौक़ों पर पाँचों बड़ी कहलाने वाली सत्ताओं पर अपनी प्रभुता रखती है और उन सबको थरथरा देती है। यह सत्ता क्रान्ति की सत्ता है। इसे चुपचाप एकान्तवास करते हुए बहुत दिन होगये। अब मुसीबतें और भूख इसे फिर लड़ाई के मैदान में बुला रही है। सिर्फ़ एक इशारे की ज़रूरत है। फिर तो योरप की छठी और सबसे बड़ी ताक़त चमकता हुआ कवच पहने और हाथ में तलवार लिये हुए, निकल पड़ेगी। यह इशारा आनेवाले योरप के युद्ध से मिल जायगा।"

योरप के अगले युद्ध के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी ठीक नहीं निकली।

[illegible] हुआ और उसने योरप के एक हिस्से [illegible] हम देख ही चुके हैं कि पेरिस के पंचायती राज्य के रूप में १८७१ [illegible] की जो कोशिश हुई वह बेदर्दी के साथ कुचल दी गई थी।

१८६४ ई० में मार्क्स लन्दन में एक पंचमेल सभा करने में कामयाब हुआ। [illegible] के लोग, जो अपनेको समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। उनके विचार [illegible] नहीं थे। एक तरफ तो योरप के कई गुलाम देशों के लोकसत्तावादी और देशभक्त आये थे। समाजवाद में उनका विश्वास बहुत दूर की चीज था और उनकी ज्यादा दिलचस्पी कौमी आजादी हासिल करने में थी। दूसरी तरफ अराजकतावादी लोग थे, जो तुरन्त लड़ाई मोल लेना चाहते थे। सभा में मार्क्स के सिवा दूसरा प्रभावशाली आदमी अराजकतावादी नेता बैकुनिन था। वह कई वर्ष साइबेरिया में रह कर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बकुनिन के अनुयायी ज्यादातर दक्षिण योरप के इटली और स्पेन वगैरा लैटिन मुल्कों से आये थे। इन देशों में बड़े उद्योग-धंधों का विकास नहीं हुआ था और वे इसमें पिछड़े हुए थे। ये पढ़े-लिखे बेरोजगार और तरह-तरह के क्रान्तिकारी लोग थे जिनको मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में कोई जगह नहीं मिलती थी। मार्क्स के अनुयायी उद्योगवादी देशों से, खासकर जर्मनी से, आये थे, जहाँ मजदूरों की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढ़ते हुए, संगठित और खुशहाल मजदूरों का प्रतिनिधि था और बैकुनिन गरीब और असंगठित मजदूरों, शिक्षितों और असंतुष्ट लोगों का। मार्क्स का यह कहना था कि जबतक कुछ कर गुजरने का वक्त आवे, उस वक्त तक धीरज के साथ मजदूरों को समाजवादी उसूलों की तालीम दी जाय और उसी ढंग पर उनका संगठन किया जाय। बैकुनिन और उसके चेले तुरत कुछ करने के पक्ष में थे। सब बातों को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। 'अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' (International Workingmen's Association) कायम हुआ। यह मजदूरों का पहला अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (Worker's International) था।

तीन साल बाद यानी १८६७ में मार्क्स का महान ग्रंथ कैपिटल (Capital) अर्थात् 'पूंजी' जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। लंदन में उसने कई वर्ष तक जो मेहनत की थी, यह उसीका परिणाम था। इसमें उसने प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तों की छानबीन करके उनकी बुराई-भलाई दिखाई और अपने समाजवादी उसूल विस्तार के साथ समझाये। यह शुद्ध वैज्ञानिक ग्रंथ था। उसने सारी अनिश्चित और आदर्शवाद की बातें छोड़कर व्यावहारिक ढंग से, निष्पक्ष और वैज्ञानिक तरीके पर, इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास का निरूपण किया। उसने खास तौर पर

बडी-बडी मशीनो की औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की और विकास, इतिहास और मानवसमाज के वर्गयुद्ध के बारे में कुछ दूर तक असर करनेवाले नतीजे निकाले । मार्क्स का यह नया गढा-गढाया और जोरदार दलीलो वाला समाजवाद इसीलिए 'वैज्ञानिक समाजवाद' (Scientific Socialism) कहलाया। यह उस अस्पष्ट, हवाई या आदर्शवादी समाजवाद से जुदा था जो अबतक प्रचलित था । मार्क्स की किताब 'पूंजी' (Das Capital) पढ़ने में सहल किताब नहीं है। असल में इससे ज्यादा मुश्किल किताब की कल्पना नही की जा सकती। फिर भी यह उन थोडी-सी किताबो में से एक है जिनसे बहुत लोगो के विचार करने के तरीके पर असर हुआ है; उनके खयालात बदल गये हैं और मानव विकास पर प्रभाव पड़ता है।

१८७१ ई० में पेरिस की पचायत (Commune) की घटना हुई। शायद यह जान-बूझकर की गई पहली ही समाजवादी बगावत थी। इससे योरप की सरकारे डर गई और मजदूर-आन्दोलन की तरफ से उनका रुख और भी कडा होगया। दूसरे वर्ष मार्क्स के कायम किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की बैठक हुई और मार्क्स ने उसका प्रधान कार्यालय सात समन्दर पार अमेरिका के न्यूयार्क शहर में भिजवा दिया। इसमें मार्क्स का साफ मतलब यही होगा कि बैकुनिन के अराजकतावादी अनुयायियो से पीछा छूटे; और शायद यह भी कि चूंकि उसके ख़याल से पेरिस की पंचायत के बाद योरप की सरकारो की आँखें लाल हो गई थी इसलिए उनकी हुकूमत में सघ इतना महफूज नही रह सकेगा जितना अमेरिका में। मगर सदा के लिए अपने सारे मुख्य केन्द्रो से इतनी दूर रह सकना मुमकिन नहीं था। उसकी ताकत योरप में थी और योरप में भी मजदूर-आन्दोलन के बुरे दिन थे। इसलिए पहला अन्तर्राष्ट्रीय संघ धीरे-धीरे बेजान होकर मर गया।

मार्क्सवाद या मार्क्स का समाजवाद योरप के और ख़ास तौर पर जर्मनी और आस्ट्रिया के समाजवादियो में फैला। वहाँ यह आम तौर पर 'समाजवादी लोकसत्ता' (Social Democracy) के नाम से मशहूर हुआ। लेकिन इंग्लैण्ड ने इसकी अच्छी नकल नही की। उस वक्त वह इतना खुशहाल था कि वहाँ किसी आगे बढे हुए सामाजिक मत के प्रचार की गुन्जाइश नहीं थी। अंग्रेजों के समाजवाद का नमूना फेबियन सोसायटी थी और उसका बहुत दूर की और हल्की तब्दीलो का कार्यक्रम था। फेबियन लोगो का मजदूरो से कोई वास्ता नहीं था। ये आगे बढे हुए उदार विचारो के तालीमयाफ़्ता लोग थे। शुरू के फेबियन लोगो की नीति का पता इनके मशहूर फेबियन सिडनी वेब के इस मशहूर जुमले से लग सकता है कि 'परिवर्तन धीरे-धीरे होना अनिवार्य है।' यह महाशय अब लार्ड बन गये हैं।

[illegible] के पतन के बाद समाजवाद को फिर से जोर पकड़ने में धीरे-धीरे करके काफी वक्त लग गये मगर इस बार इसका स्वरूप नया हो गया। यह अराजकतावाद और समाजवाद के मेल से बना। इसे सिंडिकेट 'Syndicalism' या संघवाद कहते हैं। यह फ्रेंच भाषा के सिंडिकेट (Syndicat) शब्द से निकला है, जिसका मतलब मजदूरो का संगठन या मजदूर संघ है। समाजवाद का उसूल यह था कि राज्य सारे समाज का प्रतिनिधि है, इसलिए उसीका उत्पत्ति के साधनो यानी जमीन और कारखानो पर स्वामित्व और कब्जा होना चाहिए। थोड़ा-सा मतभेद था तो यह कि समाज का स्वामित्व और कब्जा कहाँतक हो। यह जाहिर है कि औजारो और घरेलू यन्त्रों जैसी बहुत-सी मामूली चीजों पर समाज का कब्जा करना बेहूदा-सी बात होगी। मगर इस बात पर समाजवादियों का एक मत था कि जिस किसी चीज का इस्तेमाल दूसरो के कामो से खुद फायदा उठाने में किया जा सकता हो वह राष्ट्र की सम्पत्ति बना दी जानी चाहिए। अराजकतावादियों की तरह सघवादी राज्य-सस्था को बहुत पसन्द नहीं करते थे और वे उसकी ताकत को महदूद कर देने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि हरेक उद्योग पर उस उद्योग के मजदूरो का अपने सघ के जरिये कब्जा रहे। (तुम्हे हमेशा याद रखना चाहिए कि मजदूर से मतलब सिर्फ हाथ से काम करनेवालो का ही नही है, बल्कि हाथ और दिमाग दोनो से काम करनेवाले सब तरह के मजदूरो से है)। कल्पना यह थी कि अलग-अलग सघ अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर बडी परिषद में भेजेंगे और परिषद सारे देश के मामलो को सम्हालेगी। यह परिषद मामूली काम-काज के लिए एक तरह की पार्लमेण्ट होगी, मगर उसे किसी खास उद्योग के भीतरी इन्तजाम मे दखल देने का हक न होगा। यह स्थिति पैदा करने के लिए सघवादी आम हडताल के पक्ष में थे, यानी वे देश के सब उद्योग-धधो और कारखानो में एकसाथ काम बन्द करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। मार्क्स के अनुयायी सघवाद को बिलकुल पसन्द नही करते थे, मगर दिल्लगी की बात यह थी कि मार्क्स के मरने के बाद सघवादी उसे अपनेमे का ही एक आदमी मानते थे।

कार्ल मार्क्स ठीक पचास साल पहले यानी १८८३ ई० में मरा। उस वक्त तक इग्लैण्ड, जर्मनी और दूसरे उद्योगवादी देशो मे मजदूर सघो का संगठन जबरदस्त और ताकतवर हो चुका था। ब्रिटिश उद्योगो के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमेरिका की बढ़ती हुई लाग-डॉट के मुकाबिले मे उनका पतन हो रहा था। यह ठीक है कि अमेरिका को कुदरत की तरफ से बडी सहूलियतें थी, जिनसे वहाँ औद्योगिक विकास तेजी से होने में मदद मिली। जर्मनी में राजनैतिक निरकुशता और औद्योगिक प्रगति का अजीब मेल था। उस निरंकुशता में कमजोर और सत्ताहीन-सी

पार्लमेण्ट का कुछ भी क्या हुआ था। बिस्मार्क की मातहती में और बाद में भी जर्मन सरकार ने उद्योग-धंधों की कई तरह मदद की और मजदूरों की हालत अच्छी करनेवाले समाज-सुधार के क़ानून बनाकर मजदूरवर्ग को खुश करने की कोशिश की। इसी तरह अंग्रेजी उदारदल ने कुछ सामाजिक क़ानून पास करके काम के घंटे घटा दिये और मजदूरों की हालत कुछ सुधार दी। जबतक खुशहाली रही तबतक इस तरीक़े से काम चल गया और अंग्रेज मजदूर नरम और दबे हुए रहे और वफ़ा-दारी के साथ उदारदल के पक्ष में राय देते रहे। मगर १८८० के बाद दूसरे देशों की लाग-डाँट के कारण खुशहाली का जमाना खतम हुआ और इंग्लैंड में व्यापार की मन्दी शुरू होगई और मजदूरों की मजदूरी घटगई। इस तरह फिर मजदूरों में जागृति हुई और वायुमण्डल में क्रान्ति की भावना फैल गई। इंग्लैण्ड में बहुत लोगों की नज़र मार्क्सवाद की तरफ़ जाने लगी।

१८८९ में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ बनाने की दूसरी बार कोशिश हुई। बहुत-से मजदूरसंघों और श्रमजीवी दलों का बल और साधन अब काफ़ी बढ़ गया था और उनके बहुत-से तनख्वाह पानेवाले कर्मचारी थे। मार्क्स और बैकुनिन के ज़माने से अब उनकी इज्जत भी बहुत ज्यादा होगई थी। १८८९ में बना हुआ यह संघ दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Second International) कहलाता है। मेरे ख्याल से उस वक्त इसका नाम 'मजदूर और समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (Labour and Socialist International) रक्खा गया था। यह पच्चीस वर्ष तक रहा। फिर महा-युद्ध आगया। उसमें इसका इम्तिहान होगया और यह बेकार साबित हुआ। इस संघ में बहुत लोग ऐसे भी थे जिन्होंने आगे चलकर अपने-अपने देशों में ऊँचे-ऊँचे पद ग्रहण किये। मालूम होता है, उन्होंने मजदूरों का अपने सहारे और तरक्की के लिए इस्तेमाल किया था और जब उनका काम होगया तो उन्होंने मजदूरों को क़िस्मत के भरोसे छोड़ दिया। वे प्रधान मंत्री, अध्यक्ष और इसी तरह और कुछ बन-बनकर अपनी ज़िन्दगी सफल कर गये, मगर जिन लाखों आदमियों ने उन्हें आगे बढ़ाया और उनपर यकीन रक्खा उन्हें इन लोगों ने मँझधार में छोड़ दिया। इन नेताओं में से जो मार्क्स के नाम की कसमें खाते थे या बड़े जोशीले नरमदली थे वे भी पार्लमेण्टों में घुस गये या बड़ी-बड़ी तनख्वाहें पाने वाले मजदूरसंघों के मुखिया बन बैठे। उनके लिए अपनी आराम की जगहों को जोखिम में डालकर बिना सोचे समझे किसी बात का बीड़ा उठा लेना दिन-दिन मुश्किल होगया। इस तरह वे ठण्डे पड़ गये और जिस वक्त मामूली मजदूरों ने निराश होकर क्रान्ति का बाना पहना और कुछ-न-कुछ करने की माँग की तब भी इन लोगों ने उन्हें दबाकर ठंडे

[illegible] थे। युद्ध के बाद जर्मनी के समाजवादी लोकसत्तात्मक दल के लोग [illegible] के अध्यक्ष और प्रधान मत्री ([illegible]ncellor) बने। फ्रास मे आम हडताल [illegible] समाजवादी ब्रियांद ग्यारह बार प्रधान मत्री बना और उसने अपने पुराने साथियो की हडताल को कुचला। इग्लैण्ड मे रम्जे मक्डोनॉल्ड [illegible] प्रधान मत्री है। यह दूसरी बात है कि नरम होते हुए भी उसके अपने मजदूर दल और [illegible] मजदूर सघो ने उनसे कोई वास्ता नही रखा है। यही हाल [illegible] डेनमार्क, वेल्जियम और आस्ट्रिया का है। पश्चिम योरप आज ऐसे सर्वेसर्वा [illegible] और सत्ताधारियो से भरा पड़ा है जो अपने शुरू के जमाने में समाजवादी थे, मगर ज्यो-ज्यो उनकी उम्र ढलती गई त्यो-त्यो वे नरम पडते गये और [illegible] का पुराना जोश भूल गये। इतना ही नही, कभी-कभी तो ये लोग अपने पुराने साथियो के खिलाफ भी होगये। इटली का कर्त्ताधर्ता मुसोलिनी पुराना समाजवादी है। पोलैण्ड का सर्वेसर्वा पिल्सूदस्की भी समाजवादी रह चुका है।[1]

मजदूर-आन्दोलन को ही क्या, करीव-करीब आजादी की हर कोमी तहरीक को नेताओ और मुख्य कार्यकर्त्ताओ की ऐसी वेवफाई से अक्सर नुकसान पहुँचा है। कामयावी न मिलने से वे थोडे अर्से वाद थक जाते है और शहीदी का थोथा चोला उन्हे वहुत दिन तक अच्छा नही लगता। उनका जोश ठण्डा पड़ जाता है। कुछ लोग, जो ज्यादा महत्वाकाक्षी या वेउसूल होते है, दूसरे पक्ष मे जा मिलते है और जिन लोगो से कल तक मुकाविला और लड़ाई करते थे उन्ही से जाती समझौता कर लेते है। आदमी जो कुछ करने की ठान लेता है उसके अनुकूल अन्त.करण वना लेना उसके लिए आसान है। इस वेवफाई से आन्दोलन की हानि होती है और वह थोडा पीछे हटता है। जो लोग मजदूरो के दुश्मन होते है वे यह वात अच्छी तरह जानते है। इसलिए वे तरह-तरह के लालच देकर और मीठी-मीठी वाते करके व्यक्तियो को अपनी तरफ मिलाने की कोशिश करते है। मगर व्यक्तियों पर महरवानी कर देने या उनसे मीठी-मीठी वाते करने से मामूली मजदूरो या आजादी के लिए लडनेवाले किसी दलित राष्ट्र का कष्ट दूर नही होता। इसलिए व्यक्तियो की वेवफाई और आन्दोलन के वीच-वीच में पीछे हटने के वावजूद लड़ाई अपनी मजिल की तरफ जरूरी तौर पर चलती रहती है।

१८८९ ई० मे वने हुए दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्यो की तादाद और सघ की इज्जत वढी। थोडे ही वर्ष वाद उन्होनें मालाटेस्टा और उसके अराजकतावादी अनुयायियो को इस विना पर निकाल बाहर किया कि वे पार्लमेण्टो के मताधिकार

१ नवम्वर १९३७ मे इनकी मृत्यु होगई

का फायदा उठाने को राजी नहीं थे। अन्तर्राष्ट्रीय सघ के समाजवादियो ने साबित कर दिया कि उन्हें आम लड़ाई में अपने पुराने साथियो का साथ देने से पार्लमेण्टों में जाना ज्यादा पसन्द है। योरप में लड़ाई छिड़ जाने पर समाजवादी क्या करे, इस बारे में उन्होंने बडी बढ़-बढ़कर बातें कीं। जहाँतक काम का ताल्लुक था, समाजवादी राष्ट्रीय सीमाओं यानी क़ौमी हद को नहीं मानते थे। वे मामूली मानो में राष्ट्रवादी नहीं थे। उन्होने कहा कि लड़ाई की मुख़ालफत करेगे। मगर जब १९१४ ई० में लड़ाई छिडी तो दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सारा ढाँचा तहस-नहस होगया और हर देश के समाजवादी और मजदूर दल ही नहीं, क्रोपाटकिन-जैसे अराजकतावादी भी और लोगों की तरह निरे राष्ट्रवादी और दूसरे मुल्को से नफरत करनेवाले बन गये। थोडे ही आदमियों ने लड़ाई की मुख़ालफत की और इसके लिए उन्हे तरह-तरह की तकलीफें और कुछ लोगो को लम्बी-लम्बी सजायें दी गईं।

लड़ाई ख़तम होने पर लेनिन ने १९१९ ई० में मास्को में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ खोला। यह शुद्ध साम्यवादी संगठन था और इसमें खुली घोषणा करनेवाले साम्यवादी ही शामिल हो सकते थे। यह अब भी है और तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Third International) के नाम से मशहूर है। पुराने दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ के बचे-खुचे लोग भी लड़ाई के बाद धीरे-धीरे इकट्ठे होगये। थोडे मास्को के संघ में मिल गये। मगर ज्यादातर को मॉस्को और उसके मत से सख्त नफरत थी और वे उसके पास फटकने को भी तैयार नहीं थे। उन्होने दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ को फिर से चलाया। यह भी मौजूद है। इस तरह आजकल दो अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ हैं और दूसरे और तीसरे संघ के नाम से मशहूर हैं। ताज्जुब की बात यह है कि दोनो ही मार्क्स के अनुयायी होने का दावा करते हैं, मगर दोनो ही उसके विचारों का अपना-अपना अलग अर्थ करते हैं और अपने समान शत्रु-पूंजीवाद से भी कहीं अधिक घृणा आपस में रखते हैं।

इन दोनो अन्तर्राष्ट्रीय सघो मे ससार के सारे मजदूर-संघ शामिल नहीं हैं। बहुत-से सगठन दोनो मे ही अलग हैं। अमेरिका के मजदूर-संघ इसलिए अलग हैं कि उनमें से ज्यादातर बहुत पुराने विचार के हैं। हिन्दुस्तान के मजदूर-संघों का दोनों में से किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वे कोई निश्चय ही नहीं कर पाते।

शायद तुम 'इण्टरनेशनल' गीत को जानती हो, जोकि दुनियाभर के मजदूरों और समाजवादियो का माना हुआ गीत है।

: १३४ :

मार्क्सवाद

१६ फरवरी १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें मार्क्स के ख्यालात के वारे मे कुछ वताने का इरादा जाहिर किया था। इन ख्यालात ने योरप की साम्यवादी दुनिया मे वडी हलचल मचा दी थी। मगर मेरा पत्र बहुत लम्वा होगया था और मुझे यह विषय रोक लेना पड़ा था। मैं इस विषय का कोई खास जानकार नही हूँ, इसलिए इसके वारे मे लिखना मेरे लिए आसान नही है। फिर भी विशेषज्ञो और पंडितों मे भी मतभेद होता है। मैं तुम्हें मार्क्सवाद की सिर्फ मोटी-मोटी वातें वताऊँगा और इसके मुश्किल हिस्सो को छोड दूंगा। यह जोड-गाठकर वनाई हुई-सी चीज होगी, मगर मेरा काम यह भी नही है कि इन खतो में किसी चीज की पूरी और लम्वी-चोडी तसवीरें दूं।

मैं कह चुका हूँ कि समाजवाद कई तरह का होता है। मगर उद्देश्य की इस एक वात मे सब सहमत है कि पैदावार और उसे वाँटने के साधनो पर यानी खानो, जमीन, कारखानो, रेलवे और वैंको वगैरा संस्थाओ पर राज्य का नियंत्रण यानी कब्जा रहे। कल्पना यह है कि व्यक्तियो को अपने खानगी फ़ायदे के लिए इन साधनो या संस्थाओ से और दूसरो की मेहनत से काम न लेने दिया जाय। आज तो ये ज्यादातर अलग-अलग आदमियो के हाथ में हैं और वे ही इनसे काम लेते हैं। नतीजा यह हो रहा है कि कुछ लोग मालामाल होकर आनन्द भोगते हैं और समाज का खूव नुकसान होता है और आम जनता गरीव वनी हुई है। उत्पत्ति के इन साधनो के मालिकों और अधिकारियो की भी वहुत सारी ताकत आजकल आपस की गहरी रुकावत या लाग-डांट में—एक दूसरे से लडने में—ही खर्च हो जाती है। अगर इस खानाजगी के वजाय समझदारी के साथ पैदावार का और खूव विचारपूर्वक वँटवारे का इतजाम कर दिया जाय तो समाज की हालत कही अच्छी हो जाय और यह फिजूल की जवरदस्त लाग-डाँट न रहे और जुदा-जुदा वर्गों और देशों के वीच की धन-सम्वन्धी महान् असमानतायें मिट जायँ। इसलिए उत्पत्ति, वँटवारा और कुछ दूसरे महत्त्व के काम ज्यादातर समाज यानी राज्य के हाथ मे रहे; मतलव यह कि वे सारी जनता के कब्जे में आजायँ। समाजवाद की यही मूल कल्पना है।

समाजवाद में राज्य या सरकार का रूप क्या हो, यह सवाल है तो वडे महत्व का, मगर अभी हमे उसकी चर्चा करने की जरूरत नही है।

समाजवाद के आदर्श की वात पर एकराय होजाने के वाद दूसरी वात तय

करने की यह रह जाती है कि उसे हासिल कैसे किया जाय ? यहीसे समाजवादियो में मतभेद शुरू होता है। उनमें कई दल हैं और वे अलग-अलग रास्ते बताते हैं। मोटे तौर पर उनके दो हिस्से किये जा सकते हैं . (१) धीरे-धीरे परिवर्त्तन और विकास चाहनेवाले दलो का यह विश्वास है कि एक-एक कदम बढाकर चलना चाहिए और पार्लमेण्टो के जरिये काम करना चाहिए। ब्रिटिश मजदूर दल और फैबियन लोग इसी वर्ग में हैं। (२) क्रान्तिकारी दलो का विश्वास यह है कि पार्लमेण्टो से कुछ बहुत मिलनेवाला नही है। दूसरे वर्ग में ज्यादातर लोग मार्क्स-वादी हैं। कभी-कभी ये लोग भी पार्लमेण्टो में पहुँचते हैं, मगर इनका मतलब दूसरे दलो से मिल-जुलकर काम करना नही बल्कि अडंगे डालना और झगडा खड़ा करना होता है।

पहला यानी विकासवादी दल अब बहुत छोटा-सा रह गया है। इंग्लैण्ड में भी अब इसकी ताकत कम हो रही है और इसके, उदार (लिबरल) दल के और दूसरे असमाजवादी दलो के बीच का भेद मिटता जा रहा है। इसलिए अब मार्क्सवाद को ही आमतौर पर समाजवादी मत समझ लेना चाहिए। मगर मार्क्सवादियो में भी योरप में दो मुख्य भेद हैं। एक तरफ रूसी साम्यवादी हैं और दूसरी तरफ लोकसत्ता के माननेवाले जर्मनी, आस्ट्रिया और दूसरे देशो के समाजवादी हैं। इन दोनो में जरा भी प्रेम नही है। महायुद्ध के वक्त और बाद में भी ये लोकसत्तावादी अपने दावे पूरे नही कर सके, इसलिए इनकी पुरानी इज्जत बहुत कम होगई। इनमें से ज्यादा जोशीले लोग तो बहुत-से साम्यवादियो में जा मिले हैं, मगर अब भी पश्चिमी योरप के विशाल मजदूर-सघो का सचालन इन्हीके हाथो में है। रूस में कामयाबी मिल जाने के कारण साम्यवादी मत बढ रहा है। आज योरप और दुनिया-भर में यही पूंजीवाद का सबसे बड़ा विरोधी है।

तो फिर यह मार्क्सवाद है क्या ? यह इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव-जीवन और मानव-इच्छाओ को समझने का एक तरीका है। इसमें उसूल भी है और कुछ कर गुजरने की पुकार भी है। यह ऐसा तत्त्वज्ञान है जो मनुष्य-जीवन के ज्यादा-तर कामो के बारे में कुछ-न-कुछ बात बताता ही है। इसमें मानव इतिहास पर—गुजरे हुए, आजकल के और आगे आनेवाले जमाने पर—विचार करके यह साबित करने की कोशिश की गई है कि यह सब कुछ तर्को या दलीलो के मुताबिक चलने-वाली प्रणाली है और 'किस्मत' की तरह इसके कानून भी टल नहीं सकते। जिन्दगी को बिल्कुल दलीलो पर चलनेवाली और इसे नियमो और प्रणालियो पर इतनी ही निर्भर हो ऐसा बहुत साफ तो नहीं दीखता और बहुत लोगो को इसमें शुबहा भी है,

इसके बाद इसलिए उसने पिछले इतिहास को देखा और उसमे कुछ खास नतीजे निकाले। उसे मालूम हुआ कि इनसान को शुरू से ही जिन्दगी की लडाई करनी पडी है। यह लडाई कुदरत के साथ भी थी और आदमी के साथ भी। आदमी को खाना और दूसरी जीवन-सामग्री जुटाने के लिए काम करना पडा। जैसे-जैसे समय बीता वैसे-वैसे उसके तरीके बदलते और पेचीदा और प्रगतिशील होते गये। मार्क्स की राय के मुताबिक चीजें हासिल करने के ये तरीके इनसान और समाज की जिन्दगी में सभी बातो से बढ़कर महत्व की बात रहे है। इतिहास के हरेक युग में इन तरीको की प्रधानता रही और उस युग के सारे कामो और सामाजिक सम्बन्धो पर इसका असर पडा। जैसे-जैसे ये बदले वैसे-वैसे बडी-बडी ऐतिहासिक और सामाजिक तब्दीलियां हुई। इन खतो के दौरान मे हम कुछ हद तक तो देख चुके है कि इन तब्दीलियो का कितना बडा असर हुआ है। उदाहरण के लिए, जब पहले-पहले खेती शुरू हुई तो बडा भारी फर्क होगया। आवारा फिरनेवाले खानाबदोश लोग बस गये और गांव और शहर बन गये। खेती से पैदावार बढी तो माल बच रहा और आबादी बढी। दौलत और फुर्सत की वजह से कला-कौशल यानी कारीगरी पैदा हुई। दूसरी मिसाल औद्योगिक क्रान्ति की भी जाहिर है। पैदावार के लिए बडी-बडी मशीनो के जारी होने से दूसरा बडा भारी अन्तर पैदा हुआ। इसी तरह और भी बहुत-से दृष्टान्त दिये जा सकते है।

इतिहास के किसी खास समय में पैदावार के तरीके वैसे ही होते है जितनी लोग निश्चित रूप में प्रगति कर चुके होते है। उत्पत्ति के इस काम के बीच में और इसके कारण मनुष्यो के आपसी ताल्लुकात कायम होते है : जैसे चीजो का तबादला, खरीदना, बेचना और विनिमय वगैरा। ये ताल्लुकात उत्पत्ति यानी पैदावार के तरीको के मुताबिक होते हैं। ताल्लुकात मिलकर समाज का माली ढॉचा बनाते हैं। इसी आर्थिक बुनियाद पर कानून, राजनीति, सामाजिक रीति-रिवाज, विचार और दूसरी सब बातो की उठान होती है। इसलिए मार्क्स के इस खयाल के मुताबिक जैसे-जैसे पैदावार के तरीके बदलते है वैसे-वैसे आर्थिक रचना भी बदलती है और उसका नतीजा यह होता है कि लोगो के विचारो, कानूनों और राजनीति वगैरा में भी तब्दीलियाँ होती है।

इतिहास के बारे मे मार्क्स का यह भी खयाल था कि वह जुदा-जुदा वर्गो के आपसी संघर्ष का एक रेकर्ड यानी बयान है। "सारे मानव-समाज का पिछला और मौजूदा इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है।" जिस वर्ग के हाथ में उत्पत्ति के साधन होते हैं उसीकी प्रधानता रहती है। वह दूसरे वर्गो की मेहनत से बेजा

फायदा उठाता है। जो परिश्रम करते हैं उन्हे अपनी मेहनत का पूरा फल नहीं मिलता। उन्हे जिन्दगी की मामूली जरूरियात के लिए भी मुश्किल से थोड़ा-सा हिस्सा मिलता है और वाकी का सारा हिस्सा शोषक यानी उनको चूसनेवाले वर्ग को मिलता है। इस तरह शोषक-वर्ग इस फालतू धन से और भी धनवान वनता है। चूंकि उत्पत्ति पर इस वर्ग का कब्जा होता है इसलिए राज्य या सरकार पर भी इसीका नियत्रण या दवाव रहता है और इस तरह इस शासक-वर्ग की रक्षा करना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य रह जाता है। मार्क्स कहता है: "राज्य सारे शासक-वर्ग के काम-काज का इंतजाम करने के लिए हमारी प्रबंध-समिति यानी इंतजामिया कमेटी है।" इसी गरज से कानून वनाये जाते हैं और तालीम, मजहव और दूसरे जरियो से लोगो को यह समझाया जाता है कि इस वर्ग की प्रभुता न्यायानुकूल और स्वाभाविक है। इस तरह सरकार और कानून के इस वर्गीय रूप को छिपाने की हर तरह कोशिश की जाती है, ताकि दूसरे शोषित वर्ग असली हालत न जान सके और उनमें असंतोष पैदा न हो। मगर कोई शख्स नाराज होकर इस प्रणाली का सामना करता है तो राज्य उसे समाज और सदाचार का दुश्मन और पुराने रीति-रिवाज तोडनेवाला कहकर कुचल देता है।

मगर हजार कोशिश करने पर भी एक ही वर्ग सदा सवके सिर पर वैठा नहीं रह सकता। जिन कारणो से उसे यह ताकत और हुकूमत हासिल होती है वे ही उसके खिलाफ काम करने लगते है। वह शासक और शोषक-वर्ग इसी कारण बन जाता है कि उस वक्त के उत्पत्ति के साधन उसके हाथ में होते है। जव पैदावार के तरीके नये होते हैं तो उनपर काबू भी नये वर्गो का होजाता है और वे किसीसे दवकर रहना नहीं चाहते। नये-नये विचार मनुष्यो के दिल और दिमाग में हलचल मचा देते हैं और जिसे विचार-क्रान्ति कहते है वह होने लगती है। इससे पुराने खयालात और उसूलो की वेडियां टूटती है। और इस उठते हुए नये वर्ग के और सत्ता से चिपटे रहनेवाले पुराने वर्ग के बीच में कशमकश होती है। नये वर्ग के हाथ में आर्थिक सत्ता यानी माली ताकत होती है, इसलिए जीत उसीकी होती है और पुराने वर्ग का खेल खतम होकर वह नेस्त-नाबूद हो जाता है।

इस नये वर्ग की विजय राजनैतिक और आर्थिक दोनो तरह की होती है। यह उत्पत्ति के नये तरीको की फतह की निशानी होती है और इसके पीछे-पीछे समाज की सारी रचना में ही तब्दीली होने लगती है—नये खयालात, नई राजनैतिक रचना, कानून, रीति-रिवाज, सभी बातो पर असर पड़ता है। अब यह नया वर्ग अपने नीचे के वर्गों के लिए शोषक-वर्ग बन जाता है और फिर उन वर्गो में से किसी एक के हाथों

का खात्मा किया जाता है। इस तरह जबतक एक वर्ग दूसरे का शोषण करनेवाला रहेगा, तबतक यह कशमकश चलती रहेगी जैसे कि अबतक चलती आई है। यह झगड़ा तभी खत्म होगा जब अनेक वर्ग न रहकर सिर्फ एक ही वर्ग रह जायगा; क्योंकि तब शोषण की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। कोई वर्ग अपना शोषण तो कर नही सकता। इसलिए, तभी उस समाज में समझौता और सहयोग होगा। फिर यह आज जैसा लगातार संघर्ष और प्रतिस्पर्धा न रहेगी। और राज्य के लिए आज दमन का काम जो कुछ हो रहा है वह भी न रहेगा, क्योंकि दबाने के लिए कोई वर्ग ही न होगा। इस तरह धीरे-धीरे राज्य खुद मिट जायगा और अराजकतावाद का आदर्श नजदीक आ जायगा।

इस तरह मार्क्स इतिहास को इस नजर से देखता था कि वह अनिवार्य वर्ग-युद्ध की एक विशाल विकास-क्रिया है। ढेरो मिसाल और तफसील देकर उसने साबित किया कि पिछले जमाने में यह सब किस तरह हुआ, बडी-बडी मशीनो के आने से सामन्तशाही का युग पूंजीवादी जमाने में कैसे बदल गया और जागीरदारो की जगह दौलतमन्द कैसे आगये। उसके मत से आखिरी वर्ग-युद्ध हमारे जमाने में अमीरो और मजदूरो में हो रहा है। पूंजीवाद खुद उस वर्ग की ताकत और तादाद बढा रहा है जो आखीर में पूंजीवाद पर गालिब आकर वर्ग-रहित समाज और समाजवाद की स्थापना करेगा।

इतिहास को इस ढंग से देखने का तरीका, जो मार्क्स ने समझाया, 'इतिहास की पदार्थमूलक या भौतिक धारणा' कहलाता है। इसे भौतिक इसलिए कहते है क्योकि यह 'आदर्शवादी' तरीका नही है और इस 'आदर्शवादी' शब्द का प्रयोग एक खास मानी में मार्क्स के जमाने के तत्त्ववेत्ताओ ने बहुत किया था। उस वक्त विकास-वाद के विचार लोकप्रिय हो रहे थे। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि जहाँतक प्राणी-समूहो की उत्पत्ति और विकास का ताल्लुक है, डार्विन ने ये खयाल लोगों के दिमाग मे जमा दिये थे। मगर इससे मनुष्यो के सामाजिक सम्बन्धो के कारण समझ में नही आ सकते थे। कुछ तत्त्ववेत्ताओ ने अनिश्चित आदर्शवादी कल्पनाओ के जरिये यह बताने की कोशिश की कि मनुष्य की प्रगति मन की प्रगति पर निर्भर है। मार्क्स इन सब बातो को ग़लत कहता था। उसके खयाल से बिना सिर-पैर की हवाई कल्पनायें और आदर्शवाद खतरनाक चीजें है, क्योकि इस तरह से लोग तरह-तरह की निराधार बातो को मानने लग सकते है। इसलिए मार्क्स ने ज्यादा अमली और वैज्ञानिक ढग से घटनाओ और स्थिति को देखा। पदार्थमूलक या भौतिक शब्द इसीलिए प्रचलित हुआ।

मार्क्स ने लगातार शोषण और वर्ग-युद्ध की चर्चा की है। हममें से भी बहुत लोग करते हैं और हमें जोश भी आजाता है। मगर मार्क्स के खयाल से नेक सलाह पर गुस्से में आने की कोई बात नहीं हो सकती। शोषण में शोषण करनेवाले व्यक्ति का कसूर नहीं है। एक वर्ग पर दूसरे की प्रभुता होना ऐतिहासिक प्रगति का कुदरती नतीजा है। समय पाकर उसकी जगह दूसरी व्यवस्था होजायगी। अगर कोई आदमी सत्ताधारी वर्ग का है और उस हैसियत से दूसरो को चूसता है तो इसमें वह कोई भयंकर पाप नहीं करता। वह एक पद्धति का अंग है और उसे गालियाँ देना वाहियात बात है। व्यक्तियो और प्रणालियो के बीच का यह भेद हम बहुत भूल जाते हैं। हिन्दुस्तान ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मातहत है और हम अपनी सारी ताकत लगाकर इस साम्राज्यवाद से लड़ते हैं। मगर जो अंग्रेज हिन्दुस्तान में इस प्रणाली का पोषण करते हैं उनका क्या कसूर है? वे बेचारे एक बड़ी भारी मशीन के छोटे-छोटे पुर्जे हैं। उसकी चाल में जरा भी फर्क करना उनकी ताकत के बाहर की बात है। इसी तरह हममें से भी कुछ लोग समूची जमींदारी-प्रथा को बुरी और किसानो के लिए बहुत ज्यादा नुकसानदेह समझ सकते है, क्योंकि इससे उनको बुरी तरह चूसा जा रहा है। मगर इसका भी यह मतलब नहीं है कि जुदा-जुदा जमींदारो का कोई कसूर है। पूंजीपतियो को अक्सर शोषण करनेवाले कहकर बुरा बताया जाता है, मगर उनकी बात भी ऐसी ही है। कसूर सदा प्रणाली यानी तौर-तरीके का होता है, व्यक्तियो का नहीं।

मार्क्स ने वर्ग-युद्ध की तालीम नहीं दी। उसने यह साबित किया कि असल में वर्ग-युद्ध पहले से मौजूद है और किसी-न-किसी शक्ल में सदा से रहा है। 'पूंजी' नाम की किताब लिखने का उसका उद्देश्य यह था कि 'वर्तमान समाज की गति के आर्थिक नियम साफ-साफ, अपने नंगे रूप में, जाहिर हो जायें।' ऊपर का यह पर्दा हटा देने से समाज के जुदा-जुदा वर्गों की जबर्दस्त आपसी कशमकश सामने आगई। वर्ग-युद्ध की तरह ये संघर्ष सदा प्रकट नहीं होते, क्योंकि प्रधान वर्ग हमेशा अपने वर्गीय रूप को छिपाने की कोशिश करता है। लेकिन जब वर्तमान व्यवस्था के लिए ही खतरा पैदा होजाता है तब प्रधान वर्ग सारे बहाने और आड़ छोड़कर असली शक्ल में जाहिर होजाता है और फिर वर्ग-वर्ग में खुली लड़ाई होने लगती है। जब यह होता है तब लोकसत्ता, साधारण कानून और व्यवस्था सब ताक में रख दिये जाते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि ये वर्ग-युद्ध गलतफहमी या आन्दोलकों की शरारत के कारण होते हैं। मगर बात ऐसी नहीं है। यह तो समाज के स्वभाव में है और असल में जब हित-विरोध की बात लोग अच्छी तरह समझने लगते हैं तब तो वर्ग-युद्ध और भी बढ़ जाते हैं।

[illegible] हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत में [illegible] हिन्दुस्तान में उनकी हुकूमत का [illegible]। पहले हमारे बहुत-से देशवासी भी [illegible]। मगर अब तो इस शासन के [illegible] इसे जोरदार चुनौती दे रहा है, [illegible] और नये तरीके पर जाहिर होरही है। [illegible] के बल पर चलनेवाले इस साम्राज्य-[illegible] ऊपर की सुहावनी सूरतों और चिकनी-[illegible]। आर्डिनेंसों और भाषण, सम्मेलन और [illegible] के प्रारम्भिक अधिकारों के दमन ने देश के [illegible]। मौजूदा हुकूमत की जितनी ज्यादा [illegible] उतनी ही बढ़ती जायगी। जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के [illegible] तब भी यही हाल होता है। यह भी आज हमारे देश [illegible]। किसानों और मजदूरों को और उनके लिए काम [illegible] अमानुषिक सजायें दी जाती हैं।

इस तरह इतिहास के बारे में मार्क्स का उसूल यह था कि समाज सदा बद-लता और बढ़ता रहता है। इसमें कोई चीज स्थिर नहीं है। इस कल्पना में गति ही गति है। कुछ भी होता रहे, यह तो आगे ही आगे बढती है और एक तरह की सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर दूसरी आजाती है। लेकिन एक व्यवस्था उसी समय नष्ट होती है जब वह अपना काम पूरा कर चुकती है और उसका पूरी तरह विकास हो चुकता है। इससे पहले वह व्यवस्था नहीं मिटती। जब समाज उससे आगे बढ जाता है तब भी वह सिर्फ पुरानी व्यवस्था के वस्त्र उतारकर फेंक देता है और नई और बडी पोशाक पहन लेता है; क्योंकि पुराने कपडे तंग होकर बदन को जकडने लगते हैं।

मार्क्स के मत से इनसान का काम इस महान् ऐतिहासिक विकास-क्रिया में मदद पहुँचाना था। पहले की सब मंजिलें तय हो चुकी। अब पूँजीवादी समाज और मजदूरवर्ग की आखिरी लड़ाई होरही है। (अलबत्ता यह बात उन देशों की है जहाँ उद्योग-धंधे बहुत बढ़े-चढे हैं और पूँजीवाद का पूरा विकास हो चुका है। दूसरे देशों में जहाँ पूँजीवाद का विकास नहीं हुआ है, लड़ाई की शक्ल कुछ खिलत-मिलत और दूसरी ही तरह की है। मगर असलियत यह है कि वहाँ भी लड़ाई की कुछ-न-कुछ यही शक्ल है, क्योंकि संसार के देशों का सम्बन्ध एक-दूसरे से दिन-दिन ज्यादा बढ़ता

जा रहा हूँ।) मार्क्स का कहना है कि पूंजीवाद को मुश्किल पर मुश्किल और मुसीबत पर मुसीबत का सामना करना पड़ेगा और आखीर में वह गिर पड़ेगा, क्योंकि उसमें सन्तोष तो कहीं है ही नहीं। यह बात लिखे हुए मार्क्स को साठ वर्ष से ऊपर होगये और तबसे पूंजीवाद के लिए नाजुक वक्त भी बहुत आये। लेकिन उसका खात्मा तो रूस के सिवा कहीं नहीं हुआ। वह अभी ज्यों-का-त्यों कायम है, बल्कि पहले से भी ज्यादा ताकतवर हुआ है। हां, जिस वक्त मैं यह लिख रहा हूँ उस वक्त दुनियाभर में पूंजीवाद बुरी तरह बीमार दिखाई देता है और चिकित्सक लोग उसके अच्छा होने के बारे में सिर हिला-हिलाकर चिन्ता प्रकट कर रहे हैं।

कहा जाता है कि पूंजीवाद ने जो अपनी जिन्दगी इतनी बढ़ाली, इसका एक खास कारण था जो मार्क्स के ध्यान में भी पूरी तरह नहीं आया होगा। वह यह कि पश्चिम के जो देश उद्योग-धन्धों में बहुत बढ़ गये हैं वे पिछड़े हुए देशों पर राज्य करके उनका शोषण करते हैं। इससे पूंजीवाद को नई जिन्दगी और खुशहाली हासिल होगई और उसकी कीमत चुकानी पड़ी उन गरीब गुलाम और चूसे जानेवाले देशों को।

हम इस बात की बहुत बार निन्दा करते हैं कि मौजूदा पूंजीवाद में गरीब का अमीर और मजदूर का पूंजीपति शोषण करते हैं। बात सोलह आने सही है। इसलिए नहीं कि पूंजीपति का कसूर है, बल्कि इसलिए कि इस प्रणाली का ढांचा ही इस तरह

[illegible] पीछे रह जायँगे। हमारे खयाल से रूसी [illegible] मार्क्स के उसूलो का निरपेक्ष अध्ययन खास तौर पर जरूरी है, क्योंकि इन उसूलो में सिर्फ रास्ते की तरफ इशारा करनेवाले मामूली विचार मिलते है। ये विचार इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और रूस मे अलग-अलग ढग पर लागू हो सकते है।'

इस खत में मैने तुम्हें मार्क्स के उसूलो का कुछ हाल बताया है, मगर न मालूम इन मामलों के विचार से तुम्हें कुछ फायदा होगा या नहीं और कोई साफ विचार मिलेगा या नहीं। इन उसूलो को जान लेना इसलिए अच्छा है कि आज इनका विचार जन-समूहों पर असर कर रहा है और इनसे हमें अपने देश में भी मदद मिल सकती है। रूस के महान् राष्ट्र और सोवियट सघ के दूसरे हिस्सो ने मार्क्स को अपना [illegible] पैगम्बर बनाया है और आज के कष्ट-पीडित ससार में बहुत लोग इलाज और प्रेरणा के लिए उनकी तरफ आँखें लगाये हुए हैं।

मैं इस खत को अंग्रेज कवि टेनीसन की कुछ पंक्तियो के साथ खत्म करूँगा :

"The old order changeth yielding place to new,
And God fulfils himself in many ways,
Lest one good custom should corrupt the world."

पुरानी व्यवस्था बदल कर नई के लिए जगह खाली करती है,
और परमात्मा का काम कई तरीको से पूरा होता रहता है, ताकि ऐसा न हो कि कहीं एक अच्छा रिवाज सारी दुनिया को खराब करदे।

मार्क्स का प्रथाओ के बदलने में विश्वास था, लेकिन धर्म में उसकी श्रद्धा नही थी। उसे तो वह 'लोगो के लिए अफीम' बताता था।

: १३५ :

इंग्लैण्ड का विक्टोरिया-युग

२२ फरवरी, १९३३

समाजवादी विचारो के विकास का वर्णन करते हुए मैंने अपने खतो में तुम्हे बताया है कि अंग्रेजो का समाजवाद सबसे नरम ढंग का रहा है। उस वक्त योरप में जितनी विचार-सरणियाँ प्रचलित थीं उनमें यह सबसे कम क्रांतिकारी था। हालत सुधारने के लिए यह बहुत धीरे-धीरे तब्दीली होने की बाट देखा करता था। कभी-कभी जब व्यापार बिगड़ जाता, मन्दी फैल जाती, बेकारी बढ़ जाती, मजदूरी घट जाती और लोगो को तकलीफ होने लगती, तब इंग्लैण्ड में भी क्रान्ति की लहर

उठ खडी होती थी। मगर जरा हालत अच्छी हुई कि फिर जोश टण्डा पड़ जाता। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजो के विचारों की इस नरमी का इग्लैण्ड की खुशहाली से गहरा ताल्लुक था, क्योकि खुशहाली और क्रांति में मेल नही होता। क्राति का अर्थ है बड़ा परिवर्तन, और जो लोग मौजूदा हालत से संतुष्ट-से होते है उन्हे और अच्छी हालत होजाने की अनिश्चित आशा पर अपने को जोखिम में डालकर साहस का काम कर बैठने की इच्छा नहीं होती।

उन्नीसवी सदी असल में इग्लैण्ड की महानता का समय था। अठारहवी सदी में उसने औद्योगिक क्रान्ति करके और दूसरे देशो से पहले नये कारखाने बनाकर जो अगुआपन हासिल कर लिया था वह उन्नीसवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में भी कायम रहा। मै कह चुका हूँ कि वह दुनिया का कारखाना था और उसमें दूर-दूर के देशो से आ-आकर धन की वर्षा होती थी। हिन्दुस्तान और दूसरे उपनिवेशों की लूट से उसके पास बेशकीमत और अटूट दौलत चली आ रही थी और उसकी प्रतिष्ठा खूब बढ़ती थी। जिस वक्त योरप के करीब-करीब सभी मुल्को में तब्दीलियाँ हो रही थी उस वक्त भी इंग्लैण्ड में कोई क्रांति या विस्फोट नही हुआ और वह चट्टान की तरह मजबूत और ठोस होकर खड़ा दिखाई देता था। समय-समय पर मुसीबतें जरूर आई, मगर वह थोडे-से और आदमियो को राय देने का हक देकर टाल दी गई। हम यह भी देख चुके है कि इस बीच में फ्रास में एक के बाद एक प्रजातन्त्रो और साम्राज्यो का तांता बँधा रहा; इटली में एक लम्बे जमाने की फूट के बाद सारा प्रायद्वीप एक होगया और एक नया राष्ट्र बन गया, और जर्मनी में एक नये साम्राज्य ने जन्म लिया। बेलजियम, डेनमार्क और यूनान जैसे छोटे-छोटे देश भी कई तरह बदले। आस्ट्रिया में तब भी योरप के सबसे पुराने राजघराने हैप्सबर्ग की राजधानी थी, लेकिन उसे फ्रांस, इटली और प्रशिया ने बार-बार नीचा दिखाया। सिर्फ पूर्व में रूसी जार बडे मुगलो की तरह निरकुश शासन चला रहा था और रूस में कोई तब्दीली दिखाई नहीं दे रही थी। मगर वह औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ था और किसानो का राष्ट्र था। नये विचारों और नये कारखानो की अभी उसे हवा भी नहीं लगी थी।

इंग्लैण्ड अपनी दौलत, अपने साम्राज्य और अपनी समुद्री ताकत के कारण योरप और ससार-भर पर हावी होरहा था। वह बहुत बडा राष्ट्र होगया था और उसका जाल दुनियाभर में फैला हुआ था। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र अभी तक अपने भीतरी झगडो में फँसे हुए थे और उन्हें दुनिया के मामलो से घर की तरक्की की ज्यादा फिक्र थी। आमदरफ्त के जरियो में हैरतअंगेज तब्दीलियां हो

[illegible] और घनी होती दिखाई दे रही थी। इन [illegible] पर अपना पंजा मजबूत करने में मदद मिली। [illegible] में सरकार की सूरत वही रही। वहाँ वैध [illegible] हाथ में नाम-मात्र की सत्ता हो और सारी असली [illegible]। इस पार्लमेण्ट को पहलेपहल मुट्ठीभर जमीं- [illegible] से बना था, मगर बाद में जब-जब विकट स्थिति पैदा [illegible] के लिए ज्यादा-ज्यादा लोगो को राय देने का हक दे दिया गया।

इस सदी के ज्यादातर हिस्से में विक्टोरिया इंग्लैण्ड की रानी थी। वह जर्मनी के हनोवर घराने की महिला थी। इस घराने ने अठारहवीं सदी में ब्रिटिश राज-सिंहासन को चार नाम के कई राजा दिये। विक्टोरिया १८३७ में गद्दी पर बैठी। उस वक्त वह १८ वर्ष की लड़की थी। उसने सदी के अन्त यानी १९०० ई० तक ६३ वर्ष राज्य किया। इंग्लैण्ड में इस लम्बे समय को अक्सर विक्टोरिया-युग के नाम से पुकारते है। इस लम्बे अर्से में विक्टोरियाने योरप में और दूसरे देशो मे बहुत-सी बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ देखी, जिनसे पुराने जमाने के निशानात मिट गये और उनकी जगह पर नये कायम होगये। उसने योरप की क्रांतियाँ, फ्रांस की तब्दीलियाँ, इटली के राज्य और जर्मनी के साम्राज्य का जन्म देखा। मरते समय वह एक तरह से योरप और योरप के राजाओ की दादी थी। मगर योरप में विक्टोरिया का सम-कालीन एक और राजा भी था, जिसका भी वैसा ही इतिहास है। वह आस्ट्रिया के हैप्सवर्ग राजघराने का सम्राट् फ्रांसिस जोजेफ था। जब क्रांति के वर्ष १८४८ ई० में वह अपने साम्राज्य की गद्दी पर बैठा तो उसकी भी उम्र १८ वर्ष की ही थी। उसने ६८ वर्ष हुकूमत की और किसी तरह आस्ट्रिया, हंगरी और दूसरे हिस्सो को अपने मातहत एक करके रखने में कामयाब हुआ। लेकिन महासमर ने उसका और उसके साम्राज्य दोनो का काम तमाम कर दिया।

विक्टोरिया उससे ज्यादा खुशकिस्मत थी। अपने शासन-काल मे उसने इग्लैण्ड की ताकत को बढते और उसके साम्राज्य को फैलते हुए देखा। जब गद्दी पर वैठी तब कनाडा में उपद्रव था। वहाँ खुली बगावत थी और उपनिवेश के बहुत-से बाशिन्दे इग्लैण्ड से अलग होकर अपने पडौसी अमेरिका के सयुक्त राज्यो मे मिल जाना चाहते थे। मगर इग्लैण्ड ने असेरिका की लडाई से सबक सीख लिया था और उसने जल्दी से कनाडा वालो को स्वशासन का वडा हिस्सा देकर राजी कर लिया। थोडे समय बाद वह बढते-बढते अन्दरूनी मामलो में पूरी तौर पर आजाद उपनिवेश बन गया।

हिन्दुस्तान और अफगानिस्तान में, इसी तरह ईरान में, भी ब्रिटिश लोग उसे समुद्र तक नहीं पहुँचने देते थे। काले समुद्र का मुंह वास्फोरस और दर्रे दानियाल पर तुर्कों का कब्जा होने से बन्द था। पहले रूस ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा करने की कोशिश की, मगर तुर्क लोग उससे ज्यादा ताकतवर साबित हुए। इस वक्त तुर्कों का जोर घट गया था और जिस चीज पर रूस की अर्से से राल टपक रही थी वह उसके हाथ में आती दिखाई दी। उसने उसे लेने की कोशिश की। मगर इंग्लैण्ड आड़े आगया और बिलकुल स्वार्थपूर्ण कारणों से वह तुर्कों का हिमायती बन गया। १८५४ ई० में क्रीमिया की लड़ाई से और बाद में दूसरी लड़ाई की धमकी से रूस की तलवार म्यान में ही रक्खी रह गई।

१८५४ से १८५६ तक की इसी क्रीमियन लड़ाई में वीरांगनाओं का एक स्वयं-सेविका-दल फ्लोरेंस नाईटिंगेल के नेतृत्व में घायलों की सेवा के लिए गया। उस वक्त यह एक गैरमामूली बात थी, क्योंकि विक्टोरिया-युग की मध्यमवर्ग की स्त्रियां आजकल की बहुत-सी शिक्षित हिन्दुस्तानी स्त्रियों की तरह घर में पड़ी रहनेवाली और मुख्यतः दीवानखाने की शोभा बढ़ानेवाली थीं। फ्लोरेंस नाईटिंगेल ने उनके सामने सेवा करने की एक नई मिसाल रक्खी और वे बहुत-सी औरतों को घर की चहारदीवारी से बाहर लाईं। इस तरह स्त्रियों की उन्नति के आन्दोलन में उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

ब्रिटेन की सरकार का ढांचा ऐसा था जिसे वैध एकतंत्री शासन या 'मुकुटधारी प्रजातन्त्र' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि राजा के हाथ में असली ताकत कुछ न थी और उसे वही कहना और करना पड़ता था जो पार्लमेण्ट के विश्वासपात्र मंत्री चाहते थे। राजनैतिक दृष्टि से वह मंत्रियों के हाथ की कठपुतली होता था और कहा यह जाता था कि वह 'राजनीति से परे' है। असल बात यह है कि कोई तेज बुद्धि या मजबूत इरादे वाला आदमी सिर्फ कठपुतली बनकर नहीं रह सकता और अंग्रेज राजाओं या रानियों को भी सरकारी मामलों में दखल देने के बहुत अवसर मिलते थे। आमतौर पर यह बात परदे के भीतर होती है, और जनता को या तो कुछ मालूम ही नहीं हो पाता या होता भी है तो बहुत समय बाद। खुली दस्तन्दाजी पर बड़ा असन्तोष फैल सकता है और बादशाहत खतरे में पड़ सकती है। वैध शासक में बड़ा गुण जो होना चाहिए वह है कौशल। अगर यह उसमें है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह कई तरह से अपना असर डाल सकता है।

विधान और कानून की रू से अमेरिका की तरह प्रजातन्त्रों के अध्यक्षों के पास पार्लमेण्ट वाले देशों के मुकुटधारी शासकों से कहीं ज्यादा सत्ता होती है। मगर

[illegible] हैं और राजा लम्बे समय तक बने रहते हैं और [illegible] किसी खास दिशा में लगातार असर डाल [illegible]। [illegible] और सामाजिक दबाव डालने के भी बहुत मौके [illegible] दुनिया में उन्हींकी तूती बोलती है। अमल में शाही [illegible] अभिजातवाद, ऊँच-नीच, पदवियों और वर्गों से भरा [illegible] एक खास पमाना बन जाता है। इस चीज [illegible] और वर्ग-[illegible] से मेल नहीं बैठ सकता। इसमें कोई शक [illegible] अंग्रेजों की मनोवृत्ति बनाने और उनको समाज [illegible] में बड़ा असर पड़ा है। या शायद यह कहना ज्यादा [illegible] दुनिया के सारे बड़े-बड़े देशों में से राजाशाही यानी बादशाहत [illegible] में वह अब भी बची रह गई है और उसका कारण यही [illegible] ऊँच-नीच वर्ग की व्यवस्था को मजूर कर रक्खा है। एक पुरानी [illegible] "हरेक अंग्रेज को किसी-न-किसी सामन्त से प्रेम है।" इसमें बहुत-कुछ [illegible]। योरप या अमेरिका में, और शायद जापान और भारत के सिवा एशिया में भी, कहीं वर्गभेद इतने तीव्र नहीं हैं जितने इंग्लैण्ड में हैं। यह ताज्जुब की बात है कि जो इंग्लैण्ड पहले राजनैतिक लोकसत्तावाद और उद्योगवाद का नेता रह चुका है, वह आज सामाजिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ और मौलिक बातों में इतना अनुदार है।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट 'पार्लमेण्टों की जननी' कहलाती है। उसका जीवन लम्बा और सम्मानपूर्ण रहा है और बहुत-सी बातों में राजा की मनमानी से लड़ने में वह सबसे आगे रही है। उस एकतंत्री शासन की जगह मुट्ठीभर अमीरों की पार्लमेण्ट का राज्य कायम हुआ। फिर लोकसत्तावाद की सवारी गाजे-बाजे के साथ आई और बड़ी खींचतान के बाद ज्यादातर लोगों को पार्लमेण्ट की आम सभा के मेम्बर चुनने के लिए राय देने का हक मिला। अमल में इसका नतीजा यह नहीं हुआ कि शासन पर सचमुच लोकसत्तात्मक नियंत्रण कायम होगया, बल्कि इतना-सा ही नतीजा निकला कि धनवान कारखानेदारों के हाथ में पार्लमेण्ट की बागडोर आगई। लोक-सत्ता के बजाय धन-सत्ता कायम होगई।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट में शासन चलाने और कानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली पैदा होगई। यह दो दलों की प्रणाली कहलाती है। इन दोनों में कोई खास फर्क नहीं था। उनके कोई विरोधी सिद्धान्त न थे। दोनों अमीरों के गिरोह थे और उस वक़्त की सामाजिक व्यवस्था को मानते थे। एक दल में पुराने

ज़मींदार वर्ग के आदमी ज्यादा थे तो दूसरे में धनी कारख़ानेदारों की बहुतायत थी। मगर यह तो एक ही चीज़ के दो नामों वाली बात थी। वे पहले टोरी और व्हिग कहलाते थे। बाद में उन्नीसवीं सदी में उनका नाम अनुदार और उदार दल पड़ गया। पार्लमेण्ट के भीतर और बाहर वे एक-दूसरे के ख़िलाफ़ ख़ूब शोर मचाते थे। मगर यह दोनों की मिली भगत का खेल था। एक दल के हाथ में सत्ता होती तब दूसरा दल विरोधी दल नाम धारण कर लेता। ताज्जुब की बात यह है कि सत्ताधारी दल 'सम्राट् की सरकार' और विरोधी दल 'सम्राट् का विरोधी दल' कहलाता था।

योरप के दूसरे देशों में दूसरी ही बात थी। वहाँ सचमुच अलग-अलग विचार और कार्यक्रम रखनेवाले दल होते थे और उनकी पार्लमेण्ट के भीतर और बाहर ख़ूब गर्मागर्म लड़ाई होती थी। मगर इंग्लैण्ड में तो घर की-सी बात थी, विरोध भी एक प्रकार का सहयोग होगया था, और दोनों दल बारी-बारी से सत्ताधारी और विरोधी बन जाते थे। ग़रीबों और अमीरों की सच्ची कशमकश और वर्ग-युद्ध पार्लमेण्ट में प्रकट नहीं हुआ, क्योंकि दोनों बड़े-बड़े दल धनवानों के दल थे। न तो जनता के जोश को उभाड़नेवाले कोई मज़हबी सवाल थे और न दूसरे यूरोपियन देशों के-से जातीय या कौमी सवाल थे। सदी के पिछले हिस्से में गरमी आई तो वह आयर्लैण्ड के राष्ट्रीय सदस्यों की तरफ़ से आई थी, क्योंकि उनके लिए आयर्लैण्ड की आज़ादी का सवाल राष्ट्रीय सवाल था।

जब इतने बड़े दो दल पार्लमेण्ट के लिए मेम्बर खड़े करें तो आज़ाद आदमियों या छोटे-छोटे गिरोहों के आदमियों का चुना जाना बहुत मुश्किल होता है। लोक-सत्ता और मताधिकार के होते हुए भी ग़रीब वोटर को इस मामले में बोलने का कुछ भी हक़ नहीं होता। वह मानो दोनों में से किसी दल के उम्मीदवार के लिए राय देदे या घर बैठ रहे और राय ही न दे। और दोनों दलों के मेम्बरों को पार्लमेण्ट में कोई आज़ादी भी नहीं रहती। वे अपने-अपने दल के नेताओं की आज्ञा मानकर राय देने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। इसके बिना वे अपने दल को संगठित और मज़बूत नहीं बना सकते और न ताक़त हासिल कर सकते हैं। यह संगठन और एकरसता अपनी जगह पर अच्छी चीज़ है, मगर इसे लोकसत्ता नहीं कह सकते।

हम देखते हैं कि इंग्लैण्ड को अक्सर लोकसत्ता की जननि का नमूना बताया जाता है, मगर वहाँ भी लोकसत्ता को बहुत ज्यादा कामयाबी नहीं मिली। शासन का बड़ा सवाल यह होता है कि जनता अपने ऊपर शासन करने के लिए अच्छे-से-अच्छे आदमी कैसे चुने? यह सवाल वहाँ भी सन्तोषजनक रूप से हल नहीं हुआ। अक्सर

[illegible] कि लोग जोरदार व्याख्यानबाजी करे और गरीब [illegible] आदमियो को चुनदे जिनके बारे में वे कुछ भी नही जानते। [illegible] कहा गया है जहाँ तरह-तरह के वादे किये जाते है। मगर इन सब खामियो के होते हुए भी यह झूठी या नकली लोकसत्ता चलती रही, क्योंकि [illegible] था और इन खुशहाली के कारण वहाँकी व्यवस्था नही बदली थी और लोगो में एक हद तक सन्तोष रहता था।

उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से मे इंग्लण्ड के राजनैतिक दलो के दो बडे नेता डिजरैली और ग्लैडस्टन थे। डिजरली आगे चलकर बीकस्फील्ड का अर्ल बना दिया गया था। वह अनुदार दल का नेता था और कितनी ही बार प्रधानमत्री बना। यह उसके लिए बडी कामयाबी की बात थी, क्योकि वह यहूदी था और उसके कोई बडे खानदान भी नही थे और यहूदियो को अग्रेज लोग पसन्द भी नहीं करते। लेकिन सिर्फ अपनी योग्यता और लगन के जोर पर उसने अपने विरोध पर फतह हासिल की और वह रास्ता चीरकर आगे आगया। वह बडा साम्राज्यवादी था, उसीने विक्टोरिया को 'कैसरे हिन्द' बनाया। ग्लैडस्टन एक पुराने अग्रेज धनी घराने का आदमी था, वह उदारदल का नेता बन गया और वह भी कई बार प्रधानमंत्री हुआ। जहाँतक साम्राज्यवाद और विदेशी नीति का ताल्लुक था वहाँतक ग्लैडस्टन और डिजरैली में कोई मौलिक अन्तर नही था। मगर डिजरैली अपने साम्राज्यवाद की बात साफ-साफ कहता था और ग्लैडस्टन पूरा अग्रेज था। वह असलियत को मीठी बातो और मजहब की दुहाइयो में छिपा लेता था। वह ऐसा प्रकट करता था, गोया जो कुछ वह करता था उसमें परमात्मा की ख़ास तौर पर सलाह रहती हो। बालकन देशो में तुर्कों के जुल्मो के खिलाफ उसने बड़ा आन्दोलन मचवाया और डिजरैली ने उसके विरोध में तुर्कों का पक्ष लिया। असल में दोष तुर्कों और उनकी कई बालकन जातियो की रिआया इन दोनो का था। वे बारी-बारी से एक-दूसरे पर भयंकर हत्याकाण्ड और अत्याचार करते थे।

ग्लैडस्टन ने आयर्लैण्ड के लिए होमरूल (स्वराज्य) का भी समर्थन किया। उसे कामयाबी नही मिली और अंग्रेजो ने इतनी मुखालफत की कि खुद उदारदल के दो टुकडे होगये और एक हिस्सा अनुदार दल में जा मिला। इन्हे अब यूनियनिस्ट कहते है, क्योंकि ये आयर्लैण्ड के साथ मेल बनाये रखना चाहते है।

मगर इस बारे में और विक्टोरिया-युग की दूसरी बातो के बारे मे तो अब अगले ख़त में ही ज्यादा बाते लिखूगा।

संसार का साहूकार इंग्लैण्ड

२३ फरवरी, १९३३

उन्नीसवी सदी में इग्लैण्ड जो इतना सम्पन्न हुआ उसका कारण उसके उद्योग-धंधे और उपनिवेशो और मातहत देशो का शोषण था। उसकी बढती हुई दौलत का आधार चार उद्योग थे। इन्हे प्रधान उद्योग कह सकते है। ये रुई, कोयला, लोहा और जहाज-साजी थे। इनके साथ-साथ और इनसे अलग भी बेशुमार छोटे-बडे दूसरे उद्योग खडे होगये। बडे-बडे व्यवसाय-भवन और साहूकारी कोठियां बन गई। अंग्रेजो के व्यापारी जहाज दुनिया के हर हिस्से में पाये जाने लगे। वे ब्रिटिश माल ही नही ले जाते थे, बल्कि दूसरे उद्योग-प्रधान देशो का माल भी ले जाते थे। ये जहाज ससार के व्यापार की सामग्री को लेजाने के मुख्य साधन बन गये। लन्दन में लॉयड का बीमे का बडा दफ्तर ससार के समुद्री व्यापार का मुख्य केन्द्र बन गया। पार्लमेण्ट पर इन उद्योगो और व्यवसायो के मालिको का नियत्रण था।

देश में धन की बाढ आगई और ऊँचे और मध्यमवर्ग के लोग मालामाल होते चले गये। इस धन का कुछ हिस्सा मजदूरो को भी मिला और उनका रहन-सहन भी ऊँचा होगया। धनवानो को जो इतना सारा धन मिला था उसका वे क्या करते? उसे पडा रखना तो बेवकूफी होती। इसलिए हर कोई उद्योग-धधो को उत्तेजन देने और ज्यादा-ज्यादा माल पैदा करके ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा करने लगा। इस धन के अधिकांश भाग से इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड में नये-नये कारखाने, रेलें और दूसरे ऐसे ही धधे जारी किये गये। थोडे अर्से बाद जब कारखानो की तादाद बहुत बढगई और देश में उद्योग-धधो का पूरा जाल बिछ गया, तो नफे की दर घटना स्वाभाविक था, क्योंकि साथ साथ स्पर्धा यानी लाग-डॉट भी बढ गई थी। तब पूजीपतियो ने पूजी लगाने के अधिक लाभदायक क्षेत्रो के लिए विदेशो में आंखे फैलाई और उन्हे साधन भी बहुतायत से मिल गये। दुनियाभर में रेलें, तार और कारखाने बन रहे थे। योरप, अमेरिका, अफरीका और ब्रिटिश-राज्य के मातहत देशो मे ऐसे बहुतसे कामो मे ब्रिटेन की फालतू पूंजी खूब लगी। अमेरिका के सयुक्त राज्यो के पास प्राकृतिक धन की कमी नहीं थी, मगर वे तेजी से तरक्की कर रहे थे, इस कारण उनकी रेलो वगैरा मे काफी भी ब्रिटिश पूजी लग गई। दक्षिण अमेरिका मे, और खासकर अर्जेण्टाइन में अंग्रेजो ने बडे-बडे व्यापारी बगीचे लगा लिये। कनाडा और आस्ट्रेलिया की तो रेलें ही ब्रिटिश रुपये से हुई। चीन मे रियायतो की जो लडाई हुई उसका कुछ हाल मै

रहा हुआ है। और हिन्दुस्तान पर तो अंग्रेजो का कब्जा ही था। यहाँ उसने रेलो और दूसरे कामो के लिए अपनी मनमानी शर्तों पर कर्जा दिया।

इस तरह इंग्लैण्ड संसार का साहूकार बन गया और लन्दन दुनिया का सराफा सारी दुनिया का बाजार होगया। मगर इसका यह अर्थ न समझ लेना कि जब रुपया भेजा जाता था तो कोई सोने, चाँदी या सिक्को की बोरियाँ भर-भरकर इग्लैण्ड से दूसरे मुल्को को जाती थीं। आजकल व्यापार इस तरीके से नही होता। ऐसा हो तो काफी सोना-चाँदी घूमने-फिरने को कहाँसे आये? बेवकूफ लोग सोने-चाँदी को बहुत ज्यादा महत्त्व देते है मगर वे तो विनिमय के साधन मात्र है और माल को इधर-उधर पहुँचाने के काम आते है। इन्हे न कोई खा-पहन सकता है और न इनसे और कुछ काम निकल सकता है। इनके जेवर अलबत्ता बन सकते है, मगर उनसे किसीको कोई फायदा नही। सच्चा धन तो ऐसे माल का हाथ में होना है जो किसी काम आ सके। इस तरह ब्रिटिश पूंजीपतियो के रुपया उधार देने का अर्थ यह हुआ कि वे विदेशी कारखानो या रेलो में एक रकम लगाते थे, मगर नकद रुपया न भेजकर उसके बराबर की कीमत का अंग्रेजी माल देते थे। इस तरह ब्रिटिश मशीनो और रेलो का सामान दूसरे देशो को भेजा जाता था। इससे ब्रिटिश उद्योग-धधो को मदद मिलती थी और साथ ही साथ ब्रिटिश पूंजीपतियो को अपनी फालतू पूंजी बढ़िया मुनाफे के कामो में लगाने के साधन मिलते थे।

साहूकारी मुनाफे का धन्धा है और इंग्लैण्ड ने जितना ही इसे अपनाया उतना ही वह मालदार हुआ। इससे एक बड़ा निठल्ला वर्ग पैदा होगया। वह केवल व्यवसाय के मुनाफे और हिस्से पर गुजर करने लगा। इन लोगो को किसी चीज को बनाने या पैदा करने के लिए कोई मेहनत नही करनी पड़ती थी। उनके किसी रेलवे-कम्पनी, चाय के बगीचे या किसी और व्यापार में हिस्से होते थे और उनका मुनाफा उनके पास वक्त पर पहुँच जाता था। इन निठल्ले अंग्रेजो की फ्रेन्च रिवीरा, इटली और स्वीजरलैण्ड जैसी अच्छी-अच्छी जगहो में बस्तियाँ बस गई। हाँ, इनमें से ज्यादातर लोग तो इग्लैंड में ही रहे।

जिन देशो ने इस तरह इग्लैण्ड से कर्ज लिया था वे सब ब्याज या मुनाफा किस तरह चुकाते थे? यह भी वे सोना-चाँदी की शक्ल में नही भेज सकते थे। उनके पास ये पदार्थ साल-दर-साल देने को काफी थे भी नही। इसलिए वे माल की शक्ल में अदा करते थे। पक्का माल तो इतना नही देते थे, क्योकि खुद इंग्लैण्ड पक्का माल पैदा करनेवाले देशो में मुखिया था। मगर वे खाद्य पदार्थ और कच्चा माल भेजते थे। उनके यहां से इंग्लैण्ड की ओर गेहूं, चाय, कहवा, मांस, फल, शराब, रुई और ऊन वगैरा की अटूट धारा बहती थी।

दो देशों के व्यापार का अर्थ है चीजों का तबादला। यह मुमकिन नहीं कि एक खरीदता ही रहे और दूसरा बेचता ही चला जाय। ऐसा कोई करने लगे तो चुकारा सोना या चांदी के रूप ही में करना पड़ेगा और वहां थोड़े ही समय में सोना चांदी खतम होजायगा या फिर एकतर्फा व्यापार अपनेआप बन्द होजायगा। परस्पर व्यवसाय में लेन-देन दोनों होते हैं और वे घटते-बढ़ते रहते हैं। कभी कोई देश बेचता अधिक है तो कोई खरीद ज्यादा लेता है। अगर हम उन्नीसवीं सदी के इंग्लैण्ड के व्यापार की जांच करें तो मालूम होगा कि सारी बातों को देखते हुए इंग्लैण्ड से जितना माल बाहर गया उससे ज्यादा माल उसके यहां आया। यानी, हालांकि उसने भारी मिकदार में माल बाहर भेजा, ताहम उसने उससे ज्यादा कीमत का माल मँगवाया। फर्क इतना ही था कि उसने भेजा पक्का माल और मँगाया ज्यादातर कच्चा माल और खाद्य पदार्थ। इस तरह जाहिरा तौर पर तो उसने खरीदा ज्यादा और बेचा कम, और यह व्यापार करने का कोई अच्छा तरीका मालूम नहीं होता। मगर असल बात यह थी कि उसके आयात की अधिकता उसके उधार दिये हुए रुपये का मुनाफा ही थी। यह वह नजराना या कर था जो कर्जदार देश या हिन्दुस्तान-जैसे मातहत मुल्क उसे भेजते थे।

लगी हुई सारी पूंजी का मुनाफा इंग्लैण्ड में ही नहीं पहुँच जाता था। उसका बहुत-सा हिस्सा कर्जदार देश में रह जाता था और उसे ब्रिटिश पूंजीपति फिर वहीं लगा देते थे। इस तरह, बिना नई पूंजी लगाये या इंग्लैण्ड से माल भेजे हुए, विदेशों में लगी हुई अंग्रेजों की पूंजी की रकम बढ़ती जाती थी। हिन्दुस्तान में हमें बार-बार याद दिलाया जाता है कि रेलों, नहरों और बहुत-से दूसरे कामों में अंग्रेजों का बेशुमार रुपया लगा हुआ है और इस हिसाब से हिन्दुस्तान पर इंग्लैण्ड का बड़ा भारी कर्जा बताया जाता है। हिन्दुस्तानियों को इसपर कई तरह का एतराज है, परन्तु यहां उस बात की चर्चा करने की जरूरत नहीं। हां, इतना ध्यान में रखना चाहिए कि लगी हुई पूंजी की इस भारी रकम में इंग्लैंड से आया हुआ नया रुपया बहुत नहीं है। यह तो हिन्दुस्तान में कमाया हुआ मुनाफा यहीं फिरसे लगाया हुआ है। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि प्लासी और वाटरलू के समय में मनचले अंग्रेज हिन्दुस्तान से बहुत-सा सोना और खजाना इंग्लैण्ड ले गये थे। उसके बाद हिन्दुस्तान के शोषण का तरीका दूसरा होगया और इतना खुला नहीं रहा और मुनाफे का कुछ हिस्सा इसी देश में व्यवसाय में फिर लगा दिया गया।

इंग्लैण्ड ने देख लिया कि साहूकारी का रोजगार-व्यापार बढ़ाने का सिर्फ यही उपाय रह गया है कि माल के रूप में उधार पैसा बाहर भेजा जाय। मैं तुम्हें [illegible]

[illegible] होना ही लेने की जिद नहीं रक्खी जा सकती थी। इसके दो [illegible]। एक तो इंग्लैण्ड ने अपने लोगों के खाने के लिए बाहर से खाद्य-पदार्थ मंगाने शुरू किये और अपनी खेती को बिगाड़ लिया। उसने बाहर बेचने के लिए कारखानों में पक्का माल तैयार करने पर सारा जोर लगा दिया और अपने किसानों की हालत पर ध्यान नहीं दिया। अगर बाहर से खाने की चीजें सस्ती मिल जायें तो घर में पैदा करने की झंझट क्यों की जाय? और अगर कारखानों से ज्यादा लाभ हो सके तो खेती करने की तकलीफ क्यों गवारा की जाय? इस तरह इंग्लैण्ड निरा उद्योग-प्रधान देश बन गया और खाने के लिए विदेशों पर निर्भर रहने लगा।

इसका नतीजा यह हुआ कि उसने मुफ्त-व्यापार (Free Trade) की नीति अख्तियार करली, यानी उसके बन्दरगाहों पर दूसरे देशों से आकर जो माल उतरता था उसपर वह या तो कर लगाता ही न था या बहुत कम लगाता था। चूंकि वह मुख्य औद्योगिक देश था, इसलिए पक्के माल के मामले में उसे बहुत वक्त तक स्पर्धा या लाग-डाँट का डर नहीं था। विदेशी माल पर महसूल लगाने का मतलब होता विदेशों से आनेवाली अपनी खूराक और कच्चे माल पर महसूल लगाना। इससे जनता के भोजन का दाम बढता और अपने ही पक्के माल की कीमत भी बढ़ती। इसके सिवा, अगर भारी टैक्स लगाकर वह विदेशी माल को अपने यहाँ आने से रोक देता तो विदेशी कर्जदार अपना कर्ज इंग्लैण्ड को कैसे चुकाते? वे तो माल देकर ही कर्ज चुका सकते थे। यही कारण था कि जहाँ दूसरे सब उद्योग-प्रधान देश संरक्षण-करों के तरफदार (Protectionist) थे, यानी वे विदेशी माल पर टैक्स लगाकर अपने बढते हुए उद्योग-धधों की रक्षा कर रहे थे, वहाँ इंग्लैण्ड ने मुक्त-व्यापार की नीति ग्रहण कर रक्खी थी। सयुक्तराज्य, फ्रास, जर्मनी सब संरक्षणवादी थे।

मुक्त-व्यापार और सरक्षणवाद का सवाल हर मुल्क में पैदा होचुका है और उसपर गर्मागर्म बहस हुई है। आज तो असल में सारी दुनिया के सामने यह सवाल है। इंग्लैण्ड के दोनों बडे दलों में अर्से तक मतभेद का यही मुख्य विषय रहा। उदार-दल वाले मुक्त व्यापार के तरफदार थे। शायद इस सवाल का ऐसा जवाब नहीं दिया जा सकता जो हर हालत में लागू हो सके। मैं तुम्हे याद दिलाऊँ कि जब अंग्रेज लोग यहाँ आये ही आये थे तब उन्होंने हिन्दुस्तानी कपडे को इंग्लैण्ड में न घुसने देने के लिए उसपर भारी चुंगी लगाई थी। उस वक्त इंग्लैण्ड संरक्षणवादी था, क्योंकि इसीमें उसे सहूलियत थी। बाद में मुक्त या खुला व्यापार उसके अनुकूल पड़ने लगा तो वह उस-का तरफदार होगया। और अब कुछ महीनों से वह फिर संरक्षण-वादी देश बन गया

है और उसने विदेशी माल पर भारी चुंगी लगा दी है। मगर अब वह दुनिया का साहूकार नहीं रहा।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों ने खेती की उपेक्षा करने, उद्योग-धंधों पर सारा ज़ोर लगाने, खाने को बाहर से मँगा लेने और बाहर के मुनाफ़े पर मौज करने की जो नीति रक्खी वह उस वक्त तो फ़ायदेमन्द और सुहावनी लगी, मगर उसमें खतरा तो था ही और वह अब सामने आ रहा है. उस नीति का आधार इंग्लैण्ड का उद्योग-धंधों में हावी होना और उसका ज़बरदस्त विदेशी व्यापार था। लेकिन यह प्रधानता न रहे और साथ-साथ विदेशी व्यापार भी बरबाद होने लगे तो? उस हालत में वह खाने का दाम कैसे चुकावे? और अगर चुका भी दिया तो किसी ज़बरदस्त दुश्मन के रास्ता रोक लेने की हालत में यह खुराक उसे बाहर से मिल ही कैसे पायेगी? पिछले महायुद्ध में वहाँके लोगों को आधा भूखा रहना पड़ा था, क्योंकि खाद्य पदार्थों के आने के ज़रिये करीब-करीब कट गये थे। इससे भी बड़ा खतरा यह है कि विदेशी स्पर्धा की वजह से उसका विदेशी व्यापार दिन-दिन गिरता जा रहा है। यह स्पर्धा उन्नीसवीं सदी के आखरी तीस सालों में ज़्यादा स्पष्ट होगई है, क्योंकि तभीसे अमेरिका और जर्मनी भी विदेशी बाज़ार ढूँढ़ने लगे हैं। धीरे-धीरे दूसरे देश भी उद्योग-प्रधान बन गये और इस तलाश में शरीक होगये; और अब तो करीब-करीब सारा संसार किसी-न-किसी हद तक उद्योगवादी हो चला है। हर देश अपनी ज़रूरत का माल ज़्यादा-से-ज़्यादा खुद तैयार करके विदेशी माल को अपने यहाँ नहीं आने देना चाहता। हिन्दुस्तान विदेशी कपड़े की आमद रोकना चाहता है। तब लंकाशायर और विदेशी व्यापार पर निर्भर रहनेवाले दूसरे ब्रिटिश उद्योग क्या करें?

इन सवालों का जवाब देना इंग्लैण्ड के लिए मुश्किल है और उसके बुरे दिन

भी कमी थी और न इसे घमण्ड की। उसे मुद्दत से जो खुशहाली, कामयाबी और दबदबा और दुनिया में अगुआपन हासिल था उसके कारण उसे यकीन होगया था कि वह दुनिया में दूसरे इनसानो से ऊँचे दर्जे का प्राणी है। वह सब विदेशियो को नाचीज समझने लगा। एशिया और अफरीका के लोग तो पिछडे हुए और जगली थे ही। वे तो इसीलिए पैदा हुए मालूम होते थे कि पिछडी हुई जातियो पर हुकूमत करने और उन्हें सुधारने के लिए अंग्रेजो को अपनी जन्मजात प्रतिभा का प्रयोग करने का मौका मिले। योरप के दूसरे देश भी अज्ञानी और अधविश्वासी थे। उनमें से अग्रेजी जबान तो बहुत थोड़े लोग जानते थे। सभ्यता की चोटी पर बैठे हुए खास लोग तो अग्रेज ही थे। योरप बाकी की सारी दुनिया का सिरमोर था और इंग्लैण्ड योरप का नेता बनकर आगे बढ रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य एक तरह की दैवी वस्तु थी और उसने ब्रिटिश जाति की महानता पर मुहर लगा दी थी। लॉर्ड कर्जन तीस वर्ष पहले भारत का वायसराय था और अपने समय का एक निहायत काबिल अग्रेज था। उसने अपनी एक किताब उन लोगो को समर्पण की थी, "जो यह मानते हो कि ब्रिटिश साम्राज्य भगवान की इच्छा से कायम है और आजतक संसार में इससे ज्यादा भलाई करनेवाली कोई चीज पैदा नहीं हुई।"

मैं विक्टोरिया-युग के अंग्रेज के बारे में इतना सब जो लिख रहा हूँ उसमें कुछ ज्यादती और असाधारणता दिखाई देती है और शायद तुम यह भी सोचने लगो कि मैं उसका मजाक उडा रहा हूँ। यह ताज्जुब की बात है कि कोई भी समझदार आदमी इस तरह का बर्ताव करे और इस तरह का अजीब, घमंड-भरा और अपने मुँह मियाँ-मिट्ठूपन का रुख इख्तियार करे। लेकिन राष्ट्र-समूहो के मिथ्याभिमान को सन्तोष मिलता हो और उनका फायदा भी होता हो तो वे किसी भी तरह की बात पर यकीन कर लेते है। व्यक्तियो को अपने पडोसियो के प्रति ऐसा भद्दा और गँवारू बर्ताव करने का कभी खयाल भी नही आता, मगर राष्ट्रो को ऐसी आत्म-ग्लानि नही हुआ करती। बदकिस्मती से हम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे है और अपने-अपने राष्ट्रीय गुणो की शेखी बघारते फिरते है। थोडे-से फर्क के साथ विक्टोरिया-युग के अग्रेज का नमूना अक्सर सभी जगह मिलता है। सारे यूरोपियन राष्ट्रो के ऐसे ही नमूने हो चुके है। जर्मनी का नमूना तो बीस वर्ष पहले खास तौर पर जोर-जबरदस्ती से भरा हुआ था। अमेरिका और एशिया में भी ऐसा ही हुआ है।

इग्लैण्ड और पश्चिमी योरप की खुशहाली की वजह उद्योगवाद और पूंजीवाद की तरक्की थी। यह पूंजीवाद मुनाफे की लगातार खोज में सरपट दौड़ रहा था। सफलता और लाभ ही वहांके लोगो के आराध्यदेव बन गये थे, क्योकि पूंजीवाद

में धर्म या सदाचार से क्या वास्ता ? उसूल यह होगया कि जो व्यक्ति और राष्ट्र भयंकर स्पर्धा यानी जबरदस्त लाग-डॉट में आगे निकल जाय वह बाजी मार लेजाय, और जो पीछे रह जाय वह जाय जहन्नुम में ! विक्टोरिया-युग के लोगों को अपनी धार्मिक सहिष्णुता पर घमण्ड था। उनका प्रगति और विज्ञान में विश्वास था और उनके व्यापार और साम्राज्य की कामयाबी ने ही यह साबित कर दिया था कि वे एक खास तरह और ऊँचे दर्जे के इनसान थे और इसीलिए जिन्दगी की लड़ाई में वे बच रहे थे। क्या डार्विन ऐसा नहीं कह गया था ? असल में धर्म के प्रति उनकी सहनशीलता नहीं थी, उदासीनता थी। आर. एच. टॉनी नाम के अंग्रेज लेखक ने इस स्थिति का अच्छा बयान किया है। वह कहता है कि दुनियावी मामलात से अलग करके ईश्वर को अपनी जगह पर बिठा दिया गया था। "जैसी जमीन पर नियंत्रित राजाशाही थी वैसी ही स्वर्ग में भी कायम करदी गई !" अमीरों का तो यह खयाल था, मगर गरीबों को गिरजाघर जाने और धर्म को मानने का इस आशा से उत्साह दिलाया जाता था कि इससे शायद उनमें क्रान्तिकारी विचार पैदा न हो पायेंगे। धार्मिक सहिष्णुता का मतलब यह नहीं था कि और मामलों में भी बर्दाश्त से काम लिया जाता हो। जिन बातों को ज्यादातर लोग महत्व देते थे उनमें जरा भी सहनशीलता नहीं थी, जरा खिंचाव हुआ कि सहनशीलता काफूर ! हिन्दुस्तान में भी अंग्रेजी सरकार धर्म के मामलों में निहायत सहनशील है और इसे अपना एक खास सद्गुण बताती है। मगर उसकी राजनीति और उससे ताल्लुक रखनेवाली किसी बात की जरा भी टीका करो तो फौरन उसके कान खड़े होजाते हैं। उस वक्त उसकी सहनशीलता की कोई शिकायत नहीं की जा सकती ! उसपर जितना ज्यादा जोर डालो, वह उतनी ही नीचे उतर आयगी, और अगर जोर काफी पड़ जाय तो फिर सरकार सहनशीलता का बुर्का उतारकर गुंडे और दमनकारी ढंग से आतंकवाद का आश्रय लेती है। हिन्दुस्तान में हम आज यही देख रहे हैं। थोड़े दिन हुए, मैंने अखबार में पढ़ा था कि कुछ अंग्रेज कर्मचारियों की अफसरी से रंज निकालने के जुर्म में एक विज्ञप्ति छापने को ८ साल सख्त कैद की सजा दी गई है !

पूँजीवादी उद्योग के बढ़ने से कई तब्दीलियां हुईं। पूँजीवाद के काम का विस्तार बढ़ता ही गया। छोटे-छोटे व्यवसाय और कारखानों की बनिस्बत बड़े पैमाने पर व्यवसाय और कारखाने चलने भी अच्छे और उनसे मुनाफा भी ज्यादा होता था। इसलिए बहुत बड़ी-बड़ी कम्पनियां बनने लगीं और उन्होंने उद्योग-पर-उद्योग हाथ में लेलिये और छोटे-छोटे स्वतंत्र उत्पादकों और कारखानों को हड़प कर लिया। दस्तकारों के लिए स्वतन्त्र रूप से शुरू कर सकने का मौका कम कम हो गया, इसी—

[illegible] (लैसे फेअर) के पुराने ख्यालात इस नई स्थिति के सामने टिक नहीं सके। ये [illegible] कम्पनियाँ और व्यापार-संघ सरकारो पर भी हावी होगये।

[illegible] के आधुनिक साम्राज्य का एक और भी खोफनाक रूप पैदा हुआ। उन्नी-सवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में जो देश उद्योग-धंधो मे बहुत आगे बढ गये थे उनमें [illegible] आपसी लाग-डॉट बढी, [illegible] वे बाजारो और कच्चे माल की तलाश में [illegible] दूर दूर देशो की तरफ आँखे फाडने लगे। दुनियाभर में साम्राज्य के लिए [illegible] हुई। एशिया मे यानी हिन्दुस्तान, चीन, बृहत्तर भारत और ईरान में जो कुछ हुआ उसका हाल [illegible] विस्तार के साथ तुम्हे वता चुका हूँ। अब योरप की कौमे गिद्धो की तरह अफरीका पर टूट पडीं और उसे आपस में बाँट लिया। यहाँ भी इंग्लैण्ड ने सबसे बडा हिस्सा लेलिया। उत्तर में मिस्र और पूर्व, पश्चिम व दक्षिण मे बडे-बडे प्रदेश उसके हाथ लगे। फ्रास भी मजे में रहा। इटली इस लूट के माल में से हिस्सा चाहता था, लेकिन एबीसीनिया के मुकाविले में उसे बुरी तरह मुँह की खानी पडी। इससे सभीको वडा आश्चर्य हुआ। जर्मनी को हिस्सा मिला, मगर उससे सन्तोष नहीं हुआ। सब जगह साम्राज्यवाद की धूम थी। वह चीखता, धम-काता और इधर-उधर हाथ-पैर पीटता था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लोकप्रिय कवि रुडयार्ड किपलिंग ने 'गोरो के भार' (Whiteman's burden) का गीत बनाया। फ्रासवाले अपने सभ्यता-प्रचार के पवित्र ध्येय की बातें करने लगे। जर्मनी को अपनी संस्कृति फैलाना ही था। इस तरह ये सभ्यता के प्रचारक दूसरो की हालत सुधारने और उनका बोझा ओढने की पूरी त्याग-भावना के साथ घर से निकले और भूरे, पीले और काले लोगो की गर्दनो पर सवार होगये। मगर कालो के बोझे का गीत कौन गाता?

एक-दूसरे से लडनेवाले ये साम्राज्यवाद इस बुरी तरह पैर फैलाते जा रहे थे कि पृथ्वी इनके लिए छोटी पड़ गई। बाजारो की भूख इनमें से हरेक देश को आगे-से-आगे धकेल रही थी और इनकी आपस में ही अक्सर भिड़न्त हो जाती थी। इग्लैण्ड और फ्रास में लडाई होते-होते बच गई। मगर हितो में सच्ची कशमकश तो अंग्रेजी और जर्मन उद्योग के बीच पैदा हुई। जर्मनी उद्योग और जहाजो के व्यवसाय में इंग्लैंड के बराबर होगया और हर बाज़ार में उसका मुकाबिला करने लगा। लेकिन उसने देखा कि सरजमीन के अच्छे हिस्सों पर पहले ही इग्लैण्ड का कब्जा हो चुका है। वह बडा घमण्डी और उच्चाकांक्षी देश ठहरा, इस तरह दूसरे राष्ट्र उसे पीछे पडा रक्खें, यह बात उसे बुरी तरह खटकती थी। इसलिए उनके साथ एक जबरदस्त लड़ाई करने के लिए वह जोरो से तैयारी करने लगा। सारे योरप में तैयारियाँ शुरू होगई और जल और स्थल सेनायें बढ़ने लगी। अलग-अलग देशो में गुटबन्दी हुई। आख़ीर में दो

अमेरिका के जिन तेरह राज्यो ने १७७५ ई० मे इग्लण्ड से सम्बन्ध तोड लिया था उनकी आबादी ४० लाख से कम ही थी। आज अकेले न्यूयार्क शहर की आवादी इससे ज्यादा है और सारे सयुक्तराज्यो की साढे बारह करोड है। इस सघ मे अब चालीस से ज्यादा राज्य है और वे इस महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर प्रशान्त महासागर तक फैले हुए है। उन्नीसवी सदी मे इस महान् देश का क्षेत्रफल यानी लम्बाई और आबादी ही नहीं बढी बल्कि इनके आधुनिक उद्योग और व्यापार, धन ओर प्रभाव मे भी वृद्धि हुई। इन राज्यो को बहुत-सी दिक्कतो और तकलीफो का सामना करना पडा और इनके साथ योरप वालो के युद्ध ओर झगडे-टण्टे भी हुए, लेकिन इनपर सबसे बडी मुसीबत यह आई कि उत्तर ओर दक्षिण के राज्यो मे जबरदस्त और तबाह करनेवाली घरेलू लडाई हुई।

अमेरिका के आजाद होने के चन्द साल बाद फ्रास की राज्यक्रान्ति हुई और उसके पीछे-पीछे नेपोलियन की लडाई हुई। नेपोलियन ओर इग्लैण्ड दोनो एक-दूसरे के व्यापार को चौपट कर देना चाहते थे और इस कोशिश में उनकी सयुक्तराज्यो से भी मुठभेड होगई। अमेरिका का समुद्री व्यापार बिलकुल रुक गया और इसलिए १८१२ ई० में उनकी इग्लैण्ड के साथ दूसरी लडाई छिड गई। इन दो वर्ष के झगडे का कोई खास नतीजा नही निकला। इस लडाई के सिलसिले में जब नेपोलियन एल्बा में ठिकाने लगा दिया गया और इग्लैण्ड को उधर से छुट्टी मिल गई, तो अंग्रेजो ने किसी तरह अमेरिका की राजधानी वाशिगटन पर कब्जा कर लिया और वहांकी बडी-बडी सभी सरकारी इमारते जला दी। कैपिटल नामक भवन, जहाँ काग्रेस होती है, और व्हाइटहाउस, जिसमें राष्ट्रपति रहते है, भी बरबाद कर दिये गये। बाद मे अंग्रेजो की हार होगई।

इस युद्ध से पहले भी सयुक्तराज्यो ने दक्षिण में एक बहुत बडा प्रदेश अपने इलाके में मिला लिया था। यह फ्रास की लुइजियाना नाम की पुरानी बस्ती थी। अग्रेजो के जहाजी हमलो से इसकी रक्षा बिलकुल न कर सकने के कारण इसे नेपोलियन ने अमेरिका के हाथ बेच दिया था। कुछ साल बाद, १८२२ ई० में, उसने स्पेन से खरीदकर फ्लॉरिडा को मिला लिया और १८४८ ई० मे मेक्सिको से लडाई जीतकर कैलीफोर्निया सहित कई और राज्य दक्षिण-पश्चिम में लेलिये। इस दक्षिण-पश्चिमी हिस्से में अब भी बहुत-से नगरो के नाम स्पेनिश है और उन दिनो की याद दिलाते है जब वहाँ स्पेन वालो का या स्पेन की भाषा बोलनेवाले मैक्सिको-निवासियो का राज्य था। सिनेमंडोम के बडे शहर लॉस एञ्जेलीस और सैन फ्रासिस्को के नाम सभीने सुने है।

जिस वक्त योरप बार-बार क्रान्तियां करने और उन्हें दबा देने की कोशिश कर रहा था, उस वक्त संयुक्तराज्य पश्चिम की ओर फैलते जा रहे थे। दमन के कारण योरप के लोग अपने-अपने देश छोड़कर जा रहे थे और लम्बे-चौड़े देश और ऊंची-ऊंची मजदूरी की कहानियां उन्हें बड़ी तादाद में अमेरिका की तरफ खींच रही थीं। जैसे-जैसे पश्चिम में आबादी बढ़ी वैसे-वैसे नये-नये राज्य बनते और संघ में शामिल होते गये।

उत्तरी और दक्खिनी राज्यों में शुरू से ही बड़ा भेद था। उत्तरी राज्य उद्योग-प्रधान थे और वहां बड़ी-बड़ी मशीनों वाले नये-नये कारखाने तेजी से बढ़ गये। दक्षिण में बड़े-बड़े व्यापारी बगीचे थे और उनमें गुलाम लोग मजदूरी करते थे। गुलामी की प्रथा कानून से जायज थी, मगर उत्तर के लोग उसे पसन्द नहीं करते थे और वहां उसका कोई महत्व भी न था। दक्षिण का सारा दारोमदार ही गुलामों पर था। ये गुलाम अफरीका के हब्शी थे। गोरा एक भी गुलाम नहीं था। आजादी के ऐलान में 'सब मनुष्य जन्म से समान हैं' यह जो उसूल माना गया था वह गोरों पर ही लागू होता था, कालों पर नहीं।

इन हब्शियों को अफरीका से जिस तरह लाया गया था, यह कहानी बड़ी दर्द-नाक है। गुलामों का व्यापार सत्रहवीं सदी के शुरू में आरम्भ हुआ और १८६३ ई० तक जारी रहा। पहलेपहल तो यह हुआ कि जब अफरीका के पश्चिमी समुद्रतट से व्यापार के माल से लदी हुई नावें गुजरतीं, तो जो भी अफरीका-निवासी उनके हाथ पड़ जाते उन्हें पकड़कर वे अमेरिका ले जातीं। इस किनारे का एक हिस्सा अब भी 'गुलामों का किनारा' (Slave Coast) कहलाता है। खुद अफरीका के बाशिन्दों में गुलामी का रिवाज बहुत कम था। वे सिर्फ लड़ाई के कैदियों और कर्जदारों के साथ ही गुलामों का-सा बर्ताव करते थे। अफरीकन लोगों को अमेरिका ले जाकर बेच देने का धन्धा बड़े मुनाफे का पाया गया। गुलामों का व्यापार बढ़ा और इसमें अंग्रेज, स्पेनिश और पोर्चुगीज लोगों ने पैसा लगाया। गुलामों के व्यापार के लिए खास तरह के जहाज बनाये गये। उनमें पटावों के बीच में लम्बी और तंग कोठरियां रखी गईं और उनमें ये अभागे हब्शी पैरों में जंजीरें और हाथों में हथकड़ियां बांधकर ठूंस-ठूंस कर लिटा दिये जाते थे। अटलांटिक महासागर पार के समुद्री सफर में कई हफ्ते और कभी-कभी महीने लग जाते थे। इस सारे अर्से में ये हब्शी इन तंग कोठरियों में बंधे पड़े रहते। इनमें हरेक को ५॥ फीट लम्बी और १६ इंच चौड़ी जगह दी जाती थी।

गुलामों के व्यापार के कारण लिवरपूल बड़ा शहर बन गया। १७१३ ई० में ही जब यूट्रेक्ट की संधि हुई तो इंग्लैंड ने स्पेन से अफरीका और स्पेनिश अमेरिका के बीच में गुलामों को लाने का विशेषाधिकार जीत लिया। इसमें बाद में इंग्लैंड

[illegible] पहुँचाया करता था। इस तरह अठारहवी सदी मे कोशिश की गई कि अफरीका और अमेरिका के गुलामो के व्यापार पर अंग्रेजो का ठेका हो जाय। [illegible] ई० मे लिवरपूल के १५ जहाज इस व्यवसाय मे लगे हुए थे। यह तादाद बढते-बढते सन [illegible] ई० मे [illegible] होगई। औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत मे इंग्लैण्ड के लंकाशायर प्रदेश मे रुई की कताई का काम बहुत बढ गया और इसके कारण संयुक्तराज्यो मे गुलामो की मांग भी बहुत बढ गई। इसका कारण यह था कि लंकाशायर की मिलो मे जो रुई काम मे लाई जाती थी वह अमेरिका के दक्षिणी राज्यो के रुई के बड़े बगीचो में से आती थी। ये बगीचे बडी तेजी से बढ़े, अफरीका से गलाम भी पहले से ज्यादा आये और हब्शियो की औलाद बढाने की कोशिश भी की गई। [illegible] ई० मे संयुक्तराज्यो मे गलामो की तादाद ६,९७,००० थी। १८६१ ई० मे यह बढकर ४०,००,००० होगई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू मे ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने गुलामी के रिवाज के खिलाफ कई कानून पास किये। योरप और अमेरिका के दूसरे देशो ने भी ऐसा ही किया। इसतरह गुलामी का व्यापार गैरकानूनी ठहरा दिया गया, मगर हब्शियो को अफरीका से अमेरिका ले जाने का सिलसिला फिर भी जारी रहा। फर्क इतना ही हुआ कि सफर मे उनकी हालत और भी खराब होने लगी। वे खुले तौर पर तो ले जाये नही जा सकते थे, इसलिए उन्हे टॉडो पर ऊपर-नीचे पटककर लोगो की नजर से छिपा दिया जाता था। एक अमेरिकन लेखक कहता है—"कभी-कभी बर्फ की भरी गाडी (Joboggan) पर सवार होनेवालो की तरह उन्हे एक-दूसरे के ऊपर टॉग पर टॉग रखकर लाद दिया जाता था!" यह कितनी खौफनाक बात होती होगी, इसका खयाल करना भी दुश्वार है। उन जहाजो की इतनी गन्दी हालत हो जाती थी कि चार-पॉच वार के सफर के वाद उन्हे छोड़ देना पड़ता था। मगर मुनाफा बहुत ज्यादा होता था और जब व्यापार का खूब जोर था, यानी अठारहवी सदी के अखीर और उन्नीसवी के शुरू में, तो हर साल अफरीका के गुलामो के किनारे से एक लाख गुलाम लेजाये जाते थे। याद रहे कि इतने आदमियो को लेजाने का यह मतलब था कि हब्शियो को पकडने के लिए जो छापे मारे जाते थे उनमे इनसे कही ज्यादा की मौत होती थी।

उन्नीसवी सदी के शुरू मे या उसके आस-पास सभी बडे-बडे देशो ने इस व्यवसाय को कानून के खिलाफ ठहरा दिया। सयुक्तराज्यो ने भी ऐसा ही किया। इस तरह गुलामी का व्यापार बन्द होगया, मगर अमेरिका मे गुलामी बन्द नही हुई, यानी वहॉ पुराने गुलाम फिर भी गुलाम ही बने रहे। और चूकि गुलामी जायज

थी, इसलिए मनाई होने पर भी गुलामो का व्यापार जारी रहा । जब ब्रिटेन ने दास-प्रथा भी उठा दी तब गुलामी के व्यापार के लिए न्यूयार्क मुख्य बन्दर हो गया ।

यद्यपि उन्नीसवीं सदी के बीच तक कई वर्ष न्यूयार्क इस व्यवसाय का केन्द्र रहा, फिर भी अमेरिका के उत्तरी राज्य गुलामी के रिवाज के खिलाफ थे । इसके विपरीत, दक्षिण वालो को अपने बगीचो के लिए इन गुलामो की जरूरत थी । कुछ राज्यो ने गुलामी उठा दी और कुछ ने रहने दी । हब्शी गुलामी वाले राज्यो में से भागकर बिना गुलामी के राज्यो में चले जाते और उनके बारे में झगडे होते ।

उत्तर और दक्षिण के आर्थिक हित जुदा-जुदा थे और उनके बीच १८३० ई० मे ही चुगी के मामले में कशमकश होगई । संघ से अलग होजाने की धमकियां दीगई । राज्य अपने-अपने अधिकार छोडना नही चाहते थे और संघ-सरकार की बहुत ज्यादा दस्तन्दाजी पसन्द नहीं करते थे । देश में दो दल हो गये । एक राज्यो की सत्ता का तरफदार था, दूसरा मजबूत केन्द्रीय सरकार चाहता था । इन मतभेदो के कारण उत्तर और दक्षिण के बीच की खाई बढती गई और जहां कही नये राज्य संघ में शामिल होते थे वहीं यह सवाल उठता था कि वे किस तरफ का साथ देंगे । बहुमत किधर होगा ? उत्तर की आबादी तेजी से बढ रही थी, क्योकि योरप से लोग आ-आकर वहां बस रहे थे । इससे दक्षिण के लोगो को डर हुआ कि उत्तर की बढी हुई संख्या उन्हे दबा लेगी और हर सवाल पर ज्यादा वोट या राय देकर उन्हे हरा देगी । इस तरह उत्तर और दक्षिण में खिचाव बढता गया ।

इसी बीच, दक्षिण में गुलामी की प्रथा बिल्कुल उठा देने का आन्दोलन खडा हुआ । इस आन्दोलन का मुख्य नेता विलियम लॉयड गैरीसन था । १८३१ ई० में गैरीसन ने गुलामी दूर करने के इस आन्दोलन के प्रचार के लिए 'लिबरेटर' (उद्धारक) नामक एक पत्र निकाला । इसके पहले ही अक में उसने साफ-साफ जाहिर कर दिया कि इस मामले में वह कोई समझौता नहीं करेगा और न नरम नीति रक्खेगा । उस अक के कुछ वाक्य इतने मशहूर होगये है कि मै उन्हे यहां देता हूँ —

> मैं सत्य के समान कठोर और न्याय की तरह कठोर रहूंगा । इस विषय में मैं नरमी से सोचना, बोलना या लिखना नहीं चाहता । नहीं, नहीं, जिसके घर में आग लगी हो उसे भले ही धीरे-धीरे चिल्लाने को कहो, जिसकी पत्नी का [illegible] नष्ट किया जा रहा हो उसे [illegible] पत्नी को बचाने में नरमी से काम लेने को कहो, जिस माता का बच्चा आग में गिर गया है उसे भी आहिस्ता-आहिस्ता बचाने को कहो, लेकिन मुझे इस काम में [illegible] से काम लेने को मत कहो । मैं [illegible], मैं [illegible] नहीं [illegible], [illegible] एक इंच भी पीछे नहीं हटूंगा । मेरी बात सुनी ही जायगी ।

लेकिन यह दौर-धूप थोड़े-से लोगो तक ही सीमित थी। जो लोग गुलामी की प्रथा के खिलाफ थे उनमें से ज्यादातर यह नही चाहते थे कि गुलामी का रिवाज जहाँ है वहाँ उसमें दखल दिया जाय। फिर भी उत्तर और दक्षिण का आपसी खिचाव बढ़ता ही गया क्योंकि उनके आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और कशमकश खास तौर से इसी से बढ़ रही थी।

१८६० ई० में अब्राहम लिंकन संयुक्तराज्यो का राष्ट्रपति चुना गया। उसका चुनाव क्या हुआ, दक्षिण वालो को अलग होजाने का इशारा मिल गया। लिंकन गुलामी के रिवाज का विरोधी था, मगर उसने साफ कर दिया था कि जहाँ गुलामी पहले से है वहाँ उसे नही छेड़ा जायगा। मगर वह इस बात के लिए तैयार नहीं था कि यह नये राज्यो मे भी फैले और इसे कानूनी रूप मिल जाय। इस आश्वासन से दक्षिण का सन्तोष नही हुआ और एक-एक करके कई राज्य सघ से अलग होगये। संयुक्तराज्य छिन्न-भिन्न हुआ चाहते थे। नये राष्ट्रपति के सामने ऐसी भयंकर स्थिति थी। उसने दक्षिण को राजी करके इस अग-भग को रोकने की एक और कोशिश की। उसने उन्हे तरह-तरह के आश्वासन दिये कि दास-प्रथा बन्द नहीं की जायगी। उसने यहाँतक कह दिया कि गुलामी जहाँ है वहाँ उसे विधान में शामिल करके स्थायी बनाने को भी तैयार हूँ। असल में वह शान्ति की खातिर किसी भी हद तक जाने को राजी था, मगर वह एक बात को मजूर नही कर सकता था और वह यह कि सघ छिन्न-भिन्न होजाय। किसी राज्य का सघ से अलग होने का हक वह कतई मानने को तैयार नही था।

गृह-युद्ध को टालने की लिंकन की सारी कोशिशें बेकार रही। दक्षिण ने अलग होजाने का फैसला कर लिया और ग्यारह राज्य अलग हो भी गये। उनके साथ किनारे के कुछ और राज्यो की भी हमदर्दी थी। अलग होनेवाले राज्य अपनेको सम्मिलित राज्य (Confederate State) कहने लगे और उन्होने जैफर्सन डेविस को अपना अलग राष्ट्रपति चुन लिया। १८६१ ई० के अप्रैल में गृह-युद्ध छिड गया और पूरे चार वर्ष तक चलता रहा। उस समय बहुत-से भाई भाइयो से और मित्र मित्रो से लडे। लड़ाई के दौरान में दोनो तरफ बडी-बडी फौजें खडी हो गई। उत्तर को बहुतेरी सहूलियते थी। उसकी आबादी भी ज्यादा थी और दौलत भी ज्यादा। वह पक्का माल तैयार करनेवाला और ऐसा देश था जहाँ उद्योग-धधे और कल-कारखाने खूब बढ़े हुए थे, इसलिए उसके पास बहुत ज्यादा साधन थे और उसकी रेले भी ज्यादा थी। लेकिन दक्षिण के सैनिक और सेनापति अच्छे थे—खासतौर पर जनरल ली बड़ा योग्य था। इसलिए शुरू-शुरू मे दक्षिण की ही सारी विजय हुई। लेकिन अखीर में दक्षिण की

ताकत कमज़ोर पड़ गई। उत्तर वालो की समुद्री फ़ौज ने दक्षिण का उसके योरप के बाज़ारों से ताल्लुक बिलकुल काट दिया और रुई और तम्बाकू का बाहर जाना रोक दिया। इससे दक्षिण के हाथ-पैर कट गये। लेकिन इसका असर लंकाशायर पर भी बहुत जबरदस्त हुआ। वहां रुई न पहुँचने से बहुतसी मिलें बन्द होगई। लंकाशायर के मज़दूर बेकार होगये और उन्हें बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी।

इस लड़ाई के बारे में अंग्रेज़ी लोकमत की आम तौर पर दक्षिण वालों के साथ हमदर्दी थी, या कम-से-कम धनिकवर्ग की राय दक्षिण की तरफ थी। सुधारक लोग उत्तरवालो के तरफदार थे।

गृह-युद्ध की असली वजह दास-प्रथा नहीं थी। जैसा मैं कह चुका हूँ, लिंकन आखीर तक आश्वासन देता रहा था कि गुलामी की प्रथा जहां कहीं है वहाँ उसका खयाल रक्खा जायगा। झगड़े की जड़ तो असल में दक्षिण और उत्तर के जुदा-जुदा और कुछ विरोधी आर्थिक स्वार्थ थे और आखीर में लिंकन को संघ की रक्षा के लिए लड़ना पड़ा। युद्ध छिड़ जाने के बाद भी लिंकन ने दास-प्रथा के बारे में कोई साफ़ ऐलान नहीं किया, क्योंकि उसे डर था कि कहीं उत्तर के वे बहुत लोग जो गुलामी की प्रथा के तरफ़दार थे और किनारे के राज्य भड़क न उठें। हां जैसे-जैसे लड़ाई बढ़ती गई वैसे-वैसे वह साफ़ बातें करने लगा। पहले उसने यह प्रस्ताव रक्खा कि मालिकों को मुआवज़ा देकर कांग्रेस गुलामों को आज़ाद करदे। बाद में उसने मुआवज़ा देने का विचार छोड़ दिया और आखिर १८६२ ई० के सितम्बर में उसने जो मुक्ति की घोषणा निकाली उसमें यह ऐलान कर दिया कि १८६२ ई० की पहली जनवरी से सारे बागी राज्यों के गुलाम आज़ाद होजायेंगे। इस घोषणा के निकालने की खास वजह शायद यह थी कि वह दक्षिण की ताकत लड़ाई में कमज़ोर कर देना चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि [illegible] गुलाम आज़ाद होगये और उनसे यह उम्मीद [illegible] गई थी कि सम्मिलित राज्यों में वे लोग [illegible] करेंगे।

[illegible] दक्षिणवाले [illegible] हार गये तो १८६५ ई० में गृहयुद्ध खत्म हुआ। यों तो लड़ाई कभी भी हो तो भयंकर चीज़ ही होती है मगर [illegible] तो और भी [illegible] [illegible]

लिंकन ने लड़ाई में विजयी होते ही उसने हारे हुए दक्षिण के साथ उदारता का बर्ताव करना शुरू कर दिया। लेकिन कुछ दिनो के भीतर ही किसी फिरे दिमाग के आदमी ने उसे गोली से उड़ा दिया।

अब्राहम लिंकन अमेरिका के बड़े-से-बड़े शूरवीरो मे से है। उसका स्थान दुनियाभर के महान पुरुषो मे भी है। शुरू मे वह वहुत ही छोटा आदमी था। स्कूल मे उसने थोड़ी-सी तालीम पाई थी। जो कुछ उसने सीखा ज्यादातर अपनी ही मेहनत से सीखा था। फिर भी वह वढते-वढते एक वहुत वडा राजनीतिज्ञ और वक्ता बन गया और उसने मुसीबत के वहुत बड़े जमाने में अपने देश की नाव को पार लगाया।

लिंकन के मरने के बाद अमेरिका की काग्रेस दक्षिणी गोरो के प्रति उतनी उदार नहीं रही, जितनी कि वह हो सकती थी। इन दक्षिणी गोरो को कई तरह की सजा दी गई और वहुतो का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियो को नागरिकता के पूरे हक देकर इस बात को अमेरिका के विधान में शामिल कर दिया गया। यह भी नियम बना दिया गया कि कोई राज्य किसी आदमी को उसकी जाति, रग या पहले की गुलामी के कारण राय देने के हक से वंचित नही कर सकेगा।

हब्शी लोग अब कानून की रू से आजाद होगयें और उन्हे राय देने का हक भी मिल गया। लेकिन उनकी माली हालत वही रही, इस कारण उन्हे बहुत कम फ़ायदा पहुँचा। आजाद किये गये हब्शियो में से किसीके पास जायदाद नही थी और उनके लिए क्या किया जाय, यह सवाल होगया। उनमें से कुछ लोग उत्तर के शहरो में जा बसे, लेकिन ज्यादातर जहाँ थे वहीं रहे। उनपर उनके पुराने गोरे दक्षिणी मालिको का वैसा ही दबाव रहा। वे पुराने बागीचो में काम करते रहे और जो मजदूरी उनके गोरे अन्नदाता देदेते वही उन्हे लेनी पड़ती। दक्षिणी गोरो ने भी हर तरह के आतंक द्वारा हब्शियो को दबाये रखने के लिए अपना संगठन कर लिया। उन्होने कूक्लक्स क्लैन नाम की एक ग़ैरमामूली ढग की गुप्त-सी सस्था बना ली। इसके सदस्य बुर्के पहन-पहनकर हब्शियो को डराते फिरते थे और उन्हे चुनाव में राय देने से भी रोकने लगे।

पिछले पचास वर्ष में हब्शियो ने कुछ तरक्की की है। वहुतो के जायदाद भी होगई है और उनकी कई वढिया शिक्षण-संस्थायें है। फिर भी निश्चित रूप मे उनकी जाति गुलाम है। सयुक्त राज्यो में उनकी तादाद एक करोड़ वीस लाख के करीब यानी सारी आवादी का दसवा हिस्सा है। जहा कही उनकी तादाद थोडी है वहां उन्हे वरदाश्त कर लिया जाता है। उत्तर के कुछ हिस्सो में कुछ ऐसा ही होता है।

मगर ज्योंही उनकी तादाद बढ़ने लगती है त्योंही उनपर बुरी तरह हमले होने लगते हैं और उन्हें यह अनुभव करा दिया जाता है कि पुराने गुलामों से उनकी हालत बहुत अच्छी नहीं है। होटलों, गिरजों, कालेज, बागों, स्नान करने के घाटों, ट्राम-गाड़ियों और भण्डारों तक में, सभी जगह, उन्हें गोरों से अलग रक्खा जाता है। रेलों में उन्हें खास डिब्बों में बैठना पड़ता है। गोरों और हब्शियों में शादी की कानून से मनाई है। असल में तरह-तरह के विचित्र कानून हैं। अभी १९२६ ई० में ही वर्जीनिया राज्य ने एक कानून बनाकर गोरे और काले का एक आंगन में साथ-साथ बैठना भी मना कर दिया है।

कभी-कभी गोरों और हब्शियों में भयंकर दंगे होते हैं। दक्षिण में अक्सर ऐसे भयंकर मामले हो जाते हैं कि भीड़ किसी आदमी पर मुजरिम होने का शुब्हा करके उसे पकड़ लेती है और मार डालती है। इन्हीं वर्षों में ऐसी घटनायें भी हुई हैं कि गोरे लोगों की भीड़ ने हब्शियों को खम्भे से बाँधकर ज़िन्दा जला दिया।

यों तो सारे अमेरिका में और खास तौर पर दक्षिणी राज्यों में हब्शियों की हालत अब भी बहुत दर्दनाक है। जब मज़दूरों का मिलना कठिन हो जाता है तब अक्सर बेकसूर हब्शियों को दक्षिण के कुछ राज्यों में किसी बनावटी जुर्म में जेल भेज दिया जाता है और फिर उन क़ैदियों को ठेके पर मज़दूरी करने के लिए खानगी ठेकेदारों के हवाले कर दिया जाता है। यह बात खुद ही काफ़ी बुरी है, मगर इसके साथ और जो हालत होती है वह तो बहुत भयंकर है। इस तरह हम देखते हैं कि आखिर कानूनी आज़ादी मिल जाना ही कोई बहुत बड़ी बात नहीं होती। मगर एक बात में हब्शियों ने सचमुच दुनिया पर [illegible] हासिल कर ली है और वह है उनका 'जैज़' (Jazz) संगीत।

क्या तुमने हैरियट बीचर स्टो की 'टाम काका की कुटिया' पढ़ी है, या उसका नाम सुना है? यह पुस्तक दक्षिणी राज्यों के पुराने ज़माने के हब्शी गुलामों के बारे में है और इसमें उनकी दर्दनाक कहानी दी गई है। यह पुस्तक [illegible] पहले प्रकाशित हुई थी और अमेरिका में गुलामी-प्रथा के खिलाफ प्रचार करने में इसका बहुत असर पड़ा था।

: १३८ :

अमेरिका का अदृश्य साम्राज्य

२८ फरवरी, १९३३

गृह-युद्ध ने अमेरिका मे बहुत ज्यादा तादाद में नौजवानो की जानें ली और कर्ज का बहुत भारी बोझ भी छोड़ गया। लेकिन उस समय यह देश जवान था और उमंगों से भरा था। इसकी तरक्की जारी रही। इस देश में प्राकृतिक सम्पत्ति का पार न था, खासकर खनिज पदार्थ इसमें बहुत ज्यादा पाये जाते थे। कोयला, लोहा और पेट्रोल, जो तीन चीजे आजकल व्यवसाय और सभ्यता की जड हैं, इस मुल्क में बहुत काफी थी। इस देश में जल-शक्ति भी इतनी ज्यादा थी कि खूब बिजली पैदा की जा सके। इस सिलसिले में नियागरा का जल-प्रपात तो तुम्हे याद आ ही जायगा। अमेरिका एक बहुत लम्बा-चौड़ा मुल्क था; इसकी आबादी औरो के मुकाबिले कम थी और हरेक आदमी के लिए आगे बढने की गुजाइश थी। तरक्की करके एक महान् व्यावसायिक और औद्योगिक देश बन जाने की सारी सहूलियते इस देश में पाई जाती थी। अमेरिका इस रास्ते पर बहुत तेजी के साथ तरक्की भी करने लगा। ईसवी सन् १८८० तक पहुँचते-पहुँचते अमेरिका का व्यवसाय विदेशी बाजारो में ब्रिटिश व्यवसाय का मुकाबिला करने लग गया था। ब्रिटेन ने वैदेशिक व्यापार पर सौ वर्ष से अपना जो प्रभुत्व यानी कब्जा आसानी के साथ कर रक्खा था, अमेरिका और जर्मनी ने उसे खत्म कर दिया।

लोग इस देश में दूसरे देशो से आकर बसने लगे। योरप से सब तरह के लोग आये; जैसे जर्मन, स्केंडीनेवियन, आयरिश, इटालियन, यहूदी, पोल वगैरा। इनमें से बहुत-से तो अपने देश में होनेवाले राजनैतिक जुल्मो से घबराकर आये थे और बहुत-से बेहतर रोजी और रोजगार की तलाश में। जरूरत से ज्यादा घनी आबादी वाले योरप ने अपनी फाजिल आबादी को अमेरिका में भेजना शुरू कर दिया। इस मुल्क में जातियो, राष्ट्रो, भाषाओ और धर्मो का एक असाधारण पचमेल पैदा होगया। योरप में ये लोग अलग-अलग रहते थे, हरेक की अपनी छोटी-छोटी जुदा दुनिया थी, एक-दूसरे की तरफ नफरत और डाह के भावो से भरे रहा करते थे। अमेरिका मे इन लोगों ने एक-दूसरे को नये वातावरण में जाना, जहाँ पुरानी नफरतो का कोई खास असर नहीं दिखाई देता था। अनिवार्य शिक्षा की एक समान प्रणाली ने इनकी राष्ट्रीय विषमताओ को घिसकर चौरस कर दिया और विभिन्न जातियो के इस चो-चो के मुरब्बे से अमेरिकन टाइप पैदा होने लगा। पुराने ऐंग्लो-सैक्सन लोग अपनेको ऊँची जाति का समझते

रहे। समाज के यही अगुआ थे। इनके बाद, किन्तु इनके करीब, उन लोगों का स्थान था जो उत्तरी योरप से आये थे। ये उत्तरी यूरोपियन लोग दक्षिण योरप से आये हुए लोगों को, खासकर इटली के लोगों को, नीची नज़र से देखते थे और उन्हें 'डागो' (Dagos) कहकर पुकारते थे। हब्शी लोग तो अलग थे ही। ये सब जातियों से नीचे समझे जाते थे और किसी भी गोरी कौम से मिलते-जुलते नहीं थे। पश्चिमी समुद्र के किनारे कुछ चीनी, जापानी और हिन्दुस्तानी आ बसे थे। ये लोग उस समय आये थे जब अमेरिका में मजदूरों की मांग बहुत ज्यादा थी। एशिया की ये कौमें भी औरों से अलहदा ही रहीं।

रेल और तार के हर जगह फैल जाने से यह विशाल देश एक सूत्र में बँध गया। पुराने ज़माने में ऐसा होना नामुमकिन था, क्योंकि उस समय एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचने में हफ्तों और महीनों लग जाते थे। हम देख चुके हैं कि पुराने ज़माने में एशिया और योरप में अक्सर बड़े-बड़े साम्राज्य कायम हुए, लेकिन वे एक धागे में इसलिए नहीं बँध सके थे कि आमदरफ्त और सफ़र की सहूलियतें नहीं थीं। साम्राज्य के मुख्तलिफ़ हिस्से एक-दूसरे से बिल्कुल अलग रहते थे और अपना जीवन पूरी आज़ादी के साथ गुज़ारते थे। इतनी बात ज़रूर होती थी कि वे सम्राट की मातहती कबूल करते थे और उसे खिराज देते थे। वे साम्राज्य असल में एक सम्राट या शासक की मातहती में अनेक देशों के ढीले-ढाले गिरोह होते थे। इन सभी में आदर्शों या उसूलों का कोई समान दृष्टिकोण नहीं पाया जाता था। लेकिन अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र ने रेलवे और आमदरफ्त के दूसरे ज़रियों की वजह से और एक-समान शिक्षा-प्रणाली के कारण अपने देश की अनेक जातियों में समान दृष्टिकोण पैदा कर दिया। ये अनेक जातियाँ धीरे-धीरे मिलकर एक जाति हो गईं। यह प्रवृत्ति अभीतक खतम नहीं हुई है; मेल का यह सिलसिला अभीतक जारी है। इतने बड़े पैमाने पर सम्मिश्रण का कोई दूसरा उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

इसीका नाम 'मनरो सिद्धान्त' पड़ा। इस उसूल ने नये पैदा हुए दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्रो को योरप के चगुल से बचा लिया। इसकी वजह से इंग्लैण्ड से एक दफा लड़ाई भी छिड़ गई, लेकिन अमेरिका इस सिद्धान्त पर, आज सौ बरस से ज्यादा होते हुए, डटा हुआ है।

दक्षिण अमेरिका उत्तरी अमेरिका से बिलकुल जुदा था और सौ बरस के जमाने मे इस भेद में कोई कमी नहीं हुई। उत्तर मे कनाडा दिन-दिन सयुक्तराष्ट्र की तरह होता जाता है। लेकिन दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्र वैसे नही बन रहे हैं। मैंने तुम्हे पहले बताया है कि दक्षिण अमेरिका के ये प्रजातन्त्र—और इनमें मैक्सिको को भी शामिल कर लेना चाहिए, जो वह उत्तर अमेरिका में है—लैटिन प्रजातन्त्र कहलाते हैं। अमेरिका और मैक्सिको की सरहद दो भिन्न जातियो और सस्कृतियो को जुदा करती है। इस सरहद के दक्षिण में मध्य-अमेरिका की पतली पट्टी के उसपार और दक्षिण अमेरिका के विशाल महाद्वीपभर में, सभी जगह, जनता की भाषा स्पेनी और पुर्तगाली है। स्पेनी भाषा का ज्यादा जोर है। मेरा खयाल है कि पुर्तगाली सिर्फ ब्राजिल में ही बोली जाती है। दक्षिण अमेरिका के कारण ही स्पेनी भाषा आज संसार की बडी भाषाओ में स्थान रखती है। लैटिन अमेरिका अब भी संस्कृति के सम्बन्ध में स्पेन का मुंह देखता है। संयुक्त अमेरिका और कनाडा में जो जातीय वर्ग-भेद पाये जाते है वे लैटिन अमेरिका में नहीं पाये जाते। स्पेनी लोगो और अमेरिका के आदिम निवासियो यानी रेडइडियनो में, और कुछ हद तक हब्शियो के साथ, शादी-ब्याह आपस में बराबर होते हैं। इसकी वजह से यहाँ एक मिश्रित जाति पैदा होगई है।

सौ वर्षो से आजाद होते हुए भी लैटिन अमेरिका के ये प्रजातन्त्र शान्तिपूर्वक जिन्दगी बिताना पसन्द नहीं करते। समय-समय पर इन देशों में क्रान्ति होती है और सैनिक डिक्टेटर पैदा होते रहते हैं। यहाँकी हमेशा तब्दील होनेवाली राजनीति और सरकारो की प्रगति को समझना आसान नही है। दक्षिण अमेरिका के तीन बडे-बडे देश, अर्जेण्टाइन, ब्राजिल और चाइल है। इनको ए० बी० सी० देश भी कहते है, क्योकि इनके नाम का पहला अक्षर क्रमश. ए० बी० सी० है। उत्तर अमेरिका में खास लैटिन अमेरिकन देश मैक्सिको है।

'मनरो सिद्धान्त' के जरिये सयुक्तराष्ट्र ने लैटिन अमेरिका के मामलात में योरप को दखल देने से रोक दिया। लेकिन ज्यो-ज्यो सयुक्तराष्ट्र वाले खुद अमीर और खुशहाल होते गये, अपने विस्तार के लिए बाहर नये क्षेत्र की तलाश करने लगे। स्वभावतः इनकी आँखें पहले लैटिन अमेरिका पर पड़ीं, लेकिन ये लोग साम्राज्य बनाने के पुराने ढंग पर नही चले। इन्होने लैटिन अमेरिका के किसी भी हिस्से पर

ज़बरदस्ती कब्ज़ा नहीं किया। इन लोगों ने इन देशों में अपने देश का बना हुआ माल भेजा और इनके बाज़ारों पर कब्ज़ा कर लिया। इन्होंने दक्षिण में रेलवे, खान तथा दूसरे रोज़गारों में अपनी पूंजी लगादी। सरकारों को, और कभी-कभी क्रान्तियों के समय एक-दूसरे के ख़िलाफ़ लड़नेवाले दलों को, कर्ज़ देना शुरू किया। इन्होंने से मेरा मतलब अमेरिकन पूंजीपति और साहूकारों से है। अमेरिका की गवर्नमेंट इनके पीछे इनकी मदद पर थी। धीरे-धीरे ये साहूकार लोग उस दौलत की वजह से, जो इन्होंने लगा रक्खी थी या कर्ज़ दे रक्खी थी, मध्य और दक्षिण अमेरिका की अनेक छोटी-छोटी सरकारों का नियंत्रण करने लगे। ये साहूकार इन देशों की एक पार्टी को धन या लड़ाई का सामान कर्ज़ देकर और दूसरी पार्टी की मदद से इन्कार करके क्रान्ति तक पैदा करा सकते थे। इन साहूकारों और पूंजीपतियों के पीछे उत्तरी-अमेरिका की ताकतवर सरकार थी। इसलिए दक्षिण अमेरिका के छोटे और कमज़ोर देश इनका क्या कर सकते थे? कभी-कभी संयुक्तराष्ट्र ने इन प्रदेशों में शान्ति और अमन कायम रखने के बहाने किसी एक दल की मदद करने के लिए बाकायदा अपनी फ़ौजें भी भेजीं।

के साथ जितनी भी चाहें करें। विजयी लोग जमीन पर भी कब्जा कर लेते थे और जनता पर भी, यानी हारे हुए लोग गुलाम होजाते थे। यही आम रिवाज था। बाइबिल में हम पढ़ते हैं कि यहूदियों को बैबीलोनियन लोग गुलाम बनाकर अपने देश पकड़ ले गये थे, क्योंकि यहूदी बैबीलोनियन लोगों से लड़ाई में हार गये थे। इस किस्म की बहुत-सी मिसालें मिलती हैं। धीरे-धीरे साम्राज्य का यह ढग बदला और इसकी जगह पर दूसरे किस्म का साम्राज्य आगया, जिसमें सिर्फ जमीन पर कब्जा कर लिया जाता था लेकिन जनता को गुलाम नहीं बनाते थे, क्योंकि यह स्पष्ट होगया था कि गुलाम बनाने की बनिस्बत टैक्स लगाकर या शोषण के अन्य साधनों से गुलामों से ज्यादा आसानी के साथ पैसा निकाला जा सकता है। हममें से ज्यादातर लोग अभीतक इसी किस्म के साम्राज्य को साम्राज्य समझते हैं, जैसे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य, और हम लोगों का खयाल है कि अगर अंग्रेजों के हाथ से हिन्दुस्तान की राजनैतिक हुकूमत निकल जाय तो हिन्दुस्तान आजाद हो जायगा। लेकिन अब तो साम्राज्य का यह रूप खतम होजाता है और इसकी जगह पर एक उन्नत और परिपूर्ण ढग का साम्राज्य पैदा हो रहा है। सबसे नई तरह के इस साम्राज्य में हारे हुओं की जमीन पर भी कब्जा नही किया जाता। ऐसे साम्राज्य तो सिर्फ देश की दौलत पर या उसकी उत्पत्ति के साधनों यानी पैदावार के जरियों पर अपना अधिकार जमाते हैं। इस ढग से हारे देश का अच्छी तरह शोषण करके खूब मुनाफा भी उठाया जा सकता है और साथ ही उस देश पर हुकूमत करने या दमन करने की जिम्मेदारी से भी बचत हो जाती है। असली तौर से जनता और भूमि दोनों पर कब्जा रहता है और कम-से-कम परेशानी से उन्हें वश में रक्खा जाता है।

इस तरह ज्यों-ज्यों जमाना बीतता गया है, साम्राज्यवाद अपनेको पक्का और और ठोस करता गया है; और आधुनिक ढंग का साम्राज्य अदृश्य आर्थिक साम्राज्य है। जब गुलामी का रिवाज मिट गया और उसके बाद जब सामन्ती ढंग की गुलामी दूर हुई, तब लोगों का खयाल था कि मनुष्य अब आजाद रहेंगे। लेकिन जल्दी ही यह मालूम होगया कि जनता को फिर वही लोग दुह रहे हैं और दबाये हुए हैं, जिनके हाथ में पैसे की ताकत है। गुलाम और आसामी न रहकर लोग मजदूरी के गुलाम होगये। उनके लिए आजादी फिर भी दूर ही रही। यही हालत राष्ट्रों की भी हैं। लोग समझते हैं कि एक जाति का दूसरे पर राजनैतिक शासन ही सिर्फ एक मुसीबत है और अगर यह जाती रहे तो आजादी आप ही आप आजायगी। लेकिन यह बात सही नहीं मालूम होती, क्योंकि हम देखते हैं कि अनेक देश ऐसे हैं जो राजनैतिक दृष्टि से तो आजाद हैं लेकिन आर्थिक गुलामी के कारण पूरी तौर पर दूसरे देश की मुट्ठी में

है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य तो बहुत प्रकट और स्पष्ट है। हिन्दुस्तान पर ब्रिटेन का राजनैतिक शासन है। इस दीखनेवाले साम्राज्य के साथ-साथ और इसके एक आवश्यक अंग के रूप में ब्रिटेन का भारतवर्ष पर आर्थिक प्रभुत्व भी है। यह बिलकुल सम्भव है कि भारतवर्ष पर से ब्रिटेन का ऊपर से दीखनेवाला साम्राज्य बहुत दिन गुजरने के पहले ही जाता रहे, लेकिन आर्थिक शासन अदृश्य साम्राज्य के रूप में बना रहे। अगर ऐसी हालत हो तो इसका मतलब यह होगा कि ब्रिटेन के जरिये हिन्दुस्तान का शोषण जारी है।

विजयी शक्ति के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद कम-से-कम परेशानी पैदा करनेवाला प्रभुत्व है। इसके कारण पराजितों में उतना असंतोष नहीं फैलता जितना राजनैतिक प्रभुत्व होने पर फैलता है। क्योंकि बहुत-से लोग इसे नहीं देख पाते। लेकिन जब इस प्रभुत्व का बोझ दबाने लगता है, तब लोग इसके बुरे असर को महसूस करने लगते हैं और जनता में क्रोध पैदा होने लगता है। लेकिन अमेरिका में आजकल संयुक्तराष्ट्र के प्रति कोई प्रेम नहीं, काफी क्रोध पाया जाता है। बहुत बार कोशिश की गई कि लैटिन अमेरिकन क़ौमों को संगठित करके उत्तरी अमेरिका के प्रभुत्व को रोका जाय। लेकिन ये क़ौमें उस वक्त तक ज्यादा कामयाबी हासिल नहीं कर सकतीं, जबतक इनके आपसी झगड़े और इनको अक्सर होती रहनेवाली महलों तक ही महदूद क्रान्तियाँ बन्द नहीं होतीं।

संयुक्तराष्ट्र का दीखनेवाला साम्राज्य फिलीपाइन के टापुओं पर है। मैंने तुम्हें अपने पहले खत में बताया था कि किस तरह अमेरिका ने इन टापुओं पर स्पेन की लड़ाई के बाद कब्जा कर लिया था। १८९८ ई० में अटलांटिक सागर के क्यूबा नामक टापू के बारे में यह लड़ाई शुरू हुई थी। क्यूबा आजाद होगया, लेकिन यह आज़ादी सिर्फ नाम की है। क्यूबा और हेटी दोनों पर अमेरिका का नियन्त्रण है।

कुछ वर्ष हुए, पनामा की नहर खुली। यह मध्य-अमेरिका की एक छोटी-सी पट्टी है, जो प्रशान्तसागर और अटलांटिक सागर को मिलाती है। ५० वर्ष से ज्यादा हुए स्वेज नहर को बनानेवाले फर्डिनेन्ड डी लेसेप्स ने इसकी योजना बनाई थी, लेकिन वह बेचारे परेशानी में फँस गये और अमेरिकन लोगों ने इस नहर को बनाया। अमेरिकन लोगों को मलेरिया और पीला-ज्वर के कारण बहुत कठिनाई में पड़ जाना पड़ा, लेकिन इन लोगों ने इन बीमारियों को मिटा देने का इरादा कर लिया था और उसमें वे सफल रहे। भिन्न-भिन्न स्थानों पर मलेरिया के मच्छर पैदा होते थे, उनको और बीमारी फैलाने के दूसरे सारे ज़रियों को इन्होंने मिटा दिया और नहर के क्षेत्र को बिल्कुल स्वास्थ्यप्रद बना दिया। यह नहर पनामा के नाके से प्रशान्तसागर में अन्दर है। और

संयुक्तराष्ट्र का इस नहर पर भी नियत्रण है, और पनामा के छोटे-से प्रजातन्त्र पर भी। अमेरिका के लिए यह नहर बड़े फायदे की चीज है, नहीं तो जहाजो को दक्षिण अमेरिका के चारों ओर घूमकर जाना पड़ता। लेकिन फिर भी पनामा नहर का उतना महत्त्व नही, जितना स्वेज नहर का है।

इस तरह संयुक्तराष्ट्र दिन-दिन मजबूत और अधिक दौलतमन्द होता गया। इस धन ने बहुत-सी चीजें पैदा कीं—जैसे करोड़पति लोग और आकाशचुम्बी महल। अमेरिकन लोगो ने बहुत-सी बातो मे योरप की बराबरी करली और उससे आगे भी बढ गये। व्यावसायिक दृष्टि से ये लोग ससार की प्रमुख कौम होगये, और इनके यहा के मजदूरों के रहन-सहन का ढग और देशो की बनिस्बत ऊँचा होगया। इस खुशहाली की वजह से १९वी सदी के इग्लैण्ड के समान इस देश में साम्यवाद और दूसरे उग्र विचारो को प्रोत्साहन नही मिला। दो-चार अपवादो को छोड़कर अमेरिका के मजदूर बहुत ठडे और झगडो से अलग रहनेवाले थे। यहाके मजदूरो को दूसरी जगहो की बनिस्वत बेहतर मजदूरी मिलती है, इसलिए ये लोग भविष्य की सदेह से भरी हुई बेहतरी की उम्मीद मे वर्त्तमानकाल के अपने निश्चित सुखो को खतरे में क्यो डाले? अमेरिका के मजदूरो में ज्यादातर इटैलियन और दूसरे 'डागो' वर्ग के लोग थे (जैसा कि उन्हे हिकारत के लफ्जो में कहा जाता था)। ये लोग कमजोर और असंगठित थे और नफरत की नजर से देखे जाते थे। जिन मजदूरो की तनख्वाहे ज्यादा थी, वे भी इन 'डागो' से अपनेको अलग और ऊँचा समझते थे।

अमेरिका की राजनीति में दो दल पैदा हुए। एक 'रिपब्लिकन' (जनतन्त्रवादी) और दूसरा 'डेमोक्रेटिक' (प्रजासत्तावादी)। इग्लैण्ड के समान, और बहुत हद तक उससे भी ज्यादा, यहा ये दोनो दल दौलतमन्दो के प्रतिनिधि थे। इनमें उसूलो का कोई विशेष झगड़ा नहीं था। इसे अगर नागनाथ और साँपनाथ का उदाहरण कहा जाय तो अनुचित न होगा।

जब महायुद्ध आरम्भ हुआ तो यह हालत थी और अन्त में अमेरिका भी खिचकर लडाई के भँवर में जा पडा।

: १३९ :

आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच संघर्ष के सातसौ वर्ष

८ मार्च, १९३३

आओ, अब अटलांटिक महासागर फिर पार करके पुरानी दुनिया में वापस चलें। मोटर या हवाई जहाज से आते हुए मुसाफिर को पहला मुल्क जो मिलता है, वह आयर्लैण्ड है। इसलिए हम यहीं अपनी पहली मंजिल रक्खेंगे। यह हरा-भरा और सुन्दर टापू योरप के सबसे आखिरी पश्चिमी छोर पर अटलांटिक सागर में स्थित है। यह टापू छोटा-सा है और संसार के इतिहास की मुख्य धाराओं से दूर जा पड़ा है। लेकिन यद्यपि यह नन्हा-सा है, मगर इसका इतिहास अद्भुत और दिलचस्प घटनाओं से भरा है और पिछली अनेक सदियों से यह कौमी आजादी की लड़ाई में जबरदस्त कुरबानी की भावना और न थकनेवाली बहादुरी का सबूत देता आया है। एक नजदीकी ताकतवर राष्ट्र के खिलाफ अपनी इस लड़ाई में आयर्लैण्ड ने धीरज का आश्चर्यजनक नमूना दुनिया के सामने रक्खा है। साढे सात सौ बरस से ज्यादा गुजरे, जब यह लड़ाई शुरू हुई थी और आजतक खत्म नहीं हुई। हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद की असली सूरत चीन, हिन्दुस्तान और दूसरी जगहों में देख चुके हैं, लेकिन आयर्लैण्ड तो इसका शिकार बहुत पहले से हो रहा है। फिर भी इस देश ने कभी इस साम्राज्यवाद के सामने खुशी से सिर नहीं झुकाया और करीब-करीब हरेक पीढी में इंग्लैण्ड के खिलाफ बगावत करता रहा। उस देश के बहादुर पुत्रों ने स्वतन्त्रता के लिए लड़ते-लड़ते प्राण दिये, या अंग्रेज अफसरों ने उन्हें फांसी पर लटका दिया। आयरिश लोगों की काफी तादाद अपनी मातृभूमि को, जिसे वे बेहद चाहते थे, छोड़कर दूसरे देशों में जा बसी। बहुतेरे इंग्लैण्ड से लड़नेवाली विदेशी फौजों में भरती होगये, ताकि वे उस मुल्क के खिलाफ अपनी ताकत लगा सकें जिसने उनकी मातृभूमि को दबा रक्खा था और जो उसपर अत्याचार कर रहा था। आयर्लैण्ड से बहुतेरे निर्वासित यानी जलावतन लोग दूर-दूर देशों में फैल गये और जहां-जहां वे गये वहां-वहां अपने दिल में आयर्लैण्ड का एक हिस्सा लेते गये।

[illegible] रहना उसकी तन्दुरुस्ती की निशानी नहीं है। स्वस्थ राष्ट्र और स्वस्थ देश वर्तमान काल मे काम करते है और अपने भविष्य की तरफ देखते है। लेकिन जो आदमी या देश आजाद नहीं वह स्वस्थ भी नही होता। उसके लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह बीते हुए जमाने की तरफ नजर रक्खे और एक हद तक गुजरे जमाने मे अपनी जिन्दगी का एक हिस्सा बितावे।

इसलिए आयरलैण्ड अभीतक अपने भूतकाल में अपनी जिन्दगी गुजारता है और आयरिश लोग अभीतक अपने उस गुजरे जमाने की याद मे, जबकि वे आजाद थे, खुशी महसूस करते है। अपने देश की आजादी की अनेक लडाइयां ओर उसकी पुरानी शिकायतें उन्हें साफ-साफ याद है। उन्हें आज से चौदह सौ बरस पुराना जमाना याद आता है—ईसा की छठी सदी का, जब पश्चिमी योरप के लिए आयरलैण्ड विद्या का केन्द्र था और जब वहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी पढने आते थे। उस वक्त रोमन साम्राज्य का पतन हो चुका था, बर्बर और हूण लोग रोमन सभ्यता को चकनाचूर कर चुके थे। कहा जाता है कि उस जमाने में आयरलैण्ड एक ऐसा मुल्क था, जिसने योरप में विद्या का पुनरुद्धार होने तक संस्कृति की ज्योति जगाये रक्खी। ईसाई धर्म पहले आयरलैण्ड में आया। कहा जाता है कि आयरलैण्ड के आदि-सन्त सेण्ट पैट्रिक ईसाई मत को आयरलैण्ड लाये थे। आयरलैण्ड से ही यह धर्म उत्तरी इंग्लैण्ड में फैला। आयरलैण्ड में बहुत-से मठ खुले। हिन्दुस्तान के पुराने आश्रमो और बौद्ध विहारो की तरह वे भी विद्या के केन्द्र थे, जहाँ खुली हवा में शिक्षा दी जाती थी। इन्ही मठो से उत्तरी और पश्चिमी योरप में ईसाई मत का नया धर्म-प्रचार करने के लिए मिशनरी लोग जाते थे। आयरिश मठो में कुछ साधुओ ने बहुतेरी अच्छी किताबें लिखी। डबलिन में आज भी इसी तरह की एक सुन्दर पाण्डुलिपि मौजूद है, जिसे 'बुक आफ केल्स' कहते है और जो अन्दाजन बारह सौ बरस हुए तब लिखी गई थी।

छठी सदी से इधर दो-तीन सौ बरस तक के युग को बहुतेरे आयरिश लोग आयरलैण्ड का सतयुग समझते है, जबकि गैलिक संस्कृति अपनी पूरी ऊँचाई पर थी। शायद बहुत जमाना गुजर जाने की वजह से यह युग खास तौर से दिलचस्प मालूम होता है और जितना महान् यह असल में था उससे कही ज्यादा महान् दिखाई देता है। उस वक्त आयरलैण्ड कई जातियो में बँटा हुआ था और वे जातियाँ बराबर आपस मे लडा-भिडा करती थी। आपस में झगड़ते रहना, हिन्दुस्तान की तरह, आयरलैण्ड की भी कमजोरी थी। इसके बाद डेन्स[1] और नार्समैन[2] आये और उन्होने इंग्लैण्ड और

१. डेन्स—डेनमार्क के लोग।
२. नार्समैन—स्केण्डीनेविया का निवासी।

फ्रांस की तरह आयरिश लोगों को भी हरा कर देश के बहुत बड़े हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया। ग्यारहवीं सदी के शुरू में 'ब्रियान बोरुमा' नाम के मशहूर आयरिश राजा ने डेन्स लोगों को हराकर कुछ वक़्त के लिए आयर्लेण्ड को एक सूत्र में बांध लिया। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद यह जाति फिर बिखर गई।

तुम्हें याद होगा कि नार्मनों ने विजेता 'विलियम' की मातहती में ग्यारहवीं सदी में इंग्लैण्ड को जीता था। इन्हीं ऐंग्लो-नार्मनों ने सौ बरस के बाद आयर्लेण्ड पर धावा किया और जिस हिस्से पर कब्ज़ा किया उसका नाम 'पेल' रक्खा। शायद इसीसे अंग्रेज़ी भाषा में 'बियांड दि पेल' वाक्य प्रचलित हुआ है। 'पेल' के बाहर यानी जाति से अलग। ११६९ ई० के इस ऐंग्लोनार्मन हमले ने गैलिक संस्कृति को सख़्त धक्का पहुंचाया और उसी समय से आयरिश जातियों के साथ बराबर लड़ाई की शुरुआत होती है। ये लड़ाइयां, जो करीब सौ बरस के जारी रहीं, बहुत ज्यादा जंगली और क्रूर थीं। ऐंग्लो-नार्मन लोग, जिन्हें अब अंग्रेज कहना चाहिए, आयरिश लोगों को अर्द्ध-सभ्य जाति समझकर हमेशा नफ़रत की नज़र से देखते रहे। इन दोनों में जाति का भेद था ही—अंग्रेज लोग ऐंग्लो-सैक्सन जाति के थे और आयरिश केल्ट थे—बाद को इनमें धर्म का भी भेद पैदा होगया। अंग्रेज और स्काच प्रोटेस्टेण्ट होगये और आयरिश लोग अपने पुराने धर्म रोमन कैथलिक पर ही कायम रहे। इसलिए अंग्रेज और आयरिश लोगों की इन लड़ाइयों में जातीय (Racial) और मज़हबी लड़ाइयों की पूरी कटुता पाई जाती है। अंग्रेजों ने इरादा करके दोनों कौमों के मिलाप को रोका। एक कानून भी इस सम्बन्ध में बना 'किलकैनी का कानून', जिसके मुताबिक अंग्रेज और आयरिश में अन्तर्जातीय विवाह रोक दिया गया।

रानी एलिज़ाबेथ के ज़माने में सोलहवीं सदी में, यह तय किया गया कि आयलैंण्ड के ताकतवर ज़मींदारों की सारी ताकत को तोड़ने के लिए इनमें अंग्रेज ज़मींदार कायम कर दिये जायँ जो इन्हें बराबर दबाये रहें। इसलिए आयलैंण्ड की ज़मीन ज़ब्त करली गई और वहाँ के पुराने ज़मींदारों की जगह पर अंग्रेज ज़मींदार कायम किये गये। इस तरह आयर्लैण्ड किसानों का राष्ट्र बन गया, जिनके ज़मींदार विदेशी थे। ये ज़मींदार लोग आयरिश लोगों के लिए सैकडों बरस गुज़र जाने पर भी विदेशी ही बने रहे।

रानी एलिज़ाबेथ के वारिस जेम्स प्रथम ने आयरिश लोगो की शक्ति तोडने की कोशिश में एक कदम और आगे बढाया। उसने यह निश्चय किया कि आयलैंण्ड में विदेशी लोगों का बाक़ायदा उपनिवेश बना दिया जाय और इसलिए बादशाह ने उत्तरी आयर्लैण्ड में अल्स्टर के छहों ज़िलों की सारी ज़मीन ज़ब्त करली। ज़मीन मुफ्त में मिलने लगी और लोभग्रस्तों के झुण्ड-के-झुण्ड स्काटलैण्ड और इग्लैण्ड से वहाँ पहुँच गये। इग्लैण्ड और स्काटलैण्ड से आये हुए ये लोग ज़मीन लेकर यहीं बस गये और किसानी करने लगे। उपनिवेश की इस प्रवृत्ति को सफल बनाने के लिए लन्दन शहर से भी मदद माँगी गई, और लन्दन वालों ने तो 'अलस्टर की बस्तियों' (Ulster Plantations) के लिए एक ख़ास संस्था ही बना दी थी। इसी वजह से उत्तर का 'डेरी' नाम का शहर आज 'लन्दन डेरी' कहलाता है।

इस तरह अलस्टर आयलैंण्ड में ब्रिटेन का एक पैबन्द बन गया और इसमें कुछ आश्चर्य नहीं अगर आयरिश लोगों को इस बात से बड़ा गुस्सा पैदा होता हो। ये नये अलस्टरी आयलैंण्ड के लोगों से नफ़रत करते थे और उन्हें नीच समझते थे। इग्लैण्ड की यह कितनी आश्चर्यजनक चालाकी की साम्राज्यवादी हरकत थी कि उसने आयलैंण्ड के इस तरह एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दो हिस्से कर दिये। अलस्टर की गुत्थी अभी तक, तीन सौ बरस गुज़र जाने पर भी, नहीं सुलझ सकी है।

अलस्टर में इस उपनिवेश के कायम होजाने के बाद इंग्लैण्ड में चार्ल्स प्रथम और पार्लमेण्ट के दरमियान गृह-युद्ध शुरू हुआ। पार्लमेण्ट की तरफ प्रोटेस्टैण्ट और प्यूरिटन थे, कैथलिक आयलैंण्ड स्वभावत. बादशाह की तरफ झुका। अलस्टर ने पार्लमेण्ट का साथ दिया। आयरिश लोग डरते थे और डरने की वजह भी थी कि प्यूरिटन लोग कैथलिक धर्म को नष्ट कर देंगे। इसलिए १६४१ में इन लोगों ने एक बहुत बड़ा विद्रोह खड़ा कर दिया। यह विद्रोह और इसका दमन पहले के विद्रोहों और दमन की बनिस्बत कहीं अधिक जंगली और क्रूर था। आयलैंण्ड के कैथलिक लोगों ने प्रोटेस्टेण्ट लोगों को बेरहमी से क़त्ल किया था। क्रामवेल ने इसका भयंकर बदला लिया।

आयरिश लोगों का कई दफा कत्लेआम हुआ, खास कर कैथलिक पादरियों का, और आयर्लैण्ड में आजतक क्रामवेल का नाम कटुता के साथ याद किया जाता है।

इस जुल्म और बेरहमी के होते हुए भी एक पीढ़ी बाद आयर्लैण्ड में फिर बगावत और घरेलू लड़ाई उठ खड़ी हुई, जिसकी दो घटनायें मशहूर हैं। एक लन्दन-डेरी का और दूसरे लिमेरिक का घेरा। १६८८ ई० में आयर्लैण्ड के कैथलिक लोगों ने लन्दनडेरी के प्रोटेस्टेण्ट लोगों को घेर लिया। प्रोटेस्टेण्ट लोगों ने बहुत बहादुरी से मुकाबिला किया, हालांकि उनके पास खाने की सामग्री भी नहीं थी और वे भूखों मर रहे थे। अंग्रेजी जहाज आखिर चार महीने के घेरे के बाद खाने की सामग्री और सहायता लाये।

१६९० ई० में लिमेरिक में बिलकुल इसका उलटा हुआ। वहां कैथलिक मत माननेवाले आयरिश लोगों को अंग्रेजों ने घेर लिया था। इस घेरे का वीर पुरुष पैट्रिक सार्सफील्ड था, जिसने बहुतसी दिक्कतों के होते हुए भी बहुत शान के साथ लिमेरिक की हिफाजत की। इस लड़ाई में आयर्लैण्ड की स्त्रियां भी लड़ीं और आयर्लैण्ड के गांवों में आजतक सार्सफील्ड और उनके बहादुर जत्थे की वीरता के गाने गेलिक भाषा में गाये जाते हैं। सार्सफील्ड को आखीर में यह बहादुराना लड़ाई बन्द करनी पड़ी; लेकिन तब जब अंग्रेजों ने उनसे सम्मानपूर्ण सुलह की। लिमेरिक के इस सुलहनामे की एक शर्त यह थी कि आयरिश कैथलिकों को पूरी नागरिक और मजहबी आजादी दी जायगी।

[illegible] के [illegible] लोगो के सामने लिमेरिक की घटना अग्रेजो की धोखाबाजी की ज्वलन्त मिसाल है। इस वादाखिलाफी, असहिष्णुता, दमन और जमीदारो के अत्याचार के कारण इस काल आयरलैण्ड की बहुत काफी जनता दूसरे देशो मे जा बसी। आयरलैण्ड के चुने-चुने नवयुवक विदेश चले गये और किसी भी ऐसे देश की फौज मे भर्ती होने को [illegible] जो अग्रेजो से युद्ध कर रहा हो। जहाँ भी कही अग्रेजो के खिलाफ लड़ाई होती, ये आयरिश नवयुवक वहाँ जरूर पहुँच जाते थे।

जोनाथन स्विफ्ट जिसने 'गुलीवर्स ट्रावेल' नामक पुस्तक लिखी है, इसी युग मे हुआ है। यह १६६७ से १७४५ तक जिन्दा रहा। इसने अपने देशवासियो को एक सलाह दी है। इस सलाह से अग्रेजो के प्रति इसके क्रोध की मात्रा का अन्दाज लगाया जा सकता है। इसकी सलाह यह थी—"इनके (अग्रेजो के) कोयले को छोड़कर बाक़ी हरेक अग्रेजी चीज जला डालो।" डबलिन में सेंट पैट्रिक गिरजे मे चन्द पक्तियाँ, जो जोनाथन स्विफ्ट की क़ब्र पर लिखी है, इनमे भी ज्यादा कटु है। ये पक्तियाँ शायद उसने खुद ही लिखी थी।

Here lie the body of
Jonathan Swift
For thirty years Dean
Of this Cathedral
Where savage indignation can
No longer gnaw his heart
Go, traveller, and
Imitate, if you can, one who
Played a man's part in defence
Of liberty.

"यहाँ जोनाथन स्विफ्ट का शरीर पडा हुआ है। वह ३० वर्ष तक इस गिरजे का डीन (अधिकारी) था। जगली रोष उसके हृदय को काट न सका। हे यात्री! जाओ और कर सको तो उस आदमी का अनुकरण करो, जिसने आजादी की रक्षा मे एक मर्द का पार्ट अदा किया है।"

१७७४ ई० मे अमेरिका की आजादी की लड़ाई छिडी, और एटलाटिक के पार अंग्रेज़ी फौज का भेजना जरूरी होगया। आयर्लैंड में कोई ब्रिटिश फौज न रह गई और उधर फ्रान्सीसी हमले की चर्चा होने लगी, क्योकि फ्रान्स ने भी हालैंड के खिलाफ़ लड़ाई शुरू कर दी थी। इसलिए आयरिश कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनो ने रक्षा के लिए वालटियर (स्वयसेवक) दल बनाना शुरू कर दिया। कुछ अरसे के लिए ये लोग अपना पुराना झगड़ा भूल गये, आपस मे सहयोग करने लगे और इनको अपनी शक्ति का पता चल गया। एक दूसरे विद्रोह का ख़तरा इंग्लैण्ड के सामने खड़ा होगया और, इस डर से कि कही आयर्लेण्ड भी अमेरिका की तरह हाथ से न निकल जाय, इंग्लैण्ड ने

आयर्लैण्ड को स्वतन्त्र पार्लमेण्ट देदी। इस तरह उसूल की दृष्टि से तो आयर्लैण्ड ब्रिटिश बादशाह के अधीन, इंग्लैण्ड से आज़ाद होगया, लेकिन आयरिश पार्लमेण्ट वही पुरानी और ज़मींदारों की सकीर्ण संस्था रही, जिसमें केवल प्रोटेस्टेण्ट शामिल थे और जो कैथलिक लोगों पर पहले दबाव डालते रहे थे। कैथलिक लोगों पर अभीतक अनेक प्रकार की बन्दिशें थीं। हां, फर्क सिर्फ इतना ज़रूर होगया था कि अब कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टेण्ट एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक आते जाते थे। इस पार्लमेण्ट के नेता हेनरी ग्रेटेन, जो स्वयं प्रोटेस्टेण्ट थे, यह चाहते थे कि कैथलिक लोगों पर जो बन्दिशें हैं वे हटा दी जायें, लेकिन इस बात में उनको बहुत कम कामयाबी हासिल हुई।

इसी दरमियान फ्रान्स में क्रान्ति होगई, और आयर्लैण्ड को उससे बहुत आशायें बंध गईं। आश्चर्य तो यह है कि इस क्रान्ति का स्वागत कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों ने किया, जो अब धीरे-धीरे एक-दूसरे से बहुत नज़दीक होते जाते थे। 'संयुक्त आयरिश' (United Irishmen) नाम की एक संस्था खुली, जिसका उद्देश यह था कि कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों में मेल-जोल पैदा कराया जाय और कैथलिक लोगों को आज़ादी दिलाई जाय। सरकार ने इस 'यूनाइटेड आयरिशमेन' नाम की संस्था को पसन्द नहीं किया और यह दबा दी गई। इसलिए इस्वभामूल होनेवाली अनिवार्य क्रान्ति १७९८ ई० में फिर भड़क उठी। यह क्रान्ति पहले की क्रान्तियों की तरह अलस्टर और देश के दूसरे हिस्सों के दरमियान की मज़हबी लड़ाई नहीं थी। यह एक राष्ट्रीय क्रान्ति या बग़ावत थी, जिसमें कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों शामिल थे। इस क्रान्ति को भी अंग्रेजों ने दबा दिया और इसके वीर पुरुष उल्फ टोन को, विद्रोही होने के अपराध में, फांसी पर लटका दिया गया।

इस तरह अब यह स्पष्ट था कि आयर्लैण्ड में एक स्वतन्त्र पार्लमेण्ट बना देने से आयरिश लोगों की स्थिति में कोई फर्क नहीं आया था। अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट भी उस समय एक सकीर्ण और दूषित संस्था थी, जिसमें सिर्फ चन्द लोगों का चुनाव हुआ करता था और जिसको बड़े-बड़े ज़मींदारों का एक छोटा-सा गुट और चन्द बड़े-बड़े व्यापारी अपनी मुट्ठी में रखते थे। आयरिश पार्लमेण्ट में भी यही सब दोष पाये जाते थे। इसके अलावा उसमें खास खराबी यह भी थी कि वह पार्लमेण्ट कैथलिक देश में कायम होते हुए भी मुट्ठीभर प्रोटेस्टेण्टों के हाथ में थी। ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि आयरिश पार्लमेण्ट को खत्म कर दिया जाय और आयर्लैण्ड को इंग्लैण्ड में मिला दिया जाय। [illegible] ने इस प्रस्ताव का ज़ोरों से विरोध किया [illegible] [illegible] ने [illegible] मिला [illegible] [illegible] [illegible] ई० में 'ऐक्ट आफ यूनि[illegible]

[illegible] पास हुआ और इस तरह ग्रेटन की चन्द दिनो की पार्लमेण्ट का खात्मा हो गया। इसकी जगह पर अब चुने जाकर कुछ आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट में लन्दन जाने लगे।

इस दूषित आयरिश पार्लमेण्ट के खात्मे से शायद बहुत बड़ा नुकसान नही हुआ, सिवा इसके कि यह मुमकिन था कि कुछ दिन के बाद यह पार्लमेण्ट बेहतर हो जाती। लेकिन यूनियन ऐक्ट ने एक बहुत बड़ा नुकसान पहुँचाया और शायद यही नुकसान पहुंचाने के लिए वह बनाया भी गया था। प्रोटेस्टेण्ट और कैथलिको के दरमियान उत्तर और दक्षिण मे मेल-जोल की जो प्रवृत्ति चल रही थी वह खत्म होगई। प्रोटेस्टेण्ट अलस्टर ने बाकी आयर्लैण्ड से मुह मोडकर अपना रुख दूसरी तरफ कर लिया और ये दोनो हिस्से एक-दूसरे से अलग होकर अपने-अपने रास्ते पर चल पडे। इन दोनो मे एक दूसरा फर्क और पैदा होगया। अलस्टर ने इग्लैण्ड के ढंग पर आधुनिक व्यवसाय को अपना लिया। आयर्लैण्ड के बाकी हिस्से में खेती का ही जोर रहा, लेकिन खेती भी इस प्रदेश में तरक्की नही कर सकी, क्योकि कृषि-सम्बन्धी कानून दूषित थे। आयरिश जनता दूसरे देशो में जाकर बराबर बस रही थी, इसलिए उत्तर तो व्यावसायिक हो गया लेकिन दक्षिण और पूर्व और खास तोर से पश्चिम व्यावसायिक दृष्टि से पिछड़े और मध्य युग के जैसे ही बने रहे।

'ऐक्ट आफ यूनियन' के खिलाफ भी बगावत हुई। तेजस्वी नौजवान राबर्ट इम्मेट इस क्षणिक बलवे का नेता था, और इसने अपने अनेक पूर्वज देशवासियो के समान फांसी के तख्ते पर प्राण दिये।

आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट के 'हाउस आफ कामन्स' यानी साधारण सभा में जाते थे, लेकिन कोई कैथलिक नही जा सकता था। कैथलिक लोगो को न तो आयर्लैण्ड और न इग्लैण्ड में पार्लमेण्ट के सदस्य बनने का हक था। ये बन्दिशें १८२९ ई० से टूटी और तबसे ही कैथलिक लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट में बैठने के अधिकारी समझे गये। डैनियल ओ कॉनेल नाम के आयरिश नेता ने ये बन्दिशें तुड़वाई थी, इसलिए उसे 'लिबरेटर' यानी 'उद्धारक' की पदवी दी गई। धीरे-धीरे एक दूसरी भी तब्दीली हुई। वोट देने का हक ज्यादा लोगो को दिया गया। चूंकि आयर्लैण्ड इंग्लैण्ड से मिला दिया गया था, इसलिए इन देशो पर एक ही कानून लागू था। इस कारण १८३२ ई० का मशहूर 'रिफार्म बिल' आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड दोनो पर लागू हुआ और इसी प्रकार बाद का मताधिकार यानी राय देने का कानून भी। इस तरह ब्रिटिश कामन्स सभा में आयरिश सदस्य का रूप बदलने लगा। जमींदारो के प्रतिनिधि से बदलकर वह कैथलिक किसानो और आयरिश राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि होगया।

गरीबी के कारण, जमींदारों से पीड़ित और लगान से दबे हुए आयर्लैण्ड के किसानों का मुख्य भोजन आलू ही था। ये लोग करीब-करीब सिर्फ आलू ही खाकर जिन्दगी बसर करते थे और आजकल के हिन्दुस्तानी किसानों की तरह इनके पास भी संचय का अभाव था। उनके पास कुछ भी नहीं बचता था। जिससे संकट के समय वे सहारा पा सकें। ये लोग जिन्दगी और मौत की सीमा पर अपनी जिन्दगी गुजारते थे और इनमें प्रतिरोध की कोई ताकत बाकी नहीं बची थी। १८६४ ई० में आलू की फसल नष्ट होगई, जिसके कारण इस देश में जबरदस्त अकाल पड़ गया। लेकिन अकाल के होते हुए भी जमींदारों ने लगान वसूल किया और जो न दे सके उन किसानों को खेतों से बेदखल कर दिया। आयरिश लोगों की बहुत बड़ी तादाद अपनी मातृभूमि छोड़कर अमेरिका चली गई, और आयर्लैण्ड करीब-करीब उजड़ गया। बहुत-से खेत बेजुते पड़े रहे और चरागाह बन गये।

जोते और बोये जा सकनेवाले खेतों का भेड़ों के लिए चरागाह बनते रहने का यह सिलसिला आयर्लैण्ड में करीब सौ बरस से ज्यादा वक्त तक जारी रहा और अभी हम लोगों के जमाने तक चलता रहा है। इसकी खास वजह यह थी कि इंग्लैण्ड में ऊनी कपड़ों के कारखाने बढ़ रहे थे। जितनी ज्यादा मशीनें काम में आती थीं, उतनी ही ऊन की उतनी ही ज्यादा जरूरत पड़ती थी। इसलिए आयर्लैण्ड के जमींदारों को खेतों की बनिस्बत जिनमें किसान काम करते थे, चरागाहों से ज्यादा मुनाफा था जिनमें कि भेड़ें चरती थीं। चरागाहों में बहुत कम आदमियों की जरूरत पड़ती है। उनमें तो सिर्फ चन्द मजदूरों से, जो भेड़ों की निगरानी कर सकें काम चल जाता है। इसलिए खेती करनेवाले मजदूर जमींदारों के लिए बेकार होगए और उन्होंने अपने काश्तकार किसानों को निकाल दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में, जिसकी आबादी बहुत कम थी हमेशा बहुत-से फालतू और बेरोजगार लोग पाये जाते थे। इस कारण आबादी के घटने का सिलसिला भी जारी रहा। आयर्लैण्ड बस 'व्यापारी इंग्लैण्ड' को [illegible] पहुँचाने का एक ठौर बन गया। खेतों के चरागाह बनने का पुराना सिलसिला अब उलट गया है और [illegible] अब फिर अपना पुराना स्थान [illegible] रहा है। [illegible] है कि यह [illegible] उस आर्थिक युद्ध का नतीजा है जो लगातार १९३२ ई० से इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के दरमियान जारी है।

उन्नीसवीं सदी के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किसानों की [illegible] आयर्लैण्ड [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किया कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जमींदारों [illegible] [illegible]

खत्म कर दिया जाय। जमींदारो को कोई नुकसान नहीं रहा। उन्हे सरकार से अपनी जमींदारी के पूरे दाम मिल गये। किसानो को जमीन मिली; लेकिन कीमत के बोझ के साथ। किसानो को इन खेतो के दाम एकदम नहीं देने पडे। तय यह हुआ कि छोटी-छोटी सालाना किस्तो मे कीमत अदा की जाय। ये किस्ते अभीतक पूरी अदा नहीं हो सकी है और इनके बारे मे इंग्लैण्ड और आयर्लण्ड के दरमियान आजकल वाद-मुबाहसा चल रहा है।

१७९८ ई० की कौमी बगावत के बाद सौ बरस से ज्यादा तक आयर्लैण्ड में कोई बड़ी बगावत नही हुई। पहले की सदियो के प्रतिकूल आयर्लैण्ड की उन्नीसवी सदी इस बार-बार होनेवाली घटना से खाली रही; लेकिन इसका कारण यह नही था कि लोगो में सन्तोष की भावना थी। लोगो में पिछले विद्रोह की, भीषण दुष्काल की और निर्जनता की थकावट थी। इस सदी के पिछले आधे हिस्से में किसी हद तक लोगो का ध्यान ब्रिटिश पार्लमेण्ट की तरफ झुका था, और उनको यह आशा बँधी थी कि शायद आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट के जरिये कुछ काम कर सकेगे। लेकिन बहुत-से आयरिश लोग ऐसे भी थे, जो इस बार-बार होनेवाली बगावत की परिपाटी जिन्दा रखना चाहते थे। उनका ख्याल था कि केवल इसी ढंग से आयर्लैण्ड की आत्मा को स्वच्छ और अकलुषित रक्खा जा सकता है। अमेरिका में बसे हुए आयरिश लोगो ने आयर्लैण्ड की आजादी के लिए एक संस्था खोली। ये लोग, जिन्हे 'फेनियन' कहा जाता था, आयर्लैण्ड में छोटे-छोटे विद्रोह कराया करते थे, लेकिन जनता से इनका संसर्ग नही था और ये लोग बहुत जल्द पस्त कर दिये गये।

अब इस खत को मुझे खत्म कर देना चाहिए, क्योकि लम्बा काफी होगया है, हालाकि आयर्लैण्ड की कहानी अभीतक खत्म नही हुई है।

: १४० :

आयर्लैण्ड में होमरूल और सिनफेन

९ मार्च, १९३३

इतने सशस्त्र विद्रोहो के बाद और दुष्काल तथा दूसरी आफतो की वजह से, आयर्लैण्ड आजादी हासिल करने के इन साधनो से कुछ थक-सा गया था। उन्नीसवी सदी के दूसरे आधे हिस्से में जब आयरिश जनता को ज्यादा तादाद में वोट देने का अधिकार मिला, तब अनेक राष्ट्रीय आयरिश कामन्स सभा के सदस्य चुने गये। जनता उम्मीद करने लगी कि शायद यही लोग आयर्लैण्ड की आजादी के लिए कुछ कर सके,

वह इस उद्देश मे सफल नहीं हो सकता था तो असाधारण साधनो का सहारा लेने मे वह कोई बुराई नही देखता था। जो हो, इस बात में तो वह जरूर कामयाब रहा कि आयर्लैण्ड की तरफ उसने ध्यान आकर्षित करा दिया।

पार्नेल ब्रिटिश कामन्स सभा मे आयरिश होमरूल पार्टी का नेता होगया, और दोनो पुरानी ब्रिटिश पार्टियो के लिए उसकी पार्टी जान की आफत होगई। जब यह दोनो पार्टियाँ पार्लमेण्ट में करीब-करीब बराबर सख्या मे होती थी, आयरिश होमरूल वालो को मौका मिल जाता था, क्योकि वे किसी भी एक पार्टी से मिलकर उसका पलडा भारी कर सकते थे। इस तरह आयरिश सवाल हमेशा सामने रहा करता था। आखिरकार ग्लैडस्टन आयर्लैण्ड को होमरूल देने के लिए राजी होगया और उसने सन् १८८६ ई० में कामन्स सभा के सामने होमरूल बिल पेश किया। इस बिल में यद्यपि स्वराज्य की योजना बहुत मामूली थी, फिर भी इसकी वजह से तूफान मच गया। कन्जर्वेटिव यानी अनुदार दल के लोग तो इसके बिलकुल खिलाफ थे ही, ग्लैडस्टन की पार्टी यानी लिबरल या उदार लोग भी इसे पसन्द नही करते थे। लिबरल पार्टी इसी बात पर दो हिस्सो में बँट गई। एक हिस्सा जाकर कजर्वेटिव लोगो से मिल गया और 'यूनियनिस्ट' के नाम से मशहूर हुआ। ये लोग यूनियनिस्ट इसलिए कहलाये कि आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड को ये एक ही शासन में सयुक्त रखना चाहते थे। होमरूल-बिल पार्लमेण्ट मे गिर गया और उसीके साथ ग्लैडस्टन के शासन का भी खात्मा होगया।

इसके सात बरस बाद, १८९३ ई० में, जब ग्लैडस्टन की उम्र ८४ बरस की थी, वह फिर ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रधान सचिव हुए, और फिर उन्होने दूसरी मर्तबा होमरूल बिल पेश किया। यह बिल कामन्स सभा में बहुत कम बहुमत से पास हुआ, लेकिन कानून बन सकने के लिए तमाम बिलो का हाउस आफ लार्ड्स मे भी मंजूर होना जरूरी है और हाउस आफ लार्ड्स संकुचित और प्रगतिविरोधी लोगो से भरा था। इस लार्ड सभा के सदस्यो का चुनाव नही होता। यह बडे जमीदारो की एक पुश्तैनी सभा है, जिसमें कुछ पादरी (बिशप) लोग भी शामिल होते हैं। इस सभा ने होमरूल बिल को, जिसे कामन्स सभा ने मंजूर कर लिया था, नामंजूर कर दिया।

इस तरह पार्लमेण्टरी कोशिश से आयर्लैण्ड को वह चीज न मिली, जो वह चाहता था। फिर भी आयरिश कौमी दल या 'होमरूल पार्टी' पार्लमेण्ट मे इस उम्मीद से काम करती रही कि शायद आगे कामयाबी हो जाय और आमतौर से यह पार्टी आयर्लैण्ड-निवासियो की विश्वासपात्र भी थी। लेकिन बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जिनका इन तरीको से और ब्रिटिश पार्लमेण्ट से भरोसा जाता रहा था। कितने ही

लोगों का और इनके नरम दल को, जो लोग पूरी आजादी चाहते थे, इन पार्लमेण्टरी लोगों और इनके होमरूल से दिलचस्पी था ही नहीं. अब नया और नौजवान आयर्लैण्ड भी पार्लमेण्ट से अलग हटने लगा । अपनी मदद खुद कर लेने का भाव वातावरण में भर रहा था । लोग कहने लगे कि इस खयाल को राजनीति में क्यो न जगह दी जाय ? पुराने फिनियन के विचार लोगों के दिलो में फिर पैदा होने लगे, लेकिन बगावत का इस दफा तो तरीका बदल दिया गया । आर्थर ग्रिफिथ नाम के एक नौजवान आयरिश ने एक नये ढंग का प्रचार शुरू कर दिया, जिसे 'सिनफेन' कहते थे । 'सिनफेन' का अनुवाद अक्सर 'हम लोग अकेले' किया जाता है, लेकिन इसका सही मतलब 'हम खुद' है ।

इन शब्दों से हमें उस नीति का पता चलता है जो इस आन्दोलन के पीछे काम कर रही थी । सिनफेन वाले चाहते थे कि आयर्लैण्ड अपने ऊपर भरोसा करे और इंग्लैण्ड से किसी तरह की मदद या भीख न मांगे । ये लोग अन्दर से राष्ट्र की शक्ति का विकास करना चाहते थे और शैक्षिक आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागृति के पक्ष में थे । राजनैतिक क्षेत्र में ये फिजूल की पार्लमेण्टरी प्रवृत्ति को,जो उस समय चल रही थी, नापसन्द करते थे और उससे किसी तरह की उम्मीद नही रखते थे । साथ ही इनका खयाल यह भी था कि सशस्त्र बगावत मुमकिन नही है । ब्रिटिश सरकार से एक प्रकार के असहयोग के जरिये ये पार्लमेण्टरी प्रवृत्ति के बजाय सीधी लड़ाई (Direct action) के प्रचारक थे । आर्थर ग्रीफिथ ने हंगरी की मिसाल पेश की, जहाँ एक पीढ़ी पहले इसी तरह (निष्क्रिय प्रतिरोध) की नीति सफल हो चुकी थी और इसी प्रकार की नीति आयर्लैण्ड में भी चलाने की वकालत की ।

पिछले १३ वर्षों में हमारे सामने, हिन्दुस्तान में, असहयोग के अनेक रूप आये हैं । अगर हम आयर्लैण्ड के इस असहयोग से अपने असहयोग की तुलना करे तो बडी दिलचस्प बात होगी । तमाम दुनिया जानती है कि हमारे आन्दोलन की बुनियाद अहिंसा थी, लेकिन आयर्लैण्ड के असहयोग में इस तरह की कोई बात नही पाई जाती थी । फिर भी उस असहयोग की ताकत शान्तिमय निष्क्रिय प्रतिरोध में ही थी । इस सग्राम का भी असल में शान्तिमय होना जरूरी था ।

सिनफेन के खयालात धीरे-धीरे आयर्लैण्ड के नौजवानों में फैले । इन खयालात की वजह से आयर्लैण्ड में एकदम आग नहीं भड़की; क्योकि अब भी बहुत-से आदमी ऐसे थे जिन्हे पार्लमेण्ट से उम्मीदें थी, खासकर इसलिए कि १९०६ ई० में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में लिबरल पार्टी बहुत ज्यादा बहुमत से चुनकर फिर आ गई थी । कामन्स सभा में इस बहुमत के होते हुए भी लिबरल लोगो को हाउस आफ लार्ड्स

आयरिश लोग सकीर्ण अर्थ मे राजनीति से ऊब गये थे और सास्कृतिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियो में लग रहे थे। बीसवीं सदी के शुरू-शुरू का जमाना आयर्लैण्ड में सास्कृतिक जागृति का युग था। खासकर देश की पुरानी भाषा गैलिक को फिर से जिन्दा करने की खूब कोशिश की जा रही थी। इस गैलिक भाषा में बड़ा कीमती साहित्य पाया जाता था, लेकिन सदियो की अंग्रेजी हुकूमत ने इस भाषा को शहरो से निकाल दिया था और यह धीरे-धीरे गायब हो रही थी। आयरिश राष्ट्रवादियो का यह खयाल था कि उनका राष्ट्र अपनी आत्मा और अपनी संस्कृति की रक्षा अपनी ही जबान के जरिये कर सकता है। इसलिए इन लोगो ने पश्चिम के आयरिश गाँवो में से इस भाषा को खोज निकालने और इसको एक जिन्दा जबान बनाने के लिए बडी मेहनत की। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक गैलिक-लीग बनाई गई। सब जगहो पर, खासकर गुलाम देशो में, राष्ट्रीय आन्दोलन अपने देश की भाषा को ही अपना आधार बनाता है। जिस आन्दोलन की बुनियाद विदेशी भाषा पर होती है, वह जनता तक नहीं पहुँच सकता, और इसलिए जड़ नहीं पकड सकता। आयर्लैण्ड में अंग्रेजी भाषा विदेशी भाषा नही रह गई थी। इस भाषा को सभी समझते थे और सभी बोलते थे। कम-से-कम गैलिक भाषा से तो इसका प्रचार हर हालत में ज्यादा था ही, इसपर भी आयरिश राष्ट्रीय दल ने आवश्यक समझा कि गैलिक भाषा फिर से जिन्दा की जाय, जिससे अपनी पुरानी सभ्यता से आयरिश लोगो का सम्बन्ध न टूटे।

उस समय आयर्लैण्ड में यह खयाल फैला हुआ था कि ताकत अन्दर से आती है, बाहर से नहीं। पार्लमेण्ट के अन्दर की कोरी राजनैतिक प्रवृत्तियो के बारे में भ्रम खतम हो रहा था और इसलिए कोशिश यह की जा रही थी कि राष्ट्र का निर्माण अधिक मजबूत बुनियाद पर किया जाय। बीसवीं सदी के शुरू का यह नया आयर्लैण्ड पुराने आयर्लैण्ड से बिलकुल जुदा था। इसकी इस नई जागृति यानी बेदारी का असर कई तरफ और अनेक क्षेत्रो में जाहिर होने लगा—साहित्यिक और सास्कृतिक क्षेत्र में, और, जैसा मैंने ऊपर बताया है, आर्थिक क्षेत्र में भी, जहाँ इस बात की कामयाबी के साथ कोशिश की गई कि किसानो में सहकारिता के उसूलो पर सगठन किया जाय।

लेकिन इन सब कारगुजारियो को चलानेवाली ताकत आजादी की प्यास थी और यद्यपि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के आयरिश राष्ट्रीय दल में आयरिश जनता का विश्वास था, लेकिन यह विश्वास डिग रहा था। पार्लमेण्ट के आयरिश मेम्बरो को आयरिश जनता समझने लग गई थी कि बस ये लोग कोरे राजनीतिज्ञ है, जिन्हे भाषण देना बहुत पसन्द है लेकिन कुछ कर-धर सकने की इनमें ताकत नहीं है। पुराने 'फेनियन'

के स्थायी, संकीर्ण और यूनियनिस्ट बहुमत का मुकाबिला करना पड़ता था। इसलिए इन दोनों हाउसों या सभाओं में बहुत ही जल्द संघर्ष पैदा होगया। इस संघर्ष का नतीजा यह निकला कि लार्ड लोगों की ताकत कम करदी गई। आर्थिक मामलात में इन लोगों की दस्तन्दाजी को कामन्स वाले इस तरह खत्म कर देते थे कि उस कानून को, जिसपर लार्ड सभा ऐतराज करती थी, अपने यहां मुतवातिर तीन बैठकों में पास कर लिया करते थे। इस तरह १९११ के पार्लमेण्ट कानून के जरिये लिबरल लोगों ने हाउस आफ लार्ड्स के दांत तोड़ दिये। फिर भी लार्ड लोगों के हाथ में बहुत काफी इख्तियारात बने रहे, जिससे वे कामन्स सभा के काम को रोक सकते और उसमें दस्तन्दाजी कर सकते थे।

लार्ड लोगों के अनिवार्य विरोध का इन्तजाम करके लिबरल लोगों ने फिर तीसरी बार होमरूल बिल पेश किया। लार्ड लोगों ने, जैसी उम्मीद थी, इसको फिर नामंजूर कर दिया। फिर कामन्स सभा ने इस कानून को तीन मर्त्तबा मुतवातिर पास करने की परेशानी उठाई। इस प्रकार १९१४ ई० में इस बिल ने कानून की शक्ल इख्तियार की और यह सारे आयर्लैण्ड पर, जिसमें अल्स्टर भी शामिल था, लागू हो गया।

ऐसा जान पड़ता था कि आयर्लैण्ड को आखिरकार होमरूल मिल ही गया, लेकिन इसमें बहुत-से अगर-मगर थे। जब १९१२–१३ में पार्लमेण्ट होमरूल के बारे में बहस-मुबाहसा कर रही थी, उत्तरी आयर्लैण्ड में आश्चर्यजनक घटनायें हो रही थीं। अल्स्टर के नेता लोग इस बात का ऐलान कर रहे थे कि वे होमरूल को स्वीकार नहीं करेंगे और अगर होमरूल का कानून पास भी होगया तो वे उसे न मानेंगे। वे लोग बगावत की बात करने लगे और उसकी तैयारी भी शुरू करदी। यह भी कहा गया कि इन्हें किसी विदेशी शक्ति को यानी जर्मनी को होमरूल के खिलाफ लड़ाई करने के लिए निमन्त्रित करने में संकोच न होगा। निस्सन्देह यह स्पष्ट और [illegible] राजविद्रोह था। इससे भी ज्यादा दिलचस्प बात तो यह थी कि कंज़र्वेटिव यानी अनुदार दल के नेताओं ने इस बगावत के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और बहुतों ने इसकी मदद की। अल्स्टर में [illegible] और [illegible] कंज़र्वेटिव दल की तरफ से पैसा बरसने लगा। यह साफ ज़ाहिर था कि वे लोग, जिन्हें ऊँचे वर्ग का कहा जाता है तथा शासक दल के लोग और अनेक सैनिक अफसर भी जो इन्हीं वर्गों के थे, अल्स्टर के साथ हैं। हथियार चोरी-चोरी आने लगे और स्वयंसेवकों को [illegible] कवायद सिखाई जाने लगी। अल्स्टर में एक कामचलाऊ सरकार भी बना दी गई जो [illegible] आने पर शासन की जिम्मेदारी भी लेले। नोट करने की दिलचस्प बात यह है कि

जाता है। अक्सर विद्रोह के नेता अपनी हरकतों के लिए सजा पाने के बजाय बाद को इनाम में इज्जत पाने लगे और वे ब्रिटिश शासन-मण्डली में वजीर बने और उन्होंने ब्रिटिश सरकार से बड़े-बड़े ओहदे पाये।

: १४१ :

मिस्र पर ब्रिटेन का कब्ज़ा

११ मार्च, १९३२

अमेरिका से हम चलकर प्रशान्त सागर और अटलाण्टिक महासागर पार करके आयर्लैण्ड पहुंच गये थे। अब हमें दूसरे एक तीसरे महाद्वीप अफरीका में पहुँचना है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक दूसरे शिकार मिस्र को देखना है। मैंने अपनी पिछली चिट्ठियों में तुम्हें मिस्र के प्राचीन इतिहास के बारे मे कुछ लिखा था, लेकिन जो कुछ लिखा था वह बहुत मुख्तसर और खण्डित था, क्योंकि मुझे खुद इस विषय का काफी इल्म नहीं है। पर अगर मुझे अधिक मालूम होता तो भी यह मुमकिन नही कि हम प्राचीनकाल की चर्चा इस अवसर पर शुरू कर सकें। हम उन्नीसवी सदी की अपनी कहानी करीब-करीब खतम कर चुके हैं और अब बीसवी सदी की सीमा पर पहुँच गये हैं और यहीं हमें ठहरना जरूरी है। हम यह नही कर सकते कि कभी प्राचीन की ओर कभी नवीन काल की चर्चा करते रहें। इसके अलावा भी अगर मैंने हरेक देश के प्राचीन समय की कहानी शुरू करदी तो बताओ क्या ये खत कभी खत्म हो सकेंगे?

लेकिन तुम यह न समझो कि मिस्र का प्राचीन इतिहास कुछ नही है, क्योंकि कौमों में मिस्र की कौम बहुत पुरानी मानी जाती है और इसका इतिहास सब देशो के इतिहास से पुराना है। यह देश अपना समय छोटी-छोटी सदियो से नही बल्कि हजारो वर्षों की नाप से नापता रहा है। विस्मयजनक और चकित कर देनेवाली प्राचीन समय की टूटी-फूटी यादगारें अभीतक हमें इसके गुज़रे हुए जमाने की याद दिलाती हैं। प्राचीन चीजों और बातों की खोज के लिए मिस्र सबसे प्रथम और सबसे बड़ा क्षेत्र रहा है; और जैसे-जैसे बालू के नीचे से पत्थर के टुकडे और स्तूप खोदकर निकाले गये हैं, उस जमाने का इतिहास ज्यादा-ज्यादा मालूम होता रहा है, जिसे गुजरे अब बहुत दिन होगये। पत्थरों और इमारतों को खोद-खोदकर निकालने का सिलसिला अभीतक जारी है और मिस्र के प्राचीन इतिहास मे नई-नई बातें बराबर मालूम होती जा रही हैं, फिर भी हम अभीतक यह नही बता सकते कि मिस्र का इतिहास कबसे और कैसे शुरू होता है। किन्तु करीब सात हजार वर्ष गुजरे, नील नदी की घाटी में

और सुन्दर वाक्यो के माया-जाल में फँसकर कहीं हम असलियत को न भूल जावें। इस बारे में दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्र में, जहां अक्सर विद्रोह हुआ करते हैं, और इंग्लैण्ड में, जहांका शासन स्थायी रहता है, कोई मौलिक फर्क नहीं पाया जाता। ब्रिटिश शासन में स्थिरता सिर्फ इसलिए है कि इंग्लैण्ड में शासक वर्ग ने अपनी जड इतनी मजबूत गाड़ली है कि अभीतक कोई दूसरा वर्ग उसे हिला नहीं पाया। १९११ ई० में हाउस आफ लार्ड्स, जो इस वर्ग का एक किला था, कुछ कमजोर किया गया था। इसपर यह वर्ग घबरा गया और अलस्टर के बहाने विद्रोह करने को तैयार होगया था।

हिन्दुस्तान में 'अमन और कानून' का मन्त्र हमारे सामने रोज सुनाया जाता है और दिन में कई दफ़ा भी। इसलिए इसका असली अर्थ समझ लेना हमारे लिए जरूरी है। हम यह भी याद रक्खें तो अच्छा है कि हमको सलाह देनेवाले एक सज्जन, जो भारत-सचिव भी रहे हैं, अलस्टर-विद्रोह के नेता थे।

इस तरह अलस्टर हथियार और वालण्टियरो का इन्तजाम करके विद्रोह की तैयारी करने लगा और सरकार शान्तिपूर्वक देखती रही। इन तैयारियो के खिलाफ कोई आर्डिनेन्स नहीं निकाला गया। कुछ दिनो के बाद आयर्लैण्ड के बाकी हिस्से ने अलस्टर की नकल शुरू करदी और होमरूल के लिए और अगर जरूरत पड़े तो अलस्टर से लड़ने के लिए राष्ट्रीय वालण्टियरो का संगठन शुरू कर दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में दो मुकाबिले की फौजें तैयार होगई। सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि ब्रिटिश शासक अलस्टर-विद्रोह के वालण्टियरो को सशस्त्र होते हुए देखकर आँखें मींच लेते थे, लेकिन 'राष्ट्रीय वालण्टियरो' को दबाने में ये लोग बहुत काफी तेज और मुस्तैद दिखाई पड़ते थे, हालांकि ये 'राष्ट्रीय वालण्टियर' होमरूल के खिलाफ नहीं थे।

इन दोनो किस्म के वालण्टियरो में मुठभेड़ होजाना लाज़िमी मालूम होने लगा, और इसका अर्थ था गृह-युद्ध। उसी समय १९१४ ई० के अगस्त में एक सबसे बड़ा युद्ध छिड़ गया और उसके सामने बाकी सब चीजें फीकी पड़ गई। होमरूल का बिल कानून जरूर बन गया, लेकिन उसमें यह शर्त लगादी गई थी कि युद्ध के बाद ही इस कानून पर अमल किया जाय। इस तरह होमरूल पहले के समान दूर ही बना रहा और युद्ध खत्म होने के पहले आयर्लैण्ड में बहुत कुछ होगया।

मैं अनेक देशो की अपनी कहानी महायुद्ध की शुरुआत तक लाकर खत्म कर रहा हूँ। आयर्लैण्ड के बारे में भी हम उस समय तक पहुँच चुके है, इसलिए अब आगे न बढ़ेंगे। लेकिन इस पत्र को खत्म करने के पहले एक बात मैं तुम्हें जरूर बता देना

सभ्य लोग रहा करते थे और उनका भी अपना पुराना सांस्कृतिक इतिहास था। ये लोग चित्रलिपि में लिखा करते थे; मिट्टी के सुन्दर बर्तन, कलश और हाथीदांत, तांबे सोने के नक्काशीदार बर्तन और सेलखड़ी के काम बहुत अच्छा बनाते थे।

मकदूनिया-निवासी सिकन्दर ने ईसाई सवत् के चारसौ बरस पहले जब मिस्र को जीता था तब, कहा जाता है, ३१ मिस्री राजवंश इस देश पर हुकूमत कर चुके थे। उस चार या पाँच हजार वर्ष के लम्बे युग में इस देश में कितने ही आश्चर्यजनक व्यक्ति—स्त्री और पुरुष—मशहूर हुए। ऐसा मालूम होता है मानो ये सब अभी-तक जिन्दा है। इन स्त्री-पुरुषो में अनेक कर्मवीर, विशाल मन्दिरो के निर्माणकर्त्ता, महान् स्वप्नदर्शी और विचारक, बडे-बडे सैनिक, निरंकुश और अत्याचारी राजा, सुन्दर महिलाये और अभिमानी तथा उद्धत शासक गुजरे है। अनेक सहस्राब्दियाँ हमारे सामने से गुज़र जाती है और हम देखते है कि इनमें फरोहा नरेशो की लम्बी सन्तति चल रही है। इस देश मे स्त्रियो को पूरी आजादी थी और स्त्रियाँ राज-सिंहासन पर बैठ सकती थी। मिस्र देश मे पुरोहित समाज पर हावी थे और मिस्री लोग हमेशा भविष्य और परलोक की चिन्ता मे फँसे रहते थे। मिस्र के विशाल पिरामिड, जिनकी रचना बेगार के मजदूरो ने की थी और जिनके बनाने में इन मजदूरो के साथ बडी बेरहमी दिखलाई गई थी, असल में फरोहा नरेशो के भविष्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से बनाये गये थे। ममी भी लाश को सुरक्षित रखने का ही एक तरीका था। यह सब अन्धकारमय, क्रूर और सुख-रहित जान पड़ता है। हमें उस जमाने की पुरानी चीजो मे आदमियो के बनावटी बाल (विग) भी मिलते है, क्योकि वे लोग अपना सिर मुँडाया करते थे। इसके अलावा लड़को के खिलौने, गुड्डे, गेंद और हाथ-पैर हिलानेवाले छोटे जानवरो के खिलौने भी पाये जाते हैं। इन खिलौनो को देखकर हमें पुराने मिस्रियो की मानुषी भावनाओ की याद आजाती है, और ऐसा मालूम होता है कि यद्यपि उन लोगो को हुए अनेक युग बीत गये है फिर भी मानो वे हमारे पास ही है।

ईसवी सन् के पहले की छठी सदी मे यानी बुद्ध के जमाने के करीब ईरानियो ने मिस्र को जीता और इसे अपने विशाल साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया, जो नील नदी के किनारे से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। ये लोग एकेमनीद वंश के राजा थे और इनकी राजधानी पारसीपोलिस थी। इन लोगो ने यूनान को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन असफल रहे और इन्हे आखीर मे सिकन्दर ने हरा दिया। ईरानियो की सख्त हुकूमत से छुटकारा दिलानेवाला समझकर मिस्र के लोगो ने सिकन्दर का स्वागत किया। सिकन्दरिया (अलेक्जेण्ड्रिया) नगर के रूप मे सिकन्दर अपनी यादगार छोड़ गया और यह नगर यूनानी विद्या और संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

ममलूक का अर्थ है गुलाम। ये ममलूक लोग फौज के लिए बहुत सावधानी से चुने गये थे और इन लोगों का जत्था बहुत अच्छा था। चन्द साल के अन्दर ही ममलूक बगावत कर बैठे और इन्होंने अपने जत्थे के एक आदमी को मिस्र का सुलतान बना दिया। इस तरह मिस्र में ममलूको का राज्य शुरू हुआ, जो ढाई सदी तक रहा और अर्द्ध-स्वतन्त्र अवस्था में इसके बाद करीब तीनसौ बरस के और कायम रहा। इस तरह विदेशी गुलामो के समूह ने मिस्र पर पाँचसौ वर्ष से ज्यादा समय तक राज्य किया। इतिहास में यह एक अद्वितीय और अजीब घटना है।

इन आदि-ममलूकियो ने मिस्र में अपनी कोई पुश्तैनी जाति या वर्ग नही बनाया। काकेशस की गोरी जाति के सबसे अच्छे आजाद गुलामो को अपनेमें मिलाकर ये लोग अपनी तादाद बराबर बढ़ाते रहते थे। काकेशस जातियाँ आर्य है, इसलिए ममलूक भी आर्य थे। ये विदेशी लोग मिस्र की आबोहवा में नहीं फले-फूले और इनके वश चन्द पुश्तों के बाद लुप्त होजाते थे। लेकिन चूकि नये-नये ममलूक आते जाते थे, इस वर्ग की तादाद और खासतौर पर इसकी ताकत और इसका जीवट कायम रहा। इस तरह गोकि इन लोगों का कोई पुश्तैनी वर्ग नही था, फिर भी इनका एक उच्च वर्ग—शासक वर्ग—जरूर था, जो बहुत काफी जमाने तक कायम रहा।

सोलहवी सदी के शुरू में कुस्तुनतुनिया के तुर्की उस्मानी सुलतान ने मिस्र पर कब्जा कर लिया और ममलूक सुलतान को फाँसी पर लटका दिया। मिस्र उस्मानी साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। लेकिन ममलूक शासक लोग रईस वर्ग में बने ही रहे। बाद मे जब योरप में तुर्क लोग कमजोर पडे, तब मिस्र कहने को तो उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा बना रहा, लेकिन ममलूक लोग वहाँ अपनी मनमानी करते थे। अठारहवी सदी के आखीर में जब नेपोलियन मिस्र पहुँचा, तो उसकी इन्हीं ममलूकियों से मुठभेड़ हुई थी, और उसने इन्हींको शिकस्त भी दी थी। तुम्हे शायद वह किस्सा याद होगा जो मैंने तुम्हे ममलूक सरदार का सुनाया था। जब फ्रांसीसी फौज मिस्र में पहुँची, तो मध्यकाल की रीति के अनुसार एक ममलूक सरदार फ्रांसीसी फौज के सामने घोड़े पर सवार जा पहुँचा और उसने चुनौती दी कि इस सेना का नेता मुझसे अकेले आकर जोर-आजमाई करले।

अब हम उन्नीसवी सदी तक आगये। इस सदी के पहले आधे हिस्से में मिस्र पर मुहम्मदअली का प्रभुत्व रहा। यह अल्बेनियन तुर्क था और मिस्र का 'खेदीव' यानी तुर्की गवर्नर था। मुहम्मदअली आधुनिक मिस्र का जन्मदाता समझा जाता है। पहली बात जो उसने की वह यह थी कि धोखे से ममलूकों को तलवार के घाट उतारकर उनकी ताकत का खात्मा कर दिया। इसने मिस्र में एक अंग्रेजी फौज को भी हराकर

[illegible] देश का स्वामी बना लिया और सिर्फ नाममात्र के लिए ही तुर्की सुलतान की प्रभुता स्वीकार करता रहा। मुहम्मदअली ने नई मिस्री फौज तैयार की, जिसमें देशी किसानों की भर्ती की गई, ममलूकों की नहीं। इसने नई नहरें भी खुदवाईं और रुई की खेती को प्रोत्साहन दिया, जो भविष्य में मिस्र का खास रोजगार होगया। इसने इस बात की भी कल्पना की थी कि वह कुस्तुनतुनिया के नाम मात्र के मालिक सुलतान को निकालकर कुस्तुनतुनिया को भी अपने शासन में ले लेगा। लेकिन ऐसा किया नहीं। हां, इसने सीरिया को मिस्र में मिला लिया।

मेहमतअली १८४९ ई० में ८० वर्ष की उम्र में मर गया। इसके वारिस कमजोर, फिजूलखर्च और अयोग्य आदमी थे। लेकिन अगर वे वेहतर भी होते तो भी उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारों की लालच और यूरोपियन साम्राज्यवाद के लोभ का मुकाबिला कर सकना मुश्किल था। विदेशियो ने, खासकर अंग्रेज और फ्रान्सीसी साहूकारों ने, खेदीवों को उनके निजी खर्च के लिए बहुत ज्यादा सूद पर रकमें उधार दी थी। जब रकम पर सूद अदा न होसका, जंगी जहाज उसे वसूल करने के लिए भेजे गये। अन्तर्राष्ट्रीय चालबाजी की यह असाधारण कहानी है कि साहूकार और सरकार किस प्रकार दूसरे देश को लूटने और उसपर प्रभुत्व जमाने के उद्देश्य से एक-दूसरे के साथ मिलजुलकर काम करते हैं। अनेक खेदीवों की अयोग्यता के होते हुए भी मिस्र ने काफी तरक्की करली थी, यहाँतक कि प्रमुख अंग्रेजी अखबार 'टाइम्स' ने जनवरी १८७६ में लिखा था कि "मिस्र उन्नति का आश्चर्यजनक उदाहरण है। इस देश ने ७० वर्ष में इतनी तरक्की करली है, जितनी दूसरे देशों ने ५०० वर्ष में की।" लेकिन इन तमाम वातो के होते हुए भी विदेशी साहूकार, इस वात को जाहिर करते हुए कि मिस्र देश दिवालिया हो रहा है और विदेशी दस्तंदाजी की जरूरत है, चमडी निकालने पर भी तैयार होगये। विदेशी सरकारे, खासकर अंग्रेजी और फ्रान्सीसी सरकारे, तो हस्तक्षेप के लिए तुली बैठी थी। इन्हे तो सिर्फ एक वहाना चाहिए था, क्योकि मिस्र तो एक सोने की चिड़िया थी, उसे कोई कैसे हाथ से जाने देता? और यह वात भी थी कि मिस्र हिन्दुस्तान के रास्ते में पड़ता था।

इसी दरमियान स्वेज की नहर, जो मजदूरो से वडी वेरहमी के साथ वेगार ले-लेकर वनवाई गई थी, १८६९ ई० में खुल गई। (इस वात को जानने में तुम्हे दिलचस्पी होगी कि ईसाई सन् के शुरू होने से १४०० वर्ष पहले, पुराने मिस्र राजवशो के जमाने में, इसी तरह की नहर लाल समुद्र और भूमध्यसागर के बीच में थी।) इस नहर के खुल जाने की वजह से योरप, एशिया और आस्ट्रेलिया का सारा व्यापार स्वेज से होकर गुजरने लगा और इस वजह से मिस्र का महत्व और वढ़

गया। इंग्लैण्ड के लिए इस नहर पर और मिस्र पर प्रभुत्व रखना बहुत जरूरी चीज होगई, क्योंकि हिन्दुस्तान और पूर्वी देशों में उसका बहुत गहरा स्वार्थ मौजूद था। बड़ी चालाकी की हरकत तो यह थी कि १८७५ ई० के अंग्रेज प्रधानमन्त्री डिजरेली ने दिवालिये खेदीव के स्वेज नहर के हिस्सों को बहुत कम कीमत पर खरीद लिया। इन हिस्सों में धन लगा देना केवल यही नहीं कि अपनी जगह पर काफी मुनाफे की चीज रही हो बल्कि इसकी वजह से ब्रिटिश सरकार को नहर के ऊपर बहुत काफी अख्तियार होगया। मिस्र के नहर वाले बाकी हिस्से फ्रान्सीसी साहूकारों को मिले। इस तरह मिस्र का नहर पर कोई माली अख्तियार नहीं रह गया। इन हिस्सों से फ्रान्सीसियों और अंग्रेजों ने बहुत ज्यादा मुनाफा उठाया है और साथ-ही-साथ नहर के मालिक बने रहे हैं और मिस्र की जान को अपनी मुट्ठी में दबाये रक्खा। पार-साल, १९३२ ई० में, सिर्फ ब्रिटिश सरकार को ४० लाख पौंड असली लागत पर इस नहर से ३५ लाख पौंड मुनाफा रहा है !

यह अनिवार्य था कि ये लोग इस देश पर और ज्यादा अख्तियार जमाने की कोशिश करे और इसलिए १८७९ ई० से इन्होंने मिस्र के खानगी मामलात में बराबर दखल देना शुरू किया और आर्थिक नियंत्रण के लिए अपने आदमी रख दिये। स्वभावतः बहुतेरे मिस्रियों ने इसने बुरा माना और मिस्र को विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त करने के लिए उत्सुक एक राष्ट्रीयदल पैदा होगया। इस दल के नेता एक नौजवान सैनिक अरबीपाशा थे, जिनका जन्म एक गरीब मजदूर कुटुम्ब में हुआ था और जो मिस्र की फौज में मामूली सिपाही की शक्ल में भरती हुए थे। धीरे-धीरे इनका प्रभाव बढ़ा और ये मिस्र के युद्ध-सचिव होगये। युद्ध-सचिव की हैसियत से इन्होंने फ्रान्सीसी और ब्रिटिश 'कन्ट्रोलरों यानी नियन्त्रण रखनेवालों के हुक्म की पाबन्दी करने से इन्कार कर दिया। विदेशियों के सामने सिर न झुकाने का जवाब इंग्लैण्ड ने युद्ध से दिया। १८८२ ई० में अंग्रेजी जल-सेना ने सिकन्दरिया नगर पर गोलाबारी की और उसे जला दिया। इस तरह पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता प्रकट करके और मिस्री फौज को [illegible] पर भी हराकर अंग्रेजों ने मिस्र पर पूरा कब्जा कर लिया।

इस तरह मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार की शुरुआत हुई। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से, यह एक असाधारण स्थिति थी। मिस्र तुर्की राज्य का एक प्रान्त या हिस्सा था। इंग्लैंड से तुर्की की मित्रता समझी जाती थी, इसपर भी इंग्लैण्ड ने बहुत इतमीनान के साथ उसके एक हिस्से पर कब्जा कर लिया था। ब्रिटेन ने मिस्र में अपना एक एजेण्ट मुकर्रर कर दिया। मुगल बादशाहों की तरह या हिन्दुस्तान के बड़े लाट के समान यह एजेण्ट मिस्र के [illegible] बन गये। खेदीव और उसके वजीर भी

इन ब्रिटिश एजेण्ट के मातहत होते थे। मिस्र के पहले ब्रिटिश एजेंट मेजर बेरिंग थे, जिन्होंने मिस्र पर २५ वर्ष तक लगातार राज्य किया और बाद को लार्ड क्रोमर कहलाये। क्रोमर मिस्र का एक कड़ा और निरंकुश शासक था। इनका पहला काम यह था कि विदेशी महाजनों और लेनदारों को मुनाफे की रकम पहुँचा दे। इसने सख्ती यह नीति लगातार बाकायदा जारी रक्खी और इस बात की हर जगह से तारीफ सुनने में आने लगी थी कि मिस्र की आर्थिक स्थिति बहुत मजबूत है। हिन्दुस्तान की तरह मिस्र में भी राज-प्रबन्ध में कुछ उन्नति की गई, लेकिन २५ वर्ष खतम होने पर मिस्र का पुराना कर्ज उतना ही बना रहा जितना शुरू में था। शिक्षा के लिए शासन ने कुछ भी नहीं किया और क्रोमर ने तो राष्ट्रीय विद्यालय का खोलना भी रोक दिया था। इसके विचारों का पता हमें इसके पत्र के एक वाक्य से चलता है, जो इसने १८९२ ई० में उस समय के ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड सेल्सबरी को लिखा था। इसने लिखा था—"खेदीव बहुत कट्टर मिस्री बन रहे हैं।" किसी मिस्र-निवासी का मिस्री की तरह व्यवहार करना लार्ड क्रोमर की दृष्टि में जुर्म था, जैसे किसी हिन्दुस्तानी के हिन्दुस्तानी की तरह व्यवहार करने पर ब्रिटिशों की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं और सजायें मिलती हैं।

मिस्र पर अंग्रेजों का यह अधिकार फ्रांसीसियों को पसन्द नहीं था। इस लूट में इन्हें तो कोई हिस्सा मिला नहीं था। योरप की दूसरी ताकतें भी इस बात को पसन्द नहीं करती थीं, और इसके कहने की तो जरूरत ही नहीं कि मिस्री लोग तो अंग्रेजों की हुकूमत को बिलकुल नापसन्द करते थे। ब्रिटिश सरकार हरेक आदमी से यही कहती थी कि इस मामले में किसीको परेशान होने की जरूरत नहीं; हम तो मिस्र में सिर्फ चन्द दिनों के लिए हैं और बहुत जल्द इस मुल्क को छोड़कर चले जायँगे। ब्रिटिश सरकार ने सरकारी तौर पर और बाकायदा बार-बार यह ऐलान किया कि हम मिस्र को खाली कर देंगे। यह संजीदा ऐलान करीब पचास दफे या इससे ज्यादा तो जरूर किया गया होगा। असल में इसकी गिनती याद रखना मुश्किल है। इतनी सब बातों पर भी अंग्रेज लोग मिस्र में चिपके रहे और आजतक चिपके हैं।

झगड़े की बहुतेरी बातों के बारे में १९०४ ई० में अंग्रेजों ने फ़्रान्सीसियों से समझौता कर लिया। अंग्रेज इस बात पर राजी होगये कि फ़्रान्सीसी मोरक्को में जो चाहे करें। इसपर फ़्रान्सीसी मिस्र पर ब्रिटिश प्रभुत्व को मंजूर करने के लिए राजी होगये। लेन-देन का यह मुनासिब सौदा होगया। सिर्फ तुर्की से, जो मिस्र का अधिपति समझा जाता था, कोई सलाह-मशविरा नहीं किया गया; और मिस्र-निवासियों से तो इस मामले में बातचीत करने का कोई सवाल था ही नहीं।

इस जमाने के मिस्र में एक अजीब बात यह थी कि मिस्र की अदालतें विदेशियों पर मुकदमे नहीं चला सकती थीं। ये अदालतें इस काम के काबिल नहीं समझी जाती थीं और विदेशियों को अपनी अदालतों में अपने मुकदमों का फैसला कराने का हक था। इसलिए मिस्री हुकूमत की पहुँच के बाहर कितनी ही परदेसी अदालतें पैदा होगई थीं, जिनमें विदेशी जज होते थे और जिनके हृदयों में विदेशी स्वार्थ भी होता था। इन जजों में से एक बहुत कट्टर विदेशी जज ने इन अदालतों के बारे में लिखा है—"इन अदालतों के इन्साफ ने विदेशी गुट्ट की, जो देश को चूस रहा था, खूब सेवा की है।" मेरा विश्वास है कि मिस्र के विदेशी बाशिन्दे ज्यादातर टैक्सों से बरी रहते थे। क्या आनन्द की स्थिति थी; टैक्स न देना पड़े, जिस देश में रहे वहांकी अदालत और वहां-के कानून की मातहती से बचे रहें, और साथ ही साथ मुल्क को दुहने की हरेक किस्म की आसानियाँ हों!

इस तरह ब्रिटेन मिस्र पर राज्य करता था और उसको चूसता था और ब्रिटेन के एजेण्ट और प्रतिनिधि अपनी रेजीडेन्सी में निरंकुश बादशाहों की तमाम शान व शौकत के साथ मजे करते थे। ऐसी हालत में लाजिमी था कि राष्ट्रीयता बढ़े और सुधार का आन्दोलन जोर पकड़े। उन्नीसवीं सदी का सबसे बड़ा मिस्र का सुधारक जमालउद्दीन अफगानी था। यह धार्मिक नेता था, जो नये जमाने के साँचे में ढालकर इस्लाम को आधुनिक रंग देना चाहता था। यह इस बात का प्रचार करता था कि हर तरह की तरक्की इस्लाम के अनुकूल है। इस्लाम को आधुनिक रूप देने की इसकी यह कोशिश उसी प्रकार की थी, जैसी हिन्दुस्तान में हिन्दू धर्म को आधुनिक बनाने के लिए हुई है। इन प्रवृत्तियों की बुनियाद यह होती है कि सुधारक लोग पुराने जमाने के चन्द मौलिक सिद्धान्तों को पकड़ लेते हैं और पुराने रस्म-रिवाज और व्यवस्था के नये मानी लगाते हैं। इस ढंग से आधुनिक ज्ञान पुराने धार्मिक ज्ञान का सहयोगी और सहायक बन जाता है। किन्तु यह ढंग वैज्ञानिक ढंग से बिलकुल जुदा है, क्योंकि वैज्ञानिक ढंग में हम किसी पुरानी बन्दिश में न फँसकर बहादुरी के साथ आगे बढ़ते हैं। [illegible] जमालुद्दीन का असर सिर्फ मिस्र में ही नहीं बल्कि तमाम अरबी मुल्कों में भी बहुत ज्यादा था।

विदेशी व्यापार की तरक्की के साथ मिस्र में एक नया मध्य-वर्ग पैदा होगया और इसीसे यहाँकी नवीन राष्ट्रीयता की नींव पड़ी। आधुनिक मिस्री नेताओं में सबसे बड़े महान पुरुष जगलूलपाशा इसी वर्ग में पैदा हुए थे। मिस्र में ज्यादा-तर मुसलमानों की आबादी है, लेकिन वहाँ भी इस देश के पुराने लोग, जो कॉप्ट हैं, काफी तादाद में पाये जाते हैं। ये कॉप्ट लोग पुराने मिस्रियों के विशुद्ध वंशज

हैं। इस दलके सदस्यों मे मुसलमान भी थे और काप्ट भी, और सौभाग्यवश इन दोनों में वैमनस्य नहीं था। अंग्रेजों ने इन दोनों मे फूट पैदा कराने की कोशिश की, लेकिन उन्हें बिल्कुल कामयाबी नहीं हुई। अंग्रेजों ने राष्ट्रीय दल में भी फूट पैदा कराने की कोशिश की। यहाँ भी हिन्दुस्तान की तरह मिस्र मे भी इन्हे कुछ नरम-दल वाले लोग साथ मिल जाते थे जो इनके साथ सहयोग करते थे; लेकिन इसके बारे में मैं तुम्हें ज्यादा बाद की चिट्ठियों में लिखूंगा।

जब अगस्त १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ, मिस्र की यह हालत थी। तीन महीने बाद इंग्लैण्ड, फ्रांस और इनके मित्रराष्ट्रों के खिलाफ तुर्की जर्मनी से मिल गया। इसपर इंग्लैण्ड ने मिस्र को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल कर लेने का निश्चय कर लिया। लेकिन इसमें कुछ दिक्कत पैदा होगई और मिस्र को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल करने के बजाय यह ऐलान किया गया कि वह ब्रिटिश सरक्षण में है।

इतनी बात तो मिस्र के लिए हुई। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में अफरीका का बाकी हिस्सा भी यूरोपियन साम्राज्यवाद का शिकार होगया। इस मुल्क पर जोरदार दौड़ मच गई थी और इस विशाल महाद्वीप को यूरोपीय ताकतों ने आपस में बाँट लिया। ये लोग गिद्धों की तरह इस महाद्वीप पर टूट पडे और कभी-कभी इनमें आपस में दो-दो चोचें भी होजाती थीं। कोई किसीकी रोक-थाम करने-वाला न था, लेकिन १८९६ ई० में इटली अबिसीनिया से हार गया। अगर तुम आज अफरीका के नक्शे को देखो तो तुम्हे दिखाई देगा कि इसका ज्यादातर हिस्सा अंग्रेज और फ्रांसीसियो के कब्जे में है और कुछ हिस्सा बेलजियम, इटालियन और पुर्तगालियो के पास है। जर्मन लोगो का भी युद्ध के पहले इस महाद्वीप में हिस्सा था। अफरीका में अब तो केवल दो स्वतंत्र राज्य रह गये हैं—पूर्व में अबिसीनिया और पश्चिमी किनारे पर लेबेरिया का छोटा-सा देश। मोरक्को पर तो फ़्रांस और स्पेन हावी है।

इन विशाल प्रदेशो पर किस तरह कब्जा किया गया, इसकी कहानी तो बहुत लम्बी और भीषण है और अभी वह कहानी खत्म भी नही हुई है। इस महाद्वीप के शोषण के लिए, ख़ासकर रबर निकाने के लिए, जो साधन काम में लाये गये, वे बहुत भीषण थे। कई वर्ष हुए, बेलजियन कांगो में अत्याचार की दारुण कथा सुनकर सभ्य कहलानेवाला ससार कॉप उठा था। निस्सदेह काले आदमी की किस्मत भयंकर रही है।

उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से तक अफरीका, जिसे 'अंधेरा महाद्वीप' कहा जाता था, करीब-करीब एक अज्ञात मुल्क था—खासकर अन्दरूनी हालत के लिए।

[illegible] उसको खोलने वाले [illegible] करने के बाद ही [illegible] है। महाद्वीप का एक पादरी डेविड लिविंग्स्टोन इस देश की खोज करनेवाला सबसे बड़ा [illegible] था। यहाँ तक वह इस मुल्क में [illegible] रहा और बाहर की दुनिया को उसका कुछ पता न चला। इसके साथ-साथ हेनरी स्टेनली का भी नाम मशहूर है। हेनरी स्टेनली पत्रकार और [illegible] थे। वह डेविड लिविंग्स्टोन की तलाश में उनके पीछे-पीछे गये थे और अन्त में लिविंग्स्टोन उन्हें इस महाद्वीप के बीचोंबीच मिले।

: १४२ :

'योरप का मरीज़' टर्की

१४ मार्च, १९३३ ई०

मिस्र से भूमध्यसागर पार करके टर्की में पहुँच जाना स्वाभाविक और आसान है। उन्नीसवीं सदी में उस्मानी तुर्कों का यूरोपियन साम्राज्य धीरे-धीरे बिखर गया। इससे पहले की सदी में ही पतन का आरम्भ हो चुका था। शायद तुम्हें याद होगा, मैंने वियेना के तुर्की महासिरे यानी घेरे का जिक्र तुमसे किया था और यह बताया था कि किस तरह कुछ दिनों के लिए तुर्कों की तलवार के सामने योरप काँप उठा था। पश्चिम के धर्मपरायण ईसाई यह समझते थे कि तुर्की लोग 'खुदा का कहर' हैं, जो ईसाई समाज को उनके गुनाहों की सजा देने के लिए भेजे गये हैं। लेकिन वियेना से तुर्कों के आखिरी बार हार कर वापस आने के बाद से हवा बिलकुल बदल गई और इसके बाद से तुर्क लोग योरप में सिर्फ आत्म-रक्षा ही में लगे रहे। दक्षिण-पूर्वी योरप की अनेक कौमें, जिन्हें इन्होंने जीता था, काँटे की तरह इनको चुभ रही थीं। इन कौमों को मिलाने-जुलाने की इनकी तरफ़ से कोई कोशिश नहीं की गई; और अगर कोशिश होती भी तो शायद कामयाबी न होती, क्योंकि तुर्कों की सख्त और बोझीली हुकूमत के खिलाफ राष्ट्रीयता के खयाल जोर पकड़ रहे थे। उत्तर-पूर्व की दिशा में जार का रूस दिन-दिन फैलता और बड़ा होता जाता था और तुर्की प्रदेशों को दबाता जा रहा था। वह तुर्कों का पुश्तैनी और स्थायी दुश्मन होगया और करीब दोनों वर्ग तक उनसे समय-समय पर युद्ध करता रहा, जिसके बाद जार और सुलतान दोनों करीब-करीब साथ-ही-साथ खतम होगये और अपने साथ अपना-अपना साम्राज्य भी ले गये।

साम्राज्यों की दृष्टि से उस्मानी साम्राज्य काफी दिनों तक क़ायम रहा। एशिया

[illegible] १३६१ ई० मे इनकी बुनियाद योरप में [illegible] तुर्कों के हाथ मे नहीं आया, लेकिन [illegible] तुर्कों की मातहती में आ चुका था। [illegible] और उसने १४०२ ई० में अगोरा [illegible] कुस्तुनतुनिया कुछ दिनो के लिए [illegible] तुर्क लोग इस हार के बुरे असर से बहुत [illegible] जमाने तक यानी करीब साढे पाँचसौ [illegible] यह काफी लम्बा जमाना होजाता है।

[illegible] होने के बाद योरप में जो नई बाते और नई [illegible] नहीं होते थे। व्यापार और व्यवसाय बढ़ रहा था। [illegible] शहरो मे बडे पमाने पर उत्पत्ति का इन्तजाम [illegible] काम मे कोई दिलचस्पी नही थी। ये लोग [illegible] लडनेवाले और नियत्रण के माननेवाले होते थे। [illegible] और गुस्सा आजाने पर बेरहम और ख़ौफनाक होजाया करते थे। [illegible] में बस गये थे और ख़ूबसूरत इमारते बनाकर नगरो को [illegible] फिर भी अपनी ख़ानाबदोशो की पुरानी आदत बिल्कुल नही छोडी थी और उनकी जिन्दगी पर उसका कुछ-न-कुछ असर बना ही रहता था। अगर तुर्क लोग अपने देश में इस तरह की जिन्दगी गुजारते तो शायद कोई हर्ज न था। लेकिन योरप या एशिया-माइनर के लिए जो नई परिस्थिति पैदा होरही थी उसमें इस किस्म की जिन्दगी बिल्कुल उपयुक्त नही थी। तुर्क लोग नये जमाने के मुताबिक अपनेको ढालना नही चाहते थे, इसलिए इन दोनो भिन्न प्रणालियो में बराबर खींचतान जारी रही।

उस्मानी साम्राज्य तीन महाद्वीपो को मिलाता था— योरप, एशिया और अफरीका। पूर्व और पश्चिम के दरमियान के सारे तिजारती रास्ते इसी साम्राज्य से होकर गुजरते थे। अगर तुर्कों में व्यापारिक रुचि होती और इस काम के लिए उनमें आवश्यक क्षमता भी पाई जाती तो ये लोग अपने इस फायदेमन्द मौके और स्थिति से फायदा उठा सकते थे और इनकी एक बडी व्यापारिक कौम बन सकती थी। लेकिन इनमें इस क़िस्म की कोई रुचि या योग्यता नही थी, बल्कि ये लोग तो इस व्यापार को जानबूझकर दबाने की कोशिश करते थे—शायद इसलिए कि इन्हे यह अच्छा नही लगता था कि दूसरे इससे फायदा उठायें। पुराने तिजारती रास्तो के इस तरह रुक जाने से एक हद तक मजबूर होकर योरप की समुद्री और तिजारती कौमो ने पूर्वी देशो तक

पहुँचने के लिए दूसरे रास्ते मालूम किये, और कोलम्बस ने पश्चिम और डायज और बास्कोडिगामा ने पूर्व के नये रास्ते खोज निकाले। लेकिन तुर्क लोग इन सब बातो की तरफ से बिलकुल उदासीन रहे और अपने साम्राज्य पर केवल नियंत्रण और सैनिक कुशलता से शासन जमाये रक्खा। नतीजा यह निकला कि तिजारती और धन पैदा करनेवाले कामकाज उस्मानी साम्राज्य के यूरोपियन हिस्से में खत्म होगये। किसी हद तक इसकी वजह धार्मिक और जातीय संघर्ष भी थी। तुर्क और बालकन की ईसाई कौमो में आपस का मजहबी और जातीय झगड़ा क्रूसेड के ज़माने से और उसके पहले से भी पुश्त-दर-पुश्त चला आता था। राष्ट्रीय विचारो के बढ़ने से यह आग और भी भड़क गई और आपस में बराबर झगड़ा होता रहा। उस्मानी साम्राज्य के यूरोपीय हिस्से किस तरह बरबाद होते जाते थे, इसकी एक मिसाल देता हूँ। जब यूनान १८२९ ई० में तुर्कों से आजाद हुआ, एथेन्स, जो बड़ा मशहूर पुराना शहर है, सिर्फ दो हजार बाशिन्दो का गाँव रह गया था (आज सौ वर्ष बाद इस शहर की आबादी ५ लाख से ज्यादा है।)

इन व्यापारिक और धन पैदा करनेवाली प्रवृत्तियो को छोड़ देने से तुर्क शासको को खुद भी अखीर में नुकसान पहुँचा। साम्राज्य के हाथ-पैर जब कमजोर और शिथिल होगये, तब साम्राज्य का दिल भी निर्बल और रोगी होगया। असल में ताज्जुब की बात तो यह है कि इन तमाम कशमकश और दिक्कतो के होते हुए भी यह साम्राज्य इतने दिनो तक जिन्दा रहा।

'जानिसारी' कई वर्षों तक उस्मानी सुलतानो की असली ताकत रही। 'जानिसारी' तुर्की सिपाहियो की एक फौजी टुकडी थी। इसमें गुलाम ईसाई हुआ करते थे, जिन्हे लड़कपन से बहुत सावधानी के साथ तालीम दी जाती थी। इन जांनिसारियो की बात सुनकर मिस्र के ममलूको की याद आजाती है, लेकिन इन दोनो में फर्क है। यद्यपि जांनिसारी लोग तुर्की सेना के रत्न थे, लेकिन मिस्र के ममलूको की तरह ये कभी शासक नहीं हुए। ममलूको की तरह इनकी भी कोई पुश्तैनी जाति नहीं थी। ये लोग गुलाम थे, लेकिन इनको बहुत-सी रिआयतें मिली हुई थीं और ऊँची-ऊँची जगहें और बड़े-बड़े ओहदे इनके लिए महफूज रहते थे। इनकी औलाद आजाद मुसलमान होगई और इन रिआयती जत्थे में नहीं शामिल की जा सकी; क्योंकि यह जत्था सिर्फ गुलामो के लिए ही था, जिसमें केवल गोरे ईसाई गुलामो की ही भर्ती की जाती थी। ये सब बातें अब कितनी आश्चर्यजनक मालूम होती हैं! लेकिन याद रखो कि उस ज़माने में मुसलमान मुल्को में गुलाम शब्द के वह मानी नहीं थे जो आजकल लिये जाते हैं। गुलाम कानून और व्यवहार में तो गुलाम समझे जाते थे, लेकिन अक्सर ये बड़े ऊँचे

होकर वह पहुंचते थे। तुम्हें दिल्ली के गुलाम बादशाहो का तो खयाल होगा ही। मिस्र के सुलतान सलादीन भी असल में गुलाम थे। तुर्कों का खयाल यह था कि शासकर्ता को ज्यादा से-ज्यादा काबिल बनाने के लिए उनको अच्छी तरह से तालीम देनी चाहिए। तुर्क लोग यह जानते थे, जैसा कि हरेक शिक्षक जानता है, कि तालीम देने का सबसे अच्छा जमाना लड़कपन से कुछ साल बाद तक हुआ करता है। मुसलमान रिआया के बच्चो को छीन लेना, उनको अपने-अपने माता-पिता से बिलकुल अलग कर देना, और उनको गुलाम बना लेना, शायद आसान काम नही था। इसलिए ये लोग छोटे-छोटे ईसाई बच्चो को ले लेते थे। सुलतान के गुलामो की गृहस्थी में इनको शामिल कर लिया जाता था और इनको सख्त तालीम दी जाती थी। कहने की जरूरत नही कि ये लोग बडे होकर मुसलमान होजाते थे।

सुलतान लोग भी इसी तरीके पर पाले जाते थे। सुलतानो की शादी साधारण तरीके से नहीं होती थी। बाजारो से चुनी हुई गुलाम लड़कियाँ उनके महल में भेज दी जाती थी और यही उनके बच्चो की मां होती थी। अठारहवीं सदी की शुरुआत तक जितने सुलतान हुए, वे गुलाम माताओ की ही औलाद थे, और उन्हे उसी तरह की सख्त तालीम और कठोर नियन्त्रण से गुजरना पड़ता था जैसे घर के किसी भी दूसरे गुलाम को।

सुलतान से लेकर नीचे तक ख़ास-खास कामो को करने के लिए गुलामो के इस सावधानी से किये हुए चुनाव, नियन्त्रण और शिक्षा में किसी कदर वैज्ञानिकता पाई जाती थी। इस वजह से राज्य की कुछ बातो में एक हद तक कुशलता पैदा होगई थी। इस वर्ग में नये गुलामो का खून बराबर मिलता रहता था और इसलिए कोई पुश्तैनी शासक वर्ग कायम नही हुआ। शायद इस साम्राज्य की प्रारम्भिक शक्ति इसी प्रणाली पर निर्भर थी। लेकिन ये सब बातें यूरोपीय या एशियाई परिस्थति को देखते हुए बिलकुल अनुकूल नही थीं। टर्की की यह प्रणाली सामन्त-प्रणाली भी नहीं थी, और यह उस प्रणाली से भी बहुत भिन्न थी जो योरप में सामन्तशाही की जगह पर कायम हो रही थी। इस प्रणाली की मातहती में और व्यापार या उद्योग ज्यादा न होने की वजह से, टर्की में कोई असली मध्यम वर्ग पनप न सका। फिर यह प्रणाली भी अपनी पुरानी शुद्धता के साथ सोलहवी सदी के पिछले आधे हिस्से के बाद नहीं चल सकी। गुलामो के इस वर्ग में पुश्तैनी बात पैदा होगई और इन गुलामो के लडके अपने कुटुम्ब में बने रहने लगे। वे अपने पिता का ही पेशा करते थे। और कई तरीको से भी यह प्रणाली धीरे-धीरे ढीली पड़ गई। लेकिन जड़ में जो बात थी, वह बनी रही और उसकी वजह से सदियो से नजदीकी ताल्लुकात रखते हुए भी टर्की

योरप से अलग और उसके लिए परदेशी बना रहा। खुद टर्की के अन्दर की विदेशी जातियाँ अपना-अपना कानून और अपना-अपना गुट बनाये हुए एक-दूसरे से बिलकुल अलग रहीं।

इस असाधारण और पुरानी तुर्की प्रणाली के बारे में मैंने तुमको इतना ज्यादा इसलिए बताया है कि यह अपनी जगह पर एक अद्वितीय प्रणाली थी और उस्मानी साम्राज्य के निर्माण में इस प्रणाली का काफी असर पड़ा था। जाहिर है कि यह प्रणाली अब नही पाई जाती। अब तो यह इतिहास की बात है।

टर्की के पिछले दोसौ वर्षों का इतिहास उस कशमकश का इतिहास है जो उसने बराबर आगे बढनेवाले रूसियो के खिलाफ और पराजित कौमो के विद्रोह के खिलाफ जारी रक्खी। यूनान, रूमानिया, सर्विया बलगेरिया, माण्टेनिगरो, बोसनिया ये सब बालकन देश उस्मानी साम्राज्य के अग थे। हम देख चुके है कि इग्लैण्ड, फ्रांस और रूस की मदद से १८२९ ई० में यूनान उस्मानी साम्राज्य से अलग होगया। रूस स्लाव जाति का देश है, बालकन में बलगेरिया और सर्बिया भी स्लाव जाति के हैं। ज़ार के रूस ने यह दिखाना चाहा कि हम बालकन के इन स्लाव लोगो के रक्षक और हमदर्द है। लेकिन रूस का असली प्रलोभन कुस्तुनतुनिया का नगर था और उसकी कूटनीति का सारा जोर इसी बात पर था कि किसी तरह से आखिर में साम्राज्य की यह प्राचीन राजधानी हाथ आ जाय। क्योंकि ज़ार अपनेको विजैण्टाइन सम्राटो का वारिस समझता था। १७३० ई० में रूसी-तुर्की लड़ाइयो का सिलसिला शुरू हुआ और बीच-बीच में चन्द दिनो की सुलह के साथ यह १७६८, १७९२, १८०७, १८२८, १८५३, १८७७ और अन्त में १९१४ तक जारी रहा। १७७४ ई० में रूस ने टर्की से क्रीमिया छीन लिया और काले समुद्र तक पहुँच गया। लेकिन इससे कोई खास फायदा नहीं हुआ, क्योंकि काला समुद्र तो बोतल की तरह बन्द है, जिसके मुंह पर कुस्तुनतुनिया की डाट लगी है। १७९२ और १८०७ में रूसी सरहद कुस्तुनतुनिया की तरफ बढ़ती गई और तुर्की सरहद पीछे हटती गई। जब यूनान की आजादी की लड़ाई छिड़ी तो ज़ार ने तुर्कों को अपनी इस परेशानी में फंसा देखकर उनपर हमला करके फायदा उठाना चाहा था। अगर इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया बीच में न पड़ जाते, तो ज़ार ने इस मौके पर कुस्तुनतुनिया पर कब्जा कर लिया होता।

इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया ने टर्की को रूस से क्यों बचाया? टर्की के प्रेम से नहीं, बल्कि रूस की प्रतिद्वन्द्विता और डर की वजह से। मैं तुमको इससे पहले बता चुका हूँ कि इंग्लैण्ड और रूस के दर्मियान एशिया और दूसरी जगहों में पुरानी रकाबत चलती रही। [illegible] हिन्दुस्तान को खतरे में पड़ते देखने से अंग्रेज लोग बिलकुल रूसी सरहद

[illegible] पड़े। अंग्रेज लोग, जो डरते थे कि जार का रूस हिन्दुस्तान में न जाने [illegible] उन्हें दिखाई दिया करते थे, इसलिए अंग्रेजों की यह नीति थी कि रूस [illegible] रहें और उसे अपनी ताकत न बढाने दें। अगर कुस्तुनतुनिया पर रूस का कब्जा होजाता तो उसे भूमध्यसागर में एक बढिया बन्दरगाह मिल जाता और वह हिन्दुस्तान के रास्ते के पास जंगी जहाजों का बेडा रख सकता था। इंग्लैण्ड इस खतरे में क्यों पड़े, इसलिए उसने रूस को इस बात का कभी मौका नहीं दिया कि वह टर्की को कुचल दे। रूस को दूर रखने में आस्ट्रिया का भी मतलब था। आस्ट्रिया आज नन्हा-सा देश होगया है, लेकिन कुछ साल पहले वह बालकन प्रायद्वीप से मिला हुआ एक बडा साम्राज्य था और चाहता था कि जब टर्की के टुकड़े हों तो बालकन के प्रदेशों में से यह खुद काफी बडा हिस्सा दबा ले, इसलिए रूस का दूर रखना इसके लिए जरूरी था।

बेचारे टर्की की बुरी हालत थी। इसके ये ताकतवर पडौसी इसी इन्तजार में बैठे रहते थे कि टर्की को कुछ हो कि ये उसपर टूट पड़ें और उसके टुकडे-टुकडे कर डालें। १८५३ ई० में टर्की की तरफ इशारा करते हुए रूस के जार ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था "हमारे पास एक बीमार है—बहुत ज्यादा बीमार है· ···· यह किसी समय अचानक हमारी गोद में मर जा सकता है।" यह वाक्य उस वक्त से मशहूर होगया और टर्की इसके बाद से 'योरप का बीमार' (Sick Man of Europe) कहा जाने लगा। लेकिन इस बीमार को मरते-मरते काफी दिन लग गये।

उसी साल, १८५३ ई० में, जार ने इस मरीज की जान निकाल लेने की दूसरी कोशिश की। इसकी वजह से रूस में क्रीमियन युद्ध शुरू होगया और टर्की बच गया। २१ वर्ष बाद, १८७७ ई० में, जार ने फिर टर्की पर चोट की और उसे हरा दिया; लेकिन फिर विदेशी हस्तक्षेप की वजह से टर्की बच गया। कम-से-कम कुस्तुनतुनिया रूस के पंजे में न जा सका। टर्की की किस्मत का फैसला करने के लिए १८७८ ई० में बर्लिन में एक मशहूर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें बिस्मार्क शामिल था और डिजरेली भी। योरप के कितने ही मशहूर राजनीतिज्ञ भी इसमें बुलाये गये थे। इस सम्मेलन में इन लोगों ने एक-दूसरे को धमकियाँ दीं और एक-दूसरे के खिलाफ साजिश की। इंग्लैण्ड तो रूस से युद्ध तक करने के लिए तैयार होगया था लेकिन अन्त में रूस ठण्डा पड़ गया। बर्लिन के इस सुलहनामे का यह नतीजा हुआ कि बलगेरिया, सर्विया, रूमानिया और माण्टेनिगरो की बालकन रियासतें आजाद होगईं। आस्ट्रिया ने बोसीना और हरजीगोविना पर कब्जा कर

लिया। ये उसूलन टर्की की मातहती में समझे जाते थे और टर्की का साथ देने के बदले में ब्रिटेन ने साइप्रस का टापू उससे कमीशन में लेलिया।

दूसरा रूसी-तुर्की युद्ध ३६ वर्ष बाद, १९१४ ई० में, महायुद्ध के सिलसिले में हुआ।

इस दरमियान टर्की में काफी तब्दीलियाँ हो चुकी थीं। १७७४ ई० में रूसियो से शिकस्त खा जाने पर तुर्कों को पहला धक्का पहुँचा था और तुर्की लोग समझने लग गये थे कि योरप के और देशो से वे पीछे होते जा रहे हैं। फौजी कौम होने के वजह से सबसे पहले इनका ध्यान फ़ौज को आधुनिक बनाने की तरफ गया। कुछ हद तक यह काम हुआ और टर्की में नये अफसरो के जरिये से पश्चिमी ख़यालात फैले। जैसा मैंने तुमको बताया है, टर्की में कोई मध्य वर्ग नहीं था और न कोई दूसरा ही संगठित वर्ग पाया जाता था। १८५३-५६ ई० के क्रीमियन युद्ध के बाद टर्की को पश्चिमी रंग में रँगने की ख़ास तौर से कोशिश की गई। वधानिक सरकार बनाने का आन्दोलन चला, जिसका उद्देश्य यह था कि सुलतान के निरंकुश शासन के बजाय प्रजासत्तात्मक धारासभा बने। इस आन्दोलन के नेता मिदहतपाशा थे। १८७६ ई० में कुस्तुनतुनिया में विधान के लिए बलवे हुए, और सुलतान ने विधान मंजूर कर लिया। लेकिन चंद दिन भी न गुज़रे थे कि उसने विधान को तोड़ दिया, क्योंकि बलगेरिया में बगावत पैदा होगई और रूसियो के साथ जंग छिड़ गई। एक तो लड़ाई का भारी खर्चा, दूसरे सुधार के सिलसिले में धन का व्यय, फिर टर्की में कोई मौलिक आर्थिक परिवर्त्तन नहीं हुआ था। नतीजा यह निकला कि तुर्की सरकार दिवालिया होगई और उसे पश्चिमी साहूकारो से रुपया कर्ज़ लेना पड़ा और इन साहूकारो ने मालगुज़ारी के एक हिस्से पर अपना अधिकार जमा लिया। इसलिए टर्की को पश्चिमी रंग देने और वहाँ सुधार करने की कोशिश सफल नहीं रही। साम्राज्य के पुराने ढांचे में इन नई चीज़ का जोड़ लगाना मुश्किल था।

बीसवीं सदी की शुरुआत में विधान की माँग ने फिर जोर पकड़ा। पहले की तरह सैनिक अफसर ही सिर्फ एक संगठित वर्ग कहे जा सकते थे और इन्हींके दरमियान 'नौजवान तुर्की दल' की नई पार्टी बनी। खुफिया तौर से 'यूनियन और प्रोग्रेस की कमेटियाँ' यानी एकता और उन्नति की सभायें बनने लगीं और जब इन कमेटियों ने फ़ौज का बहुत ज्यादा हिस्सा अपनी तरफ कर लिया तब १९०८ ई० में इन्होंने सुलतान को इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वह १८७६ ई० का विधान फिर जारी करे। बड़ी खुशियां मनाई गईं। तुर्क, आरमीनियन और दूसरे लोग जो अभी एक-दूसरे का गला काटते थे, एक-दूसरे के गले मिले और इस नये युग के उदय पर खुशी के आँसू बहाये, जिसमें सबको बराबर का हक मिलनेवाला था और सब-

जिन लोगो को भी पहले अधिकार दिये जानेवाले थे। विना एक कतरा खून गिराये तब्दीली। इस क्रान्ति का नायक खूबसूरत और अभिमानी लेकिन वहादुर और साहसी अनवरवे था। मुस्तफा कमाल भी, जो वाद को टर्की का उद्धारक हुआ, एक मशहूर नौजवान तुर्क नेता था, लेकिन अनवरवे के मुकाविले में इसका नाम मशहूर नही था और ये दोनो एक-दूसरे को पसन्द भी नही करते थे।

नौजवान तुर्कों की ज़िन्दगी कोई आराम की ज़िन्दगी नहीं थी। सुलतान इन लोगो को परेशान करता रहता था। आखीर मे रक्तपात हुआ ही। सुलतान तख्त से उतार दिया गया और उसकी जगह दूसरा वैठाया गया। आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आई और विदेशी ताकतो से भी परेशानी पैदा होने लगी। आस्ट्रिया ने टर्की की इस गड़वडी से फायदा उठाकर वोसीनिया और हरजीगोविना को अपने साम्राज्य में मिलाने का ऐलान कर दिया। इन प्रदेशो पर उसने वर्लिन के सुलहनामे के वाद १८७८ ई० में कब्जा किया था। इटली ने उत्तर अफरीका में ट्रिपोली पर कब्जा कर लिया और युद्ध की घोषणा करदी। तुर्क लोग कुछ कर-धर नहीं सकते थे, क्योकि इनके पास जल-सेना नही थी और इसलिए इन्हे मजबूर होकर इटली की माँगो को मंजूर करना पड़ा। यह सब कार्रवाई हो ही रही थी कि घर के भीतर ही एक-दूसरा खतरा आ खड़ा हुआ। वलगेरिया, सर्विया, यूनान, माण्टीनिगरो, जो तुर्को को योरप से निकालने के लिए उत्सुक थे, संगठित होगये और 'वालकन लीग' वनाकर अक्तूवर १९१२ ई० में टर्की के ऊपर हमला कर दिया। टर्की असंगठित और पस्त था ही और शासन के लिए विधान-दल और संकीर्ण दल में झगड़ा चल रहा था। 'वालकन लीग' के सामने टर्की विलकुल चारो खाने चित होगया और इसे वहुत भारी नुकसान उठाना पड़ा। इस तरह पहला वालकन युद्ध चन्द महीनो में खतम होगया और टर्की योरप से विलकुल निकाल दिया गया। सिर्फ कुस्तुन्तुनिया उसके कब्जे में रह गया। टर्की का सबसे पुराना शहर एड्रियानोपल भी टर्की की मर्जी के विलकुल खिलाफ उससे छीन लिया गया।

थोडे ही दिन के वाद लूट के बँटवारे पर विजयी लोग आपस में लड़ गये और वलगेरिया ने अपने पुराने मित्रो पर धोखे से हमला कर दिया। इन लोगो ने एक-दूसरे का खूब खून वहाया और गड़वडी से फायदा उठाने के लिए रूमानिया, जो अभी-तक अलग था, इस झगडे में शामिल होगया। नतीजा यह हुआ कि वलगेरिया ने जो कुछ पाया था खो दिया और रूमानिया, यूनान और सर्विया ने अपना राज खूब वढ़ा लिया। टर्की को एड्रियानोपल वापस मिल गया। वालकन के लोगो की आपसी नफरत देखकर आश्चर्य होता है। वालकन की रियासते छोटी है, लेकिन वे कितनी ही दफा योरप का तूफानी केन्द्र रह चुकी है।

नौजवान तुर्कों ने जिस सुल्तान को १९०९ ई० में तख्त से उतारा था, वह बड़ा दिलचस्प व्यक्ति था। उसका नाम था अब्दुल हमीद द्वितीय, और वह १८७६ ई० में तख्त पर बैठा था। उसे सुधार या नई ईजाद की कोई बात पसन्द नहीं थी, लेकिन वह अपने ढंग का योग्य आदमी था। उसकी शोहरत इस बात की थी कि वह बड़ी-बड़ी शक्तियों को एक-दूसरे से लड़ा देने में बेमिसाल आदमी है। तुम्हें याद होगा कि तमाम उस्मानी सुलतान खलीफा यानी इस्लाम के धार्मिक प्रमुख भी होते थे। अब्दुलहमीद ने एक 'पैन इस्लामी' यानी अखिल इस्लामी आन्दोलन चलाकर अपनी इस हैसियत का फ़ायदा उठाना चाहा। यह ऐसा आन्दोलन था जिसमें दूसरे देश के मुसलमान लोग भी शामिल हो सकते थे और इस तरह अब्दुलहमीद को इनकी मदद मिल सकती थी। योरप और एशिया में इस अखिल इस्लामवाद की काफी चर्चा रही, लेकिन इसकी बुनियाद मज़बूत नहीं थी और महायुद्ध ने इस आन्दोलन का बिलकुल खातमा ही कर दिया। टर्की में राष्ट्रवाद ने 'अखिल इस्लामवाद' का विरोध किया और राष्ट्रवाद अधिक ताकतवर साबित हुआ।

सुलतान अब्दुलहमीद योरप में बहुत बदनाम होगये, क्योंकि लोग समझते थे कि बलगेरिया, आरमीनिया और दूसरी जगहों के अत्याचार और क़त्लेआम के लिए यही ज़िम्मेदार हैं। ग्लैडस्टन इनको 'महान् हत्यारा' कहता था और इन अत्याचारों के बारे में उसने इंग्लैण्ड में एक बड़ा आन्दोलन चलाया था। तुर्क लोग खुद इनके राज्य-काल को अपने इतिहास का सबसे अधिक 'अंधेरा ज़माना' मानते हैं। इनके ज़माने में बालकन प्रायद्वीप में अत्याचार और कत्लेआम नियमित-सी घटनायें थीं और दोनों पार्टियां इसमें हिस्सा लेती थीं। बालकन-निवासी और आरमीनियन तुर्कों को कत्ल करने के उतने ही दोषी थे जितने तुर्क आरमीनियन लोगों के। स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने और राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने का यह तरीका बहुत क्रूर और कठोर था। सदियों के धार्मिक और जातीय विद्वेष ने इन लोगों की प्रकृति में घर कर लिया था और वह भयंकर रूप में प्रकट होता था। आरमीनिया सबसे ज्यादा सताया गया था। अब आरमीनिया काकेशस के पास एक सोवियट प्रजातन्त्र है।

इस तरह बाल्कन युद्धों के बाद टर्की बिल्कुल पस्त होगया और योरप में सिर्फ एक जगह उसके कदम रखने के लिए बची। उसके साम्राज्य का बाकी हिस्सा भी बिखर रहा था। मिस्र सिर्फ नाम-मात्र के लिए उसका था। असल में उसपर कब्ज़ा ब्रिटेन का था, जो उसे चूस रहा था। लेकिन दूसरे अरब देशों में राष्ट्रीयता के चिह्न ज़ाहिर होगये थे। आश्चर्य की बात नहीं कि ऐसी स्थिति में टर्की मायूस हो

... और ... मारे ... जाते । १९०८ ई० को उनके सारे बड़े-बड़े मनसूबे मिट्टी में मिल गये । ... जर्मनी इनसे कुछ हमदर्दी जाहिर करता मालूम हुआ । उस वक्त जर्मनी की ताकत बढ़ रही थी और वह सारे मध्य-पूर्व (Middle East) पर अपना प्रभाव जमाने का सुख-स्वप्न देख रहा था । टर्की भी जर्मनी की तरफ झुका और उससे गठबन्धन करने लगे । दूसरे बाल्कन युद्ध के खतम होने के सालभर के बाद, १९१४ ई० में जब महायुद्ध शुरू हुआ, स्थिति यह थी । टर्की की किस्मत में अमनचैन नहीं लिखा था ।

पुराने टर्की के बारे में पढ़ते हुए तुम्हे 'सब्लाइम पोर्ट' (Sublime Porte) का शब्द अक्सर मिला होगा, जिसका अर्थ है तुर्की सरकार । मै सोचा करता था कि इतना बढ़िया नाम इसका क्यों पड़ा ? मालूम यह होता है कि जिस इमारत में पुरानी तुर्की सरकार का खास दफ्तर था उसका फाटक ऊँचा था, इसलिए तुर्की सरकार को ही लोग सब्लाइम पोर्ट (Sublime Porte) कहने लगे । लोग सरकारी दफ्तरों का नामकरण इसी प्रकार करते है । इसमें ज्यादा शान मालूम होती है । ब्रिटिश सरकार को 'व्हाइट हाल' कहते है । इसी तरह जहाँ ब्रिटिश प्रधानसचिव रहते है वह डाउनिंगस्ट्रीट कहलाता है और फ़्रान्स के वैदेशिक दफ़्तर को 'क्वे द ओर्जे' कहा जाता है ।

लेकिन मेरा ख़याल है कि अब 'शानदार फाटक' जैसी कोई चीज बाकी नही रही । टर्की की राजधानी अब अंगोरा में है और कुस्तुनतुनिया, जो अब इस्तम्बोल कहलाता है, एक प्रान्तीय शहर होगया है ।

: १४२ :

ज़ारों का रूस

१६ मार्च, १९३३

रूस आज सोवियट देश है और किसानो और मजदूरो के प्रतिनिधि इसका राज्य चलाते है । बाज बातो में यह दुनिया का सबसे आगे बढ़ा हुआ देश है । असली हालत चाहे जो हो, यहाँके समाज और सरकार की इमारत सामाजिक समता के उसूल पर खडी की गई है । यह आज-कल की दशा है । लेकिन कुछ साल पहले और सारी उन्नीसवी सदीभर रूस योरप का सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ और संकीर्ण देश था । यहाँपर निरकुशता और तानाशाही अपने असली रूप में पाई जाती थी । पश्चिमी योरप में परिवर्तन और क्रान्ति के होते हुए भी जार लोग बादशाहो के

ईश्वरीय अधिकार के उसूल को मानते थे। यहाँका चर्च और पादरी-समुदाय, जो पुराना कट्टर यूनानी चर्च था (रोमन या प्रोटेस्टेण्ट नहीं), और जगहों के मुकाबिले में ज्यादा निरंकुश और हुकूमतपसन्द था और ज़ार की सरकार का खास हिमायती और उसके हाथ की कठपुतली था। इस देश को 'पवित्र रूस' कहते थे और ज़ार हरेक का 'नन्हा गोरा पिता' (Little White Father) समझा जाता था। चर्च के आदमी और पादरी लोग इन कथाओं को आदमियों की बुद्धि को कुन्द करने के लिए और आर्थिक और राजनैतिक दशा से उनका ध्यान दूर हटाने के लिए काम में लाते थे। इतिहास में धर्म ने अजीब-अजीब साथी बनाये हैं।

'पवित्र रूस' का मुख्य प्रतीक 'नाउट' (Knout) यानी चाबुक था और एक विशेष पेशा 'पोग्रोम्स' (Pogroms) हुआ करता था। ज़ार के रूस ने दुनिया के सामने ये दो शब्द पेश किये हैं। 'नाउट' चाबुक को कहते थे, जिससे सर्फ यानी किसानों को या किसी दूसरे को सज़ा दी जाती थी और 'पोग्रोम्स' का मतलब था मारकाट, बरबादी और संगठित अत्याचार। अमली तौर से इसका मतलब होता था लोगों का, खासकर यहूदियों का, क़त्लेआम। ज़ार के रूस के पास साइबेरिया का सुनसान और वीरान मैदान भी था। इस नाम के कहते ही हमें देशनिकाले, क़ैद और निराशा की याद आजाती है। साइबेरिया को राजनैतिक क़ैदी बहुत बड़ी तादाद में भेजे जाते थे और वहाँ देशनिर्वासित लोगों के बड़े-बड़े कैम्प और उपनिवेश पैदा होगये थे। इन कैम्पों और उपनिवेशों के पास आत्म-हत्या करनेवालों की क़ब्रें हुआ करती थीं। लम्बी तनहाई, जलावतनी और सज़ा मुश्किल से बर्दाश्त होती हैं। अनेक बहादुरों का दिमाग इनकी वजह से खराब होजाता है और इनके बोझ से शरीर टूट जाता है। दुनिया से अलग रहने के लिए और उन दोस्तों, साथियों और लोगों से जुदा रहने के लिए, जिनकी आशायें अपनी आशायें हैं या जो अपनी चिन्ताओं के बोझ को हल्का करते हैं, आदमी में मानसिक शक्ति और अन्दरूनी गहराई होनी चाहिए, जो शान्त और निश्चल रक्खे और बर्दाश्त करने की हिम्मत दे। जिसने सिर उठाया, ज़ार के रूस ने उसको प्रहार करके नीचे गिरा दिया और जब-जब आज़ादी की कोशिश की गई तब-तब ज़ार के रूस ने उसे पस्त कर दिया। सफ़र को भी मुश्किल बना दिया गया था, जिससे स्वतन्त्र विचार बाहर से अन्दर न पैठ सकें। लेकिन आज़ादी की ख्वाहिश को जब दबाया जाता है तो वह दूने-दूने ज़ोर के साथ उभरती है, और ऐसी हालत में जब वह आगे बढ़ती है तो बड़ी तेज़ी के साथ फूटकर निकलती है जिससे कि पुराना सब-कुछ चौपट होजाता है।

हमने पहले की चिट्ठियों में रूस को ईरान में, मध्य-एशिया में दूर के

[illegible] हिस्सो मे जार के रूस की राज-
[illegible] है। अब हम इन अलग-अलग कार-
[illegible] देखेंगे कि हमारे सामने कैसी तस्वीर
[illegible] कि इसके हमेशा दो मुख रहे हैं। एक
[illegible] इस स्थिति के कारण ही यह यूरेशियन
[illegible] हिस्से मे इसने कभी पूर्व और कभी
[illegible] पश्चिम से भगाया गया तो यह पूर्व की तरफ
[illegible] दिया गया तो पश्चिम की तरफ पलट गया।

[illegible] चगेज़खा का बनाया हुआ पुराना मंगोल साम्राज्य किस तरह से टूटा और किस तरह से मास्को के राजकुमार के नेतृत्व में रूसी राजशक्तियो ने [illegible] ने मंगोलो को अन्त मे रूस से निकाल दिया। यह घटना चौदहवी सदी के अखीर मे हुई। धीरे-धीरे मास्को के राजकुमार सारे देश के निरकुश शासक होगये और अपनेको जार (सीज़र) कहने लगे। इन लोगो के रस्म-रिवाज और तौरतरीके ज्यादातर मगोलियन ही बने रहे और पश्चिमी योरप और इनमें कोई बात मिलती-जुलती नही थी। पश्चिमी योरप रूस को जगली समझता था। १६८९ ई० मे ज़ार पीटर, जिसको पीटर महान् कहा गया है, तख्त पर बैठा। उसने यह निश्चय किया कि रूस पश्चिम की तरफ झुके और उसने खुद यूरोपियन देशों में वहाँकी हालत समझने के लिए लम्बा दौरा किया। जो कुछ उसने देखा उसमें से ज्यादातर चीजो की उसने नकल की और अपने देश के जाहिल, बेदिल और झिझकते हुए अमीरो में यूरोपीय खयालात भर दिये। जनता तो बहुत ही पिछडी और दबी हुई थी। इसलिए ज़ार के सामने इस बात का कोई सवाल ही नहीं था कि वे लोग सुधार के बारे में क्या राय रखते हैं। पीटर ने देखा कि उसके ज़माने की बडी-बडी कौमें समुद्र पर बहुत ही मजबूत हैं। उसने समुद्री ताकत का महत्त्व समझा; लेकिन रूस के पास, जो इतना लम्बा-चोड़ा था, सिवा आर्कटिक समुद्र के, जो बिलकुल बेकार था, किसी दूसरे समुद्र में बाहर निकलने के लिए कोई रास्ता नही था। इसलिए वह उत्तर-पश्चिम में बाल्टिक की ओर और दक्षिण में क्रीमिया की ओर बढ़ा। वह खुद क्रीमिया तक नही पहुँचा, लेकिन उसके बाद के ज़ार वहाँतक पहुँचे। हाँ, वह स्वीडन को हराकर बाल्टिक तक ज़रूर पहुँच गया और सेटपीटर्सबर्ग नाम के शहर की बुनियाद डाली, जो एक नया पश्चिमी ढंग का शहर था। फिनलैण्ड की खाडी से दूर, जिससे होकर बाल्टिक मे पहुँच सकते थे, यह शहर नेवा नदी के तट पर बसा हुआ था। उसने सेण्टपीटर्सबर्ग को अपनी राजधानी बनाया और इस तरह उस पुरानी परिपाटी

[illegible] । इसके अलावा भी, इस किस्म की और भी प्रमाणित घटनाये है,
[illegible] ने पुलिस के एजेण्ट की हैसियत से बम फेंके
[illegible] ।

[illegible] ने जबरदस्ती सरकारी खजाने पर छापा मारने का सिलसिला भी शुरू किया। वे लोग सरकारी इमारतो, रेलगाडियो, डाकखानो आदि पर बम से [illegible] थे। दो आदमी, जो आज दुनिया में बहुत मशहूर है, इन धावों में अक्सर हिस्सा लिया करते थे। एक स्टालिन जो आज रूस का सर्वशक्तिमान डिक्टेटर है और दूसरा पिल्सुड्स्की जो पोलैण्ड का डिक्टेटर है। पिल-सुड्स्की आजकल समाजवादियो, साम्यवादियो और इसी तरह के लोगो के खिलाफ़ हो गया है। लेकिन १८८० ई० में और उसके बाद भी वह दूसरे ही ढंग का था। इसको जार की जान लेने की साजिश के जुर्म में फाँसा भी गया था और यह ५ वर्ष के लिए साइबेरिया भी भेजा गया था।

जब ये सब बातें होरही थीं, रूस का राज्य पूर्व की दिशा में बराबर बढता जा रहा था और, जैसा मैंने तुमको बताया है, पैसफिक (प्रशात) सागर तक पहुँच गया था। मध्य-एशिया में यह अफगानिस्तान की सरहद तक पहुँच गया था और दक्षिण में तुर्की सरहद से टकराता था। १८६० ई० के बाद से दूसरी महत्त्व-पूर्ण बात यह हुई कि पश्चिमी उद्योग-धधे बढने लगे थे। यह तरक्की सिर्फ चन्द जगहो में ही हुई थी—जैसे पीटर्सबर्ग या उसके आसपास और मास्को में। लेकिन रूस का देश ज्यादातर कृषि-प्रधान ही रहा। जो कारखाने खुले थे, वे बिलकुल नये ढग के थे और अग्रेजो की देख-रेख में चलते थे। इसके दो नतीजे हुए। इन चन्द व्यावसायिक क्षेत्रो में रूसी पूंजीवाद की खूब तरक्की हुई और मजदूरवर्ग भी इतनी ही तेजी से बढ गया। जैसा कि ब्रिटिश कारखानो में पुराने जमाने में होता था, रूसी मजदूरो को खूब चूसा जाता था और उनसे दिन-रात काम लिया जाता था। लेकिन इतना फर्क रूस में जरूर था कि अब समाजवाद और साम्यवाद के नये खयालात पैदा होगये थे। रूसी मजदूरो का दिमाग ताजा था और इन ख्यालात को ग्रहण करने के लिए तैयार था। ब्रिटिश मजदूर, जिनके पीछे पुरानी परम्पराये थी, संकुचित थे और पुराने ख़याालात में फँसे हुए थे।

ये नये खयालात एक शकल इख्तियार करने लगे और 'सोशल डेमाक्रेटिक लेबर पार्टी' (समाजवादी प्रजासत्तात्मक मजदूर दल) बनी। यह मार्क्स के उसूलो के अनुसार बनी थी। मार्क्स को माननेवाले ये आतंकवाद के खिलाफ थे। मार्क्स के उसूलो के मुताबिक इनको मजदूरवर्ग में क्रियात्मक जोश पैदा करना था, [illegible]

बहुत धक्का पहुँचा। नाउम्मीदी और नफ़रत के आवेश में इन लोगो ने आतंकवाद का सहारा लिया; यानी बम फेंकने लगे और सरकारी अफसरो की हत्या करने लगे। यहीसे रूस में आतंकवाद और बम की शुरुआत होती है, जिसकी वजह से क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ एक नया रंग पकड़ती है। बम फेंकनेवालो का यह दल अपनेको 'बम वाला नरम दल' कहता था और इनके आतंकवादी संगठन का नाम 'जनता का संकल्प' था। यह नाम किसी हद तक अत्युक्ति से भरा था, क्योकि इससे जिन लोगो का ताल्लुक था वे बहुत छोटे हिस्से के प्रतिनिधि थे। इस तरह दृढ-प्रतिज्ञ नौजवानो और युवतियो के इन गिरोहो से जार की सरकार की नई कशमकश शुरु हुई। दूसरी कम तादादवाली कौमो और पराजित जाति के लोग क्रान्तिकारी दल में आकर शामिल होने लगे और विप्लव की शक्ति बढने लगी। सरकार इन जातियो और छोटी तादादवाली कौमो को बहुत सताती थी। ये लोग अपनी मातृभाषा खुल्लमखुल्ला नहीं बोल सकते थे। और दूसरे बहुत-से तरीको से भी इनको जलील और परेशान किया जाता था। पोलैण्ड, जो बडे उद्योग-धधो में रूस से ज्यादा आगे था, रूस का सिर्फ एक प्रान्त समझा जाता था और पोलैण्ड का नाम ही बिलकुल नाबूद होगया था। पोलिश भाषा का इस्तेमाल कानूनन रोक दिया गया था। जब पोलैण्ड का यह हाल था तो दूसरी छोटी तादाद वाली जातियो और कौमो से इससे कहीं ज्यादा बुरा बर्ताव किया ही जाता था। १८६० ई० में पोलैण्ड में बहुत बड़ा विद्रोह उठा, जिसे बडी बेरहमी और सख्ती के साथ कुचल दिया गया। पचास हज़ार पोल देश-निर्वासित करके साइबेरिया भेज दिये गये। यहूदियो का बराबर 'पोग्रोम' यानी कत्लेआम हुआ करता था, जिससे उनकी बहुत बडी तादाद दूसरे देशो में जा बसी।

यह स्वाभाविक बात थी कि अपनी-अपनी जाति पर जार के इस दमन से क्षोभग्रस्त होकर यहूदी और दूसरी कौम के लोग रूस के आतंकवादियो में शामिल हो जायँ। यो यह आतंकवाद, जिसे निहिलिज्म कहते थे, फैलने लगा और सरकार ने खूनी दमन से इसका मुकाबिला किया। राजनैतिक कैदियो का लम्बा तांता साइबेरिया के वीरान की तरफ रवाना होने लगा और कितने ही फांसी पर चढा दिये गये। इस खतरे से बचने के लिए जार की सरकार ने एक अजीब तरकीब निकाली, जिसे उसने गैरकानूनी रूप का [illegible] दिया। उसने आतंकवादियो और क्रान्तिकारियो में अपने उत्तेजक [illegible] शामिल कर दिये। ये लोग बम फेंकने के लिए बाकायदा [illegible] थे और कभी-कभी खुद बम फेंकते थे, जिससे दूसरो को [illegible]। [illegible] बम फेंकनेवाले क्रान्तिकारियो के भी [illegible]

इस सवाल का जवाब देना उनके लिए जरूरी था। यह सवाल हरेक दल के सामने, जो कुछ निश्चित सिद्धान्तो या आदर्शो पर निर्भर होता है, किसी-न-किसी वक्त आता है और इसका उत्तर देना उनके लिए जरूरी होता है। सच तो यह है कि हरेक पुरुष और स्त्री को जिनके कुछ सिद्धान्त और विश्वास होते है, ऐसे सवालो का जिन्दगी मे एक दफा नही कई दफा मुकाबिला करना पडता है। सवाल यह था कि क्या हम अपने सिद्धान्तो पर बिलकुल अटल रहे और मजदूर-वर्ग की क्रान्ति करे, या मौजूदा परिस्थिति से जरा-सा समझौता करले और भावी क्रान्ति के लिए जमीन तैयार करे? यह सवाल पश्चिमी योरप के करीब-करीब सब देशो में उठा था और हरेक जगह, कम या ज्यादा, इसकी वजह से सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी या इसी किस्म की पार्टियाँ कमजोर पडी थी और उनमें अन्दरूनी झगडा पैदा हो गया था। जर्मनी में मार्क्स के अनुयायियो ने बहादुरी के साथ सिद्धान्त पर सोलह आने यानी पूरे तौर पर अटल रहने का ऐलान कर दिया, अर्थात् वे क्रान्ति के पक्ष में थे, लेकिन असली सूरत में वे कुछ नीचे उत्तर आये थे और नरम हो गयेथे। फ्रास में कितने ही मशहूर समाजवादियो ने अपनी पार्टी को छोड दिया और मंत्रिमण्डल में मत्री बन गये थे। इसी तरह इटली, बेलजियम और दूसरी जगहो में भी हुआ था। ब्रिटेन में मार्क्सवाद कमजोर था और वहाँ सवाल ही नही उठा, इसपर भी मजदूर पार्टी का एक आदमी मिनिस्टर बना था।

रूस की हालत दूसरी ही थी, क्योकि वहाँ पार्लमेण्टरी यानी वैधानिक कारगुजारियो के लिए कोई गुजाइश ही नही थी। वहाँ कोई पार्लमेण्ट न थी। इसपर भी जारशाही के खिलाफ होनेवाली लडाई के गैरकानूनी तरीको के तर्क करने या छोड दिये जाने की उम्मीद थी और कुछ दिनो तक सिर्फ सिद्धान्तो का प्रचार जारी रखने का खयाल होरहा था। लेकिन इस विषय में लेनिन के विचार स्पष्ट और निश्चित थे। वह अपनी माँग को कमजोर करने के लिए या कमजोरी के समझौते को तैयार नही था, क्योकि उसे डर था कि ऐसा करने से कही अवसर गाँठनेवाले उसकी पार्टी में न भर जायें। पश्चिमी सोशलिस्ट पार्टियो ने जो ढंग इख्तियार किया था, उन्हे लेनिन देख चुका था और उसका उसपर अच्छा असर नही पड़ा था। उसने एक दूसरे सिलसिले में बाद को लिखा था, "पार्लमेण्टरी कारगुजारियाँ या चाले, जैसी पश्चिमी सोशलिस्ट करते या चलते हैं, कही ज्यादा नीचे गिरानेवाली है। इससे हरेक समाजवादी दल धीरे-धीरे छोटा-मोटा "टैमनी हाल" बन जाता है, जिसमें आपको नौकरी की तलाश करनेवाले और अपने ओहदे बढानेवाले मिलेंगे।"
(टैमनीहाल न्यूयार्क में है और राजनीतिक पतन या भ्रष्टाचार का एक

वे अमल करें। इसी तरीके से अपना मकसद हासिल किया जा सकता था। आतंक से किसी व्यक्ति को मार डालने से मजदूरवर्ग में इस तरह की क्रियात्मक उत्तेजना नहीं पैदा हो सकती थी, क्योंकि उद्देश्य ज़ारशाही का विनाश था—ज़ार या उसके वज़ीर की हत्या नहीं।

१८८० ई० के करीब एक नौजवान, जो बाद को सारी दुनिया में लेनिन के नाम से मशहूर हुआ, स्कूल में पढ़ने के ज़माने में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन में हिस्सा लेता था। १८८७ ई० में जब उसकी उम्र १७ वर्ष की थी, उसे बड़ा सख्त धक्का लगा था। उसका बड़ा भाई अलेक्जेण्डर, जिससे वह बहुत प्रेम करता था, ज़ार की हत्या करने की कोशिश के जुर्म में फाँसी पर लटका दिया गया। इतना बड़ा धक्का लगने पर भी लेनिन ने कहा था कि आतंकवाद से स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। स्वतंत्रता तो जनता की सामूहिक लड़ाई (Mass Action) से ही मिलेगी। दिल को मजबूत करके और कठोरता के साथ वह नौजवान अपनी पढ़ाई में लगा रहा। परीक्षा में शरीक हुआ और विशेषता के साथ पास हुआ। यह साहस और यह प्रकृति थी तीन वर्ष बाद आनेवाली क्रान्ति के जन्मदाता और नेता की।

सबसे कम फायदे में रहना था, और इन मजदूरों को, जिनमें औरतें और बच्चे शामिल थे, अपनी हालत सुधारने के लिए भयंकर आफतों से गुजरना पड़ा है। और इस पूंजीवादी उद्योग के मुनाफे के लिए और उन कौमों के मुनाफे के लिए, जिनमें ये उद्योग पाये जाते थे, उपनिवेश और मातहत देश भी कुरबान कर दिये गये और चूस लिये गये।

इस तरह पूंजीवाद आंख बन्द करके और बेरहमी के साथ आगे बढ़ता गया और बहुत-से शिकार अपने पीछे छोड़ता गया। इसपर भी उसकी प्रगति धूमधाम से होती रही। विज्ञान की मदद से वह बहुत-सी बातों में कामयाब रहा और इस कामयाबी से दुनिया चकाचौंध होगई। ऐसा मालूम होता था, मानो यह प्रणाली उन कष्टों का शमन कर रही हो जो इसकी वजह से पैदा हुए हैं। इत्तफाक से, कुछ जान-बूझकर नहीं, इस प्रणाली ने जिन्दगी की बहुत-सी अच्छी-अच्छी चीजें भी पैदा कर दीं, लेकिन इस चमकदार और खुशनुमा गिलाफ के नीचे बहुत-सी खराबियां छिपी थीं। सबसे ज्यादा उल्लेखनीय बात यह हुई कि विषमता पैदा होगई। यह प्रणाली जितनी तरक्की करती गई विषमता भी उतनी ही बढ़ती गई। एक तरफ नितान्त दरिद्रता और दूसरी तरफ अत्यन्त सम्पन्नता, एक ओर गन्दे झोंपड़े और दूसरी तरफ आकाश से बातें करनेवाले महल, एक ओर साम्राज्य और दूसरी ओर शोषित और मातहत उपनिवेश। योरप हावी था, एशिया और अफरीका के महाद्वीप चूसे जाते थे। इस सदी के ज्यादातर हिस्से में अमेरिका दुनिया के घटना-प्रवाह से अलग रहा। लेकिन वह तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था और अपने वैभव और साधनों का निर्माण कर रहा था। योरप में इंग्लैण्ड अमीर, अभिमानी और पूंजीवाद का, खासकर पूंजीवाद के साम्राज्य-सम्बन्धी पहलू का, सन्तुष्ट अगुआ था।

पूंजीवादी उद्योग की तरक्की और उसके सब चीजों को हथियाने के स्वभाव ने बहुत जल्द मामला नाजुक कर दिया। विरोध और आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और आखीर में मजदूरों की रक्षा के लिए उनपर कुछ बन्दिशें लगाई गईं। बड़े-बड़े कारखानों में शुरुआत में मजदूरों का, खासकर स्त्रियों और बच्चों का, भयंकर शोषण होता था। स्त्रियों और बच्चों को मर्दों से ज्यादा नौकरियां दी जाती थीं, क्योंकि वे सस्ते पड़ते थे और उनसे कभी-कभी तन्दुरुस्ती को बिगाड़नेवाली और घिनौनी जगहों में १८ घण्टे काम लिया जाता था। आखिरकार राज्य ने दखल दिया और कानून बनाये गये। इन्हें 'फैक्टरी कानून' कहते हैं और इनमें इस बात की व्यवस्था रक्खी गई है कि मजदूरों के घण्टे परिमित कर दिये जायें और कारखानों की परिस्थिति बेहतर बनाई जाय। इन कानूनों के जरिये स्त्रियों और बच्चों की

हिफाजत खास तौर से की गई, लेकिन इनको मंजूर कराने में बहुत मुश्किल हुई और बहुत वक्त लगा, क्योंकि कारखाने के मालिकों ने इनका जोरदार विरोध किया।

पूंजीवादी उद्योग ने साम्यवादी और समाजवादी विचार भी पैदा कर दिये। इन विचारों ने नये उद्योगों को स्वीकार किया, लेकिन पूंजीवाद की बुनियाद को चुनौती दी। मजदूरों की संस्थायें, ट्रेडयूनियन और अन्तर्राष्ट्रीय जमातें तरक्की करने लगीं।

पूंजीवाद से साम्राज्यवाद पैदा हुआ और पश्चिमी पूंजीवादी उद्योग के धक्के से पूर्वी देशों का बहुत दिनों से चला आनेवाला आर्थिक संगठन तहस-नहस होगया। इन पूर्वी देशों में भी आहिस्ता-आहिस्ता पूंजीवादी उद्योग जड़ पकड़ गया और बढ़ने लगा। इन देशों में पश्चिम के साम्राज्यवाद को चुनौती के रूप में राष्ट्रीयता भी पैदा होगई।

इस तरह पूंजीवाद ने दुनिया को हिला दिया। और हालांकि इसकी वजह से आदमियों को भयंकर तकलीफें हुईं, लेकिन आम तौर पर यह प्रणाली फायदेमन्द रही—कम-से-कम पश्चिम के लिए तो जरूर। इसके साथ-साथ भौतिक चीजों में बहुत तरक्की हुई और मनुष्य के कल्याण का आदर्श बहुत ऊँचा उठ गया। साधारण आदमी इतना महत्वपूर्ण होगया जितना वह पहले कभी नहीं समझा जाता था। अमली तौर पर तो उसे किसी चीज में भी कहने-सुनने या दखल देने का हक नहीं था, यद्यपि वोट देने का हक मिला था, लेकिन सिद्धान्त-रूप से राज्य में उसकी हैसियत बढ़ गई और इसके साथ-साथ उसमें आत्म-सम्मान की भावना भी बढ़ी। यह बात पश्चिमी देशों के लिए सही कही जा सकती है, जहाँ पूंजीवादी उद्योग ने जड़ पकड़ ली थी। ज्ञान का बहुत बड़ा संग्रह होगया, और विज्ञान ने अद्भुत बातें करके दिखा दीं। इसकी मदद से बनी हुई हजारों चीजों ने हरेक आदमी की जिन्दगी में बहुत-सी आसानियाँ पैदा करदीं। औषधियों ने, खासकर औषधि-विज्ञान के उस हिस्से ने जिससे बीमारियों की बाढ़ रोकी जाती है, और सफाई ने बहुत-सी बीमारियों की जड़ काटना और उनका शमन करना शुरू कर दिया, जिनकी वजह से आदमी की जिन्दगी आफत में रहा करती थी—जैसे मलेरिया के पैदा होने का कारण और उसकी दवा मालूम की गई और अब इसमें जरा भी शक नहीं रह गया है कि अगर मुनासिब कार्रवाई की जाय तो यह रोग किसी भी क्षेत्र से मिटाया जा सकता है। मलेरिया अभीतक जारी है और हिन्दुस्तान में और दूसरी जगहों पर लाखों आदमी इसके शिकार होते हैं; लेकिन यह विज्ञान का दोष नहीं, दोष है लापरवाह सरकार और जाहिल जनता का।

शायद इस सदी का सबसे उल्लेखनीय पहलू यह था कि दूसरे देशों को माल भेजने और आमदरफ़्त के साधनों में बहुत तरक्की हुई। रेल, भाप के जहाज, तार और मोटरगाड़ियों ने दुनिया को बिलकुल बदल दिया और दुनिया को इनसान के लिए ऐसी चीज बना दी जो वह कभी भी नहीं थी। दुनिया सिकुड़ गई और उसमें रहनेवाले एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक आगये। वे एक-दूसरे के बारे में ज्यादा जानने लगे और अज्ञान की वजह से जो अनेक टट्टियां खड़ी थीं वे टूट गईं। व्यापक विचार फैलने लगे, जिनकी वजह से सारी दुनिया में किसी कदर समानता आगई। इस युग के आख़ीर में बेतार का तार और हवाई जहाज पैदा हुए। ये चीजें अब बहुत मामूली होगई हैं। तुम कई दफ़ा हवाई जहाज में बैठ चुकी हो और तुमने उसके बारे में बग़ैर कोई ख़ास विचार किये उनपर सफर किये हैं। बेतार के तार और हवाई जहाज की तरक्की बीसवीं सदी और हमारे जमाने में हुई। लोग अकसर बैलून में बैठकर उड़े थे, लेकिन अलिफ़लैला की उड़नेवाली परी और हिन्दुस्तानी कहानियों के उड़नखटोलों के अलावा कोई भी हवा से वज़नी चीज पर बैठकर नहीं उड़ा था। विल्बर और ऑरविल राइट नामके दो भाई, जो अमेरिकन थे, पहले लोग थे जो हवा से वज़नी मशीन पर बैठकर उड़ने में कामयाब हुए। इसी मशीन को मौजूदा हवाई जहाज की जन्मदात्री समझना चाहिए। दिसम्बर १९०३ ई० में वे ३०० गज से भी कम उड़े थे। लेकिन फिर भी इन्होंने ऐसी बात करली थी, जो पहले कभी नहीं हुई थी। इसके बाद उड़ने में बराबर तरक्की होती रही और मुझे याद है कि जब १९०९ ई० में फ्रान्सीसी ब्लेरियट फ़्रान्स से इंगलिश चैनल पार करके इंग्लैंड तक उड़ आया था, तो बड़ा तहलका मचा था। इसके बाद ही मैंने देखा कि पेरिस में एफ़िल टावर पर पहला हवाई जहाज उड़ा, और उसके बहुत साल बाद सन् १९२७ में हम और तुम पेरिस में मौजूद थे, जब चार्ल्स लिण्डबर्ग अकेले ही और बिना रुके उड़ता हुआ एटलांटिक पार करके आया और पेरिस के एरोड्रम यानी हवाई जहाज के स्टेशन ली बूर्जे में उतरा।

गिराने और उनसे आगे निकल जाने की कोशिश करता है। सहकारिता का ढंग आपस का सहयोग है। तुमने बहुत-से कोआपरेटिव स्टोर (सहयुक्त भण्डार) देखे होंगे। कोआपरेटिव यानी सहकारिता का आन्दोलन योरप में उन्नीसवी सदी में खूब बढा। शायद डेनमार्क के छोटे देश में इसकी कामयाबी सबसे ज्यादा हुई।

राजनैतिक क्षेत्र मे लोकतन्त्र के विचार बढे और अपनी पार्लमेण्टो और असेम्बलियो के लिए सदस्यो को चुनने में वोट देने का हक ज्यादा आदमियो को मिल गया। लेकिन यह मताधिकार सिर्फ मर्दो को ही मिला। स्त्रियाँ, चाहे वे कितनी ही काबिल हो, इस अधिकार के लिए काफी बुद्धिमान और उपयुक्त नही समझी जाती थी। बहुत-सी स्त्रियो ने इसका विरोध किया और बीसवी सदी की शुरुआत में उन्होने इंग्लैण्ड में बहुत बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दिया। इस आन्दोलन को 'सफरेज' अर्थात् स्त्रियो के मताधिकार का आन्दोलन कहते थे। और चूकि मर्दो ने इस आन्दोलन पर कोई ध्यान नही दिया और इसे गम्भीरतापूर्वक नही लिया, इसलिए स्त्रियो ने जबरदस्ती और उद्दण्डता का रास्ता पकड़ा, ताकि लोगो का ध्यान इसकी तरफ खिचे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की कार्रवाई में झगड़ा करके ये लोग विघ्न डाल देती थी और ब्रिटिश मत्रि-मण्डल के मन्त्रियो पर चोट पहुँचाने के लिए हमले करती थी, जिसके कारण इन मन्त्रियो को बराबर पुलिस के सरक्षण म रहना पड़ता था। बडे पैमाने पर संगठित उद्दण्डता और हिंसा भी हुई। बहुत-सी स्त्रियाँ जेल भेज दी गई। वहाँ पहुँचकर उन्होने भूख-हड़ताल शुरू की। इसपर उन्हे छोड़ दिया गया। फिर ज्योही वे अच्छी हो जाती, उनको जेल भेज दिया जाता था। पार्लमेण्ट ने इस काम के लिए एक खास कानून बनाया था, जिसे लोग 'बिल्ली और चूहे का कानून' कहते थे। आन्दोलन करनेवालियो का यह ढग इस बात में जरूर सफल रहा कि लोगो का ध्यान इस ओर खिच गया। इसके कुछ वर्षो बाद महायुद्ध शुरू हुआ और स्त्रियो का वोट देने का हक मंजूर कर लिया गया।

स्त्रियो का यह आन्दोलन, जिसे फेमिनिस्ट आन्दोलन कहते है, सिर्फ वोट माँगने तक ही परिमित नही था। माँग यह थी कि उनको हरेक बात में पुरुषो से बराबरी का हक मिले। पश्चिम में अभी हाल तक स्त्रियो की हालत बहुत खराब थी; उनके कोई अख्तियारात नही थे। अग्रेज स्त्रियो को कानून में यह हक नहीं मिला था कि अपने नाम से जायदाद रख सके। सारी जायदाद, स्त्री की कमाई की भी, पति को मिल जाती थी। इस तरह कानूनी तौर से इन लोगो की आज की हिन्दू स्त्रियो से भी, जिनकी हालत काफी बुरी है, बुरी हालत थी। पश्चिम में स्त्रियों की जाति को पराधीन समझा जाता था, जैसे बहुत-सी बातो में आज हिन्दुस्तानी स्त्रियाँ समझी जाती है। वोट के लिए आन्दोलन शुरू होने के बहुत पहले स्त्रियो ने

और वातों में पुरुषों के साथ वरावरी के वर्ताव के लिए माँग पेश की थी। आख़िरकार १८८० और ९० के वीच में इंग्लैण्ड में जायदाद की मिलकियत का कुछ हक स्त्रियों को मिला। स्त्रियाँ इस एक वात में एक हद तक इसलिए सफल रहीं कि कारख़ाने वाले इस वात को पसन्द करते थे। उनका ख़याल था कि अगर औरतों को अपनी कमाई अपने पास रखने का हक मिल जायगा तो कारख़ानों में काम करने के लिए उनको प्रोत्साहन मिलेगा।

हरेक तरफ़ हम वडी-वडी तब्दीलियाँ देखते हैं, लेकिन शासन-प्रणाली में कोई तब्दीली नहीं आई। वडी-वडी शक्तियाँ दगावाजी और चालवाजी के ढंग पर चलती रहीं और वहुत दिन हुए फ़्लोरेंस के रहनेवाले मैक्यावली ने जो रास्ता वताया था, या १८०० वर्ष पहले हिन्दुस्तानी मंत्री चाणक्य ने जो मार्ग दिखाया था, उसीपर चलती रहीं। इनमें वरावर लाग-डाँट और प्रतिद्वन्द्विता होती रहती थी। गुप्त रूप से समझौते और सुलहनामे होते थे, और हरेक ताकत हमेशा ऐसी वात की कोशिश करती रहती थी कि दूसरे से आगे वढ़ जाय। योरप, जैसा हमने देखा है, ज़वरदस्त और उग्र रहा और एशिया निष्क्रिय। संसार की राजनीति में औरों के मुकाविले में अमेरिका का हिस्सा वहुत थोड़ा रहा, क्योंकि वह अपनी ही झंझटों में फँसा हुआ था।

राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ 'हमारा देश, गलत या सही' का भाव वढ़ा। राष्ट्रों ने ऐसी वातों पर अभिमान करना शुरू किया जो अगर कोई व्यक्ति करता तो वुरा और दुष्ट समझा जाता। इस तरह से व्यक्तियों की और राष्ट्रों की नीति में एक अजीव विषमता पैदा होगई। दोनों में वहुत वड़ा फ़र्क आगया और जो वातें किसी व्यक्ति के लिए ख़राव समझी जाती थीं वही राष्ट्रों के लिए अच्छी समझी जाने लगीं। किसी व्यक्ति, पुरुष या स्त्री के लिए स्वार्थी, लालची, अभिमानी और ओछापन विलकुल वुरा और असह्य समझा जाता था; लेकिन वड़े-वड़े समूहों यानी राष्ट्रों के लिए देशभक्ति की आड़ में इन्हीं वातों की तारीफ़ होती थी और इन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था, जैसे कि हम आज हिन्दुस्तान में देखते हैं कि साम्प्रदायिक मामलों में कितनी उद्दण्डता, स्वार्थ और ओछापन पाया जाता है। किसी व्यक्ति में अगर ये वातें हों, तो कोई वर्दाश्त न करेगा। लेकिन अगर वड़ा समूह या वड़े राष्ट्र एक-दूसरे को क़त्ल करना भी शुरू करते हैं तो क़ाविले तारीफ़ वात समझी जाती है। हाल के एक लेखक ने लिखा है और सही लिखा है कि "सभ्यता एक प्रकार का साधन है, जिसमें व्यक्ति अपने दोषों को अधिकाधिक वड़े समूहों और वर्गों को देता जाता है।"

इस वात को यहीं ख़त्म कर देना चाहिए, लेकिन यह कहानी तो दूसरे रूप में भी जारी रहेगी।

: १४८ :

महायुद्ध की शुरुआत

२३ मार्च, १९३३

मैंने अपना पिछला खत तुम्हे इस बात को बताते हुए खत्म किया था कि राष्ट्र एक-दूसरे के साथ व्यवहार करने मे कितने अनैतिक और कुटिल थे। जहाँ भी मुमकिन था, वे एक-दूसरे के साथ कटु और असहिष्णुता का वर्ताव करना अपनी आजादी का चिन्ह समझते थे। कोई शक्ति ऐसी नही थी जो उनसे कहती कि तुम एक-दूसरे पर विश्वास करो, क्योंकि वे कहते थे कि हम आजाद है और हम अपने मामलो में दूसरो की दस्तन्दाजी कैसे पसन्द कर सकते है? उनकी हरकतो पर अगर कोई बन्दिश हो सकती थी तो वह नतीजे का डर था। इसलिए मजबूतो की किसी हद तक इज्जत होती थी और कमजोरो को धमकाया जाता था।

असल में यह राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता या लाग-डाँट पूँजीवादी उद्योग की तरक्की का अनिवार्य परिणाम थी। हम यह तो देख ही चुके है कि बाजार और कच्चे माल की बढती हुई माँग के कारण पूजीवादी शक्तियाँ साम्राज्य के लिए दुनिया के चारो ओर घुड़दौड़ कर रही थी। ये शक्तियाँ एशिया और अफरीका पर पिल पडी और जितनी जमीन इन्हे मिल सकी, शोषण करने के लिए, उसपर कब्जा कर लिया। जब वे पृथ्वीभर में फैल चुकी और फैलने को दूसरी जगह नही रह गई, तो ये साम्राज्यवादी शक्तियाँ एक-दूसरे को घूरने लगी और एक-दूसरे के मातहत देश पर लालचभरी निगाह डालने लगी। एशिया, अफरीका और योरप में इन शक्तियो के दरमियान अकसर मुठभेड़ होजाती थी, और क्रोधाग्नि भभक उठती थी। इनमें से कुछ शक्तियाँ दूसरो से बेहतर हालत में थी और इग्लैण्ड तो, जो उद्योग में सबसे आगे था और जिसका साम्राज्य बहुत विस्तृत था, सबसे ज्यादा भाग्यवान मालूम पडता था। लेकिन इंग्लैण्ड भी सन्तुष्ट नही था, क्योंकि जितना ही ज्यादा जिसके पास होता है उतना ही ज्यादा वह और चाहता है। इग्लैण्ड के 'साम्राज्य-निर्माताओ' के दिमाग में ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाने की लम्बी-चौडी योजनायें चक्कर लगाया करती थी। वे चाहते थे कि अफरीका में उनका अखण्ड साम्राज्य काहरा से केप तक, उत्तर से दक्षिण तक का, कायम होजाय। उद्योग में सयुक्तराष्ट्र और जर्मनी की लागडाँट से भी इग्लैण्ड परेशान था। ये देश औद्योगिक माल इंग्लैण्ड से सस्ता बना रहे थे और इंग्लैण्ड के बाजारो पर कब्जा करते जाते थे।

जब भाग्यवान इंग्लैण्ड ही सतुष्ट नहीं था तो दूसरो का तो और भी ज्यादा

असन्तुष्ट होना लाजिमी था। खासकर जर्मनी बहुत असन्तुष्ट था। इसकी गिनती बड़ी शक्तियों में कुछ देरी से हुई थी और इसने देखा कि बढ़िया-बढ़िया फल हाथ से निकल गये। विज्ञान, शिक्षा और उद्योग में इसने बहुत बड़ी तरक्की की थी और साथ ही बहुत बड़ी फौज भी जमा करली थी। मजदूरों से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक सुधार के कानूनों में भी यह और देशों से, जिनमें इँग्लैण्ड भी शामिल था, आगे था। जब जर्मनी सामने आया, दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियाँ पृथ्वी पर बहुत हद तक कब्जा जमा चुकी थीं और शोषण की गुंजाइश परिमित थी। फिर भी सख्त मेहनत और आत्मानुशासन से जर्मनी उद्योगवाद और पूँजीवाद के युग की सबसे मजबूत और सबसे ज्यादा कुशल ताकत बन गया। इसके व्यापारी जहाज हरेक बन्दरगाह में दिखाई देते थे और इसके अपने बन्दरगाह हैम्बर्ग और ब्रीमेन दुनिया के सबसे बड़े बन्दरगाहों में समझे जाते थे। जर्मनी के व्यापारिक बेड़े सिर्फ जर्मनी का ही माल दूर देशों को नहीं ले जाते थे, बल्कि इन्होंने और देशों के माल ले जाने के काम पर भी कब्जा कर लिया था।

कोई ताज्जुब नहीं कि यह नया साम्राज्यवादी जर्मनी इस सफलता को पालेने बाद और अपनी शक्ति को समझते हुए अपनी और ज्यादा बढ़ती के रास्ते की रुकावटों पर दाँत किटकिटाकर रह जाता था। प्रशा जर्मन साम्राज्य का अगुआ था और प्रशा के जमींदार और सैनिक वर्ग, जिनके हाथ में ताकत थी, अपनी नम्रता के लिए कभी भी मशहूर नहीं रहे। ये लोग उग्र थे और इस बात का इन्हें फख्र था कि हम निर्दयता के साथ उग्र हैं। इस उद्धत अकड़ और शेखी की भावना का आदर्श नेता इन्हें हायनजालर्न वंश के अपने सम्राट् कैसर विल्हेल्म द्वितीय के रूप में मिल गया। कैसर इस बात की इधर-उधर घोषणा करता रहता था कि जर्मनी दुनिया का लीडर होनेवाला है; उसे पृथ्वी पर स्थान मिलना चाहिए, उसका भविष्य सामुद्रिक ताकत पर निर्भर है और उसका उद्देश्य सारी दुनिया में अपनी संस्कृति (Culture) का प्रचार करना है।

ये सब बातें इसके पहले भी और लोग और दूसरी कौमें कह चुकी थीं। इंग्लैंड का 'गोरे का कर्तव्य' (White Man's Burden) और फ्रांस का 'सभ्यता सिखाने का धर्म' (Civilization Mission) और जर्मनी की संस्कृति (Kulture) को एक ही थैली के चट्टे-बट्टे समझना चाहिए। इंग्लैंड का दावा था कि वह समुद्री ताकत में सबसे बढ़ा-चढ़ा है और उसका यह दावा असल में ठीक भी था। कैसर जर्मनी के बारे में भी वे ही बातें कहता था जो अनेक अंग्रेज इंग्लैण्ड के बारे में पहले कह चुके थे। लेकिन कैसर भद्दे तरीके से और शेखी के साथ कहता था। फर्क इतना था कि इंग्लैण्ड का

समुद्रो पर कब्जा था, जर्मनी का नही। इसपर भी कैसर के हेकडी से भरे भाषण अंग्रेजो को बहुत बुरे लगते थे। इस बात का खयाल तक कि कोई दूसरी कौम दुनिया की प्रमुख कौम बनने का विचार करे, अंग्रेजो को बहुत नागवार मालूम होता था। ऐसा सोचना एक किस्म का कुफ्र था, इंग्लैण्ड पर आक्रमण था, जो अपनेको सब कौमो का अगुआ समझता था। समुद्र तो, सौ बरस पहले ट्रैफलगार में नेपोलियन की हार के बाद, इंग्लैण्ड का इजारा समझा जाता था। इसलिए अंग्रेजो को यह बात बहुत नामुनासिब मालूम होती थी कि जर्मनी या कोई दूसरी कौम उसको चुनौती दे। अगर ब्रिटेन समुद्र पर मजबूत न रहा, तो उसके दूर-दूर बिखरे हुए साम्राज्य की क्या दशा होगी ?

कैसर की चुनौती और धमकियाँ तो काफी बुरी थी, लेकिन इससे बदतर बात यह थी कि उसने इन धमकियो के बाद ही अपनी जल-सेना बढा दी। इस बात से अंग्रेजो का मिजाज बिगड़ गया और इन लोगो ने भी अपनी जल-सेना को बढ़ाना शुरू कर दिया। इस तरह इन दोनो में एक तरह की घुड़दौड़ शुरू होगई। दोनो देशो के अखबारो ने एक जोरदार आन्दोलन जारी कर दिया, जिसमें जंगी जहाज बढ़ाने की चीख मचाई गई और राष्ट्रीय विद्वेष की आग को बराबर भड़काया जाने लगा।

योरप में यह एक खतरे का हलका था। इसके अलावा कई और भी खतरे के हलके थे। फ्रांस और जर्मनी तो पुराने दुश्मन थे ही। १८७० की हार की कटु स्मृति फ्रासीसियो के दिलो में बराबर चुभती रहती थी और वे बदला लेने का सपना देखते थे। बालकन तो हमेशा ही बारूद का एक-गोला था, जहाँ अनेक स्वार्थ आकर एक-दूसरे से टकराते थे। पश्चिमी एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए जर्मनी ने भी टर्की से दोस्ती शुरू करदी। यह तजवीज की गई कि एक रेलवे बगदाद तक बनाई जाय और इस शहर को कुस्तुनतुनिया और योरप से जोड़ दिया जाय। यह तजवीज बहुत मुनासिब थी, लेकिन चूंकि जर्मनी इस बगदाद रेलवे को अपने हाथ में रखना चाहता था इसलिए राष्ट्रीय विद्वेष पैदा होगया।

धीरे-धीरे योरप में युद्ध का डर छा गया और आत्म-रक्षा के लिए शक्तियो ने अपने-अपने गुट्ट बनाने शुरू किये। बडी-बडी ताकते दो दलो में बँट गई। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का त्रिगुट्ट (Triple Alliance) एक तरफ था और इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस का त्रिगुट्ट (Triple Entante) दूसरी तरफ था। इटली पहले त्रिगुट्ट का एक उदासीन सदस्य था और वाकया तो यह है कि लड़ाई होने पर उसने अपने वचन को तोड़कर दूसरे पक्ष का साथ दिया। आस्ट्रिया एक जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य था, नक्शे में बड़ा दीखता था, लेकिन परस्पर-विरोधी तत्त्वो से परिपूर्ण था। सुन्दर वियेना

इसकी राजधानी थी। यह संगीत, कला और विज्ञान का केन्द्र भी था। इसलिए असल में पहले त्रिगुट्ट में सिर्फ जर्मनी ही था। लेकिन यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि परीक्षा का दिन आने के पहले कौन कह सकता था कि इटली और आस्ट्रिया की क्या सूरत होगी ?

इस तरह योरप में भय का राज्य होगया था और भय बहुत भयंकर चीज होती है। हरेक देश युद्ध की तैयारी करने लगा और अधिक-से-अधिक युद्ध की सामग्री इकट्ठी करने लगा। शस्त्रीकरण की दौड़ शुरू होगई। इस शस्त्रीकरण में सबसे अजीब बात यह है कि जब एक देश अपनी सेना बढ़ावे तब दूसरे देशों को भी मजबूरन बढ़ानी पड़ती है। बड़े-बड़े निजी कारखाने, जो तोप, जंगी जहाज, गोली-बारूद तथा युद्ध की और चीजें बनाते थे, मुनाफे में रहे और खूब मोटे होगये। ये लोग एक कदम और आगे बढ़ गये। इन्होंने युद्ध का भय फैलाना शुरू कर दिया, ताकि उससे प्रभावित होकर कौमें इनसे हथियार खरीदें। युद्ध-सामग्री के ये कारखाने बहुत दौलतमन्द और ताकतवर थे, और इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और दूसरे मुल्कों के अनेक बड़े अफसर और मंत्री इनके हिस्सेदार थे। इसलिए इनकी तरक्की में इन लोगों का भी स्वार्थ था। युद्ध-सामग्री के कारखाने तभी तरक्की होते हैं जब लड़ाई का भय हो या लड़ाई छिड़ जाय। इसलिए आश्चर्यजनक स्थिति यह थी कि अनेक सरकारों के मंत्री और सरकारी अफसरों का लड़ाई करने में खासी फायदा था। इन कारखानों ने अनेक देशों में युद्ध का खर्च बढ़ाने के लिए बहुत-सी दूसरी तरकीबें भी कीं। इन्होंने जनता के मत पर असर डालने के लिए अखबार निकाले, अक्सर सरकारी अफसरों को रिश्वतें दीं और लोगों को भड़काने के लिए गलत खबरें फैलाईं। युद्ध-सामग्री का व्यवसाय भी क्या ही भयंकर चीज है! दूसरों की मौत से इसकी जिन्दगी है। युद्ध की बीभत्सता पैदा करने में इसे जरा भी संकोच नहीं होता, बल्कि उसे यह प्रोत्साहन देता है, ताकि उससे मुनाफा कमा सके। १९१४ ई० के महायुद्ध को जल्द लाने में इस व्यवसाय ने भी कुछ मदद की। आज भी यह अपनी पुरानी चाल चल रहा है।

मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि इधर लड़ाई की बातचीत हो रही थी और उधर सुलह की एक अजीब कोशिश जारी थी। ताज्जुब है कि रूस के जार निकोलस द्वितीय ने आगे बढ़कर शक्तियों के सामने यह तजवीज पेश की कि सब इकट्ठा होकर सार्वभौम शान्ति का युग शुरू करें। यह वही जार था, जो अपने साम्राज्य में हरेक उदार आन्दोलन को कुचलता रहता था और अपने कैदियों से साइबेरिया को आबाद कर रहा था। यह तो मजाक-सा मालूम होता है कि यह शान्ति की बातचीत करे। लेकिन शायद यह सच्चे दिल से शान्ति की कोशिश कर

रहा होगा, क्योंकि उनके लिए शान्ति का मतलब था मौजूदा स्थिति का सदा के लिए बना रहना और उसकी निरकुशता का कायम रहना। उसके निमंत्रण पर हालैण्ड के हेग शहर में दो शान्ति-परिषदें, एक १८९९ में और दूसरी १९०७ मे, हुई। इन परिषदो में कोई भी महत्त्व की वात नही हुई। शान्ति आसमान से तो एकदम नही टपक सकती। वह तो तभी आसकती है जव झगडो की जड़ हट जाय।

मैंने तुम्हे वडी शक्तियो की आपस की लागडांट और भय के वारे में वहुत कुछ वताया है। गरीव छोटी कौमो को कोई नही पूछता, सिवा उस समय के जवकि वे शरारत करने लगती है। योरप के उत्तर में कुछ छोटे देश ध्यान देने योग्य है, क्योंकि वे इन लालची और लोलुप वडी शक्तियो से बिलकुल मुख्तलिफ है। स्कैण्डीनेविया में नार्वे और स्वीडन है और उनके नीचे डेनमार्क है। ये देश आर्कटिक क्षेत्र से वहुत दूर नही है। ये वहुत ठडे मुल्क है और इनमें रहना वहुत कठिन है। इनमें सिर्फ छोटी आवादी की परवरिश होसकती है। लेकिन चूंकि ये देश वडी शक्तियो के द्वेष और नफरत और लागडांट के दायरे से वाहर है, इसलिए अपनी जिन्दगी शान्ति और सुलह के साथ विताते है और अपनी ताकत सभ्य तरीके से खर्च करते है। वहाँ विज्ञान खूब फलता-फलता है और वहुत अच्छा साहित्य पैदा हुआ है। १९०५ ई० तक नार्वे और स्वीडन मिले हुए थे और एक राज्य थे। इस साल नार्वे ने जुदा हो जाने का और अपना जीवन अलग विताने का निश्चय किया। इस तरह इन दो देशो ने शान्तिपूर्वक अपना सम्वन्ध तोड़ने का निश्चय कर लिया और उस समय से ये दो अलग आज़ाद राज्य रहे है। कोई लड़ाई नहीं हुई और न एक मुल्क ने दूसरे को मजबूर किया। दोनो स्नेही पडोसी की तरह मित्र-भाव से रह रहे है।

नन्हे-से डेनमार्क ने वडी कौमो के सामने अपनी जल और स्थल सेना को तोड़कर एक उदाहरण पेश कर दिया है। यह किसानो का देश है—छोटे-छोटे खेतिहरों का, जहाँ अमीर और गरीव में ज्यादा फ़र्क नहीं। इस समता (Equalisation) की ज्यादातर वजह यह है कि सहकारिता का आन्दोलन यहाँ खूव वढ़ा है।

लेकिन योरप के सव छोटे मुल्क डेनमार्क की तरह शराफत के पुतले नही है। हालैण्ड खुद तो छोटा है, लेकिन ईस्टइडीज में (जावा, सुमात्रा में) वहुत वडे साम्राज्य पर कव्ज़ा रखता है। इसके वाद वेलजियम है, जो अफरीका में कागो को चूसता रहता है। यूरोपियन राजनीति में इसका महत्व असल में इसकी स्थिति की विना पर है। यह देश फ़्रास और जर्मनी के रास्ते पर है और इन दोनो देशो में युद्ध छिड़ने पर इस मुल्क का घिसट आना करीव-करीव निश्चित है। तुम्हे वाटरलू की याद होगी, जो वेलजियम में व्रसेल्स के पास है। इसी कारण से वेलजियम योरप का

अखाड़ा (cockpit) कहा गया है। खास-खास बड़ी शक्तियों ने यह समझौता किया था कि युद्ध छिड़ने पर वे बेलजियम की तटस्थता को मानेंगी। लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, जब लड़ाई छिडी, तब यह समझौता और वादा टुकडे-टुकडे होगया।

लेकिन योरप में, या यों कहो कि दूसरी जगहों में, सबसे खराब और परेशानी पैदा करनेवाली कौमें बालकन की हैं। जातियों और राष्ट्रों का यह चोंचों का मुरब्बा, जिसके पीछे पुश्तहापुश्त से द्वेष और लाग-डांट चली आ रही है, आपसी कशमकश और नफरत से भरा हुआ है। १९१२-१३ के बालकन-युद्ध गैरमामूली तरीके पर खूनी युद्ध थे और बहुत कम समय में और बहुत कम क्षेत्र में बहुत ज्यादा आदमी हताहत हुए थे। कहा जाता है कि शरणागत और भागते हुए तुर्कों पर बलगेरियन लोगों ने खौफनाक जुल्म किये थे। तुर्कों का खुद भी पुराना इतिहास खराब है। सर्बिया, जो अब यूगोस्लेविया का एक हिस्सा है, हत्या के लिए खूब बदनाम होगया था। अपनेको देशभक्त कहनेवालों के एक खुफिया हत्याकारी दल के एक गुट्ट ने, जिसे 'काला हाथ' (Black Hand) कहा जाता था और जिसमें राज्य के अनेक बडे-बडे अफसर भी शामिल थे, असाधारण रूप से खतरनाक कितने ही खून किये थे। देश के राजा और रानी, राजा अलेग्जेण्डर और महारानी ड्रेगा, महारानी के कई भाई, प्रधानमंत्री और कुछ और लोग बहुत बुरे तरीके से कत्ल कर दिये गये। यह सिर्फ महल तक महदूद एक क्रान्ति (Palace Revolution) थी। राजा के मरने पर उसकी जगह दूसरा आदमी राजा बना दिया गया।

इस तरह बीसवीं सदी का जब आरम्भ हुआ, योरप की हवा में बिजली की कड़क और चमक थी; और ज्यों-ज्यों दिन बीते, वातावरण अधिक तूफानी होता गया। पेचीदगियां और गुत्थियां बढने लगीं और योरप के जीवन के धागे में ज्यादा-से-ज्यादा गांठें पडने लगीं, जो आखीर में लड़ाई के जरिये ही कटनेवाली थीं। सब शक्तियां यह उम्मीद करती थीं कि लड़ाई छिड़ेगी और उनके लिए जोरों के साथ तैयारी करती थीं, लेकिन कोई भी युद्ध छेड़ने के लिए उत्सुक नहीं था। सब किसी-न-किसी हौलनाक लड़ाई से डरती थीं, क्योंकि कोई भी यकीनी तौर पर इस बात की पेशीनगोई नहीं कर सकता था कि लड़ाई का नतीजा क्या होगा। इसपर भी डर की वजह से सब राष्ट्र युद्ध की तरफ बढ़ते गये। जैसा मैंने तुमको बताया है, योरप के दोनों गुट्ट एक-दूसरे के खिलाफ बने रहे। इसी का नाम 'शक्तियों का समतोल' था; लेकिन यह बड़ा नाजुक समतोल था, जो जरा-से धक्के से बिगड़ जा सकता था। जापान का भी, गोकि वह योरप से दूर था और उसकी स्थानीय समस्याओं में उसे कोई ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, गुट्टबन्दी में और शक्तियों के इस समतोल के मामले में हाथ था,

क्योंकि वह इंग्लैण्ड का दोस्त था। इस दोस्ती का खास उद्देश यह था कि पूर्व में, खासकर हिन्दुस्तान में, ब्रिटेन के स्वार्थ सुरक्षित रहे। यह दोस्ती उस जमाने में कायम हुई थी, जब अंग्रेजो और रूसियो की लाग-डांट चल रही थी। और यद्यपि इग्लैण्ड और रूस अब एक ही तरफ थे फिर भी वह दोस्ती बनी हुई थी। सिर्फ अमेरिका ही एक ऐसा मुल्क था जो योरप की इस गुट्टबन्दी और समतौल-प्रणाली से दूर रहा।

१९१४ मे यह हालत थी। तुम्हे याद होगा कि इस मौके पर होमरूल बिल के बारे में इग्लैण्ड को आयर्लेण्ड में बडी परेशानी का सामना करना पड़ रहा था। अलस्टर बगावत के लिए उतारू था; वालण्टियर लोग उत्तर और दक्षिण दोनो जगह कवायद कर रहे थे और आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध की चर्चा हो रही थी। ऐसा हो सकता है कि जर्मन सरकार ने सोचा हो कि इंग्लैण्ड आयर्लैण्ड के झगडे में फँसा रहेगा और अगर कोई यूरोपियन युद्ध होगा तो वह दखल न देगा। लेकिन बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार अन्दर-ही-अन्दर फ़ास से वादा कर चुकी थी कि लड़ाई छिड़ने पर वह फ्रास का साथ देगी, हालाँकि यह बात लोगो को मालूम नही थी।

२८ जून १९१४—यह वह तारीख़ थी जिस दिन चिनगारी पैदा हुई और उसने आग भड़का दी। आर्च डयूक फ्रासिस फरडीनेण्ड आस्ट्रियन गद्दी का युवराज यानी वारिस था। वह बालकन में बोसनिया की राजधानी सेरावो गया था। जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, यह बोसनिया वही देश था जिसको आस्ट्रिया ने चन्द साल पहले, जब नौजवान तुर्क अपने सुलतान से छुटकारा पाने की कोशिश कर रहे थे, अपने राज्य में शामिल कर लिया था। आर्च ड्यूक और उसकी स्त्री, जो उसके पास ही बैठी थी, खुली गाडी में सड़क पर जा रहे थे। उनपर गोली चलाई गई और वह और उसकी स्त्री दोनो मर गये। आस्ट्रिया की सरकार और जनता दोनो गुस्से से पागल होगये और सर्बिया की सरकार पर यह इलजाम लगाया कि इसमें उसकी शिरकत थी (सर्बिया बोसनिया का पडोसी था)। सर्बिया की सरकार ने इस बात से इन्कार किया। बहुत दिन बाद इस बारे में तहकीकात करने से पता चला है कि यद्यपि सर्बिया की सरकार पर इस हत्या की जिम्मेदारी नही थी, पर यह बात भी नही है कि इसकी तैयारी का उसे पता न रहा हो। इस कत्ल की जिम्मेदारी ज्यादातर सर्बिया के 'काला-हाथ' नामी हत्यारे दल पर ही डालनी चाहिए।

आस्ट्रिया की सरकार ने कुछ तो गुस्से से और कुछ नीति के कारण सर्बिया के साथ बहुत ही सख़्ती का तर्जेअमल इख़्तियार किया। उसने तय कर लिया था कि सर्बिया को हमेशा के लिए जलील कर दिया जाय और किसी बडी लड़ाई छिड़ने की

हालत में वह जर्मनी की मदद का भरोसा करता था। इसलिए सर्विया ने जब माफी माँगी तो वह मंजूर नहीं की गई और २३ जुलाई १९१४ को आस्ट्रिया ने सर्विया के पास अपनी अन्तिम चुनौती (Ultimatum) भेज दी। पाँच दिन के बाद यानी २८ जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्विया के खिलाफ लड़ाई का ऐलान कर दिया।

आस्ट्रिया की नीति उन दिनों एक अभिमानी और बेवकूफ मंत्री के हाथ में थी, जो लड़ाई पर तुला हुआ था। बूढ़े सम्राट् फ्रांसिस जोजेफ (जो १८४८ से आस्ट्रिया के राजसिंहासन पर थे) इस नीति से सहमत कर लिये गये थे और जर्मनी की मदद की मामूली सी बातचीत के यह मानी लगाये गये कि उसने पूरे तौर से मदद करने का वादा किया है। वाकया तो यह है कि आस्ट्रिया के अलावा बड़ी ताकतों में कोई भी ताकत उस वक्त युद्ध के लिए उत्सुक नहीं थी। जर्मनी यद्यपि तैयार और झगडालू था, पर लड़ाई के लिए उत्सुक नहीं था। कैसर विल्हेल्म द्वितीय ने आधे मन से इस लड़ाई को रोकने की कोशिश भी की। इंग्लैण्ड और फ्रांस भी लड़ाई के लिए ज्यादा उत्सुक नहीं थे। रूसी सरकार का अर्थ था जार, और वह कमजोर और बेवकूफ आदमी था। उसने अपने चारों ओर अपनी तबीयत के मुआफिक बेवकूफ और बदमा लोगों को इकट्ठा कर रक्खा था, जो उसे कभी इस तरफ और कभी उस तर फिराते रहते थे। फिर भी इस आदमी के हाथ में लाखों की किस्मत थी। वह खु तो लड़ाई के खिलाफ था, लेकिन उसके सलाहकारों ने उसे डरवा दिया कि दे करने का नतीजा बुरा होगा और उसे इस बात पर राजी कर लिया कि फौज व लड़ाई के लिए तैयार किया जाय। 'तैयारी' का मतलब था फौज को लड़ने के लि बुलाना, और रूस ऐसे विस्तृत देश में इस काम में बहुत दिन लग जाते। जर्मनी हमले के डर से रूसी सेना की लड़ाई की तैयारी में तेजी आगई। सेना की तैया की, जो ३० जुलाई से शुरू हुई, खबर ने जर्मनी को डरा दिया और उसने य मतालबा किया कि रूस उसे रोक दे। लेकिन युद्ध की इस विशाल मशीन को अब कौ रोक सकता था? दो दिन बाद, १ अगस्त को, जर्मनी ने भी अपनी सेना तैयार करके रूस और फ्रांस के खिलाफ लड़ाई की घोषणा करदी; और फौरन ही विशाल जर्म सेनाओं ने फ्रांस जाने के लिए बेल्जियम पर धावा कर दिया, क्योंकि यह रास्ता आसान था। बेचारे बेल्जियम ने जर्मनी का कोई नुकसान नहीं किया था। लेकिन जब राष्ट्रों में मौत और जिन्दगी के लिए लड़ाई होती है तो वे इस किस्म की छोटी छोटी बातों और किये हुए वादों का लिहाज नहीं रखते। जर्मन सरकार ने बेल्जियम से इस बात की इजाजत मांगी थी कि वह अपने देश से उसकी फौज को जाने दे, लेकिन स्वभावतः यह प्रार्थना घृणापूर्वक नामंजूर करदी गई।

बेलजियम की तटस्थता के तोड़े जाने की वजह से इंग्लैण्ड मे और दूसरी जगहो पर भी बहुत शोर उठा और इग्लैण्ड ने तो इसी बात को जर्मनी के खिलाफ युद्ध छेड़ने की बुनियाद करार दिया। वाकया तो यह है कि इंग्लैण्ड ने इस बारे में अपना फैसला बहुत पहले ही कर लिया था। बेलजियम के सवाल का तो उसे एक अनुकूल बहाना मिल गया। अब तो यह भी पता चला है कि युद्ध के पहले के वर्षो में फ्रास ने भी यह योजना तैयार की थी कि जरूरत पड़ने पर वह जर्मनी पर चढ़ाई करने के लिए बेलजियम के रास्ते अपनी सेना ले जायगा। बहरहाल, इंग्लैण्ड ने सत्य और औचित्य का बहुत बडा सरक्षक होने का पाखण्ड किया, और जर्मनी के मुकाबिले में अपने को छोटी-छोटी कौमो का बहुत बड़ा हिमायती बताना चाहा। जर्मनी के ऊपर यह एतराज किया जाता था कि उसने अपने गम्भीर वादो और अहदनामो को रद्दी कागज का टुकडा समझा। ४ अगस्त की आधी रात को इग्लैण्ड ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई का ऐलान कर दिया, लेकिन उसने इतनी पेशबन्दी की थी कि किसी दुर्घटना को रोकने के लिए 'ब्रिटिश एक्सपीडेश्नरी फोर्स' (अग्रेजो की हमला करनेवाली सेना) को इग्लिश चैनल के पार एक दिन पहले ही रवाना कर दिया था। इसलिए हालाँकि दुनिया समझती थी कि इंग्लैण्ड के युद्ध मे शामिल होने का सवाल अनिश्चित है, मगर ब्रिटिश फौज योरप के प्रायद्वीप पर पहुँच चुकी थी।

बस अब आस्ट्रिया, रूस, जर्मनी, फ्रास और इंग्लैण्ड सबके सब युद्ध में फँस गये। और छोटा-सा सर्बिया तो था ही, जिसे इस लड़ाई का तात्कालिक कारण कहना चाहिए। आस्ट्रिया और जर्मनी का मददगार इटली क्या करेगा ? यह सवाल था; पर इटली अलग रहा। इटली इस बात को देखने लगा कि दोनो में किसकी तरफ जाने से फायदा होगा। इटली ने सौदा करना शुरू किया और आखिरकार छः महीने बाद निश्चित रूप से अपने पुराने मददगारो के खिलाफ फ्रास-इग्लैण्ड-रूसी पक्ष में शामिल होगया।

इस तरह १९१४ के अगस्त महीने की शुरुआत के दिनो में योरप की फौजें इकट्ठी हुई और आगे बढ़ी। ये फौजें क्या थी ? पुराने जमाने में फौज में पेशे वाले सिपाही हुआ करते थे। उस वक्त ये स्थायी फौजें हुआ करती थीं। फ्रेंच राजक्रांति से इस बारे में बहुत तब्दीली होगई थी। जब इस क्रान्ति को विदेशी हमले से खतरा हुआ तो साधारण नागरिको को भरती किया गया था और बहुत बडी तादाद में उनको कवायद सिखाई गई थी। उस जमाने के बाद से योरप का रुख यह हो गया था कि एक नयशुदा तादाद की पेशेवाली और स्वेच्छा से भरती हुई इन दोनो सेनाओ के बजाय 'अनिवार्य सेना' की भरती की जाय। अनिवार्य सैनिक सेवा

(Conscription) उसे कहते हैं जिसमें देश के शारीरिक दृष्टि से भरती के काबिल सब आदमी जबरदस्ती शामिल होने के लिए मजबूर किये जाते हैं। इसलिए जिस्मानी लिहाज से काबिल आदमियों की इस व्यापक सैनिक भरती को फ्रेंच क्रान्ति की उपज समझना चाहिए। यह प्रणाली योरप में सब जगह फैल गई और हरेक नौजवान को छावनी में रहकर दो वर्ष तक या इससे ज्यादा भी सैनिक शिक्षा लेनी पड़ती थी और बाद को जब हुक्म मिले तब उसे लड़ाई पर जाने के लिए आना पड़ता था। इस तरह लड़ाई में लगी हुई सेना का असल में अर्थ होता था राष्ट्र के समस्त नवयुवक। फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में यही दशा थी और इन देशों में सेना को तैयार करने का मतलब यह था कि दूर-दूर गाँवों और कस्बों में फैले हुए नौजवानों को उनके घरों से बुलाया जाय। इंग्लैण्ड में जब लड़ाई शुरू हुई तो इस तरह की अनिवार्य प्रणाली नहीं थी। अपनी जबरदस्त जल-सेना पर भरोसा करके इंग्लैण्ड ने अपनी स्थायी और ऐसी सेना को छोटी ही रक्खा था। लेकिन युद्ध के दौरान में इंग्लैण्ड ने भी और देशों की तरह अपनी नीति करली और सैनिक भरती को अनिवार्य कर दिया।

व्यापक सैनिक सेवा का मतलब यह था कि सारी कौम सशस्त्र लड़ाई के लिए तैयार थी। तैयारी के हुक्म का असर हरेक कस्बे, गाँव और कुटुम्ब पर पड़ा। योरप के ज्यादातर हिस्से पर अगस्त की शुरुआत के दिनों में जिन्दगी ठिठक कर रह गई और लाखों नौजवान अपना-अपना घर छोड़कर चल दिये और फिर कभी वापस न आसके। जहाँ देखो फौजें मार्च करती हुई दिखाई देती थीं, और सैनिकों की जय बोली जाती थी। देशभक्ति की भावना का जोर था। हृदय के तारों को लोगों ने सख्त बना लिया था। लोगों में किसी कदर हल्कापन भी था, क्योंकि उस वक्त लोग यह नहीं समझते थे कि आनेवाले सालों में कितनी भयंकरता है।

देशभक्ति के उत्साह में सभी बह गये। साम्यवादी, जो इतने जोरों के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें करते थे, और मार्क्सवादी भी, जो दुनियाभर के श्रमजीवियों के दुश्मन पूंजीवाद के खिलाफ एक होजाने की बात करते थे, देशभक्ति के आवेश में बह गये और पूंजीपतियों की इस लड़ाई में बड़े उत्साह से शामिल हुए। ऐसे थोड़े ही थे; जो अपनी जगह पर डटे रहे लेकिन लोग उनको नफरत की निगाह से देखते थे, उनको गालियां और अक्सर सजायें भी देते थे। बहुत-से लोग तो दुश्मन की नफरत से पागल होगये थे। अंग्रेज और जर्मन मजदूर एक-दूसरे की गर्दन पर थे और इन दोनों देशों के और लड़ाई में शामिल दूसरे देशों के विद्वान लोग, वैज्ञानिक और प्रोफेसर, एक-दूसरे को गालियां देते और एक-दूसरे के खिलाफ भद्दे-भद्दे और बीभत्स किस्सों का प्रचार कर रहे थे।

इस तरह लड़ाई आरम्भ होने पर उन्नीसवी सदी का युग खत्म हुआ। पश्चिमी सभ्यता के ज्ञान और शान्ति के साथ बहनेवाले प्रवाह को युद्ध की भँवर ने निगल लिया। पुरानी दुनिया हमेशा के लिए खत्म होगई और चार वर्ष से ज्यादा समय के बाद इस भँवर से एक नई चीज प्रकट हुई।

: १४७ :

हिन्दुस्तानः महायुद्ध शुरू होने के वक्त

२९ मार्च, १९३३

हिन्दुस्तान के बारे में तुम्हे लिखे हुए बहुत दिन होगये। इस विषय पर वापस आने और तुम्हे यह बताने का मुझे प्रलोभन हो रहा है कि महायुद्ध आरम्भ होने के समय हिन्दुस्तान की क्या दशा थी और मैंने इस प्रलोभन में आजाने का निश्चय भी कर लिया है।

कई लम्बी-लम्बी चिट्ठियो में हम लोग उन्नीसवी सदी के हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य और हिन्दुस्तान की जिन्दगी के कुछ पहलुओ पर अच्छी तरह विचार कर चुके है। इस युग का जोरदार पहलू यह था कि हिन्दुस्तान पर अंग्रेजो का अधिकार मजबूत किया गया और साथ-ही-साथ देश का शोषण हुआ। हिन्दुस्तान को तीन कब्जा करनेवाली फौजो ने दबोच रक्खा था——सशस्त्र सैनिक, व्यापारिक, और सिविल। जाहिर है कि सशस्त्र सैनिको में अंग्रेजी फौजें थी और अंग्रेज अफसरो की मातहती में हिन्दुस्तानी सिपाही थे, जो रुपये के लालच से भरती होते है। इसे विदेशी सेना कहना चाहिए, जो कि मुल्क के ऊपर कब्जा रखने के लिए रक्खी गई। लेकिन इससे ज्यादा जबरदस्त दबाव सिविल सर्विस का था, जिसे अत्यन्त केन्द्रित और निरंकुश नौकरशाही कहना चाहिए। तीसरी फौज व्यापारिक थी, जिसे इन दोनो से मदद मिलती थी। यह सबसे ज्यादा खतरनाक चीज थी, क्योकि देश का सबसे ज्यादा शोषण यह खुद करती थी या इसकी तरफ से होता था और देश को चूसने का इसका ढंग भी इतना प्रत्यक्ष नही था जितना कि दूसरी दोनो का था। बहुत दिनो तक, और कुछ हदतक आज भी, बड़े-बड़े प्रमुख हिन्दुस्तानी दो फौजो पर ज्यादा एतराज करते रहे है, और तीसरी को उन्होने इतना महत्व नही दिया।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का बराबर यह ध्येय रहा है कि स्थापित स्वार्थो (Vested interests) का एक वर्ग बनाया जाय। उन्होने खयाल किया कि यह वर्ग उन्हीका बनाया हुआ होगा, इसलिए उन्हींके भरोसे रहेगा और हिन्दुस्तान में

उनकी मदद करता रहेगा। इसी ख़याल से सामन्त राजाओं को मजबूत किया गया। बड़े जमींदारों और तालुकेदारों का वर्ग बनाया गया। और यह कहकर कि सरकार मजहबी मामलों में तटस्थ है, सामाजिक कट्टरता को प्रोत्साहन दिया गया। देश के शोषण में इस वर्ग का अपना स्वार्थ था। और सच तो यह है कि यह बिना इस शोषण के जिन्दा भी नहीं रह सकता था। सबसे बड़ा वर्ग जो हिन्दुस्तान में बनाया गया वह ब्रिटिश पूंजीपतियों का था।

एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ लार्ड सैलिसबरी ने, जो हिन्दुस्तान के सेक्रेटरी आफ स्टेट (भारत-सचिव) थे, एक वक्तव्य दिया था। वह अक्सर उद्धृत किया गया है और उससे स्थिति पर काफी रोशनी भी पड़ती है। मैं उसे यहां तुम्हारे सामने रखना चाहता हूं। लार्ड सैलिसबरी ने सन् १८७५ ई० में कहा था—"चूंकि हिन्दुस्तान का ख़ून निकालना जरूरी है, इसलिए नश्तर उस हिस्से में लगाना चाहिए जहां ख़ून ज्यादा है या, कम-से-कम, काफी है। नश्तर उन हिस्सों में न लगाना चाहिए जो ख़ून के अभाव से कमज़ोर होचुके है।"

हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों के कब्जे से और उस नीति के कारण जिसपर अंग्रेजों ने यहां अमल किया कई नतीजे निकले। कुछ ऐसे भी नतीजे निकले जिन्हें अंग्रेज पसन्द नहीं करते थे। लेकिन व्यक्ति अपने कामों के सारे नतीजों पर मुश्किल से अधिकार पा सकते हैं, और कौमों के लिए तो यह और भी मुश्किल होता है। अक्सर यह होता है कि कुछ कारगुजारियों की वजह से नई ताकतें पैदा होती हैं और वही ताकतें कारगुजारियों का विरोध करती हैं और उनपर विजय पा जाती हैं। साम्राज्यवाद से राष्ट्रीयता पैदा होती है। पूंजीवाद की वजह से कारखानों और मिलों में मजदूरों की बड़ी तादाद जमा हो जाती है, और मजदूरों की यह तादाद संगठित होकर पूंजीपतियों का मुकाबिला करती है। सरकार का दमन, जो किसी आन्दोलन को दबाने या राष्ट्र को पस्त करने के लिए शुरू किया जाता है, अक्सर उस राष्ट्र को पुष्ट कर देता है, उसे फौलाद की तरह मज़बूत बनाता है और अन्तिम विजय के लिए तैयार कर देता है।

हमने देखा है कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजों की व्यापारिक नीति के कारण गांवों की आबादी बढ़ गई। रोजगार न होने की वजह से ज्यादा-से-ज्यादा लोग शहरों से गांवों में जाने लगे, जिससे ज़मीन पर बोझ बढ़ा और किसानों के खेत छोटे होते गये। खेत इस हद तक छोटे हुए कि [illegible] "पैनुआरी" ([illegible]) होगये, यानी [illegible] जिनसे उनकी मामूली जरूरियात के लिए थोड़ी-सी आमदनी भी नहीं हो सकती। लेकिन किसानों के पास कोई दूसरा चारा नहीं

था। ये लोग अपनी गुजर-बसर तभी कर सकते थे जबकि कर्ज लेते जायँ। ब्रिटिश सरकार की जमीन-सम्बन्धी नीति ने स्थिति को बदतर कर दिया, खासकर ताल्लुकेदारी और बड़े-बड़े जमींदारी हल्कों में। इन हल्कों में, और उन हल्कों में भी जहाँ किसान जमीन का मालिक होता था, जमींदार का लगान न देने पर और सरकार की माल-गुजारी न अदा करने पर खेत का जोतनेवाला बेदखल कर दिया जाता था। इसकी वजह से, और इस कारण कि शहर से नये आनेवालों का जमीन पर बोझ बराबर बढता गया, गाँवों में मजदूरों का एक बड़ा वर्ग पैदा होगया, जिसके पास कोई जमीन नही थी। और, जैसा मैंने तुम्हे बताया है, अनेक भयकर अकाल भी पडे।

जमीन से वंचित यह बड़ा वर्ग खेती के लिए जमीन का भूखा था। लेकिन इतनी काफी जमीन नही थी कि सबको मिल सके। जमींदारों ने जमीन की इस माँग से फायदा उठाकर खेतों का लगान बढा दिया। लेकिन कुछ कानून ऐसे मौजूद थे जो किसानों की रक्षा के लिए बनाये गये थे और उनकी वजह से एकदम लगान को एक खास हद से ज्यादा बढ़ाना नामुमकिन था। लेकिन जमींदारों ने इस कठिनाई को कई तरीकों से सुलझा लिया और किस्म-किस्म के गैरकानूनी मतालबे वसूल किये जाने लगे। मुझे बताया गया था कि अवध की एक ताल्लुकेदारी रियासत में पचास किस्म के गैरकानूनी मतालबे वसूल होते थे। इनमें खास 'नजराना' था। यह वह रकम है जिसे किसान खेत लेते वक्त, शुरू मे, जमीदार या ताल्लुकेदार को देता है। गरीब किसान इतनी रकमें कहाँसे अदा करता? बनिये से उधार लेकर जब कर्ज चुकाने की कोई सम्भावना या शक्ति न दिखाई देती हो, उस वक्त कर्ज लेना बेवकूफी है; लेकिन गरीब किसान करे तो क्या करे? उसे कही से भी कोई उम्मीद नही दिखाई देती और उसे जोतने के लिए जमीन चाहिए ही। इसलिए निराशा में भी आशा रखते हुए वह सोचता है कि शायद भविष्य कुछ अच्छा हो। नतीजा यह होता है कि कर्ज लेने पर भी अकसर किसान जमींदारों की माँग पूरी नही कर सकता। वह खेत से बेदखल कर दिया जाता है और उन मजदूरों के गिरोह में शामिल होजाता है जिनके पास जमीन नही होती।

खेत के मालिक किसान, मामूली किसान, और बेजमीन के मजदूर, सभी बनिये के शिकार होते है। ये कर्ज से कभी छुटकारा पा ही नही सकते। जब कभी कुछ कमाते है, तो अदा कर देते है; लेकिन अदा की हुई उस रकम को सूद खा जाता है और पुराना मूलधन ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इस बात के लिए बनियों पर बहुत कम बन्दिशें पाई जाती है कि वे किसानों को न मूँड सकें। नतीजा यह होता है कि किसान लोग बनिये के गुलाम होकर रहते है। बेचारा किसान एक तरह से जमींदार और बनिया दोनों का गुलाम होता है।

जाहिर है कि इस क़िस्म की बात बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। एक वक़्त ऐसा आयगा जब किसान कोई भी रकम अदा करने में बिलकुल असमर्थ हो जायँगे। तब बनिये रुपया उधार देने से इनकार करेंगे और जमींदार भी कठिनाई में फँसे होंगे। यह ऐसी प्रणाली है कि जिसमें पतन और अस्थिरता के साफ-साफ चिन्ह दिखाई देते हैं। सारे देश में किसानों के झगडे और फ़साद, जो हाल में हो रहे हैं, इस बात को साबित करते हैं कि अब यह प्रणाली बिखर रही है और बहुत दिनों तक कायम न रह सकेगी। इस-उस जगह पैबन्द लगाने से यह प्रणाली बच नहीं सकती; क्योंकि अब इसका जमाना जाता रहा है। जरूरत यह है कि जमीन के बारे में बिलकुल नई प्रथा चलाई जाय। दोष प्रथा का है, बनिये या जमींदार का नहीं।

मुझे डर है कि मैंने इस ख़त में उसी बात को दोहरा दिया जिसे मैंने एक दूसरे ढंग से पहले के ख़त में लिखा था। लेकिन मैं यह चाहता हूँ कि तुम समझो कि यही लाखों-करोडों दुखिया किसान हिन्दुस्तान हैं; मध्यम वर्ग के मुट्ठीभर आदमी नहीं, जो कि सामने आया करते हैं। मुझे अंदेशा है कि बहुत-से आदमी इसको भूल जाते हैं।

बेजमीन के बेदख़ल मजदूरों की बडी जमात की वजह से बडे-बडे कारख़ानों का चलना आसान होगया। क्योंकि ये कारख़ाने तभी चल सकते हैं, जब इनमें काम करने के लिए काफी आदमी मिल सकें (और काफी से ज्यादा भी)। जिस आदमी के पास जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा भी है, वह उसे नहीं छोड़ना चाहता। इसलिए कारख़ाना चलाने के लिए यह जरूरी है कि बेकार और बेजमीन लोगों की काफी तादाद हो। ये लोग जितने ज्यादा होंगे, मिल-मालिकों के लिए इस बात में उतनी ही ज्यादा आसानी होगी कि मजदूरी घटाकर इनको अपने कब्ज़े में रख सकें। इसीलिए मैंने ऊपर कहा है कि काफी से ज्यादा होने चाहिएँ।

मेरा ख़याल है, मैंने तुमको बताया है कि इसी जमाने में एक नया मध्यमवर्ग धीरे-धीरे हिन्दुस्तान में पैदा हुआ और कुछ पूंजी कारबार में लगाने के लिए इकट्ठी की। इस तरह चूंकि पैसा था और मजदूर थे, कारख़ाने पैदा होगये। लेकिन हिन्दुस्तान में ज्यादातर पूंजी जो लगी है, विदेशी (अंग्रेजी) है। इन कारख़ानों को ब्रिटिश सरकार ने प्रोत्साहन नहीं दिया। ब्रिटिश सरकार की यह नीति थी कि हिन्दुस्तान को बिलकुल कृषक देश रखा जाय। वह इंग्लैण्ड को कच्चा माल दे और इंग्लैण्ड की बनी हुई चीज़ें खरीदे। ये कारख़ाने ब्रिटिश सरकार की इस नीति के विरुद्ध पड़ते थे। लेकिन स्थिति ऐसी थी, जैसा मैंने तुम्हें बताया है, कि बड़ी मशीनों ने हिन्दुस्तान में काम शुरू कर दिया था और ब्रिटिश सरकार आसानी से उसे रोक नहीं सकती थी। इस तरह सरकार के विरोध के बावजूद कारख़ाने बनते रहे। सरकारी विरोध खासि

करने का एक ढंग यह था कि हिन्दुस्तान में जो मशीनें आती थीं, उनपर टैक्स लगा दिया जाता था। दूसरा ढंग यह था कि सूत के माल पर, जो हिन्दुस्तान में बनता था, चुंगी लगाई गई थी। हिन्दुस्तान की कपडे की मिले जो कुछ माल बनाती थीं, उसपर यह टैक्स लगता था।

जमशेदजी नसरवानजी ताता हिन्दुस्तान के शुरू के औद्योगिको में सबसे बड़ा हुआ है। इसने बहुतसे उद्योग खोले, जिसमें सबसे बडा ताता आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का था, जो इसने बिहार में साक्ची में खोला था। यह उद्योग १९०७ ई० से शुरू हुआ और १९१२ से चलने लगा। लोहे का उद्योग 'बुनियादी' उद्योग समझा जाता है। आजकल लोहे के ऊपर इतनी चीजें निर्भर है कि जिस देश में लोहे का उद्योग नही, वह ज्यादातर दूसरो के भरोसे रहता है। ताता का लोहे का कारखाना एक बहुत बड़ा कारबार है। साक्ची का गाँव अब जमशेदपुर का शहर होगया और थोडी दूर पर जो रेलवे स्टेशन है उसको तातानगर कहते है। लोहे के कारखाने लड़ाई के जमाने में बहुत कीमती होजाते है, क्योकि ये युद्ध की सामग्री बना सकते है। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार के लिए बडी खुशकिस्मती की बात थी कि जब महायुद्ध शुरू हुआ, ताता का कारखाना चल रहा था।

हिन्दुस्तानी कारखानो में मजदूरो की दशा बहुत खराब थी। उन्नीसवीं सदी के शुरू में अंग्रेजी मिलो में मजदूरो की जो हालत थी, वह यहाँ भी थी। मजदूरी बहुत कम थी, क्योकि बहुतसे ऐसे आदमी मिलते थे जिनके पास न जमीन थी और न कोई रोजगार था और काम करने के घण्टे बहुत ज्यादा थे। १९११ ई० में पहला 'इण्डियन फैक्ट्री ऐक्ट' यानी 'भारतीय कारख़ानो का कानून' पास हुआ। इस कानून में भी पुरुषों के लिए बारह घण्टे और बच्चो के लिए छ घण्टे मुकर्रर हुए।

जिनके पास जमीन नही थी वे सब मजदूर इन मिलो में नही खप सके। इसलिए उनकी एक बहुत बडी तादाद चाय के खेतो में और दूसरे फार्मो में काम करने के लिए आसाम और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो में चली गई। इन खेतो और फार्मो की अवस्था ऐसी थी कि जबतक ये लोग वहाँ काम करते थे, अपने मालिक के गुलाम होकर रहते थे।

२० लाख से ज्यादा गरीब हिन्दुस्तानी मजदूर विदेश चले गये। बहुत-से सीलोन (लंका) और मलाया के खेतो में काम करने के लिए गये। बहुत-से मारीशस के टापुओ में चले गये। कुछ ट्रिनीडाड गये, जो दक्षिण अमेरिका के उत्तर में है। कुछ फिजी गये, जो आस्ट्रेलिया के पास है। कुछ दक्षिण अफरीका और पूर्वी अफरीका और ब्रिटिश गायना (जो दक्षिण अमेरिका मे है) चले गये। इन देशो में बहुत-सी जगहो में ये लोग 'इनडेंचर' (शर्तबंद) होकर गये थे, जिसका मतलब था कि क़रीब-क़रीब

गुलाम होकर गये थे । इनडेंचर एक दस्तावेज होता था, जिसमें इन मजदूरों के साथ की हुई शर्तें लिखी रहती थीं, जिनके मुताबिक ये लोग अपने मालिकों के गुलाम हो जाते थे । इनडेंचर की इस प्रथा से पैदा होनेवाली अनेक भयंकर घटनाओं का हाल हिन्दुस्तान में आने लगा, खासकर फिजी से । इसपर हिन्दुस्तान में आन्दोलन शुरू हुआ और यह प्रथा तोड़ दी गई ।

इतनी बात तो हुई किसानों-मजदूरों की और उन लोगों की जो विदेश में मजदूरी करने के लिए जाते थे । इनके अलावा इस देश की गरीब मूक और बहुत दिनों से कष्ट सहनेवाली जनता थी । बोलने-चालनेवाला वर्ग असल में नया मध्यम वर्ग था, जो अंग्रेजों के सम्बन्ध से पैदा हुआ था लेकिन जिसने उनपर आक्षेप करना शुरू कर दिया था । यह वर्ग तरक्की करने लगा और इसीके साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन भी बढ़ा । तुम्हें याद होगा कि यह राष्ट्रीय आन्दोलन १९०७-८ में बहुत जबरदस्त हो गया था । उस वक्त एक सार्वजनिक आन्दोलन ने बंगाल को हिला दिया और हमारी कांग्रेस दो दलों यानी गरम दल और नरम दल में बँट गई । अंग्रेजों ने अपनी वही पुरानी नीति बरती । नरम दल को छोटे-मोटे सुधार देकर अपनेमें मिलाने की कोशिश की और गरम दल को पस्त कर देना चाहा । इसी समय एक नई बात सामने आई । अल्पसंख्यक होने की हैसियत से मुसलमानों ने अलहदा और विशेष राजनैतिक अधिकारों का दावा किया । यह सभी अच्छी तरह से जानते हैं कि सरकार ने मुसलमानों की इस माँग को प्रोत्साहन दिया, ताकि हिन्दुस्तान में फूट हो जाय और राष्ट्रीयता की बाढ़ रुक जाय ।

उस वक्त ब्रिटिश सरकार अपनी नीति में कामयाब हुई । लोकमान्य तिलक जेल में थे और उनका दल दबाया जा चुका था । नरम दल के लोगों ने शासन में चन्द सुधारों को, जिनसे हिन्दुस्तानियों के हाथों में कुछ ताकत नहीं आती थी, मंजूर करके प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया । इन सुधारों को उस समय के वाइसराय और सेक्रेटरी आफ स्टेट यानी भारत-सचिव के नाम पर 'मिण्टो-मार्ले सुधार' कहते हैं । थोड़े दिनों के बाद बंग-भंग मंसूख कर दिया गया । इससे बंगालियों का गुस्सा कुछ ठण्डा पड़ गया । १९०७ के बाद राजनैतिक आंदोलन बड़े आदमियों के मुट्ठी भर दल का खेल था, जो अपने कमरे में कुर्सी पर बैठे-बैठे बातें बनाया करते थे । इस तरह १९१४ में, जब लड़ाई शुरू हुई, तब देश में कोई दिखावटी राजनैतिक जीवन नहीं था । कांग्रेस में सिर्फ नरम दल के व्यक्ति थे, जो साल में एक दफा इकट्ठे होकर नरम प्रस्ताव पास कर लिया करते थे और फिर कुछ नहीं करते थे । राष्ट्रीयता का ज्वार बहुत नीचे उतरा था ।

पश्चिम के सम्पर्क में आने की वजह से राजनैतिक क्षेत्र के अलावा और क्षेत्रो पर भी कुछ असर पडा। जनता के विचारो पर नही, बल्कि नवीन मध्यमवर्ग के धार्मिक विचारो पर असर पडा और ब्राह्म-समाज और आर्यसमाज ऐसे आन्दोलन उठ खडे हुए। जाति-पाँति प्रणाली की कट्टरता कम होने लगी। सांस्कृतिक जागृति खासकर बगाल से हुई। बगाली लेखको ने बगला भाषा को हिन्दुस्तान की आजकल की भाषाओ में सबसे सम्पन्न बना दिया और बगाल ने उसके सबसे बडे हिन्दुस्तानी यानी रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जन्म दिया, जो हमारी खुशकिस्मती से अभीतक हमारे बीच मौजूद है। बगाल ने विज्ञान में बडे बडे आदमी पैदा किये--जैसे सर जगदीशचन्द्र बसु और सर प्रफुल्लचन्द्र राय। मैं तुम्हे एक भारतीय वैज्ञानिक का नाम और बताऊँगा, जो इन लोगो से उम्र में बहुत कम है। वह है सर चन्द्रशेखर व्यंकट रमण। सारी दुनिया इन नामो को जानती है। इस तरह हिन्दुस्तान हरेक चीज में, विज्ञान के हरेक क्षेत्र में, श्रेष्ठ बन रहा था, और यह तुम जानती ही हो कि योरप की महानता की बुनियाद विज्ञान रहा है।

मैं यहाँ एक दूसरे नाम का भी जिक्र करना चाहता हूँ। यह सर मुहम्मद इक-बाल का नाम है। यह उर्दू और खासकर फारसी के बडे प्रतिभाशाली कवि है। इन्होने राष्ट्रीयता पर कई सुन्दर कवितायें लिखी है। बदकिस्मती से इन्होने हाल में कविता लिखना छोड़ दिया और दूसरे काम मे लगे हुए है।

महायुद्ध के पहले हिन्दुस्तान राजनैतिक दृष्टि से शान्त था; लेकिन एक दूर देश में हिन्दुस्तान की इज्जत के लिए एक वीरतापूर्ण और असाधारण लड़ाई हुई। दक्षिण अफरीका में हिन्दुस्तानी मजदूरो की काफी तादाद थी और कुछ व्यापारी भी वहाँ जाकर बस गये थे। इन लोगो के साथ सैकडो तरीको से बुरा बर्त्ताव किया जाता था और इनकी बेइज्जती की जाती थी, क्योकि उस देश में कौमी गुरूर बहुत बढ़ा-चढा था। इत्तफाक से एक नौजवान हिन्दुस्तानी बैरिस्टर एक मुकदमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफरीका गया। उसने अपने देशवासियो की हालत देखी तो वह बहुत अप-मानित और दुखित हुआ। उसने दृढ निश्चय कर लिया कि इनकी मदद के लिए जो कुछ हो सकेगा वह करूँगा। वर्षो तक वह बहुत खामोशी के साथ काम करता रहा। उसने अपनी जायदाद और कारोबार छोड़ दिया और जिस काम को उसने अपने हाथ में लिया था उसीमें अपनेको पूरे तौर से लगा दिया। यह व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गांधी था। आज हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा इसे जानता है और याद करता है; लेकिन उस वक्त दक्षिण अफरीका के बाहर इसे कोई नही जानता था। मगर एकदम से इसका नाम सारे हिन्दुस्तान में बिजली की तरह फैल गया। लोग इसके बारे में और

इसकी बहादुराना लड़ाई के बारे में आश्चर्य, प्रशंसा और अभिमान के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफ़रीका की सरकार ने वहांके रहनेवाले हिन्दुस्तानियों को और भी ज्यादा अपमानित करने की कोशिश की और बापू के नेतृत्व में जो आन्दोलन चला उसके सामने सरकार ने झुकने से इनकार किया। बड़े ताज्जुब की बात थी कि गरीब, पद-दलित, जाहिल मजदूरों की एक जमात और छोटे-छोटे व्यापारियों का समुदाय जो अपनी मातृभूमि से इतनी दूर हो, इस किस्म का बहादुरी का तर्ज़अमल इख़्तियार करे। इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात यह थी कि इस लड़ाई में जिस राजनैतिक शस्त्र का इन्होंने इस्तेमाल शुरू किया, वह संसार के इतिहास में अनोखा था। हमने अब तो इसके बारे में बहुत काफ़ी सुन लिया है। यह शस्त्र था बापू का सत्याग्रह। इसको अक्सर निष्क्रिय प्रतिरोध भी कहते हैं, लेकिन यह गलत तर्जुमा है, क्योंकि सत्याग्रह में काफी कर्मण्यता पाई जाती है। सत्याग्रह में सिर्फ अविरोध ही नहीं है। अहिंसा इसका मुख्य अंग है। बापू ने इस अहिंसापूर्ण संग्राम से हिन्दुस्तान और दक्षिण अफरीका में खलबली मचा दी और जब हिन्दुस्तान के लोगों ने सुना कि उनके हजारों देशवासी, स्त्री और पुरुष, दक्षिण अफरीका में खुशी-खुशी जेल गये, तो अभिमान और आनन्द से उनका हृदय गद्गद् होगया। हम अपने देश में अपनी असहायता और दासता पर मन-ही-मन लज्जित होने लगे और अपने देशवासियों के वीरतापूर्ण संघर्ष के इस उदाहरण ने हमारे आत्माभिमान को बढ़ा दिया। इस मसले पर हिन्दुस्तान एकदम से राजनैतिक दृष्टि से जग पड़ा। दक्षिण अफ़रीका को रुपया तेज़ी के साथ भेजा जाने लगा। जब बापू और दक्षिण अफरीका की सरकार का समझौता होगया, यह लड़ाई रुक गई। यद्यपि हिन्दुस्तानियों की उस समय यह एक अनिश्चित विजय थी, फिर भी कितनी ही बन्दिशें हिन्दुस्तानियों पर अभीतक लगी हुई हैं और कहते हैं कि दक्षिण अफरीका की सरकार ने समझौते की शर्तों का पूरा-पूरा पालन नहीं किया। प्रवासी भारतीयों का सवाल अभीतक हल नहीं हुआ, और जबतक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं हो जाता, तबतक हल होगा भी नहीं। भला हिन्दुस्तानियों को दूसरे देशों में इज़्ज़त कैसे मिल सकती है, जबकि अपने ही देश में उन्हें यह हासिल नहीं है? और जबतक अपने ही देश में आज़ादी हासिल करने में हमें कामयाबी नहीं मिलती, हम प्रवासी भारतीयों को कैसे मदद पहुँचा सकते हैं?

युद्ध से पहले के वर्षों में हिन्दुस्तान की यह हालत थी। १९११ में जब इटली ने तुर्की पर हमला किया तो हिन्दुस्तान में तुर्की के लिए काफ़ी हमदर्दी पैदा होगई, क्योंकि तुर्की को लोग एशियाई और पूर्वी शक्ति समझते थे और इस हैसियत से सारे हिन्दुस्तानियों की उससे ख़ास हमदर्दी थी। हिन्दुस्तानी मुसलमानों पर इसका ख़ास असर

पड़ा, क्योंकि ये लोग तुर्की के सुलतान को खलीफा यानी धर्म का प्रमुख नेता मानते थे। उन जमाने में अखिल इस्लामवाद की कुछ चर्चा चली थी। इसे तुर्की के सुलतान अब्दुल-हमीद ने शुरू किया था। १९१२-१३ के वालकन युद्ध ने हिन्दुस्तान के मुसलमानो में और भी ज्यादा हलचल पैदा करदी और अपने सद्भाव और मित्रता को जाहिर करने के लिए डाक्टरो का एक दल, जिसे 'रेड क्रिसेंट मिशन' कहा गया है, हिन्दुस्तान से तुर्की के जख्मी लोगो को मदद देने के लिए रवाना हुआ। हमारे सच्चे मित्र डाक्टर एम० ए० अन्सारी इस मिशन के नेता थे।

इसके बाद ही महायुद्ध शुरू हुआ और तुर्की उसमें फँसकर इंग्लैण्ड का दुश्मन बन गया। लेकिन यह चर्चा हमें युद्ध-काल तक पहुँचा देती है, इसलिए मुझे अब यही रुक जाना चाहिए।

: १४८ :

युद्ध : १९१४—१९१८

३१ मार्च, १९३३

मैं इस युद्ध के बारे में तुम्हे क्या लिखूँ, जिसे संसार-युद्ध या महायुद्ध कहा गया है और जो ४ वर्ष तक योरप, एशिया और अफरीका के कुछ हिस्सो को बरबाद करता रहा और जिसने लाखो जवानो का उठती जवानी में ही काम तमाम कर दिया। युद्ध का विषय ऐसा नहीं है कि उसपर खुशी के साथ विचार किया जा सके। यह बडी दु:खद चीज है। लेकिन अकसर इसकी तारीफ की जाती है और इसके गुण गाये जाते हैं। कहा जाता है कि जैसे आग सोने-चाँदी को खरा कर देती है वैसे ही युद्ध आलसी कौमो को, जो बहुत ज्यादा आराम और विलासिता की वजह से नाजुक और दूषित हो जाती है, मजबूत और खरा कर देता है। हमारे सामने बहादुरी और त्याग की बडी-बडी मिसाले पेश की जाती है, मानो युद्ध ही की वजह से ये सद्गुण पैदा होते है!

मैंने तुम्हारे साथ इस युद्ध के कुछ कारणो पर विचार किया है और बताया है कि पूँजीवादी औद्योगिक देशो की और साम्राज्य-शक्तियो की प्रतिद्वन्द्विता किस तरह टक्कर खागई और संघर्ष किस तरह अनिवार्य होगया। इन सारे देशो के उद्योगो के प्रमुख लोग किस तरह शोषण करने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा क्षेत्र और मौका चाहते थे। बडे-बडे साहूकार किस तरह रुपया कमाने की फिक्र में थे और हथियारो के बनानेवाले किस प्रकार ज्यादा मुनाफा चाहते थे। इसलिए ये लोग लड़ाई के लिए कूद पडे और इनके हुक्म पर और इनके तथा प्रतिनिधि बुजुर्ग राजनीतिज्ञो के हुक्म

पर राष्ट्रों के नौजवान एक-दूसरे का गला काटने के लिए आगे आ गये। इन नौजवानों की बहुत बड़ी तादाद और इन सारे देशों की साधारण जनता इस बात को बिल्कुल नहीं जानती थी कि युद्ध के क्या कारण हैं! असल में इस युद्ध से इनका कोई ताल्लुक नहीं था—चाहे सफलता होती या असफलता, हर हालत में इनका नुकसान ही था। यह अमीर आदमियों का जुआ था, जो उन्होंने लोगों की और खासकर नौजवानों की जिन्दगी को दाव पर रखकर खेला था। लेकिन जबतक साधारण जनता लड़ने के लिए तैयार न हो, लड़ाई हो ही नहीं सकती। यूरोपियन महाद्वीप के सारे देशों में, जैसा कि मैंने तुमको बताया है, अनिवार्य सैनिक भरती की प्रणाली नहीं पाई जाती थी। इस किस्म की भरती तो बाद को लड़ाई के जमाने में शुरू हुई। लेकिन जबरदस्ती से क्या होता है? ऐसी हालत में अगर लोग दिल से लड़ने को तैयार न हों तो उन्हें कोई जबरदस्ती नहीं लड़वा सकता।

आदमी, जो शान्त लोग समझे जाते हैं, औरो की तरह ही खून के प्यासे थे, बल्कि उन लोगो ने भी ज्यादा। शान्तिवादी और साम्यवादी भी अपनी बुद्धि खो बैठे और अपने उसूल भूल गये। सभी भूल गये, लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो नही भूले। हरेक देश मे बहुत छोटी तादाद ऐसे आदमियो की भी थी जिन्होने पागल बनने से इन्कार कर दिया और युद्ध का बुखार अपने ऊपर चढने नही दिया। लोग इनपर हँसते थे और इनको बुज़-दिल कहते थे; और बहुतसे तो ऐसे थे जिन्हे जेलखाने भेज दिया गया, क्योकि उन्होने लड़ाई में काम करने से इनकार कर दिया था। इनमें से कुछ साम्यवादी थे, और कुछ मजहबी लोग थे, जैसे क्वेकर लोग जो लड़ाई को धार्मिक दृष्टि से बुरा समझते हैं। यह सच कहा गया है कि आजकल जब लडाई छिड़ती है, तो उसमें फँसे हुए आदमी पागल हो जाते हैं।

ज्यो ही लड़ाई शुरू हुई, अनेक देशो की सरकारो ने सचाई छिपाने के लिए और तरह-तरह की झूठी बाते फैलाने के लिए लड़ाई को बहाना बना लिया। लोगो की व्यक्तिगत आजादी भी दबा दी गई। दूसरी तरफ की बात तो बिलकुल ही नही बताई जाती थी, जिससे लोगो को सिर्फ किस्से का एक ही पहलू मालूम होता था और वह भी बहुत-कुछ बिगाड़कर बताया जाता था और अकसर तो बिलकुल झूठी बाते कही जाती थी। इस तरीके से लोगो को बेवकूफ बनाना मुश्किल नही था।

शान्ति के जमाने में भी संकीर्ण राष्ट्रीय प्रचार और अखबारो की मन-गढ़न्त बाते जनता को बेवकूफ बनाती रही थी और उन्होने लड़ाई के लिए जमीन तैयार कर-दी थी। युद्ध को खुद ही बडी आराधना की चीज बताया गया था। जर्मनी में, या यो कहो प्रशा में, युद्ध की तारीफ करना कैसर से लेकर नीचे तक जितने शासक थे उन सभी का परम-कर्तव्य बन गया था। युद्ध को उचित साबित करने के लिए विद्वत्तापूर्ण किताबें लिखी गई थी और इस बात को साबित किया गया था कि युद्ध इनसान की जिन्दगी और तरक्की के लिए जरूरी है। कैसर की बहुत शोहरत होगई, क्योकि वह हमेशा भोडे तरीके से शेखी बघारा करता था। लेकिन इंग्लैण्ड में और दूसरे देशो में भी सैनिक और ऊँचे वर्ग के लोगो में इसी किस्म के खयाल पाये जाते थे। रस्किन इंग्लैण्ड का उन्नीसवी सदी का एक मशहूर लेखक हुआ है। उसकी किताबें बापू को बहुत पसन्द है और उसकी कुछ किताबें तुमने भी पढ़ी होगी। असदिग्ध रूप से शुद्ध हृदय के इस आदमी ने अपनी एक किताब में लिखा है :—

> "सक्षेप मे बात यह है कि मै देखता हूँ, सब बडी-बड़ी कौमो ने अपने शब्दो की सचाई और अपने विचारो की मजबूती युद्ध से सीखी और शान्ति मे उसे खो दिया। युद्ध ने शिक्षा दी, शान्ति ने धोखा दिया। एक शब्द मे यह कह सकते है कि बड़ी-बडी कौमे युद्ध से पैदा होती है और शान्ति मे मर जाती है।"

इस बात को बताने के लिए कि रस्किन कितना साफ साम्राज्यवादी था, उसकी किताब मे मैं एक दूसरा उद्धरण तुम्हारे सामने रक्खूंगा :—

> "इंग्लैण्ड को यही बात करनी चाहिए, नही तो वह नष्ट होजायगा। उसे उपनिवेश बनाना चाहिए और जहाँ कही भी उसे ज़मीन का ऐसा वीरान हिस्सा मिले, जिसमे उपज हो सकती है, उसपर कब्ज़ा कर लेना चाहिए और उसे अपने उपनिवेशियों को यह बताना चाहिए कि समुद्री या खुश्की किसी ज़रिये से इंग्लैण्ड की ताकत को बढाना उनका पहला उद्देश्य है "

मैं एक दूसरा उद्धरण और देता हूँ। यह एक अंग्रेज अफसर की किताब से लिया गया है, जो ब्रिटिश सेना में मेजर जनरल होगया था। वह कहता है कि युद्ध में विजय उस वक्त तक बिलकुल नामुमकिन है जबतक कि "जानबूझकर झूठ न बोला जाय, झुठाई के काम न किये जायें और बातो को गोलमोल ढग से और घुमा-फिराकर न बताया जाय।" उसके कथनानुसार कोई भी नागरिक, जो "इन साधनो पर अमल करने से इनकार करता है, अपने साथियो, अपने मातहतो और अपने देश के प्रति जान-बूझकर दग़ा करता है और इसके अलावा उसके लिए कुछ और नहीं कह सकते कि वह अत्यन्त घृणा-योग्य और बुजदिल है। बडी कौमो के सामनें नीति-अनीति क्या चीज है, जबकि उनकी जिन्दगी ख़तरे में पडी हो ? हरेक कौम को चाहिए कि जबतक दुश्मन मर न जाय।" वह आघात पर आघात करती रहे, मुझे मालूम नहीं कि इन सब बातो के बारे में रस्किन क्या कहता। लेकिन यह न समझना कि यह अंग्रेजी मन का कोई ठीक नमूना है, या यह कि कैसर की लम्बी-चौडी स्पीचें साधारण जर्मनी की मनोदशा जाहिर करती थीं। लेकिन बदकिस्मती की बात तो यह है कि जो इस किस्म का विचार रखते हैं, अक्सर उन्हीं के हाथ में अधिकार होता है और लड़ाई के जमाने में वही आदमी सामने आजाते हैं।

आम तौर पर ऐसी साफ-साफ बातें जनता के सामने नहीं कही जातीं और युद्ध के ऊपर एक मज़हबी गिलाफ चढा दिया जाता है। इसलिए जब एक तरफ योरप में और दूसरी जगहों पर सैकड़ों मील तक युद्ध के मोर्चे में बेतहाशा क़त्ल जारी था, उस क़त्ल को उचित साबित करने के लिए और लोगो को धोखे में रखने के लिए घर पर बड़े सुन्दर और मधुर वाक्य बनाये जा रहे थे। कहा जाता था कि यह युद्ध आत्म-सम्मान और आज़ादी की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है; युद्ध ख़त्म करने के लिए यह लड़ा जा रहा है, और लोकतंत्र को सुरक्षित रखने के लिए, आत्मनिर्णय के लिए, छोटी कौमों की आज़ादी के लिए यह लड़ाई लड़ी जा रही है। इसी दरमियान बहुत-से साहूकार और [illegible] और युद्ध-सामग्री व्यापारियों, जो घर पर बैठे रहते थे और इन नवीन

जूमने को देशभक्ति के साथ इस्तेमाल करके नौजवान आदमियो को लडाई की भट्टी में कूदने के लिए प्रेरित करते थे, वेहद मुनाफा कमा रहे थे और करोड़पति होते जाते थे।

ज्यो-ज्यो लडाई महीने-पर-महीने और साल-पर-साल बढती गई, और-और देश इसके अन्दर फँसते गये। गुप्त रूप से रिश्वतें पेश करके तटस्थ देशो को अपनी तरफ मिलाने की कोशिश दोनो ही तरफ के लोग करते थे। अगर ये रिश्वतें खुल्लम-खुल्ला पेश की गई होतीं तो वे ऊँचे आदर्श और नफीस जुमले, जिनको मकान की छतो पर से चिल्लाया जाता था, खत्म होगये होते। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स की रिश्वत देने की ताकत जर्मनी से ज्यादा थी, इसलिए तटस्थ, लोग जो लडाई में शामिल हुए। ज्यादातर अंग्रेज, फ्रान्सीसी और रूसियो की तरफ आये। जर्मनी के पुराने मददगार इटली को मित्र-राष्ट्रो ने, एक गुप्त सन्धि करके और उसमें यह वादा करके कि इटली को एशियामाइनर में और दूसरी जगहो पर उपनिवेश दिये जायेंगे, अपनी तरफ मिला लिया। रूस के साथ भी एक गुप्त सन्धि हुई थी, जिसमें उसे कुस्तुनतुनिया देने का वादा किया गया था। दुनिया को आपस में बांटने का यह काम बहुत ही रोचक और दिलचस्प था। ये गुप्त समझौते मित्र-राष्ट्रो के राजनीतिज्ञो के सार्वजनिक ववतव्यो के बिलकुल ख़िलाफ जाते थे और शायद इन समझौतो के बारे में किसीको पता भी न चलता, अगर रूसी वोलशेविको ने अधिकार पाने पर इनको प्रकाशित न कर दिया होता।

अखीर में मित्र-राष्ट्रो की तरफ एक दर्जन या इससे ज्यादा देश आगये थे। सक्षेप के लिए मैं अंग्रेज-फ़्रांसीसी पक्ष को मित्र-पक्ष कहूँगा। मित्र-पक्ष में ब्रिटेन था, उसका साम्राज्य था और इसके अलावा फ़्रांस, रूस, इटली, अमेरिका, वेलजियम, सर्विया, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल थे। मुमकिन है कि एक या दो और रहे हो, जिनका नाम मुझे याद नहीं। जर्मन-पक्ष में जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगेरिया थे। अमेरिका तीसरे वर्ष लड़ाई में शामिल हुआ। अगर हम इन बातो का खयाल न भी करे तो भी ज़ाहिर है कि मित्र-पक्ष के साधन जर्मन पक्ष से कही ज्यादा थे। इसके पास आदमी ज्यादा थे, पैसे ज्यादा थे, अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-सामग्री बनाने के कार-ख़ाने ज्यादा थे, और सबसे बडी बात तो यह थी कि समुद्रो के ऊपर इन लोगो का अधिकार था जिसकी वजह से तटस्थ देशो की सामग्री से ये आसानी के साथ फायदा उठा सकते थे। मित्र-पक्ष अमेरिका से युद्ध-सामग्री और खाने-पीने का सामान ले सकता था और पैसा भी उधार ले सकता था, क्योंकि समुद्र की ताकत उसके हाथ में थी। जर्मनी और उसके मित्र चारो तरफ दुश्मनो से घिरे और जकडे हुए थे। जर्मनी के सहायक देश कमज़ोर थे और उसकी ज्यादा मदद नहीं कर

सकते थे। वे जर्मनी के ऊपर एक तरह का बोझ थे, जिसको खड़ा रखने के लिए उसे हमेशा टेका और सहारा लगाना पड़ता था। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से जर्मनी दुनिया के अधिकांश हिस्से से अकेला लड़ रहा था। हरेक दृष्टि से यह संघर्ष बहुत ज्यादा असमान कहा जा सकता है, फिर भी जर्मनी चार वर्ष तक दुनिया के मुकाबिले में डटा रहा और विजय के नज़दीक बराबर पहुँचता रहता था। हर साल विजय कभी इधर और कभी उधर आती हुई दिखाई देती थी। एक अकेले राष्ट्र की यह कोशिश आश्चर्यजनक थी, और सिर्फ इसलिए मुमकिन हो सकी कि जर्मनी ने शानदार सैनिक मशीन तैयार कर रक्खी थी। अख़ीर में जब जर्मनी और उसके साथी अन्तिम रूप से पराजित हो चुके थे, जर्मन सेना उस समय भी संगठित थी और उसका अधिकाश हिस्सा विदेशो ज़मीन पर था।

मित्र-पक्ष में लड़ाई का सबसे ज्यादा बोझ फ्रांसीसी सेना पर पड़ा और फ्रांसीसी लोगों ने ही लाखो नौजवानो की जिन्दगी खोकर जर्मन सैनिक मशीन का मुकाबिला किया। इंग्लैण्ड को बडी सहायता इस बात की थी कि उसके पास जल-सेना थी और सामुद्रिक शक्ति थी। कूटनीतिज्ञता और प्रचार में भी उसने मदद दी। जर्मनी को अपनी सेना पर अभिमान था और वह तटस्थ देशो से व्यवहार करने में और प्रचार के तरीको में बहुत ही ज्यादा अनगढ़ साबित हुआ। इसमें ज़रा भी शक नहीं कि लड़ाई के ज़माने में इग्लैंड ने गलत बातों के प्रचार की कुशलता और काबलियत तथा झुठाई में दुनिया को मात कर दिया। रूस, इटली और दूसरे सहायक देशो ने इसके मुकाबिले में बहुत मामूली हिस्सा लिया और लड़ाई के मामलात में उनके कारनामें बहुत उल्लेखनीय नहीं रहे। फिर भी रूस को सारे देशो से ज्यादा नुकसान हुआ। अमेरिका अन्त में लड़ाई में शामिल हुआ और उसके आने की वजह से ही जर्मन लोग अन्तिम तौर पर पस्त होगये।

लड़ाई के शुरू महीनो में अमेरिका और इंग्लैण्ड में बहुत खिंचाव था, और इस बात का कभी-कभी जिक्र होजाता था कि इनमें लड़ाई होजायगी। खिंचाव की वजह यह थी कि इंग्लैण्ड अमेरिका के सामुद्रिक व्यापार में दस्तन्दाजी करता था, क्योंकि उसे शक था कि अमेरिका के जहाज जर्मनी को माल पहुँचाते हैं। इसपर ब्रिटिश प्रचार-विभाग ने काम करना शुरू किया और अमेरिका को अपनी तरफ़ मिला लेने की खास कोशिश की। पहली बात जो इन लोगो ने हाथ में ली, वह जर्मनो के अत्याचारो के बारे में प्रचार था। जर्मन सेना ने बेलजियम में क्या किया, इसकी भयंकर कहानियाँ बना-बनाकर फैलाई गई। इसका नाम रक्खा गया था जर्मन हूणो की भीषणता। इन किस्सो में कुछ ऐसे भी थे जो अंशतः घटनाओ पर निर्भर थे, जैसे

लूवेन की यूनिवर्सिटी और पुस्तकालय की तबाही। लेकिन ज्यादातर ये किस्से बिलकुल मनगढन्त हुआ करते थे। एक आश्चर्यजनक किस्सा यह कहा जाता था कि जर्मन लोगो ने लाशो का एक कारखाना खोल रक्खा है। दुश्मन देशो की जनता के प्रति हरेक देश में इतनी घृणा थी कि वह सब बातो पर यकीन करने को तैयार था।

तुम्हे ब्रिटिश प्रचार के विस्तार और पैमाने का कुछ अन्दाजा इस बात से लग सकता है कि अमेरिका में ब्रिटिश वार मिशन यानी युद्ध-प्रचार-विभाग में ५०० अफसर और दस हजार आदमी काम करते थे। यह तो सरकारी इन्तजाम था। इनके अलावा गैर-सरकारी काम बेहद होता था। इस प्रचार-कार्य के लिए उचित और अनुचित सब किस्म के तरीके काम में लाये जाते थे। स्वीडन के स्टाकहाल्म में अग्रेजो ने सरकारी तौर पर एक अग्रेज सगीतालय खोल रक्खा था, जिससे ये लोग लोगो का तरह-तरह से मनोरजन कराया करते थे, ताकि स्वीडन के बाशिन्दो की सद्भावना इनकी तरफ होजाय। इस प्रचार ने और जर्मनो की पनडुब्बी की कार्रवाइयो ने, जिसके बारे में मै बाद को कुछ बताऊँगा, अमेरिका को मित्र-दल के पक्ष में आने में बडी मदद दी। लेकिन तसफिया करनेवाली बात तो पैसे की थी।

लड़ाई बडी खर्चीली चीज है। यह भयकर रूप से खर्चीला व्यापार है। लड़ाई में बहुमूल्य सामान की विशाल मात्रा लग जाती है और उसके बदले सिर्फ बरबादी मिलती है। दौलत पैदा करने के ज्यादातर काम इसकी वजह से रुक जाते हैं और लोगो की सारी ताकत तबाही और बरबादी के लिए जमा होजाती है। इतना सारा धन कहाँसे आता था? पहली बात तो यह है कि मित्र-पक्ष में इग्लैण्ड और फ्रास ही ऐसे देश थे जिनकी माली हालत अच्छी कही जा सकती थी। यही नही कि ये अपनी लड़ाई का सारा खर्चा बरदाश्त करते रहे हो बल्कि अपने मददगारो को भी धन और युद्ध-सामग्री उधार देकर उनकी मदद करते थे। कुछ दिनो के बाद पेरिस बोल गया। उसके आर्थिक साधन खत्म होगये। इसके बाद लन्दन ने अकेले सारे मित्र-पक्ष को धन से मदद देनी शुरू की। लड़ाई के दूसरे साल के खत्म होने तक लन्दन भी बोल गया। इसलिए १९१६ के अन्त में फ़्रांस और इंग्लैण्ड दोनो की साख खत्म हो चुकी थी। इसपर अग्रेजो की एक मण्डली, जिसमें उनके बडे-बडे राजनीतिज्ञ शामिल थे, आर्थिक सहायता माँगने के लिए अमेरिका गई। अमेरिका उधार देने के लिए राजी होगया और उसके बाद से अमेरिका के पैसे से मित्र-पक्ष की लड़ाई जारी रही। मित्र-पक्ष के ऊपर अमेरिका का कर्जा दिन दूना और रात चौगुना होने लगा और बढ़कर विस्मय-जनक संख्या तक पहुँच गया। ज्यो-ज्यो कर्ज बढा, अमेरिका के बडे-बडे बैक और साहूकार, जिन्होंने उधार दिया था, मित्र-पक्ष की विजय के लिए अधिकाधिक उत्सुक

होते गये। उन्होने सोचा कि अगर जर्मनी ने मित्र-पक्ष को हरा दिया तो वह बेशुमार रकम कैसे मिलेगी जिसे अमेरिका ने मित्र-पक्ष को उधार दे रक्खा है? अमेरिका के महाजनों की जेब पर आ बनी और उन्होने ऐसी हालत में जो मुनासिब समझा किया। इस बात का खयाल अमेरिका मे बढ़ने लगा कि वह लड़ाई में मित्र-पक्ष का साथ दे और अन्त में अमेरिका ने साथ दिया।

आजकल हम अमेरिकन कर्ज के बारे में बहुत-कुछ सुनते है और अखबारो में भी इसकी खूब चर्चा रहती है। यह कर्ज, जो इंग्लैण्ड और फ्रान्स की गर्दन में चक्की की तरह लटका हुआ है और जिसे ये अब अदा नहीं कर सकते, लड़ाई के जमाने में लिया गया था। अगर यह रुपया उस वक्त न मिला होता तो इनकी साख बिलकुल जाती रहती और शायद अमेरिका इनका साथ भी न देता।

मै अब यहाँ ठहर जाऊँगा। अगले खत मे मै तुम्हे यह बतलाऊँगा कि लड़ाई के दौरान में क्या हुआ और लड़ाई कैसे खत्म हुई।

: १४६ :

महायुद्ध की गति

१ अप्रैल, १९३३

जब अगस्त १९१४ के शुरू में लड़ाई आरम्भ हुई, सारी दुनिया फ्रांस की उत्तरी सरहद और बेलजियम की तरफ देखने लगी। जर्मन फ़ौजें आगे बढ़ती जाती थीं और उनके रास्ते में जितनी रुकावटें पड़तीं उन सबको कुचलती जाती थी। थोडी देर के लिए नन्हे-से बेलजियम ने इन्हे रोका, इसपर नाराज होकर इन लोगो ने आतंक पैदा करनेवाली हरकतो से बेलजियन लोगो को डराना चाहा। मित्र-पक्ष ने इन्हीं बातो के आधार पर अत्याचार की कहानियाँ बनाई थी। जर्मन फ़ौजें पेरिस की तरफ बढ़ीं; फ्रांस की सेना इनके सामने ठहर न सकी और छोटी-सी ब्रिटिश सेना हटाकर एक तरफ करदी गई। लड़ाई शुरू होने के एक महीने के अन्दर ही ऐसा मालूम होता था कि पेरिस की किस्मत का फैसला होगया। फ्रांसीसी सरकार अपने दफ्तरो और अपनी कीमती चीजों को दक्षिण में बोर्डियो को ले जाने की तैयारी करने लगी। कुछ जर्मनो ने समझा कि हमने लड़ाई जीत ली। अगस्त के अखीर में पश्चिमी मोर्चे यानी फ्रांसीसी मोर्चे पर यह हालत थी।

इसी बीच रूसी फौजे पूर्वी प्रशा पर हमला कर रही थीं। इस बात की कोशिश की गई कि जर्मनो का ध्यान पश्चिमी मोर्चे से हट जाय। फ्रांस और इंग्लैण्ड में रूसी

स्टीमरोलर (भाप से चलनेवाला वडा वेलनदार इजिन) के ऊपर वहुत आशायें वाँधी गई थी। यह कहा जाता था कि यह वेलन वेलते-वेलते वर्लिन पहुँचेगा। रूसी सिपाहियो के पास काफी अस्त्रशस्त्र नहीं थे और उनके अफसर बिलकुल नालायक थे, और उनके पीछे जार की वेईमान सरकार थी। एकाएक जर्मन लोग रूसियो पर टूट पडे और एक वहुत वडी रूसी सेना को पूर्वी प्रशा की झीलो और दलदलो में फँसाकर वरवाद कर दिया। इस वडी जर्मन विजय को 'टैननवर्ग की लड़ाई' कहते हैं; और इस विजय के साथ जिस खास सेनापति का नाम जुड़ गया है वह वान हिण्डनवर्ग[1] था, जो आजकल जर्मन लोकतत्र का राष्ट्रपति है।

यह वडी भारी विजय जरूर थी, लेकिन एक तरह से जर्मन फौजो का इससे वड़ा नुकसान हुआ। इस विजय को प्राप्त करने के लिए और इस वात से डरकर कि रूसी लोग पूर्व में कुछ वढ़ रहे हैं, जर्मनो ने अपनी कुछ फौज फ्रास से हटाकर रूस की तरफ भेज दी। इसकी वजह से पश्चिमी मोर्चे पर उनका जोर कुछ कम होगया और फ्रासीसी फौज ने आगे वढनेवाले जर्मनो को पीछे हटा देने की जवरदस्त कोशिश की। सितम्वर १९१४ के शुरू में मार्न (Marne) की लड़ाई में उन्होने जर्मनो को पचास मील पीछे हटा दिया। पेरिस वच गया और फ्रांसीसियो और अंग्रेजो को साँस लेने का मौका मिल गया।

जर्मनो ने फिर आगे वढ़ने की कोशिश की और वे करीब-करीब कामयाब हो चुके थे, लेकिन फिर रोक लिये गये। इसके वाद दोनो फौजें अपनी-अपनी जगह पर डट गई और खन्दक खोदकर नये किस्म की लड़ाई (Trench warfaa·) शुरू हुई। एक किस्म की जिच-सी होगई थी। यह खन्दकी लड़ाई पश्चिमी मोर्चे पर तीन वर्ष से ज्यादा तक और करीव-करीव लड़ाई के खत्म होने तक जारी रही। वडी-वडी फौजें छछूंदर की तरह जमीन में विल वनाकर रहती थी और एक-दूसरे को वेदम करने की कोशिश करती थीं। जर्मन और फ्रांसीसी सेनायें इस मोर्चे पर शुरू से ही लाखो की तादाद में रहीं,—और अग्रेजो की भी छोटी-मोटी फौज इस मोर्चे पर तेजी से तादाद में वढ़ती गई—यहाँतक कि इसकी भी तादाद लाखो तक पहुँच गई।

पूर्व के या रूसी मोर्चे पर इससे ज्यादा हलचल रही। रूसी फौजें आस्ट्रियन लोगो को वार-वार शिकस्त देती थी, लेकिन जर्मनो से हमेशा हार जाया करती थीं। इस मोर्चे पर मरने और जख्मी होनेवालो की तादाद वहुत ही ज्यादा थी। यह न समझना कि पश्चिमी मोर्चे पर इस खन्दकी लड़ाई की वजह से कम आदमी काम आये। आदमियो की जिन्दगी के साथ आश्चर्यजनक लापरवाही से खेल खेला

[1] अव इनकी मृत्यु हो चुकी है।

जाता था और दुश्मन के मजबूत मोर्चे पर हमला करने के लिए लाखों आदमी मौत के मुँह में जानबूझकर ढकेल दिये जाते थे और इसका कोई नतीजा नहीं निकलता था।

युद्ध के दूसरे अनेक रंगमंच भी थे। तुर्कों ने स्वेज की नहर पर हमला करना चाहा, लेकिन पीछे हटा दिये गये। मिस्र, जैसा मैंने तुम्हे पहले बताया है, १९१४ के दिसम्बर में ब्रिटिश संरक्षकता में लेलिया गया था। फ़ौरन ही ब्रिटेन ने वहाँकी नई व्यवस्थापक सभा को स्थगित कर दिया और जिन लोगो पर शक था उन्हे जेलखाने में भर दिया। राष्ट्रीय अखबार दबा दिये गये और पाँच आदमी से ज्यादा एक जगह इकट्ठा नहीं हो सकते थे। मिस्र की 'सेंसर प्रणाली' को लन्दन के टाइम्स ने 'बर्बर कठोरता से भरी हुई' बताया था। इस देश में सारी लड़ाई भर फ़ौजी कानून जारी रहा।

ब्रिटेन ने तुर्की के जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य के कई कमजोर हिस्सो पर हमला किया। पहले इराक़ पर और फिर फिलस्तीन और सीरिया पर। अरबस्तान में अंग्रेजो ने अरबों की राष्ट्रीय भावना से फायदा उठाया और धन और सामग्री की गहरी रिश्वत की मदद से तुर्की के ख़िलाफ अरबो में बगावत पैदा करदी। इस बगावत की जिम्मेदारी ख़ासतौर से अरबस्तान में अंग्रेजों के एक प्रतिनिधि कर्नल टी० ई० लारेंस की थी। उस वक्त से इसके बारे में यह मशहूर होगया है कि यह एक रहस्यपूर्ण यानी भेदों से भरा हुआ व्यक्ति है और एशिया के कितने ही आन्दोलनो के पीछे इसकी साजिश है।

लेकिन तुर्की के मर्मस्थल पर सीधा हमला १९१५ की फरवरी में शुरू हुआ, जबकि ब्रिटिश जल-सेना ने दर्रे दानियाल में घुसकर कुस्तुनतुनिया पर कब्ज़ा करना चाहा। अगर इस बात में ये लोग कामयाब होगये होते, तो इन्होने लड़ाई में तुर्की का खात्मा ही नहीं कर दिया होता बल्कि पश्चिमी एशिया से जर्मन लोगो का असर भी खत्म कर देते। लेकिन ये नाकामयाब रहे। तुर्की ने बहादुरी से लड़ाई की और एक दिलचस्पी की काबिले गौर बात यह है कि इस लड़ाई में मुस्तफा कमालपाशा का बहुत बड़ा हाथ रहा। करीब सालभर तक अंग्रेजो ने गैलीपोली में यह कोशिश जारी रक्खी। बाद को बहुत नुकसान उठाकर ये वहाँसे हट गये।

पश्चिमी और पूर्वी अफरीका के जर्मन-उपनिवेशो पर भी मित्र-पक्ष ने हमला किया। ये उपनिवेश जर्मनी से बिलकुल अलग थे और इनको कोई मदद नहीं मिल सकती थी। धीरे-धीरे ये पस्त होगये। चीन में कियानचान के प्रदेश पर, जिसे जर्मनी ने चीन से हड़प लिया था, जापान ने आसानी से कब्ज़ा कर लिया। जापान के सामने कोई रुकावट नहीं थी और सुदूर-पूर्व में कुछ लड़ाई का साज-बाज भी नहीं था। इस-

लिए उनने चीन को डरा-धमका कर तरह-तरह की फायदेमन्द रिआयतो और अधिकारो को हासिल करने मे अपना वक्त लगाया ।

इटली ने कई महीने तक लडाई की गति देखी और यह समझने की कोशिश की कि कोन पक्ष जीतेगा । अखीर मे उसने यह निश्चय किया कि जीतने की ज्यादा सम्भावना मित्र पक्ष की है । इसलिए उसने मित्र पक्ष की रिश्वतो को मंजूर कर लिया और एक गुप्त समझौता होगया । मई १९१५ में इटली वाकायदा लड़ाई में, मित्र-पक्ष में, शामिल होगया । दो वर्ष तक इटैलियन और आस्ट्रियन एक दूसरे के सामने डॅटे रहे ओर कोई नतीजा न निकला । इसके वाद जर्मन लोग आस्ट्रियनो की मदद के लिए आ गये ओर इटैलियन इनके सामने पस्त हो गये । जर्मन और आस्ट्रियन मिलकर करीव-करीव वेनिस तक पहुँच गये ।

अक्तूवर १९१५ में वलगेरिया जर्मनी से मिल गया । इसीके वाद ही आस्ट्रिया और जर्मनी की संयुक्त सेना ने वलगेरिया की मदद से सर्विया को विलकुल पस्त कर दिया । सर्विया का राजा अपनी वची-खुची फौज लेकर अपने देश से भागकर मित्र-पक्ष के जहाजो में जा छिपा और सर्विया जर्मनो के कब्जे से आगया ।

रूमानिया ने वालकन की लड़ाई में जो रुख इख्तियार किया था उससे उसकी यह खास शोहरत हो गई थी कि वह हमेशा मौके से फायदा उठाने के घात में रहता है । दो वर्ष तक उसने महायुद्ध की गति देखी और आखिरकार अगस्त १९१६ में, यह मित्र-दल की तरफ आ गया । इसे वहुत जल्द ही इस काम की सजा मिल गई । जर्मन फौज इसके ऊपर टूट पडी और इसको दबोच लिया । रूमानिया भी आस्ट्रिया और जर्मनी की मातहती में आ गया ।

इस तरह जर्मनी और आस्ट्रिया ने, जिन्हे मध्य यूरोपियन ताकतो के नाम से पुकारा जा रहा था, वेलजियम पर, उत्तर पूर्व में फ्रांस के एक हिस्से पर, पोलैण्ड, सर्विया और रूमानिया पर कब्जा कर लिया । युद्ध के अनेक रंगमंचो पर भी इनकी विजय हुई थी । लेकिन लड़ाई का केन्द्र पश्चिमी मोर्चे और समुद्र पर था, और इन जगहो पर इनकी स्थिति में कोई प्रगति नही हो रही थी । इस मोर्चे पर प्रतिद्वन्द्वी फौजें मृत्यु की गोद में खेल रही थी यानी मरने-मारने के लिए गुथी पडी थी । समुद्र पर मित्र-पक्ष हावी था । लड़ाई की शुरूआत में कुछ जर्मन क्रूजर इधर-उधर फिरे थे और इन्होने मित्र-पक्ष के जहाजो की आमद-रफ़्त में दखल भी दिया था । इनमें से एक मशहूर 'एमडन' भी था जिसने मदरास पर भी गोले वरसाये थे, लेकिन यह एक छोटी-सी बात थी । मित्रपक्ष समुद्री रास्तो पर हावी था, और इस घटना की वजह से उनकी इस स्थिति में कोई फर्क नही आया । समुद्र पर कब्जा रखने की वजह से

मित्रपक्ष ने इस बात की कोशिश की कि मध्य-यूरोपीय शक्तियो को यानी जर्मन, आस्ट्रिया वगैरा को बाहरी दुनिया से खाने-पीने की सामग्री या दूसरी चीजें बिलकुल न मिले। इस रोक-थाम की वजह से जर्मनी और आस्ट्रिया के ऊपर बडा भयंकर संकट आ पड़ा क्योकि भोजन के पदार्थ मुश्किल से मिलने लगे और सारी आबादी भूखो मरने लगी।

इसके जवाब में जर्मनो ने पनडुब्बियो (सबमेरीनो) के जरिये से मित्रपक्ष के जहाजो को डुबोना शुरू किया। यह पनडुब्बी की लड़ाई इतनी कामयाब रही कि इंग्लैण्ड मे भी भोजन की चीजें बहुत कम पहुँचने लगी और अकाल पड़ने का खतरा होगया। १९१५ के मई के महीने में एक जर्मन-पनडुब्बी ने लुसीटानिया नाम के एक एटलांटिक महासागर में चलने वाले विशाल अंग्रेजी जहाज को डुबा दिया। बहुत से आदमी इसीमें डूब गये। बहुत से अमेरिकन भी इसमें डूबे और इसकी वजह से अमेरिका में बहुत नाराजी और गुस्सा पैदा हो गया।

जर्मनी ने इंग्लैण्ड के ऊपर हवाई जहाज से भी हमला किया। चांदनी रात में बडे-बडे ज़ेपलिन हवाई जहाज लन्दन के ऊपर और उन जगहो पर, जहां गोले-बारूद बनते थे, बम फेंकने आते थे। इसके बाद सामान्य हवाई जहाजो ने बम फेंकना शुरू किया। हवाई जहाज की भन्नाहट का सुना जाना, हवाई जहाजो पर गोला मारने वाली तोपो का दगना और लोगो का तहखानो में अपने बचाव के लिए भागकर घुसना लन्दन के लिए मामूली बात हो गई। शहरी (Civil) जनता पर इस तरह गोला बरसाने के कारण अंग्रेजो में बहुत रोष पैदा हुआ और उनका यह रोष सही था, क्योकि इस किस्म की गोलाबारी बडी भयंकर चीज होती है। लेकिन जब अंग्रेजी हवाई जहाज हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम की सरहद पर या इराक में बम फेंकते हैं या उस शैतानी ईजाद को, जिसे देर से फूटने वाला बम कहते हैं, गिराते हैं, तो ब्रिटेन में जरा भी रोष पैदा नही होता। इसे ये लोग पुलिस का काम कहते हैं और शान्ति के जमाने में भी अकसर इसका प्रयोग करते रहते हैं।

इस तरह महीने-पर-महीने बीतते गये और लड़ाई चलती रही, और जिस तरह से जंगल की आग टिड्डियो को भस्म करती है उसी तरह यह मनुष्यो का भस्म करती रही, और ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये यह अधिक विनाशकारी और बर्बर होती गई। जर्मन लोगो ने जहरीली गैस से लड़ना शुरू किया और बहुत जल्द दोनो तरफ से जहरीली गैस इस्तेमाल होने लगी। बम फेंकने के लिए हवाई जहाजो का ज्यादा-से-ज्यादा इस्तेमाल होने लगा। और इसके बाद पहले-पहल अंग्रेजो ने टैंक[१] का इस्तेमाल

१ टैंक—लोहे की चादरो से ढकी, सब फौजी सामान से भरी मोटरगाडी जिसमें

शुरू किया। टैंक बहुत बडी भयकर मशीन होती है जो हर एक चीज पर रेंग सकती है। मोर्चों पर लाखो आदमी काम आये, और इनके पीछे देश के अन्दर औरते और बच्चे भूख और दरिद्रता की यातना में पिस गये। जर्मनी और आस्ट्रिया में खास तौर से, नाकेबन्दी की वजह से, लोग बुरी तरह भूखो मरने लगे। सहनशीलता की परीक्षा शुरू होगई। इन मुसीबतो की परीक्षा में कौन पक्ष ज्यादा दिन तक कायम रह सकेगा, यही सवाल सामने आ गया। कोन सेना दूसरे को पहले थका देती है, क्या मित्र-पक्ष की नाकेबन्दी की वजह से जर्मन लोगो की हिम्मत टूट जायगी, क्या जर्मन पनडुब्बियो की कारगुजारियो से इग्लैण्ड भूखो मरने लगेगा और उसका साहस और जीवट खतम हो जायगा? हरेक देश में मुसीबत और बलिदान के बडे-बडे उदाहरण दिखाई पडे। लोग सोचने लगे कि क्या यह सारा भयकर त्याग और कष्ट फिजूल जायगा? क्या हम उन लोगो के बलिदान को भूल जायँ जो मर गये और दुश्मन के सामने सर झुका दें? युद्ध के पहले के दिन बहुत दूर मालूम होने लगे; लड़ाई के कारण भी लोग भूल गये, सिर्फ एक चीज पुरुषो और स्त्रियो के दिमाग में रह गई थी—विजय और बदला लेने की ख्वाहिश।

प्रसिद्ध फ़्रेंच कवि एदमाँ रोस्ताँ ने लिखा था :—

Je ne veux que voir la victoire,
Ne me demandez pas "Apres"
Apres, je veux bien la nuit noire
Et le sommeil sous les cypres

अर्थात् "मैं सिर्फ विजय देखना चाहता हूँ। उसके बाद क्या होगा, यह मुझसे न पूछो। बाद मे मै अँधेरी काली राते और सरो के वृक्षो के नीचे सोना पसद करूँगा।"

इस कवि की आशा ज्यो-की-त्यो पूरी हुई। विजय के तीन हफ़्ते के अन्दर वह मर गया।

जो लोग किसी सिद्धान्त के लिए शहीद हो चुके है उनका आह्वान बड़ा भयंकर होता है। जिसके दिल में जरा-सा भी जोश है इस आह्वान के सामने कैसे रुक सकता है? लडाई के इन आखरी सालो में हर जगह अन्धकार का राज्य था। लड़ाई में शामिल देशो में हरेक घर रंज और अफसोस में डूबा हुआ था। लोग थके हुए थे; उनकी आँखें खुल गई थी; लेकिन वे कर क्या सकते थे, सिवाय इसके कि झंडा ऊँचा रक्खें। एक ब्रिटिश अफसर मेजर मैकी की बनाई हुई इस प्रभावशाली कविता को पढो

पहियो पर मोटी साकले होती है जिसके कारण यह ऊँची नीची जगहो पर भी चल सकती है।

और इसकी कल्पना करो कि लड़ाई के उस अन्धकारमय और संकटपूर्ण ज़माने में उसकी क़ौम के पुरुष और स्त्रियों के दिल पर, जिन्होंने इसे पढ़ा होगा, क्या असर पड़ा होगा। याद रक्खो कि इसी क़िस्म की कविताएँ कई भाषाओं और अनेक मुल्कों में लिखी गई थीं—

We are Dead. Short days ago
We lived, felt down, saw sunset glow,
Loved and were loved, and now we lie
In Flanders Fields.

यानी—

"(आज) हम मुर्दे हैं। चन्द दिन पहले हम जीवित थे; उषा का अनुभव करते थे और सूर्यास्त की चमक को देखते थे। प्यार करते थे और प्यार किये जाते थे। और आज हम फ़्लैण्डर्स की युद्धभूमि पर पड़े हुए हैं। आज हम मुर्दे हैं।"

Take up our quarrel with the foe:
To you from failing hands we throw
The Torch; be yours to hold it high.
If you break faith with us who die
We shall not sleep though Poppies grow
In Flanders Fields

"दुश्मन के साथ चलनेवाले हमारे इस युद्ध को अब तुम ग्रहण करो। हम अपने इन बेकाम हाथों से यह मशाल तुम्हें सौंपते हैं। अब इसे ऊँचा और प्रज्वलित रखना तुम्हारा काम है। यदि तुमने हम मरने वालों के साथ विश्वासघात किया तो हम कभी सोयेंगे नहीं। (हमारी आत्मा को शान्ति न मिलेगी) चाहे फ़्लैण्डर्स के मैदानों में पपी के पौधे भले ही उग आवें।"

१९१६ के अन्त में मित्र-पक्ष कुछ मज़बूत होता दिखाई दिया। इसके नये टैंकों ने पश्चिमी मोर्चे पर उन्हें कुछ मज़बूती दी थी। ज़ेपलिन हवाई जहाज़, जो इंग्लैण्ड पर हमला करते थे टूटने लगे। जर्मन-पनडुब्बियों के होते हुए भी तटस्थ देशों के जहाज़ों पर काफ़ी खाने का सामान इंग्लैण्ड पहुँच जाता था। सन् १९१६ की मई में उत्तरी समुद्र में एक जहाज़ी युद्ध हुआ था। इसे जटलैण्ड की लड़ाई कहते हैं। इस लड़ाई में कुल मिलाकर अंग्रेज़ों को कामयाबी मिली। इधर जर्मनी की नाकेबन्दी से ऑस्ट्रिया और जर्मनी के लोग भूखों मरने लगे थे। ऐसा जान पड़ता था कि समय ही मध्य यूरोपीय शक्तियों के ख़िलाफ़ है और फ़ुर्ती से कुछ कर दिखाने की ज़रूरत मालूम हुई। जर्मनी ने समझौते के लिए भी कुछ इशारा किया था, लेकिन मित्र-पक्ष इसके लिए बिलकुल तैयार न हुआ। मित्रपक्ष की सरकारें अपनी गुप्त संधियों से अनेक देशों के बँटवारे के लिए बंधी हुई थीं और जब तक पूरी विजय न हो जाती संतुष्ट नहीं हो सकती थीं।

अमेरिका के राष्ट्रपति उडरो विल्सन ने सुलह कराने की कोशिश की थी, लेकिन वह नाकामयाब रहे।

इस पर जर्मन-नेताओ ने यह निश्चय किया कि अपनी पनडुब्बी का युद्ध तेजी से चलावे और इस तरह से इंग्लैंड को भूखो मार कर उसको नीचा दिखा दे। इस खयाल से इन लोगो ने १९१७ की जनवरी में इस बात का ऐलान किया कि चन्द समुद्रो में वे तटस्थ जहाज भी डुबा देंगे। यह इसलिए किया गया था कि तटस्थ लोग इंग्लैंड में खाने-पीने का सामान न पहुँचावे। इस ऐलान से अमेरिका बहुत नाराज हुआ। वह इस बात को बरदाश्त नही कर सकता था कि उसके जहाज इस तरह डुबो दिये जायँ। इसलिए लड़ाई में शामिल हो जाना उसके लिए अनिवार्य होगया। जर्मन-सरकार ने जब हरेक जहाज को पनडुब्बी से डुबाने का अपना निश्चय किया होगा, तब यह बात उसे जरूर मालूम रही होगी। शायद उसका यह खयाल रहा हो कि अब कोई दूसरा चारा नही और इस खतरे को उठाना ही पडेगा, या उसने यह सोचा हो कि मित्र पक्ष को अमेरिकन पूंजीपति काफी धन दे ही रहे है। बहरहाल १९१७ की अप्रैल में अमेरिका ने लड़ाई की घोषणा कर दी और इसके मैदान में आजाने से जर्मनों की हार निश्चित होगई। अमेरिका के पास विस्तृत वसीले थे और जब दूसरी कौमें थक चुकी थी इससे एक नई स्थिति पैदा होगई।

अमेरिका के युद्ध में शामिल होने के पहले एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हो चुकी थी। १५ मार्च १९१७ को रूस की पहली क्रान्ति के कारण जार को अपनी गद्दी छोड़नी पडी थी। मैं तुम्हे इस क्रान्ति के बारे में अलग लिखूंगा। मै तुम्हे यह बताना चाहता हूँ कि इस क्राति की वजह से युद्ध में बड़ा फरक पड़ गया। रूस जर्मन शक्तियों के खिलाफ बिलकुल नही लड़ सकता था और इसका मतलब यह होगया कि जर्मनी में पूर्वी मोर्चे पर लड़ने की चिन्ता जाती रही। वह अपनी पूर्वी फौजो का ज्यादातर हिस्सा अब पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था और उन्हे अग्रेज और फ्रासीसियो के खिलाफ लड़ा सकता था। एक दम से स्थिति जर्मनी के लिए बहुत अनुकूल होगई। अगर उसे रूस की क्रान्ति की खबर उसके होने के छ-सात हफ्ता पहले मालूम होगई होती तो कितना फरक पड़ गया होता! शायद तब पनडुब्बियो की लड़ाइयो को वह तेज न करता और अमेरिका तटस्थ रहता। रूस के युद्ध-क्षेत्र से बाहर रहने पर और अमेरिका के तटस्थ होते हुए यह बहुत मुमकिन था कि जर्मनी अग्रेजी और फ़्रासीसी सेनाओ को कुचल डालता। फिर भी जर्मनो की ताकत पश्चिमी मोर्चे में बढ गई और जर्मन पनडुब्बियो ने मित्रपक्ष और तटस्थ देश के जहाजो को ज्यादा तादाद में नष्ट कर डाला।

रूस की क्रान्ति से जर्मनी को मदद मिल रही थी, फिर भी जर्मनी में अन्दरूनी

कमजोरी पैदा करने का यह सबसे बड़ा कारण हुआ। पहली क्रान्ति के आठ महीने भी नहीं हुए थे कि दूसरी क्रान्ति हो गई और अधिकार सोवियट और बोलशेविको के हाथ में आ गया, जिनकी पुकार सुलह की थी। इन लोगों ने सारी लड़नेवाली कौमो के सैनिकों और मजदूरो से शान्ति के लिए अपील की और यह बताया कि यह लड़ाई पूँजीपतियों की लड़ाई है, और मजदूरों को इस बात की इजाजत न देनी चाहिए कि वह साम्राज्यवादियो के उद्देशों की पूर्ति के लिए अपने को नष्ट करावे। यह आवाज और यह अपील मोर्चे पर दूसरी क़ौमों के सिपाहियों तक भी पहुंची और इसका बहुत काफी असर हुआ। फ्रांसीसी सेना में कई बलवे हो गये, जिन्हें अधिकारियो ने दबा दिया। जर्मन सिपाहियो पर इससे भी ज्यादा असर हुआ था क्योंकि बहुत-सी जर्मन पलटनों ने क्रान्ति के बाद रूसियो से दोस्ती करली थी। जब ये पलटने पश्चिमी मोर्चे को तब्दील की गई, तब इस नये संदेश को वे अपने साथ ले गई और इसे दूसरी पलटनो में फैलाया। जर्मनी लड़ाई से थका हुआ था और बिल्कुल निरुत्साह हो रहा था। रूस से आये हुए ये बीज ऐसी जमीन पर गिरे जो इनको लेने के लिए तैयार थी। इस तरीके से रूसी क्रान्ति ने जर्मनी को अन्दरूनी तरीके पर कमज़ोर कर दिया।

लेकिन जर्मनी के फौजी अफ़सरों ने इन चेतावनियों की तरफ से अपनी आँखें बिलकुल बन्द करली थी। इन्होने सोवियट रूस से सुलह तो की लेकिन उसको दबाकर उसे जर्मनी के साथ एक अपमानजनक समझौता करने को मजबूर किया। सोवियट रूस ने इस समय यही मंजूर कर लिया, क्योंकि उसके पास कोई दूसरा चारा नहीं था और वह हर हालत में सुलह चाहता था। मार्च १९१८ में जर्मन फौज ने पश्चिमी मोर्चे पर अपना आखिरी विशाल प्रयत्न आरम्भ किया। अंग्रेज और फ्रांसीसियो के मोर्चो को तोड दिया, अनेक सेनाओ को नष्ट कर डाला और फिर मार्न (Marne) नदी तक पहुँच गई जहाँ से वह ३½ बरस पहले पीछे हटा दी गई थी। यह बड़ा भगीरथ प्रयत्न था लेकिन यह आख़िरी प्रयत्न था। इसके बाद जर्मनी पस्त होगया। इसी दरमियान अटलांटिक पार करके अमेरिका की फौजें आ गई और अपने कटु अनुभव के आधार पर पश्चिमी मोर्चे की सारी मित्रपक्ष की सेनायें अंग्रेज, फ्रांसीसी और अमेरिकन एक मुख्य सेनापति की मातहती में कर दी गई ताकि पूरा-पूरा सहयोग हो सके और संगठित तौर पर प्रयत्न किये जा सके। फ्रेंच मार्शल फोक (Foch) पश्चिम में मित्र-पक्ष की सारी सेनाओ का मुख्य सेनापति बना दिया गया। १९१८ के बीच तक हवा निश्चित तौर से बदल चुकी थी। मित्र-पक्ष के हाथ में ताकत पहुँच चुकी थी और ये लोग बढ़ते गये और जर्मनो को पीछे हटाते गये। अक्तूबर के खतम होने तक लड़ाई का खात्मा हो चुका था और युद्ध बन्द करने की बातचीत होने लगी थी।

४ नवम्बर को कील में जर्मन जल-सेना मे गदर हो गया। इसके ५ दिन के वाद वर्लिन में जर्मन-प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। उसी दिन यानी ४ नवम्बर को कैसर विलियम द्वितीय ने वडी बेइज्जती के साथ और भोंडे तरीके से जर्मनी से निकलकर हालैंड के लिए प्रस्थान किया और उसीके साथ होएनजोलर्न राजवश भी ख़तम हो गया। चीन के मचुओ के समान "ये शेर की तरह गरजते हुए दाख़िल हुए थे, लेकिन सांप की पूंछ की तरह गायब होगये।"

११ नवम्बर १९१८ को लडाई वन्द हुई। जो सुलह हुई वह अमेरिका के राष्ट्र-पति विलसन की १४ शर्तो (Fourteen Points) पर निर्भर थी। ये १४ शर्ते बहुत हद तक इन सिद्धान्तो पर निर्भर थीं कि छोटे राष्ट्रो को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाय; नि.शस्त्रीकरण हो, कोई गुप्त समझौता न किया जाय; सारी शक्तियाँ रूस को मदद दें और राष्ट्र-सघ बनाया जाय। आगे चलकर हम देखेंगे कि विजेताओ ने कितनी आसानी से इन १४ वातो को भुला दिया।

लड़ाई खतम होगई, लेकिन इग्लैण्ड की जल-सेना ने जर्मनी की नाकेबन्दी जारी रक्खी। भूख से तड़पते हुए जर्मनी की स्त्रियो और बच्चो को खाना पहुँचानें की इजाजत नही थी। छोटे-छोटे बच्चो के प्रति भी इस आश्चर्यजनक घृणा और प्रतिहिसा की भावना को मशहूर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, देश सेवक, बडे-वडे अखवार और अपने को उदार दल का समाचारपत्र कहने वाले भी प्रोत्साहन देते थे। उस समय इंग्लैण्ड के प्रधान सचिव लायड जार्ज उदार दल के थे। लडाई का सवा चार वर्ष का इतिहास निर्दयतापूर्ण अत्या-चारो से भरा पडा है। और फिर भी सुलह के बाद जर्मनी की इस नाकेबन्दी का जारी रखना अपनी शुद्ध निर्दयता में बेमिसाल है। लड़ाई खतम हो चुकी थी और सारा मुल्क भूखो मर रहा था। छोटे-छोटे बच्चे भूख से तडप रहे थे और जान-बूझकर और जबरदस्ती इनको खाने का सामान नही पहुँचने दिया जाता था। लड़ाई की वजह से हमारे दिमाग किस तरह खराब जाते है और हममें पागलपन से भरी हुई घृणा किस हदतक समा जाती है! जर्मनी के पुराने चान्सलर वेथमैन हॉलवेग ने कहा था--"हमारी सन्तान ओर हमारी सन्तानो की सन्तान इग्लैड की नाकेबन्दी को याद रक्खेगी, जिसे इंग्लैण्ड ने जवर्दस्ती हमारे खिलाफ जारी कर रक्खा है और जो बेरहमी में पैशाचिक कही जा सकती है।"

वडे-वडे राजनीतिज्ञ और ऊँचे-ऊँचे ओहदो के आदमी इस नाकेबन्दी को पसन्द करते थे। लेकिन वेचारा अग्रेज सैनिक, जो असल में लडा था, इस दृश्य को नही देख सकता था। राइनलैण्ड के कोलोन में समझौते के वाद एक अंग्रेजी सेना रखदी गई थी, इस सेना के सेनापति ने प्रधान सचिव लायड जार्ज के पास तार भेजा और उसमें

बताया कि "जर्मन स्त्री और बच्चों की तकलीफों को देखकर ब्रिटिश फ़ौज पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है।" लड़ाई बन्द होने के ७ महीने बाद तक इंग्लैण्ड ने जर्मनी की नाकेबन्दी क़ायम रक्खी।

कई वर्षों तक लड़ते रहने की वजह से लड़ने वाली क़ौमें जानवर हो गई थीं। बहुत से लोगों के हृदय से सद्भावना ख़तम हो चुकी थी, और साधारण आदमी आधे बदमाश होगये थे। उद्दंडता और घटनाओं को जानबूझ कर तोड़-मरोड़ कर बयान करना लोगों के लिए मामूली बात थी और इनका दिल प्रतिहिंसा और घृणा की भावना से भरा हुआ था।

लड़ाई का तलपट क्या था, कोई अभी तक इसे नहीं जानता। हिसाब लगाया जारहा है। मैं तुम्हे कुछ आँकडे बताता हूँ जिससे तुम्हें यह मालूम होगा कि आजकल युद्ध का क्या मतलब होता है।

युद्ध में घायलों और मरे हुओं की पूरी संख्या निम्नलिखित आँकी गई है—

मृत सैनिक (जिनका पता है)	१,००,००,०००
सैनिक जिनके बारे में समझा जाता है कि मारे गये	३०,००,०००
ग़ैर-सैनिक जो मारे गये	१,३०,००,०००
ज़ख़्मी	२,००,००,०००
क़ैदी	३०,००,०००
लड़ाई के अनाथ	९०,००,०००
लड़ाई की विधवायें	५०,००,०००
देश छोड़कर भागे हुए	१,००,००,०००

इन विशाल आँकडों को देखो और इस बात की कल्पना करने की कोशिश करो कि इनके पीछे कितनी मानुषी यातना छिपी हुई है। इनको जोड़ डालो। सिर्फ़ मरे हुए और ज़ख़्मियो की तादाद ४ करोड़ और ६० लाख होती है जो कि युक्तप्रांत की सारी आबादी के बराबर है।

और इस लड़ाई में नकद कितना ख़र्च हुआ, इसका भी हिसाब लगाया जा रहा है। अमेरिकन तख़मीना यह है कि मित्र-पक्ष का ४० अरब ९९ करोड़ ९६ लाख पौंड और जर्मन-पक्ष का १५ अरब १२ करोड़ २३ लाख पौंड ख़र्च हुआ। दोनो को जोड़ डालो, कुल ख़र्च ५६ अरब पौंड हुआ। इन आँकडो को हम अच्छी तरह से समझ नहीं सकते, क्योंकि हमारी रोज़ाना की जिन्दगी से ये बिलकुल परे मालूम होते हैं। इनसे हमें ज्योतिष के आँकडे याद आ जाते हैं जब हम सूरज या सितारे का पृथ्वी से फ़ासला जानने की कोशिश करते हैं। कोई ताज्जुब की बात नहीं कि लड़ाई में शामिल पुरानी

कौमें, विजयी और पराजित दोनो बराबर ही, लड़ाई के खर्चे के बुरे असर से अभी तक परेशान हैं।

'युद्ध खत्म करने के लिए युद्ध', 'लोकतन्त्र के लिए दुनिया मे रास्ता साफ करने के लिए युद्ध', 'आत्म निर्णय का युद्ध' 'स्वतन्त्रता' ओर 'उच्च आदर्शो का युद्ध' खतम होगया था। इग्लैण्ड, फ्रास, अमेरिका, इटली और इनके छोटे-मोटे पिछलग्गू (रूस इनसे अलग था) विजयी हुए थे। इन ऊँचे और महान् आदर्शो को क्रियात्मक रूप में कैसे लाया गया, यह हम बाद को देखेंगे। फिलहाल तो हम अग्रेज कवि साउदे की एक कविता उद्धृत करेगे जो उसने एक पुरानी और दूसरे मौके की विजय के बारे मे लिखी थी--

'And everybody praised the Duke
Who this great fight did win"
"But what good came of it at last ?"
Quoth little Peterkin
"Why, that I can not tell", said he,
"But 'twas a famous victory "

यानी "हरेक ड्यूक की, जिसने इस बडी लडाई मे विजय प्राप्त की थी, तारीफ कर रहा था। पर छोटे से पेटरकिन ने पूछा कि 'आखिर इससे फायदा क्या हुआ ?' उसने कहा—'क्यो ? यह तो मै नही बता सकता पर यह एक गौरवपूर्ण विजय थी।'

: १५० :

रूस से ज़ारशाही का ख़ात्मा

७ अप्रैल, १९३३

लड़ाई की गति का बयान करते हुए मैंने रूसी क्रान्ति और युद्ध पर उसके प्रभाव का जिक्र किया था। युद्ध पर उसने जो असर डाला वह तो पड़ा ही परंतु संसार के इतिहास में भी यह क्रान्ति अपने किस्म की एक अनोखी और विशाल घटना हुई है। यद्यपि यह अपने किस्म की पहली क्रान्ति थी, पर मुमकिन है कि बहुत दिनो तक यह अपने किस्म की अकेली क्रान्ति न बनी रहे; क्योकि यह दूसरे देशो के लिए एक किस्म का चैलेज या चुनौती बन गई है और सारी दुनिया के बहुतेरे क्रान्तिकारियो के सामने एक नमूना पेश कर गई है। इसलिए इसकी गहरी छानबीन करनी चाहिए। निस्सन्देह महायुद्ध का यही सबसे बडा नतीजा था, हालाँकि जिन राजनीतिज्ञो ने और सरकारो ने दुनिया को लड़ाई में धकेला था, वे इसे जरा भी नही चाहते थे और उन्हे इसका खयाल

भी नही था। या यह कहना शायद ज्यादा सही हो, कि इसका जन्म उस आर्थिक और ऐतिहासिक परिस्थिति से हुआ था जो रूस में पाई जाती थी। युद्ध की वजह से पैदा होनेवाली मुसीबतों और नुकसानो ने परिस्थिति को तेजी के साथ संकटपूर्ण बना दिया और क्रान्ति के महापुरुष और अद्भुत बुद्धिवाले लेनिन ने इसका फ़ायदा उठाया।

१९१७ में रूस में असल में दो क्रान्तियाँ हुईं--एक मार्च में और दूसरी नवम्बर में। या इस सारे युग को हम क्रान्ति का निरन्तर प्रवाह कह सकते है और ये दो तारीखे ऐसी है जबकि प्रवाह ऊँची-से-ऊँची सतह पर पहुँच गया था।

मैंने रूस-सम्बन्धी पिछले खत में १९०५ की क्रान्ति का जिक्र किया है। यह क्रान्ति भी लड़ाई और पराजय के समय पैदा हुई थी। इसे बेरहमी के साथ दबा दिया गया और जार की सरकार ने आजादी के साथ निरंकुशता की अपनी जीवन-यात्रा जारी रक्खी। सब किस्म के आज़ाद खयालो को खुफिया पुलिस से पता चलाकर यह सरकार दबा देती थी। मार्क्स के अनुयायी और खासकर बोलशेविक कुचल दिये गये और इनके खास-खास आदमी, और औरतें भी, या तो साइबेरिया के मैदानो में भेज दिये गये या उन्होंने विदेशो में जाकर शरण ली। लेकिन इन लोगो की, जो विदेशो में रहते थे, इस छोटी-सी तादाद ने भी अपना प्रचार जारी रक्खा और लेनिन के नेतृत्व में अध्ययन करते रहे। ये लोग मार्क्स के उसूलो के कट्टर माननेवालो में थे; लेकिन मार्क्स के उसूल जर्मनी और इंग्लैण्ड जैसे उद्योग-प्रधान देशो को नजर में रखकर बनाये गये थे। रूस अभीतक मध्यकालीन और कृषिप्रधान देश था। बडे-बडे शहरो में मामूली व्यवसाय और उद्योग-धंघे थे। लेनिन ने रूस की परिस्थिति को नजर में रखकर मार्क्स के मुख्य सिद्धान्तो को नई शक्ल देनी शुरू की। इस विषय पर उसने बहुत काफी लिखा और रूसी निर्वासितो में खूब बहस-मुबाहिसा होता रहा। इस तरह इन लोगो ने अपने को क्रान्ति के उसूलो में पक्का बना लिया। लेनिन का यह विश्वास था कि अगर कोई काम करना हो तो उसे विशेषज्ञो और उस हुनर के जाननेवालो से कराना चाहिए, केवल उत्साहियो और जोशीले लोगो से काम न चलेगा। अगर क्रान्ति की कोशिश करना है तो, उसकी राय थी कि, इस काम के लिए लोगो को अच्छी तरह तालीम देनी चाहिए, और तैयार करना चाहिए ताकि जब काम का वक्त आये उनके दिमाग साफ हो और वे जानते हो कि हमें क्या करना है। इसलिए लेनिन और उसके साथियो ने१९०५ के बाद दमन के भयकर युग को अगले आन्दोलन के लिए अपने को तैयार करने में लगाया।

१९१४ में रूस में शहरी मजदूरवर्ग जगने लगा था और फिर क्रान्तिकारी हो रहा था। बहुत-सी राजनैतिक हड़ताले हुई। इसके बाद लड़ाई शुरू होगई और

सब लोगो का ध्यान उसीमें लग गया और सबसे आगे बढे हुए कार्यकर्त्ता सिपाही दनादन मोर्चे पर भेज दिये गये। लेनिन और उसके दल ने (ज्यादातर नेता रूस के बाहर निर्वासित थे) लडाई का शुरू से ही विरोध किया। और देशो के साम्यवादियो की तरह ये लोग वहां नही गये। इन्होने उसे पूंजीवादियो का युद्ध बताया,जिससे मजदूरो को कोई ताल्लुक नही था, सिवा इसके कि मजदूर लोग उससे फायदा उठाकर अपनी आजादी पा सकते थे।

समर-भूमि में रूसी फौज को बहुत बडे-बडे नुकसान हुए। शायद जितनी फौजें लडाई में थी, उनमें सबसे ज्यादा इसीको नुकसान उठाना पड़ा। आम तौर पर फौजी लोग ज्यादा अक़्लमन्द नही होते तिसपर रूसी सेनापति तो और भी नालायक़ थे। रूसी सिपाहियो के पास काफी हथियार नही थे, अकसर उनके पास लड़ाई की सामग्री भी नही होती थी, और न लडने में उनको पीछे से मदद दी जाती थी। ये लोग दुश्मनो पर दौडा दिये जाते थे और लाखो की तादाद में काम आजाते थे। इधर पेट्रोग्रेड में, जिसे पहले सेंटपीटर्सबर्ग कहते थे, और दूसरे बडे शहरो में बेहद मुनाफा होरहा था और सट्टे से लोग मालामाल होरहे थे। ये देशभक्त सट्टेवाले और मुनाफा उठानेवाले इस बात की बहुत जोर से चीख-पुकार मचाते थे, कि लड़ाई अखीर तक लडी जाय। अगर लड़ाई स्थायी होजाती तो निस्सन्देह इनके बहुत अनुकूल होता; लेकिन सिपाही और मजदूर और किसान, जिनमें से कि सिपाही भरती होते थे, पस्त हो चुके थे, भूखो मर रहे थे और बहुत असन्तुष्ट थे।

जार निकोलस बहुत बेवकूफ आदमी था और अपनी स्त्री जारीना के असर मे बहुत ज्यादा रहता था, जो कि उसीकी तरह बेवकूफ लेकिन उससे ज्यादा दृढ़ निश्चय की स्त्री थी। इन दोनो ने अपने चारो तरफ बेवकूफो और बदमाशो को इकट्ठा कर लिया और किसीकी हिम्मत नही पड़ती थी कि इनपर आक्षेप करे। मामला इस हद तक पहुँचा कि एक घृणित बदमाश, जिसका नाम ग्रीगोरी रासपुटीन था, जारीना का खास आदमी बन गया और जारीना के जरिये से जार के मुँह लग गया। रासपुटीन (रासपुटीन के मानी है 'गन्दा कुत्ता') एक गरीब किसान था, जो घोडे चुराने के जुर्म में फँस गया था। उसने निश्चय किया कि साधू का वेष बनाना चाहिए और फकीरी के लाभदायक पेशे को इख्तियार करना चाहिए। हिन्दुस्तान की तरह रूस में भी इस ढग से बहुत आसानी के साथ रुपया पैदा किया जा सकता था। उसने लम्बे-लम्बे बाल बढ़ा लिये और ज्यो-ज्यो उसके बाल बढ़े, त्यो-त्यो उसकी शोहरत भी बढी—यहातक कि वह जार के दरबार तक पहुँची। जार और जारीना का लडका, जो जारविच कहलाता था, किसी कदर हमेशा बीमार रहता था। रासपुटीन ने किसी-

न-किसी ढंग से जारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह लड़के को अच्छा कर देगा। उसकी किस्मत जग गई और वह जार और जारीना पर बहुत जल्द हावी होगया। इसीके इशारे पर ऊँची-से-ऊँची नियुक्तियाँ होती थी। इसका जीवन अत्यन्त पतित था और यह बडी-बडी रकमें रिश्वत में लिया करता था; फिर भी यह कई वर्षो तक हावी रहा।

हरेक आदमी रासपुटीन से बेजार था। नरम दल और उच्च वर्ग के लोगो ने भी शोर मचाना शुरू किया और इस बात की चर्चा होने लगी कि राजमहल के अन्दर क्रान्ति कर दी जाय, यानी दूसरा जार जबरदस्ती गद्दी पर बिठा दिया जाय। इसी दरमियान जार निकोलस ने अपनेको अपनी सेना का मुख्य सेनापति बना लिया था और हरेक चीज को चौपट कर रहा था। १९१६ के खत्म होने के चन्द दिन पहले जार के कुटुम्ब के एक आदमी ने रासपुटीन को मार डाला। उसे खाना खाने के लिए बुलाया गया और उससे कहा गया कि तुम अपने को खुद गोली मार लो। रासपुटीन ने इन्कार किया। इसपर उसे गोली मार दी गई। रासपुटीन के कत्ल का सब लोगो ने स्वागत किया और समझ लिया कि बला टली; लेकिन जार की खुफिया पुलिस ने इस घटन के आधार पर बेहद अत्याचार किये।

सकट बढ़ने लगा। पेट्रोग्रेड में अकाल पड़ गया और खाने के लिए बलवे होने लगे; इसके बाद मार्च के शुरू में मजदूरो की चिर यातना के बीच से आप ही आप क्रान्ति पैद हुई, जिसकी कोई आशा न थी। मार्च महीने के ५ दिनो में, यानी ८ से १२ मार्च के बीच में क्रान्ति की विजय रही। यह कोई राजमहल के अन्दर की बात नही थी और न यह को सगठित क्रान्ति ही थी, जिसकी चोटी के नेताओ ने बाकायदा व्यवस्था की हो। यह क्रान्ति नीचे से उभडी थी; बहुत ज्यादा सताये हुए मजदूरो में से और बिना किसी जाहिर व्यवस्था या नेतृत्व के अन्धो की तरह रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़ी थी। अनेक क्रान्ति-कारी दल, जिनमें स्थानीय बोलशेविक भी थे, हक्का-बक्का रह गये और सोचने लगे कि क्रान्ति को किस रास्ते पर ले जायँ? जनता ने खुद ही अपना रास्ता निकाल लिया, और जिस समय इन्होने पेट्रोग्रेड के सिपाहियो को अपनी तरफ कर लिया, विजय इनकी होगई। यह क्रान्तिकारी जनता असगठित भीड़ नही थी जो लूट-मार के लिए उतारु हो, जैसे कि पहले के किसानो के बलवे हुआ करते थे। मार्च की इस क्रान्ति के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसका नेतृत्व कारखाने के मजदूरो ने किया जो कि इति-हास में अपने किस्म की पहली चीज है, और इन मजदूरो में यद्यपि उस समय कोई मशहूर नेता नहीं था, बहुत से ऐसे अप्रसिद्ध कार्यकर्त्ता थे, जिन्हे लेनिन के दल में ट्रेनिंग यानी तालीम मिल चुकी थी। लेनिन और दूसरे लोग या तो जेल में थे या जलावतन थे।

बहुतेरे कारखानो के इन अज्ञात कार्यकर्ताओ ने सारे आन्दोलन को मजबूती दी और उसे निश्चित मार्ग पर चलाया।

इस जगह पर हमें औद्योगिक जनता (Industrial masses) काम करती हुई दिखाई देती है। किसी दूसरी जगह यह वात नही देखी गई थी। रूस एक बिलकुल खेतिहर मुल्क था और यहाँ कृषि भी मध्यकालीन ढंग से चलाई जाती थी। इस देश में नये जमाने के उद्योग-धंधे या कल-कारखाने वहुत कम थे और जो थे भी वे चन्द शहरो में केन्द्रित थे। पेट्रोग्रेड में वहुत-से कारखाने थे और मिल में काम करने वाले मजदूरो की काफी वडी आवादी थी। मार्च की क्रान्ति पेट्रोग्रेड के इन्ही मज़-दूरो और इस शहर में रक्खी हुई पलटन का ही काम था।

८ मार्च को क्रान्ति की पहली गड़गड़ाहट सुनाई दी। स्त्रियो ने सबसे पहले आगे कदम वढाया। कपडे की मिलो की स्त्रियाँ, जो मजदूरी करती थी, जलूस वना-कर शहरो में फिरी। दूसरे दिन हड़ताल वढ़ी। वहुत-से मर्द मजदूरो ने काम छोड़ दिया। रोटी के लिए चीख़-पुकार शुरू हुई और "निरकुशता का नाश हो!" का नारा लगाया जाने लगा। जुलूस के इन मजदूरो को पस्त करने के लिए अफसरो ने कज़्ज़ाकों की फोज भेजी। यही पुराने जमाने में जारशाही के खास मददगार रहे थे। कज़्ज़ाको ने जनता को इधर-उधर भगा दिया, लेकिन गोली नही चलाई। मजदूरो को यह देखकर वडी खुशी हुई कि कज़्ज़ाक लोग असल में सरकारी नकाब के पीछे दोस्ती दिखा रहे है। फौरन ही जनता का जोश बढ़ गया और उसने कज़्ज़ाको से दोस्ती करने की कोशिश की। लेकिन पुलिस से घृणा रही और उस पर पत्थर फेके गये। तीसरे दिन यानी १० मार्च को कज़्ज़ाको के साथ दोस्ती की भावना और भी वढ़गई और यह अफवाह फैल गई कि कज़्ज़ाको ने पुलिस पर गोली चलाई है जोकि जनता को गोलियो से मार रही थी। इसके वाद पुलिस सड़को पर से हट गई। स्त्री कार्यकर्त्ताओ ने सैनिको के पास जाकर उनसे जोरदार अपील की और सिपाहियों की संगीने आसमान की तरफ होगई।

दूसरे दिन यानी ११ मार्च को रविवार था। मजदूर लोग शहर के वीचों-वीच इकट्ठे हुए। पुलिस ने उनपर छिपी हुई जगहो से गोलियाँ चलाई। कुछ फौजी सिपाहियो ने भी जनता पर गोलिया चलाई। जनता उस पलटन के वैरक में गई और इस वात की सख्त शिकायत की। फौज के दिल पर असर पड़ा और वह जनता की रक्षा के लिए अपने नानकमिशण्ड अफसरो की मातहती में वाहर निकल आई। यह पलटन गिर-फ़्तार कर ली गई, लेकिन गिरफ्तारी वहुत देर से हुई। १२ मार्च को और पलटनो में भी गदर होगया और ये लोग अपनी मशीनगन और राइफले लेकर वाहर निकल

आये। सड़कों पर खूब गोलियाँ चलीं। यह कहना मुश्किल था कि कौन किसको मार रहा है। इसके बाद फ़ौजी सिपाहियों और मजदूरों ने कुछ मंत्रियों को पकड़ लिया; बाक़ी तो भाग गये थे। इन लोगों ने पुलिस और खुफ़िया पुलिस के आदमियों को गिरफ्तार कर लिया था। और जेलों से पुराने राजनैतिक क़ैदियों को भी छोड़ दिया था।

पेट्रोग्रेड में क्रान्ति की विजय रही। इसके बाद शीघ्र ही मास्को में क्रान्ति हुई। गाँव गौर से यह हालत और हलचल देख रहे थे। धीरे-धीरे किसानों ने भी नई व्यवस्था मंजूर करली, लेकिन उत्साह के साथ नहीं। इनके सामने सिर्फ़ दो सवाल थे; एक तो इन्हें जमीन मिल जाय और दूसरे शान्ति रहे।

जार का क्या हुआ? इस घटनापूर्ण जमाने में उसकी क्या हालत थी? वह पेट्रोग्रेड में नहीं था। वह बहुत दूर एक छोटे-से क़स्बे में रह रहा था, जहाँ से मुख्य सेनापति की हैसियत से वह अपनी सेनाओं को हिदायतें देता रहता था। लेकिन उसका जमाना ख़तम हो चुका था। पके फल की तरह यह टपक पड़ा और किसीने देखा भी नहीं। यह महान् शक्तिशाली जार, रूस का सबसे बड़ा निरंकुश शासक, जिसके सामने लाखों काँपते थे, पवित्र रूस का पिता, इतिहास की रद्दी की टोकरी में ग़ायब हो गया। कितने ताज्जुब की बात है कि बड़ी-बड़ी प्रणालियां, जब उनका जमाना ख़तम हो जाता है और वह अपना काम कर चुकती हैं, किस तरह ख़तम हो जाती हैं! जब जार ने सुना कि मजदूरों ने हड़ताल करदी है और पेट्रोग्रेड में बलवा हुआ है, तो उसने फ़ौजी क़ानून की घोषणा कर दी। सेनापति ने यह घोषणा तो बाक़ायदा निकाल दी, लेकिन शहर में इसे फैलाने वाला या इसकी नोटिस चिपकाने वाला कोई न मिला। सरकार की मशीन यानी व्यवस्था टुकड़े-टुकड़े हो गई थी। जार ने इन घटनाओं से आँखें बन्द करके पेट्रोग्रेड आने की कोशिश की। लेकिन रेलवे के मजदूरों ने इसकी ट्रेन रास्ते में रोक ली। जारीना ने, जो उस वक्त पेट्रोग्रेड के बाहर की बस्ती में रह रही थी, जार के नाम एक तार भेजा। यह तार तारघर से वापस आगया और उसके पीछे यह नोट था—"यह आदमी कहाँ है, इसका पता नहीं।"

मोर्चे पर जो सेनापति थे और पेट्रोग्रेड के नरम दल के नेताओं ने इन घटनाओं से डरकर और इस उम्मीद में कि जो कुछ बचे, बचा लेना चाहिए, जार से गद्दी छोड़ने की प्रार्थना की। जार ने गद्दी छोड़ दी और अपनी जगह के लिए अपने एक रिश्तेदार को नामजद कर दिया। लेकिन अब आगे कोई जार होने वाला नहीं था, रोमनोफ का राजवंश तीन सौ बरस के निरंकुश शासन के बाद रूसी रंग-मंच से हमेशा के लिए प्रस्थान कर गया।

उच्च वर्ग के रईस, जमींदार, मध्यमवर्ग के ऊपर के दर्जे के आदमियो, यहाँ तक कि सुधारक और उदार दल के आदमियो ने भी मजदूरो के इस उभार को बहुत भय से देखा। जब इन्होंने यह देखा कि वह सेना, जिसके ऊपर ये भरोसा करते थे, मजदूरो से मिल गई तो ये बिलकुल असहाय हो गये। इनको यह निश्चय नही था कि विजय किस पक्ष की होगी, क्योंकि यह मुमकिन था कि जार कोई फौज लेकर लडाई के मोर्चे पर वापस आये और विद्रोह को दबा दे। इसलिए एक तरफ मजदूरो का डर, दूसरी तरफ जार का और इसके अलावा अपनी बचत करने की फिक्र से इन लोगो की दशा बहुत दयनीय और मुसीबत की हो गई थी। डूमा यानी पार्लमेण्ट में जमीदारो और उच्च वर्ग के लोगो का बोलबाला था। मजदूर भी इससे कुछ आशा करते थे, लेकिन इस संकट के मौके पर नेतृत्व करने के बजाय या कुछ कार्रवाई करने के बजाय, इसके अध्यक्ष और सदस्य बैठे-बैठे कांपते और डरते रहे और यह निश्चय न कर सके कि क्या किया जाय।

इसी दरमियान सोवियट ने रूप धारण करना शुरू किया। मजदूरो के प्रतिनिधियो के साथ सैनिको के प्रतिनिधि भी आ गये, और नई सोवियट ने विशाल टाराइड राज-महल का एक हिस्सा अपने कब्जे में कर लिया। इस राज महल के एक हिस्से मे डूमा भी थी। मजदूरो और सैनिको को अपनी विजय पर बहुत उत्साह था। लेकिन सवाल यह उठा कि अब किया क्या जाय? इन्होने अधिकार तो हासिल कर लिया, लेकिन, इस अधिकार को चलावे कौन? यह बात इन लोगो की समझ में नही आई थी कि सोवियट यानी इनकी पंचायत खुद ही शासन चला सकती है। इस लोगो ने यह बात व्यर्थ ही मानली थी कि मध्यमवर्ग को ही शासन करना चाहिए। इसलिए सोवियट की तरफ से डूमा के पास एक डेपूटेशन यानी प्रतिनिधि मण्डल गया और उससे प्रार्थना की कि आप लोग शासन शुरू कीजिए। डूमा के अध्यक्ष और सदस्यो ने यह समझा कि यह डेपूटेशन उन्हे गिरफ़्तार करने आया है। इनके मन में शासन का भार उठाने की कोई ख्वाहिश नही थी, और इस काम में जो खतरा था उससे ये डरते भी थे। लेकिन ये लोग करें तो क्या करें? सोवियट के डेपूटेशन ने आग्रह किया और इन लोगो को इन्कार करते हुए डर मालूम हुआ। इसलिए बहुत बे-दिली से और परिणामो से डरते हुए डूमा की एक कमिटी ने शासन की बागडोर हाथ में लेना मंजूर किया। लेकिन बाहरी दुनिया को मालूम होता था कि डूमा ही क्रान्ति का संचालन कर रही है। कैसी अजीब घोटाले की बात थी! अगर हम किसी कहानी में ऐसी बात पढ़ें तो मुश्किल से यकीन करेंगे। लेकिन घटनायें कल्पनाओ से अकसर अनोखी होती हैं।

डूमा की कमिटी ने जिस अस्थाई सरकार की रचना की थी, वह बहुत ही संकीर्ण विचार की थी और उसका प्रधान मन्त्री एक 'प्रिंस' या ऊँचे रईसी खानदान का

व्यक्ति था। इसी मकान के दूसरे हिस्से में सोवियट की सभायें होती थी और वे अस्थायी सरकार के काम में बराबर दस्तन्दाजी करती रहती थी, लेकिन सोवियट खुद शुरू मे एक नरम संस्था थी और बोलशेविक लोग इसके अन्दर मुट्ठी भर थे। इस तरह से दो सरकारे हो गई थी, एक अस्थायी सरकार और दूसरी सोवियट। इन दोनो के पीछे क्रान्तिकारी जनता थी, जिसने क्रान्ति करके दिखा दी थी और इस क्रान्ति से बडी-बडी आशायें रखती थी। भूखी और लड़ाई से परेशान जनता को नई सरकार ने सिर्फ एक बात बताई कि उसे तब तक लड़ाई जारी रखनी चाहिए जबतक जर्मन लोग हार न जॉय। लोग सोचने लगे कि क्या इसी बात के लिए हमने क्रान्ति की थी और ज़ार को निकाला था ?

इसी अवसर पर, १७ अप्रैल को लेनिन रंगमंच पर आ गया। सारी लडाई भर यह स्वीजरलैण्ड में था और जब उसने क्रान्ति की बात सुनी, तो रूस पहुँचने लिए बड़ा उत्सुक होगया। लेकिन पहुँचता कैसे ? अँग्रेज और फ़्रान्सीसी अपने मुल्को से इसे गुजरने की इजाजत नही देते थे और न जर्मन और आस्ट्रियन ही। आख़िरकार अपने मतलब से जर्मन सरकार इस बात पर राजी हो गई कि एक वन्द रेल गाडी में उसे स्वीजरलैण्ड से रूस तक पहुँचा दे। जर्मन लोगो को यह उम्मीद थी और उम्मीद करने की वजह भी थी कि रूस में लेनिन के पहुँच जाने से अस्थायी सरकार और युद्ध की पार्टी कमजोर पड़ जायगी, क्योंकि लेनिन लड़ाई के ख़िलाफ था और जर्मन लोग इस बात से फायदा उठाना चाहते थे। इनको यह कल्पना भी नहीं थी कि यह क्रान्तिकारी, जिसको कोई जानता भी नहीं, योरप और दुनिया को हिला देनेवाला है।

लेनिन के दिमाग में कोई शक-शुबहा नही था। इसकी आँखें जनता की मनोवृत्ति को समझने में बहुत कुशल थीं। इसका दिमाग सुलझा हुआ था, और यह बदलती हुई स्थिति में अच्छी तरह से सोचे-समझे हुए सिद्धान्तो का प्रयोग कर सकता था। यह दृढ़ निश्चय का आदमी था, जो अपने बनाये हुए रास्ते पर डटा रहता था और तात्कालिक परिणाम की परवाह नही करता था। जिस दिन वह आया, उसी दिन उसनें बोलशोविक दल को खूब फटकारा, उनकी अकर्मण्यता पर ऐतराज किया और जोरदार वाक्यो में उनका कर्तव्य बताया। इसका भाषण बिजली की तरह चुभ गया और साथ-ही-साथ इसने जान भी पैदा कर दी। इसने कहा था—"हम लोग दगाबाज नहीं है। हम अपनी बुनियाद जनता की जागृति पर ही कायम कर सकते है। अगर अल्प संख्या में रहना जरूरी होगा तो रहेगे। कुछ समय के लिए नेतृत्व छोड़ देना अच्छा है। अल्प संख्या में रहने से हमें न डरना चाहिए।" इस तरह यह अपने सिद्धान्तो पर अटल रहा और समझौता करने से इन्कार करता

रहा। जो क्रान्ति अभीतक बिना नेता के, बिना राह दिखानेवाले के, चल रही थी, अन्त में सनाथ हो गई। नेता मिल गया, समय ने आदमी पैदा कर दिया।

सवाल यह है कि वह कौन-सा सिद्धान्त का भेद था, जिसकी वजह से इस अवसर पर बोलशेविक लोग मेनशेविको और दूसरे क्रान्तिकारी दलो से अलग थे ? लेनिन के आने के पहले स्थानीय बोलशेविक लोग किस वजह से अकर्मण्य हो रहे थे और सोवियट ने अधिकार पा जाने के बाद इसे पुरानी और संकीर्ण डूमा को सुपुर्द कर देना क्यो मुनासिब समझा ? मैं इन सवालो में बहुत गहरा नहीं जा सकता, लेकिन अगर हम १९१७ के रूस और पेट्रोग्रेड के बराबर तब्दील होनेवाले नाटक को समझना चाहते हैं, तो हमें इन सब बातो पर कुछ ग़ौर जरूर करना होगा।

मनुष्य के परिवर्तन और विकास के बारे में कार्लमार्क्स का सिद्धान्त 'इतिहास की भौतिक या पदार्थवादी व्याख्या' कहलाता है। इसके मुताबिक जब पुरानी सामाजिक प्रणाली अपने समय के परे पहुँच जाती है, इसकी जगह पर नये सामाजिक रूप पैदा होते हैं। चीजो की उत्पत्ति के ढंग ने जैसे-जैसे उन्नति की, समाज का आर्थिक और राजनैतिक संगठन भी धीरे-धीरे उसके अनुकूल बनता गया। यह बात इस तरह से हुई कि शोषित वर्ग में और शोषक या शासक वर्ग के बीच बराबर संघर्ष जारी रहा। इससे पश्चिमी योरप में पुराना सामन्त वर्ग खत्म हो गया और उसकी जगह पर मध्यम वर्ग आ गया। यही वर्ग आज इंग्लैण्ड, फ़्रांस, जर्मनी वगैरा देशो में आर्थिक और राजनैतिक ढाँचे को चलाता है। अब इस वर्ग की जगह पर मजदूर वर्ग आयेगा। रूस में सामन्त वर्ग अभी तक हावी था और जिस परिवर्तन की वजह से पश्चिमी योरप में मध्यम वर्ग हावी हुआ था, वह परिवर्तन रूस में अभी तक नही हुआ था। इसलिए मार्क्स के मानने वाले कितने ही लोग यह सोचते थे कि रूस को लाजमी तौर से पहले मध्यम वर्ग के अधिकार में जाना होगा, पार्लमेण्ट की मंजिल से गुजरना होगा और फिर इसके बाद कही मजदूरो की प्रजातंत्र की आख़री मंजिल मिलेगी। इनका ख़याल था कि बीच की मजिल को कूदकर पार नही किया जा सकता। लेनिन खुद १९१७ के मार्च की क्रान्ति से पहले मध्यम मार्ग की नीति का मानने वाला था। उसनें यह लिखा था कि अगर ज़ार और जमींदारो के ख़िलाफ मध्यम मार्ग में क्रान्ति करानी है तो किसानो से सहयोग करना चाहिए और मध्यम वर्ग का विरोध न करना चाहिए।

बोलशेविक, मेनशेविक और मार्क्स के सिद्धान्तो के सभी माननेवालो के दिल में यह ख़याल जम गया था कि अंग्रेजी या फ़्रासीसी नमूने का मध्यवर्गीय प्रजा सत्तात्मक लोकतन्त्र कायम किया जाय। मजदूरो के मशहूर नुमाइन्दे या प्रतिनिधि भी

इसे अनिवार्य समझते थे और इसीलिए सोवियट ने अधिकार को अपने हाथ में रखने की बजाय डूमा के सुपुर्द करना मुनासिब समझा। ये लोग जैसा, हम सब लोगों का अक्सर हाल होता है, अपने ही सिद्धान्त के ग़ुलाम होगये थे। इन्हें यह नहीं दिखाई पड़ता था कि एक नई स्थिति पैदा होगई है, जिसमें एक दूसरी नीति पर चलने की ज़रूरत है। कम-से-कम पुरानी नीति को नये साँचे में ढालना चाहिए। जनता नेताओं से कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थी। मेनशेविक लोग, जिनके हाथ में सोवियट थी, यहाँ तक कहते थे कि मज़दूर वर्ग को उस समय किसी क़िस्म का सामाजिक सवाल उठाना ही नहीं चाहिए। इसका तात्कालिक कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि राजनैतिक स्वतंत्रता हासिल कर लें। बोलशेविक लोग अपनी घात में थे। संकोच और फूंक-फूंककर क़दम रखने की नीति के होते हुए भी मार्च की क्रान्ति सफल रही।

लेनिन के आने पर सारी बातें बदल गईं। उसने फ़ौरन ही स्थिति को समझ लिया। सच्चे नेता की अद्भुत बुद्धि उसमें थी। उसने मार्क्स के कार्यक्रम को स्थिति के अनुसार नया रूप देकर सामने रख दिया। अब यह तय हुआ कि मज़दूर वर्ग ग़रीब किसानों के साथ मिलकर पूंजीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई करे। बोलशेविक लोगों ने तुरन्त तीन बातों की पुकार शुरू की :—

(१) प्रजासत्तात्मक लोकतन्त्र (२) रियासतों की ज़ब्ती, और (३) मज़दूरों के लिए ८ घण्टे का दिन। फ़ौरन ही इन पुकारों की वजह से किसान और मज़दूरों के लिए लड़ाई एक असली चीज़ बन गई। संघर्ष इनके लिए कोई अनिश्चित या खोखला आदर्श नहीं रह गया, बल्कि आशा और जीवन की एक वास्तविक चीज़ बन गया।

लेनिन ने बोलशेविक लोगों के लिए यह नीति बनाई कि वे मज़दूरों के बहुमत को अपने पक्ष में करें और सोवियट पर अपना क़ब्ज़ा करलें। इसके बाद सोवियट अस्थायी सरकार से अधिकार छीन ले। लेनिन की यह राय नहीं थी कि फ़ौरन ही दूसरी क्रान्ति शुरू की जाय। उसका आग्रह यह था कि अस्थायी सरकार को उलटने के पहले मज़दूरों के बहुमत को अपनी तरफ़ मिला लेना चाहिए और सोवियट पर कब्ज़ा कर लेना चाहिए। जो लोग अस्थायी सरकार से समझौता करना चाहते थे, वह उनके बहुत सख़्त ख़िलाफ़ था। उसके मतानुसार यह बात क्रान्ति के साथ दग़ा करने की थी। वह उन लोगों के भी सख़्त ख़िलाफ़ था जो सरकार को ठीक वक़्त के पहले तोड़ने के लिए उतावले हो रहे थे। उनका कहना था :—

"A moment of action is no time to aim 'a wee bit too far to the left' We look upon that as the greatest crime, disorgnisation."

अर्थात् "काम करने का वक़्त बहुत ज्यादा आगे और दूर की गरम बातों पर

लक्ष्य करने में खोना ठीक नहीं है। इसे हम बहुत बडा जुर्म और क्रान्ति की ताकतों को छिन्न-भिन्न कर देना समझते हैं।"

इस तरह शान्तिपूर्वक लेकिन न मिटनेवाली कर्म-रेखा की तरह बर्फ का यह टुकड़ा, जिसके अन्दर धधकती हुई आग छिपी हुई थी, अपने निश्चित ध्येय की तरफ बढ़ने लगा।

: १५१ :

बोलशेविक अधिकार छीन लेते हैं

९ अप्रैल, १९३३

क्रान्ति के जमाने में इतिहास बडे लम्बे कदम बढाकर चलता है। ऊपर-ऊपर तेजी के साथ परिवर्तन होते ही हैं, लेकिन इससे भी बडा परिवर्तन जनता के हृदय में पैदा हो जाता है। जनता किताबो से बहुत कम सीखती है, क्योकि उसको किताबी शिक्षा का ज्यादा मौका नही मिलता, और किताबें अकसर छिपाती ज्यादा हैं और बताती कम हैं। जनता का स्कूल अनुभव का, ज्यादा कठोर पर ज्यादा सच्चा, स्कूल होता है। लोगो के हार्दिक अभिप्राय पर जो परदा पड़ा रहता है वह क्रान्ति के युग में, ताकत हासिल करने की जिन्दगी और मौत की लड़ाई के बीच हट जाता है, और तब हमें वह असलियत दिखाई दे जाती है, जिस पर समाज की बुनियाद होती है। इसलिए १९१७ के घटनापूर्ण साल में रूस में जनता ने, और खासकर शहर के कारखानो के मजदूरो ने, जो क्रान्ति के बीच में थे, घटनाओ से सबक सीखा और उनमें रोजाना तब्दीलियाँ होती रहीं।

कही कोई स्थिरता या समतौल नही था। जीवन स्फूर्ति से भरा था और बदल रहा था। जनता और वर्ग अलग-अलग रास्ते पर और जुदी-जुदी दिशाओ में बढ़ रहे थे और एक दूसरे को घसीट रहे थे। ऐसे भी लोग उस वक्त तक पाये जाते थे जो जार की शासन-प्रणाली को फिर से वापस लाने की उम्मीद करते थे और उसके लिए षड्यंत्र रचते थे। लेकिन इस वर्ग का कोई महत्व नही था और हम इसकी उपेक्षा कर सकते हैं। असली लड़ाई अस्थायी सरकार और सोवियट के बीच थी; फिर भी सोवियट में ज्यादातर लोग सरकार के साथ सहयोग और समझौता करने के पक्ष में थे। ये समझौता करनेवाले लोग राजसत्ता और शासन की बागडोर हाथ में लेने से डरते थे। सोवियट में एक शख्स ने कहा था—"सरकार की जगह कौन लेगा। हम? लेकिन हमारे हाथ तो कपते हैं ..।" इसी किस्म की आवाज हमें हिन्दुस्तान में भी ऐसे बहुत-से लोगो के मुँह से सुनाई पड़ती है, जिनके हाथ लूले या

बेकाम हो गये हैं, और जिनके दिल थर्रा गये हैं। लेकिन जब वक्त आता है तब मज़बूत हाथ और पक्के दिल के आदमियों की कमी नहीं रहती।

दोनों तरफ़ के समझौता चाहने वाले लोग बचाने की चाहे जितनी कोशिश क्यों न करते, पर अस्थायी सरकार और सोवियट के बीच संघर्ष का होना लाज़िमी था। सरकार लड़ाई जारी रख कर मित्र राष्ट्रों को और जायदाद की हिफ़ाज़त करके रूसी उच्च या मालिक वर्ग को खुश रखना चाहती थी। सोवियट जनता के सम्पर्क में ज्यादा थी, इसलिए उसने यह देख लिया था कि जनता शान्ति चाहती है, किसान ज़मीन चाहते हैं और मज़दूरों की भी बहुत-सी मांगें हैं—जैसे दिन में काम के आठ घण्टे वग़ैरा। इस तरह सरकार को सोवियट ने बेकार और पस्त कर दिया था और जनता ने सोवियट को, क्योंकि जनता राजनैतिक दलों और उनके नेताओं से कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थी।

इस बात की कोशिश हुई कि सोवियट के ज्यादा अनुकूल सरकार बनाई जाय और एक उग्र परिवर्तनवादी वकील और ज़बर्दस्त भाषण देने वाला राजनीतिज्ञ करेंस्की सरकार का प्रधान सदस्य हो गया। उसने एक समझौते की सरकार बनाई, और इस सरकार के लिए सोवियट के मेंशेविक लोगों ने, जिनका बहुमत था, प्रतिनिधि भेजे। इसने इस बात की भी सख़्त कोशिश की कि जर्मनी पर हमला करके इंग्लैण्ड और फ्रांस को खुश रक्खे। लेकिन इस बात में वह नाकामयाब रहा क्योंकि लोग लड़ाई के लिए तैयार न थे।

इसी दरमियान अखिल रूसी सोवियट कांग्रेस के अधिवेशन पेट्रोग्रेड में हो रहे थे और बाद की हरेक कांग्रेस पहले के अधिवेशनों से ज्यादा उग्र होती जाती थी। बोलशेविक मेम्बर ज्यादा से ज्यादा तादाद में चुन कर आते थे और दो बड़े दल यानी मेनशेविक और सोशल रेवोल्यूशनरी यानी सामाजिक क्रान्तिकारी (किसान पार्टी) का बहुमत अब कम हो गया था। ख़ासतौर पर पेट्रोग्रेड के मज़दूरों में बोलशेविक लोगों का असर बहुत बढ़ गया। सारे देश में सोवियट बन गये थे और वे तबतक सरकार का हुक्म मानने को तैयार नहीं होते थे, जबतक उसपर सोवियट की भी मंज़ूरी न हो। अस्थायी सरकार के कमज़ोर होने की एक वजह यह भी थी कि रूस में कोई मज़बूत मध्यमवर्ग नहीं था।

इधर राजधानी में अधिकार के लिए खींचतान जारी थी, उधर किसानों ने सारा क़ानून अपने हाथ में ले लिया। जैसा मैंने तुम्हें बताया है, ये किसान मार्च की क्रान्ति से बहुत खुश नहीं थे मगर वे इसके ख़िलाफ़ भी नहीं थे। वे इन्तज़ार कर रहे थे और स्थिति समझ रहे थे। लेकिन बड़ी-बड़ी रियासतों के ज़मींदारों ने, इस डर से कि उनकी जायदाद ज़ब्त कर ली जायगी, अपनी रियासत को छोटे-छोटे

टुकडो में बांट दिया और दिखलाने के लिए दूसरो के नाम कर दिया, जो अपने नाम ने इन जायदाद को उनके लिए बनाये रखते। इन लोगो ने अपनी जायदाद का बहुत-सा हिस्सा विदेशियो के हाथ बेच भी डाला। इस तरह उन्होने अपनी जायदाद बचानी चाही। किसान इस बात को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे और उन्होने सरकार के सामने यह मांग पेश की कि जमीन की बिक्री कानून से रोक दी जाय। सरकार हिचकचाई; सोचने लगी कि क्या किया जाय ? वह किसी पार्टी को नाराज करना नहीं चाहती थी। इस पर किसानो ने खुद कार्रवाई करनी शुरू कर दी। अप्रैल के महीने में कुछ किसानो ने अपने जमीदारो को गिरफ्तार करके रियासतो पर कब्जा कर लिया और उन्हे आपस में बांट लिया। वे सैनिक, जो मोर्चे से वापस आये थे (और वे किसान ही थे), इस बात में आगे रहे। यह मामला बढ़ता गया, यहाँ तक कि सारी जमीन पर आम तौर पर जनता का कब्जा हो गया। जून के महीने में साइबेरिया के मैदानो में कोई बडे जमीदार नही थे, इसलिए किसानो ने गिरजो और मठो से लगी हुई जमीन पर कब्जा कर लिया।

नोट करने लायक बात यह है कि बडी-बडी रियासतो की यह जब्ती किसानो ने खुद अपने मन से की और बोलशेविक क्रान्ति के कई महीने पहले यह बात होगई थी। लेनिन की यह राय थी कि सगठित रूप से जमीन किसानो को तुरन्त दे दी जाय। वह इस बात के पक्ष में नही था कि अराजकता के ढग से, जो किसान, जहाँ चाहे मनमानी जमीन ले ले। इस तरह जब कुछ दिन बाद बोलशेविक लोगो के हाथ में सरकार आई, रूस मौरूसी और दखिलकार किसानो का देश बन चुका था।

लेनिन के आने के ठीक एक महीने बाद एक दूसरा मशहूर निर्वासित शख्स पेट्रोग्रेड आया। इसका नाम ट्राटस्की था। यह न्यूयार्क से वापस आया था और इसे रास्ते में अग्रेजो ने रोक रक्खा था। ट्राटस्की पुराने बोलशेविको के गिरोह का नही था और न वह अब मेनशेविक ही था, लेकिन वह बहुत जल्द लेनिन की तरफ आ गया और पेट्रोग्रेड की सोवियट का एक जोरदार नेता बन गया। यह बडा अच्छा वक्ता था, बहुत अच्छा लेखक था और इसमें बिजली की बैटरी की तरह ताकत और स्फूर्ति भरी हुई थी। लेनिन के दल को इससे बडी मदद मिली। इसकी आत्म-कथा से, जो 'माई लाइफ' (मेरा जीवन) नाम से अंग्रेजी छपी है, मैं एक लम्बा उद्धरण इस जगह पर दूंगा। इसमें उसने 'माडर्न सर्कस' नाम के मकान में हुई उन सभाओ का जिक्र किया है जिनमें उसने भाषण दिया था। यह उद्धरण उसके सिर्फ सुन्दर लेख का नमूना ही नहीं है, बल्कि इससे हमारी आखो के सामने पेट्रोग्रेड के १९१७ के क्रान्तिकारी दिनो की जीती जागती और स्पष्ट तस्वीर आ जाती है।

"The air, intense with breathing and waiting, fairly exploded with shouts and with the passionate yells peculiar to the Modern Circus. Above and around me was press of elbows, chests and heads. I spoke from out of a warm cavern of human bodies; whenever I stretched out my hands I would touch some one, and a grateful movement in response would give me to understand that I was not to worry about it, not to break off my speach but to keep on No speaker, no matter how exhausted, could resist the electric tension of that impassioned human throng. They wanted to know, to understand, to find their way. At times it seemed as if I felt, with my lips, the stern inquisitiveness of this crowed that had become merged into a single whole Then all arguments and words thought out in advance would break and recede under the imperative pressure of sympathy, and other words, other arguments, utterly unexpected by the orator but needed by these people, would emerge in full array from my sub-consciousness On such occasions I felt as if I was listening to the speaker from the outside, trying to keep pace with his ideas, afraid that, like a somnambulist, he might fall off the edge of the roof at the sound of my conscious reasoning."

"Such was the Modern Circus. It had its own contours, fiery, tender and frenzied The infants were peacefully sucking the breasts from which approving or threatening shouts were coming. The whole crowd was like that, like infants clinging with their dry lips to the nipples of the revolution. But this infant matured quickly."

यानी, "इस सभा का वातावरण लोगों के इन्तजार और साँस लेने की वजह से बहुत गरम था, लेकिन जोशीले नारों से और जयध्वनि से, जो माडर्न सर्कस की एक खासियत थी, यह वातावरण अशान्त हो जाता था। मेरे ऊपर और मेरे चारो तरफ घुटनो, सीनो और सरों का जमघट था, और मै उनसे दबता जाता था। मै मनुष्य-शरीरो की बनी हुई गुफा की गर्मी से बोल रहा था। जब जब मैं अपने हाथ फैलाता था, कोई-न-कोई छू जाता था। इसके जवाब में उधर से जो हरकत होती थी वह इस बात के लिए मुझे विश्वास दिलाती थी कि मुझे अपना भाषण जारी रखना चाहिए और इसके लिए व्याख्यान को रोकने की कोई जरूरत नही। कोई व्याख्यान देने वाला, चाहे वह कितना ही थक क्यो न गया हो, आदमियो की भीड की उत्साह से भरी हुई इस बिजली की धारा से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। लोग समझना चाहते थे जानना चाहते थे, और अपना रास्ता निकालना चाहते थे। सारी भीड़ एक परिपूर्ण चीज हो गई थी और इसके कठोर

७ नवम्बर आई और सोवियट-सिपाहियो ने जाकर सरकारी इमारतो, खासकर तार-घर, टेलीफोन, एक्सचेंज और सरकारी बैंक वगैरा घात और जुगत की जगहो, पर कब्जा कर लिया। किसी ने कोई मुकाबिला नही किया। "अस्थायी सरकार हवा में गायब हो गई," इन शब्दो में एक अंग्रेज प्रतिनिधि ने इंग्लैण्ड को सरकारी रिपोर्ट भेजी थी।

लेनिन नई सरकार का प्रमुख यानी प्रेसीडेण्ट हुआ और ट्राटस्की वैदेशिक सचिव। दूसरे दिन यानी ८ नवम्बर को लेनिन सोवियट काग्रेस में शामिल होनें के लिए स्मानली इस्टीटचूट को गया। शाम का वक्त था। कांग्रेस ने इस नेता का बहुत जोरो के साथ स्वागत किया। रीड नाम के एक अमेरिकन पत्रकार ने, जो इस मौके पर मौजूद था, इस बात का वर्णन किया है कि जब 'महान लेनिन' प्लेटफार्म पर आया, वह कैसा दीखता था—

"एक छोटे क़द का गठीला व्यक्ति, जिसके कन्धो पर एक बड़ा सिर रक्खा हुआ था—बहादुरी और स्फूर्ति से भरा हुआ! छोटी-छोटी आखे, गुमठी-सी नाक, चौडा मुंह और बडी ठुड्ढी, मूंछ-दाढी घुटी हुई, पर उसकी पुरानी और आगे मशहूर होने वाली दाढी के छोटे-छोटे बाल निकल रहे थे। फटे-पुराने कपड़े और पैजामा टाँगो से ज्यादा लम्बा। इसमें कोई ऐसी प्रभावशाली बात नही पाई जाती थी कि कोई भी उसे अपना आदर्श बनावे। पर यह एक आश्चर्यजनक लोकप्रिय नेता था, जो सिर्फ अपनी बुद्धि की वजह से नेता बना था—निर्लेप, गम्भीर, कट्टर और निस्सग। उसमे कोई दिलचस्प सनक भी नही पाई जाती थी। लेकिन इसमे बडे-बडे खयालो और गहरी बातो को सीधी-सादी ज़बान मे समझा सकने और किसी स्थिति का विश्लेषण करके यानी उसे टुकडे-टुकडे करके लोगो को समझाने की ताकत थी। और कुशाग्र बुद्धि के साथ-साथ उसमे महान् बौद्धिक साहस भी था।"

साल भर के अन्दर ही यह दूसरी क्रांति हो गई और अभी तक शान्तिपूर्ण बनी रही। शासनाधिकार के बदलने में बहुत कम ख़ून गिरा। मार्च की क्रान्ति में इससे ज्यादा लड़ाई हुई थी और आदमी मारे गये थे। मार्च की क्रान्ति आप ही आप और असगठित रूप से हुई थी। नवम्बर की क्रांति को सोच-विचार कर संगठित किया गया था। इतिहास में यह पहला मौका था जबकि गरीब से गरीब वर्ग के प्रतिनिधि, खासकर मिलो के मजदूर, देश के शासन के प्रमुख बनें थे। लेकिन इन लोगो को इतनी आसानी

उसको नही मानते। लेनिन छिपे हुए था और उसे डर था कि दूसरे बोलशेविक नेता कही समझौता न कर ले और मौके को हाथ से खो दे। इसलिए वह बराबर उनको आगे कदम बढाने के लिए मजबूर करता रहता था। चूंकि ७ तारीख को मामला नाज़ुक हो गया यह कार्रवाई उस वक्त कर ली गई।

इन कार्यकर्त्ताओं का ढंग ज्यादा से ज्यादा गरम और अस्थायी सरकार के लिए खतरनाक होता जाता था और ये इस सरकार के खिलाफ़ बड़े-बड़े प्रदर्शन भी कर चुके थे।

क्रांति के खिलाफ़ एक नया आन्दोलन शुरू हुआ यानी जब प्रतिक्रांति ने सिर उठाया तब इस नाटक में एक नया दृश्य सामने आ गया। एक बुड्ढा जनरल, जिसका नाम कार्नीलफ़ था, सारी क्रान्ति को और अस्थायी सरकार को कुचलने के लिए अपनी फ़ौज के साथ राजधानी की ओर बढ़ा। शहर के नज़दीक पहुँचते-पहुँचते उसकी सेना ग़ायब हो गई। सिपाही लोग क्रान्तिकारियों की तरफ़ चले गये।

घटनायें बहुत तेज़ी से घट रही थीं। सोवियट साफ़-साफ़ सरकार की प्रतिद्वन्द्वी होती जाती थी। अक्सर वह सरकार की आज्ञाओं को रद्द कर देती थी या खिलाफ़ हुक्म निकालती थी। इस समय स्मालनी इंस्टिट्यूट में सोवियट का दफ़्तर था और वहीं पेट्रोग्रेड की क्रांति का भी केन्द्र था। इस जगह पहले रईसों की लड़कियों का एक प्राइवेट स्कूल था।

लेनिन पेट्रोग्रेड की सरहद पर आया और बोलशेविकों ने निश्चय किया कि अस्थायी सरकार से सत्ता छीन लेने का वक्त आ गया है। बग़ावत के सारे प्रबन्ध की ज़िम्मेदारी ट्राट्स्की को सौंपी गई। एक-एक बात सावधानी से पहले से ही निश्चय कर ली गई और यह भी तय हो गया कि किन-किन महत्व की जगहों पर और कब क़ब्ज़ा किया जायगा। सातवीं नवम्बर बलवे की तारीख़ मुक़र्रर हुई। इस दिन सोवियट्स की अखिल रूसी कांग्रेस होने वाली थी, लेनिन ने इसी तारीख़ को मुक़र्रर किया। इसकी जो वजह बताई, वह बहुत दिलचस्प है। उसने कहा:—

"६ नवम्बर की तारीख़ बहुत पहले होगी। ग़दर के लिए अखिल रूसी आधार का होना ज़रूरी है। ६ तारीख़ को कांग्रेस के सब प्रतिनिधि न आ पाये होंगे। इसके विपरीत अगर तारीख़ मुक़र्रर करें तो बहुत देर हो जायगी, क्योंकि उस तारीख़ तक कांग्रेस संगठित हो जायगी और जनता की किसी भी बड़ी जमात का फुर्ती के साथ एक निश्चित कार्रवाई कर सकना मुश्किल होता है। इसलिए हमें ७ ही तारीख़ को, जिस दिन कांग्रेस का पहला अधिवेशन होगा, क्रान्ति करनी चाहिए, ताकि हम कांग्रेस से कह सकें कि "लो, अधिकार यह है। इसका जो कुछ करना हो करो।"

इस तरह से क्रान्ति के स्पष्ट बुद्धि वाले विशेषज्ञ ने कहा था, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि क्रान्ति की कामयाबी अक्सर छोटी-छोटी महत्वपूर्ण घटनाओं पर निर्भर होती है।[१]

१. सात नवम्बर के बारे में यह कहानी एक अमेरिकन पत्रकार ने, जो उस समय पेट्रोग्रेड में था, लिखी है। लेकिन कुछ लोग जो उस समय वहाँ मौजूद थे

७ नवम्बर आई और सोवियट-सिपाहियो ने जाकर सरकारी इमारतों, ख़ासकर तार-घर, टेलीफोन, एक्सचेंज और सरकारी बैंक वगैरा घात और जुगत की जगहो, पर कब्जा कर लिया। किसी ने कोई मुकाबिला नहीं किया। "अस्थायी सरकार हवा में गायब हो गई," इन शब्दो में एक अंग्रेज प्रतिनिधि ने इंग्लैण्ड को सरकारी रिपोर्ट भेजी थी।

लेनिन नई सरकार का प्रमुख यानी प्रेसीडेण्ट हुआ और ट्राटस्की वैदेशिक सचिव। दूसरे दिन यानी ८ नवम्बर को लेनिन सोवियट कांग्रेस में शामिल होनें के लिए स्मानली इस्टीटयूट को गया। शाम का वक़्त था। कांग्रेस ने इस नेता का बहुत जोरो के साथ स्वागत किया। रीड नाम के एक अमेरिकन पत्रकार ने, जो इस मौके पर मौजूद था, इस बात का वर्णन क़िया है कि जब 'महान लेनिन' प्लेटफार्म पर आया, वह कैसा दीखता था—

"एक छोटे कद का गठीला व्यक्ति, जिसके कन्धो पर एक बडा सिर रक्खा हुआ था—बहादुरी और स्फूर्ति से भरा हुआ! छोटी-छोटी आखे, गुमठी-सी नाक, चौडा मुंह और बडी ठुड्ढी, मूंछ-दाढी घुटी हुई, पर उसकी पुरानी और आगे मशहूर होने वाली दाढी के छोटे-छोटे बाल निकल रहे थे। फटे-पुराने कपडे और पैजामा टांगो से ज्यादा लम्बा। इसमें कोई ऐसी प्रभावशाली बात नही पाई जाती थी कि कोई भी उसे अपना आदर्श बनावे। पर यह एक आश्चर्यजनक लोकप्रिय नेता था, जो सिर्फ अपनी बुद्धि की वजह से नेता बना था—निर्लेप, गम्भीर,कट्टर और निस्सग। उसमे कोई दिलचस्प सनक भी नही पाई जाती थी। लेकिन इसमे बडे-बडे खयालो और गहरी बातो को सीधी-सादी जबान मे समझा सकने और किसी स्थिति का विश्लेषण करके यानी उसे टुकड़े-टुकडे करके लोगो को समझाने की ताकत थी। और कुशाग्र बुद्धि के साथ-साथ उसमे महान् बौद्धिक साहस भी था।"

साल भर के अन्दर ही यह दूसरी क्रांति हो गई और अभी तक शान्तिपूर्ण बनी रही। शासनाधिकार के बदलने में बहुत कम ख़ून गिरा। मार्च की क्रान्ति में इससे ज्यादा लड़ाई हुई थी और आदमी मारे गये थे। मार्च की क्रान्ति आप ही आप और असंगठित रूप से हुई थी। नवम्बर की क्रांति को सोच-विचार कर संगठित किया गया था। इतिहास में यह पहला मौका था जबकि गरीब से गरीब वर्ग के प्रतिनिधि, ख़ासकर मिलो के मजदूर, देश के शासन के प्रमुख बनें थे। लेकिन इन लोगो को इतनी आसानी

उसको नही मानते। लेनिन छिपे हुए था और उसे डर था कि दूसरे बोलशेविक नेता कही समझौता न कर ले और मौके को हाथ से खो दे। इसलिए वह बराबर उनको आगे कदम बढाने के लिए मजबूर करता रहता था। चूंकि ७ तारीख को मामला नाजुक हो गया यह कार्रवाई उस वक्त कर ली गई।

मिलों को वापस गये। वे लोग न बोल्शेविक थे, न साम्यवादी, लेकिन वे क्रान्ति के बड़े कट्टर हिमायती हो गये, क्योंकि वे क्रान्ति की वजह से जो कुछ प्राप्त कर चुके थे, उसे छोड़ना नहीं चाहते थे।

इधर जर्मन लोगों से किसी-न-किसी तरह समझौता करने की कोशिश हो रही थी, उधर बोल्शेविक नेताओं ने देश की अन्दरूनी हालत पर ध्यान देना शुरू किया। फ़ौज से निकले हुए अफ़सरों और साहसी ले-भग्गुओं की काफ़ी तादाद ऐसी थी जिनके पास मशीनगनें और लड़ाई का सामान था। ये लोग लुटेरेपन का व्यवसाय चला रहे थे। बड़े-बड़े शहरों में दिन दहाड़े गोलियाँ चलाकर लूटमार करते थे। पुराने आतंकवादी दल के कुछ लोग भी थे, जो सोवियट को पसन्द नहीं करते थे और बड़ी परेशानी पैदा कर रहे थे। सोवियट सरकार नें इन सब लुटेरों और दूसरों को ज़ोरों से दबा दिया और पस्त कर दिया।

सोवियट शासन को इससे ज्यादा ख़तरा अनेक सिविल सर्विस के लोगों से यानी पुराने सरकारी नौकरों से हुआ। इनमें से बहुतेरे ऐसे थे, जो बोलशेविकों की मातहती में या उनसे सहयोग करके किसी तरह भी काम करने को तैयार नहीं थे। लेनिन ने यह सिद्धान्त निश्चित कर दिया कि, जो काम न करे वह खाना भी न खाय, जो काम न करे उसे रोटी न मिले। तमाम सरकारी नौकर, जिन्होंने सहयोग नहीं दिया, फौरन बरखास्त कर दिये गये। बैंकरों ने अपनी तिजोरियाँ खोलनें से इन्कार कर दिया। इस पर तिजोरियाँ डाइनामाइट यानी बम से खोल दी गईं। लेकिन पुरानी प्रणाली के सरकारी अफसरों के प्रति, जो सहयोग करने से इन्कार करते थे, लेनिन की घृणा का सबसे अच्छा उदाहरण यह है कि जब मुख्य सेनापति ने बोलशेविक सरकार के हुक्म को मानने से इनकार कर दिया, तो वह पाँच मिनिट में बरखास्त कर दिया गया। और पाँच मिनिट के अन्दर क्राइलेन्को नाम का नौजवान बोलशेविक लेफ्टीनेण्ट प्रमुख सेनापति बना दिया गया!

इन तब्दीलियों के होते हुए भी रूस का पुराना ढांचा बहुत कुछ ज्यों-का-त्यों बना रहा, किसी विशाल देश को एक दम से समाजवादी बनाना आसान काम नहीं होता और यह सम्भव है कि रूस में परिवर्तन की प्रगति को कई साल लग गये होते अगर घटना ने मजबूरी पैदा न कर दी होती। जिस तरह किसानो ने ज़मींदारो को भगा दिया था, मजदूरो ने भी कई जगहो पर अपने पुराने मालिको से नाराज हो कर उनको निकाल दिया और उनके कारखानो पर कब्जा कर लिया। सोवियट इन कारखानों को पुराने पूंजीपतियों को किसी तरह वापस नहीं कर सकती थी इसलिए उसने इन पर कब्ज़ा कर लिया। कई जगहों पर इन पूंजीपतियों ने गृह-युद्ध के ज़माने

में, जो बाद को हुआ, अपने कारखानो की मशीनो को तोडने की कोशिश की। ऐसी हालत में सोवियट सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और इन कारखानो की हिफाजत के लिए मिलो पर कब्ज़ा करना पडा। इस तरीके से उत्पत्ति के साधनो को पंचायती बनाने की प्रगति में यानी मिलो को सरकारी अधिकार में लाने के काम में ख़ास तौर से तेज़ी पैदा हो गई, जितनी तेज़ी कि शायद साधारण स्थिति में नही हो सकती थी।

सोवियट शासन के पहले ९ महीनो में रूसी जनता के जीवन में बहुत फरक नही आया। बोलशेविको ने आक्षेपो को भी बरदाश्त किया और गालियां भी सही। बोलशेविको के ख़िलाफ अखबार निकलते रहे। जनता आम तौर से भूखो मरती थी, लेकिन अमीरो के पास अब भी बहुत काफी पैसा व्यसन और शान दिखाने के लिए मौजूद था। होटलो में रात को नाच-गाने होते थे और वहाँ खूब भीड़ लगती थी। घुड़दौड़ और दूसरे खेल-कूद पहले की तरह ही जारी थे। बडे-बडे शहरो में बडे-बडे अमीर खूब दिखाई देते थे और सोवियट सरकार के पतन की आशा में खुल्लमखुल्ला खुशियाँ मनाते हुए दिखाई देते थे। ये लोग, जोकि जर्मनी के ख़िलाफ लड़ाई जारी रखने में इतनी ज्यादा देश-भक्ति जाहिर करते थे, अब इस बात पर उत्सव करने लगे कि जर्मन लोग पेट्रोग्रेड की तरफ बढ़ते चले आ रहे हैं। ये लोग इस आशा में कि जर्मन सेनायें इनकी राजधानी पर कब्जा कर लेंगी, बहुत प्रसन्न थे। विदेशियो के राज्य का डर इनके हृदय में इतना नही था, जितनी सामाजिक क्रान्ति की घृणा। यह बात हमेशा होती है, ख़ास तौर से तब, जब मामला वर्गो का होता है। हम हिन्दुस्तान में आज यही देखते है। यहाँ भी बहुत-से ऐसे आदमी है, जो विदेशी हुकूमत को बेहतर समझते है, इस बात के मुकाबिले में कि विशेषाधिकार और स्वत्व, जो अब इनको मिले हुए है, इनके हाथ से जाते रहे।

जनता का जीवन पहले ही जैसा था और इस समय बोलशेविको का कोई आतंक भी नही था। मास्को का मशहूर नाच बराबर होता था और थियेटरो में खूब भीड़ लगती थी। जब पेट्रोग्रेड पर जर्मनो के कब्जा कर लेने का खतरा पैदा हुआ, सोवियट सरकार मास्को चली आई। उस समय से मास्को सोवियट की राजधानी रहा है। मित्र पक्ष के राजदूत अभी तक रूस में थे। जब यह अन्देशा हुआ कि पेट्रोग्रेड पर जर्मनो का कब्जा हो जायगा, वे पेट्रोग्रेड से भाग गये और जाकर 'वोलोगडा' में, जो एक छोटा सा कस्बा है, आराम के साथ मजे में बस गये। वे लोग यहाँ रहते थे और तरह-तरह की अफवाहे, जो इनके पास पहुँचती थी, सुनकर बराबर परेशान और बेचैन रहा करते थे। वे बराबर ट्राटस्की से पूछते रहते थे कि अफवाहे कहाँ तक सही है। इन पुराने राजदूतो की इस मानसिक परेशानी से ट्राटस्की बहुत परेशान हो

गया और इसने वोलगडा के हिज़ एक्सेलेंसियों की मानसिक बेचैनी को शान्त करने के लिए एक ब्रोमाइड का नुस्खा लिखना चाहा। डाक्टर लोग हिस्टीरिया और बेचैनी से पीड़ित लोगों की मानसिक परेशानी को ठंडा करने के लिए ब्रोमाइड देते हैं।

ऊपर-ऊपर ज़िन्दगी ज़रूर साधारण थी, लेकिन इस ज़ाहिरा शान्ति के नीचे अनेक धारायें अनुकूल और प्रतिकूल वहती थीं। कोई भी इस बात की उम्मीद नहीं करता था और वोलशेविक लोगों को भी इसकी उम्मीद नहीं थी कि वे वहुत दिनों तक क़ायम रह सकेंगे। हरेक आदमी साज़िश में लगा था। जर्मन लोगो ने दक्षिण रूस में यूक्रेन में एक रियासत क़ायम कर रक्खी थी जो इनके हाथ की कठपुतली थी और सुलह हो जाने पर भी ये लोग सोवियट को वरावर धमकाते रहते थे। मित्र-पक्ष ज़रूर जर्मनो से नफरत करता था, लेकिन वह वोलशेविको से और भी ज्यादा नफरत करता था। अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने सोवियट कांग्रेस को १९१८ के शुरू में प्रेम-सन्देश भेजा था, लेकिन वाद को मालूम होता है कि वह इस बात पर पछताया और उसने अपने ख़याल वदल दिये। इस तरह से मित्र-पक्ष के लोगो ने निजी तौर पर, क्रान्तिकारी प्रवृतियो के विरोध में जो आन्दोलन था उसकी सहायता की और उसको रुपये-पैसे से मदद दी। वे छिपे-छिपे क्रान्तिकारी दल के ख़िलाफ काम भी करते थे। विदेशी जासूसों से मास्को भरा पड़ा था। अंग्रेज़ी खुफिया पुलिस का ख़ास आदमी, जो ब्रिटेन का सवसे वड़ा जासूस समझा जाता था, सोवियट सरकार को परेशान करने के लिए भेजा गया था। जिन वडे-वडे आदमियो को उनकी जायदाद से वंचित कर दिया गया था, वे मित्र-पक्ष के रुपये से क्रान्ति के विरुद्ध वरावर आन्दोलन भड़काते रहते थे।

१९१८ के मध्य के क़रीव यह हालत थी। सोवियट की जान कच्चे धागे से लटक रही थी।

: १५२ :

सोवियट की विजय

११ अप्रैल, १९३३

जुलाई १९१८ के महीने में रूस की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए। वोलशेविक लोगो पर जो जाल फेंका गया था वह सिकुड़ता जाता था और वे उसमें फँसते जाते थे। दक्षिण में यूक्रेन से जर्मनो की चढ़ाई का डर था और मित्र पक्ष के लोग ज़ेकोस्लोवेकिया के लड़ाई के पुराने कैदियो की एक वडी तादाद को इस बात का प्रोत्साहन दे रहे थे कि वह मास्को पर टूट पडे। फ़्रान्स में सारे पश्चिमी मोर्चे पर महा

युद्ध अभी तक जारी था लेकिन सोवियट रूस में विचित्र दृश्य यह दिखाई देता था कि जर्मन शक्तियाँ और मित्र दल दोनो अलग-अलग एक ही काम में यानी बोलशेविको को कुचलने में लगे थे। इस स्थान पर हमें फिर यह बात दीख जाती है कि श्रेणी-सम्बन्धी घृणा राष्ट्रीय घृणा से कितनी ज्यादा ताक़तवर होती है और राष्ट्रीय घृणा स्वयं काफी विषैली और कटु हुआ करती है। इन शक्तियो ने रूस के ख़िलाफ सरकारी तौर पर युद्ध की घोषणा नही की थी, लेकिन सोवियट को परेशान करने के इन्होने बहुत से तरीके निकाल लिये थे, खास कर ऐसे नेताओ को हथियारो से और पैसे से मदद देते थे और उनको प्रोत्साहन दिया करते थे जो क्रान्ति के ख़िलाफ थे। जार से बहुत पुराने सेनापतियो ने सोवियट के ख़िलाफ लडाई शुरू कर दी।

जार और उसका कुटुम्ब पूर्वी रूस में यूरल पहाडो के नजदीक एक स्थानीय सोवियट की निगरानी में कैदी बना कर रक्खे गये थे। जेक सेनाओ के इस प्रदेश की तरफ बढ़ने की वजह से स्थानीय सोवियट डर गई। वह घबड़ा गई कि कही जार छुड़ा न लिया जाय और क्रान्ति के खिलाफ एक बडी ताकत न बन जाय। इसलिए उन्होने कानून को अपनी तबीयत के मुताबिक काम में लाकर सारे कुटुम्ब को गोली से मार दिया। इससे मालूम होता है कि सोवियट की केन्द्रीय कमेटी का जार और जार के कत्ल के में कोई हाथ न था। लेनिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से जार के और दया की दृष्टि से उसके कुटुम्ब के कत्ल के ख़िलाफ़ था। चूंकि यह हरकत हो चुकी थी, केन्द्रीय सरकार ने इसका समर्थन किया। शायद मित्र-पक्ष की सरकार इस घटना से और भी बिगड़ गई और वह पहले से ज्यादा विरोध करने के लिए तैयार हो गई।

अगस्त के महीने में स्थिति बदतर हो गई और दो घटनायें ऐसी हुई जिनकी वजह से क्रोध, निराशा और आतंक पैदा हो गया। एक घटना तो यह थी कि लेनिन को मारने की कोशिश की गई और दूसरी यह कि उत्तर रूस में आर्चंजिल पर मित्र पक्ष की फौजें पहुच गई। मास्को में बडी जोरदार सनसनी फैल गई। मालूम होता था कि बस सोवियट का खात्मा होने वाला है। मास्को को ख़ुद दुश्मनो ने चारो तरफ़ से घेर लिया था। जर्मन, जेक और क्रान्तिकारियो के खिलाफ़ जो दल थे वे इसके चारो ओर पडे थे। मास्को के चारो तरफ़ सिर्फ चन्द जिलो में ही सोवियट का राज्य था और मित्र-पक्ष की सेना के उतर पड़ने से इसका भी ख़ात्मा निश्चित हो गया। बोल-शेविको के पास कोई बडी फौज नही थी। ब्रेस्ट लिटोस्क के समझौते के अभी सिर्फ ५ महीनें ही गुजरे थे और पुरानी फौज का ज्यादा हिस्सा खेती-किसानी में लग गया था। मास्को में ख़ुद बहुत से षड्यन्त्र पैदा हो गये थे और बुर्जुआ यानी मध्यम वर्ग के लोग खुल्लमखुल्ला खुशियां मना रहे थे कि सोवियट का ख़ातमा होनें वाला है।

नौ महीनें की उम्र वाले सोवियट प्रजातन्त्र की यह भयंकर दशा थी। बोलशेविक लोग निराशा और भय में फँस गये और जब इन्होने देखा कि अब मरना ही है तो सोचा कि लड़ते हुए ही प्राण क्यों न दिये जॉय। १२५ वर्ष पहले जिस तरह नये फ़ान्सीसी प्रजातन्त्र ने किया था वैसे ही ये चारों तरफ से घिर गये और रास्ता न पाने वाले जंगली जानवर की तरह वे अपने दुश्मन पर टूट पडे। न तो क्षमा की बात रही, न दया की। सारे देश में फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया गया। और सितम्बर की शुरुआत में केन्द्रीय सोवियट कमेटी ने 'खूनी आतंक' (Red Terror) की घोषणा की। 'सारे देशद्रोहियों का क़त्ल और विदेशी हमला करने वालो के खिलाफ निर्दयतापूर्ण युद्ध' यह उनकी पुकार थी। उन्होने निश्चय किया कि हम अपनें दुश्ममो के खिलाफ़ चाहे वह देश के अन्दर के हो या बाहर के, डटकर लडेंगे। अब सोवियट का मुकाबिला दुनिया से और अपने ही देश के संकीर्ण दल से पड़ गया। 'सैनिक साम्यवाद' का युग आ गया और सारा देश एक किस्म का फ़ौजी कैम्प बन गया। लाल सेना के सगठन के लिए हरेक किस्म की कोशिश की गई और यह काम ट्राटस्की को सौंपा गया।

यह सितम्बर-अक्तूबर १९१८ की बात है, जबकि पश्चिम में जर्मनो की युद्ध की मशीन टूट रही थी और लड़ाई बन्द करने की चर्चा चल रही थी। प्रेसीडेण्ट विलसन ने अपनी १४ शर्तें पेश कर दी थीं, जिनके बारे में कहा जाता था कि उनमें मित्र-पक्ष का सब मतलब आ गया था। इनमें से एक बात यह थी कि रूस की सारी जमीन पर से मित्र-पक्ष की फ़ौजें हटा ली जायें और मित्र-पक्ष की मदद से रूस को अपनी उन्नति का पूरा-पूरा मौका दिया जाय। मित्रपक्ष के लोगों का रूस में हस्तक्षेप करना और वहाँ अपनी फौजो को उतार देना, इस सिद्धान्त पर एक अनुपम टीका कही जा सकती है। बोलशेविक सरकार ने प्रेसीडेण्ट विलसन के पास एक नोट भेजा और जोरो के साथ उनकी १४ शर्तो पर ऐतराज किया। उसने लिखा:—

"आप पोलैण्ड, सर्बिया, बेलजियम और आस्ट्रिया-हंगरी के लोगो की आजादी की मांग पेश करते हैं, लेकिन ताज्जुब यह है कि आपकी मांगो में आयर्लैण्ड, मिस्र, हिन्दुस्तान और फिलीपाइन द्वीपो की आजादी का कोई जिक्र नहीं है।"

११ नवम्बर १९१८ को मित्रपक्ष और जर्मनपक्ष में सुलह हो गई और सुलहनामे पर दस्तख़त भी हो गये, लेकिन रूस में १९१९ और १९२० भर गृह-युद्ध चलता रहा। अकेले दम सोवियट ने बहुत से दुश्मनो का मुकाबिला किया। एक वक्त ऐसा था जब सोवियट के ऊपर सत्रह मुख़्तलिफ मोर्चों से हमले हुए थे। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, जापान, इटली, सर्बिया, चेकोस्लोवेकिया, रूमानिया, बालकन स्टेट्स, पोलैण्ड और सैकडो रूसी सेनापति, जो क्रान्ति के ख़िलाफ थे, सोवियट पर हमला कर रहे थे और लडाई

पूर्वी साइवेरिया से लेकर वाल्टिक और क्रीमिया तक जारी थी। वार-बार यही मालूम होता था कि सोवियट का खात्मा हुआ। मास्को खुद खतरे में था और पेट्रोग्रेड दुश्मन के हाथ में जाने ही वाला था। लेकिन सोवियट ने हरेक नाजुक मौक़े पर विजय पाई और हरेक विजय के साथ उसकी ताकत और उसका आत्म-विश्वास वढता गया।

क्रान्तिकारियो के खिलाफ दल का एक नेता एडमिरल कोलचक था। वह अपनें-को रूस का शासक कहता था। मित्र-दल के लोग उसको शासक मानते थे और उसकी वडी मदद करते थे। जनरल ग्रेव्ज अमेरिका की सेना के सेनापति थे और कोलचक की सेना को मदद दे रहे थे। उनके कथन से पता चलता है कि एडमिरल कोलचक साइवेरिया में कैसी-कैसी हरकते करता था। यह अमेरिकन जनरल लिखता है :—

> "भयकर हत्याये की गई, लेकिन ये हत्याये, जैसा दुनिया समझती है, वोल-शेविको ने नही की। मै यह सचाई के साथ कह सकता हूँ कि पूर्वी साइवेरिया मे अगर वोलशेविको ने एक हत्या की है तो उनके खिलाफ दल ने उसके मुकाविले मे सो हत्याये की है।"

तुम्हे यह जानकर आश्चर्य होगा कि वडे-वडे राजनीतिज्ञ वडे-वडे राष्ट्रो के मामलात को कितने कम ज्ञान पर चलाते है और लड़ाई तथा सुलह करते है। लायड जार्ज उस वक्त ब्रिटेन का प्रधान सचिव था और योरप में शायद सबसे ज्यादा प्रभावशाली आदमी उस वक्त वही था। हाउस आफ कामन्स में रूस पर व्याख्यान देते हुए उसने कोलचक और दूसरे सेनापतियो का जिक्र किया। जहाँ उसनें जनरल कोलचक का जिक्र किया वहाँ जनरल खारकफ का भी जिक्र कर दिया। पर खारकफ़ कोई जनरल नही था। ख़ारकफ़ तो एक मशहूर शहर का नाम है, जो यूक्रेन की राजधानी है। भूगोल की प्रारभिक वातो से इस प्रकार अपरिचित होते हुए भी इन राजनीतिज्ञो ने योरप को टुकडे-टुकडे कर दिया और एक नया नकशा तैयार कर दिया !

मित्र-दल ने भी रूस की नाकेबन्दी की और यह नाकेबन्दी इतनी कामयाव रही कि सन् १९१९ भर रूस विदेशो से न तो कुछ ख़रीद सका, न बेच सका।

इन तमाम वडी-वडी कठिनाइयो और अनेक शक्तिशाली दुश्मनो के होते हुए भी सोवियट रूस ज़िन्दा रहा और विजयी रहा। इतिहास में यह अत्यन्त आश्चर्यजनक वात हुई है। वह कैसे कामयाव हुआ ? इसमें कोई शक नही कि अगर मित्रपक्ष संयुक्त रहते और वोलशेविक लोगो को कुचलने पर तुल जाते तो शुरू के दिनो में उन्हे कुचल सकते थे। जर्मनी को हराने के वाद, उनके पास विशाल सेना ख़ाली हो गई थी। लेकिन इन सेनाओ का किसी दूसरी जगह पर और खासकर सोवियट के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करना आसान नही था। ये सव सेनायें लड़ाई से थक गई थीं और अगर

विदेशो में जाकर फिर लड़ने को कहा जाता तो शायद इन्कार कर देतीं। मजदूरो में इस नवीन रूस के लिए वडी हमदर्दी थी और मित्र-दल की सरकारे इस बात से डरती थीं कि अगर सोवियट के खिलाफ खुल्लमखुल्ला लड़ाई छेड़ दी गई तो मुमकिन है देश के अन्दर ही गड़बड़ मच जाय। योरप क्रान्ति के किनारे पहुँच चुका था। तीसरी बात यह थी कि मित्रदल के लोगो में आपस में भी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। जब सुलह हुई, इनमें आपस में लड़ाई-झगड़ा शुरू होगया। इन सब बातो की वजह से मित्र-दल बोलशेविको को खत्म करने के लिए कोई दृढ़ प्रयत्न नहीं कर सका। ये लोग अप्रत्यक्ष रूप से वोलशेविको का खात्मा करना चाहते थे। कोशिश इनकी यह थी कि कोई दूसरा लड़ाई लडे जिसे ये रुपये-पैसे से, अस्त्र-शस्त्र से और सलाह-मशविरे से मदद दें। इनको पूरा यकीन था कि सोवियट चल न सकेगी।

इन सब बातो की वजह से सोवियट को निस्सन्देह वहुत मदद मिल गई और उसको अपनेको मजबूत बनाने के लिए वक्त मिल गया। लेकिन यह ख़याल करना कि बोलशेविको की विजय बाहर की परिस्थिति की वजह से हुई, वोलशेविको के साथ अन्याय करना है। विजय की असली वजह तो यह थी कि रूस की जनता में आत्म-विश्वास था, श्रद्धा थी, आत्म-त्याग था और दृढ़ सकल्प था। आश्चर्य की बात तो यह है कि यही रूसी लोग हर जगह पर आलसी, जाहिल, सिद्धान्त-भ्रष्ट और किसी महान् प्रयत्न के लिए अयोग्य समझे जाते थे। आजादी एक किस्म की आदत है और अगर हम वहुत दिनो तक इस आदत से वंचित रहे तो हम इसे भूल जाते हैं। इन जाहिल रूसी किसानो और मजदूरो को बिलकुल मौका नहीं मिलता था कि इस आदत पर अमल कर सके। लेकिन रूस में उस समय ऐसे काबिल नेता पाये जाते थे कि उन्होने इन असहाय लोगो को एक मजबूत और संगठित कौम बना दिया जिसे अपने सिद्धान्तो में पूरा विश्वास और अपने ऊपर पूरा भरोसा था। कोलचक और उसके संगी-साथी हार गये, सिर्फ इसलिए नहीं कि बोलशेविक नेताओ में दृढता और योग्यता पाई जाती थी, वल्कि इसलिए कि रूसी कोलचक और उसके साथियो की बात सुनने के लिए तैयार नहीं थे। ये उन्हे पुरानी प्रणाली का प्रतिनिधि समझते थे जो कि इनके नये पाये हुए अधिकार और हाल में मिली हुई जमीन को छीनने के लिए आये थे। इसलिए किसानों ने यह निश्चय किया कि मरते दम तक इन अधिकारो की रक्षा करेगे।

सबसे ऊपर और ज्यादा अख्तियार रखनेवाला आदमी लेनिन था। रूसियो के लिए यह शख्श देवता होगया। उनकी आशाओ और उमगो का नुमाइन्दा; ऐसा बुद्धिमान जो हरेक परेशानी से निकलने का ढग जानता था और इसे कोई भी

चीज परेशान नही कर सकती थी और न डिगा सकती थी। इसके बाद इस जमाने में ट्राटस्की समझा जाता था (जो आजकल रूस में बदनाम होगया है)। ट्राटस्की लेखक और वक्ता था। उसे सेना के सगठन का पहले से कोई अनुभव नही था। पर उसने गृहयुद्ध और नाकेबन्दी के होते हुए भी एक बडी सेना के सगठन का काम शुरू किया। ट्राटस्की खतरे की परवा न करनेवाला बडा बहादुर आदमी था और लड़ाई में वह अकसर अपनी जान खतरे में डाल देता था। बुजदिलो और अनुशासन के खिलाफ काम करनेवालो के लिए उसके पास जरा भी दया नही थी। गृहयुद्ध के एक नाजुक मौके पर उसने यह आज्ञा निकाली थी :—

"मै चेतावनी देता हूँ कि अगर फौज का कोई टुकडा बगैर हुक्म के पीछे हटेगा तो पहले कमीसरी मार दिया जायगा और उसके बाद कमाण्डर। इनकी जगहो पर बहादुर और निर्भीक सिपाही मुकर्रर किये जायंगे। बुजदिल, डरपोक और देशद्रोही गोली से न बच सकेगे। सारी लाल सेना के सामने मै इस बात का गम्भीरतापूर्वक वादा करता हूँ।"

और उसने अपने वादे को पूरा किया।

ट्राटस्की ने अक्तूबर १९१९ में एक फौजी हुक्म निकाला था। वह भी बड़ा दिलचस्प है, क्योकि उससे जाहिर होता है कि बोलशेविक लोग हमेशा जनता को और पूंजीपति सरकारो को दो चीज मानते रहे और कभी उन्होने राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं रक्खा। हुक्म यह है :—

"But, even to day, when we are engaged in a bitter fight with Yudenich, the hireling of England, I demand that you never forget that there are two Englands. Besides the England of profits, of violence, bribery and blood-thirstiness, there is the England of labour, of spiritual power, of high ideals of international solidarity. It is the base and dishonest England of the Stock Exchange manipulators that is fighting us The England of labour and the people is with us"

अर्थात् "आज भी, जब कि हम इग्लैण्ड के पिट्ठू यूडनिच से कठोर लडाई लड रहे है, मै तुमसे कहता हूँ कि तुम कभी इस बात को न भूलो कि इग्लैण्ड दो है। एक इग्लैण्ड है मुनाफाखोरो का, जालिमो का, रिश्वत लेनेवालो का, और खून के प्यासो का। दूसरी तरफ एक दूसरा इग्लैण्ड है मजदूरो का, आध्यात्मिक शक्ति का और अन्तर्राष्ट्रीय दृढता के लिए ऊँचे आदर्शो का। जो इग्लैण्ड हमसे लडाई कर रहा है वह शेयर बाजार का कमीना, बेईमान इग्लैण्ड है। जनता का, मजदूरो का इग्लैण्ड हमारे साथ है।"

जिस दृढता के साथ लाल सेना लड़ाई गई, उसका अन्दाजा नीचे लिखी हुई

घटना से हो सकता है। जिस वक्त यूडनिच ने पेट्रोग्रेड को घेर लिया और यह शहर उसके हाथ में जाने ही वाला था, उस वक्त रक्षा-समिति ने एक आज्ञा निकाली--"पेट्रोग्रेड की रक्षा ख़ून का आख़िरी क़तरा बहाकर भी करनी चाहिए। गवर्नर भी पीछे न हटना चाहिए और शहर के अन्दर दुश्मन आजाय तो शहर की गलियों में भी लड़ाई जारी रखनी चाहिए।"

रूस के मशहूर लेखक मैक्सिम गोर्की ने लिखा है कि लेनिन ने ट्राटस्की के बारे में एक दफ़ा यह कहा था--"मुझे तुम कोई दूसरा आदमी ऐसा दिखा दो जो साल-भर के अन्दर एक नमूने की सेना संगठित करके दिखा दे और सेना के विशेषज्ञों का सम्मानपात्र भी होजाय। हमें ऐसा आदमी मिला हुआ है; हमारे पास सब कुछ है और चमत्कार अब भी घटित होनेवाले हैं।"

यह लाल सेना दिन-दूनी और रात-चौगुनी तरक्की करती गई। बोलशेविकों के अख़्तियार पाने के थोड़े ही दिन बाद, दिसम्बर १९१७ में, ४ लाख ३५ हज़ार आदमी इस सेना में शामिल हो चुके थे। ब्रेस्ट लिटोव्स्क के बाद इस सेना का बहुत कुछ हिस्सा ज़रूर ग़ायब होगया और उसको नये सिरे से बनाना पड़ा। सन् १९१९ के मध्य में इस सेना में १५ लाख आदमी पहुँच गये थे और सालभर बाद यही सेना ५३ लाख आदमियों की होगई।

ट्राटस्की रूस का बहुत बड़ा नायक होगया। लेकिन वह इतना सहृदय नहीं था जितना लेनिन था और इसीलिए लोग इसे उतना प्यार नहीं करते थे जितना लेनिन को। लेनिन को छोड़कर उनकी किसी दूसरे पुराने बोलशेविक से नहीं पटती थी। लेनिन के मरने के बाद ही इन लोगों में आपस में झगड़ा होगया और ट्राटस्की, जो क्रान्ति का वीर पुरुष था और जिसने लाल सेना का निर्माण किया था, रूस से निर्वासित कर दिया गया।

१९१९ के ख़त्म होते-होते सोवियट ने निश्चित रूप से गृह-युद्ध में अपने दुश्मनों को नीचा दिखा दिया था; लेकिन लड़ाई एक साल तक और कायम रही और नाज़ुक मौक़े आते रहे। १९२० में पोलैण्ड के नये राज्य ने रूस की लड़ाई छिड़ गई। जर्मनी की पराजय के बाद पोलैण्ड का नया राज्य बन गया था। लेकिन ये सब लड़ाइयाँ १९२० के ख़त्म होते-होते समाप्त होगई और रूस को कुछ शान्ति मिल गई।

इसी दरमियान अन्दरूनी कठिनाइयाँ बढ़ चुकी थीं। युद्ध, नाकेबन्दी, महामारी और दुष्काल ने देश की बहुत बुरी हालत कर डाली थी। उपज बहुत ज्यादा घट गई थी, क्योंकि जब प्रतिद्वन्द्वी सेनायें देश को रौंद रही हों, तब न तो किसान खेत जोत सकता है और न मजदूर मिलों में चीज़ों को बना सकता है। सैनिक साम्यवाद की

वजह ने मुल्क किसी-न-किसी तरह ख़तरे से बचा था, लेकिन हरेक को अपनी पेटी कसनी पडी थी और यह काम आगे चलकर बहुत कठिन होगया। किसानो को खेतो से ज्यादा उपज पैदा करने की कोई उत्सुकता नही थी, क्योकि वे कहते थे कि जब राज्य ज्यादा पैदा हुआ अन्न खुद ही लेलेगा तो ज्यादा पैदा करने की परेशानी हम क्यो उठायें ? स्थिति बडी कठिन और भयानक होती जाती थी। जहाज के सिपाहियो ने पीटर्सबर्ग के करीब क्रासटाट में बलवा कर दिया था। पीटर्सबर्ग में भी हड़ताले हुई थीं।

लेनिन ने, जिसमें यह अद्भुत गुण था कि वह सिद्धान्तो को मौजूदा स्थिति के अनुसार ढाल सकता था, फौरन कदम आगे बढाया। उसने सैनिक साम्यवाद का खात्मा किया और एक नई नीति चलाई, जिसका नाम था 'नई आर्थिक नीति'। इसकी वजह से किसान को पैदा करने और अपने माल को बेचने की ज्यादा आजादी मिल गई। इस नीति का अर्थ यह था कि किसी हद तक साम्यवादी सिद्धान्तो के अनुसार ये लोग पीछे हट रहे थे; लेकिन लेनिन नें, यह कहकर कि यह कार्रवाई अस्थायी रूप से की जा रही है, उसे उचित बताया। निस्सन्देह जनता को इसकी वजह से कुछ मदद मिली; लेकिन जल्द ही रूस को एक दूसरी भयंकर आपत्ति का सामना करना पड़ गया। रूस में दुष्काल पड़ा; दक्षिण-पूर्व रूस के बहुत बडे क्षेत्र में पानी न बरसने की वजह से फसल नष्ट होगई। यह बड़ा भयंकर दुष्काल था और बडे-से-बडे दुष्कालो में से एक दुष्काल कहा जा सकता है। लाखो आदमी भूखो मर गये। चूंकि कई सालो की मुतवातिर लड़ाई, गृह-युद्ध, नाकाबन्दी और आर्थिक पतन के बाद यह दुष्काल पड़ा था और सोवियट सरकार को इतना समय नहीं मिला था कि वह शान्ति-पूर्वक अपना कार्यक्रम चला सके, इसलिए मुमकिन था कि इस दुष्काल की वजह से सरकार का ढांचा बैठ जाता। लेकिन सोवियट जिस प्रकार इसके पहले की आफतो को पार कर गई थी, इस आफत से भी ज़िन्दा निकल आई। यूरोपियन सरकारो के प्रतिनिधियो की एक कान्फ्रेंस हुई, जिसमें इस बात पर विचार करना था कि दुष्काल पीड़ितो को क्या मदद दी जाय। इस कान्फ़्रेंस ने यह निश्चय किया कि जबतक सोवियट सरकार इस बात का वादा नहीं करती कि ज़ार के लिये हुए कर्ज को अदा करेगी, उस समय तक कोई मदद नहीं दी जा सकती। दया की प्रवृत्ति से महा-जनी की प्रवृत्ति ज्यादा मजबूत निकली और रूसी माताओ की ओर से अपने मरते हुए बच्चो की रक्षा के लिए की हुई अपील को भी किसीने नही सुना। लेकिन अमेरिका ने कोई शर्त नहीं की और बडी मदद की।

इंग्लैण्ड और दूसरे यूरोपियन देशो ने रूस के दुष्काल में मदद देने से इन्कार कर दिया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि वे सोवियट का और तरह से

बहिष्कार कर रहे थे। १९२१ की शुरुआत में एक अंग्रेज-रूसी व्यापारिक संधि हुई थी और बहुतसे देशो ने इस उदाहरण का अनुकरण भी किया था और सोवियट के साथ व्यापारिक संधियाँ भी की थीं।

पूर्वी देशो—जैसे चीन, तुर्की, फारस और अफगानिस्तान—के साथ सोवियट की नीति बहुत उदार रही। जार के प्राप्त किये हुए पुराने अधिकारो को उसने छोड़ दिया और बहुत दोस्ताना वर्ताव करने की कोशिश की। यह बात इसलिए की गई थी, क्योकि उसका सिद्धान्त था कि शोषित और पराधीन जातियो को स्वतंत्रता दी जाय। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण अभिप्राय उसका यह था कि सोवियट की अपनी स्थिति मजबूत होजाय। साम्राज्यवादी राष्ट्र, मसलन इंग्लैण्ड, सोवियट रूस की उदारता की वजह से अकसर परेशानी में पड़ जाते थे। पूर्वी देश तुलना करने लगते थे, जिसमें इंग्लैंड की और दूसरी कौमो की बदनामी होती थी।

१९१९ में एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हुई, जिसके बारे में मुझे जरूर बताना चाहिए। कम्यूनिस्ट पार्टी यानी साम्यवादी दल ने मास्को में 'थर्ड इण्टरनेशनल' (तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ) कायम किया। मैंने तुम्हे पहले के खतो में बताया है कि कार्ल मार्क्स ने 'फर्स्ट इण्टरनेशनल' बनाया था और सेकण्ड इण्टरनेशनल १९१४ में लड़ाई शुरू होने के मौके पर अनेक वीरतापूर्ण शब्दो के बाद खतम होगया। बोलशेविको का कहना था कि पुराने साम्यवादियो और मजदूरो की पार्टियो नें, जिनसे मिलकर यह 'सेकण्ड इण्टरनेशनल' बना था, मजदूरो को धोखा दिया, इसलिए इन लोगो ने 'थर्ड इण्टरनेशनल' बनाया, जिसका आदर्श निश्चित रूप से क्रान्तिकारी था। यह इसलिए बनाया गया कि बोलशेविक साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ और उन मौके से फायदा उठानेवाले साम्यवादियो के खिलाफ युद्ध कर सके जो सड़क के बीच से चलने की नीति को मानते है। इस इण्टरनेशनल को 'कामिण्टर्न' कहते है, जो कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल का संक्षिप्त है। इसने बहुत देशो में खूब प्रचार किया है। जैसा इसके नाम से जाहिर होता है, यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है, जिसमें अनेक देशो के साम्यवादी दलो के प्रतिनिधि शामिल है। लेकिन चूंकि रूस ही एक ऐसा देश है जिसमें कम्यूनिज्म यानी साम्यवाद को विजय मिली है, इस संस्था में यानी कामिंटर्न में रूसी ज्यादा है। 'कामिण्टर्न' दूसरी चीज है और सोवियट दूसरी चीज है। हालाकि बहुतने आदमी ऐसे है जो दोनो सस्याओ के प्रमुख समझे जाते है। चूंकि 'कामिण्टर्न' एक ऐसी संस्था है जो खुल्लमखुल्ला क्रान्तिकारी साम्यवाद फैलाने के लिए कायम है, साम्राज्यवादी कौमें इसके सख्त खिलाफ है और अपने देशो में इसके काम को दबाने के लिए हमेशा कोशिश करती है।

सेकण्ड इण्टरनेशनल ('मजदूरो और समाजवादियों की इण्टरनेशनल') को लडाई के बाद योरप में फिर से जिन्दा किया गया। वहुत हद तक, कम-से-कम सिद्धान्त-रूप में, सेकण्ड और थर्ड इण्टरनेशनल का उद्देश्य एक ही है। लेकिन इनके विचार और इनके काम करने के तरीको में वहुत भेद है और इनमें आपस में वहुत लड़ाई है। ये अपने दुश्मन पूंजीवाद पर इतना आक्रमण नहीं करते और उससे इतनी लड़ाई-झगड़ा नहीं करते जितना आपस में लडते है और एक-दूसरे से लड़ाई-झगडा करते है। 'सेकण्ड इण्टरनेशनल' अव एक शरीफ़ और भले मानुषो की संस्था वन गई है और योरप की सरकारो के मन्त्रिमण्डल के अनेक सदस्य इसके सदस्य है। तीसरा इण्टर-नेशनल अभीतक क्रान्तिकारी है और इसलिए अभीतक भले मानुषो की संस्था नहीं वन सका है।

रूस में गृह-युद्ध के जमाने में लाल आतंक (Red Terror) और श्वेत आतंक (White Terror) अपनी कठोर निर्दयता के लिए वरावर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रहे और गालिवन श्वेत आतंक ने इस मामले में लाल आतंक को मात कर दिया। साइवेरिया में कोलचक के अत्याचारो के वारे में अमेरिकन सेनापति के वर्णन से, जिसे मैं पहले दे चुका हूँ, और दूसरे वर्णनो से भी यही नतीजा निकलता है। लेकिन इसमें भी शक नहीं कि लाल आतंक भी वहुत कठोर था और वहुतसे निर्दोष आदमी इसके शिकार हुए। वोलशेविक लोग, जिनपर चारो तरफ से हमला हो रहा था और जो चारो तरफ़ जासूसो और षड्यन्त्रो से घिरे हुए थे, जरासे शुवहे के ऊपर घवरा जाते थे और वडी सख्ती से सजा देते थे। वोलशेविकों की राजनैतिक पुलिस, जिसको चेका कहते थे, इस अत्याचार के लिए वदनाम होगई। यह चेका हिन्दुस्तान की खुफ़िया पुलिस् की तरह की चीज थी, लेकिन इसके अख्तियारात ज्यादा थे।

यह ख़त लम्वा होता जाता है और इसे खत्म करने के पहले मैं तुम्हे लेनिन के वारे में कुछ वता देना चाहता हूँ। अगस्त १९१८ में, जव उसकी जान लेने की कोशिश की गई थी, उसे गहरी चोट लगी थी। इसपर भी लेनिन ने ज्यादा विश्राम नहीं लिया। वह वहुत जोरो के साथ काम कर रहा था और १९२२ की मई में उसका स्वास्थ्य विगड़ गया, जो अनिवार्य था। कुछ दिन आराम करने के वाद उसने फिर काम शुरू कर दिया, लेकिन ज्यादा दिनो तक काम नहीं कर सका। १९२३ में उसका स्वास्थ्य पहले से भी ज्यादा ख़राव होगया और इस वीमारी से वह नहीं वच सका। २१ जनवरी १९२४ को मास्को के नजदीक उसका प्राणान्त होगया।

वहुत दिनो तक उसका शरीर मास्को में रक्खा रहा। जाडे का मौसम था और रासायनिक पदार्थो से शरीर को सुरक्षित रक्खा गया था। सारे रूस-भर से और

साइबेरिया के दूर-दराज मैदानो से जन-साधारण के प्रतिनिधि आते थे—किसान और मजदूर मर्द, औरत और बच्चे—और अपने प्यारे कामरेड यानी साथी को, जिसने उन्हे गहरे गड्ढे से बाहर निकाला था और अधिक खुशहाल जिन्दगी की तरफ जाने का रास्ता दिखाया था, अन्तिम सम्मान और आदर देकर चले जाते थे। इन लोगो ने मास्को के सुन्दर रेड स्क्वायर में एक सीधा-सादा और श्रृंगार-शून्य मक़बरा उसके लिए बना दिया है और एक शीशे के बक्स में उसका शरीर अभीतक रक्खा हुआ है। हर शाम को वहाँपर लोगो का ताँता लगा रहता है और लोग चुपचाप उसका दर्शन करके चले जाते हैं। लेनिन को मरे हुए अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, फिर भी वह अपनी मातृभूमि रूस में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में एक प्रबल सिद्धान्त बन गया है। ज्यो-ज्यो जमाना गुजरता है, लेनिन महत्तर बनता जाता है। वह संसार के अमर लोगो की टोली का एक सदस्य होगया है। पेट्रोग्रेड का नाम लेनिनग्रेड होगया और रूस में करीब-करीब हर घर में लेनिन के लिए एक कोना मुकर्रर है या लेनिन की तस्वीर है। लेकिन लेनिन जिन्दा है—तस्वीरो और यादगारो के रूप में नहीं, बल्कि उस विशाल कार्य के रूप में, जो उसने करके दिखा दिया। लेनिन जिन्दा है करोडो मजदूरों के हृदय में, और उसका उदाहरण उनकी जिन्दगी में नई जान फूंकता है, जिसकी वजह से उन्हे बेहतर दिन देखने की आशा है।

यह न समझ लेना कि लेनिन कोई अमानुषी मशीन था जो अपने काम में लगा रहता था और किसी दूसरी बात का खयाल नहीं करता था। निस्सन्देह वह अपने काम में और अपने जीवन के उद्देश्य में बिलकुल तल्लीन था, फिर भी उसे अहंकार नही था। वह एक सिद्धान्त की मूर्त्ति था, फिर भी वह मनुष्य-जैसा था, और सबसे बड़ा मानुषी गुण उसमें यह था कि वह दिल खोलकर हँस सकता था। लॉक हार्ट मास्को में अंग्रेजो का एजेण्ट था और उस जमाने में, जबकि सोवियट खतरे में थी, वह वहीं रहता था। उसने लिखा है कि, चाहे जो हो लेनिन हमेशा हँसमुख दिखाई देता था। "मुझे जितने सार्वजनिक नेताओ से कभी भी मिलने का मौका मिला है उन सबमें लेनिन का स्वभाव मुझे सबसे ज्यादा निर्लेप मालूम हुआ। वह अपनी बातचीत और अपने काम में सरल और स्पष्ट, लम्बी-चौडी बातो और दिखावे से नफरत करनेवाला था। वह सगीत का प्रेमी था—इतना प्रेमी कि अक्सर वह डरा करता था कि संगीत-प्रेम की वजह से कहीं उसके ऊपर बुरा असर न पड़ जाय और वह अपने काम-काज में मुलायम न हो जाय।"

लेनिन के एक साथी ने, जिसका नाम लूना चार्स्की था और जो कई वर्षो तक बोलशेविको के शिक्षा-विभाग का कमीसार यानी मत्री रह चुका था, लेनिन के बारे

में एक दफा एक अजीव बात कही थी। वह कहता था कि पूंजीपतियो के प्रति लेनिन का व्यवहार बिलकुल वैसा ही है जैसा हजरत ईसा का रुपया उधार देनेवालो के प्रति था, जिन्हे उसने मन्दिर से निकाल दिया था। वह कहता था कि अगर हजरत ईसा आज जिन्दा होते तो बोलशेविक होते। गैर-मजहबी आदमियो के लिए यह उपमा बडी आश्चर्यजनक है।

लेनिन ने एक दफा स्त्रियो के बारे में कहा था—"कोई मुल्क आजाद नही हो सकता, जबकि आधी आबादी रसोईघर में कैद रहे"। एक दफा वह कुछ बच्चो को खिला रहा था, तब उसने एक बहुत अच्छी बात कही। उसके पुराने दोस्त मैक्सिम गोर्की ने लिखा है कि उसने कहा—"इन लोगो की जिन्दगियाँ हम लोगो से ज्यादा आनन्दमय होगी। इन्हे उन सब बातो का अनुभव नही करना पडेगा, जिसको हम सह चुके है। इनकी जिन्दगी में इतनी निर्दयता नही पाई जायगी।" निस्सन्देह हम सबको ऐसी ही आशा करनी चाहिए।

मैं इस खत को हाल के एक रूसी छन्द को देकर खत्म करूँगा। यह कोरस में गाने के लिए है। जिन लोगो ने इस संगीत को सुना है, वे कहते है कि इसमें जीवन और शक्ति भरी हुई है और यह गाना क्रान्तिकारी जनता की भावना का प्रतिरूप है। इसके अंग्रेजी अनुवाद में भी इस भावना की कुछ पुट आजाती है। इस गाने का नाम 'अक्तूबर' है, जिसका मतलब है नवम्बर सन् १७ की बोलशेविक क्रान्ति। उस जमाने में रूस का पंचाग असशोधित था और पश्चिमी पंचाग से १३ दिन पीछे था। इस पचांग के अनुसार मार्च सन् १७ की क्रान्ति फरवरी में हुई थी। इसलिए इसे फरवरी की क्रान्ति कहते है और इसी तरह बोलशेविक क्रान्ति, जो नवम्बर सन् १७ की शुरुआत में हुई, अक्तूबर की क्रान्ति कहलाती है। रूस ने अपना पचांग अब बदल दिया है और संशोधित पंचांग चलाया है; लेकिन ये पुराने नाम अभीतक जारी है।

'अक्तूबर' गीत का अंग्रेजी अनुवाद यह है :

We went, asking for work and for bread,
Our hearts were oppressed with anguish,
The chimneys of the factories pointed toward the sky,
like tired hands without strength to make a fist
Louder than the common, the silence was broken by the words of our grief and our pain
O Lenin! the desire of calloused hands
We have understood, Lenin, we have understood that our lot is a struggle! Struggle! Struggle!
You led us to the last fight Struggle!

You gave us the victory of labour.
And no one shall take away from us this victory over ignorance and oppression
No one ! No one ! Never ! Never !
Let everyone be young and brave in the struggle, because the name of our victory is October !
October ! October !
October is a messenger from the sun.
October is the will of the revolting centuries !
October ! It is a labour, it is a joy and a song.
October ! It is good fortune for the fields and machines !
Here is the banner name of the young generation and Lenin !

अर्थात्, "हम रोटी और काम की भीख माँगते ही जाते थे। हमारे हृदय दुःख से पीड़ित और शिथिल थे। अँगूठा दिखाने की ताकत से हीन हाथो की तरह कारखानो की चिमनियाँ आकाश की तरफ़ इशारा कर रही थीं। हमारे दुःख और दर्द के शब्दो से शान्ति, मामूली तरीक़े की बनिस्बत कहीं ज्यादा, भग हो रही थी। टूटे हुए हाथो की आकाक्षा-सा ओ लेनिन ! हमने समझ लिया है; लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमे लड़ना, लड़ना और लडना है। तुमने अतिम लड़ाई तक हमे पहुँचाया। तुमने हमे श्रमिको की विजय दी और कोई अज्ञान और अत्याचार पर उस विजय को हमसे छीन नही सकता। कोई नही ! कोई नहीं ! कभी नहीं ! कभी नही ! लड़ाई मे, सघर्ष में हरेक को युवा और बहादुर होने दो, क्योकि हमारी विजय का नाम 'अक्तूबर' है। अक्तूबर ! अक्तूबर ! अक्तूबर सूर्य का सदेश-वाहक है। अक्तूबर विद्रोही शताब्दियो का सकल्प है। अक्तूबर ! यह श्रम है, आनन्द है, गान है। अक्तूबर ! यह खेतो और मशीनो का सौभाग्य है। यह युवा पीढ़ी और लेनिन के नाम का झण्डा है।"

: १५३ :

जापान चीन को दबाता है

१४ अप्रैल, १९३३

जिस समय महायुद्ध चल रहा था, सुदूर पूर्व के देशो में कुछ घटनायें ऐसी हुई जिनपर ध्यान देना हमारे लिए जरूरी है। इसलिए अब मैं तुम्हे चीन की बात बताऊँगा। चीन के बारे में अपने पिछले खत में मैंने तुम्हे चीन में प्रजातंत्र के स्थापित होने की बात बताई थी और उन झगडो का भी जिक्र किया था जो इनके बाद हुए। फिर से साम्राज्य कायम करने की कोशिशें की गईं। लेकिन वे नाकामयाब रहीं। प्रजातंत्र भी सारे देश पर अपनी हुकूमत कायम करने में नाकामयाब रहा,

या यो कहो कि कोई एक सरकार सारे देश में हुकूमत कायम नही कर सकी। उस वक्त से अभीतक कोई एक शासन ऐसा नही बन सका जिसने सारे चीन पर बेखटके शासन किया हो। कुछ सालो से इस देश में दो मुख्य सरकारे कायम रही है—दक्षिण में डाक्टर सनयात सेन और उनका राष्ट्रीय दल काउ-मिन-तांग हावी था। उत्तर में युआन-शी-काई सेनापति था और इसके बाद सेनापतियो और सैनिको का एक ताँता था। इन सैनिक दुस्साहसियो को तूशन कहते थे और हाल के सालो में ये लोग चीन की जान पर आफत रहे हैं।

चीन इस तरह लगातार अशान्ति और अव्यवस्था की दुःखद अवस्था में रहा और अकसर उत्तर और दक्षिण में या तूशनो में गृह-युद्ध होते रहे। साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए बहुत बढिया अवसर था। इन्होने साजिशें शुरू कीं और कभी एक पार्टी या एक तूशन की सहायता करके और कभी दूसरे तूशन को मदद करके आपस की फूट से ये शक्तियाँ फायदा उठाने की कोशिश करने लगी। तुम्हे याद होगा कि अंग्रेजो ने हिन्दुस्तान में भी इसी तरह अपना राज्य कायम किया था। यूरोपियन शक्तियो ने इस अवसर से फायदा उठाया और एक तूशन को दूसरे तूशन से लड़ाने लगी। लेकिन सुदूर पूर्व में इनकी ये हरकते इनकी अपनी खुद की मुसीबतों और महायुद्ध के कारण बहुत जल्द रुक गईं।

लेकिन जापान का यह हाल नही हुआ। युद्ध की खास लड़ाई बहुत दूर हो रही थी और जापान ने यह देखा कि चीन में वह अपनी पुरानी कारगुजारियाँ बिलकुल निर्विघ्न जारी रख सकता है। सच तो यह है कि उस हालत में उसे बहुत अच्छा मौका मिल गया, क्योकि दूसरी शक्तियाँ और कामो में लगी हुई थीं और हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। उसने जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध की घोषणा सिर्फ इस-लिए करदी कि चीन में क्यानचाग में जर्मनो को जो अधिकार मिले हुए थे, वह छीन ले और चीन के अन्दर और आगे बढ सके।

चीन के बारे में जापान की नीति पिछले ४० वर्षो से एकसमान रही है। ज्योही उसकी सेना नये ढंग से संगठित होगई और उसने अपने देश के व्यवसायो की उन्नति करली, उसने यह निश्चय कर लिया कि अब जापान को चीन पर प्रभुत्व जमा लेना चाहिए। उसको फैलने के लिए और अपने व्यवसायो को बढ़ाने के लिए विस्तार की ज़रूरत थी। कोरिया और चीन दोनो ही नजदीक थे और कमजोर थे, मानो अपने शोषण और गुलामी के लिए दुनिया को निमंत्रित कर रहे हो। जापान की पहली कोशिश १८९४-९५ में हुई, जबकि उसने चीन से लड़ाई शुरू की। वह कामयाब हुआ; लेकिन इतना नहीं, जितना चाहता था; क्योंकि यूरोपियन शक्तियो

ने मुख़ालफ़त की। फिर १९०४ में रूस के साथ संघर्ष हुआ, जो ज्यादा कठोर था। इसमें भी वह कामयाब रहा और कोरिया और मंचूरिया में मजबूती से जम गया। उसके थोड़े दिन बाद ही कोरिया पर क़ब्ज़ा कर लिया गया और कोरिया जापानी साम्राज्य का एक अंग बन गया।

मंचूरिया फिर भी चीन का हिस्सा बना रहा। यह देश चीन के तीन पूर्वीय प्रांतों में से है। जापानियो ने इस देश में सिर्फ उन सब रिआयतों को अपने हाथ में लेलिया जो रूसियों को मिली हुई थीं; उस रेलवे पर भी क़ब्ज़ा कर लिया, जो रूसियों ने बनाई थी और जिसे उस वक्त 'चीनी ईस्टर्न रेलवे' कहते थे। इस रेलवे का नाम बदलकर 'दक्षिणी मंचूरियन रेलवे' कर दिया गया। अब जापान ने मंचूरिया को मज़बूती से दबोचना शुरू किया। इसी दरमियान चीन के बाकी घने बसे हुए हिस्से के लोग इस रेलवे की वजह से इधर झुके और चीनी किसान इस प्रदेश में टूट पड़े। सोयाबीन नाम की चीज मंचूरिया में खूब पैदा होती है और इस चीज के गुणो की वजह से सारे संसार में इसकी माँग बढ़ी। इससे एक क़िस्म का तेल भी पैदा होता है। इस सोयाबीन की खेती के लिए बहुत से लोग आकर बसने लगे। इस तरह इधर जापानी लोग ऊपर से मंचूरिया की आर्थिक मशीन पर पूरा-पूरा अधिकार पाने की कोशिश कर रहे थे, उधर चीनी लोग दक्षिण से फटे पड़ते थे और देश में बसते जा रहे थे। पुराने मंचू लोग चीनी किसानों की इस बाढ़ में बिलकुल डूब गये और अपनी संस्कृति में और दृष्टिकोण में पूरे-पूरे चीनी होगये।

जापान को चीन में प्रजातंत्र का आगमन पसन्द नहीं आया। उसे हरेक चीज, जिससे चीन को मजबूती मिल सकती थी, नापसन्द थी, और उसकी कूटनीतिज्ञता का सारा उद्देश्य यही था कि कहीं चीन सुसंगठित होकर एक मजबूत राज्य न बन जाय। इसलिए वह एक तूचन की मदद करके दूसरे तूचन के खिलाफ़ उसे लड़ाने में बहुत दिलचस्पी लेता रहा, जिससे देश के अन्दर बदअमनी क़ायम रहे।

जापान पर या पश्चिमी शक्तियों पर इस बात के लिए दोषारोपण करना सरल है कि उन्होंने इस बात की जान-बूझकर कोशिश की कि चीन में शान्ति न हो सके। दोष उनका जरूर है, फिर भी असल वजह चीन की खुद अपनी कमजोरी थी, जैसे हिन्दुस्तान में जब-जब अंग्रेजी सरकार राष्ट्रीय दल के अन्दर फूट पैदा करने में सफल रही है तब-तब असली कारण राष्ट्रवादियों की कमजोरी ही रहा है। सिर्फ यह बात कि अंग्रेज फूट कराने की इस नीति में सफल हुए, इस बात की परिचायक है कि कम-से-कम इस विषय में ये लोग सबसे आगे बढ़े हुए हैं।

चीन के नवजात प्रजातंत्र के सामने बड़ी-बड़ी भीषण समस्यायें थीं। सवाल

सिर्फ इतना ही नही था कि मृतप्राय शाही सरकार से राजनैतिक सत्ता छीन ली जाय, क्योकि कोई राजनैतिक सत्ता छीनने को वाकी ही नही थी। कोई केन्द्रीय शक्ति थी ही नही। उसे तो पैदा करना था। पुराना चीन नाम मात्र के लिए साम्राज्य था, वास्तव में वह अनेक स्वशासित क्षेत्रो का समूह था, जो वहुत कमजोरी के साथ आपस में वँधे हुए थे। प्रान्त कोई कम कोई ज्यादा स्वतत्र थे, और इसी प्रकार कस्वे और शहर। केन्द्रीय सरकार या सम्राट की हुकूमत लोग मानते थे, लेकिन यह सरकार स्थानीय मामलो में दखल नही देती थी। कोई यूनिटरी स्टेट यानी ऐसी सरकार नही थी जिसके हाथ में सब प्रान्तो को एक शासन में जोड़ने की शक्ति होती और जो सारे देश में एक नीति से हुकूमत चला सकती। राजनैतिक दृष्टिकोण से असल में यह राज्य वडी कमजोरी से वँधे हुए प्रदेशो का समूह था, जो पश्चिमी उद्योगो और साम्राज्यवादियो की लालच के सम्पर्क से विखर रहा था। लोग महसूस करते थे कि अगर चीन को जिन्दा रहना है तो उसे एक मजबूत केन्द्रीय राज्य होना चाहिए, जिससे शासन की प्रणाली सब जगह एक-सी हो। नया प्रजातत्र इसी किस्म का राज्य कायम करना चाहता था। यह एक नई चीज थी और इसलिए प्रजातत्र के सामने यह एक वहुत वडी समस्या वन गई। चीन में सड़क, रेलवे और आमदरफ़्त के उपयुक्त साधन नही थे। इसकी वजह से उसकी राजनैतिक एकता में वडी भारी अड़चन पड़ती थी।

पुराने जमाने में चीन के लोग राजनैतिक शक्ति को ज्यादा महत्व नही देते थे। उनकी सारी विशाल सभ्यता संस्कृति पर निर्भर थी और वह जीवन-यात्रा की कला ऐसे ढंग से सिखाती थी जिस ढंग से पहले कभी नही सिखाई गई। चीनी लोग अपनी इस पुरानी संस्कृति में इतने डूबे हुए थे कि जब इनका राजनैतिक और आर्थिक ढांचा विखरा तव भी ये अपनी पुरानी संस्कृति के रस्म-रिवाजो से चिपटे रहे। जापान ने जान-बूझकर पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी रंग-ढंग अख़्तियार किया था और फिर भी वह दिल में सामन्तवादी था। चीन सामन्तवादी नही था; वह बुद्धिवाद और वैज्ञानिक भावना से परिपूर्ण था। विज्ञान और व्यवसाय में पश्चिम की उन्नति की तरफ वह वडे कौतूहल से देखता था, फिर भी वह उधर नहीं झुका जिधर जापान झुका। इसमें शक नही कि चीन के रास्ते में वहुत-सी ऐसी कठिनाइयाँ थीं जो जापान के रास्ते में नहीं थीं। लेकिन चीन के दिल में एक संकोच भी था और वह यह कि कोई वात ऐसी न करो जिससे पुरानी संस्कृति से विलकुल नाता टूट जाय। चीन का मिजाज फ़िलासफ़रो यानी दार्शनिको का मिजाज था और फ़िलासफ़र लोग तेजी से काम नहीं करते। उसके मन में वहुत जोरदार उवाल पैदा होगया था और

है, क्योकि जिन समस्याओ का उसे मुकाविला करना था वे केवल राजनैतिक समस्यायें ही नही थी वल्कि आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, शिक्षा-सम्बन्धी और दूसरे प्रकार की भी थी ।

और फिर दूसरी वात यह भी है कि चीन और हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देशो के विस्तार की वजह से ही कठिनाइयाँ पैदा होजाती है । ये देश महाद्वीप के समान है और महाद्वीपो में जो बोझ होता है वह इन देशो में भी पाया जाता है । जब कोई हाथी गिर पड़ता है तो उसको उठने में देर लगती है । विल्ली या कुत्ते की तरह वह कूदकर नही बैठ जाता ।

जब महायुद्ध शुरू हुआ, जापान तुरन्त मित्र-राष्ट्रो के साथ शामिल होगया और जर्मनी से लड़ाई का ऐलान कर दिया । उसने कियान्चान पर कब्ज़ा कर लिया और शाटुंग प्रान्त पर, जिसमें कियानचान स्थित है, अन्दर की तरफ फैलने लगा । इसका मतलव यह था कि जापानी ख़ास चीन पर हमला कर रहे है । इसमें जर्मनी के ख़िलाफ लड़ने का कोई सवाल नही था, क्योकि जर्मनी का इस इलाके से कोई ताल्लुक नही था । चीनी सरकार ने नम्रतापूर्वक उनसे चले जाने को कहा । जापानियो ने कहा--'यह उद्दण्डता है, और झट २१ माँगो का एक सरकारी खरीता पेश कर दिया ।

ये '२१ मागें' मशहूर होगईं । मै यहाँ उन्हे नही लिखूंगा । उनका तात्पर्य यह था कि चीन में—ख़ास तौर पर मंचूरिया, मंगोलिया और शाटुंग प्रान्तो में—सब तरह के अधिकार और सुविधायें जापान के सुपुर्द कर दी जायँ । इन माँगो को मंजूर कर लेने से चीन अमली तौर पर जापान की एक वस्ती या उपनिवेश होजाता । कमजोर उत्तरी चीनी सरकार ने इन माँगो पर एतराज किया, पर वह ताकतवर जापानी फौज के ख़िलाफ क्या कर सकती थी ? और फिर उत्तर की यह चीनी सरकार ख़ुद भी जनता में लोकप्रिय नहीं थी । फिर भी उसने एक काम किया, जिससे मदद मिली । उसने जापनी माँगो को प्रकाशित कर दिया । इससे तुरन्त ही चीन में जवरदस्त विरोध खड़ा हो गया, और दूसरी शक्तियाँ भी, यद्यपि वे लड़ाई में मशगूल थी, घवरा गई । अमेरिका ने खास तौर पर विरोध किया । इसका नतीजा यह निकला कि जापान ने कुछ माँगें हटालीं और कुछ में तरमीम करके उन्हे हलका वना दिया और चीनी सरकार को उन्हे मई १९१५ में मंजूर कर लेनें पर मजवूर किया । इससे चीन में जापान के ख़िलाफ़ जवरदस्त भावना पैदा होगई ।

अगस्त १९१७ में, यानी महायुद्ध शुरू होने के तीन वर्ष वाद, चीन मित्र-राष्ट्रो में शामिल होगया और उसने भी जर्मनी के ख़िलाफ लड़ाई का ऐलान कर

दिया। यह एक हास्यास्पद बात थी, क्योकि चीन जर्मनी का कुछ बिगाड़ नही सकता था। उनका मतलब असल में मित्र-राष्ट्रो की सद्भावना प्राप्त करना और यो जापान के भावी खतरो से अपनी रक्षा करना था।

इसके थोडे ही दिन बाद, नवम्बर १९१७ में, बोलशेविक क्रान्ति आगई और इसके पश्चात् सारे उत्तरी एशिया में बडी अव्यवस्था फैल गई। साइबेरिया सोवियट और सोवियट-विरोधी शक्तियो के बीच एक युद्धभूमि यानी मैदानेजंग बन गया। 'सफेद' रूसी जनरल कोलचक सोवियट के खिलाफ साइबेरिया से ही लड़ता था। सोवियट-विजय से घबराकर जापानियो ने साइबेरिया में एक बडी फौज भेजी। ब्रिटिश और अमेरिकन फौजें भी वहाँ भेजी गई। कुछ वक्त के लिए साइबेरिया और मध्य-एशिया से रूस का प्रभाव नष्ट होगया। ब्रिटिश सरकार ने तो इन इलाको से रूस की मर्यादा को एकदम नष्ट कर देने की दिलोजान से कोशिश की। मध्य-एशिया के हृदय काशगर में अंग्रेजो ने बोलशेविको के खिलाफ प्रचार करने के लिए एक बेतार के तार का स्टेशन भी खोल दिया।

मगोलिया में भी सोवियट और सोवियट-विरोधी लोगो में एक खूँखार लड़ाई हुई। १९१५ में, जब महायुद्ध जारी था, जारशाही रूस की मदद से मंगोलिया ने चीन-सरकार से आन्तरिक मामलो में काफी आजादी हासिल करली थी। फिर भी चीन का उसपर प्रभुत्व तो था ही और मंगोलिया के वैदेशिक सम्बन्धो की दृष्टि से रूस को भी वहाँ पैर जमाने का मौका मिल गया था। यह एक अजीब व्यवस्था थी। सोवियट राजक्रांति के बाद मंगोलिया में गृह-युद्ध शुरू होगया और तीन वर्ष या उससे भी ज्यादा वक्त तक लड़ने के बाद वहाँ की सोवियट जीत गई। मंगोलिया की वर्तमान स्थिति तो और भी अजीब है। यह सोवियट यूनियन से सम्बद्ध एक स्वतंत्र प्रजातत्र है, फिर भी, मेरा खयाल है कि, यह चीन की छत्रछाया को मानता है।

मैने महायुद्ध के बाद होनेवाले शान्ति-सम्मेलन के बारे में अभीतक नही बताया है। उसका जिक्र फिर एक दूसरे ही खत में करना पडेगा। फिर भी यहाँ मै इतना कहदूँ कि इस कान्फ्रेंस या सम्मेलन में बडी ताकतो ने, जिनसे खासतौर पर इंग्लैण्ड, फ्रांस और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का मतलब होता है, तय किया कि चीन का शाटुंग प्रान्त जापान को दे दिया जाय। यो महायुद्ध के फल-स्वरूप उन्हींके मित्र चीन को अपने देश का एक हिस्सा जापान को दे देने को मजबूर किया गया। इसकी वजह युद्ध के जमाने में इग्लैण्ड, फ्रास और जापान के बीच हुई एक गुप्त संधि थी। कारण कुछ भी रहा हो, चीन के साथ इस तरह की धोखेबाजी को चीनी राष्ट्र ने बहुत नापसन्द किया और चीन के लोगो ने पेकिंग की सरकार से साफ-साफ कह दिया कि

अगर वह इस मामले में समझौता करेगी तो क्रान्ति हो जायगी। जापानी चीजो के सख्त बहिष्कार की घोषणा कर दी गई और जगह-जगह जापान के खिलाफ़ दंगे हुए। चीनी सरकार (जिससे मेरा मतलब पेकिंग की उत्तरी सरकार से है, क्योकि वही प्रधान सरकार थी) ने शांति के संधिपत्र (Peace Treaty) पर दस्तखत करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्ष बाद संयुक्तराष्ट्र के वाशिंगटन नगर में एक कान्फ्रेंस हुई, जिसमें शांटुंग का सवाल भी उठा। इस कान्फ्रेंस में वे सब शक्तियाँ शरीक थी जिनकी सुदूरपूर्व के सवालों में दिलचस्पी थी या स्वार्थ थे और वे अपनी जल-सेनाओ की ताकत पर बहस करने को शामिल हुई थी। जहाँतक चीन और जापान का ताल्लुक था, १९२२ की इस वाशिंगटन कान्फ्रेंस से कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले। जापान चीन को शांटुग लौटा देने पर राजी होगया। इस तरह एक सवाल, जो चीनी जनता को हिला रहा था, हल होगया। शक्तियो में दो और महत्वपूर्ण राजीनामे भी हुए।

इनमें से एक अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, जापान और फ़्रास के बीच था और 'फोर-पावर पैक्ट' (चार ताकतो का राजीनामा) के नाम से पुकारा जाता था। इन चारो ताकतों ने प्रशांतमहासागर के अपने अधिकृत स्थानो की सम्मिलित रक्षा का वादा किया, यानी इस बात का वादा किया कि वे एक-दूसरे के इलाको पर हाथ न डालेगे। दूसरा राजीनामा 'नाइन पावर ट्रीटी' यानी 'नौ राष्ट्रो की संधि' के नाम से मशहूर हुआ। यह कान्फ़्रेंस में शामिल हुए सब राष्ट्रो के बीच था। इसमें ये नौ राष्ट्र थे—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, बेलजियम, ब्रिटेन, फ्रास, इटली, जापान, हालैण्ड, पोर्चुगाल और चीन। इस संधि की पहली धारा इन शब्दो के साथ शुरू हुई थीः—

"To respect the sovereignty, the independence and the territorial and administrative integrity of China ... ."

अर्थात् "चीन के प्रभुत्व, स्वतन्त्रता और प्रादेशिक एव शासन सबन्धी अखडता या एकता के सम्मान के लिए······"

मैं तुम्हे 'फोर पावर पैक्ट' और 'नाइन पावर ट्रीटी' के बारे में इसलिए बता रहा हूँ कि ये दोनो बाते इस वक्त बार-बार हमारे सामने आ रही है और अखबारो में अकसर उनका ज़िक्र किया जाता है। ये दोनो राजीनामे चीन को भावी आक्रमणो से बचाने के लिए थे। वे सहूलियते हासिल करने और इलाको को हड़प लेने के पुराने खेल को, जो अबतक शक्तियाँ खेलती रही थीं, बन्द करने की गरज से किये गये थे। पश्चिमी ताकते महायुद्ध के बाद के अपने ही सवालो को हल करने में मशगूल थीं और उस वक्त चीन में उनकी कोई दिलचस्पी न थी। इसीलिए आत्म-नियत्रण का

यह आर्डिनेन्स पैदा हुआ जिसको लेकर उन्होंने पवित्र शपथ ग्रहण की। जापान भी इस प्रतिज्ञा में शामिल हुआ, यद्यपि यह बात उसकी उस नीति के खिलाफ पड़ती थी जो वह कई वर्षों से चला रहा था। पर बहुत साल नहीं बीते थे कि यह बात स्पष्ट होगई कि सारे राज़ीनामों और वादों के बावजूद जापान की पुरानी नीति जारी है। अन्तर्राष्ट्रीय पाखण्ड और झूठ का यह एक असाधारण उदाहरण रहा है। जब मैं यह खत लिख रहा हूँ, चीन पर जापान का हमला जारी है। जो कुछ हो रहा है, उसके पार्श्वचित्र को समझाने के लिए ही मैं तुम्हे वाशिंगटन कान्फ्रेंस तक ले गया था।

वाशिंगटन कान्फ्रेंस के वक्त के करीब ही साइबेरिया से विदेशी फौजें अन्तिम रूप में हटाई गई। जापानी सबसे अखीर में गये। तुरंत ही वहाँ सोवियट बन गई और रूस के सोवियट प्रजातंत्र संघ में शामिल होगई।

रूसी सोवियट ने जन्म के कुछ ही दिनो बाद चीनी सरकार को सूचित कर दिया था कि दूसरी साम्राज्यवादी ताकतो के साथ ज़ारशाही रूस को चीन से जो खास सहूलियते मिली थी उन सबको वह छोड़ देने को तैयार है। साम्राज्यवाद और साम्यवाद साथ-साथ नही चल सकते और इसके अलावा भी सोवियट ने पूर्वी देशो के प्रति, जो पश्चिमी शक्तियो द्वारा बहुत दिनो से शोषित हो रहे थे, जानबूझकर उदारता-पूर्ण नीति इख्तियार की थी। यह सिर्फ सदाचरण ही नही था बल्कि सोवियट रूस के लिए अच्छी और मुनासिब नीति भी थी, क्योकि इस नीति ने पूर्व में उसके कई मित्र पैदा कर दिये। सहूलियते छोड़ देने का सोवियट रूस का प्रस्ताव बिना किसी शर्त के था; उसने उसके बदले कोई माँग नही की। इतने पर भी चीनी सरकार सोवियट से व्यवहार करने में डरती थी कि कही पश्चिमी योरप की शक्तियाँ नाराज़ न हो जायें। पर आखिरकार रूसी और चीनी प्रतिनिधि मिले और १९२४ में उनके बीच एक राज़ीनामा हुआ। जब इस राज़ीनामे का पता चला तो फ़्रांसीसी, अमेरिकन और जापानी सरकारो ने पेकिंग की सरकार के पास अपना विरोध ज़ाहिर किया और पेकिंग सरकार इतनी डर गई कि उसने राज़ीनामे पर किये हुए अपने प्रतिनिधियो के दस्तखत से इनकार कर दिया। ऐसी बुरी खाई में पेकिंग सरकार पड़ गई थी। इसपर रूसी प्रतिनिधि ने राज़ीनामे का सारा मस्विदा छाप दिया। इससे बडी सनसनी फैली। शक्तियो के सम्पर्क में पहली बार चीन के साथ आदर और सम्मान का व्यवहार किया गया था और उसके अधिकार स्वीकार किये गये थे। यह एक बडी शक्ति से उसकी पहली बराबरी की सधि थी। चीनी जनता इससे खुश हुई और सरकार को इसपर दस्तख़त करने पडे। साम्राज्यवादी ताकतो का इसे नापसद करना लाज़िमी था, क्योकि इसने उन्हे बडे बुरे रूप में दुनिया के सामने पेश किया। जब

सोवियट रूस नें उदारता के साथ सब सहूलियतें छोड़ दीं, तब वे अपनी सब विशेष सुविधाओं से चिपटी रहीं।

सोवियट सरकार ने डॉ० सनयातसेन की दक्षिणी चीन की सरकार से भी, जिसकी राजधानी कैण्टन थी, बातचीत शुरू की और दोनो में एक समझौता हुआ। इस दरमियान एक तरह का हलका गृह-युद्ध उत्तर और दक्षिण के बीच, और उत्तर के मुख़्तलिफ सिपहसालारो में, जारी था। ये उत्तरी तूशन, या महातूशन जैसा कि कुछ कहे जाते थे, किसी कार्यक्रम या सिद्धान्त के लिए नहीं लड़ते थे; वे अपनी निजी सत्ता के लिए लड़ते थे। कभी-कभी कई मिलकर एक संगठन बना लेते और दूसरे पक्ष से लड़ते थे। पर इनका पक्ष बदलता रहता था और बाहर के लोगो को इन सदा बदलते रहनेवाले संगठनो से बडी हैरत होती थी। ये तूशन, या फ़ौजी जॉबाज, अपनी निजी फौजें खडी करते थे, प्राइवेट टैक्स लगाते थे और अपनी निजी लड़ाइयाँ जारी रखते थे; और इन सबका बोझ बहुत दिनो से दु.ख पानेवाली बेचारी चीनी जनता पर पड़ता था। यह कहा जाता था कि इन बडे तूशनो में से कुछ के पीछे विदेशी ताकतें थीं। ख़ास तौर पर जापान का नाम लिया जाता था। शंघाई की बडी-बडी व्यापारिक पेढ़ियों से भी उनके पास दौलत और मदद आती थी।

बस एक प्रकाश का स्थान दक्षिण था, जहाँ सनयातसेन की सरकार कायम थी। उसके अपने आदर्श थे, अपनी एक नीति थी, और यह लुटेरो का मामला नहीं था जैसाकि उत्तरी तूशनो की कई सरकारे थीं। १९२४ में काउ-मिन-ताँग यानी जनता के दल का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और डॉ० सन ने उसके सामने एक मैनीफेस्टो यानी घोषणापत्र पेश किया। इस मैनीफेस्टो में उन्होने उन सिद्धान्तो को लिखा था, जिनके अनुसार वह राष्ट्र को चलाना चाहते थे। यह मैनीफेस्टो और ये सिद्धान्त तबसे काउ-मिन-ताँग का आधार रहे हैं और यह समझा जाता है कि अब भी राष्ट्रीय सरकार की आम नीति उसीके मुताबिक चलाई जाती है।

मार्च १९२५ ई० में, चीन की सेवा में अपनी जिन्दगी गुजारने और चीनी जनता का प्रेमपात्र होने के बाद, डॉ० सनायतसेन की मृत्यु हुई।

: १५४ :

युद्ध-काल में भारत

१६ अप्रैल, १९३३

ब्रिटिश साम्राज्य का एक हिस्सा होने के नाते हिन्दुस्तान का महायुद्ध से सीधा ताल्लुक था। पर हिन्दुस्तान के अन्दर या उसके आस-पास कही वास्तविक युद्ध नहीं लडा जा रहा था। फिर भी महायुद्ध ने हिन्दुस्तान के मामलो पर कई तरह से असर डाला। यह असर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो तरह का था। इसकी वजह से यहाँ वहुतेरी तव्दीलियाँ हुई। मित्र-राष्ट्रो की मदद करने में उसके साधनो का पूरी तरह इस्तेमाल किया गया।

यह हिन्दुस्तान की लड़ाई न थी। हिन्दुस्तान की जर्मन शक्तियो से कोई दुश्मनी न थी, वल्कि तुर्की के साथ तो काफी हमदर्दी भी थी। पर इस मामले में हिन्दुस्तान के लिए कोई चारा न था। वह सिर्फ ब्रिटेन का एक मातहत देश था, इसलिए उसे भी अपने साम्राज्यवादी मालिक के साथ कतार में खड़ा होने को मजबूर होना पड़ा। इस तरह, देश में काफी विरोध होने के वावजूद, हिन्दुस्तानी सिपाहियो को तुर्को, मिस्रियो और दूसरो के खिलाफ लड़ना पड़ा, जिससे पश्चिमी एशिया में हिन्दुस्तान का नाम वहुत ही नापसन्द किया जाने लगा और उसकी वडी वदनामी हुई।

जैसा मैंने तुम्हे किसी पहले के खत में वताया है, महायुद्ध के शुरू में हिन्दुस्तान में राजनीति शिथिल-सी थी। लड़ाई शुरू हो जाने से लोगो का ध्यान राजनीति की तरफ से और ज्यादा हट गया और फिर युद्ध के जमाने में जारी किये हुए नियमो, प्रतिवन्धो और दूसरे वन्धनो के कारण वास्तविक राजनैतिक काम वहुत मुश्किल हो गया। युद्ध का जमाना सरकारो के लिए हरेक को दवाने और अपनी मनमानी करने का अक्सर काफी वड़ा वहाना वन जाता है। अगर कोई छूट होती है तो सिर्फ खुद उनके लिए होती है; वे जो चाहे कर सकती है। सेंसर वैठ जाता है, जो सत्य का गला घोट देता है; अक्सर झूठी वातो का प्रचार करता है और लोगो को अपनी राय जाहिर करने या टीका-टिप्पणी करने से रोकता है। क़रीव-करीव हर तरह की कौमी कार्रवाई पर नियत्रण रखने के लिए ख़ास तरह के कानून और कायदे (रेगु-लेशन) वनाये जाते है। लड़ाई में शामिल होने या लड़ने वाले सव देशो में ऐसा किया गया और लाजिमी तौर पर हिन्दुस्तान में भी ऐसा ही हुआ। यहा 'डिफेंस ऑफ इण्डिया ऐक्ट' यानी 'भारत-रक्षा कानून' नाम का एक कानून पास किया गया। इस तरह युद्ध या उससे सम्वन्ध रखनेंवाली दूसरो वातो की सार्वजनिक आलोचना का दरवाजा

अच्छी तरह बन्द कर दिया गया। फिर भी इनके पीछे, पार्श्वभूमि में, जर्मन ताकतो और खासकर तुर्की के साथ लोगो की आम हमदर्दी थी। यह कहना शायद ज्यादा सही होगा कि लोग चाहते थे कि ब्रिटेन को मुँह की खानी पडे। इस तरह की नपुंसक इच्छा उन लोगो के लिए स्वाभाविक थी जो खुद बुरी तरह पस्त कर दिये गये थे। पर इस इच्छा को सार्वजनिक रूप से प्रकट नही किया गया।

ऊपर तो हवा में चारो तरफ ब्रिटेन के प्रति वफादारी की आवाज थी। ज्यादातर वफादारी का यह शोर-गुल हिन्दुस्तानी राजाओ और उन मध्यम श्रेणी के कुछ लोगो के द्वारा उठता था जो सरकार के सम्पर्क में थे। कुछ हद तक बोर्जुआ यानी मध्यम वर्ग भी प्रजातंत्र और राष्ट्रो की स्वतंत्रता और आजादी के उन ऐलानो में, जो मित्र-राष्ट्र कर रहे थे, फँस गया था। शायद यह सोचा गया कि ये ऐलान हिन्दुस्तान पर भी लागू होगे और उम्मीद की जाती थी कि इस वक्त मुसीबत की घड़ियो में ब्रिटेन को जो मदद दी जायगी उसका बाद में मुनासिब इनाम मिलेगा। कुछ भी हो, हिन्दुस्तान का इस मामले में कोई वश न था और कोई दूसरा आसान रास्ता भी न था, इसलिए उसने भी बुरी चीज का अच्छे-से-अच्छा इस्तेमाल करना ही ठीक समझा।

हिन्दुस्तान में ऊपर-ऊपर दिखाई पड़नेवाली इस वफादारी की उन दिनो इंग्लैण्ड में बडी तारीफ हुई और बार-बार कृतज्ञता भी प्रकट की गई। जिन लोगो के हाथ में सत्ता थी उन्होने कहा कि इसके बाद इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान को 'नये दृष्टिकोण' से देखेगा।

पर हिन्दुस्तान में भी और विदेशो में भी कुछ हिन्दुस्तानी ऐसे थे जिन्होंने 'वफादारी' का यह रुख इख्तियार नही किया। वे, बहुमत की तरह, चुपचाप बैठे भी नहीं रहे। पुरानी आयरिश कहावत के मुताबिक उनका विश्वास था कि इंग्लैण्ड की मुसीबत ही उनके देश के लिए सुअवसर है। खास तौर पर जर्मनी और योरप के दूसरे मुल्को में रहनेवाले कुछ हिन्दुस्तानी बर्लिन में इसलिए इकट्ठे हुए कि इंग्लैण्ड के दुश्मनो को मदद देने के उपाय किये जायें और इसके लिए एक कमेटी भी बनाई। जर्मन सरकार, स्वाभाविक रूप से, हर तरह की मदद हासिल करने को उत्सुक थी। इसलिए उसने इन हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारियो का स्वागत किया। बाकायदा एक राजीनामा लिखा गया और उसपर दोनो पक्षो—जर्मन सरकार और हिन्दुस्तानी कमेटी—की तरफ से दस्तखत हुए। इस राजीनामे में और बातो के साथ एक बात यह थी कि हिन्दुस्तानियो ने युद्ध में इस शर्त पर जर्मन सरकार की मदद करने का वादा किया कि फतह हासिल होने पर जर्मनी हिन्दुस्तान की आजादी पर जोर देगा। इस हिन्दुस्तानी कमेटी ने सारे युद्ध-काल में जर्मनी की तरफ से काम किया। इसने

बाहर लडने के लिए भेजी गई हिन्दुस्तानी फौजो में प्रचार किया और इसके काम का क्षेत्र अफगानिस्तान और सीमाप्रान्त तक फैल गया था। पर इसके सिवा कि उन्होने अंग्रेजो को परेशानी को बहुत ज्यादा बढा दिया हो, और कुछ ज्यादा ये हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारी न कर सके। समुद्र के रास्ते, हिन्दुस्तान में अस्त्र-शस्त्र भेजने की कोशिश की गई, पर उसे भी अंग्रेजो ने नाकामयाब कर दिया। लड़ाई में जर्मनी के हार जाने से इस कमेटी और उसकी उम्मीदो का अपने-आप खात्मा होगया।

हिन्दुस्तान के अन्दर भी क्रान्तिकारियो की थोडी-बहुत कार्रवाई जारी रही और षडयन्त्र के मुकदमो के लिए खास अदालते—स्पेशल ट्रिब्यूनल्स—बनाई गईं। बहुत-से आदमियो को फांसी दी गई, और बहुतो को लम्बी सजायें हुईं। उस वक्त के सजा पाये हुए कुछ आदमी आज १७ वर्ष बाद भी जेलो में पडे हुए है!

ज्यो-ज्यो युद्ध आगे बढ़ा, और जगहो की तरह, यहाँ भी कुछ लोगो ने गहरा मुनाफा उठाया। पर ज्यादातर आदमियो का बोझ बढ़ता गया और लोगो में असतोष भी बढने लगा। लड़ाई के लिए ज्यादा-से-ज्यादा आदमियो की माँग बढ़ती ही जा रही थी और फौज में भरती का काम बडे जोर से होने लगा। रंगरूट लानेवालो को हर तरह के इनाम और प्रलोभन दिये गये और जमीदारो को अपने काश्तकारो में से तयशुदा तादाद में आदमी देने को मजबूर किया गया। पजाब में खास तौर पर भरती के मामले में जबरदस्ती का यह तरीका इख्तियार किया गया। हिन्दुस्तान से जितने आदमी फौज में भरती करके लड़ाई के जुदा-जुदा मोर्चों पर लड़ने और दूसरे फौजी मेहनत-मजूरी के कामो पर भेजे गये, उनकी तादाद दस लाख से ज्यादा थी। जिन आदमियो का इन भरतियो से ताल्लुक था, उन्होने इन जबरदस्ती के तरीको पर बड़ा ऐतराज किया, और ऐसा ख़याल किया जाता है कि पंजाब में महायुद्ध के बाद जो दुर्घटनायें हुईं उनमें एक वजह यह भी थी।

पजाब पर एक दूसरे तरीके से भी असर पड़ा। बहुतेरे पंजाबी और ख़ासकर सिख संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के केलीफोर्निया प्रान्त और पश्चिमी कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया में जाकर बस गये थे। प्रवासियो का तांता तबतक लगा रहा, जबतक अमेरिकन और कनेडियन अधिकारियो ने उसे रोक नहीं दिया। ऐसे प्रवासियो की राह में दिक्कते पेश करने के खयाल से कनाडा की सरकार ने यह नियम बना दिया कि सिर्फ वे ही प्रवासी कनाडा में आ सकेगे जो एक बन्दरगाह से यहांके किसी बन्दरगाह तक सीधे आवे और रास्ते में कोई जहाज न बदले। यह नियम हिन्दुस्तानी प्रवासियों को रोकने की गरज से ही बनाया गया था, क्योकि उनको चीन या जापान में लाजिमी तौर पर जहाज बदलने पड़ते थे। इसपर एक सिख, बाबा गुरुदत्तसिंह,

ने एक पूरा जहाज, जिसका नाम 'कोमागाता मारू' था, सीधे कनाडा भेजने का इन्तजाम किया। वह अपने साथ बहुत बडी तादाद में प्रवासियों को कनाडा के 'वैंकुवेर' तक ले गये। इस तरह से उन्होंने कनैडियन क़ानून की शर्त पूरी कर दी थी, फिर भी कनाडा उन्हे वहाँ आने देना नहीं चाहता था। किसी प्रवासी को वहाँ उतरने नहीं दिया गया। वे लोग उसी जहाज में लौटा दिये गये और वे बडी मुसीबत में और गुस्से से भरे हुए हिन्दुस्तान लौटे। कलकत्ता के पास बजबज में पुलिस से एक लड़ाई ही होगई और कई आदमी, खासकर सिख, मारे गये। बाद में इनमें से कई सिखो के पीछे खुफिया पुलिस छाया की तरह लगी और सारे पंजाब में उन्हे दौड़ाती रही। इन लोगो ने भी पंजाब में गुस्सा और असंतोष पैदा किया। 'कोमागाता मारू' की घटना पर सारे हिन्दुस्तान में नाराजी जाहिर की गई।

युद्ध के उन दिनो में होनेवाली सब बातो की जानकारी मुश्किल है, क्योंकि उस जमाने में 'सेंसर' के कारण बहुतसे समाचार छपने नहीं पाते थे, इसलिए तरह-तरह की बेसिर-पैर की अफ़वाहे फैला करती थीं। फिर भी यह मालूम है कि सिंगापुर में एक हिन्दुस्तानी रेजीमेण्ट में बगावत होगई थी। इसके अलावा और भी बहुत-सी जगहो में छोटे-मोटे काण्ड हुए।

लड़ाई के लिए आदमी देने और दूसरी तरह की मदद के अलावा हिन्दुस्तान को नक्द धन भी बहुत देना पड़ा। इसे हिन्दुस्तान की तरफ से दी जानेवाली 'भेंट' के नाम से पुकारा गया। एक मौक़े पर करीब डेढ अरब रुपये इस तरह दिये गये और दूसरे मौके पर भी एक बहुत बडी रकम दी गई। एक ग़रीब देश से इस तरह जबरदस्ती वसूल किये गये धन को 'भेंट' कहना ब्रिटिश सरकार की मजाकपसन्द तबीयत का एक नमूना है!

अभीतक मैंने तुम्हें जो कुछ कहा है वह, जहाँतक हिन्दुस्तान का ताल्लुक है, युद्ध के मामूली नतीजो तक ही महदूद रहा है। पर युद्ध-काल की स्थितियो के कारण इनसे कहीं ज्यादा मौलिक एक परिवर्तन होगया। युद्ध के जमाने में, और देशों की तरह ही, हिन्दुस्तान का वैदेशिक व्यापार भी अव्यवस्थित होगया। बहुत बडी तादाद में जो ब्रिटिश माल हिन्दुस्तान में आता था वह युद्ध के कारण बहुत कम होगया। जर्मन पनडुब्बियाँ भूमध्य महासागर और अटलांटिक महासागर में जहाजो को डुबा रही थीं और इस स्थिति में व्यापार जारी रखना मुमकिन न था। इस तरह हिन्दुस्तान को अपना इंतजाम करना पड़ा और अपनी जरूरतें पूरी करनी पड़ीं। उसे युद्ध के लिए जरूरी बहुत-सी चीजें भी सरकार के लिए तैयार करनी पड़ीं। इस तरह हिन्दुस्तानी उद्योग तेजी से बढने लगे। इनमें कुछ, कपडे और जूट की तरह,

पुराने थे और कुछ नये थे। ताता के लोहे और फौलाद के कारखाने का, जिसके प्रति अभीतक सरकार ने बडी उपेक्षा का बर्ताव किया था, महत्व बहुत बढ गया, क्योंकि उसमें युद्ध की सामग्री तैयार की जा सकती थी। उसका सचालन कमोवेश सरकारी नियंत्रण में होता था।

इसलिए युद्ध के वर्षो में हिन्दुस्तान के पूंजीपतियो को, जिनमें अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनो थे, खुला क्षेत्र मिल गया। वाहरी प्रतिद्वंद्विता या लाग-डाँट बहुत कम थी। उन्होने इस मौके का खूब उपयोग किया और गरीब हिन्दुस्तानी जनता का पेट काटकर खूब फायदा उठाया। चीजो का दाम चढ़ा दिया गया और कल्पना में न आ सकने वाला मुनाफा (डिविडेण्ड) वाँटा गया। लेकिन जिन मजदूरों की मेहनत से यह मुनाफा हुआ, उनकी दु:खजनक स्थिति में बहुत ही थोडी तब्दीली हुई। उनकी मजदूरी थोडी बढी, पर इस बढती के मुकाविले जिन्दगी की जरूरी चीजो का दाम कहीं ज्यादा बढ गया, इसलिए उनकी हालत पहले से भी ज्यादा खराब होगई।

लेकिन पूंजीपति खूब मालदार होते गये और उन्होने मुनाफे से खूब धन जमा किया, जिसे वे फिर उद्योगो में लगाना चाहते थे। पहली बार हिन्दुस्तानी पूंजीपति इतने ताकतवर हुए कि सरकार पर दवाव डाल सकें। इस दवाव के अलावा घटनाओं के जोर ने भी युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार को हिन्दुस्तानी उद्योगो को मदद देने पर मजबूर किया। देश के वढ़ते हुए उद्योगीकरण यानी कल-कारखानों की स्थापना के लिए विदेश से ज्यादा मशीनरी मंगाने की जरूरत हुई, क्योकि ऐसी मशीनरी उस वक्त हिन्दुस्तान में नहीं वन सकती थी। इस तरह बने हुए माल की जगह इंग्लैण्ड से मशीनरी आने लगी।

इन सव वातो के कारण हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति में वड़ा परिवर्तन होगया; सौ वर्ष से चली आती हुई पुरानी नीति छोड़नी पडी और उसकी जगह नई नीति इख्तियार करनी पडी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपनेको नई और वदली हुई स्थिति के मुताविक वनाने के लिए अपना चेहरा पूरी तरह तब्दील कर लिया। तुमको मेरी वे वातें याद होंगी जो मैंने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के शुरू के दिनो के वारे में तुम्हे लिखी थीं। पहली अवस्था अठारहवीं सदी की अवस्था थी, जो लूट और यहाँ से नकद माल उठा लेजाने की अवस्था थी। उसके वाद दूसरी अवस्था आई जव ब्रिटिश हुकूमत खूब मजवूती के साथ कायम होगई। यह अवस्था सौ वर्षों से ज्यादा वक्त यानी युद्ध तक वनी रही। यह हिन्दुस्तान को कच्चे माल का एक क्षेत्र और ब्रिटेन के वने माल का एक वाज़ार वना रखने के लिए थी। हर तरह से इस देश में वड-वडे उद्योगो की स्थापना को अनुत्साहित किया गया और हिन्दुस्तान के आर्थिक

विकास को रोका गया। युद्ध-काल में तीसरी अवस्था आई, जब ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में बडे उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन दिया; और यह प्रोत्साहन इस बात को जानते हुए दिया गया कि यह कुछ हद तक ब्रिटिश उद्योगो के खिलाफ पडेगा। यह साफ़ है कि अगर हिन्दुस्तान के वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय तो लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसाय को उसी अंश में धक्का पहुँचेगा, क्योकि हिन्दुस्तान लंकाशायर का सबसे अच्छा ग्राहक रहा है। तब ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में ऐसा परिवर्तन क्यो किया, जिससे लंकाशायर और दूसरे ब्रिटिश उद्योग को नुकसान पहुँचे ? मैं तुम्हे दिखा ही चुका हूँ कि लड़ाई के कारण किस प्रकार उसके हाथ बँध गये थे। हमें परिवर्तन के इन कारणो पर विस्तार के साथ विचार करना चाहिए :

१. युद्ध-काल की माँगो ने ऐसा करने को मजबूर किया और हिन्दुस्तान में औद्योगीकरण यानी बडे-बडे कल-कारखानो को प्रगति दी।

२. इसने हिन्दुस्तानी पूंजीपति वर्ग को बढ़ाया और मज़बूत किया। उन्होंने उद्योगो की बाढ़ के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सहूलियतो की माँग शुरू की। इसने उनकी फालतू दौलत को नये धन्धो में लगाने का मौका दिया। अब ब्रिटेन उनकी बिलकुल उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं था, क्योंकि ऐसा करने से उनके विरोधी हो जाने और बढ़ते हुए उग्र और क्रान्तिकारी विचार के लोगों के मददगार बन जाने की संभावना थी। इसलिए अगर मुमकिन हो तो बढ़ने को कुछ सहूलियते देकर उनको ब्रिटिश पक्ष में बनाये रखना वाञ्छनीय था।

३. इंग्लैण्ड का पूंजीवादी वर्ग भी अपनी फालतू दौलत को अविकसित देशो में लगाना चाहता था, क्योकि वहाँ ज्यादा मुनाफा होता था। इंग्लैण्ड में तो कल-कारखानो और उद्योग-धंधो की ऐसी भरमार होगई थी कि वहाँ पूंजी लगाने की सहूलियते बहुत कम थी। वहाँ मुनाफा अब उतना ज्यादा नही मिलता था और फिर मज़दूरो का आन्दोलन वहाँ खूब अच्छी तरह संगठित था, जिससे अक्सर मजूरो के साथ झगडे खडे होजाया करते थे। अविकसित देशों में मजूर कमज़ोर होता है, इसलिए मज़दूरी कम देनी पड़ती है और मुनाफा ज्यादा होता है। लाजिमी तौर पर ब्रिटिश पूंजीपतियो को ब्रिटेन के मातहत अविकसित देशो——जैसे हिन्दुस्तान——में पूंजी लगाना ज्यादा पसद था। इस तरह ब्रिटिश पूंजी हिन्दुस्तान में आई और इससे और भी औद्योगीकरण हुआ, यानी और भी कल-कारखाने खुले।

४. महायुद्ध के अनुभवो से यह मालूम होगया कि सिर्फ बहुत ऊँचे औद्योगिक देश ही प्रभावशाली ढंग से लडाई लड़ सकते हैं। ज़ारशाही रूस आखिरकार युद्ध में इसलिए पस्त होगया कि उसका काफी तौर पर औद्योगीकरण नहीं हुआ था और

उसे दूसरे मुल्को पर निर्भर रहना पडा। इग्लैण्ड को भय है कि आगामी युद्ध सोवियट रूस के साथ होगा और हिन्दुस्तान की सरहद पर लडा जायगा। अगर हिन्दुस्तान के पास अपने बडे-बडे उद्योग न होगे तो ब्रिटिश सरकार सरहद पर भलीभाँति लड़ाई न लड सकेगी। यह एक बहुत बडा खतरा लेना होगा। इसलिए भी हिन्दुस्तान का औद्योगीकरण जरूरी है।

इन कारणो से मजबूर होकर ब्रिटिश नीति में तब्दीली का निश्चय किया गया। ब्रिटेन की बृहत्तर साम्राज्य सम्बन्धी नीति (Larger Imperial Policy) के लिए यह जरूरी था, फिर लंकाशायर और कुछ दूसरे ब्रिटिश उद्योगो को भले ही नुकसान पहुँचे। ब्रिटेन ने तो यह जाहिर किया कि यह परिवर्तन हिन्दुस्तान के प्रति ब्रिटिश सरकार के अत्यधिक प्रेम और उसकी भलाई की इच्छा का परिणाम है। इस नीति का निश्चय कर लेने के बाद ब्रिटेन ने ऐसा उपाय किया कि हिन्दुस्तान के नये उद्योगो का नियंत्रण ब्रिटिश पूँजीपतियो के हाथ में रहे। महरबानी दिखाते हुए हिन्दुस्तानी पूँजीपतियो को छोटा हिस्सेदार बनाया गया।

१९१६ ई० में, जब महायुद्ध चल रहा था, एक 'इडियन इंडस्ट्रियल कमीशन' नियुक्त किया गया। दो वर्ष बाद इसने रिपोर्ट पेश की जिसमें सिफारिश की गई कि सरकार को उद्योगो को उत्तेजन देना चाहिए और कृषि में नये औद्योगिक तरीको को चलाना चाहिए। इसने इस बात की भी सिफ़ारिश की कि सारे देश को प्रारम्भिक शिक्षा देने की कोशिश की जानी चाहिए। जैसा कि इंग्लैड में कारखानो की बढ़ती के शुरू के दिनो में हुआ था, होशियार और कारीगर मजदूर पैदा करने के लिए आम जनता को प्रारम्भिक शिक्षा देना उचित समझा गया।

युद्ध खत्म होने पर इस कमीशन के बाद और भी बहुत-से कमीशन और कमेटियाँ आई। यह भी सुझाया गया कि बाहरी माल पर कर लगाकर भी हिन्दुस्तानी उद्योगो की रक्षा की जानी चाहिए। इन करो को टैरिफ कहा जाता है। इन सब बातो को हिन्दुस्तानी उद्योगो के पक्ष में एक बडी विजय समझा गया। पर जरा ध्यान से परीक्षा करने पर कई मजेदार बातें मालूम हुई। विदेशी पूजी को उत्तेजन देने का प्रस्ताव पास किया गया था और विदेशी पूँजी का मतलब असल में ब्रिटिश पूंजी था। बस, इस देश में ब्रिटिश पूंजी का प्रवाह बहने लगा; वह न सिर्फ उसका प्रधान हिस्सा हो गई, बल्कि सब जगह छा गई। बडे-बडे उद्योगो में अधिकाश ब्रिटिश पूजी लगाई गई। इसलिए सरक्षण कर (टैरिफ) और संरक्षण (प्रोटेक्शन) का असल मतलब हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूजी का संरक्षण होगया। इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का महान् परिवर्तन ब्रिटिश पूंजीपति के लिए कुछ वैसा बुरा साबित नहीं हुआ।

उसको एक अच्छा संरक्षित बाज़ार मिल गया था, जिसमें वह अपना व्यापार फैला सकता था और मजदूरो को कम मजदूरी देकर खूब मुनाफ़ा उठा सकता था। एक दूसरे तरीके पर भी यह उसके लिए मुफीद साबित हुआ। हिन्दुस्तान, चीन, मिस्र और दूसरे ऐसे देशो में जहाँ मजदूरी की दर बहुत नीची थी, अपनी पूंजी लगाने के बाद उसने इंग्लैण्ड के मजदूरो को भी मजदूरी कम करने की धमकी दी। और अगर अंग्रेज मजदूर ने मजदूरी में कमी करने की बात का विरोध किया तो पूंजीपति ने कहा कि उसे मजबूर होकर बडे दु:ख के साथ इंग्लैण्ड में अपना कारखाना बन्द कर देना पडेगा और वह और कही दूसरी जगह अपनी पूँजी लगायेगा।

हिन्दुस्तान के उद्योगो पर नियन्त्रण रखने के लिए हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार ने और भी कई उपाय किये। यह एक जटिल विषय है और जब मै इसके बारे में लिखता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मै फिसलती जमीन पर हूँ। इसलिए हमें इन बातो पर परेशान होने की ज़रूरत नहीं। पर एक बात का ज़िक्र मै कर देना चाहता हूँ। आधुनिक उद्योग में बैंक बड़ा ज़बरदस्त हिस्सा लेते है, क्योकि बडे-बडे व्यापारियो को अक्सर रुपये-सम्बन्धी साख की ज़रूरत पड़ती है। बडे-से-बडा व्यापार भी फेल किया जा सकता है, अगर उसे रुपये उधार मिलने या उसकी साख कायम रखने की सहूलियतें न दी जायें। चूंकि बैंक ही यह 'क्रेडिट' (उधार या साख) दे सकते है, इसलिए तुम कल्पना कर सकती हो कि उनके हाथ में कितनी ज़बरदस्त ताकत होती है। वे किसी व्यवसाय को बना और बिगाड़ सकते है। महायुद्ध के बाद ही ब्रिटिश सरकार ने कई बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इंडिया के नाम से एक बड़ा बैंक बनाया। यह बैंक पूरे तौर पर सरकार के नियन्त्रण में है और देश के दूसरे छोटे बैंको पर इसका बहुत काफी नियत्रण है। इस तरह सरकार हिन्दुस्तानी उद्योगो और व्यापारी पेढ़ियो पर अपना काफी कब्जा रख सकती है।

हिन्दुस्तानी उद्योगो के लिए अंग्रेज लोग जो महान् कार्य कर रहे थे (और हम देख ही चुके है कि यह महान् कार्य कैसा था) उसके लिए बतौर इनाम या पुरस्कार उन्होने अपने माल को तरजीह दिये जाने की मांगें की। इसे कभी-कभी 'इम्पीरियल प्रेफरेंस' (साम्राज्य के माल को तरजीह देने की नीति) कहा जाता है। इसका मतलब यह था कि अगर हिन्दुस्तानी उद्योगो को संरक्षण देने के लिए विदेशी माल पर कर या टैरिफ लगाना हो तो ब्रिटिश माल पर अपेक्षाकृत कम टैक्स लगाया जाय, या बिलकुल ही टैक्स न लगाया जाय, जिससे यहां के बाजार में ब्रिटिश माल को दूसरे विदेशी माल से ज्यादा सुविधायें मिले। अभी हाल में तरजीह दिये जाने की इस नीति को चलाने में वे कामयाब हुए है।

युद्ध-काल में हिन्दुस्तानी पूंजीपति वर्ग और ऊँचे मध्यमवर्ग की वढती हुई ताक़त का असर राजनैतिक आन्दोलन पर भी पड़ा। राजनीति युद्ध के पहले या युद्ध के जमाने की शुरुआत की खुमारी से वाहर निकल पडी और स्वशासन की मांग की जाने लगी। अपनी लम्वी सजा काटने के वाद लोकमान्य तिलक जेल से वाहर आये। मैं तुम्हे वता चुका हूँ कि उस वक्त राष्ट्रीय महासभा या नेशनल कांग्रेस माडरेट यानी उदार दल के हाथ में थी। उस वक़्त वह एक छोटी-सी सस्था थी, जिसका जनता से वहुत कम सम्पर्क था और जिसका विलकुल प्रभाव नहीं था। चूंकि अधिक प्रगतिशील राजनीतिज्ञ कांग्रेस में नही थे, इसलिए उन्होने होमरूल लीगो का सगठन किया। ऐसी दो लीगें वनाई गई—एक लोकमान्य तिलक द्वारा, दूसरी श्रीमती एनी वेसेण्ट द्वारा। कुछ वर्षो तक श्रीमती वेसेण्ट ने हिन्दुस्तान की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लिया और उनकी वोलने और किसी वात की वकालत करने की महान् शक्ति ने राजनीति में लोगो की दिलचस्पी वढ़ा दी। सरकार ने उनके प्रचार को इतना ख़तरनाक समझा कि उन्हे, और उनके दो साथियो को, कुछ महीनो तक नजरवन्द रक्खा। वह कलकत्ता में कांग्रेस के अधिवेशन की अध्यक्ष हुई। वह कांग्रेस की अध्यक्ष वननेवाली पहली स्त्री थी। कुछ वर्षों वाद श्रीमती सरोजनी नायडू कांग्रेस की दूसरी महिला-अध्यक्ष हुई थी।

१९१६ में कांग्रेस के दोनो दलो, माडरेटो और उग्रतावादियो, में समझौता हो-गया और १९१६ में लखनऊ में काग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें दोनो शरीक हुए। यह समझौता थोडे ही समय तक कायम रहा। दो वर्षों के अन्दर ही फिर झगड़ा होगया और माडरेट, जो अव अपनेको लिवरल यानी उदार-मतवादी कहते हैं, कांग्रेस से अलग होगये और अभीतक अलग ही हैं।

१९१६ की लखनऊ-कांग्रेस से राष्ट्रीय महासभा का पुनरुत्थान शुरू होता है। तवसे आगे वरावर उसका महत्व और उसकी ताकत वढ़ती गई, और अपने इतिहास में पहली वार वह मध्यमवर्ग एक राष्ट्रीय संगठन वन सका। तव भी इसका आम जनता से कोई ताल्लुक न था और आम लोगो ने तवतक इसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली जवतक कि उसमें वापू का आगमन नहीं हुआ। इस तरह माडरेट या उग्रतावादी दोनो, कमोवेश, एक ही यानी मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे। माडरेट लोग थोडे-से खुशहाल लोगो और सरकारी नौकरियो के नजदीक रहनेवालो के प्रतिनिधि थे। वे खुद भी ज्यादातर खुशहाल थे और सरकारी नौकरियो में थे या उनके साथ उनके ताल्लुकात थे। उग्रतावादियो के साथ मध्यमवर्ग के ज्यादातर लोगो की हमदर्दी थी और उसमें कितने ही वेकार प्रतिभावान् या वुद्धिजीवी लोग थे। ये वुद्धिजीवी (जिन-

से मेरा मतलब बहुत कुछ पढ़े-लिखे लोगो से है) संगठित हुए और इन्हींमें से क्रान्तिकारियों को भी रगरूट मिले। माडरेटो और उग्रपथियो के आदर्श या लक्ष्य में कोई ज्यादा फर्क नही था। दोनो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर स्वशासन की बात करते थे और दोनो उस वक्त इसका एक हिस्सा भी लेने को तैयार थे। यह जरूर था कि उग्रपंथी माडरेटो की बनिस्बत जरा बडा हिस्सा मॉगते थे और अपनी माँग को जोरदार भाषा में प्रकट करते थे। मुट्ठीभर क्रान्तिकारी जरूर पूरी आजादी चाहते थे, पर उनका कॉग्रेस के नेताओ पर बहुत कम प्रभाव था। माडेरेटो और उग्रपंथियो में असली फर्क यह था कि पहला अधिपतियो यानी मालदारो (Haves) और उनके सहारे रहनेवाले लोगो का दल था और उग्रपथियो में ऐसे लोग भी बहुत काफी तादाद में थे जो अपहृत थे और जिनके पास खुशहाल जिन्दगी के जरिये न थे। लाजिमी तौर पर दूसरे दल ने देश के नौजवानो को ज्यादा आकर्षित किया। इन नौजवानो में से ज्यादातर काम की जगह कडी भाषा के प्रयोग को ही काफी समझते थे। पर मैं यहाँ यह कह दूं कि यह जो मैंने एक आम बात बताई है वह दोनो तरफ के कई व्यक्तियो पर लागू नही होतीं। उदाहरण के तौर पर गोपालकृष्ण गोखले का नाम लिया जा सकता है, जो माडरेटो के एक बडे ही योग्य और आत्मत्यागी नेता थे और वह मालदार नही थे। उन्होने लोक-सेवक-समिति (सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी) कायम की। पर न तो माडरेटो का, न उग्रपथियो का, असली शोषित और अपहृत लोगो (Have-nots) यानी मजदूरो और किसानो से कोई ताल्लुक था। हॉ, तिलक आम जनता में जरूर लोकप्रिय थे।

१९१६ की लखनऊ-कांग्रेस हिन्दू-मुस्लिम एकता के कारण भी महत्वपूर्ण थी। कांग्रेस सदा से राष्ट्रीय आधार पर खडी थी, पर अमल में वह एक हिन्दू सस्था थी, क्योकि इसमें ज्यादातर हिन्दू ही थे। युद्ध के कुछ साल पहले, सरकार के बढावा देने पर, शिक्षित मुसलमानो ने आलइंडिया मुस्लिम लीग कायम की थी। यह संस्था मुसलमानो को काँग्रेस से अलग रखने के लिए खोली गई थी, पर यह धीरे-धीरे काँग्रेस की तरफ बढ़ती गई और लखनऊ में दोनो के बीच, हिन्दुस्तान के भावी विधान के बारे में, एक समझौता होगया। इसे काँग्रेस-लीग योजना कहा जाता था और दूसरी बातो के साथ इसमें मुसलमानो के अल्पमत के लिए स्थान (सीट) सुरक्षित रखने की भी तजवीज थी। यह कांग्रेस-लीग योजना दोनो का सयुक्त कार्यक्रम बन गई और देश की मांग के रूप में स्वीकार की गई। इसके खयालात मध्यमवर्ग के खयालात थे, क्योकि उस वक्त मध्यमवर्ग ही राजनैतिक मामलो में दिलचस्पी लेता था। इस योजना के आधार पर आन्दोलन बढ़ता गया।

मुसलमान जो राजनीति में इतनी दिलचस्पी लेने लगे थे और कॉंग्रेस के साथ मिलकर काम कर रहे थे, उसकी वजह यह थी कि ब्रिटेन के तुर्की के साथ लड़ने से वे खीझ उठे थे। तुर्की के साथ हमदर्दी रखने और जोरो से उसका इजहार करने के कारण दो मुसलमान नेता, मौलाना शौक़तअली और मुहम्मदअली, युद्ध के शुरू में ही नजरबन्द कर दिये गये थे। मौलाना अबुलकलाम आजाद भी नजरबन्द कर दिये गये थे। उनकी नजरबन्दी की वजह यह थी कि अरब देशो से उनके गहरे ताल्लुकात थे, जहाँ वह अपनी किताबो और लेखो के कारण बडे लोकप्रिय थे। इन सब बातो से मुसलमानो का खीझना और गुस्सा होना लाजिमी था और वे सरकार से अधिकाधिक दूर हटते गये।

चूंकि हिन्दुस्तान में स्वशासन की माँग बढती गई, ब्रिटिश सरकार ने कई वादे किये और हिन्दुस्तान में जाँच शुरू करदी, जिससे जनता का ध्यान उधर खिंच गया। १९१८ की गरमी के दिनो में उस वक्त के भारत-सचिव और वाइसराय ने एक सयुक्त रिपोर्ट पेश की—जो उनके नामो से 'माटेगू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट' करके मशहूर हुई—जिसमें हिन्दुस्तान में कुछ सुधारो और परिवर्तनो के प्रस्ताव किये गये थे। तुरन्त ही इन प्रस्तावो पर देश में बडी बहस छिड़ गई। कॉंग्रेस ने जोरो के साथ उनका विरोध किया और उन्हे अपर्याप्त यानी नाकाफी बताया। लिबरलो ने उनका स्वागत किया और उन्हींकी वजह से वे कॉंग्रेस से अलग होगये। कुछ समय पहले से ही वे नये तौर-तरीके के कॉंग्रेसमैनो के साथ तकलीफ महसूस कर रहे थे।

जब युद्ध ख़त्म हुआ तब हिन्दुस्तान की यह हालत थी। हर जगह तब्दीलियो का जबरदस्त इन्तजार था। राजनैतिक 'बैरोमीटर'[1] ऊँचा उठ रहा था और मुलायम, विश्रामदायक, अप्रभावशाली और हिचकिचाहट से भरी हुई कानाफूसियो की जगह उग्रपथियो की ज्यादा विश्वास से भरी हुई, उग्र, सीधी और स्पष्ट चिल्लाहट ले रही थी। पर माडरेट और उग्रपंथी दोनो राजनीति और शासन के बाहरी ढाँचे के बारे में ही बोलते थे; उनकी पीठ पीछे ब्रिटिश साम्राज्यवाद देश के आर्थिक जीवन पर चुपचाप अपना कब्जा कायम करता जा रहा था।

१ बैरोमीटर—वायु का भार बतानेवाला यत्र

: १५५ :

योरप का नया नक्शा

२१ अप्रैल, १९३३

थोडे में महायुद्ध की प्रगति का विचार करने के बाद हम लोगो ने रूस की क्रान्ति की सैर की और उसके बाद महायुद्ध के जमाने में हिन्दुस्तान की क्या हालत थी इसपर भी ग़ौर कर लिया। अब हमें फिर 'आर्मिस्टीज' यानी महायुद्ध को बन्द करने के सुलहनामे की तरफ लौट चलना चाहिए और यह देखना चाहिए कि विजयी शक्तियों या राष्ट्रों का वर्ताव कैसा रहा। जर्मनी पस्त होगया था और बेदम पड़ा था। कैसर जर्मनी छोड़कर भाग गया था और प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी गई थी। इतने पर भी जर्मन फौज को पूरी तरह से अशक्त या बेकाम कर देने के इत्मीनान के लिए सुलहनामे (Armistice) में बहुतेरी कडी शर्तें रक्खी गई थीं। इनके मुताबिक जर्मन फौज को न सिर्फ उन प्रदेशों से हट जाना पड़ा जिनपर युद्ध के जमाने में हमला करके उसने कब्ज़ा कर लिया था, बल्कि उसे अलसेस-लॉरेन और राइन तक फैला हुआ जर्मनी का हिस्सा भी खाली कर देना पड़ा। यह शर्त रक्खी गई कि मित्र-राष्ट्र राइनलैण्ड यानी कोलोन (Cologne) के इर्द-गिर्द के प्रदेश पर कब्ज़ा कर लेंगे। जर्मनी को अपने बहुतेरे सामरिक या लड़ाकू जहाजों और अपनी सब 'यू' नौकाओं (जर्मनी सबमेरीनें या पनडुब्बियाँ इसी नाम से मशहूर थीं) से हाथ धोना पड़ा। इनके अलावा उसे अपनी हज़ारो तोपें, हवाई जहाज, रेलवे इंजिन, लारियां और दूसरी कितनी ही चीजें छोड़ देनी पड़ीं।

उत्तर फ्रांस के काम्पेन बन में, जहाँ उस सुलहनामे पर दस्तखत हुए थे, एक स्मारक है, जिसपर ये वाक्य लिखे हुए हैं :—

"Ici le November 11, 1918, succomba le criminel orgueil de L Empire Allemand Vaincu par les peoples libres qu'il pretendait asservir"

अर्थात्, "यहा, ११ नवम्बर १९१८ को, आजाद कौमो (जिन्हे जर्मनी ने गुलाम बनाना चाहा था) द्वारा पराजित जर्मन साम्राज्य के अपराधी अभिमान का अन्त हो गया।"

इसमें कोई शक नहीं कि कम-से-कम ऊपरी तौर पर तो जर्मन साम्राज्य का खात्मा होगया और प्रशा का फौजी गुरूर टूट चुका था। इसके भी पहले रूसी साम्राज्य का अन्त होचुका था और वहांका रोमनोफ राजवंश उस स्टेज से हटा दिया गया था जिसपर वह इतने लम्बे अर्से तक बदकारियां कर रहा था। इस

महायुद्ध से एक तीसरे साम्राज्य और पुराने राजघराने, यानी हैप्सवर्ग खानदान के आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य, का भी खात्मा हो गया। लेकिन इसके बाद भी दूसरे कई साम्राज्य बच रहे, क्योकि वे विजेताओ में से थे और विजय ने उनके गुरूर में कोई कमी नही की, न उन लोगो के प्रति, जिन्हे उन्होने गुलाम बना रक्खा था, उनमें कुछ ज्यादा उदारता या इसाफ का खयाल ही पैदा किया।

विजयी मित्र-राष्ट्रो ने सन् १९१९ ई० में पेरिस में अपना 'शान्ति-सम्मेलन' (Peace Conference) किया। उनके हाथो पेरिस में दुनिया का भविष्य गढा जानेवाला था और कई महीनो तक इस मशहूर शहर पर दुनिया की आँखें लगी रहीं। दूर और नजदीक से सभी तरह के आदमी वहाँ सफर करके पहुँचे। अपनेको बहुत महत्वपूर्ण समझनेवाले राजनीतिज्ञ और राजनैतिक आदमी वहाँ जमा हुए; कितने ही कूटनीतिज्ञ, विशेषज्ञ, बडे-बडे फौजी आदमी, रुपया लगानेवाले साहूकार, और मुनाफा उठानेवाले लोग वहाँ पहुँच गये। और इन सबके साथ सहायको, टाइपिस्टो और क्लर्कों की भीड़-की-भीड़ थी। पत्रकारो की जमात तो थी ही। अपनी आजादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रो के जैसे आयर्लैण्ड, मिस्र, अरव और दूसरे कितने ही जिनका नाम भी पहले नही सुनाई पड़ा था——प्रतिनिधि भी वहाँ पहुँचे थे। पूर्वी योरप के कई राष्ट्रो के प्रतिनिधि भी वहाँ आये थे, जो चाहते थे कि आस्ट्रियन और तुर्की साम्राज्यो के भग्नावशेष यानी खण्डहरो से अपने लिए अलग राष्ट्रो का निर्माण करे। इनके अलावा बहुत-से लेभग्गू भी जमा हुए थे। दुनिया का नये ढग पर बँटवारा होने जा रहा था और गिद्ध इस मौके पर चूकना नही चाहते थे।

'शान्ति-सम्मेलन' से बडी उम्मीदें थी। लोगो का ख़याल था कि महायुद्ध के भयंकर अनुभव के बाद न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति का कोई उपाय किया जायगा। आम जनता अब भी युद्ध के जबरदस्त बोझ को महसूस कर रही थी और मजदूरो में बहुत ज्यादा असंतोष था। जिन्दगी की जरूरी चीजो के दाम बहुत चढ़ गये थ और इसकी वजह से आम लोगो की मुसीवतब हुत बढ़ गई थी। सन् १९१९ ई० में योरप में आनेवाली सामाजिक क्रान्ति के कितने ही चिन्ह साफ़ दिखाई दे रहे थे। रूस का उदाहरण लोगो को ख़ास तौर पर अपनी तरफ खींच रहा था।

वर्साई के उस हाल में, जहाँ ठीक अड़तालीस वर्ष पहले जर्मन साम्राज्य का ऐलान किया गया था, होनेवाले शान्ति-सम्मेलन का यह पार्श्वचित्र था। इतने बडे सम्मेलन का रोज-बरोज मिलना मुश्किल था, इसलिए वह कई कमेटियो में बाँट दिया गया। ये कमेटियाँ अपनी प्राइवेट या गुप्त बैठके करती थी और इस चालाकी के परदे के पीछे उनके झगडे और षड़यन्त्र चलते रहते थे। सम्मेलन

का नियंत्रण मित्र-राष्ट्रो की 'कौंसिल ऑफ़ टेन' (Council of Ten) यानी 'दस की समिति' करती थी, जिसमें दस राष्ट्रो के प्रतिनिधि थे । बाद में वह घटाकर पाँच की करदी गई, जिसमें संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका), ब्रिटेन, फ़्रांस, इटली और जापान दुनिया के पंच महाराष्ट्र (Big Five) थे । कुछ दिनों बाद जापान भी इसमें से निकल गया और सिर्फ 'कौंसिल ऑफ फोर' यानी चार राष्ट्रो की कौंसिल रह गई अख़ीर में इटली भी इससे हट गया और सिर्फ तीन महाराष्ट्र (Big Three) रह गये—अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस । राष्ट्रपति विल्सन, लायड जार्ज और क्लेमेंशो क्रमशः इन तीनो देशो के प्रतितिधि थे और इन तीन आदमियो के कन्धो पर दुनिया को नये साँचे में ढालने और उसके भयावने ज़ख्मो को अच्छा करने का महान् कार्य आपड़ा । यह कार्य महापुरुषो और देवताओ के लायक था और ये तीनो इनसे कहीं भिन्न या दूसरे ढंग के थे । जिन लोगो के हाथो में ताकत होती है—जैसे बादशाह, राजनीतिज्ञ, सिपहसालार और इसी तरह के दूसरे लोग—उनका अखबारवाले इतना ज्यादा विज्ञापन करते और उनकी तारीफ का कुछ ऐसा पुल बाँध देते हैं कि आम लोगो को वे विचार और कार्य में असाधारण और देव सरीखे जान पड़ते हैं । उनके चारो ओर एक तरह का प्रकाश का घेरा लोगो को दिखाई पड़ने लगता है और अपने अज्ञान या नावाकफियत के कारण हम उनमें बहुत-से ऐसे गुणो की कल्पना कर लेते हैं जिनका उनमें नाम-निशान भी नहीं होता । घनिष्ट परिचय में आने या नजदीक से देखने के बाद वे बहुत मामूली आदमी निकलते हैं । एक मशहूर आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ ने एक बार कहा था कि अगर दुनिया को मालूम होजाय कि कितनी कम बुद्धि से उसपर हुकूमत की जाती है तो वह स्तब्ध या हैरतज़दा रह जायगी । इस तरह ये तीन महान् लोग (The Big Three) हालाकि बडे दीखते थे, पर उनका दृष्टिकोण बहुत संकुचित था और वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो से बेख़बर थे—यहाँतक कि उन्हे भूगोल का भी ज्ञान न था ।

राष्ट्रपति उडरो विल्सन बडे लोकप्रिय थे और उनकी चारो तरफ बडी प्रशसा हो रही थी । उन्होने अपने व्याख्यानो और नोटो में इतने खूबसूरत और आदर्श से भरे हुए वाक्यो का प्रयोग किया था कि लोग उन्हे आनेवाली नई आजादी का पैगम्बर समझने लगे । ग्रेटब्रिटेन के प्रधान मन्त्री लायड जार्ज ने भी बहुतेरे सुन्दर वाक्यो का इस्तेमाल किया, पर उनको लोग अवसरवादी या मौके से अपना मतलब गाँठनेवाला समझते थे । 'शेर' (Tiger) नाम से पुकारे जानेवाले क्लेमेंशो को आदर्शों और लम्बे-चौडे वाक्यो से कोई मतलब न था । वह तो फ़्रास के पुराने दुश्मन जर्मनी को हर तरह से कुचलना और अपमानित करना चाहता था, ताकि फिर वह सिर न उठा सके ।

यो ये तीनो एक-दूसरे से लडते और एक-दूसरे को अपनी-अपनी तरफ खीचते रहे। इनमें से हरेक पर सम्मेलन मे और बाहर से भी न जाने कितने आदमियो का दबाव और ज़ोर पड रहा था। फिर इन सबके पीछे सोवियट रूस की छाया फैल रही थी। सम्मेलन में न रूस और न जर्मनी का कोई प्रतिनिधि था, पर सोवियट रूस की हस्ती ही पेरिस में इकट्ठा हुई पूंजीवादी ताकतो के लिए बराबर एक चुनौती-सी थी।

आखिरकार लायड जार्ज की मदद से क्लेमेंशो की जीत हुई। विल्सन जो चीज़ सबसे ज्यादा चाहता था, वह—एक राष्ट्र-सघ—उसे मिल गई और इस बारे में सबकी मजूरी मिल जाने पर वह और सब बातो में झुक गया। कई महीनो के तर्क और बहस-मुबाहसे के बाद शान्ति-सम्मेलन में मित्र-राष्ट्र सुलहनामे के एक मस्विदे पर सहमत हुए और आपस में एकमत हो जाने के बाद उन्होने जर्मन प्रतिनिधियो को अपना हुक्म या फैसला सुनाने के लिए बुलाया। ४४० धाराओ का यह लम्बा-चौडा सुलह का मस्विदा जर्मनो के गले ठूस दिया गया और उनसे उसपर दस्तखत करने को कहा गया। उनके साथ कोई तर्क-वितर्क या बहस-मुबाहसा नहीं हुआ और न उन्हे उस मस्विदे मे किसी तरह का संशोधन या रद्दोवदल करने का ही मौका दिया गया। यह तो एक ज़बरदस्ती और ज़ोर के बल पर की गई सुलह थी; या तो जर्मनों को ज्यो-का-त्यो इसे कबूल कर लेना था या नामजूरी का परिणाम भुगतने के लिए तैयार होना था। नये जर्मन प्रजातंत्र के प्रतिनिधियो ने इसका विरोध किया और दी गई अवधि के आखिरी दिन वर्साई की सधि पर दस्तखत किये।

आस्ट्रिया, हंगरी, बलगेरिया और तुर्की के साथ मित्र-राष्ट्रो ने अलग-अलग सधियाँ की। तुर्की के साथ होनेवाले सुलहनामे को उस वक़्त के सुलतान ने तो मान लिया था, पर कमालपाशा और उसके बहादुर साथियो की ज़बरदस्त मुख़ालफत की वजह से वह बाद में नाकामयाब होगया। पर उसकी एक अलग कहानी है, जो मै किसी दूसरे पत्र में तुम्हे सुनाऊँगा।

इन सुलहनामो से क्या तब्दीलियाँ हुई? ज्यादातर प्रादेशिक परिवर्तन पूर्वी योरप, पश्चिमी एशिया और अफरीका में हुए। अफरीका के जर्मन उपनिवेशो को मित्र-राष्ट्रो ने लड़ाई के इनाम के तौर पर हथिया लिया। इसमें इग्लैण्ड के हाथ में सबसे अच्छे हिस्से आये। ब्रिटेन बहुत दिनो से अफरीका के एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपने साम्राज्य का जो सपना देख रहा था वह पूर्वी अफरीका में टगानिका के हाथ आजाने से पूरा होगया, क्योकि अब उत्तर में मिस्र से लेकर दक्षिण में केप तक ब्रिटेन का ही कब्ज़ा था।

योरप में बहुतेरी तब्दीलियाँ होगई और बहुत-से नये राज्य या राष्ट्र नक़्शे पर आगये। किसी पुराने नक़्शे का नये से मुकाबिला करो तो तुम्हे देखते ही इन

तब्दीलियों का पता लग जायगा। कई तब्दीलियाँ तो रूसी क्रान्ति का परिणाम थीं, क्योंकि बहुत-सी कौमें, जो रूस की सरहदों पर बसी हुई थीं, सोवियट से अलहदा होगईं और उन्होने अपनी आज़ादी का ऐलान कर दिया। सोवियट सरकार ने उनके आत्म-निर्णय के अधिकार को मंजूर कर लिया और उनकी स्वतन्त्रता में दख़ल नहीं दिया। योरप के नये नक़्शे को देखो। आस्ट्रिया-हंगरी का बड़ा राज्य एकदम गायब होगया है और उसकी जगह पर कई छोटे देश और राज्य पैदा होगये हैं, जिन्हे 'आस्ट्रियन विरासत वाले राज्य' (Austrian Succession States) कहते हैं। इनमें आस्ट्रिया भी एक है, जो अपने पहले विस्तार का एक छोटा टुकड़ा-सा रह गया है और जिसकी राजधानी वियेना का बड़ा शहर है। इनमें दूसरा देश हंगरी है। यह भी पहले से बहुत छोटा होगया है। तीसरा ज़ेकोस्लोवेकिया है, जिसमें पहले का बोहेमिया शामिल कर दिया गया है। इसके अलावा युगोस्लेविया का, जो हमारा पुराना पर दुःखदाई दोस्त है, एक हिस्सा रह गया है; सर्विया इस तरह मिट गया है कि पहचाना नही जाता। कुछ हिस्से रूमानिया, पोलैण्ड और इटली को मिल गये है। मतलब यह कि अच्छी तरह चीर-फाड़ और बाट-बखरा किया गया।

और आगे, उत्तर की तरफ एक और नया राज्य पैदा होगया है। या यों कहना ज्यादा सही होगा कि एक पुराना राज्य फिर से आ गया है। यह पोलैण्ड है। यह प्रशा, रूस और आस्ट्रिया से कई प्रदेश लेकर और उन्हे जोड़कर बनाया गया है। पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने का रास्ता देने के लिए एक गैरमामूली बात की गई। जर्मनी या प्रशा के दो टुकडे कर दिये गये और इन दोनो के बीच पोलैण्ड को ज़मीन का एक टुकड़ा, जिससे होकर वह समुद्र तक जा सकता था, दिया गया। पश्चिमी रूस से पूर्वी प्रशा को जाने में इस टुकडे को पार करना पडता है। इसी टुकडे के नजदीक डैनजिग का मशहूर शहर है। इसे एक स्वतंत्र नगर बना दिया गया है। यानी इसपर न जर्मनी का कब्ज़ा है, न पोलैण्ड का; वह खुद ही एक राज्य है और उसपर सीधे राष्ट्र-संघ का नियंत्रण है।

पोलैण्ड के उत्तर में लियुएनिया, लटविया, इस्टोनिया और फिनलैण्ड के बाल्टिक राज्य हैं। ये सब पुराने ज़ार के साम्राज्य के वारिसो में से है। ये छोटे-छोटे राज्य हैं, पर हरेक की सस्कृति और भाषा अलग है। शायद तुमको यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि लियुएनियन लोग आर्य हैं (जैसी कि योरप में और भी कई कौमें हैं) और उनकी भाषा सस्कृत से बहुत मिलती-जुलती है। यह बडी महत्वपूर्ण बात है जिसे हिन्दुस्तान में बहुत-से लोग नहीं महसूस करते, और जिसमे हमें उन बंधनो की याद आती है, जो दूर-दूर की कौमो को एक सूत्र में बांधते हैं।

योरप में सिर्फ एक तब्दीली ओर हुई, अलसेस-लॉरेन का प्रान्त फ्रान्स को दे दिया गया। कुछ ओर तब्दीलियाँ भी हुई, पर मैं उनका जिक्र कर तुम्हे तंग न करूँगा। अब तुमने देख लिया है कि इन तब्दीलियो के कारण वहुत-से नये राज्य पैदा होगये, जिनमें से ज्यादातर बिलकुल छोटे हैं। अब पूर्वी योरप बाल्कन-सा होगया है, इसीलिए अक्सर यह कहा जाता है कि शाति की सधियो ने योरप को 'बाल-कनाइज्ड' (Balkanised) कर दिया या बाल्कन-की-सी शक्ल में बदल दिया। अब बहुत-सी नई सीमायें या सरहदें पैदा होगई हैं और इन छोटे राज्यो में अक्सर झगडे चलते रहते हैं। यह देखकर हैरत होती है कि वे किस तरह एक-दूसरे से नफरत करते हैं। डैन्यूब नदी की घाटी वाले देशो में खास तौर से यह हालत है। इसकी ज्यादातर जिम्मेदारी मित्र-राष्ट्रो पर है, जिन्होने योरप का बिलकुल गलत तरीके पर बँटवारा किया और बहुत-सी नई समस्यायें पैदा करदी। बहुतेरी छोटी और कम तादाद वाली कौमो पर विदेशी सरकारो का कब्जा है जो उन्हे दबाती और उनपर अत्याचार करती रहती है। पोलैण्ड का काफी बड़ा हिस्सा असल में उक्रैन का है और इस हिस्से के गरीब उक्रैनियनो को जबरदस्ती पोलिश बनाने के लिए उनपर तरह-तरह के अत्या-चार किये गये हैं। इसी तरह जुगोस्लेविया, रूमानिया और इटली में भी छोटी तादाद वाली विदेशी कौमें हैं और उनके साथ बराबर बुरा और भद्दा बर्ताव किया जाता है। दूसरी तरफ आस्ट्रिया और हगरी की हड्डी-हड्डी जुदा करदी गई और उनके अपने लोग उनसे छीन लिये गये हैं। विदेशी हुकूमत में रहनेवाले इन प्रदेशो में राष्ट्रीय आन्दोलनो और झगडो का बराबर खडे होते रहना स्वाभाविक है।

फिर इस नक़्शे पर निगाह डालो। तुम देखोगी कि फिनलैंड, इस्टोनिया, लटविया, लिथुएनिया, पोलैण्ड और रूमानिया के राज्यो के सिलसिले के कारण रूस पश्चिमी योरप से एकदम अलहदा होगया है। जैसा कि मैंने तुम्हें बताया है, इन राज्यो में ज्यादातर वर्साई की सुलह से नही बनाये गये, बल्कि वे रूसी क्रान्ति के परिणाम थे। जो हो, मित्र-राष्ट्रो ने इनका स्वागत किया और खुशी जाहिर की। इसकी वजह यह थी कि वे रूस को गैरबोलशेवी योरप से अलग करते थे। वे 'स्वच्छता का घेरा' (Cordon Sanitaire जिससे छूत के रोगो को एक जगह से दूसरी जगह फैलने से रोका जाता है) थे, जो बोलशेविज्म के छूत के रोग को रोकने में मददगार हो सकते थे। ये सब बाल्टिक राज्य यानी बाल्टिक समुद्र के आस-पास के राज्य गैरबोलशेवी हैं, वरना वे सोवियट फेडरेशन में शामिल होजाते।

पश्चिमी एशिया में पुराने तुर्की साम्राज्य के कुछ हिस्सो पर यूरोपीय शक्तियो की ललचाई हुई आँखें पडी। महायुद्ध के जमाने में अंग्रेजो ने यह वादा करके तुर्की

के खिलाफ अरबों में बगावत करा दी थी कि वे अरबस्तान, फिलस्तीन और सीरिया को मिलाकर एक संयुक्त अरब राष्ट्र का निर्माण करेंगे। जब अरबों से यह वादा किया जा रहा था, तभी इन प्रदेशों को आपस में बाँट लेने की एक गुप्त संधि भी अंग्रेज फ्रांसीसियों से कर रहे थे। यह कोई यश की बात न थी और वर्तमान ब्रिटिश प्रधान मंत्री रैम्से मैकडानल्ड[1] ने इसे 'भद्दे दोरंगीपन' की एक कहानी कहकर पुकारा था। पर यह दस वर्ष पहले की बात है, जब वह मंत्री नहीं थे और कभी-कभी सच बोलने की जुर्रत कर सकते थे।

जब ब्रिटिश सरकार ने न सिर्फ अरबों के साथ किया हुआ वादा तोड़ने की कोशिश की बल्कि फ्रांस से की हुई गुप्त संधि से भी आँखें फेरनी चाहीं, तब इसका एक अजीब कारण था। उनके दिमाग में एक महान् मध्यपूर्वी साम्राज्य का स्वप्न पैदा हुआ—ऐसे साम्राज्य का जो हिन्दुस्तान से मिस्र तक फैला हुआ हो। यानी वह बीच के बहुत बड़े हिस्से को हथिया कर हिन्दुस्तान के साम्राज्य को अपने अफरीका के राज्य से मिला देना चाहते थे। यह एक बड़ा ही ललचाने वाला और जबरदस्त सपना था। फिर भी उसके पूरा होने में उस वक्त कोई ज्यादा दिक्कत मालूम नहीं होती थी। १९१९ के उस जमाने में ब्रिटिश फौजों ने इन सब प्रदेशों—फारस, इराक, फिलस्तीन, अरबस्तान के कुछ हिस्सों और मिस्र पर कब्जा कर रक्खा था। वे सीरिया से फ्रांस को बाहर रखने की कोशिश कर रही थीं। कुस्तुनतुनिया शहर भी अंग्रेजों के कब्जे में था। पर १९२०, १९२१ और १९२२ में जो घटनायें हुईं उनसे यह सपना टूट गया। ब्रिटिश मंत्रियों की इस महत्वाकांक्षा से भरी योजना को पीछे से सोवियट और आगे से कमालपाशा ने खत्म कर दिया।

किन्तु इतने पर भी ब्रिटेन ने पश्चिमी एशिया के कई प्रदेशों—इराक और फिलस्तीन—में अपना अधिकार कायम रक्खा और रिश्वत और दूसरे तरीकों का इस्तेमाल करके अरबस्तान में होनेवाली घटनाओं पर भी असर डालने की कोशिश की। सीरिया फ्रांसीसियों के कब्जे में आगया। अरब देशों की नई राष्ट्रीयता और आजादी के लिए उनकी लड़ाई के बारे में मैं फिर कभी तुम्हें बताऊंगा।

अब हमें फिर वर्साई की संधि की तरफ लौट चलना चाहिए। इस संधि या सुलह ने यह फैसला किया कि जर्मनी युद्ध छेड़ने के लिए कसूरवार है। इस तरह इस सुलहनामे पर दस्तखत कराके जर्मनी से उनके अपने कसूर को जबरदस्ती मनवा लिया गया। ऐसी जोर-जबरदस्ती की मंजूरी की कोई ज्यादा कीमत नहीं, इससे कटुता पैदा होती है, जैसी कि इस मामले में हुई भी।

जर्मनी को नि.शस्त्र होने का भी हुक्म दिया गया। उसे सिर्फ छोटी सेना, ज्यादातर पुलिस के काम के लिए, रखने की अनुमति दी गई। उसे अपना सारा समुद्री बेडा मित्र-राष्ट्रो के सुपुर्द कर देना पडा। जब जर्मन बेडा सौपने के लिए लेजाया जा रहा था, तब बेडे के जर्मन अफसरो और आदमियो ने यह तय किया कि अंग्रेजो को सौंपने से अच्छा यही है कि उसे डुबो दिया जाय। यह फैसला उन्होने अपनी जिम्मेदारी पर किया; यानी इस फैसले से जर्मन-सरकार का कोई सरोकार न था। इस फैसले के मुताबिक जून १९१९ में 'स्केपाल्फो' पर, जब ब्रिटिश लोग थोडी ही दूर रह गये थे और बेडे पर कब्जा करने की तैयारी कर रहे थे, सारा जर्मन बेड़ा अपने ही नाविको द्वारा डुबा दिया गया।

इसके अलावा युद्ध में मित्र-राष्ट्रो को जो नुकसान उठाना पड़ा था उसका हरजाना भी जर्मनी को देना था। इसे रिपेयरेशन या क्षति-पूर्ति कहा जाता था और तबसे यह शब्द योरप के ऊपर छाया-सा लटक रहा है। सुलहनामे में कोई निश्चित रकम तय नही की गई थी, लेकिन उसमें उसका निश्चय करने की तजवीज रक्खी गई थी। इस तरह से मित्र-राष्ट्रो को युद्ध का हरजाना देने की जिम्मेदारी लेना एक बड़ा जबरदस्त मामला था। उस वक्त जर्मनी एक पराजित और उजड़ा हुआ देश था और अपनी घरेलू जिन्दगी को सम्हालने की बडी-बडी समस्यायें उसके सामने थी। उनके अलावा मित्र-राष्ट्रो की क्षति का बोझ उठा लेना एक असम्भव काम था, जिसके पूरा होने की उम्मीद नही की जा सकती थी। पर मित्र-राष्ट्र घृणा और बदले की भावना से भर रहे थे और न सिर्फ मास नोचना चाहते थे बल्कि जमीन पर लोटते हुए जर्मनी के खून की आख़री बूंद तक पी जाना चाहते थे। इग्लैड में लायड जार्ज ने 'कैसर को फाँसी दे दो' का नारा उठाकर ही पार्लमेण्ट के चुनाव मे फतह हासिल की थी और फ़्रास में तो इससे भी ज्यादा बदले की कटु भावनायें थी।

सुलह की इन धाराओ का सारा मतलब बस यह था कि हर सभव उपाय से जर्मनी को बॉध दिया जाय, उसे निकम्मा कर दिया जाय और ऐसा कर दिया जाय कि फिर वह सिर न उठा सके या मजबूत न हो सके। उसे पीढियो तक मित्र-राष्ट्रो का आर्थिक गुलाम रखने और उससे हर साल खिराज की शक्ल में बडी-बडी रकमें ऐंठते रहने की तजवीज की गई थी। इतिहास का यह बिलकुल साफ सबक कि किसी बडी कौम को लम्बे अर्से तक यो बॉध रखना मुमकिन नहीं है, इन बडे-बडे राजनीतिज्ञो के, जिन्होने प्रतिहिसा या बदले की इस शान्ति की नींव रक्खी थी, ध्यान में नही आया। आज वे इसके लिए पछता रहे है।

अन्त में तुमको मुझे राष्ट्रपति विल्सन की सन्तान उस राष्ट्रसंघ के बारे में

भी कुछ बताना चाहिए जिसे वर्साई की सन्धि ने दुनिया के सामने पेश किया। खयाल था कि यह स्वतन्त्र और स्वशासित यानी आजाद और खुदमुख्तार राज्यो का संघ होगा। इसका उद्देश्य न्याय और प्रतिष्ठा के आधार पर परस्पर सम्बन्ध कायम करके भविष्य में युद्धो का प्रतीकार करना और दुनिया की कौमो में बौद्धिक और भौतिक सहयोग को बढ़ाना था। उद्देश्य तो बिला किसी शुबहे के तारीफ के काबिल था। संघ के हरेक सदस्य-राष्ट्र ने यह मंजूर किया कि वह एक सहयोगी राष्ट्र से तबतक युद्ध न छेडेगा जबतक कि शान्तिपूर्ण समझौते की सारी कोशिशें और सम्भावनायें नाकाम साबित न हो जायें और इसके बाद भी नौ महीने बीत जाने के बाद ही युद्ध का सहारा लेगा। यह तजवीज की गई कि अगर कोई सदस्य-राष्ट्र इस प्रतिज्ञा को तोडेगा तो और राष्ट्र उससे किसी तरह का आर्थिक सम्बन्ध न रक्खेंगे। कागज पर लिखा हुआ यह सब बहुत अच्छा लगता है; पर व्यवहार में बात इसके बिलकुल खिलाफ़ हुई। यह याद रखने की बात है कि सिद्धान्त या उसूल में भी सघ ने युद्ध का अन्त करने की कोशिश नही की। हॉ, उसने लडाई के रास्तो में दिक्कतें पैदा करने की कोशिश जरूर की, ताकि वक्त गुजर जाने और समझौते के प्रयत्नो से युद्ध का जोश-खरोश कम हो जाय। युद्ध के कारणो को दूर करने की उसने कोशिश नहीं की।

राष्ट्र-संघ में एक तो असेम्बली थी, जिसमें सब सदस्य-राष्ट्रो को प्रतिनिधित्व मिला था; दूसरी कौंसिल थी, जिसमें महाशक्तियो के स्थायी प्रतिनिधि होते थे और कुछ प्रतिनिधि असेम्बली द्वारा भी चुने जाते थे। इसका एक सेक्रेटरियट (मन्त्रि-कार्यालय) रक्खा गया, जिसका सदर मुकाम, जैसा तुम जानती हो, जेनेवा में है। कामो के दूसरे भी कई विभाग थे। एक अन्तर्राष्ट्रीय मजूर कार्यालय, जो मजूरो के सवालो पर गौर करता था; दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत (Permanent Court of International Justice), जिसका स्थान हेग में रक्खा गया; तीसरी बौद्धिक सहयोग के लिए एक कमेटी। राष्ट्रसघ के साथ ही सब काम शुरू नहीं हुआ; कई काम बाद में बढाये गये।

राष्ट्रसघ का मूल विधान वर्साई-सधि में शामिल था। इसे ही 'राष्ट्रसघ का शर्तनामा' (Covenant of the League of Nations) कहते हैं। इस शर्तनामे में यह तजवीज भी थी कि राष्ट्र की रक्षा के लिए जितनी सेना की जरूरत हो उतनी ही रक्खी जाय और सब राष्ट्र अपनी सेना को घटाकर कम-से-कम करदें। जर्मनी का नि:शस्त्रीकरण (जो जबरदस्ती किया गया) इस दिशा में पहला कदम समझा गया और यह तय हुआ कि दूसरे देश उसका अनुकरण करेंगे। यह भी कहा गया कि किसी

राज्य के हमला करने पर उसके खिलाफ कार्रवाई की जायगी। पर यह स्पष्ट नही किया गया कि 'हमला' (Aggression) किसे कहा जायगा। जब दो कौमें या राष्ट्र लड़ते हैं तो उनमें से हरेक दूसरे को कसूरवार बताता और उसे आक्रामक या हमलावर (Aggressor) कहता है।

महत्वपूर्ण मामलो का फैसला राष्ट्रसघ सर्वसम्मति से ही कर सकता था। इसलिए अगर एक भी सदस्य-राष्ट्र किसी प्रस्ताव के खिलाफ राय दे तो वह गिर जाता था। इसका मतलब यह था कि बहुमत का कोई दबाव नही था। इसका यह भी मतलब था कि राष्ट्रीय सरकारे आजाद है और करीब-करीब उतनी ही गैर-जिम्मेदार है जितनी पहले थी। राष्ट्रसघ उनपर किसी महाराष्ट्र की तरह हावी नही था। इस तजवीज ने राष्ट्रसघ को बहुत कमजोर बना दिया और व्यवहार में उसे सिर्फ एक सलाह देनेवाली सस्था का रूप दे दिया।

कोई भी स्वतत्र राष्ट्र सघ में शामिल हो सकता था, लेकिन चार देश साफ तौर पर अलग कर दिये गये थे: जर्मनी, अस्ट्रिया, तुर्की यानी पराजित देश, और बोलशेवी रूस। पर यह तजवीज की गई थी कि बाद में, कुछ शर्तो पर, वे शामिल किये जा सकते हैं। ताज्जुब तो यह है कि हिन्दुस्तान राष्ट्रसघ के मूल सदस्यो में से एक हुआ। यह संघ के नियम के बिलकुल खिलाफ था, क्योकि उसके मुताबिक सिर्फ आजाद और खुदमुख्तार मुल्क ही सदस्य हो सकते थे। पर 'हिन्दुस्तान' का मतलब हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार से था और इस चालाकी से ब्रिटिश सरकार को एक और प्रतिनिधि मिल गया। दूसरी तरफ अमेरिका ने, जो एक तरह से राष्ट्रसंघ को जन्म देनेवाला था, इसमें शामिल होने से साफ तौर पर इनकार कर दिया। अमेरिकन लोग राष्ट्रपति विल्सन के कामो और यूरोपियन साजिशो व झगडो से ऊब गये और उन्होने इससे अलग ही रहने का फैसला किया।

बहुत-से लोग राष्ट्रसंघ की तरफ उत्साह और इस उम्मीद से देख रहे थे कि वह हमारी आजकल की दुनिया के झगडो का खात्मा कर देगा, या कम-से-कम उसमें बहुत ज्यादा कमी कर देगा और शान्ति और बहुतायत का युग ले आयगा। संघ को लोकप्रिय बनाने और सवालो पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से गौर करने की आदत डालने के लिए बहुत-से देशो में राष्ट्रसंघ सम्बन्धी सस्थायें बनाई गई। दूसरी तरफ बहुत-से लोगो ने संघ को एक बडी धोखे और साजिश की ऐसी चीज बताया जो बडी शक्तियो की स्वार्थ से भरी हुई योजनाओ को पूरा करने के लिए बनाई गई थी। अब हमने इसका कुछ व्यावहारिक अनुभव भी प्राप्त कर लिया है और शायद इसकी उपयोगिता की जॉच करना अब कही आसान है। संघ की हस्ती १९२० के नये दिन

(१ जनवरी) से शुरू हुई थी और अबतक इसे सवातेरह वर्ष बीत चुके हैं (मैं यह अप्रैल १९३३ में लिख रहा हूँ) । इसमें शक नहीं कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के इतिहास में यह कोई लम्बी अवधि नहीं है; फिर भी संघ को कई तरह से अविश्वसनीय साबित करने के लिए इतना वक़्त काफ़ी है । यह ठीक है कि इसने आजकल की जिन्दगी की मुख़्तलिफ़ गलियों में अच्छा काम किया है और यही बात कि अन्तर्राष्ट्रीय सवालों पर विचार करने के लिए इसने राष्ट्रों—या यह कहना ज्यादा सही होगा कि उनकी सरकारों—को एक जगह जमा किया है, पुराने तरीक़ों पर एक तरक़्क़ी ही है, पर शान्ति रखने या युद्ध की संभावना को कम करने के अपने असल उद्देश्य को पूरा करने में यह बिलकुल नाकामयाब हुआ है ।

राष्ट्रसंघ के बारे में राष्ट्रपति विल्सन का असल मतलब चाहे जो रहा हो, पर इसमें शक नहीं कि महाशक्तियों के, ख़ासकर इंग्लैण्ड और फ़्रांस के, हाथ में संघ एक अस्त्र या हथियार रहा है । इसका असल काम वर्तमान व्यवस्था को क़ायम रखना है । यह राष्ट्रों के बीच न्याय और प्रतिष्ठा यानी इन्साफ और ईमान की बात करता है, पर यह जाँच नहीं कर करता कि क्या वर्तमान सम्बन्ध इन्साफ़ और ईमानदारी पर क़ायम है ? यह राष्ट्रों के 'घरू या अन्दरूनी मामलों' (Domestic Affairs) में दस्तन्दाज़ी न करने का ऐलान करता है । किसी साम्राज्यवादी ताक़त के मातहत देश इसके लिए 'अन्दरूनी या घरेलू मामले' हैं । इसलिए जहाँतक संघ का ताल्लुक़ है तहाँतक यह कहा जा सकता है कि वह इन ताक़तों द्वारा इनके साम्राज्यों को सदा मातहत या गुलाम बनाये रखने का समर्थन करता है । इनके सिवा जर्मनी और टर्की से लिये हुए नये प्रदेश भी मित्र-राष्ट्रों को इसने 'मैण्डेट' यानी 'शासनादेश' के नाम पर सौंप दिये हैं । यह 'मैण्डेट' या 'शासनादेश' शब्द राष्ट्रसंघ की मनोवृत्ति को ठीक-ठीक जाहिर करता है, क्योंकि यह एक नये और खुशनुमा नाम के नीचे पुराने साम्राज्यवादी शोषण के ही सिलसिले को सूचित करता है । मज़ा तो यह है कि ऐसा समझ लिया गया है कि ये 'मैण्डेट' या 'शासनादेश' इन प्रदेशों की जनता की इच्छा के अनुसार ही दिये गये हैं । इन दुखिया क़ौमों में से कई ने तो इन शासनादेशों के ख़िलाफ बग़ावत भी की है और काफी अर्से तक ख़ूनी लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं । उन्होंने तबतक इनके ख़िलाफ आवाज़ बुलन्द की है जबतक कि वे बम-वर्षा और तोपों की मार से झुकने को मजबूर नहीं कर दी गई हैं । सम्बन्धित जनता की राय जानने का यह तरीक़ा रहा है !

ख़ूबसूरत लफ़्ज़ और जुमले इस्तेमाल किये गये हैं । साम्राज्यवादी ताक़तें 'मैण्डेटेड' या 'शासनादेशप्राप्त' इन प्रदेशों के बाशिन्दों की 'ट्रस्टी' रही हैं और सभ्य

का काम यह देखना रहा है कि ट्रस्ट या थाती की शर्तें पूरी की जा रही है या नही। सच पूछो तो इससे मामला और बिगड गया है। ये शक्तियाँ जो चाहती करती रही है, पर ऊपर से उन्होने पाखड से भरा हुआ चोगा पहन रक्खा है और असावधान लोगो के अन्त.करण को शिथिल ओर अचेत कर दिया है। जब किसी छोटे राष्ट्र ने संघ का किसी तरह अपमान किया, तब सघ ने कड़ाई से काम लिया ओर अपनी बेरुखी से उसे सजा देने की कोशिश की है; पर जब किसी बडी ताकत ने उसका अपमान किया, तब सघ वहाँसे नजर हटाकर दूसरी तरफ देखने लगा है, या कम-से-कम उसने अपराध की गुरुता घटाने की कोशिश की है।

इस तरह महाशक्तियो ने सघ पर अपना नियंत्रण रक्खा है, जब स्वार्थ साधने की जरूरत हुई तब उसका इस्तेमाल किया है और जब उपेक्षा करने में ही ज्यादा सहूलियत या फायदा मालूम पडा तब उसकी उपेक्षा की है। शायद दोष सघ का नही था, दोष उस प्रणाली का था जो अपनी प्रकृति के कारण सघ को बरदाश्त करनी पडी। साम्राज्यवाद का तत्त्व ही मुख्तलिफ ताकतो के बीच की जबरदस्त प्रतिद्वद्विता और प्रतियोगिता यानी लाग-डांट है, क्योकि इनमें से हरेक जहाँतक मुमकिन हो वहाँतक ज्यादा-से-ज्यादा दुनिया का शोषण करना चाहती है। अगर किसी समाज के सदस्य बराबर एक-दूसरे की जेब से धन लूटने की कोशिश करते रहे, या एक-दूसरे का गला काटने के लिए अपने चाकू तेज करते रहे, तो उनके बीच कुछ ज्यादा सहयोग की उम्मीद नही की जा सकती और न समाज की ज्यादा तेज तरक्की की ही आशा की जा सकती है। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि जन्मदाताओ और अभिभावको के जबरदस्त गिरोह के होते हुए भी सघ कमजोर और निर्जीव होगया।

वर्साई में सुलह की बहसो के सिलसिले में जापानी सरकार की तरफ से यह प्रस्ताव रक्खा गया था कि सुलहनामे में जातीय समानता (Racial Equality) को स्वीकार करने की एक धारा रक्खी जाय पर वह मजूर नही किया गया। मगर किसी तरह चीन में कियानचान देकर जापान के आँसू पोछ दिये गये। बृहत्त्रय (The 'Big Three') ने चीन जैसे कमजोर दोस्त के खर्चे पर उदारता दिखाई। इसलिए चीन ने सुलहनामे पर दस्तखत नही किये।

ऐसी वह 'वर्साई की सधि' थी, जिसने 'युद्ध को खत्म करने के लिए लडे गये युद्ध' का खातमा कर दिया। पिछले चौदह वर्षो का इतिहास इस सन्धि पर एक काली टीका है। प्रसिद्ध अग्रेज राजनीतिज्ञ श्री फिलिप स्नाउडन (अब वाइकौण्ट स्नाउडन) ने, जो कुछ ही दिन पहले तक इग्लैण्ड के अर्थसचिव थे, इस सन्धि पर निम्नलिखित टीका की थी :—

"The Treaty should satisfy brigands, imperialists and militarists. It is the death-blow to the hopes of those who expected the end of the war to bring peace. It is not a peace treaty, but a declaration of another war. It is the betrayal of democracy and the fallen in the war. The treaty exposes the true aims of the Allies"

अर्थात्, "यह सुलहनामा लुटेरों, साम्राज्यवादियों और सैन्यवादियों को संतुष्ट कर सकता है। यह उन लोगों की उम्मीदों पर बिजली का गिरना है जो शान्ति के लिए युद्ध का अन्त करने की आशा करते थे। यह शान्ति की सन्धि नहीं है बल्कि दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह प्रजातंत्रवाद और युद्ध में शहीद हुए लोगों के प्रति विश्वासघात है। सन्धि ने मित्र-राष्ट्रों के असली मतलब को साफ़-साफ़ जाहिर कर दिया है।"

प्रकट है कि अपनी घृणा और अभिमान यानी नफरत और ग़ुरूर में मित्र-राष्ट्र अपनी सीमा से कहीं आगे बढ़ गये थे। नतीजे वे इसके लिए काफ़ी पछता रहे हैं और सन्धि पर फिर से ग़ौर करने और उसे बदलने की बातचीत भी होने लगी है। पर, शायद, अब बहुत देर हो गई है।

यह ख़त कितना लम्बा होगया!

: १५६ :

महायुद्ध के बाद की दुनिया

२६ अप्रैल, १९३३

अब हम अपने सफ़र की आख़िरी मंज़िल में हैं; हम आज यानी वर्तमान की दहलीज पर हैं। हमें महायुद्ध के बाद की दुनिया पर ग़ौर करना है। अब हम अपने ही ज़माने में हैं—या निश्चय ही तुम्हारे ज़माना में! यह आख़िरी मंज़िल है और, जहाँतक वक़्त का सवाल है, बहुत छोटी मंज़िल है. पर यह एक मुश्किल सफ़र है। महायुद्ध ख़त्म होने के बाद से इसे सिर्फ़ साढे चौदह साल हुए हैं; और हम इतिहास के जिन लम्बे युगों पर विचार कर चुके हैं उनके मुक़ाबिले में यह समय का कितना छोटा टुकड़ा है? लेकिन हम बिलकुल इसके साथ गुँथे हुए हैं और इतने नज़दीक से इसके बारे में ठीक राय क़ायम करना बहुत मुश्किल है। हम इसे ठीक तौरपर देखने और अंकित करने की प्रवृत्ति नहीं पैदा कर सकते और न वह स्थिर निष्पक्षता या निस्संगता ही प्राप्त कर सकते हैं जो इतिहास चाहता है। बहुतेरी घटनाओं के बारे में हम बहुत ज़्यादा उत्तेजित हैं इसलिए छोटी बातें हमें बड़ी मालूम पड़ सकती हैं और बड़ी बातों में से कई का हम पूरा महत्त्व समझने से वंचित रह जा सकते हैं। हम वृक्षों को बहु-

तायत में अपनेको खो दे सकते है और जंगलो को ठीक तौर पर देखने से वचित हो सकते है ।

फिर यह जानने की मुश्किल भी आती है कि हमे घटनाओ के महत्त्व को कैसे नापना चाहिए। हमें इनके लिए किस गज का इस्तेमाल करना चाहिए ? यह जाहिर है कि वह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि हम चीजों और घटनाओ पर किस तरह निगाह डालते है। एक दृष्टिकोण से कोई घटना हमें महत्त्वपूर्ण मालूम पड सकती है और दूसरी दृष्टि से वही घटना बिलकुल महत्वशून्य और नाचीज मालूम होगी। मुझे भय है कि कुछ सीमा तक मैने तुमको लिखे हुए अपने खतो में इस सवाल को दरगुजर किया है; मैने इसका स्पष्ट और उचित जवाब नही दिया है। मेरे सामान्य दृष्टिकोण ने उन सब बातो को रंगीन बना दिया है जिनकी बाबत मैंने लिखा है। इन्ही युगो और घटनाओ के बारे में दूसरा आदमी शायद बिलकुल जुदी बाते लिखता।

इस वक्त मै इस सवाल की गहराई में नही जाना चाहता कि इतिहास के बारे में हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। खुद मेरा दृष्टिकोण हाल के इन वर्षो में बहुत ज्यादा बदल गया है। और जैसे इस और दूसरी चीजो के बारे मैने अपने खयालात बदले है वैसे ही दूसरे बहुत-से लोगो ने बदले है। क्योकि महायुद्ध ने हर चीज और हर आदमी को बुरी तरह झकझोर दिया है। इसने पुरानी दुनिया को पूरी तरह से उलट दिया और तबसे हमारी यह गरीब पुरानी दुनिया, बगैर कुछ ज्यादा कामयाबी के, फिर से उठने की कोशिश कर रही है। इसने विचारो की सारी प्रणाली को, जिसपर हम बढे थे, हिला दिया है और आधुनिक समाज और सभ्यता के आधार के बारे में ही हममें शकायें पैदा करदी है। हमने नौजवानो का भयंकर सहार देखा; हमने झूठ, हिंसा, पशुता या हैवानियत और विनाश देखा और हैरत में आगये कि यह सभ्यता का खात्मा तो नही है। रूस में सोवियट उठ खड़ा हुआ; यह एक नई चीज, एक नई समाज-व्यवस्था और प्राचीन के प्रति एक चुनौती थी। दूसरे भी बहुत-से खयालात हवा में फैल रहे थे। यह विश्रृंखल होने या बिखरने का जमाना था; यह शंका और प्रश्नो यानी शुबहे और सवालो का जमाना था, जो तेज तब्दीलियो के युग में सदा आता है।

महायुद्ध के बाद के दिनों पर इतिहास की तरह गौर करने में ये सब बातें दिक्कत पेश करती है। लेकिन जहाँ हम मुख्तलिफ तरह के विश्वासो और विचारो पर बहस कर सकते, उनकी सचाई पर सवाल उठा सकते और उनमें से किसीको महज इसलिए मानने से इनकार कर सकते है कि वे पुराने है, वहाँ हम विचारो से खिलवाड़ करने और हमें क्या करना चाहिए, इसके बारे में खूब अच्छी तरह सोचने से छुटकारा पाने

का इसे कोई वहाना नहीं वना सकते। दुनिया के इतिहास में परिवर्तन के ऐसे युग खासतौर पर शरीर और मन से काम लेने का आवाहन करते है। ये ऐसे जमाने होते है जव जीवन के शुष्क कार्यक्रम में ताजगी आजाती है और साहसिकता हमें पुकारती है और हम सव नई व्यवस्था के निर्माण में अपना हिस्सा ले सकते है। ऐसे वक्तो में नौजवानो ने हमेशा प्रधान अभिनय किया है, क्योकि वे वदलते हुए खयालात और हालात के मुताविक अपनेको उन लोगों की वनिस्वत कही ज्यादा आसानी से मोड़ सकते है जो वूढ़े या पुराने है और अपने प्राचीन विश्वासो में जम गये और कठोर होगये है।

शायद यह ज्यादा अच्छा होगा कि हम महायुद्ध के वाद के इस जमाने की जरा विस्तार से परीक्षा करे। लेकिन मैं चाहता हूँ कि इस खत में इस जमाने का सरसरी तौर पर सिंहावलोकन करूँ। नेपोलियन के पतन के वाद के उन्नीसवीं सदी के हमारे सिंहावलोकन की तुम्हे याद होगी। लाजिमी तौर पर १८१५ ई० की 'वियेना की शान्ति' (The Peace of Vienna) और उसके परिणामो पर ध्यान जाता है और १९१९ ई० की वर्साई की शान्ति और उसके परिणामो के साथ उसकी तुलना करने का मन होता है। वियेना की शान्ति सुखदाई न थी; उसने योरप में आगे होनेवाली लड़ाइयो का वीज वोया। अनुभव से कुछ न सीखने के कारण हमारे राजनीतिज्ञो ने वर्साई की शान्ति को उससे भी वुरा वना दिया, जैसा कि हम पिछले खत में देख चुके है। महायुद्ध के वाद के वर्षो पर इस कही जाने वाली शान्ति की काली छाया वडे घने रूप में पड़ती रही है।

तव इन पिछले चौदह वर्षो की वडी-वडी घटनायें कौन-सी है ? मेरी समझ से अपने महत्व में सवसे पहली और ध्यान खींचनेवाली घटना सोवियट यूनियन या यू० एस० एस० आर० यानी 'यूनियन आफ़ सोशलिस्ट एण्ड सोवियट रिपव्लिक्स' (समाजवादी एवं सोवियट प्रजातंत्र-सघ) का उदय और सगठन है। मैं उन दिक्कतो में से कुछ का जिक्र तुमसे कर चुका हूँ जो सोवियट रूस को दुनिया में अपनी हस्ती कायम रखने की लड़ाई में वर्दाश्त करनी पडी है। इन दिक्कतो के वीच भी उसकी विजय इस सदी का एक आश्चर्य है। एशिया में जहाँ-जहाँ पहले का जारशाही साम्राज्य फैला हुआ था वहाँ-वहाँ यानी प्रशान्त महासागर तक फैले हुए साइवेरिया और भारतीय सीमा को छूनेवाले मध्यएशिया में सोवियट शासन-प्रणाली कायम होगई। अलग-अलग सोवियट प्रजातत्र कायम हुए, पर सव मिलकर एक संघ में शामिल होगये और यही अव यू० एस० एस० आर० है। यह यूनियन या सघ योरप और एशिया के लम्बे-चौडे हिस्सो में फैला हुआ है, जो अपने क्षेत्रफल में सारी दुनिया के क्षेत्रफल का छठा हिस्सा

है। क्षेत्रफल तो बहुत बड़ा है, पर सिर्फ क्षेत्रफल के बड़े होने का कोई खास मतलब नही होता और फिर रूस और उससे भी कही ज्यादा मध्यएशिया और साइबेरिया बहुत पिछड़े हुए देश थे। सोवियट ने दूसरा चमत्कार जो किया वह यह था कि उसने इन प्रदेशो के बड़े-बड़े हिस्सो को अपनी नई योजनाओ से कुछ-का-कुछ बना दिया। लिखित इतिहास में किसी जाति की इतनी तेज तरक्की का दूसरा कोई उदाहरण नही मिलता। मध्य-एशिया के सबसे ज्यादा पिछड़े हुए देश भी इतनी तेजी से आगे बढ़े है कि हम हिन्दुस्तान के बाशिन्दो को ईर्ष्या हो सकती है। सबसे ज्यादा उल्लेखनीय तरक्की शिक्षा और उद्योग-धंधो में हुई है। पॉच वर्ष वाली योजना के जरिये, जिसकी अवधि हाल ही में पूरी हुई है, रूस का बड़ी तेजी से उद्योगी-करण हुआ है और बेशुमार कारखाने खड़े होगये है। इन सब बातो का जनता पर बड़ा जबरदस्त बोझ पड़ा है और लोगो को अपने आराम की चीजो—यहातक कि जिन्दगी की जरूरियात का भी त्याग करना पड़ा है, ताकि उनकी आमदनी का ज्यादा हिस्सा प्रथम समाजवादी देश के निर्माण में लगाया जा सके। ज्यादातर बोझ किसानो पर पड़ा है और जब मै यह ख़त लिख रहा हूँ तब एक मुसीबत का साल उनके सिर पर दौड़ा आ रहा है।

इस आगे बढ़ते हुए सोवियट प्रदेश और अपनी बराबर बढ़ती हुई मुसीबतो वाले पश्चिमी योरप के बीच का अन्तर बहुत साफ़ और उल्लेखनीय है। अपनी सारी दिक्कतो के साथ अब भी, पश्चिमी योरप रूस से ज्यादा मालदार है। अपने वैभव के लम्बे जमाने में इसने अपने अन्दर बहुत ज्यादा चर्बी बढ़ा ली थी, जिसपर यह कुछ वक्त तक गुजर कर सकता है। लेकिन हर मुल्क पर कर्ज का जो बोझ है, वर्साई सधि के मुताबिक जर्मनी से ली जाने वाली हरजाने की रकम, और छोटी-बड़ी ताकतो में सदा चलने वाले झगड़े और लाग-डाट ने ग़रीब योरप की बड़ी बुरी हालत कर दी है। इन कठिनाइयो और मुसीबतो से निकलने का रास्त ढूंढने के लिए एक के बाद एक कान्फ्रेंस होती रही है पर कोई रास्ता नही निकला है और स्थिति दिन-दिन ख़राब होती जाती है। आज सोवियट रूस की पश्चिमी योरप से तुलना या मुक़ाबिला करना बहुत बड़ा बोझ सिर पर रक्खे पर जिन्दगी और स्फुर्ति से भरे हुये एक नौजवान का उस बूढ़े आदमी से मुकाबला करना है जो उम्र रहते लाजिमी तौर पर ग़ुरूर के साथ आगे तो चल रहा है पर जिसमें कोई आशा या स्फूर्ति बाकी नहीं रही है।

ऐसा मालूम पड़ता था कि महायुद्ध के बाद सयुक्तराष्ट्र अमेरिका इस छूत से बच गया है। दस वर्ष तक वह बड़े जोरो से वैभव में बढ़ता और तरक्की करता गया। साहूकारी के धन्धे में इंग्लैण्ड के दबदबे को उसने युद्ध के जमाने में ख़त्म कर दिया था। अब अमेरिका दुनिया का ऋणदाता या साहूकार था और सारी दुनिया उसकी ऋणी

थी। आर्थिक दृष्टि से देखें तो एक तरह से वह सारी दुनिया पर हावी था और वह दुनिया से मिलनेवाले खिराज पर आराम के साथ जिन्दगी बसर कर सकता था, जैसे कुछ हद तक पहले इंग्लैण्ड कर चुका था। पर इसमें दो दिक्कतें आगईं। कर्जदार देश बडी बुरी हालत में थे और अपना क़र्ज़ नकद अदा नहीं कर सकते थे। सिर्फ एक ही ढंग से वे क़र्ज़ अदा कर सकते थे कि कारखानो में चीजें बनायें और उन्हें अमेरिका भेजें। लेकिन अमेरिका इस खयाल को पसन्द नहीं करता था कि उसके यहाँ विदेशी माल आवे और इसी ख़याल से उसने विदेशी माल को देश के अन्दर आने से रोकने के लिए गहरी चुंगी लगा दी। तब बेचारे कर्जदार देश कर्ज कैसे अदा करते? एक शानदार रास्ता निकाला गया। अमेरिका का जो कर्ज है उसका सूद उसे मिलता रहे इसके लिए (वह क़र्ज़दार देशों को) और कर्ज देगा। यह कर्ज वसूल करने का एक गैरमाम्ूली तरीका था क्योंकि इसका मतलब तो ऋणदाता या साहूकार का और कर्ज देते जाना और यों कर्ज को बढ़ाना था। यह काफी तौर पर जाहिर होगया कि ज्यादातर क़र्ज़दार देश अपना कर्ज कभी चुका न सकेंगे, तब एकाएक अमेरिका ने कर्ज देना बन्द कर दिया और सारी प्रणाली भरभराकर एकदम से बैठ गई। और एक अजीब बात हुई। अमेरिका, लबालब सोने से भरा हुआ मालदार अमेरिका बेशुमार बेकार श्रमिको या मजूरो का देश होगया, उद्योग-धंधो के पहिये एकाएक चलने बंद होगये और चारो तरफ़ तबाही फैल गई।

जब मालदार अमेरिका की इतनी बुरी हालत थी तो योरप की हालत का अन्दाज आसानी से किया जा सकता है। हरेक देश ने चुंगी की दीवारे या रोक खडी करके विदेशी माल को देश के अन्दर आने से रोकने की कोशिश की और 'सिर्फ देशी माल खरीदो' इसका प्रचार किया। हर देश दूसरे मुल्को को अपना माल तो बेचना चाहता था पर उनसे खरीदना न चाहता था, या कम-से-कम जितना मुमकिन हो उतना ही खरीदना चाहता था। ऐसी बाते अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का खात्मा किये बिना ज्यादा दिन तक नहीं चल सकतीं, क्योंकि व्यापार-व्यवसाय तो विनिमय या बदले पर ही चलते है। इस नीति को आर्थिक राष्ट्रवाद कहते है। यह और उग्र राष्ट्रीयता की दूसरी कितनी ही बाते सभी देशो में फैल गई। ज्यो-ज्यो व्यापार-धन्धे कमजोर पड़ते गये, हर देश की दिक्कते बढ़ती गई और बडी साम्राज्यवादी ताकतो ने बाहर से अपने साम्राज्यो का ज्यादा-से-ज्यादा शोषण करके और अपने देश में मजूरो की मजूरी में कमी करके किसी तरह काम बनाने की कोशिश की। दुनिया के मुख्तलिफ हिस्सो का शोषण करने की इच्छा और प्रयत्न में प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादो की एक-दूसरे से ज्यादा टक्कर होने लगी। उधर राष्ट्रसंघ बगुलाभगत की तरह शान्ति

की वाते करता और उसके लिए अमली तौर पर कुछ करता-धरता न था, इधर युद्ध का भूत दिन-दिन नजदीक आता हुआ दिखाई देता था। वस, फिर अनिवार्य दीख पड़नेवाले युद्ध के लिए शक्तियो में गुटवन्दी शुरू होगई।

आज भी, जव मै यह खत लिख रहा हूँ, हम उस महान् मन्दी के वीच में है जिसने विश्व के पूजीवाद को गिरा दिया है। मामूली हालत में लौटने के लिए जोरो के साथ उपाय ढूंढे जा रहे हैं। मै नही जानता कि कोई उपाय निकलेगा। हो सकता है कि पूजीवाद अपनी इस आकस्मिक वीमारी से उवरने की कोई दवा ढूंढले, पर इसमें वड़ा शुवहा है कि वह फिर पूरी तरह स्वस्थ या तन्दुरुस्त हो सकेगा। साम्यवादी विश्लेषण अपनेको ठीक सावित करता मालूम पड़ रहा है और पूजीवाद अपने ही अन्दरूनी विरोधो से ख़त्म हो रहा है और अगर इस बार की मुसीवत उसे न मार सकी तो वाद की दूसरी मुसीवत मार देगी। ताज्जुब तो यह है कि यद्यपि सव पूंजीवादी देश सोवियट यूनियन से नफरत करते है, पर उसे गिरा या दवा देने के लिए आपस में एका तक नही कर सकते।

इस तरह हम उस महान् युग के खात्मे के नजदीक पहुँच गये जिसमें पूंजीवादी सभ्यता का पश्चिमी योरप और अमेरिका पर बोलबाला रहा और उसने वाकी दुनिया पर भी अपना दबदबा कायम रक्खा। महायुद्ध के वाद के पहले दस वर्ष तक यह मालूम पड़ता था कि शायद पूंजीवाद फिर उठ खड़ा हो और एक दूसरे लम्बे युग के लिए ताकतवर होजाय। पर पिछले तीन वर्षो ने इसे वहुत सन्देहजनक वना दिया है। न सिर्फ पूंजीवादी राष्ट्रो की आपसी प्रतिद्वंद्विता या लाग-डॉट ख़तरे की सीमा तक वढ़ गई है वल्कि हर राज्य में श्रेणी-संघर्ष यानी मजदूरो और पूंजीपति स्वामी-वर्ग के, जिसका सरकारो पर नियंत्रण है, वीच कशमकश गहरी होती जाती है। इसलिए वडी ताकतो के वीच राष्ट्रीय युद्ध और हर देश में गृह-युद्ध होने के ख़तरे वढ़ते जाते है। ज्यो-ज्यो हालत बुरी होती जाती है, स्वामी-वर्ग उठते हुए मजूरो को कुचलने का आखिरी प्रयत्न कर रहा है। इसने फैसिज्म की शक्ल इख़्तियार करली है। जहाँ श्रेणी-सघर्ष बहुत जोरदार और ख़तरनाक होगया है और पूंजीपति या स्वामी-वर्ग अपनी विशेष सुविधा की स्थिति से अलग कर दिये जाने के ख़तरे में है वहाँ फैसिज्म पैदा होगया है।

महायुद्ध के वाद शीघ्र ही इटली में फैसिज्म शुरू होगया। जव मुसोलिनी के नेतृत्व में फैसिस्टो ने कब्जा हासिल किया, तव मजदूर अशान्त और उग्र हो रहे थे। तवसे इटली पर वरावर फैसिस्टो का कब्जा है। फैसिज्म का मतलव नगी स्वेच्छा-चारिता है। यह प्रजातत्र-प्रणाली की खुलेआम निन्दा करता है। थोड़ा-बहुत फैसिस्ट

तरीका योरप के बहुत-से देशों में फैल गया है और वहाँ डिक्टेटरशिप (किसी एक आदमी या वर्ग का सर्वेसर्वा हो जाना) आम बात हो गई है। सबसे बाद में फैसिस्ट बननेवाला देश जर्मनी है, जहाँ १९१८ में घोषित कम-उम्र प्रजातंत्र का खात्मा कर दिया गया है और मजदूरो के आन्दोलन को नष्ट कर देने के लिए बिलकुल जगली तरीको का इस्तेमाल किया गया है।

इस तरह योरप में फैसिज्म और साम्यवाद का सामना है और इसके साथ ही पूँजीवादी ताकते एक-दूसरे को घूरती है और एक-दूसरे से लडाई की तैयारी कर रही है। फिर पूँजीवाद ऐश्वर्य या वहुतायत और गरीबी का दृश्य साथ-साथ दिखाता है। एक तरफ खाना सड़ रहा है, यहाँतक कि फेंका और नष्ट किया जा रहा है, ओर दूसरी तरफ लोग भूखो मर रहे है।

योरप में एक पुराना देश--स्पेन--पिछले कुछ वर्षों के अन्दर प्रजातन्त्र की शक्ल में वदल गया है और उसने अपने हैप्सवर्ग-वोर्वन खानदान के वादशाह को निकाल वाहर किया है। इस तरह इस वक़्त योरप और दुनिया में एक वादशाह कम होगया है।

मैंने पिछले चौदह वर्षो की तीन प्रधान घटनाओ का वयान तुमसे किया है:--
१. सोवियट यूनियन, २. अमेरिका का दुनिया पर आर्थिक नियंत्रण और उसकी वर्तमान विपत्ति, और ३. यूरोपियन उलझन। इस जमाने की चौथी मुख्य घटना पूर्वी देशो की पूर्ण जागृति और अपनी आजादी हासिल करने की उनकी जवरदस्त कोशिश है। इस युग में दुनिया की राजनीति में पूर्व ने निश्चित रूप से प्रवेश किया है। इन पूर्वी राष्ट्रो या कौमो पर दो हिस्सो में गौर किया जा सकता है। एक हिस्से में वे देश हैं जो स्वतन्त्र समझे जाते है, और दूसरे में किसी साम्राज्यवादी शक्ति के मातहत औपनिवेशिक या दूसरी तरह के देश शामिल है। एशिया और उत्तरी अफरीका के इन सव देशो में राष्ट्रीयता ने वडा जोर पकड़ा है और वडी ताकतवर होगई है और आजादी के ख़यालात उग्र यानी जवरदस्त होगये है। इन सवमें जवरदस्त आन्दोलन हुए है और कई देशो में तो पश्चिमी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ वगावते भी हुई हैं। इन देशो में से वहुतो को सोवियट यूनियन से सीधी मदद मिली है और इससे भी ज्यादा महत्व की वात यह है कि उनको अपनी लडाई के वडे खतरनाक मौको पर सोवियट यूनियन से नैतिक समर्थन और सहायता मिली है।

एक गिरे हुए और कमजोर राष्ट्र का वड़ा ही उल्लेखनीय पुनर्जन्म हुआ। यह राष्ट्र तुर्की था और इसका ज्यादातर श्रेय मुस्तफा कमालपाशा को है। यह वह वहादुर नेता था जिसने उस वक़्त भी झुकने से इनकार किया, जब सब वाते उनके

खिलाफ थी। उसने अपने देश की न सिर्फ आजादी हासिल की, बल्कि उसे पूरे तौर पर आधुनिक यानी नये ढग का बना दिया—यहाँतक कि कोई पहचान नही सकता कि यह वही पुराना तुर्की है। उसने सुलतानियत, खिलाफत, स्त्रियो के परदे और बहुतेरे पुराने रिवाजो का खात्मा कर दिया है। सोवियट का नैतिक और व्यावहारिक समर्थन यानी अमली ताईद उसके लिए बडी मददगार साबित हुई। ब्रिटिश प्रभाव से छुटकारा पाने की अपनी कोशिशो में फारस को भी सोवियट से मदद मिली। वहाँ भी रिज़ाखाँ नामक एक मजबूत और ताकतवर आदमी उठ खड़ा हुआ, और वही अब बादशाह है। इसी अवधि या जमाने में अफगानिस्तान भी पूर्ण स्वतन्त्रता या मुकम्मल आजादी हासिल करने में कामयाब हुआ।

अरबस्तान को छोडकर और सब अरब देश अब भी विदेशी हुकूमत के नीचे है। अरबो की एक कर दिये जाने की माँग अभीतक पूरी नही की गई है। अरबस्तान का ज्यादातर हिस्सा सुलतान इब्नसऊद के शासन-तले स्वतन्त्र होगया है। कागज पर तो इराक भी स्वतन्त्र है, पर असल में वह ब्रिटेन के प्रभाव और नियत्रण में है। फिलस्तीन और ट्रासजोर्डन के छोटे राज्य ब्रिटिश शासनादेश में और सीरिया फ़्रांसीसी शासनादेश में है, यानी इन देशो में राष्ट्रसंघ के आदेश से ब्रिटेन और फ़्रांस का शासन है। सीरिया में फ़्रांसीसियो के खिलाफ एक जबरदस्त और बहादुराना बग़ावत हुई, और वह कुछ हदतक कामयाब भी हुई। मिस्र में भी ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ बलवे हुए और लम्बे अर्से तक आजादी की लडाई चलती रही। यह लड़ाई आज भी चल रही है, गोकि मिस्र स्वतन्त्र कहलाता है और ब्रिटेन के हाथ की कठपुतली एक सुलतान वहाँ बादशाहत करता है। उत्तर-अफरीका के सुदूर पश्चिम मोरक्को में भी अब्दुलकरीम के नेतृत्व में आजादी के लिए बडी बहादुराना लड़ाई हुई। उसने स्पेनवालो को निकाल बाहर करने में कामयाबी हासिल की, पर बाद में फ़्रांसीसियो की पूरी ताकत ने उसे कुचल दिया।

एशिया और अफरीका में होनेवाली आजादी की ये लड़ाइयाँ यह बताती है कि पूर्व के सुदूर देशो में कैसे एक ही वक़्त में नई भावना लोगो—स्त्री-पुरुषो—के मन पर असर डाल रही थी। इनके बीच दो देश ऊँचे खडे है, क्योकि उनका सारी दुनिया के लिए महत्त्व है। ये चीन और हिन्दुस्तान है। इन दोनो में से किसी एक में भी एकाएक कोई गहरा परिवर्तन होने से वह दुनिया की सारी बडी ताकतो की प्रणाली पर असर डालता है, दुनिया की राजनीति में उसका जबरदस्त नतीजा हुए बिना नहीं रह सकता। इस तरह हम देख सकते है कि चीन और हिंदुस्तान की आजादी की लडाई सिर्फ इन्ही देशो के बाशिन्दो की राष्ट्रीय या घरू लड़ाई नहीं है। चीन की

सफलता का मतलब एक ताकतवर राष्ट्र का निकलकर मैदान में आना है, जो ताक़तो के वर्तमान समतौल में बड़ा फर्क पैदा कर देगा और जिससे साम्राज्यवादी ताकतो के चीन के शोषण का अपनेआप खात्मा हो जायगा। इसी तरह हिन्दुस्तान की कामयाबी का मतलब एक ज़बरदस्त और महान् राष्ट्र का रंगमंच पर आना है और इससे तुरन्त ब्रिटिश साम्राज्य का ख़ातमा होजायगा।

पिछले दस वर्षों में चीन में बहुत-से उतार-चढ़ाव हुए है। काउ-मिन-ताग और चीनी साम्यवादियो में जो एका हुआ था वह टूट गया और तबसे चीन 'तूशन' और दूसरी तरह के लुटेरे सरदारो या सिपहसालारो का शिकार रहा है। विदेशी स्वार्थों और हितों ने बराबर उनकी मदद की है, क्योंकि वे चीन में गड़बडी कायम रखना चाहते है और इसीमें उनका फायदा है। पिछले दो वर्षों से तो जापान ने सचमुच चीन पर चढ़ाई ही करदी और उसके कई सूबो पर कब्ज़ा कर लिया है। यह अनियमित लड़ाई अभीतक चल रही है। इस बीच चीन के भीतर के कई प्रदेश साम्यवादी होगये हैं और उनमें एक तरह की सोवियट सरकार कायम हो गई है।

हिन्दुस्तान में पिछले चौदह वर्ष घटनाओ से भरे रहे हैं। इस जमाने में एक उग्र पर शान्तिपूर्ण राष्ट्रीयता उठी है। महायुद्ध के बाद जब बडे-बडे सुधारो की उम्मीदें लोगो के दिलो में उठ रही थीं, तब हमने पजाब में फ़ौजी कानून (मार्शललॉ) और जलियाँवाला बाग का वह भयानक कत्लेआम देखा। इसकी खीझ और तुर्की और खिलाफत के बारे में मुसलमानो के विरोध से बापू (गाधीजी) के नेतृत्व में १९२० से १९२२ तक का असहयोग-आन्दोलन पैदा हुआ। १९२० के बाद से बापू भारतीय राष्ट्रीयता के एकमात्र असन्दिग्ध नेता रहे है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। यह हिन्दुस्तान में गाधी-युग रहा है और उनके शान्तिपूर्ण विद्रोह के उपायो ने अपने नयेपन और सामर्थ्य (efficacy) से दुनिया का ध्यान आकर्षित किया है। बीच के विधायक कामो और तैयारी के कुछ वर्षो के बाद १९३० में फिर आज़ादी की लड़ाई शुरू हुई, जब काग्रेस ने साफ-साफ पूर्ण स्वतंत्रता या मुकम्मल आज़ादी का ध्येय अपनाया। तबसे हम लोग, बीच की चन्दरोज़ा सुलह के अलावा, सत्याग्रह की लडाई, जेलो का भरना और बहुत-सी दूसरी चीजें, जिन्हे तुम जानती हो, देखते रहे है। इस बीच ब्रिटिश नीति यह रही है कि छोटे-छोटे सुधार देकर अगर मुमकिन हो तो कुछ लोगो को अपनी तरफ मिला लिया जाय और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल दिया जाय। वह नीति अब भी चल रही है, लेकिन फिर भी हमारी लड़ाई असन्दिग्ध रूप से जारी है।

दो वर्ष पहले बरमा में भूखे किसानो की एक बडी बग़ावत हुई और बडी

बेरहमी के साथ कुचल दी गई। जावा और डचइडीज में भी बलवा हुआ। अखबारो से मालूम होता है कि स्याम में भी कुछ उथल-पुथल और तब्दीली हुई है और राजा के अधिकार सीमित कर दिये गये है। फ्रासीसी इण्डोचीन में भी राष्ट्रीयता जग रही है।

इस तरह हम देखते है कि सारे पूर्व में राष्ट्रीयता अपनी अभिव्यक्ति के लिए लड रही है और कई देशो में इसके साथ साम्यवाद का भी कुछ रग मिल गया है। इन दोनो यानी राष्ट्रीयता और साम्यवाद के बीच सिवा इसके कोई सामान्य या यकसाँ बात नही है कि दोनो साम्राज्यवाद से नफरत करते है। यूनियन के बाहर और भीतर के सब पूर्वी देशो के प्रति सोवियट रूस की बुद्धिमत्तापूर्ण और उदार नीति के कारण अ-साम्यवादी देशो में से भी कई उसके दोस्त बन गये है।

जैसा कि हम देख चुके है, आजादी और स्वतन्त्रता की तरफ हिन्दुस्तान के बढ़ने का मतलब ही ब्रिटिश साम्राज्य का खत्म होजाना है। इसमें शक नही कि अगर हिन्दुस्तान की इस आजादी की लड़ाई को छोड़ दें तो भी निश्चितरूप से ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट होता चला जा रहा है। 'एलिस इन वण्डरलैण्ड' नाम की किताब की चेशायर बिल्ली की तरह यह मिटता जा रहा है; पर मुस्कराहट बची हुई है और यह बहादुराना मुस्कराहट है। एक बडे राष्ट्र को गिरते हुए देखना बड़ा दुखदायी या करुणापूर्ण होता है। अपने जमाने में इग्लैण्ड महान् रहा है और उसकी पुरानी ताकत के सब जरिये एक-एक करके उससे कटते जा रहे है। इस वक्त वह अपनी जमा की हुई दौलत पर जी रहा है और यह दौलत इतनी काफी है कि कुछ दिनो तक यह खेल चल सकता है। अंग्रेजो के सामने जो बहुतेरी दिक्कते है उनका सामना करने की हिम्मत का उनमें अभाव नहीं है। साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड ऊपर से अपनी वही पुरानी टीम-टाम बनाये रखने की जबरदस्त कोशिश कर रहा है—उस बूढ़ी औरत की तरह जो कभी खूबसूरत थी पर अब उसे जवानी को पार किये बहुत दिन हो चुके है फिर भी वह पेण्ट और पाउडर की मदद से अपनेको खूबसूरत और नौजवान दिखाने की कोशिश करती है। पर इस शाही औरत के पतन के पीछे मजदूरो और उनका साथ देनेवाले बहुतेरे विद्वानो का एक दूसरा इंग्लैण्ड भी है और भविष्य इन्हीं लोगों का है।

हाल के इन वर्षो की एक मुख्य विशेषता स्त्रियो का बहुतेरे कानूनी, सामाजिक और परम्परागत बन्धनो से, जिनमें कि वे जकडी हुई थीं, छुटकारा है। पश्चिम में महायुद्ध ने इस बात में बडी मदद की। पूर्व में भी तुर्की से हिन्दुस्तान और चीन तक स्त्रियां जाग उठी है और राष्ट्रीय और सामाजिक कामो में बहादुरी के साथ हिस्सा ले रही है।

ऐसा यह युग है जिसमें हम रह रहे हैं। हर रोज परिवर्तन, महत्वपूर्ण घटना, राष्ट्रों के झगडे, पौण्ड और डालर के द्वन्द्वयुद्ध, सोवियट पर पूंजीपतियों का क्रोध और सोवियट का उनसे बदला, बढ़ती हुई ग़रीबी और लाचारी और श्रेणी-संघर्ष यानी मालदारों और ग़रीब श्रमिकों की कशमकश की ख़बर आती ही रहती है; और इन सबके ऊपर युद्ध की लगातार बढ़ती हुई काली छाया है।

यह इतिहास का एक उथल-पुथल का जमाना है और ऐसे वक्त में जिन्दा होना और अपना हिस्सा अदा करना—फिर चाहे वह हिस्सा देहरादून-जेल का एकान्त ही क्यों न हो—बडी अच्छी और खुशक़िस्मती की बात है।

: १५७ :

प्रजातंत्र के लिए आयर्लैण्ड की लड़ाई

२८ अप्रैल, १९३३

अब हम हाल के वर्षों की महत्वपूर्ण घटनाओं पर जरा तफ़सील के साथ ग़ौर करेंगे। मैं आयर्लैण्ड से शुरू करता हूँ। विश्व-इतिहास और विश्व-शक्तियों की दृष्टि से योरप के सबसे पश्चिम के इस छोटे-से देश का इस समय कोई ज्यादा महत्व नहीं है। पर यह बहादुर और दुर्दमनीय यानी किसी तरह न दबनेवाला देश है और ब्रिटिश साम्राज्य की सारी ताक़त इसकी आत्मा को कुचलने या इसे झुकाकर मातहती क़बूल कराने में कामयाब नहीं हुई है। इस वक्त यह भी ब्रिटिश साम्राज्य के विनाश में मदद देनेवाली एक चीज है।

आयर्लैण्ड के बारे में जो पिछला ख़त मैंने तुम्हे लिखा था उसमें मैंने होमरूल-बिल का जिक्र किया था। यह बिल ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने ठीक महायुद्ध शुरू होने से पहले पास हुआ था। अल्स्टर के प्रोटेस्टेण्ट नेताओं और इंग्लैण्ड के अनुदार दल ने इसका विरोध किया और इसके ख़िलाफ़ बाक़ायदा एक बग़ावत का संगठन किया गया। इसपर दक्षिणी आयर्लैण्ड के बाशिन्दों ने भी जरूरत आ पड़ने पर अल्स्टर से लड़ने के लिए अपने 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक' दल बनाये। मालूम पडता था कि आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध होने ही वाला है। इसी मौके पर महायुद्ध आगया और सबका ध्यान बेलजियम और उत्तर-फ्रांस की युद्ध भूमि की तरफ़ खिंच गया। पार्लमेण्ट के आयरिश नेता युद्ध में अपनी तरफ़ से मदद देने को तैयार होगये, पर उनका देश इस तरफ़ से उदासीन था और उसे युद्ध में मदद देने की कोई उत्सुकता न थी। इस बीच अल्स्टर के 'बाग़ियों' को ब्रिटिश सरकार में ऊँचे-ऊँचे ओहदे दिये गये और इससे आयर्लैण्ड वालों का असन्तोष और ज्यादा बढ़ गया।

आयर्लैंड में असन्तोष बढता गया और इसके साथ यह अनुभूति या एहसास भी पैदा हुआ कि इग्लैण्ड की लडाई में आयर्लैण्ड वालो की कुरबानी न की जाय। जब इग्लैण्ड की तरह आयर्लैंड में भी अनिवार्यरूप से फौज में शामिल होने का कानून (Conscription) बनाने का प्रस्ताव सामने आया (जिसके अनुसार सब स्वस्थ नौजवानो को फौज में शामिल होना पडता) तो सारा देश आग-बबूला होगया और जबरदस्त विरोध किया गया। यहाँ-तक कि जरूरत पडने पर आयर्लैण्ड ने जोर-जबरदस्ती से भी उसे रोकने की तैयारी की।

१९१६ के ईस्टर-सप्ताह में डबलिन में एक बगावत होगई और आयरिश प्रजातंत्र का ऐलान कर दिया गया। चन्द दिनो की लड़ाई के बाद अग्रेजो ने इसे कुचल दिया और इस चन्दरोजा बगावत में हिस्सा लेने के जुर्म में फौजी कानून के मुताबिक, बाद में, आयर्लैण्ड के कुछ सबसे बहादुर और अच्छे नौजवानो को गोली मार दी गई। यह बगावत, जो 'ईस्टर-विद्रोह' के नाम से मशहूर है, अग्रेजो को चुनौती देने का कोई गभीर प्रयत्न नही कहा जा सकता। असल में यह दुनिया के सामने यह दिखा देने की एक बहादुराना कोशिश थी कि अब भी आयर्लैंड प्रजातंत्र का सपना देखता है और अपनी इच्छा से ब्रिटेन की मातहती कबूल करने से इन्कार करता है। इस बगावत के पीछे जो बहादुर नौजवान थे उन्होने दुनिया के सामने यह बात जाहिर करने के लिए जान-बूझकर अपनेको कुरबान कर दिया। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार की कोशिश में कामयाबी न होगी, पर उम्मीद करते थे कि उनकी कुरबानी बाद में रंग लायगी और आजादी को नजदीक लायगी।

इस बगावत के समय एक आयरिश जर्मनी से आयर्लैण्ड में अस्त्रशस्त्र लाने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया। यह आदमी सर रोजर केसमेण्ट था, जो बहुत दिनो से ब्रिटेन के राजदूत-विभाग में था। लन्दन में केसमेण्ट पर मुकदमा चला और उसे फाँसी की सजा दी गई। अदालत में मुजरिम के कठघरे में खडे हुए उसने अपना जो बयान पढा, वह बड़ा ही जोशीला और हृदय-स्पर्शी था और उसमें आयरिश आत्मा की उग्र देशभक्ति तड़प रही थी।

बगावत तो असफल हुई, पर उसकी नाकामयाबी में ही उसकी विजय थी। इसके बाद ब्रिटिश सरकार की तरफ से जो दमन शुरू हुआ उसने और खासकर नौजवान नेताओ के गिरोह को गोली मार दिये जाने के काम ने आयरिश लोगो पर बड़ा गहरा असर डाला। ऊपर से आयर्लैण्ड शान्त दीखता था, पर अन्दर-ही-अन्दर क्रोध की आग भड़क रही थी और बहुत जल्द वह 'सिनफीन' की शक्ल में सामने आई। सिनफीन-भावना बडी तेजी से फैली। शुरू में इसे बहुत कम कामयाबी हुई थी, पर अब यह जंगल की आग की तरह फैल गई।

महायुद्ध ख़त्म होने के बाद सारे ब्रिटिश टापू में लंदन की पार्लमेण्ट के लिए चुनाव हुए। आयर्लैण्ड में सिनफीन-दलवालो ने ज्यादातर स्थानो (सीटो) पर कब्ज़ा कर लिया और पुराने नेशनलिस्टो को, जो अंग्रेज़ो से कुछ सहयोग के तरफदार थे, निकाल बाहर किया। पर सिनफीनो ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठको में शामिल होने के लिए अपनेको नहीं चुनवाया था। उनकी नीति बिलकुल जुदा थी; वे असहयोग और बायकाट यानी बहिष्कार में विश्वास रखते थे। इसलिए ये चुने हुए सिनफीनर लंदन की पार्लमेण्ट से दूर ही रहे और उसकी जगह १९१९ में डबलिन में उन्होंने अपनी प्रजातत्र की असेम्वली बनाली। उन्होने आयरिश प्रजातत्र का ऐलान कर दिया और अपनी असेम्वली या धारा-सभा का नाम 'डेल आयरीन' रक्खा। समझा जाता था कि यह सारे आयर्लैण्ड के लिए है, जिसमें अल्सटर भी शामिल था, पर स्वभावतः अल्सटरवाले इससे अलग रहे। उनका कैथलिक आयर्लैण्ड से कोई प्रेम न था। 'डेल आयरीन' ने डि वेलरा को अध्यक्ष या राष्ट्रपति और ग्रिफिथ्स को उपाध्यक्ष चुना। उस वक्त नये प्रजातंत्र के ये दोनो अध्यक्ष ब्रिटिश जेलो में थे।

इसके बाद एक असाधारण लड़ाई शुरू हुई। यह लडाई आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच होनेवाली पिछली सब लड़ाइयो से बिलकुल नये और जुदा तरीके की थी। थोडे-से स्त्री-पुरुशो ने, जिनके साथ उनके देशवालो की हमदर्दी थी, जबरदस्त दिक्कतो के बीच यह लड़ाई लडी। एक बहुत बडा और सगठित साम्राज्य उनके ख़िलाफ था। सिनफीन आन्दोलन ऐसा असहयोग था जिसमें हिंसा की पुट थी। इन लोगो ने अंग्रेज़ी संस्थाओ के बायकाट का प्रचार किया और जहाँ मुमकिन था अपनी सस्थायें खोलीं। मामूली कानूनी अदालतो की जगह इन्होने पंचायती अदालते (Arbitration Courts) कायम कीं। गाँवो में पुलिस चौकियो के खिलाफ छापा मारने की लडाई (Guerilla Warfare) होती रही। सिनफीन कैदियो ने जेलो में भूख-हड़ताल करके ब्रिटिश सरकार को बहुत तग किया। सबसे मशहूर भूख-हड़ताल, जिसने आयर्लैण्ड को हिला दिया, कार्क के लार्डमेयर टेरेन्स मैक्स्विनी की थी। जब वह जेल में रक्खा गया तो उसने ऐलान किया कि वह जिन्दा या मुरदा होकर जेल से बाहर निकलेगा और खाना छोड़ दिया। ७५ दि। के अनशन के बाद उसकी मृत्यु हुई और उसका मुरदा शरीर जेल से बाहर लाया गया।

माइकेल कालिन्स सिनफीन बगावत का संगठन करनेवालो में एक मशहूर नेता था। सिनफीन चालो से आयर्लैण्ड में ब्रिटिश सरकार काफी हदतक अव्यवस्थित और लगडी होगई और गांववाले ज़िलों में तो उसकी हस्ती भी नाम को ही थी। धीरे-धीरे दोनो तरफ से हिंसा का सहारा लिया जाने लगा और कई बार बदला

लिया गया। आयर्लैण्ड में भेजने के लिए एक खास ब्रिटिश फौजी दल भरती किया गया। इन लोगो को ऊँची तनखाह दी जाती थी और इनमें महायुद्ध की फौजो से वर्खास्त किये हुए खूँखार लोग ही ज्यादा थे। यह फौज अपनी वर्दी के रग के कारण 'ब्लैक एण्ड टैन' (काली और पीली-भूरी) के नाम से मशहूर हुई। इस फौज ने लोगो को वुरी तरह कत्ल करना शुरू किया। ये सिपाही अकसर लोगो को सोते हुए ही गोली से मार देते थे। इस तरह का दमन इसलिए किया जाता था कि सिन-फीन झुककर मातहती कवूल कर लेगे। पर उन्होने मातहती कवूल करने से इन्कार किया और छापे की लडाई जारी रक्खी। इसपर 'ब्लैक और टैन' फौज ने भयकर वदला लेना शुरू किया। उसके सैनिक गाँव-के-गाँव और शहरो के वडे-वडे हिस्से जलाकर खाक कर देते। आयर्लैण्ड एक ऐसा मैदान वन गया जिसमें दोनो दल हिसा और वरवादी में एक-दूसरे को मात देने की कोशिश करने लगे। एक दल के पीछे एक साम्राज्य की संगठित शक्ति थी और दूसरे के पीछे मुट्ठीभर आदमियो का फौलादी निश्चय था। १९१९ से अक्तूबर १९२१ तक, दो वर्षो तक, इंग्लैण्ड-आयर्लैण्ड के वीच यह लड़ाई चलती रही।

इस वीच, १९२० ई० में, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने जल्दी-जल्दी एक नया होमरूल-विल पास किया। पुराना विधान, जो महायुद्ध शुरू होने के कुछ ही दिन पहले पास हुआ था और जिसने अल्सटर में करीब-करीब वगावत खडी करदी थी, छोड़ दिया गया। नये विल ने आयर्लैण्ड को दो हिस्सो में बॉट दिया : अल्सटर या उत्तरी आयर्लैण्ड और वाकी देश। इनके लिए अलग-अलग पार्लमेण्टो की व्यवस्था हुई। आयर्लैण्ड एक छोटा देश है और उसे दो हिस्सो में बॉट देनें से वे हिस्से वहुत छोटे होगये। उत्तर में अल्सटर में नई पार्लमेण्ट वन गई, पर दक्षिण या वाकी आयर्लैण्ड में किसीने होमरूल-कानून की तरफ ध्यान न दिया। वहॉके लोग तो सिनफीन वगावत में ही फँसे हुए थे।

अक्तूबर १९२१ ई० में ब्रिटिश मिनिस्टर लायड जार्ज ने सिनफीन नेताओ से थोडे दिनो के लिए लडाई वन्द करने की अपील की, ताकि समझौते की संभावना के वारे में वातचीत की जा सके। यह वात मान ली गई। इसमें कोई शुवहा नहीं कि अगर ब्रिटेन चाहता तो अपने महान् साधनो से सारे देश को वीरान कर देता और अन्त में सिनफीन-आन्दोलन को कुचल देता; पर अपनी इस दमन-नीति के कारण वह अमेरिका और दूसरे मुल्को में वहुत वदनाम होता जा रहा था। अमेरिका में रहने-वाले आयरिश लोगो और ब्रिटिश उपनिवेशो से आयर्लैण्ड में आन्दोलन और लड़ाई जारी रखने के लिए खूव धन आ रहा था। पर इसके साथ ही सिनफ़ीनर भी थक गये थे; उनपर वड़ा जवरदस्त वोझ पड़ रहा था।

इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के प्रतिनिधि लन्दन में मिले और दो महीने के बहस-मुबाहसे के बाद दिसम्बर १९२१ ई० में एक अस्थायी या काम-चलाऊ समझौते पर दस्तखत हुए। इसने आयरिश प्रजातन्त्र को तो मंजूर नहीं किया, पर आयर्लैण्ड को एक-दो बातो के अलावा इतनी आजादी दी जितनी उस समय तक किसी भी उपनिवेश को हासिल नहीं थी। इतने पर भी आयरिश प्रतिनिधि इसे मंजूर करने को तैयार न थे और उन्होने इसे तब मंजूर किया जब इंग्लैण्ड ने साफ़-साफ़ धमकी दी कि यदि इसे मंजूर न किया जायगा तो खौफ़नाक लड़ाई छिड़ जायगी।

आयर्लैण्ड में इस सुलह को लेकर बडी चख-चख मची। कुछ इसके पक्ष में थे, दूसरे इसके सख्त ख़िलाफ थे। इस सवाल पर सिनफीन दल के दो टुकडे होगये। आख़िरकार डेल आयरीन (आयर्लैण्ड की पार्लमेण्ट) ने इस सन्धि को मंजूर किया और आयरिश फ़्री स्टेट का, जिसे आयर्लैण्ड में सरकारी तौर पर सावर स्टेट आयरीन (Saorstat Eireann) कहा जाता था, आविर्भाव हुआ। पर इससे सिनफीन-दल के पुराने कार्यकर्ताओ में गृह-युद्ध छिड़ गया। 'डेल आयरीन' के प्रेसीडेंट डि वेलरा इंग्लैण्ड के साथ संधि करने के खिलाफ थे। और भी बहुत-से लोग उनके साथ थे। ग्रिफिथ्स, माइकेल कालिन्स और दूसरे लोग उनके पक्ष में थे। कितने ही दिनो तक देश में गृह-युद्ध मचा रहा। जो लोग सन्धि और फ़्रीस्टेट के पक्ष में थे उनको विरोधियो को दबाने में ब्रिटिश सरकार ने भी मदद दी। प्रजातन्त्रवादियो ने माइकेल कालिन्स को गोली मार दी, इसी तरह बहुतेरे प्रजातन्त्रवादी नेताओ को फ़्रीस्टेटवालो ने भी गोली से मार दिया। जेल प्रजातन्त्रवादियो से भरे हुए थे। यह सब गृह-युद्ध और आपसी नफ़रत आयर्लैण्ड की आजादी की बहादुराना लड़ाई में एक दुखपूर्ण वृद्धि थी। अंग्रेजी नीति की विजय हुई। जहाँ उसकी फौजी ताकत बेकाम साबित हुई थी वहाँ अब एक आयरिश अपने ही भाई दूसरे आयरिश से लड रहा था और कुछ हद तक इंग्लैंड चुपचाप एक दल की मदद कर रहा था और इस नये झगडे की तरफ सन्तोष के साथ देख रहा था।

धीरे-धीरे गृह-युद्ध खत्म होगया, पर प्रजातन्त्रवादी फ़्रीस्टेट को मंजूर करने को तैयार न हुए। वे प्रजातन्त्रवादी भी जो डेल यानी फ्रीस्टेट की पार्लमेण्ट में चुन लिये गये थे वहाँ जाने को तैयार न थे, क्योंकि वे वफादारी की शपथ, जिसमें बादशाह का जिक्र आता था, लेने से इन्कार करते थे। इसलिए डि वेलरा और उनका दल 'डेल' से अलग रहा और फ्रीस्टेट दल ने फ्रीस्टेट के प्रेसीडेंट कासग्रेव के नेतृत्व में प्रजातन्त्रवादियो को कई तरह से कुचलने की कोशिश की।

आयरिश फ़्रीस्टेट के निर्माण से ब्रिटेन की साम्राज्य-राजनीति (Imperial

politics) में बहुत बड़े-बड़े परिणाम निकले। आयरिश सन्धि ने आयर्लैण्ड को कानूनन उससे कहीं ज्यादा स्वतन्त्रता दे दी थी जितनी कि उस वक्त और ब्रिटिश उपनिवेशो को हासिल थी। ज्योंही आयर्लैण्ड को यह स्वतन्त्रता मिली, दूसरे उपनिवेशो को भी अपनेआप वह स्वतन्त्रता मिल गई और औपनिवेशिक मर्यादा के ख़याल में तब्दीली हुई। इग्लैण्ड और उपनिवेशो के बीच कई इम्पीरियल कान्फ्रेंसे या साम्राज्य-परिषदें हुईं और उपनिवेशो में ज्यादा स्वतन्त्रता की दिशा में बढने की कितनी ही तब्दीलियाँ हुईं। आयर्लैण्ड अपने दृढ प्रजातन्त्रवादी आन्दोलन के साथ पूर्ण स्वतन्त्रता की दिशा में जा रहा था। यही हालत दक्षिण अफरीका की थी जहाँ कि बोअर लोगो का बहुमत था। इस तरह उपनिवेशो की स्थिति बदलती और सुधरती जा रही थी—यहाँतक कि उनको ब्रिटिश कामनवेल्थ ऑफ नेशन्स (ब्रिटिश राष्ट्रसघ) में इग्लैण्ड के साथ भाईचारे या एक तरह की बराबरी का दर्जा मिल गया। सुनने में यह अच्छा लगता है और इसमें शुबहा नही कि इग्लैण्ड की बराबरी के राजनैतिक दर्जे की तरफ यह प्रगति है, पर यह बराबरी व्यावहारिक या अमली की बनिस्बत सैद्धान्तिक ही ज्यादा है। आर्थिक दृष्टि से उपनिवेश ब्रिटेन और ब्रिटिश पूजी के साथ बँधे हुए है और उनपर आर्थिक दबाव डालने के कई तरीके है। इसके साथ ज्यों-ज्यो उपनिवेशो का विकास होता जाता है त्यो-त्यो उनके आर्थिक हित इग्लैण्ड के आर्थिक हितो से टकराते जाते है। इस तरह साम्राज्य धीरे-धीरे कमजोर होता जाता है। साम्राज्य के फट और टूट जाने के खौफ से ही इग्लैण्ड ने बन्धनो को ढीला करना और उपनिवेशो की राजनैतिक बराबरी का उसूल मजूर किया। मौके पर इतना आगे बढ़ जाने से उसने बहुत कुछ बचा लिया। पर यह ज्यादा दिन तक काम नही दे सकता। उपनिवेशो को इग्लैण्ड से अलग रखनेवाली शक्तियाँ अपना काम कर रही है; मुख्यतः ये आर्थिक शक्तियां है और ये शक्तियाँ बराबर साम्राज्य को कमजोर कर रही है। इसी कारण और इग्लैण्ड के निश्चित पतन के कारण ही मैंने तुमको ब्रिटिश साम्राज्य के नष्ट हो जाने की बात लिखी थी। मगर उपनिवेशो के लिए इग्लैण्ड के साथ ज्यादा दिन तक बँधे रहना मुश्किल है—हालांकि उनकी परम्परायें और सस्कृति एक है और जाति (Race) भी एक है; तब फिर हिन्दुस्तान के लिए उसके साथ बँधे रहना कितना मुश्किल होगा ? क्योकि हिन्दुस्तान के आर्थिक हितो का तो इग्लैण्ड के आर्थिक हितो से सीधा सघर्ष है और इनमें से एक को दूसरे के सामने झुकना ही पडेगा। इस तरह स्वतन्त्र हिन्दुस्तान के लिए इस बात की सभावना नही की जा सकती कि वह इस सम्बन्ध को मंजूर करेगा; क्योकि इसका लाजिमी नतीजा अपनी आर्थिक नीति को ब्रिटेन के कब्जे में कर देना होगा।

इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के प्रतिनिधि लन्दन में मिले और दो महीने के बहस-मुबाहसे के बाद दिसम्बर १९२१ ई० में एक अस्थायी या काम-चलाऊ समझौते पर दस्तखत हुए। इसने आयरिश प्रजातन्त्र को तो मंजूर नहीं किया, पर आयर्लैण्ड को एक-दो बातो के अलावा इतनी आजादी दी जितनी उस समय तक किसी भी उपनिवेश को हासिल नही थी। इतने पर भी आयरिश प्रतिनिधि इसे मंजूर करने को तैयार न थे और उन्होने इसे तब मंजूर किया जब इंग्लैण्ड ने साफ-साफ धमकी दी कि यदि इसे मंजूर न किया जायगा तो खौफनाक लड़ाई छिड़ जायगी।

आयर्लैण्ड में इस सुलह को लेकर बडी चख-चख मची। कुछ इसके पक्ष में थे, दूसरे इसके सख्त खिलाफ थे। इस सवाल पर सिनफीन दल के दो टुकडे होगये। आखिरकार डेल आयरीन (आयर्लैण्ड की पार्लमेण्ट) ने इस सन्धि को मजूर किया और आयरिश फ्री स्टेट का, जिसे आयर्लैण्ड में सरकारी तौर पर सावर स्टेट आयरीन (Saorstat Eireann) कहा जाता था, आविर्भाव हुआ। पर इससे सिनफीन-दल के पुराने कार्यकर्ताओ में गृह-युद्ध छिड़ गया। 'डेल आयरीन' के प्रेसीडेंट डि वेलरा इंग्लैण्ड के साथ सधि करने के खिलाफ थे। और भी वहुत-से लोग उनके साथ थे। ग्रिफिथ्स, माइकेल कालिन्स और दूसरे लोग उनके पक्ष में थे। कितने ही दिनो तक देश में गृह-युद्ध मचा रहा। जो लोग सन्धि और फ्रीस्टेट के पक्ष में थे उनको विरोधियो को दवाने में ब्रिटिश सरकार ने भी मदद दी। प्रजातन्त्रवादियो ने माइकेल कालिन्स को गोली मार दी, इसी तरह वहुतेरे प्रजातन्त्रवादी नेताओ को फ्रीस्टेटवालो ने भी गोली से मार दिया। जेल प्रजातन्त्रवादियो से भरे हुए थे। यह सव गृह-युद्ध और आपसी नफरत आयर्लैण्ड की आजादी की वहादुराना लड़ाई में एक दुःखपूर्ण वृद्धि थी। अंग्रेजी नीति की विजय हुई। जहाँ उसकी फौजी ताकत वेकाम साबित हुई थी वहाँ अव एक आयरिश अपने ही भाई दूसरे आयरिश से लड रहा था और कुछ हद तक इंग्लैंड चुपचाप एक दल की मदद कर रहा था और इस नये झगडे की तरफ सन्तोष के साथ देख रहा था।

धीरे-धीरे गृह-युद्ध खत्म होगया, पर प्रजातन्त्रवादी फ्रीस्टेट को मंजूर करने को तैयार न हुए। वे प्रजातन्त्रवादी भी जो डेल यानी फ्रीस्टेट की पार्लमेण्ट में चुन लिये गये थे वहाँ जाने को तैयार न थे, क्योंकि वे वफादारी की शपथ, जिसमें वादशाह का जिक्र आता था, लेने मे इन्कार करते थे। इसलिए डि वेलरा और उनका दल 'डेल' से अलग रहा और फ्रीस्टेट दल ने फ्रीस्टेट के प्रेसीडेंट कासग्रेव के नेतृत्व में प्रजातन्त्रवादियो को कई तरफ से कुचलने की कोशिश की।

आयरिश फ्रीस्टेट के निर्माण ने ब्रिटेन की साम्राज्य-राजनीति (Imperial

दूसरी बात यह हुई कि ब्रिटिश सरकार ने सालाना भत्ता बन्द कर देने पर और भी जोरदार विरोध किया और कहा कि यह समझौते और जिम्मेदारी को तोड़ना और जबरदस्त वादाखिलाफी है। डि वेलरा ने इससे इन्कार कर दिया और इसपर कानूनी वहस-मुबाहसा हुआ, जिससे हमें कोई सरोकार नही है। जब इस तरह का कानूनी झगडा खडा हो तो साफ तरीका यह है कि निष्पक्ष पचायत से मामला तय कर लिया जाय। दोनो दलो ने पचायती फैसले के लिए रजामन्दी जाहिर की; पर एक अजीव दिक्कत पैदा हुई। ब्रिटिश सरकार ने कहा कि पचायती बोर्ड (Arbitration Tribuual) में साम्राज्य के अन्दर के ही आदमी होने चाहिएँ। डि वेलरा ने ऐसे किसी बन्धन को मानने से इन्कार कर दिया; उसने हेग की अन्तर्राष्ट्रीय अदालत (Permanent Court of Justic) या किसी दूसरी पंचायत का, जिसमें विदेशी रक्खे जा सके, प्रस्ताव किया। उसने साफ कह दिया कि साम्राज्य वालो पर हमारा विश्वास नही है। इस प्रस्ताव को ब्रिटिश सरकार ने नामंजूर कर दिया। यह एक वाहियात-सी बात मालूम होती है कि दो सरकारे पचायत के आदमियो के चुनाव के छोटे-से मसले पर झगड़ बैठें। पर इसके पीछे और भी बहुत-कुछ था जो आँखो से नही दिखाई देता। एक तरफ प्रजातंत्र की मजिल तक पहुँचने का आयरिश लोगो का दृढ़ निश्चय था और दूसरी तरफ उसे रोकने का ब्रिटेन का पक्का इरादा था।

जब सालाना किस्त देने का वक्त आया और वह नही दी गई तो इंग्लैण्ड नें आयर्लैण्ड के खिलाफ एक नई लडाई छेड़ दी। यह आर्थिक युद्ध था। इग्लैण्ड में आनेवाले आयरिश माल पर इस खयाल से गहरी चुगी लगा दी गई कि वह आयरिश किसान, जिसका माल इग्लैण्ड आता है, बरबाद होजाय और आयरिश सरकार को समझौता करने के लिए मजबूर करे। जैसी कि इंग्लैण्ड की आदत है, उसने दूसरे पक्ष को मजबूर करने के लिए अपना सोटा चलाया, पर ऐसे तरीके अब उतने फायदेमन्द नही रहे जितने कि पहले थे। आयरिश सरकार ने ब्रिटेन से आयर्लैण्ड में आनेवाले माल पर भारी चुंगी लगाकर इसका बदला लिया। पिछले साल से यह आर्थिक युद्ध जारी है और किसानो और दोनो तरफ के उद्योग-धन्धो को इससे बड़ा नुकसान पहुँचा है। लेकिन अपमानित राष्ट्रीयता और शान दोनो पार्टियो में से किसीके भी झुकने में बाधक है।

कुछ महीने हुए, १९३३ के शुरू में, आयर्लैण्ड में नये चुनाव हुए थे जिससे ब्रिटिश सरकार को और झेंपना पड़ा। डि वेलरा इस बार पहले से भी ज्यादा कामयाब हुआ और उसके पक्ष में पहले से कहीं ज्यादा बहुमत था। इससे यह जाहिर होगया कि दवाव डालने की ब्रिटिश नीति कामयाव नहीं हुई। मजेदार बात तो यह है कि एक तरफ तो ब्रिटिश सरकार कर्ज न चुकाने की वजह से आयरिश लोगो को बुरा-

इस तरह ब्रिटिश कामनवेल्थ या आज़ाद उपनिवेशों का, गरीब और गुलाम हिन्दुस्तान का नही, मतलब राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र इकाइयाँ है। पर ये इकाइयाँ भी अभीतक ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्य के मातहत है। आयरिश संधि का मतलब ब्रिटिश पूँजी द्वारा, कुछ हद तक, आयर्लैण्ड के शोषण का जारी रहना था और यही असल में प्रजातंत्र के लिए आन्दोलन करने की वजह थी। डि वेलरा और प्रजातंत्रवादी ग़रीब किसानो, नीचे के मध्यमवर्ग और ग़रीब बुद्धिशालियो के प्रतिनिधि थे; कासग्रेव और फ्रीस्टेट दलवाले मालदार मध्यमवर्ग और मालदार किसानो के प्रतिनिधि थे और इन दोनो पिछले वर्गों की ब्रिटिश व्यापार में दिलचस्पी थी और ब्रिटिश पूँजी की उनमें दिलचस्पी थी।

कुछ वक़्त के वाद डि वेलरा ने अपनी लड़ाई का पैंतरा वदल दिया। वह और उनका दल 'डेल आयरिन' में चुनकर गये और वफादारी की शपथ भी ली। शपथ लेने के साथ उन्होने इसका भी ऐलान कर दिया कि ऐसा हम महज़ ज़ाब्ते की खातिर कर रहे है और ज्योही हमारा वहुमत होजायगा, हम इस शपथ को निकाल वाहर करेंगे। दूसरे चुनाव में, १९३२ के शुरू में, डि वेलरा का फ्रीस्टेट पार्लमेण्ट में वहुमत होगया और तुरन्त उसने अपने कार्यक्रम के मुताविक काम शुरू कर दिया। प्रजातत्र क़ायम करने के लिए लड़ाई तो जारी रहनी ही थी, पर अव लड़ाई का तरीक़ा वदल गया था। डि वेलरा ने वफादारी की शपथ को तोड देने का प्रस्ताव किया और ब्रिटिश सरकार को यह भी सूचित कर दिया कि अव हम ज़मीन का कोई सालाना भत्ता (Land annuity) नही देंगे। मै समझता हूँ कि मै तुमको इस भत्ते के वारे में वता चुका हूँ। जव आयर्लैण्ड में वडे-वडे ज़मींदारो से ज़मीन ली गई तो उनको अच्छा-खासा मुआवज़ा दिया गया और बाद में थोड़ा-थोडा करके यह रकम उन किसानो से ली जाती थी जिन्होने कि ज़मीन ली थी। एक पीढी से यह सिलसिला चल रहा था और फिर भी जारी था। डि वेलरा ने कहा कि अव हम कोई रक़म न देंगे।

तुरन्त इसपर इग्लैण्ड में एक वावेला मच गया और ब्रिटिश सरकार से संघर्ष हुआ। पहले उसने यह कहकर विरोध किया कि डि वेलरा का वफादारी की शपथ को ख़त्म कर देना १९२१ की आयरिश सन्धि के ख़िलाफ है। डि वेलरा ने कहा कि अगर आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड वरावर के देश (Sister Nations) है, जैसा कि उपनिवेशो के वारे में कहा जाता है, और अगर हरेक को अपना विधान वदलने की आज़ादी है, तव ज़ाहिर है कि आयर्लैण्ड अपने विधान में वफादारी की शपथ रख सकता या उसे निकाल दे सकता है और इस तरह इसमें १९२१ की सन्धि का अव कोई सवाल नहीं उठता। अगर आयर्लैण्ड को यह अधिकार नहीं है तो वह उस हद तक इंग्लैण्ड के अधीन है।

अपने काम पर वापस आजाना चाहिए और बीती घटनाओ के दीख पड़नेवाले खाके को तुम्हारे सामने पढने के लिए रखना चाहिए।

पिछले खत में मैंने प्रजातंत्र के लिए आयलैंण्ड की बहादुराना लडाई की चर्चा की थी। आयलैंण्ड और तुर्की में कोई खास ताल्लुक तो नहीं है, पर आज मेरे दिमाग में नये तुर्की का खयाल आगया है, इसलिए मैं उसीके बारे में तुम्हे लिखने जा रहा हूँ। आयलैंण्ड की तरह इसने भी जबरदस्त दिक्कतो के बीच अपनी आजादी की लड़ाई लडी है। हम देख ही चुके है कि महायुद्ध के फल-स्वरूप तीन साम्राज्य—रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी—खत्म होगये। तुर्की में हम चौथे बडे साम्राज्य—उस्मानी साम्राज्य का विनाश देखते हैं। उस्मान और उसके वारिसो ने ६०० वर्ष पहले इस साम्राज्य की नीव डाली और इसे बनाया था। इस तरह उसका खानदान रूस के रोमनोफो या प्रशा और जर्मनी के हायनजालर्नो से कहीं पुराना था। वह तेरहवी सदी के शुरू-शुरू के हैप्सबर्गो का समकालिक था और ये दोनो प्राचीन राजवंश एकसाथ मिट गये।

महायुद्ध में जर्मनी के घुटना टेकने के कुछ दिनो पहले ही तुर्की पस्त होगया था और उसने मित्र-राष्ट्रो के साथ एक अलग आर्मिस्टीज (युद्ध बन्द करने की सुलह) की थी। देश करीब-करीब तहस-नहस हो चुका था, साम्राज्य खत्म होगया था और सरकार की मशीनरी या व्यवस्था टूट चुकी थी। इराक और अरब देश अलग हो चुके थे और ज्यादातर मित्र-राष्ट्रो के मातहत थे। खुद कुस्तुनतुनिया पर मित्र-राष्ट्रो का नियंत्रण था और इस बडे शहर के सामने ही बास्फोरस में, विजयी शक्ति के अभिमान से भरे हुए निशान की तरह ब्रिटिश लड़ाकू जहाज लंगर डाले हुए खडे थे। हर जगह अँग्रेजी, फ़्रांसीसी और इटालियन फ़ौजें भरी थीं और चारो तरफ ब्रिटिश खुफिया विभाग का जाल बिछा हुआ था। तुर्की किले तोड़कर जमीन पर गिराये जा रहे थे और जो तुर्की फौज बची थी उससे हथियार रखवा लिये जा रहे थे। अनवरपाशा, तलाअतबेग और दूसरे नौजवान तुर्की नेता दूसरे मुल्को को भाग गये थे। सुलतान की गद्दी पर कठपुतली-सा खलीफा वहीदउद्दीन बैठा हुआ था, जो इस वीरानी में अपनेको बचाना चाहता था, फिर चाहे उसके देश का कुछ भी हो। कठपुतली-सा दूसरा आदमी, जिसे ब्रिटिश सरकार चाहती थी, वजीरआजम या प्रधान मन्त्री बनाया गया और तुर्की पार्लमेण्ट तोड़ दी गई।

१९१८ के अखीर और १९१९ के शुरू में तुर्की की यह हालत थी। तुर्क थक-कर बिलकुल बेदम हो रहे थे और उनकी 'स्पिरिट' कुचल दी गई थी। याद रक्खो कि उनको कैसी भयकर कठिनाइयो का सामना करना पड़ा था। महायुद्ध के इन चार

भला कहती थीं; पर दूसरी तरफ खुद अमेरिका को कर्ज चुकाना नहीं चाहती थी।

इस वक्त डि वेलरा आयरिश सरकार का प्रधान है और वह अपने देश को क़दम-क़दम प्रजातंत्र की तरफ लेजा रहा है। वफादारी की शपथ ख़तम हो चुकी है; सालाना किस्ते बिलकुल बन्द करदी गई है; पुराना गवर्नर-जनरल भी चला गया और डि वेलरा ने अपने दल के एक सदस्य को इस ओहदे पर, जिसका अब कोई महत्व नहीं है, नियुक्त किया है। प्रजातंत्र कायम करने की लड़ाई चल ही रही है, पर अब तरीके बदल गये है और सदियो पुराना इंग्लैण्ड-आयर्लैण्ड का झगड़ा जारी है और आज यह एक आर्थिक युद्ध की शक्ल में बदल गया है।

आयर्लैण्ड जल्द ही प्रजातंत्र हो सकता है। पर रास्ते में एक बडी दिक्कत है। डि वेलरा और उसका दल चाहता है कि सारा आयर्लैण्ड एक संयुक्त आयर्लैण्ड हो और सारे देश का एक प्रजातंत्र, एक केन्द्रीय सरकार हो। इसमें वह अल्सटर को भी शामिल करना चाहता है। आयर्लैण्ड इतना छोटा है कि उसका दो हिस्सो में बँट जाना अच्छा नहीं। डि वेलरा के सामने यह बड़ा जबरदस्त सवाल है कि अल्सटर को बाकी आयर्लैण्ड में मिलजाने को कैसे राजी किया जाय। जोर-जबरदस्ती से यह हो नहीं सकता। १९१४ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने जबरदस्ती दोनो को मिलाना चाहा था तो वह कोशिश बगावत में जाकर ख़त्म हुई और फ़्रीस्टेट अल्सटर पर जबदरस्ती नहीं कर सकता, न ऐसा करने का उसका खयाल ही है। डि वेलरा की उम्मीद है कि वह अल्सटर की सदिच्छायें यानी दोस्ती हासिल कर सकेगा और यो दोनो में एका हो जायगा। इसमें आशावाद ही ज्यादा है और असलियत कम है, क्योकि प्रोटेस्टेण्ट अल्सटर का अब भी कैथलिक आयर्लैण्ड के प्रति जबरदस्त अविश्वास है। हाँ, दोनो का एका तब हो सकता है जब देश के दोनो हिस्सो की सरकारो में मजदूर वर्ग की प्रधानता होजाय, क्योकि उनमें कोई धार्मिक झगडा नहीं होगा।

: १५८ :

नवीन तुर्की का उत्थान

७ मई, १९३३

मैंने कई दिनो से तुम्हे कोई ख़त नहीं लिखा है। और बातो ने मेरा ध्यान खींच लिया था और मेरी ज़िन्दगी के सीधे सिलसिले में खलल पड़ गया था। बापू फिर अनशन करने जा रहे हैं--एक लम्बा और भयकर अनशन, और मेरा मन उड-उड़कर यरवडा-जेल को जाता है और मैं भविष्य के अन्धकार को भेदकर देखने की कोशिश करता हूँ। पर उनसे मुझे यहाँ देहरादून-जेल में कोई मदद नहीं मिलती, इसलिए मुझे

वह इस नियुक्ति पर उछल पड़ा और तुरन्त अनातोलिया के लिए रवाना होगया। यह अच्छा ही हुआ कि वह तुरन्त चला गया, क्योंकि उसके जाने के चन्द ही घण्टे बाद सुलतान ने अपना विचार बदल दिया था। एकाएक कमाल का खौफ़ उसपर सवार होगया और उसने आधी रात के वक़्त कमाल को रोकने के लिए अंग्रेजो के पास सन्देश भेजा। पर तबतक चिड़िया उड़ गई थी।

कमालपाशा और मुट्ठीभर दूसरे तुर्कों ने अनातोलिया में राष्ट्रीय प्रतिरोध यानी कौमी मुखालफ़त का सगठन करना शुरू किया। शुरू में उन्होने बहुत धीरे-धीरे और सावधानी से काम किया और वहाँ ठहरी हुई फौज के अफसरो को मिलाने की कोशिश की। ऊपर से वे सुलतान के एजेण्ट की तरह काम करते थे, पर कुस्तुन-तुनिया से आये हुए हुक्मो की कोई परवा न करते थे। घटनायें जिस तरीके पर घट रही थी उससे उन्हे मदद मिल रही थी। काकेशश में अंग्रेजो ने एक आर्मीनियन प्रजातंत्र कायम किया था और उसमें तुर्की के पूर्वी सूबो को मिला देने का वादा किया था। अब आर्मीनियन प्रजातंत्र सोवियट यूनियन का एक हिस्सा है। आर्मीनियनो और तुर्कों में बड़ी दुश्मनी थी और पहले कितनी ही बार वे एक-दूसरे को कत्ल कर चुके थे। जब-तक तुर्को के हाथ में ताकत थी तबतक, और खास तौर से अब्दुलहमीद के वक़्त में, उन्होने आर्मीनियनो को इस खूंखार खेल में खूब सताया था। इसलिए अब तुर्कों के आर्मीनियनो के मातहत होने का मतलब उनका पूरा विनाश था। इससे उन्होने लड़ना ही अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी सूबो के तुर्क कमालपाशा की अपीलो को सुनने के लिए अच्छी तरह तैयार थे।

इस बीच, एक दूसरी और ज्यादा महत्वपूर्ण घटना ने तुर्कों को जगा दिया। १९१९ के शुरू में इटली ने फ्रांस और इग्लैण्ड के साथ किये हुए अपने गुप्त समझौते को पूरा करना चाहा, जो अभीतक पूरा नही हो सका था। उसने एशियामाइनर में फौजें भेजनी शुरू की। इंग्लैण्ड और फ़्रास को यह बिलकुल अच्छा न लगा। वे इस वक़्त इटालियनो को बढ़ाना नहीं चाहते थे। क्या करना चाहिए, इसका फ़ैसला न कर सकने की वजह से उन्होने यूनानी फौजो को स्मर्ना पर कब्जा कर लेने की इजाजत दे-दी, जिससे इटालियनो के रास्ते में दिक्कत पेश की जा सके।

यूनानियो को इसके लिए क्यो चुना गया ? फ्रासीसी और अंग्रेजी फौजें लड़ते-लड़ते थक चुकी थीं और उनमें बगावत के ख़यालात फैल रहे थे। वे चाहती थीं कि जल्द-से-जल्द उन्हे फौजी काम से छुट्टी दे दी जाय ताकि वे घर जा सके। यूनानी लोग नजदीक ही थे और यूनान सरकार एशियामाइनर और कुस्तुनतुनिया को अपने राज्य में मिला लेने और पुराने बिजैण्टियन साम्राज्य को फिर से खड़ा करने का सपना

वर्षों के पहले बालकन युद्ध हो चुका था और उसके भी पहले इटली से लड़ाई हो चुकी थी; और यह सब उस नौजवान तुर्क आन्दोलन के बाद ही हुआ, जिसने सुलतान अब्दुलहमीद को निकाल दिया था और एक पार्लमेण्ट क़ायम कर दी थी। तुर्कों ने सदा ग़ज़ब की सहन-शक्ति का परिचय दिया है; पर यह लगातार आठ वर्षों की लड़ाई उनके लिए भी बहुत ज्यादा थी—किसी भी क़ौम के लिए ज्यादा होती। इसलिए उन्होंने सारी उम्मीदें छोड़ दीं और अपनेको क़िस्मत के भरोसे छोड़कर मित्र-राष्ट्रों के फ़ैसले का इन्तज़ार करने लगे।

इससे दो साल पहले, युद्ध के दरमियान, मित्र-राष्ट्रों ने इटली से एक गुप्त समझौता कर लिया था, जिसमें एशियामाइनर का पश्चिमी हिस्सा और स्मर्ना इटली को देने का वादा किया गया था। इससे पहले, क़ाग़ज़ पर, कुस्तुनतुनिया रूस को नज़र किया जा चुका था और अरब देशों को आपस में बाँट लेने की बात तय हो चुकी थी। एशियामाइनर इटली को देने के आख़िरी गुप्त समझौते पर रूस की रज़ामन्दी भी ज़रूरी थी, पर इटली की बदक़िस्मती से ऐसा होने के पहले ही रूस में बोलशेविकों ने अपनी ताक़त बनाली और इसका नतीजा यह हुआ कि वह समझौता मंज़ूर न हो सका और इटली मित्र-राष्ट्रों पर कुढ़कर रह गया।

ऐसी हालत थी। सुलतान से लेकर नीचे तक सब तुर्क पस्तहिम्मत दिखाई देते थे। आख़िरकार 'योरप का रोगी' मर चुका था—कम-से-कम ऐसा मालूम पड़ता था। पर मुट्ठीभर तुर्क ऐसे थे जिन्होंने क़िस्मत या परिस्थितियों के आगे झुकने से इन्कार किया, फिर चाहे उनका विरोध कितना ही मामूली मालूम हो। कुछ दिनों तक वे चुपचाप काम करते रहे; मित्र-राष्ट्रों के नियंत्रण में जो शस्त्रागार थे उन्होंने वे अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-सामग्री लेली और काला सागर के रास्ते जहाजों से उसे अनातोलिया (एशियामाइनर) के अन्दरूनी हिस्से में भेजते रहे। इन गुप्त कार्यकर्ताओं में प्रधान मुस्तफ़ा कमालपाशा था जिसका नाम मेरे कई ख़तों में पहले ही आ चुका है।

अंग्रेज़ मुस्तफ़ा कमाल को ज़रा भी नहीं चाहते थे। उनको उसपर सन्देह था और वे उसे गिरफ़्तार करना चाहते थे। सुलतान भी, जो अमल में अंग्रेज़ों के हाथ की कठपुतली था, उसे नहीं चाहता था। पर उसने (सुलतान ने) यह ज्यादा अच्छी बात समझी कि उसे (मुस्तफ़ा कमाल को) देश के अन्दर कहीं दूर भेज दिया जाय। इसलिए कमालपाशा पूर्वी अनातोलिया में फ़ौजों का इन्स्पेक्टर जनरल बना दिया गया। सच पूछो तो वहाँ कोई ख़ास फ़ौज निरीक्षण या देखभाल के लिए नहीं थी। और उसके ओहदे का असली मक़सद यह था कि वह मित्र-राष्ट्रों की मदद करे और तुर्की सिपाहियों से हथियार ले ले। यह कमाल के लिए बड़ा ही अच्छा मौक़ा था।

वह इस नियुक्ति पर उछल पड़ा और तुरन्त अनातोलिया के लिए रवाना होगया। यह अच्छा ही हुआ कि वह तुरन्त चला गया; क्योंकि उसके जाने के चन्द ही घण्टे बाद सुलतान ने अपना विचार बदल दिया था। एकाएक कमाल का ख़ौफ़ उसपर सवार होगया और उसने आधी रात के वक़्त कमाल को रोकने के लिए अंग्रेजो के पास सन्देश भेजा। पर तबतक चिड़िया उड़ गई थी।

कमालपाशा और मुट्ठीभर दूसरे तुर्कों ने अनातोलिया में राष्ट्रीय प्रतिरोध यानी कौमी मुख़ालफ़त का सगठन करना शुरू किया। शुरू में उन्होने बहुत धीरे-धीरे और सावधानी से काम किया और वहाँ ठहरी हुई फौज के अफसरो को मिलाने की कोशिश की। ऊपर से वे सुलतान के एजेण्ट की तरह काम करते थे, पर कुस्तुन-तुनिया से आये हुए हुक्मो की कोई परवा न करते थे। घटनायें जिस तरीके पर घट रही थी उससे उन्हे मदद मिल रही थी। काकेशश में अंग्रेजो ने एक आर्मीनियन प्रजातत्र कायम किया था और उसमें तुर्की के पूर्वी सूबो को मिला देने का वादा किया था। अब आर्मीनियन प्रजातंत्र सोवियट यूनियन का एक हिस्सा है। आर्मीनियनो और तुर्कों में बडी दुश्मनी थी और पहले कितनी ही बार वे एक-दूसरे को कत्ल कर चुके थे। जब-तक तुर्कों के हाथ में ताकत थी तबतक, और खास तौर से अब्दुलहमीद के वक़्त में, उन्होने आर्मीनियनो को इस खूँख़ार खेल में खूब सताया था। इसलिए अब तुर्कों के आर्मीनियनो के मातहत होने का मतलब उनका पूरा विनाश था। इससे उन्होंने लड़ना ही अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी सूबो के तुर्क कमालपाशा की अपीलो को सुनने के लिए अच्छी तरह तैयार थे।

इस बीच, एक दूसरी और ज्यादा महत्वपूर्ण घटना ने तुर्कों को जगा दिया। १९१९ के शुरू में इटली ने फ्रास और इग्लैण्ड के साथ किये हुए अपने गुप्त समझौते को पूरा करना चाहा, जो अभीतक पूरा नही हो सका था। उसने एशियामाइनर में फौजें भेजनी शुरू की। इंग्लैण्ड और फ़्रास को यह बिलकुल अच्छा न लगा। वे इस वक़्त इटालियनो को बढ़ाना नहीं चाहते थे। क्या करना चाहिए, इसका फ़ैसला न कर सकने की वजह से उन्होने यूनानी फौजो को स्मर्ना पर कब्ज़ा कर लेने की इजाज़त दे-दी, जिससे इटालियनो के रास्ते में दिक्कत पेश की जा सके।

यूनानियो को इसके लिए क्यो चुना गया? फ्रासीसी और अंग्रेज़ी फौजें लड़ते-लड़ते थक चुकी थी और उनमें बग़ावत के ख़यालात फैल रहे थे। वे चाहती थीं कि जल्द-से-जल्द उन्हे फौजी काम से छुट्टी दे दी जाय ताकि वे घर जा सके। यूनानी लोग नज़दीक ही थे और यूनान सरकार एशियामाइनर और कुस्तुनतुनिया को अपने राज्य में मिला लेने और पुराने बिज़ैण्टियन साम्राज्य को फिर से खड़ा करने का सपना

देख रही थी। दो बडे योग्य यूनानी उस समय के इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री और मित्र राष्ट्रों की समिति में बडे शक्तिमान लायड जार्ज के दोस्तो में से थे। इनमें से एक वेनेज़िलो था जो बीच-बीच में कई बार यूनान का प्रधान मंत्री रह चुका था। दूसरा बड़ा रहस्यमय या भेदिया आदमी है। इस वक्त वह सर वेसिल जहरोफ के नाम से मशहूर है, गोकि उसका असली नाम वेसिलोस जकरिया था। १८७७ में, जब वह बहुत कम उम्र का था, वह वालकन में अस्त्र-शस्त्र बनानेवाली एक ब्रिटिश कम्पनी का एजेण्ट बन गया। जब महायुद्ध खत्म हुआ तो वह योरप में और शायद दुनियाभर में सबसे मालदार आदमी था और बडे-बडे राजनीतिज्ञ और सरकारे उसका आदर करने में गौरव का अनुभव करते थे। उसे बडी-बडी अंग्रेजी और फ्रांसीसी उपाधियाँ दी गई थी; उसके पास बहुत-से अखवार थे और वह पीछे रहकर सरकारो की नीतियों पर बहुत ज्यादा असर डाला करता था। जनता को उसके वारे में कोई इल्म न था और वह अपनेको शोहरत और प्रचार से दूर रखता था। वह आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय साहूकार या पूंजी लगानेवाले का नमूना था, जो बहुतेरे देशो और प्रभावो के बीच अपनेको बेफिक्र और घर-जैसा महसूस करता है और कुछ हद तक विविध प्रजासत्तात्मक देशो की सरकारो पर नियंत्रण या कब्जा भी रखता है। ऐसे देशो की जनता अपना शासन आप करने की भावना पर फूलती है, पर उनके पीछे असली ताकत उस अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की होती है जो जाहिरा तौर पर दिखाई नही देती।

जहरोफ इतना मालदार और ताकतवर कैसे होगया? उसका काम सब तरह के अस्त्र-शस्त्र यानी लड़ाई का माल वेचना था और यह खास तौरपर वालकन में एक मुनाफे का काम था। पर बहुत-से लोगो का विश्वास है कि शुरू से ही वह ब्रिटिश खुफिया विभाग का आदमी था। इससे उसे व्यापार और राजनीति में वडी मदद मिली और वार-वार होनेवाली लड़ाइयो से उसे करोडो का फायदा हुआ और यो वह आजकल का एक महान् रहस्यमय 'देव' (Giant) होगया। वह अभीतक जिन्दा है, हालाकि इस वक्त (१९३३ में) उसकी उम्र ८४ वर्ष की होगी। वह माण्टकार्लो में रहता है।

इस वेहद मालदार भेदिया आदमी और वेनेजिलो ने लायड जार्ज को इस बात पर रजामन्द कर लिया कि एशियामाइनर में यूनानी फौजें भेजी जायें। जहरोफ ने इसपर पूंजी लगाने का वादा किया। यह उसका ऐसा व्यापार था जिसमें उसे फायदा नहीं हुआ, क्योंकि कहा जाता है कि इसमें उसने दस करोड डालर खो दिया। यह रकम उसने तुर्की युद्ध में यूनानियो को दी थी। यह रकम ४० करोड रुपये के बराबर थी, पर इसे देने पर भी जहरोफ का काम मजे से चलता रहा।

यूनानी फौजें ब्रिटिश जहाजो मे भरकर एशिया-माइनर के पार भेजी गई और मई १९१९ में स्मर्ना में उतरी। वे ब्रिटिश, फ्रांसीसी और अमेरिकन लड़ाकू जहाजो के परदे या हिफाजत में भेजी गई थीं। तुर्की का मित्र-राष्ट्रो की इस भेंट, इस यूनानी फौज ने जोर-शोर से कत्लेआम शुरू कर दिया। चारो तरफ हाहाकार मच गया और आतंक का ऐसा राज्य फैल गया कि जिससे लड़ाई में थकी हुई दुनिया का सडियल अन्तःकरण भी काँप गया। खुद तुर्की में इसका वड़ा जबरदस्त असर पड़ा, क्योकि तुर्कों ने देख लिया कि मित्र-राष्ट्र उनके लिए कैसी वदकिस्मती लाये है। और फिर अपने पुराने दुश्मन और प्रजा यूनानियो द्वारा ऐसा बुरा वर्ताव और कत्ल किया जाना! तुर्कों का हृदय क्रोध से जल उठा और राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकडने लगा। यह ठीक ही कहा गया है कि यद्यपि कमालपाशा इस आन्दोलन का नेता था, पर स्मर्ना में यूनानियो का कब्जा इसका जन्मदाता था। वहुत-से तुर्की अफसर, जो उस वक्त तक हिचकिचाहट में पडे हुए थे, आन्दोलन में शामिल होगये, यद्यपि इसका मतलब सुलतान की हुक्म-अदूली या अवज्ञा थी। क्योकि सुलतान ने अव मुस्तफा कमाल की गिरफ़्तारी का हुक्म निकाल दिया था।

सितम्बर १९१९ ई० में अनातोलिया के सिवास मुकाम पर चुने हुए प्रतिनिधियो की एक कांग्रेस हुई। इसने नये आन्दोलन का समर्थन किया और कमाल की अध्यक्षता में एक कार्यसमिति—एग्जिक्यूटिव कमेटी—वनाई गई। एक 'राष्ट्रीय पैक्ट' भी पास हुआ, जिसमें मित्र-राष्ट्रो के साथ सुलह करने के लिए जरूरी कम-से-कम शर्तें थीं। इन शर्तो में पूर्ण स्वतंत्रता या मुकम्मल आजादी की शर्त भी थी। कुस्तुनतुनिया में सुलतान पर इनका असर पड़ा और वह कुछ डर भी गया। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन करने का वादा किया और चुनाव का हुक्म दिया। इन चुनावो में सिवास-कांग्रेस वाले लोग बहुमत से चुने गये। कमालपाशा ने कुस्तुनतुनिया के आदमियो का विश्वास न किया और उसने नये चुने हुए पार्लमेण्ट के सदस्यो को वहाँ जाने से मना कर दिया। किन्तु उन्होने उसकी सलाह न मानी और रऊफ़वेग के नेतृत्व में इस्तम्बोल (अव मैं भविष्य में इसी नाम से कुस्तुनतुनिया को पुकारूँगा) गये। उनके ऐसा करने की एक वजह यह थी कि मित्र-राष्ट्रो ने यह ऐलान कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्वोल में सुलतान की अध्यक्षता में होगी तो हम उसे मंजूर कर लेगे। खुद कमाल नही गया, हालांकि वह भी पार्लमेण्ट का सदस्य (डेपुटी) था।

नई पार्लमेण्ट की वैठक जनवरी १९२०ई० में इस्तम्वोल में हुई और उसने तुरन्त सिवास-कांग्रेस में वनाये गये 'नेशनल पैक्ट' को मंजूर कर लिया। इस्तम्वोल में मित्र-राष्ट्रो के जो प्रतिनिधि थे उन्होने यह वात विलकुल पसन्द न की, और पार्लमेण्ट द्वारा

की हुई और भी बहुत-सी बाते उन्हे पसंद न आई। इसलिए छ. हफ्ते के बाद उन्होंने अपनी उन्ही मामूली और भद्दी चालो से काम लेना शुरू किया जो उन्होने मिस्र और दूसरी जगहो में चली थी। अंग्रेज सेनापति इस्तम्बोल में घुस गया, शहर पर कब्जा कर लिया, फ़ौजी कानून जारी कर दिया, रऊफ़बेग सहित ४० राष्ट्रीय डेपुटियो को गिरफ़्तार कर लिया और उन्हे माल्टा को निर्वासित यानी जलावतन कर दिया। अंग्रेजो की ये शरीफ़ाना कारगुजारियाँ यह दिखाने के लिए थी कि 'नेशनल पैक्ट' को मित्र-राष्ट्रो ने मंजूर नहीं किया है।

फिर तुर्की में खूब उत्तेजना फैली। अब यह काफी तौरपर साफ होगया था कि सुलतान अंग्रेजो के हाथ में एक कठपुतली है। बहुत-से तुर्की डेपुटी निकल भागे और अंगोरा पहुँच गये। वहाँ पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान् राष्ट्रीय सभा' (Grand National Assembly of Turkey) रक्खा। उसने अपनेको देश की सरकार की शक्ल में घोषित किया और ऐलान कर दिया कि सुलतान और इस्तम्बोल की उसकी सरकार उसी दिन से खत्म होगई जिस दिन अंग्रेजो ने शहरपर कब्जा कर लिया।

सुलतान ने कमालपाशा और दूसरे लोगो को बागी ऐलान किया और उनको फाँसी की सजा का हुक्म देकर इसका बदला लिया। सुलतान ने यह भी सूचित किया कि जो आदमी कमाल और उसके दूसरे साथियो को मार डालेगा, वह एक पवित्र कर्त्तव्य पूरा करेगा और उसे इस दुनिया और दूसरी दुनिया में भी इनाम मिलेगा। याद रक्खो कि सुलतान खलीफा यानी मुसलमानो का धार्मिक नेता भी था और उसके जरिये निकाला हुआ यह मौत का खुला निमन्त्रणपत्र बड़ा खौफनाक था। कमालपाशा सिर्फ एक बागी ही न, था, जिसकी तलाश में सरकारी आदमी पडे हुए हो, बल्कि दीन को छोड़ देनेवाला आदमी भी था जिसे कोई धर्मान्ध आदमी कत्ल कर सकता था। सुलतान ने अपनी ताकत-भर राष्ट्रवादियो को कुचलने के सारे उपाय किये। उसने उनके खिलाफ 'जिहाद' या धर्म-युद्ध का ऐलान कर दिया और उनसे लड़ने के लिए एक 'खलीफा का फौजी दस्ता' बनाया गया। मजहबी आदमी बगावत पैदा कर देने के लिए भेजे गये। जगह-जगह बलवे हुए और कुछ वक्त तक सारे तुर्की में गृह-युद्ध छिड़ गया। यह शहर-शहर और भाई-भाई के बीच बडी बुरी लड़ाई थी और दोनो तरफ़ बडी बेरहमी से काम लिया गया।

इस बीच स्मर्ना में यूनानी लोग इस तरह का बर्ताव कर रहे थे मानो वे स्थायी रूप से देश के मालिक है और मालिक भी बडे जंगली है। उन्होने उपजाऊ और हरी-भरी घाटियो और मैदानो को उजाड दिया और हजारो गृहहीन तुर्कों को

वहाँ से खदेड दिया। तुर्को ने उनका कोई जोरदार मुकाबिला नही किया, इसलिए वे बढते गये।

राष्ट्रवादियो (नेशनलिस्टो) के लिए ऐसी स्थिति का सामना करना कुछ सुखदायी नही था—घर में उनके ख़िलाफ मजहब की ताकत लिये हुए लडा जानेवाला गृह-युद्ध और उधर उनसे लड़ने के लिए आगे बढते हुए विदेशी आक्रमणकारी। फिर सुलतान और यूनानी दोनो के पीछे मित्र-राष्ट्र थे, जो जर्मनी के ऊपर फतह पाकर सारी दुनिया पर हावी होगये थे। लेकिन कमालपाशा का अपने देशवासियो के प्रति यह नारा था—'जीतो या नष्ट हो जाओ।' जब एक अमेरिकन ने उससे पूछा कि राष्ट्रवादी अगर नाकामयाब हुए तो तुम क्या करोगे, तब उसने जवाब दिया—"जो कौम जिन्दगी और आजादी के लिए बडी-से-बडी और आख़री कुर्बानियाँ करती है वह नाकामयाब नही होती। नाकामयाबी का मतलब तो यह है कि कौम मर चुकी है।"

अगस्त १९२० में वह सुलहनामा प्रकाशित हुआ जिसे मित्र-राष्ट्रो ने गरीब तुर्की के लिए बनाया था। इसे 'सेवरे की सन्धि' कहा गया। यह तुर्की स्वतत्रता का खात्मा था; आजाद राष्ट्र के रूप में तुर्की को मौत की सजा दी गई। सिर्फ देश के टुकडे-टुकडे ही नही कर दिये गये बल्कि ख़ुद इस्तम्बोल में रहकर नियत्रण रखने के लिए मित्र-राष्ट्रो की तरफ से एक कमीशन नियुक्त किया गया। सारे देश में शोक छागया और हड़ताल और प्रार्थना के साथ राष्ट्रीय शोक का दिन मनाया गया। उस दिन सारे काम बन्द रहे। काले बार्डरो के साथ अख़बार निकले। पर सुलतान के प्रतिनिधियो ने तो सुलहनामे पर दस्तख़त कर ही दिये थे। हाँ, राष्ट्रवादियो ने उसे हिकारत के साथ ठुकरा दिया था और सुलहनामे के प्रकाशित होने का यह नतीजा हुआ कि उनकी ताकत बढ़ गई और इस गहरी बेइज्जती से अपने देश को बचाने के लिए ज्यादा-से ज्यादा तुर्क तैयार होने लगे।

पर इस सुलहनामे को बागी तुर्की पर लागू कौन करता? मित्र-राष्ट्र ख़ुद ऐसा करने को तैयार न थे। उन्होने अपनी फौजो को असघटित कर दिया था और ये सिपाही बडी खीझ में थे। फिर पश्चिमी योरप के देशो में वातावरण में अब भी क्रान्ति और विद्रोह के ख़यालात थे। इसके अलावा युद्ध की लूट के बँटवारे के बारे में खुद मित्र-राष्ट्रो में कलह और झगडे पैदा होगये थे। पूर्व में इग्लैण्ड और कुछ हदतक फ़्रांस को एक खतरनाक स्थिति का सामना करना था। फ़्रेंच मैण्डेट या शासनादेश के नीचे सीरिया में जबरदस्त असतोष पैदा होगया था और आगे वहाँ आफ़त खडी होने की सभावना थी। मिस्र में एक ख़ूनी बगावत हो चुकी थी, जिसे अंग्रेज़ो ने दबा दिया था। हिन्दुस्तान में १८५७ के ग़दर के बाद पहली महान् बग़ावत, यद्यपि वह

शांतिपूर्ण थी, बढ़ रही थी। यह बापू के नेतृत्व में होनेवाला असहयोग-आन्दोलन था, और इसका एक मुख्य आधार खिलाफत का सवाल और तुर्की के साथ किया गया बुरा वर्ताव था।

इस तरह हम देखते हैं मित्र-राष्ट्र खुद तुर्की पर इस सुलह को जबरदस्ती लागू करने की स्थिति में न थे और न वे इसीके लिए तैयार थे कि तुर्की राष्ट्रवादियो द्वारा उसको खुलेआम कुचल दिया जाय। ऐसी हालत में उन्होने अपने मित्र वेनीजेलो और जहरोफ की तरफ देखा और ये दोनो यूनान की तरफ से इस काम की जिम्मेदारी उठाने के लिए पूरी तरह तैयार थे। किसीको यह उम्मीद नहीं था कि ये शिथिल और गिरे हुए तुर्क ज्यादा तंग करेंगे और एशिया माइनर का इनाम कुछ कम ललचानेवाला न था। और ज्यादा यूनानी फौजें वहाँ भेजी गई और बडे पैमाने पर यूनानी-तुर्की युद्ध शुरू हुआ। १९२० के गरमी और पतझड़ तक तो यूनानियो की जीत होती रही और उन्होने अपने सामने से तुर्कों को खदेड़ दिया। अपने टूटे-फूटे साधनो से एक जबरदस्त और बहादुर फ़ौज तैयार करने की कमालपाशा और उसके साथियो ने रात-दिन कोशिश की। उनको मदद मिली, और वह भी ऐसे मौकेपर जबकि उनको उसकी बडी जरूरत थी। सोवियट रूस ने उनकी अस्त्र-शस्त्र यानी लड़ाई के सामान और धन से मदद की। इंग्लैण्ड इन दोनो का दुश्मन था।

ज्यो-ज्यो कमाल की ताकत बढती गई, मित्र-राष्ट्रो को लड़ाई के फैसले या नतीजे के बारे में शुबहा होने लगा और उन्होने सुलह की अच्छी शर्तें पेश कीं। पर ये शर्तें भी इतनी अच्छी न थीं कि कमाल के दल के लोग उन्हे मंजूर करते, इसलिए उन्होने उन्हे ठुकरा दिया। इसपर मित्र-राष्ट्रो ने यूनानी-तुर्की युद्ध से हाथ खींच लिया और अपनी उदासीनता यानी तटस्थता का ऐलान कर दिया। पहले तो उन्होंने यूनानियो को इसमें फँसाया और बाद में उन्हे खन्दक में छोड़कर अलग हो रहे। यहाँतक कि फ्रांस और कुछ हद तक इटली ने खुफिया तौर पर तुर्कों से दोस्ती गाँठने की कोशिश की। अंग्रेज अब भी थोडे-बहुत, पर गैर-सरकारी तौर पर, यूनानियों के साथ रहे।

१९२१ की गरमी के दिनो में यूनानियो ने तुर्कों की राजधानी अंगोरा पर कब्जा करने की जबरदस्त कोशिश की। वे कस्बे पर कस्बे फतह करते और उनपर क़ब्जा जमाते हुए अंगोरा के नजदीक तक आ पहुँचे, पर आखिर सकरिया नदी पर रोक दिये गये। इस नदी के पास, तीन हफ्ते तक, दोनों फौजो ने एक-दूसरे का जबरदस्त मुकाबिला किया; किसीको किसी तरह की छूट या मुगालता नहीं दिया गया और दोनो सदियो की चली आती हुई जातीय कटुता के साथ एक-दूसरे से लडीं। यह लड़ाई

सहन-शक्ति की भयकर कसौटी बन गई। तुर्क किसी तरह डटे रहे और अन्त में यूनानी पीछे हट गये। जैसा उनका कायदा था, यूनानी फौज पीछे लौटते वक्त हर चीज को, जो उसके रास्ते में पडी, आग लगाती और बरबाद करती गई और उसने दो सौ मील तक के उपजाऊ देश को वीरान कर दिया।

सकरिया नदी की लड़ाई में तुर्क जीत तो गये, पर यह हलकी जीत थी। यह कोई अन्तिम विजय न थी, फिर भी इसे आधुनिक इतिहास की महत्वपूर्ण और निर्णायक लडाइयो में गिना जाता है। इसका मतलब बहाव का उलट जाना था। फिर यह पूर्व और पश्चिम के बीच होनेवाली उन बडी लड़ाइयो में से एक थी जिन्होने पिछले दो हजार वर्षो या ज्यादा समय से एशिया-माइनर की एक-एक इंच मिट्टी को इसान के खून से सींचा है।

दोनो फौजें बेदम हो रही थी, इसलिए दोनो सुस्ताने और फिर से अपना संगठन करने के लिए बैठ गईं। पर कमालपाशा की किस्मत का सितारा बुलन्द हो रहा था। फ्रासीसी सरकार ने अगोरा के साथ सुलह करली। अगोरा और सोवियट के साथ भी एक सुलह हो गई थी। फ्रास की मजूरी मुस्तफा कमाल के लिए एक बडी नैतिक और भौतिक सहायता थी। इससे सीरिया की सरहदो पर की तुर्की फौजो को यूनान के खिलाफ लड़ने की छुट्टी मिल गई। ब्रिटिश सरकार अबतक उस कठपुतली सुलतान और खत्म हो रही इस्तम्बोल-सरकार का समर्थन कर रही थी और फ़्रासीसी सुलह से उसे धक्का लगा।

अगस्त १९२२ ई० में, एकाएक पर बडी होशयारी से तैयारी करने के बाद, तुर्की फौज ने यूनानियो पर हमला कर दिया और उनको समुद्र में खदेड़ दिया। आठ दिनो के अन्दर यूनानियो को १६० मील पीछे हटना पडा; पर पीछे हटते वक्त भी रास्ते में मिलनेवाले हर तुर्की मर्द, औरत और बच्चे को मारकर उन्होने अपना बदला लिया। तुर्क भी वैसे ही बेरहम थे और बहुत कम यूनानियो को कैदी रखते थे। इन यूनानी कैदियो में यूनानी प्रधान सेनापति और उसके स्टाफ के लोग थे। यूनानी फौज का ज्यादातर हिस्सा स्मर्ना से समुद्र के रास्ते भाग गया, पर स्मर्ना शहर जला दिया गया।

कमालपाशा ने अपनी फौजो के साथ इस्तम्बोल की तरफ बढ़ते हुए अपनी फतह जारी रक्खी। शहर से थोडी ही दूर पर, चनक मुकाम पर, ब्रिटिश फौजो ने उसे रोक दिया और सितम्बर १९२२ में कुछ दिनो तक तुर्को और ब्रिटेन के बीच लडाई छिड़ने की बात होती रही, पर अग्रेजो ने करीब-करीब तुर्को की सारी शर्ते मानलीं और युद्ध बन्द करने की तजवीज या सुलहनामे (Armistice) पर दस्तखत होगये। इस सुलह-

सहन-शक्ति की भयकर कसौटी बन गई। तुर्क किसी तरह डटे रहे और अन्त में यूनानी पीछे हट गये। जैसा उनका कायदा था, यूनानी फौज पीछे लौटते वक्त हर चीज को, जो उसके रास्ते में पडी, आग लगाती और वरबाद करती गई और उसने दो सौ मील तक के उपजाऊ देश को वीरान कर दिया।

सकरिया नदी की लडाई में तुर्क जीत तो गये, पर यह हलकी जीत थी। यह कोई अन्तिम विजय न थी, फिर भी इसे आधुनिक इतिहास की महत्वपूर्ण और निर्णायक लड़ाइयो में गिना जाता है। इसका मतलव वहाव का उलट जाना था। फिर यह पूर्व और पश्चिम के बीच होनेवाली उन बडी लड़ाइयो में से एक थी जिन्होने पिछले दो हज़ार वर्षो या ज्यादा समय से एशिया-माइनर की एक-एक इंच मिट्टी को इसान के खून से सीचा है।

दोनो फौजें वेदम हो रही थी, इसलिए दोनो सुस्ताने और फिर से अपना संगठन करने के लिए बैठ गई। पर कमालपाशा की किस्मत का सितारा बुलन्द हो रहा था। फ्रासीसी सरकार ने अंगोरा के साथ सुलह करली। अगोरा और सोवियट के साथ भी एक सुलह हो गई थी। फ्रास की मजूरी मुस्तफा कमाल के लिए एक वडी नैतिक और भौतिक सहायता थी। इससे सीरिया की सरहदो पर की तुर्की फौजो को यूनान के खिलाफ़ लड़ने की छुट्टी मिल गई। ब्रिटिश सरकार अबतक उस कठपुतली सुलतान और खत्म हो रही इस्तम्बोल-सरकार का समर्थन कर रही थी और फ़्रासीसी सुलह से उसे धक्का लगा।

अगस्त १९२२ ई० में, एकाएक पर बडी होशयारी से तैयारी करने के बाद, तुर्की फौज ने यूनानियो पर हमला कर दिया और उनको समुद्र में खदेड़ दिया। आठ दिनो के अन्दर यूनानियो को १६० मील पीछे हटना पड़ा; पर पीछे हटते वक्त भी रास्ते में मिलनेवाले हर तुर्की मर्द, औरत और बच्चे को मारकर उन्होने अपना बदला लिया। तुर्क भी वैसे ही वेरहम थे और बहुत कम यूनानियो को कैदी रखते थे। इन यूनानी कैदियो में यूनानी प्रधान सेनापति और उसके स्टाफ़ के लोग थे। यूनानी फौज का ज्यादातर हिस्सा स्मर्ना से समुद्र के रास्ते भाग गया, पर स्मर्ना शहर जला दिया गया।

कमालपाशा ने अपनी फौजो के साथ इस्तम्बोल की तरफ बढते हुए अपनी फतह जारी रक्खी। शहर से थोडी ही दूर पर, चनक मुकाम पर, ब्रिटिश फौजो ने उसे रोक दिया और सितम्बर १९२२ में कुछ दिनो तक तुर्को और ब्रिटेन के बीच लड़ाई छिड़ने की बात होती रही, पर अग्रेजो ने करीब-करीब तुर्की की सारी शर्तें मानलीं और युद्ध बन्द करने की तजवीज या सुलहनामे (Armistice) पर दस्तख़त होगये। इस सुलह-

नामे में मित्र-राष्ट्रो ने वादा किया कि थ्रेस में जितनी भी यूनानी फौज है वह सब देश से हटवा दी जायगी। नये तुर्की के पीछे सदा सोवियट रूस का भूत रहा और मित्र-राष्ट्र ऐसी लड़ाई छेड़ना नही चाहते थे जिसमें रूस तुर्की की मदद करे।

मुस्तफा कमाल की विजय हुई और १९१९ के मुट्ठीभर बागी महाशक्तियो के प्रतिनिधियो से बराबरी की हैसियत से मिले। इस बहादुर टुकडी को बहुतेरी परिस्थितियो से मदद मिली थी, जिनमें युद्ध के बाद की प्रतिक्रिया, मित्र-राष्ट्रो की आपसी फूट या झगडे, हिन्दुस्तान और मिस्र की बिगड़ती हुई हालत में अग्रेजो का फँस जाना, सोवियट रूस की मदद और अग्रेजो द्वारा की हुई बेइज्जती ये बाते मुख्य थी। पर इन सबके ऊपर उनकी विजय का श्रेय उनके फौलादी इरादे, आजाद होने के उनके निश्चय और तुर्की किसानो और सिपाहियो की सैनिक यानी लड़ाकू विशेषताओ को ही है।

लुसान में एक शान्ति-सम्मेलन हुआ और कई महीनों तक चलता रहा। इंग्लैण्ड के घमण्डी और शासनप्रिय प्रतिनिधि लार्ड कर्जन और बहरे एवं फूले हुए इस्मतपाशा के बीच अच्छी-ख़ासी पैंतरेबाजी हुई। इस्मातपाशा मुस्कराता रहता था और जो कुछ सुनना नही चाहता था उसे सुनने से इनकार कर देता था, जिससे कर्जन बड़ा चिढ़ता था। कर्जन को हिन्दुस्तान के वाइसराय वाले तरीको से काम लेने की आदत पड गई थी; वह यो भी शान-शौकत का आदमी था; इसलिए उसने उन्हीं हाकिमाना तरीको से काम लिया जिनका बहरे और मुस्कराते हुए इस्मत पर कोई असर नहीं पड़ा। चिढ़कर और झुंझलाकर कर्जन लौट आया और सम्मेलन टूट गया। बाद में फिर सम्मेलन हुआ, पर इस बार कर्जन की जगह दूसरा ब्रिटिश प्रतिनिधि आया। सिर्फ एक को छोडकर 'नेशनल पैक्ट' में बताई हुई तुर्की की सारी शर्तें मान ली गईं और जुलाई १९२३ में लुसान की सन्धि पर दस्तख़त होगये। इस बार फिर सोवियट रूस के समर्थन और मित्र-राष्ट्रो की आपसी ईर्ष्या से तुर्की को मदद मिली।

कमालपाशा, ग़ाजी यानी विजयी, को उन सब बातो में कामयाबी हुई जिनके लिए उसने लड़ाई शुरू की थी। शुरू से ही उसने अपनी कम-से-कम माँगों का ऐलान कर दिया था और विजय की घडी में भी उनपर टिका रहा। उसने अरबस्तान, इराक, फिलस्तीन और सीरिया वगैरा ग़ैरतुर्की मुल्को पर तुर्की साम्राज्य का ख़याल बिलकुल छोड़ दिया था। वह सिर्फ तुर्कों के देश यानी ख़ास तुर्की को आजाद करना चाहता था। वह नहीं चाहता था कि तुर्क दूसरी कौमो के बारे में दस्तन्दाजी करे; पर वह यह भी नही चाहता था कि तुर्की में किसी तरह का विदेशी दख़ल हो। इस तरह तुर्की एक सयुक्त और एक ही जाति यानी तुर्को का देश बन गया। कुछ वर्षों के बाद,

यूनानियो के प्रस्ताव पर आबादियो का एक गैर-मामूली अदला-बदला हुआ। अनातोलिया में जो यूनानी बच रहे थे वे यूनान भेज दिये गये और बदले में यूनान के तुर्क तुर्की में लाये गये। इस तरह करीब पंद्रह लाख यूनानियो का बदला हुआ। इन यूनानियो और तुर्को के ज्यादातर कुटुम्ब क्रमश: अनातोलिया और यूनान में पीढियो से रहते आये थे। यह कौमो का अजीब विच्छेद था और इससे तुर्की का आर्थिक जीवन बिलकुल तितर-बितर होगया, क्योकि यूनानियो का व्यापार में बहुत ज्यादा हिस्सा था। पर इससे तुर्की और ज्यादा एक-जातीय (Homogenous) होगया। और शायद इस वक्त यह एशिया या योरप के देशो में सबसे ज्यादा एक-जातीय है।

मैंने ऊपर कहा है कि लुसान-सन्धि से तुर्को की एक के सिवा सब मांगें पूरी हो गई। यह अपवाद 'विलायत' या इराक की सीमा के नजदीक का मोसल प्रदेश था। चूंकि दोनो दल इस सवाल पर एकमत नही हो सके, इसलिए यह मामला राष्ट्र-संघ के पास भेज दिया गया। मोसल अपने तेल और खासकर अपनी सैनिक स्थिति के कारण बडा महत्वपूर्ण था। मोसल के पहाडो पर कब्जा होने का मतलब कुछ हद तक तुर्की, इराक, फारस, यहाँतक कि रूस के काकेशश पर भी हावी होना था। साफ तौर पर तुर्की के लिए यह महत्वपूर्ण था। ब्रिटेन के लिए भी यह उतना ही महत्वपूर्ण था, क्योकि हिन्दुस्तान को जानेवाले खुश्की और हवाई रास्तो की रक्षा और सोवियट रूस के खिलाफ हमला या बचाव करने के लिए यह बहुत जरूरी था। अगर तुम नक़्शे में देखो तो तुम्हे मालूम होगा कि मोसल कैसी महत्वपूर्ण स्थिति में है। इस सवाल पर राष्ट्र-संघ ने ब्रिटेन के पक्ष में फैसला किया। तुर्को ने उस फैसले को मानने से इनकार कर दिया और फिर लड़ाई की बातचीत होने लगी। उसी वक़्त, दिसम्बर १९२५ ई० में, एक नई रूसी-तुर्की सन्धि हुई थी। पर अंगोरा की सरकार ने अखीर में राष्ट्र-सघ का फैसला मान लिया और मोसल इराक के नये राज्य में शामिल कर लिया गया। इराक वैसे तो स्वतंत्र समझा जाता है, पर असल में यह ब्रिटेन का एक रक्षित या मातहत राज्य है और इसमें ब्रिटिश अधिकारी और सलाहकार भरे हुए है।

मुझे अच्छी तरह याद है कि जब ग्यारह साल पहले हम लोगो ने यूनानियो पर मुस्तफा कमाल की महान् विजय की खबर सुनी थी तो हम कितने खुश हुए थे। यह अगस्त १९२२ में हुआ अफियम कुराहिसार का युद्ध था, जब कमाल ने यूनानी मोर्चे को तोड़कर यूनानी फौज को स्मर्ना और समुद्र में खदेड़ दिया। हममें से बहुत-से लोग उस वक्त लखनऊ जिला जेल में थे और हम लोगो ने जो कुछ मिला उसीसे अपनी जेल की बैरको को सजाकर तुर्को की विजय का जलसा मनाया था और शाम को रोशनी करने की भी हल्की-सी कोशिश की थी।

: १५६ :

मुस्तफ़ा कमाल का अतीत से विच्छेद

८ मई, १९३३

हमने हार के अँधेरे जमाने से लेकर विजय के दिनतक तुर्कों की किस्मत का मुलाहजा किया है और बडे ताज्जुब के साथ देखा है कि मित्र-राष्ट्रो, खासकर अंग्रेजो, ने उनको कुचलने और कमजोर कर देने के लिए जिन उपायो का सहारा लिया उनसे तुर्कों पर बिलकुल उलटा असर पड़ा और उन उपायो ने राष्ट्रवादियो को मजबूत कर दिया और आगे के प्रतिरोध लिए उन्हे फौलादी बना दिया। मित्र-राष्ट्रो की तुर्की के टुकडे करने की कोशिश, स्मर्ना में यूनानी फौजों का भेजा जाना, मार्च १९२० का ब्रिटेन का वह आकस्मिक पैंतरा, जब राष्ट्रवादी नेता गिरफ़्तार करके जलावतन कर दिये गये, राष्ट्रवादियो के खिलाफ अंग्रेजो का कठपुतली सुलतान का समर्थन--इन सब बातों ने तुर्को का गुस्सा और जोश बढ़ाने में मदद की। किसी बहादुर कौम को कुचलने और अपमानित करने का लाजमी तौर पर यही नतीजा या असर होता है।

मुस्तफा कमाल और उसके साथियो ने जो फतह हासिल की थी, उसका क्या किया? कमालपाशा पुराने रिवाजो से चिपके रहने में विश्वास नही रखता था; वह तुर्की को पूरे तौरपर बदल डालना चाहता था। पर अपनी फतह के बाद यद्यपि वह खूब लोकप्रिय था फिर भी उसे बहुत सावधानी से धीरे-धीरे आगे बढ़ना पड़ा, क्योकि लम्बे जमानें से चली आ रही परम्परा और धर्म पर खडे हुए पुराने तरीको को ख़त्म कर देना आसान काम नही है। वह सुलतानियत और खिलाफ़त दोनो को खत्म कर देना चाहता था, पर उसके बहुत-से साथी उससे सहमत न थे और सामान्य तुर्की जनता के ख़यालात भी शायद ऐसी तब्दीली के ख़िलाफ थे। हाँ, कठपुतली सुलतान वहीदउद्दीन को कोई नही चाहता था। उसे लोग ऐसा देशद्रोही समझते थे जिसने अपनें देश को विदेशियो के हाथ बेच देने की कोशिश की थी और उससे नफरत करते थे। बहुत-से लोग एक तरह की वैधानिक सुलतानियत और ख़िलाफ़त चाहते थे और असली सत्ता या ताकत नेशनल असेम्बली के हाथ में रखने का समर्थन करते थे। कमालपाशा को ऐसा कोई समझौता पसन्द न था; इसलिए वह मौके का इन्तजार करने लगा।

सदा की तरह अंग्रेजो की वजह से वह मौका जल्द आगया। जब लुसान के शान्ति-सम्मेलन की तैयारी हो रही थी तब ब्रिटिश सरकार ने इस्तम्बोल में सुलतान के पास न्यौता भेजा और शान्ति की शर्तें तय करने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजने को लिखा और सुलतान से यह अनुरोध भी किया कि यह न्यौता अंगोरा को भी दोहरा दिया जाय। अंगोरा की राष्ट्रीय सरकार के साथ (जिसने लड़ाई जीती थी) इस तरह के

भद्दे वर्ताव और जान-बूझकर कठपुतली सुलतान को आगे बढाने की इस कोशिश ने तुर्की में एक सनसनी पैदा करदी और तुर्कों को क्रुद्ध कर दिया। उन लोगो को यह शुबहा हो गया कि कहीं देशद्रोही सुलतान और अंग्रेजो के बीच फिर कुछ साजिश तो नही हो रही है। मुस्तफा कमाल ने मौका देखकर इस खयाल का फायदा उठा लिया और नवम्बर १९२२ ई० में नेशनल असेम्बली से सुलतानियत को तोड़ देने का फैसला करा लिया। लेकिन खुद खिलाफत जिन्दा रही और यह ऐलान किया गया कि वह उथमान (उस्मान) घराने के हाथ में रहेगी। इसके बाद ही भूतपूर्व सुलतान वहीदउद्दीन के खिलाफ भारी देश-द्रोह के जुर्म में मुकदमा चलाया गया। उसने सार्वजनिक मुकदमे का सामना करने की वनिस्बत देश से भाग जाना ही अच्छा समझा। वह एक अंग्रेजी एम्बुलेसकार (मरीजो या घायलो को ढोने वाली मोटर गाडी) में छिपकर भाग गया। यह कार उसे एक ब्रिटिश लड़ाकू जहाज तक पहुँचा आई। नेशनल असेम्बली ने उसके चचेरे भाई अब्दुलमजीद को नया खलीफ़ा चुना, जो विना किसी राजनैतिक शक्ति के एक दिखाऊ धर्माध्यक्ष था।

दूसरे साल, १९२३ में, बाकायदा तुर्की प्रजातंत्र का ऐलान हुआ और अंगोरा राजधानी बनाई गई। मुस्तफ़ा कमाल राष्ट्रपति चुना गया और उसने सारी ताकत अपनेमें केन्द्रित करली, यानी डिक्टेटर (सर्वेसर्वा) बन गया। असेम्बली उसके आदेशो या हुक्मो का पालन करती थी। अब उसने बहुतेरे पुराने रिवाजो पर हमला करना शुरू किया। वह मजहब के बारे में कुछ ज्यादा शरीफाना सलूक नही करता था। बहुत-से लोग, खास तौरपर मजहबी लोग, उसके तरीको और उसकी डिक्टेटरशिप से असतुष्ट होगये। ये लोग नये खलीफा के, जो खुद एक शान्त और सीधा आदमी था, इर्द-गिर्द जमा होगये। कमालपाशा को यह सब पसन्द न आया। उसने खलीफा के साथ बहुत हलका वर्ताव किया और अगला बड़ा कदम बढ़ाने के लिए उचित अवसर का इन्तजार करने लगा।

फिर उसे जल्द ही यह मौका मिल गया, और वह कुछ अजीव ढंग से आया। लन्दन से आगाखाँ और एक भूतपूर्व हिन्दुस्तानी जज अमीरअली दोनो का संयुक्त पत्र उसे मिला। इन लोगो ने लाखो-करोडो हिन्दुस्तानी मुसलमानो के नाम पर बोलने का दावा करते हुए खलीफा के साथ किये हुए वर्ताव का विरोध किया और अनुरोध किया कि उसकी मर्यादा की इज्जत की जानी चाहिए और उसके साथ ज्यादा अच्छा वर्ताव किया जाना चाहिए। इन दोनो ने इस खत की नकल इस्तम्बोल के कई अखबारो को भी भेज दी और असली पत्र के अंगोरा पहुँचने के पहले ही नकल इन अखबारो में छप गई। इस खत में कोई अनुचित बात न थी; पर कमालपाशा ने इस

मौके को हाथ से जाने देना अच्छा न समझा और इस खत को लेकर एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। उसने ऐलान किया कि यह तुर्को में भेद यानी तफरका पैदा करने की दूसरी अंग्रेजी साजिश है। कहा गया कि आगाखाँ अंग्रेजो का खास एजेण्ट है; वह इंग्लैण्ड में रहता है, उसकी ख़ास दिलचस्पी अंग्रेजी घुड़दौड़ में है और अंग्रेज राजनीतिज्ञो से उसका खूब हेलमेल है। वह कट्टर मुसलमान भी नही है और मुसलमानो के एक फिरके का प्रधान है। यह भी कहा गया कि महायुद्ध के जमाने में अंग्रेजो ने पूर्व में पासंग बरावर रखने के लिए एक दूसरे सुलतान—ख़लीफा का रूप देकर उसका उपयोग किया और प्रचार करके उसकी शान और इज्जत बढ़ाई तथा उसे हिन्दुस्तानी मुसलमानो का नेता बनाने की कोशिश इसलिए की कि उन्हे कब्जे में रक्खा जा सके। अगर आगाखाँ को ख़लीफ़ा से इतनी हमदर्दी थी तो उसने युद्ध के जमाने में, जव अंग्रेजो के खिलाफ 'जिहाद' या पवित्र ऐलान किया गया था, खलीफा का समर्थन क्यो नही किया ? उस वक्त उसने खलीफा के विरुद्ध अंग्रेजो का साथ दिया था।

इस तरह कमालपाशा ने इस संयुक्त पत्र के ऊपर एक तूफान खड़ा कर दिया। लन्दन से यह खत भेजते वक्त इसके लेखको ने इन नतीजो का ख़याल भी न किया होगा। कमालपाशा ने आगाख़ाँ के वारे में जो वातें कही उनसे लोग आगाखाँ को अच्छा नहीं समझ सकते थे। जिन गरीव इस्तम्वोली सम्पादको ने इस ख़त को छपा दिया था वे देशद्रोही और इग्लैण्ड के एजेण्ट बताये गये और उन्हे सख्त सजायें दी गई। इस तरह लोगो में गहरा जोश और दूसरी साजिश का खौफ पैदा करके कमालपाशा ने नेशनल असेम्वली में खिलाफत को तोड़ देने का एक विल पेश कराया जो उसी रोज, मार्च १९२४ ई० में, पास होगया। यो आधुनिक रंगमंच से एक पुरानी सस्था या परम्परा, जिसने इतिहास में बहुत वड़ा पार्ट खेला था, ख़त्म होगई। अव कोई 'ईमानदारो का सरदार', कम-से-कम जहाँतक तुर्की का ताल्लुक था, नही रह गया, क्योकि तुर्की एक दुनियावी राज्य वन गया; यानी राज्य का किसी मजहव के प्रति कोई आग्रह नहीं रह गया।

कुछ ही वक़्त पहले, जव महायुद्ध के वाद खिलाफत के प्रति अंग्रेजो ने धमकी से भरा रुख़ इख्तियार किया था, हिन्दुस्तान में जवरदस्त तहरीक हुई थी। सारे देश में ख़िलाफत कमेटियाँ वन गई थीं और मुसलमानो के इस आन्दोलन में हिन्दुओ की वडी तादाद इस ख़याल से शामिल होगई थी कि ब्रिटिश सरकार इस्लाम के प्रति अन्याय कर रही है। अव तुर्को ने खुद जान-बूझकर खिलाफत का खात्मा कर दिया था; इस्लाम विना ख़लीफा के होगया था। कमालपाशा की यह निश्चित राय थी कि तुर्की को मजहव की विना पर अरव देशो या हिन्दुस्तान से कोई रिश्ता नहीं रखना

है। वह अपने देश के लिए या खुद अपने लिए इस्लाम का नेतृत्व नही चाहता था। मिस्र और हिन्दुस्तान के लोगो के अनुरोध पर भी उसने खलीफा बनने से इनकार कर दिया था। उसकी नजर पश्चिम में योरप की तरफ थी और वह चाहता था कि जितनी जल्द मुमकिन हो तुर्की पश्चिमी रग में रग जाय। वह पैन-इस्लामी यानी सब मुसलमान देशो का एक संगठन बनाने के खयाल के बिलकुल विरुद्ध था। उसके सामने पैन-ट्यूरेनियनिज्म यानी ट्यूरन या तुर्क जाति की तरक्की का नया आदर्श था। मतलब यह कि इस्लाम के लम्बे-चौडे पर शिथिल अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श पर उसने शुद्ध राष्ट्रीयता के ज्यादा मजबूत और ठोस बन्धनो को तरजीह दी।

मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि अब तुर्की एक-जातीय देश होगया था, और उसमें विदेशी तत्त्व बहुत कम रह गये थे। पर पूर्वी तुर्की में इराक और फारस की सरहद पर अब भी एक गैर-तुर्की जाति थी। यह एक तरह की ईरानी जबान बोलनेवाली बहुत पुरानी जाति थी जिसे कुर्द कहते थे। कुर्दिस्तान, जिसमें ये लोग रहते थे, कई टुकडो में बँटकर तुर्की, फारस, इराक और मोसल प्रदेश में मिल गया था। तीस लाख कुर्दों में से करीब आधे अब भी खास तुर्की में थे। १९०८ की नौजवान तुर्क क्रान्ति के बाद ही उनमें नये ढग का राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था। वर्साई के शान्ति-सम्मेलन में भी कुर्द प्रतिनिधियो ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता यानी कौमी आजादी की माँग की थी।

१९२५ ई० में तुर्की के कुर्द प्रदेश में एक बड़ा बलवा होगया। यह वही वक्त था जब मोसल के मामले को लेकर इंग्लैण्ड और तुर्की में तनातनी बढ़ रही थी। मोसल खुद ही कुर्द का एक प्रदेश था और उस हिस्से से लगा हुआ था जिसमें बलवा खड़ा हुआ था। तुर्कों ने स्वभावतः यह अन्दाज लगाया कि इस बलवे के पीछे इंग्लैण्ड का हाथ है और ब्रिटिश एजेण्टो ने कमालपाशा के सुधारो के खिलाफ कट्टर मजहबी कुर्दों को भड़काया है। यह कहना मुमकिन नही है कि ब्रिटिश एजेण्टो का इस बलवे से कोई ताल्लुक था या नहीं, गोकि यह बात स्पष्ट थी कि उस मौके पर तुर्की में कुर्द बलवे का ब्रिटिश सरकार ने स्वागत किया। जो हो, इतना तो साफ था कि इस बलवे का ज्यादातर ताल्लुक मजहबी कट्टरता से था और यह भी साफ है कि इसमें कुर्द राष्ट्रीयता का भी बड़ा हिस्सा था। संभवत. राष्ट्रीय भाव ही सबसे जोर पर था।

कमालपाशा ने तुरन्त ही आवाज बुलन्द की कि तुर्की कौम खतरे में है, क्योंकि कुर्दों के पीछे इंग्लैण्ड का हाथ है। उसने नेशनल असेम्बली से एक कानून पास कराया। इस कानून में कहा गया था कि बोलकर या लिखकर लोगो को भड़काने के लिए मजहब का इस्तेमाल करना जबरदस्त देश-द्रोह का जुर्म समझा जायगा और उसके लिए

सबसे कड़ी सजा दी जायगी। मस्जिदों में उन मजहबी बातों का पढ़ाना भी बन्द कर दिया गया जिनसे प्रजातंत्र के प्रति लोगो की भक्ति या वफ़ादारी में कुछ फ़र्क लाने की संभावना थी। इसके बाद उसने बड़ी बेरहमी से कुर्दों को कुचल दिया और हजारों की तादाद में उनका फ़ैसला करने के लिए स्वतंत्रता की ख़ास अदालतें (Special Tribunals of Independence) क़ायम कीं। शेख़ सईद, डाक्टर फ़ुआद और दूसरे बहुत-से कुर्द नेता फाँसी पर चढ़ा दिये गये। वे ओठों पर कुर्दिस्तान की आजादी का नाम लेते-लेते मरे।

इस तरह तुर्कों ने, जो कुछ ही दिन पहले अपनी आजादी के लिये लड़ रहे थे, अपनी आजादी की माँग करनेवाले कुर्दों को कुचल दिया। यह अजीब बात है कि कैसे रक्षणात्मक राष्ट्रीयता उग्र और आक्रामक राष्ट्रीयता (Aggressive Nationalism) में तब्दील हो जाती है और किस तरह आजादी की लड़ाई दूसरों को गुलाम बनाने और दूसरों पर प्रभुता क़ायम करने की शक्ल में बदल जाती है। १९२९ ई० में फिर कुर्दों का एक बलवा हुआ और फिर वह, कम-से-कम उस वक़्त, कुचल दिया गया। हमेशा के लिए तो भला कोई उस क़ौम को कैसे कुचल सकता है, जो आजादी की माँग पर डटी हुई है और उसकी क़ीमत चुकाने को तैयार है?

इसके बाद कमालपाशा ने उन सब लोगों की तरफ़ नजर डाली जिन्होंने नेशनल असेम्बली में या उसके बाहर उसकी नीति का विरोध किया था। एक डिक्टेटर की ताकत या सत्ता की भूख सदा उसके इस्तेमाल के साथ बढ़ती जाती है; वह कभी सन्तुष्ट या तृप्त नहीं होती, न वह किसी क़िस्म की मुख़ालफ़त बरदाश्त कर सकती है। मुस्तफा कमाल ने भी सब तरह के विरोध पर नाराजगी जाहिर की और इसी वक़्त किसी धर्मान्ध द्वारा उसका ख़ून करने की कोशिश से मामला बिलकुल ख़राब होगया। स्वतंत्रता की अदालतें सारे तुर्की में घूम-घूमकर उन सब लोगों को सख़्त सजा देने लगीं जो गाजी पाशा की मुख़ालफ़त करते थे। यहाँतक कि असेम्बली के बड़े-से-बड़े लोग और कमाल के पुराने नेशनलिस्ट साथी भी, विरोध में होने पर, नहीं बचने गये। रऊफ बेग, जिसे अंग्रेजों ने माल्टा को निर्वासित या जलावतन कर दिया था, और जो बाद में तुर्की का प्रधान मंत्री हुआ, अपनी ग़ैरहाजिरी में ही दण्डित हुआ। बहुत-से दूसरे महत्वपूर्ण नेता और सिपहसालार, जो आजादी की लड़ाई में बहादुरी के साथ लड़े थे, बेइज्जत किये गये और उनको सजा दी गई और कुछ फांसी पर चढ़ा दिये गये। उनके ख़िलाफ इलजाम यह लगाया गया कि उन्होंने राज्य की रक्षा के विरुद्ध कुर्दों के साथ और शायद पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड के साथ भी षड्यंत्र किया था।

सब विरोध को खत्म कर देने के बाद मुस्तफा कमाल अब एकमात्र डिक्टेटर था और इस्मतपाशा उसका दाहिना हाथ था। अब उसने अपने कई विचारो को, जो अभीतक उसके दिमाग मे भरे हुए थे, अमली शक्ल देना शुरू किया। उसने बहुत छोटी बात से सुधार शुरू किया पर वह एक नमूने की बात थी। उसने 'फेज' यानी तुर्की टोपी पर हमला किया, जो तुर्को और कुछ हद तक मुसलमानो का प्रतीक या निशान हो गई थी। उसने फौज के साथ बहुत सम्हलते हुए शुरुआत की। फिर भी वह खुद हैट लगाकर जनता के सामने उपस्थित हुआ, जिससे भीड को बडी हैरत हुई और उसने 'फेज' पहनने को अपराध करार देकर उसका खात्मा किया। टोपी को इतना ज्यादा महत्व देना महज एक पागलपन मालूम होता है। ज्यादा महत्व की बात यह है कि सिर के अन्दर क्या है, न कि वह जो सिर के ऊपर है। पर कभी-कभी छोटी-छोटी बाते बडी बातो का प्रतीक या निशान बन जाती है और कमालपाशा ने गरीब 'फेज' के रूप में पुराने रिवाज और कट्टरता पर हमला किया। इस सवाल पर दगे हुए। उन्हे दबा दिया गया और विरोधियो और दगाइयो को सख्त सजायें दी गई।

पहले पैंतरे में फतह पाने के बाद मुस्तफा कमाल ने आगे एक कदम और रक्खा। उसने सब मठ और धर्मस्थान बन्द कर दिये या तोड़ दिये और उनका सारा धन राज्य के लिए जब्त कर लिया। जो दरवेश इन स्थानो या मठो में रहते थे उन्हे अपनी रोजी के लिए काम और मेहनत करने को कहा गया। यहाँतक कि उनका खास तरह की पोशाक पहनना भी बन्द कर दिया गया।

इसके भी पहले मुसलमानी मजहबी स्कूल तोड़ दिये गये और उनकी जगह राज्य के गैरमजहबी स्कूल कायम कर दिये गये थे। तुर्की में बहुत-से विदेशी स्कूल-कालेज थे। उनको भी अपनी मज़हबी तालीम बन्द करने को मजबूर होना पडा। अगर वे इनकार करते तो उन्हें एकदम से बन्द कर दिया जाता। इन विदेशी स्कूलो में तुर्की विषय अनिवार्य कर दिये गये।

कानून में भी ऊपर से नीचे तक तब्दीली हुई। अभीतक बहुतेरी बातो में कानून कुरान की शिक्षाओ पर, जिसे 'शरियत' कहते है, आश्रित था। अब स्विस सिविल कोड (स्वीजरलैंड का दीवानी कानून), इटालियन पेनल कोड (इटली का दण्ड-विधान) और जर्मन कमर्शल कोड (जर्मनी का व्यापारिक विधान) का ज्यादातर हिस्सा लेकर कानून बनाया गया। इसका मतलब व्यक्तिगत क़ानून (Personal law), जिसके मुताबिक शादी, विरासत वगैरा का काम चलता था, में पूरी तब्दीली हो जाना था। इन बातो के बारे में पुराना इस्लामी क़ानून बदल दिया गया। एकसाथ कई औरतो से शादी करने का रिवाज उठा दिया गया।

दूसरा परिवर्तन, जो पुराने मजहबी रिवाजो के खिलाफ गया, इनसान की शक्ल-सूरत को लेकर ड्राइंग, चित्रकला और मूर्तिकला को बढ़ाना या उत्साहित करना था। इस्लाम इस चीज को नहीं मानता। मुस्तफ़ा कमाल ने इस काम के लिए, लड़के-लड़कियों को कला सिखानेवाले स्कूल खोले।

'नौजवान तुर्क' आन्दोलन के जमाने से ही तुर्की स्त्रियो ने आजादी की लड़ाई में बड़ा महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। कमालपाशा उनको हर तरह के बन्धनों से छुड़ाकर आजाद करने के लिए बडे उत्सुक थे। एक 'नारी-अधिकार रक्षण सभा' यानी स्त्रियों के हकूक को महफूज रखनेवाली सभा खोली गई और उनके लिए कई कामों या पेशों के दरवाजे खोल दिये गये। पहले परदा और घूंघट पर जोरदार हमला किया गया और दोनों बडी तेजी के साथ ग़ायब होगये। स्त्रियों को घूंघट फाड फेंकने के लिए सिर्फ मौका और सहूलियत देने की जरूरत है। कमालपाशा ने उनको यह मौका दिया और वे बाहर निकल आईं। उसने यूरोपियन नाच को बडा उत्तेजन दिया। वह न सिर्फ खुद इसका शौकीन था बल्कि उसकी समझ से यह औरतो की आजादी और पाश्चात्य सभ्यता का प्रतिनिधित्व था। हैट और नृत्य प्रगति और सभ्यता के नारे बन गये। ये पश्चिम के मामूली प्रतीक थे, पर कम से कम उन्होने, सतहपर तो खूब काम किया और तुर्की ने अपनी टोपी, अपनी पोशाक और अपनी जिन्दगी का तरीका बदल दिया। परदानशीन औरतो की पीढी-की-पीढ़ी चन्द सालो के बीच वकीलों, मास्टरों, डाक्टरों और जजो में तब्दील होगई। यहाँतक कि इस्तम्बोल की सडको पर पुलिस औरतें भी हैं। यह देखने में बडा मजा आता है कि एक चीज दूसरे पर कैसे असर डालती है। लैटिन वर्णमाला को मंजूर कर लेने से तुर्की में टाइपराइटरो का इस्तेमाल बहुत ज्यादा बढ़ गया और इसका मतलब यह हुआ कि ज्यादा शार्टहैंड टाइपिस्टों की जरूरत हुई, जिससे स्त्रियों को भी ज्यादा नौकरियाँ मिलने लगीं।

जहां लडको को मजहबी मदरसों में रटकर सब कुछ याद कर लेने का पुराना तरीक़ा सिखाया जाता था वहाँ उनको मुख्तलिफ़ तरीकों पर अपना विकास करके आत्मविश्वासी और योग्य नागरिक बनाने पर जोर दिया जाने लगा। एक उल्लेखनीय संस्था 'शिशु-सप्ताह' थी। कहा जाता है कि हर साल, एक हफ्ते तक, हरेक सरकारी अधिकारी हटा दिये जाते और उनकी जगह लडके काम करते और सारे राज्य का इन्तजाम लडकों के जरिये चलाया जाता। मैं नहीं जानता कि वह व्यवस्था किस तरीके पर की जाती है, पर यह आकर्षक धारणा यानी अपनी तरफ खींचनेवाला खयाल है और मुझे विश्वास है कि कुछ लडके चाहे कितने ही बेवकूफ़ और अनुभवहीन हो, वे उससे ज्यादा बेवकूफी नहीं कर सकते जितनी हमारे बडी उम्र के मनहूस

और बडे गभीर तथा पवित्र दिखाई देनेवाले शासक और अधिकारी करते है।

एक छोटी-सी, पर तुर्की के शासको के नये दृष्टिकोण को जाहिर करनेवाली, तब्दीली यह हुई कि सलाम करने के रिवाज को धीरे-धीरे हटा दिया गया। यह कहा गया कि 'हेण्ड शेकिग' (हाथ मिलाना) स्वागत का ज्यादा सभ्य तरीका है और आगे से उसीको अपनाना चाहिए।

इसके बाद कमालपाशा ने तुर्की भाषा, या जैसा कि वह कहता था उसमें आये हुए विदेशी तत्वो पर एक जबरदस्त हमला किया। तुर्की जबान अरबी लिपि में लिखी जाती थी, जो उर्दू या फारसी लिपि से मिलती-जुलती थी। कमालपाशा ने इन दोनो को विदेशी और मुश्किल बताया। ऐसे ही सवाल मध्यएशिया में सोवियट यूनियन के सामने भी पेश हुए थे, क्योंकि कई तातारी कौमो की लिपि अरबी या फारसी से ली हुई लिपि थी। १९२४ में सोवियट ने इस सवाल पर विचार करने के लिए बाकू में एक कान्फ्रेंस की और यह तय हुआ कि मध्यएशिया की मुख्तलिफ तातारी जबानो के लिए लैटिन लिपि ग्रहण की जाय। इसका मतलब यह कि जबानें तो वही रही पर वे लैटिन या रोमन लिपि में लिखी जाने लगी। चिन्हो की एक खास प्रणाली निकाली गई, जिससे इन जबानो के खास स्वरो या शब्दो को ठीक तौर से जाहिर किया जा सके। मुस्तफा कमाल का भी ध्यान इस तरीके की तरफ गया और उसने इसे सीखा। उसने इसका प्रयोग तुर्की जबान पर किया और इसके पक्ष में व्यक्तिगत रूप से एक जबरदस्त आन्दोलन शुरू कर दिया। कई वर्षों के प्रचार और तालीम के बाद कानून के जरिये एक तारीख मुकर्रर करदी गई जिसके बाद अरबी लिपि का इस्ते-माल कानूनन बन्द कर दिया गया और उसकी जगह लैटिन लिपि लाजिमी या अनि-वार्य कर दी गई। अखबार, किताबो और दूसरी सब चीजो का लैटिन लिपि में छपना जरूरी होगया। १६ से ४० वर्ष की उम्र के हर व्यक्ति को स्कूल में जाकर लैटिन लिपि सीखनी पडी। जो अधिकारी इसे नहीं जानते थे उन्हें बर्खास्त किया जा सकता था। अपनी सजा पूरी करने के बाद भी कैदी तब तक न छोडे जाते जबतक वह नई लिपि सीख न लेले। एक डिक्टेटर, फिर अगर लोकप्रिय हुआ तो, कही निकलने का रास्ता नही देता। शायद थोडी ही सरकारें यो जनता की जिन्दगी में इतना ज्यादा दखल देने की हिम्मत करेंगी।

इस तरह तुर्की में लैटिन लिपि कायम होगई, पर जल्दी ही दूसरी तब्दीली आई। पता चला कि अरबी और फारसी शब्द इस लिपि में आसानी से नहीं लिखे जा सकते। उनके खास स्वर या 'नुआंस' (nuances) यानी भावो के सूक्ष्म अन्तर इसमें जाहिर नही किये जा सकते। शुद्ध तुर्की शब्द इतने अच्छे या संस्कृत

नही थे; वे ज्यादा रूखे, कर्णकटु, सीधे और जोरदार थे और नई लिपि में आसानी से लिखे जा सकते थे। इसलिए यह तय हुआ कि तुर्की ज़बान से अरबी फारसी के शब्द निकाल दिये जायँ और उनकी जगह पर शुद्ध तुर्की शब्द रक्खे जायँ। इस फैसले के पीछे एक राष्ट्रीय कारण भी था। जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, कमालपाशा जहाँ तक मुमकिन हो, तुर्की को अरबी और पूर्वी प्रभावो से अलग रखना चाहता था। अरबी और फारसी शब्दो और जुमलो और मुहावरो से भरी हुई पुरानी तुर्की ज़बान शाही उस्मानी दरबार की शानशौकत से भरी जिन्दगी के लिए ठीक हो सकती थी, पर नये जोरदार तुर्की प्रजातंत्र के लिए वह ठीक नही समझी गई। इस तरह अच्छे और मँजे हुए शब्द छोड़ दिये गये और विद्वान प्रोफेसर और दूसरे लोग किसानों की ज़बान सीखने और पुरानी तुर्की ज़बान से शब्दो की तलाश करने के लिए गाँवो में गये। अभीतक तब्दीली हो रही है। उत्तरी हिन्दुस्तान में हमारे लिए ऐसी तब्दीली का मतलब पुराने दरबारी जीवन की एक यादगार-सी लखनऊ और दिल्ली की अलंकृत पर बनावटी हिन्दुस्तानी को छोड़कर बहुतेरे ग्रामीण या 'गँवारू' शब्दो को ग्रहण, करना होगा।

भाषा की इन तब्दीलियो की वजह से शहरो और आदमियो के नामो में भी तब्दीली हुई। जैसा तुम जानती हो, अब कुस्तुनतुनिया इस्तम्बोल हो गया है, अंगोरा अंकारा बन गया है और स्मर्ना अब इस्मीर है। तुर्की में आदमियो के नाम ज्यादातर अरबी से लिये होते हैं। मुस्तफा कमाल खुद एक अरबी नाम है। नई प्रवृत्ति शुद्ध तुर्की नाम रखने की चल पडी है।

एक और तब्दीली, जिससे आफत और मुसीबत आई, यह थी कि नमाज और अजाँ भी तुर्की ज़बान में होने का कानून बना दिया गया। मुसलमान सदा से नमाज मूल अरबी में ही पढते रहे है; आज भी हिन्दुस्तान में उसकी यही सूरत है। इसलिए कितने ही मौलवियो और मस्जिदो के मुहाफिजो ने कहा कि यह अनुचित है और उन्होंने अरबी में ही नमाज पढना जारी रक्खा। इस सवाल पर कई दंगे हुए और अब भी होते रहते है, पर कमालपाशा की मातहती में तुर्की सरकार ने दूसरे विरोधो की तरह इसे भी कुचल दिया है।

पिछले दस वर्षो की इन महान् सामाजिक उथल-पुथल ने जनता की जिन्दगी को बिलकुल बदल दिया है और पुराने रिवाजो और मजहबी बातो से अलग, एक नई पीढी का विकास हो रहा है। गोकि ये तब्दीलियाँ काफी बडी और महत्वपूर्ण है, पर उनसे देश के आर्थिक जीवन में कुछ ज्यादा फर्क नहीं पड़ा है। सिरे पर की चंद तब्दीलियो के अलावा उसका आधार वही है जो पहले था। कमालपाशा अर्थशास्त्री

नहीं ह और न वह उन वडी तब्दीलियो के पक्ष में है जो सोवियट रूस में हुई है। इसलिए यद्यपि उसकी सोवियट रूस से राजनैतिक दोस्ती है, पर आर्थिक दृष्टि से वह साम्यवाद से दूर रहता है। ऐसा जान पडता है कि उसके राजनैतिक और सामाजिक विचार महान् फ्रेंच राज्यक्रान्ति के अध्ययन से वने है।

पेशेवर वर्ग को छोड़कर अभीतक तुर्की में कोई जोरदार मध्यमवर्ग नही है। यूनानियो ओर दूसरे विदेशी वर्गों के देश के वाहर भेज दिये जाने से व्यापारिक जीवन कमजोर पड गया है। पर तुर्की सरकार अपनी आर्थिक आजादी को कुरबान करने की जगह राष्ट्रीय गरीवी ओर धीरे-धीरे होनेवाले औद्योगिक विकास को कही ज्यादा पसद करती है। चूंकि उसे डर है कि ज्यादा तादाद में विदेशी पूँजी देश में आने से आर्थिक आजादी को कुरबान करना पडेगा ओर वाद में उसकी वजह से विदेशो की लूट जारी हो जायगी, इसलिए उसने विदेशियो को उद्योग-व्यवसाय खोलने के मामले में अनुत्साहित किया है। विदेशी माल पर भारी चंगी लगाई गई है। कई उद्योगो का राष्ट्रीयकरण होगया है, यानी जनता की तरफ से सरकार उनपर कब्जा रखती और उन्हे चलाती है। रेलवे तेजी से वन रही है।

खेती में कमालपाशा की खासतोर पर दिलचस्पी है, क्योकि तुर्की किसान तुर्की राष्ट्र और फौज की रीढ़-सा रहा है। नमूने के खेत (माडल फार्म) वनाये गये है; ट्रैक्टरो (इजिन से चलनेवाले वडे हलो) का प्रचार किया गया है और किसानो की सहयोग-समितियो को उत्तेजन दिया गया है।

आज, वाकी दुनिया की तरह, तुर्की भी महान् मंदी के चक्कर में फँसा हुआ है और अपनी गुजर करना उसके लिए मुश्किल होरहा है। गाजीमुस्तफा कमाल पाशा देश का सर्वेसर्वा वना हुआ है, और यद्यपि कभी-कभी जहाँ-तहाँ वलवे और दगे हो जाते है पर कोई ज्यादा जोरदार विरोध नही दिखाई देता है। कमाल १८८० में पैदा हुआ था और इस वक्त भी जीवन के मध्यान्ह में है और उसके सामने कई वर्षो का काम फैला हुआ है।

: १६० :

हिन्दुस्तान गाँधीजी का अनुसरण करता है

११ मई, १९३३

अब मै तुम्हे हिन्दुस्तान की हाल की घटनाओं के वारे में कुछ वताऊँगा। स्वभावत. दूसरे मुल्को में होनेवाली घटनाओ की वनिस्वत इनमें हमारी ज्यादा दिल-चस्पी है, और इसलिए मुझे अपने ऊपर नियंत्रण रखना पडेगा कि कहीं मै वहुत ज्यादा

ब्यौरे की बातों में न चला जाऊँ। हमारी निजी दिलचस्पी के अलावा, जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, आज हिन्दुस्तान दुनिया की बडी समस्याओं या सवालो में से एक है। यह साम्राज्यवादी हुकूमत का एक नमूनेदार (Typical) और ऊँचे दर्जे का पुराना देश है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सारा ढॉचा इसपर खड़ा रहा है और इस सफल ब्रिटिश उदाहरण से दूसरे देश भी साम्राज्यवादी दुस्साहसिकता यानी कमजोर देशो को गुलाम बनाने और उनका शोषण करने के रास्ते पर चलने को ललचे है।

मैंने हिन्दुस्तान पर लिखे अपने पिछले खत में तुमसे उन तब्दीलियो का ज़िक्र किया है जो युद्ध के ज़माने में यहाँ हुईं। उसमें मैंने हिन्दुस्तानी उद्योगो और हिन्दुस्तानी पूँजीपति-वर्ग की बढ़ती और हिन्दुस्तानी उद्योगो के प्रति ब्रिटिशनीति के परिवर्तन की बात भी लिखी थी। हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड पर पड़नेवाला औद्योगिक और व्यापारिक दवाव वढ़ रहा था और राजनैतिक दवाव में भी वढ़ती हो रही थी। सारे पूर्व में एक राजनैतिक जागरण हो रहा था और युद्ध के वाद सारी दुनिया में क्षोभ और वेचैनी फैली हुई थी। हिन्दुस्तान में कभी-कभी हिंसात्मक क्रान्तिकारी घटनायें हो जाती थीं। जनता को वडी-वडी उम्मीदें थी। ब्रिटिश सरकार खुद समझ रही थी कि कुछ-न-कुछ करना चाहिए। उसने जॉच के वाद राजनैतिक क्षेत्र में कुछ तब्दीली करने की तजवीज़ें की थी, जो माण्टेगू-चेलम्सफोर्ड रिपोर्ट में वताई गई थीं। आर्थिक क्षेत्र में उसने वढ़ते हुए मध्यमवर्ग के सामने कुछ टुकडे फेंक दिये थे, पर इस बात की होशयारी रक्खी थी कि सत्ता और शोषण के किले उसीके हाथ में रहे।

युद्ध के वाद कुछ दिनो तक व्यापार फूलता-फलता रहा और वडी भारी समृद्धि का ज़माना आया जिसमें लोगो ने, ख़ासकर वंगाल के जूटवालों ने, ख़ूव मुनाफा उठाया। इसमें तो सालाना मुनाफे की दर (Dividend) अक्सर सौ फी सदी से भी ऊँची हो जाती थी। चीज़ो के दाम चढ़ गये और कुछ सीमा तक, पर चीज़ो के दाम की वढ़ती के मुकाविले कम, मजदूरी की दर भी वढ़ गई। दाम चढ़ जाने से वह मालगुज़ारी भी वढ़ गई जो काश्तकार ज़मींदार को देता था। इसके वाद मन्दी आई और व्यापार विगड़ने लगा। उद्योगो में लगे मजदूरो और काश्तकारो की हालत बहुत ख़राव होगई और असन्तोप ज़ोरो से वढ़ने लगा। इस दिन-दिन विगड़ती हुई हालत की वजह से कारखानो में वहुतेरी हड़तालें हुईं। अवध में, जहाँ ताल्लुकेदारी प्रणाली में ख़ासतौर से काश्तकारो की हालत वहुत ख़राव थी, करीव-करीव अपने-आप एक ज़ोरदार किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। पढ़े-लिखे छोटे मध्यमवर्गों में वेकारी बढ़ गई और उनको वडी मुसीवत का सामना करना पड़ा।

युद्ध के वाद के ज़माने के शुरू दिनो की यह आर्थिक पार्श्वभूमि थी, और

अगर तुम इसका ख़याल रक्खो तो बाद की राजनैतिक घटनाओ के समझने में तुम्हे मदद देगी। देश में एक उग्र या सैनिक 'स्पिरिट' थी जो मुख़्तलिफ़ सूरतो में अपनेको ज़ाहिर कर रही थी। उद्योग-धंधो में लगे हुए मजूर अपने मजदूर-संघ बना रहे थे और बाद में उन्होने अखिल-भारतीय मजूर संघ कांग्रेस (All India Trade Union Congress) का सगठन किया। छोटे-छोटे जमीदार और अपनी जमीन पर मिल्कियत रखनेवाले किसान सरकार से असन्तुष्ट थे और राजनैतिक कार्रवाई की तरफ झुक रहे थे। काश्तकार भी, चोट खाये हुए कीडे की तरह, उलटने की कोशिश कर रहे थे और मध्यमवर्ग, ख़ासतौर से उनमें वे लोग जो बेकार थे, निश्चित रूप में राजनीति की तरफ और उनमें से मुट्ठीभर क्रान्तिकारी कार्यों की तरफ झुक रहे थे। इन हालतो से हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख और दूसरे सब एकसमान प्रभावित हुए थे, क्योंकि आर्थिक स्थितियाँ मजहबी तफावत की तरफ बहुत कम ध्यान देती है। पर इन बातो के अलावा मुसलमान तुर्की के ख़िलाफ़ होनेवाली लड़ाई और इस शका से ज्यादा उत्तेजित हो रहे थे कि कही ब्रिटिश सरकार 'जज़ीरत-उल-अरब' और उसके मक्का, मदीना और जरूसलम वग़ैरा पवित्र शहरों पर कब्ज़ा न करले। याद रक्खो कि जरूसलम यहूदियो, ईसाइयो और मुसलमानो—तीनों का तीर्थस्थान है।

हिन्दुस्तान युद्ध के बाद इन्तज़ार कर रहा था। वह खीझ से भराहुआ बल्कि उग्र था। उसे ज्यादा उम्मीद तो न थी, फिर भी कुछ आस लगी थी। कुछ ही महीनो के अन्दर नई ब्रिटिश नीति के पहले फल, जिनकी तरफ लोग बडी आस लगाय हुए थे, क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए ख़ास कानून बनाने की तजवीज की सूरत में सामने आगये। ज्यादा आज़ादी की जगह ज्यादा दमन आया। ये बिल एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर बनाये गये थे और रालट बिल के नाम से मशहूर है। पर बहुत जल्द वे सारे देश में 'काले बिल' (Black Bills) के नाम से पुकारे गये; हर जगह हर हिन्दुस्तानी, यहाँतक कि बहुत ज्यादा माडरेट लोगो द्वारा भी उनकी निन्दा की गई। उनमें सरकार और पुलिस को बहुत ज्यादा अख़्तियारात दे दिये गये थे। उनके मुताबिक पुलिस को अख़्तियार था कि जिससे वह नाराज़ हो या जिसपर उसका शुबहा हो उसे गिरफ्तार कर सकती, बिना मुकदमा चलाये जेल में रख सकती और खुफिया मुकदमा चला सकती थी। उस वक्त इन बिलो के बारे में एक मशहूर बयान यह था—"न वकील, न अपील, न दलील।" उधर बिलो की मुखालफत बढ़ती और जोरदार होती गई, इधर राजनैतिक क्षितिज पर एक नई चीज़, एक छोटा-सा बादल प्रकट हुआ और तेज़ी से बढ़ने और फैलने लगा—यहाँतक कि उसने सारे भारतीय आकाश को ढक लिया।

यह नया तत्त्व—यह बादल मोहनदास करमचन्द गाँधी था। वह युद्ध-काल में दक्षिण अफ़रीका से हिन्दुस्तान लौटा था और अपने साथियों के साथ साबरमती में एक आश्रम बनाकर रहता था। वह राजनीति से दूर रहता था। यहाँतक कि उसने युद्ध के लिए सिपाहियों की भरती करने में सरकार की मदद की थी। दक्षिण अफरीका के अपने सत्याग्रह-युद्ध के कारण वह हिन्दुस्तान में अच्छी तरह मशहूर हो चुका था। १९१७ में (मैं यह सब याददाश्त के सहारे लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीख़ें ग़लत भी हो जायँ) उसनें बिहार के चम्पारन जिले के निलहे गोरों के जुल्म के ख़िलाफ बडी कामयाबी के साथ दुखिया और पीड़ित काश्तकारो का नेतृत्व किया था। बाद में उसनें गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों का साथ दिया था। १९१९ ई० के शुरू में वह बडे जोर से बीमार पड़ा। वह इस बीमारी से उठा ही था कि देश में राउलट बिल से कोहराम मच गया। उसने भी इस आम मुख़ालफत में अपनी आवाज़ मिलादी।

लेकिन उसकी आवाज़ दूसरो से कुछ जुदा थी। यह शान्त और धीमी थी, फिर भी सर्वसाधारण के शोर के ऊपर सुनाई देती थी। यह मुलायम और नम्र थी, फिर भी इसमें कहीं फौलाद (यानी फौलाद जैसा कड़ापन) छिपा हुआ था। यह मीठी और अपील से भरी हुई थी, फिर भी इसमें कोई दृढ़ और डरावनी चीज़ थी। उसमें इस्तेमाल किया हुआ हरेक लफ़्ज़ अर्थ से भरा हुआ था और उसके पीछे एक ज़बर-दस्त सचाई मालूम पड़ती थी। शान्ति और मित्रता यानी सुलह और दोस्ती की ज़बान के पीछे शक्ति और क्रिया की काँपती हुई छाया थी और ग़लती के आगे न झुकने का निश्चय था। अब तो हम इस आवाज़ से परिचित होगये हैं; हमनें पिछले चौदह वर्षो में कितनी ही बार इसे सुना। पर फरवरी और मार्च १९१९ में यह आवाज़ हमारे लिए नई थी। हम ठीक तरह नहीं जानते थे कि इसका क्या करना चाहिए, पर हम पुलकित हो उठे। निन्दा की हमारी शोरगुल-भरी राजनीति से यह कुछ एक बिलकुल जुदी चीज थी—उस राजनीति से जो सदा विरोध के फिज़ूल और बेअसर प्रस्तावो में, जिनपर कोई ज्यादा ध्यान न देता था, खत्म होती थी। पर यह उससे जुदा चीज़ थी। यह क्रिया की लड़ाई की राजनीति थी, बातचीत और बहस-मुबाहसे की राजनीति नहीं।

बापू ने उन लोगो की एक सत्याग्रह-सभा बनाई जो चुने हुए कानून को तोडने और उसके लिए जेल जाने को तैयार थे। उस वक़्त यह बिलकुल नया ख़याल था और हममें से बहुत-से इससे जोश में भर उठे और कितने ही सहमकर पीछे हट गये। आज तो यह (जेल) घटनाओ के लिए मामूली और सामान्य स्थान बन गया है और हममें से बहुतो के लिए हमारी ज़िन्दगी का एक निश्चित और नियमित हिस्सा बन गया है।

जैसा उनका कायदा है, बापू ने वाइसराय को एक नम्रतापूर्ण अपील और चेतावनी भेजी। जब उहोने देखा कि सारे हिन्दुस्तान के विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार कानून पास करने पर तुली हुई है, तो उन्होने सारे हिन्दुस्तान में एक शोक-दिवस या मातम का दिन मनाने को कहा। तय हुआ कि उस दिन हड़ताल की जाय; सारे कारबार बद रहे और सभायें की जायें। बिलो के कानून बन जाने के बाद का पहला रविवार इसके लिए चुना गया। इस दिन सत्याग्रह आन्दोलन की शुरुआत होने वाली थी और यो ६ अप्रैल १९१९ का रविवार सारे देश, शहरो और गाँवो में सत्याग्रह-दिवस के रूप में मनाया गया। यह अपने ढग का पहला अखिल-भारतीय यानी सारे हिन्दुस्तान में होनेवाला प्रदर्शन था और यह बडा शानदार और प्रभावशाली रहा, जिसमें सब तरह के लोगो और जातियों ने हिस्सा लिया। हममें से जिन लोगो ने इस हडताल के लिए काम किया था वे इसकी कामयाबी पर हैरत में आ गये। हम लोग सिर्फ शहर के थोडे लोगो तक पहुँच सके थे. पर हवा में एक नई 'स्पिरिट' आ गई थी और किसी तरह से वह संदेश हमारे विशाल देश के दूर-दूर के गाँवो तक पहुँच गया। पहली मर्तबा गाँववालों और शहरातियो ने बहुत वडे पैमाने पर एक राजनैतिक प्रदर्शन में हिस्सा लिया।

६ अप्रैल के एक हफ्ते पहले, तारीख़ के बारे में गलतफहमी होजानें से, दिल्ली नें ३१ मार्च को पड़नेवाले रविवार के दिन ही हड़ताल मनाई थी। वे दिन दिल्ली के हिन्दुओ और मुसलमानो में भाईचारे की मुहब्बत के दिन थे और आर्यसमाज के मशहूर नेता स्वामी श्रद्धानन्द के जामा मस्जिद में बडी-बडी सभाओ के सामने भाषण देने का पवित्र दृश्य दिखाई पड़ा। ३१ मार्च को पुलिस और फौज ने सड़को पर जमा जबरदस्त भीड़ को तितर-बितर करने की कोशिश की और उसपर गोलियाँ भी चलादीं, जिससे कई आदमी मारे गये। अपने सन्यासी के वेश में लम्बे और महान् स्वामी श्रद्धानन्द ने, चाँदनी चौक में, खुले हुए सीने और न झपकनेवाली आँखो से गुरखो की किरचों का सामना किया। उन्होनें उन गुरखो की किरचो पर फतह हासिल की और इस घटना से सारा हिन्दुस्तान पुलकित हो उठा। पर इसकी 'ट्रेजेडी'—दु ख से भरी बात—यह है कि आठ से कम ही वर्षों बाद अपनी बीमारी में चारपाई पर पडे-पडे वह एक धर्मान्ध मुसलमान के हाथो, छुरा भोककर, मार डाले गये।

६ अप्रैल के उस सत्याग्रह-दिवस के बाद घटनायें तेजी से घटीं। जब अमृतसर में १० तारीख को निरस्त्र और नंगे सिर भीड़ पर, जो अपनें नेताओ डॉ० किचलू और डॉ० सत्यपाल की गिरफ़्तारी पर दु ख प्रकट करने के लिए इकट्ठी हुई थी, फौज ने गोली चलादी और कई आदमी मारे गये, तो एक दंगा होगया। भीड़ ने पांच

या छः निर्दोष अंग्रेजों को, जो अपने दफ़्तरों में बैठे हुए थे, मारकर और उनके बैंको के मकानो को जलाकर इसका पागलपन से भरा हुआ बदला लिया। उसके बाद तो जैसे पंजाब पर एक परदा छा गया। वह बाकी हिन्दुस्तान से जबरदस्त सेंसर के जरिये अलग कर दिया गया; मुश्किल से वहाँकी कोई खबर आती थी और लोगो का इस सूबे में जाना या वहाँ से बाहर आना बड़ा मुश्किल था। वहाँ मार्शलला यानी फौजी कानून जारी कर दिया गया था और उसका हाहाकार कई महीनो तक जारी रहा। हफ़्तो और महीनो की हाहाकार-भरी चुप्पी के बाद धीरे-धीरे परदा उठा और उन खौफ़नाक घटनाओ की सच्ची बाते लोगो को मालूम पड़ीं।

मैं यहाँ तुमसे पंजाब के फौजी क़ानून की भयंकरताओ का जिक्र न करूँगा। अमृतसर के जलियाँवाला बाग में १३ अप्रैल को जो कत्लेआम हुआ उसे सारी दुनिया जानती है। वहाँ उस मौत के पिंजड़े में, जिससे भागने या बचने का कोई रास्ता न था, हजारो आदमी मारे गये और जख्मी हुए। अमृतसर लफ्ज ही 'कत्लेआम' का समानार्थवाची होगया है। यह हत्याकाण्ड तो बुरा था ही, पर सारे पंजाब में ऐसी और भी, और इससे भी अधिक लज्जाजनक, बाते हुईं।

इतने वर्षों के बाद भी इस सब बर्बरता और भयंकरता को क्षमा कर देना मुश्किल है, फिर भी इसे समझने में कोई मुश्किल नहीं है। अपनी हुकूमत के तरीके या स्वभाव के कारण हिन्दुस्तान में अंग्रेज सदा यह महसूस करते है कि वे किसी ज्वालामुखी के किनारे पर बैठे हुए है। उन्होने हिन्दुस्तान के दिल व दिमाग को बहुत कम समझा है और समझने की कोशिश भी शायद ही कभी की है। वे अपने लम्बे-चौड़े और जटिल संगठन और उसके पीछे की फौजी ताकत पर विश्वास रखकर अपनी जिन्दगी अलग बसर करते रहे है। पर उनके सारे विश्वास के पीछे सदा किसी अज्ञात चीज का भय है और डेढ़ सौ वर्षों की हुकूमत के बाद भी हिन्दुस्तान उनके लिए एक अज्ञात प्रदेश है। उनके मन में १८५७ के गदर की स्मृतियाँ ताजा हैं और वे महसूस करते हैं कि जैसे वे एक अजीब, अपरिचित और विरोधी देश में रहते हैं जो किसी भी वक्त उनपर टूट सकता और उनके टुकडे-टुकडे कर दे सकता है। उनके खयालात की यह आम बुनियाद है। जब उन्होने एक ऐसा बड़ा आन्दोलन देश में उठते हुए देखा जो उनके खिलाफ था, तो उनकी शंका बढ गई। जब १० अप्रैल को अमृतसर में हुए खूनी कारनामों की खबर पंजाब के बड़े-बड़े अधिकारियो के पास लाहौर पहुँची तो वे स्थिर न रह सके। उन्होने समझा कि १८५७ के गदर की तरह यह भी बड़े पैमाने पर होनेवाली खूनी बगावत है और सब अंग्रेजो की जान खतरे में है। उन्हे खून दिखाई दिया और इसलिए उन्होने जनता पर आतंक पैदा करना चाहा। जालियाँवाला-

वाग का हत्याकाण्ड, फौजी कानून और वाद की घटनायें उनकी इसी मानसिक स्थिति रुख का परिणाम थी।

कोई एक डरे हुए आदमी के वुरे वर्ताव को, फिर चाहे उसके डर का कोई वास्तविक कारण न भी हो, समझ सकता है, यद्यपि उसे माफ नही कर सकता। पर इससे भी ज्यादा हैरत और गुस्सा हिन्दुस्तान को इस बात पर हुआ कि जनरल डायर ने, जो अमृतसर में हुई गोलीबारी और हजारो जख्मी आदमियो के प्रति जंगली उपेक्षा या लापरवाही के लिए जिम्मेदार था, कई महीने वाद भी वडे अपमानजनक ढग से अपने किये हुए कामो को ठीक बताया। जख्मी आदमियो के प्रति उसने अपनी उपेक्षा के वारे में कहा—"यह मेरा काम नही था।" इग्लैण्ड में कुछ आदमियो और सरकार ने डायर की वडी हलकी आलोचना की थी। पर ब्रिटिश शासक-वर्ग का सामान्य रुख हाउस ऑफ लार्ड्स (पार्लमेण्ट की सरदार सभा) की वहस में दिखाई पड़ा, जिसमें जनरल डायर की प्रशसा की झडी लगा दी गई। इन सब वातो ने हिन्दुस्तान में गुस्से की आग को तेज रक्खा और पजाव के जुल्मो को लेकर सारे देश में कटुता छा गई। सरकार और काग्रेस दोनो ने जाँच-कमेटियाँ बैठाई कि वे पता लगावे कि पंजाब में असल में क्या घटनायें हुई। देश ने उनकी रिपोर्ट का इन्तजार किया।

उस साल से १३ अप्रैल हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रीय दिवस रहा है और ६ अप्रैल से १३ अप्रैल, यानी आठ दिन तक, राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता है। अब जालियाँवाला वाग एक राजनैतिक तीर्थ बन गया है। इस वक्त यह बडी खवसूरती के साथ वनाया गया वाग है और इसकी ज्यादातर पुरानी भयंकरता दूर हो गई है, पर स्मृतियाँ वहांकी हवा में अव भी छा रही है।

विचित्र संयोग से उस साल, दिसम्वर १९१९ में, कांग्रेस अमृतसर में हुई। दादू इसके सभापति थे और इसके सबसे नन्हे दर्शको में से एक इन्दिरा प्रियदर्शिनी भी थी! इस कांग्रेस में कोई महत्वपूर्ण निश्चय नही हुआ, क्योकि जाँच-कमेटियो की रिपोर्ट और नतीजे का इन्तजार था। पर यह साफ जाहिर था कि कांग्रेस वदल गई है। अव उसका एक सार्वजनिक रूप होगया था और इसमें एक नई और कुछ पुराने काग्रेसमैनो के लिए खतरनाक या चिन्ता-जनक ताकत आगई थी। उसमें लोकमान्य तिलक भी आये थे, जो सदा की तरह किसी तरह का समझौता करने या झुकने के खिलाफ थे। यह कांग्रेस में उनका आखिरी आना था, क्योकि दूसरी कांग्रेस के पहले ही उनकी मृत्यु होनेवाली थी। उसमें वापू थे, जो सर्वसाधारण में लोकप्रिय थे और काग्रेस और भारतीय राजनीति पर अपने प्रभुत्व के लम्बे युग की शुरुआत कर रहे थे। इस कांग्रेस में जेलो से छूटे हुए वे वहुतेरे नेता आये थे, जिन्हे

फ़ौजी क़ानून के दिनों में षड्यंत्र के भयंकर मुक़दमों में फँसाकर लम्बी सजायें दी गई थीं पर क्षमादान मिलने से छोड़ दिये गये थे। इनमें मशहूर अलीबन्धु (स्व० मौलाना मुहम्मदअली और शौक़तअली) भी थे जो कई वर्षों की नजरबन्दी के बाद हाल में ही छोडे गये थे।

दूसरे साल कांग्रेस ने ग़ोता मारा और बापू का असहयोग का कार्यक्रम मंजूर किया। कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें यह पास हुआ और बाद में नागपुर के सालाना जलसे में पक्के तौर पर स्वीकार किया गया। यह कार्यक्रम पंजाब और खिलाफ़त के जुल्मों को दूर करने के आधार पर बनाया गया था और बाद में उनके साथ स्वराज्य का प्रश्न भी जोड़ दिया गया। पंजाब के जुल्मो को दूर करने का मतलब वहाँके क़सूरवार अफ़सरो को सजा देना था। लड़ाई का तरीका बिलकुल शान्तिपूर्ण—या जैसाकि उसे कहते थे अहिंसात्मक—था और सरकार को उसके शासन और हिन्दुस्तान के शोषण में मदद देने से इनकार करना इसका आधार था। विदेशी सरकार से मिले हुए ख़िताबो, सरकारी उत्सवो, अदालतो, सरकारी स्कूलों और कालेजों और माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारो के मुताबिक़ बनी नई कौंसिलों का बायकाट इसमें शामिल था। वकीलों को भी अदालतो का बायकाट करना था। यह तजवीज की गई थी कि बाद में दीवानी और फौजी नौकरियो का भी बायकाट किया जायगा और टैक्स देने से इनकार कर दिया जायगा। रचनात्मक काम की दिशा में चर्खा और खादी का प्रचार और सरकारी अदालतों की जगह पंचायतें क़ायम करना रक्खा गया। और बडी महत्वपूर्ण बातें, जिनपर जोर दिया गया, हिन्दू-मुस्लिम एकता और हिन्दुओं के बीच से छुआछूत को दूर करना था।

कांग्रेस ने अपना विधान भी बदल दिया और कुछ काम करनेलायक संस्था बन गई। उसने सर्वसाधारण के लिए अपनी सदस्यता का दरवाजा भी खोल दिया।

अभीतक कांग्रेस जो कुछ करती रही थी उससे यह कार्यक्रम बिलकुल ही जुदा था। बल्कि सारी दुनिया के लिए यह एक नई बात थी, क्योंकि दक्षिण अफरीका में जो सत्याग्रह हुआ था उसका दृष्टिकोण और क्षेत्र बहुत छोटा था। अब इस कार्यक्रम का मतलब कुछ लोगो के लिए—जैसे वकीलों, जिन्हे वकालत छोड़ने को कहा गया था, और विद्यार्थियो, जिन्हे अपने कालेजों का बायकाट करना था, के लिए—तुरन्त बहुत बडी क़ुरबानी करना था। इसकी जाँच करना भी मुश्किल था, क्योंकि तुलना के लिए कोई पैमाना न था। इसमें ताज्जुब की बात नहीं कि पुराने और अनुभवी कांग्रेस-नेता इसमें शामिल होने मे हिचकिचाये और शंकित होउठे। उनमें सबसे बडे नेता लोकमान्य तिलक थे, जिनकी मृत्यु कुछ ही पहले हो चुकी थी। दूसरे बडे

कांग्रेस-नेताओं में से सिर्फ दादू ने आन्दोलन की शुरुआत में गाँधीजी का समर्थन किया। पर औसत कांगेसमैन, मामूली आदमी या सर्वसाधारण जनता के उत्साह के बारे में कोई सन्देह न था। बापू जैसे उन्हे बहा या उड़ा ले गये या उनपर कोई जादू कर दिया। सर्वसाधारण ने 'गांधीजी की जय' के नारे से आसमान गुंजाकर अहिंसात्मक असहयोग के नये सिद्धान्त के प्रति अपनी मंजूरी जाहिर की। मुसलमान भी औरो की तरह उत्साह से भर रहे थे। अलीबन्धुओ के नेतृत्व में खिलाफत कमेटी ने इस प्रोग्राम को कांग्रेस के भी पहले मान लिया था। जल्द ही सर्वसाधारण के उत्साह और आन्दोलन की शुरू की कामयाबियो को देखकर ज्यादातर पुराने कॉंग्रेस-नेता इसमें आ गये।

मैं इन खतो में, इस आन्दोलन के गुण-दोष अर्थात् अच्छाइयो और खराबियो, या इसके पीछे के तत्त्वज्ञान की जॉच नही कर सकता। यह एक बड़ा पेचीदा सवाल होगा। और शायद इसके जन्मदाता गाँधीजी के सिवा दूसरा कोई अच्छी तरह या संतोष-जनक रीति से इसे नहीं कर सकता। फिर भी हमें बाहरी आदमी की निगाह से इसे देखना चाहिए और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह इतनी तेजी और कामयाबी के साथ क्यो फैल गया।

विदेशी शोषण में सर्वसाधारण जनता पर पड़नेवाले आर्थिक बोझ या दबाव और दिन-पर-दिन उनकी बिगड़ती हुई हालत और मध्यम वर्गो में बढ़ती हुई बेकारी की चर्चा मैं तुमसे कर चुका हूँ। इसके लिए उपाय क्या था? राष्ट्रीयता के बढ़ने से लोगो का ध्यान राजनैतिक स्वतन्त्रता की तरफ गया। लोगो ने समझा कि आज़ादी की सिर्फ इसीलिए जरूरत नही है कि आश्रित और गुलाम होना बेइज्जती और शर्म की बात है; वह सिर्फ इसीलिए जरूरी नही है कि तिलक के लफ्जो में 'वह हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हमें उसे हासिल करना चाहिए', बल्कि अपनी कौम या राष्ट्र पर ग़रीबी का जो बोझ है उसको कम करने के लिए भी उसकी जरूरत है। ज़ाहिर था कि चुपचाप बैठकर इस उम्मीद के साथ उसका इन्तजार करने से कि वह अपने-आप आ जायगी, वह नही मिल सकती। इसके साथ यह बात भी साफ ज़ाहिर थी कि सिर्फ विरोध और प्रार्थना करने के तरीके, जिसपर कभी कम कभी जरा ज्यादा जोश से कांग्रेस अभीतक चल रही थी, एक कौम के लिए न सिर्फ उसकी मर्यादा या इज्जत के प्रतिकूल थे बल्कि फिजूल और बेअसर भी थे। इतिहास में ऐसे तरीको से कामयाबी हासिल करने या शासन और सुविधा-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता छोड़ने पर मजबूर करने की कोई मिसाल न थी। इतिहास ने तो हमें बताया कि गुलाम क़ौमो या वर्गो को उनकी आज़ादी हिंसात्मक विद्रोह यानी ख़ूनी बलवो और बगावत से ही हासिल हुई है।

पर सशस्त्र विद्रोह का हिन्दुस्तानी क़ौम के लिए कोई सवाल ही न था। हम निरस्त्र थे और हममें से ज्यादातर लोग हथियारों का इस्तेमाल करना भी नहीं जानते थे। इसके अलावा, हिंसात्मक संघर्ष या लड़ाई में ब्रिटिश सरकार या किसी भी राज्य की संगठित शक्ति उससे कहीं ज्यादा थी जितनी उसके खिलाफ़ खड़ी की गई कोई ताक़त होती। फ़ौजों में बलवा हो सकता था। पर निरस्त्र क़ौम बग़ावत नहीं कर सकती थी और न हथियारबन्द दलों और ताक़तों का सामना कर सकती थी। दूसरी तरफ़ व्यक्तिगत आतंकवाद यानी कुछ अफ़सरों को बम या पिस्तौल से मार डालना एक दिवालिये का कार्यक्रम था। यह जनता को नैतिक दृष्टि से गिरानेवाला था और यह सोचना महज़ खामखयाली था कि यह एक जबरदस्त संगठित सरकार को हिला सकता है—फिर व्यक्तियों को वह चाहे कितना ही भयभीत क्यों न कर दे। जैसा कि मैंने तुम्हें बताया है, इस तरह व्यक्तिगत हिंसा रूसी क्रान्तिकारियों को भी छोड़ देनी पड़ी थी।

तब क्या बचता था? रूस अपनी क्रान्ति में कामयाब हो चुका था और उसने मजदूरों का एक प्रजातंत्र क़ायम कर लिया था। उसका तरीक़ा फ़ौज की मदद से सर्वसाधारण की लड़ाई का तरीक़ा था। पर रूस में भी सोवियटों को कामयाबी उस वक़्त हासिल हुई थी जब महायुद्ध के कारण देश और पुरानी सरकार तहस-नहस हो रही थी और मुखालफ़त के लिए कुछ बचा न था। इसके अलावा उस ज़माने में हिन्दुस्तान में बहुत थोड़े लोग रूस या मार्क्सवाद के बारे में कुछ जानते या मजदूरों और किसानों के दृष्टिकोण से कुछ सोचते थे।

इसलिए इन सब तरीक़ों से हम कहीं न पहुँचते थे और इस बेइज्जती की गुलामी की असह्य हालत से निकलने का कोई रास्ता नजर नहीं आता था। जो लोग भावुक थे वे बड़ी जबरदस्त बेचारगी और मायूसी महसूस करते थे। यह वक़्त था जब गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम पेश किया! आयर्लैण्ड के सिनफीन की तरह इसने हमें अपने पैरों खड़ा होना और अपनी ताक़त का निर्माण करना सिखाया और जाहिर था कि सरकार पर दबाव डालने का यह एक बड़ा प्रभावशाली तरीक़ा है। सरकार हिन्दुस्तानियों के सहयोग, फिर चाहे वह सहयोग अपनी इच्छा से हो या अनिच्छा से हो, पर ही ज्यादातर खड़ी थी और अगर वह सहयोग हटा लिया जाय और बायकाट पर अमल किया जाय तो सैद्धान्तिक दृष्टि से यह बिलकुल मुमकिन था कि सरकार का सारा ढांचा बैठ जाय। मगर असहयोग वहांतक न पहुँचे तो भी इसमें कोई शुबहा न था कि वह सरकार पर जबरदस्त दबाव डाल सकता और साथ-साथ जनता की ताक़त बढ़ा सकता है। यह पूरे तौर पर शान्तिपूर्ण था। फिर भी यह सिर्फ एक अप्रतिरोध (Non-Resistance)

नहीं था। सत्याग्रह अन्याय या जुल्म के प्रतिरोध का एक निश्चित, यद्यपि अहिंसात्मक, तरीका था। अमल में यह एक शान्तिपूर्ण बगावत थी, युद्ध-कला का एक सबसे सभ्य तरीका था, और फिर भी राज्य के लिए खतरनाक था। यह सर्व-साधारण के लिए अपनी ताकत पहचानने और अपने अस्तित्व की रक्षा करने का एक प्रभावशाली रास्ता था और हिन्दुस्तानी जनता या कौम की विशेष प्रतिभा के अनुकूल था। यह हमारी स्थिति या बर्ताव को बहुत अच्छा रखता था और विरोधी या दुश्मन को गलती में डाल देता था। इसने हमारा वह भय दूर कर दिया था जो हमें कुचल रहा था ओर हम शासको से इतनी निडरता से आँखें मिलाकर देखने लगे जैसा हमने कभी न देखा था और उनसे अपने दिल की बाते पूरे तौर पर और साफ-साफ करने लगे। हमारे मन से एक बड़ा बोझ उठ गया और बोलने और काम करने की आजादी ने हमें आत्मविश्वास और शक्ति से भर दिया। फिर शान्तिपूर्ण तरीके के कारण वह भयकर रूप से कटु जातीय और राष्ट्रीय घृणा काफी हद तक रुक गई जो ऐसी लड़ाइयो के साथ हमेशा पैदा होती और बढ़ती है, और इससे आखरी निबटारा आसान होगया।

इसलिए इसमें ताज्जुब की कोई बात नही कि असहयोग के इस कार्यक्रम ने, जिसके साथ गांधीजी का महान् व्यक्तित्व था, देश की कल्पना को ही जगा दिया और उसे आशा से भर दिया। यह फैलता गया और इसके स्पर्श से पुरानी कमजोरियाँ दूर होगई। नई कांग्रेस ने देश के ज्यादातर शक्तिमान तत्त्वो को अपनी तरफ खींच लिया और उसकी ताक़त और मर्यादा बढ गई।

इस दरमियान नये माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारो के मुताबिक़ नई कौंसिलें और असेम्बलियाँ बन चुकी थी। माडरेटो ने, जो अब लिबरल नाम से पुकारे जाते है, उनका स्वागत किया था और उनमें मिनिस्टरी और दूसरे अधिकार के ओहदो को मजूर कर लिया था। वे अमली तौर पर क़रीब-क़रीब सरकार में ही घुल-मिल गये थे और उनके पीछे जनता का बल न था। कांग्रेस ने इन कौंसिलो का बायकाट किया था, इसलिए देश में उनकी तरफ बहुत कम ध्यान दिया गया। सबकी आँखें बाहर गाँवो और शहरो में होनेवाली लड़ाई की तरफ लगी हुई थीं। पहलीबार बहुत बडी तादाद में कांग्रेस-कार्यकर्ता गाँवो में पहुँचे थे। वहाँ कांग्रेस कमेटियाँ क़ायम की थीं, और गांव वालो की राजनैतिक जागृति में मदद कर रहे थे।

मामला तूल पकड़ गया था और लाजिमी तौर पर दिसम्बर १९२१ में भिड़न्त होगई। यह मौका प्रिंस ऑफ वेल्स के हिन्दुस्तान आने का था। इस आगमन का कांग्रेस ने बायकाट किया था। सारे हिन्दुस्तान में बहुत बडी तादाद में गिरफ्तारियां हुईं और

हजारो राजनैतिक कैदियों से जेले भर गईं। हममें से ज्यादातर लोगों को जेल के अन्दर का पहला अनुभव उसी वक्त हुआ। यहाँतक कि कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष देशबन्धु चित्तरंजन दास भी गिरफ्तार कर लिये गये और अहमदाबाद का कांग्रेस-अधिवेशन उनकी जगह हकीम अजमलखाँ की सदारत में हुआ। पर गाँधीजी उस वक्त गिरफ्तार नहीं किये गये और आन्दोलन बढ़ता गया। उन लोगो की तादाद जो अपनेको गिरफ्तारी और जेल के लिए पेश कर रहे थे, उससे हमेशा ज्यादा रही जितने कि गिरफ्तार किये जाते थे। चूँकि मशहूर नेता और कार्यकर्ता जेल भेज दिये गये, इसलिए नये, अनुभव-हीन और कभी-कभी अवांछनीय आदमियों ने (यहाँतक कि खुफिया पुलिस के आदमियो ने भी!) उनका स्थान ग्रहण किया; इससे कुछ अव्यवस्था और हिंसा भी हुई। १९२२ के शुरू में, युक्तप्रान्त में गोरखपुर के नजदीक चौरी-चौरा में किसानो की एक भीड़ और पुलिस के बीच भिड़न्त होगई। किसानों ने पुलिस चौकी को, जिसके भीतर कुछ पुलिस सिपाही भी थे, जला दिया। बापू को इस और दूसरी चन्द घटनाओ से बहुत दुःख हुआ, क्योकि इनसे मालूम होता था कि आन्दोलन हिंसात्मक होता जा रहा है। इसलिए, उनकी राय मानकर, कॉंग्रेस-कार्यसमिति ने असहयोग का कानून तोड़नेवाला कार्यक्रम स्थगित कर दिया। इसके थोडे ही दिनो बाद खुद बापू भी गिरफ्तार कर लिये गये, उनपर मुकदमा चला और उन्हे ६ वर्ष की सजा दी गई। यो असहयोग-आन्दोलन की पहली अवस्था खत्म हुई।

: १६१ :

उन्नीस सौ बीस के बाद का भारत

१४ मई, १९३३

जब १९२२ ई० में सविनय अवज्ञा स्थगित कर दी गई तब असहयोग-आन्दोलन की पहली अवस्था खत्म हुई; पर, उसके स्थगित कर दिए जाने से, बहुत-से कॉंग्रेसमैनो को बड़ा असन्तोष हुआ। बहुत बडी जागृति होगई थी और करीब-करीब तीस-हजार आदमी कानून तोड़ कर जेल गये थे। क्या इन सब बातों का कुछ विचार नहीं करना था और क्या आन्दोलन को एकाएक, बिलकुल बीच में, उद्देश्य पूरा होने के पहले, सिर्फ इसलिए स्थगित कर देना था कि कुछ जोशीले किसानो ने चौरीचौरा में बुरा बर्ताव किया था? आन्दोलन का उद्देश्य खिलाफत और पंजाब के जुल्मो और अन्यायो को ठीक करवाना और स्वराज्य हासिल करना था। खिलाफत का सवाल तुर्की में होनेवाली घटनाओ और कमालपाशा की कारगुजारियो से अपने आप खत्म

होगया था। पंजाब का सवाल स्वराज्य के बड़े सवाल में मिल गया था; पर स्वराज्य अब भी बहुत दूर था। दिल्ली और मुख्तलिफ सूबो में खिलौने-सी कौंसिलें थी, जिनका कॉंग्रेस ने बायकाट किया था। इन कौंसिलो के पास बहुत कम असली ताकत थी; उनके कुछ सदस्य सरकारी अधिकारी थे, कुछ सरकार के नामजद किये हुए थे, और चुने हुए सदस्य भी सीमित मताधिकार यानी थोड़े वोटरो की राय से चुने गये थे। तब क्या किया जाता? उस वक्त गाँधीजी भी जेल में थे।

कॉंग्रेस ने इस सवाल पर गौर करने के लिए 'सिविल डिसओबिडियंस इनक्वायरी कमेटी' यानी 'सविनय अवज्ञा जाँच समिति' नाम की एक कमेटी नियुक्त की। सारे हिन्दुस्तान का दौरा करने और लम्बे बहस-मुबाहसे के बाद कमेटी ने जो रिपोर्ट पेश की उसकी वजह से कॉंग्रेस एक-दूसरे का विरोध करनेवाले दो दलो में बँट गई। एक दल जिसे परिवर्तनवादी दल कहा जाता था, असहयोग के बायकाट वाले कार्यक्रम में तब्दीली करने का तरफदार था और चाहता था कि कौंसिलो का बायकाट उठा लिया जाय; यानी वे कांग्रेसवालो के नई असेम्बलियो और कौंसिलो में जाने के तरफदार थे। उनका कहना था कि कॉंग्रेसवालो को वहाँ सरकार से सहयोग करने के लिए नही बल्कि कौंसिलो के अन्दर से सरकार के काम में अडंगा डालने के लिए जाना चाहिए। दूसरा यानी अपरिवर्तनवादी दल इस तब्दीली के खिलाफ था। चूंकि शुरू मे कॉंग्रेस में अपरिवर्तनवादियो का बहुमत था, इसलिए कौंसिलो पर कब्जा करने के तरफदार दूसरे दल ने कॉंग्रेस के अन्दर दूसरी एक पार्टी कायम की। इसका नाम 'स्वराज्य दल' रक्खा गया और इसके मुख्य जन्म दाता देशबन्धु चित्तरंजन दास और दादू थे। समय पाकर इस दल का प्रभाव बढ़ गया और उसे कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया।

इस स्वराज्य दल को १९२३ के चुनाव में काफी कामयाबी हासिल हुई और सभी कौंसिलो में स्वराजी बडी तादाद में चुने गये। पर सरकारी और नामजद सदस्यो की भारी तादाद के कारण बहुत ही कम कौंसिलों में उनका स्पष्ट बहुमत हो सका। इसलिए उन्होने कौंसिल के अन्दर अपने काम के लिए और दलो से दोस्ती करनी शुरू की। इसका मतलब उन दलो के साथ समझौता और राजनैतिक सौदा हुआ जो ज्यादा नरम थे और उतनी दूर तक जाने को तैयार न थे। इसका मतलब अरुचिकर समझौता और आदर्शो का झुकाना था। इसका मतलब उन स्वराजी सदस्यो का, जो कौंसिलो में गये थे, सर्वसाधारण जनता की आवाज से बिछुड़ना भी था, क्योंकि वे अपनी नकली पार्लमेंण्टो के तौर-तरीको और छोटी-मोटी चालो में ज्यादा फँसते गये। उन्होने कुछ जोरदार प्रस्ताव पास किये और साल का बजट पास करने से इन्कार कर दिया। सरकार ने उनके प्रस्तावो की उपेक्षा की और वाइसराय ने

बजट को सर्टीफाई यानी मंजूर कर लिया। ताक़त प्रस्तावो और वोटों का विषय नहीं थी, वह दूसरी बातों पर आश्रित थी। स्वराजी प्रस्तावों ने बडी हलचल पैदा की. पर यह जाहिर होगया कि उन पर जोर डालने या उन्हें पास कराने के लिए कुछ और भी करना पडेगा।

१९२० के बाद के जमाने में हिन्दुस्तान को जो मुख्तलिफ ताकतें और आन्दोलन हिला रहे थे, उन्हें समझने की हमें कोशिश करनी चाहिए। सबसे बड़ा सवाल हिन्दू-मुस्लिम सवाल था। तनातनी बढ़ रही थी और उत्तरी हिन्दुस्तान में मस्जिदों के आगे बाजा बजाने के हक़ जैसे छोटे सवालों पर कई जगह दंगे हो चुके थे। असह-योग के जमाने की उस दर्शनीय एकता के बाद यह एक अजीब और आकस्मिक परि-वर्तन था। यह कैसे होगया और उस एकता का आधार क्या था?

राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार मुख्यत आर्थिक मुसीबत और बेकारी था। इ की वजह से सभी वर्गो में ब्रिटिश सरकार के खिलाफ़ एक सामान्य भावना और स्त राज्य की स्पष्ट इच्छा पैदा होगई थी। यह विरोधी भाव ही जुदा-जुदा वर्गो बीच एक मिलानेवाली कडी था। इसलिए सबने मिलकर आन्दोलन किया। प इन विविध वर्गों का उद्देश्य अलग-अलग था। हर जमात के लिए स्वराज्य व एक जुदा अर्थ था—बेकार मध्यम वर्ग नौकरी या धन्धा चाहता था, किसान जमींदा द्वारा थोपे हुए अपने अनेक बोझों से राहत चाहता था, इसी तरह अलग-अल जमातें अलग-अलग बातें चाहती थीं। मुसलमान इन सवालो पर एक मजहबी जमा की नजर से देखते हुए शामिल हुए थे। ख़ास तौर पर ख़िलाफत के लिए उनर जमात-की-जमात आन्दोलन में आ गई थी। यह एक शुद्ध मजहबी सवाल था जिससे सिर्फ मुसलमानो पर असर पड़ता था। जो मुसलमान नहीं थे उनका इससे कु मतलब न था। पर बापू ने इसको ग्रहण किया और दूसरो को भी इसके ग्रह करने को उत्साहित किया, क्योंकि वह मुसीबत में पडे भाई की मदद करना अपना फ समझते थे। इससे उन्होने हिन्दू-मुसलमानो को नजदीक लाने की भी उम्मीद की थी इस तरह आम तौर पर मुसलमानों का दृष्टिकोण मुस्लिम राष्ट्रीयता या मुस्लि अन्तर्राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण था, सच्ची राष्ट्रीयता का नहीं। हाँ, उस वक्त इ दोनों तरह की राष्ट्रीयताओं के बीच की कशमकश जाहिर नही थी।

दूसरी तरफ़ राष्ट्रीयता की हिन्दू धारणा निश्चितरूप से हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना थी। इस मामले में हिन्दू राष्ट्रीयता और सच्ची राष्ट्रीयता के बीच ठीक-ठीक रेखा खींचना आसान नहीं था। दोनो एक-दूसरे से घुल-मिल गई थीं, क्योंकि सिर्फ हिन्दुस्तान ही हिन्दुओं का एक देश है और यहाँ उनका बहुमत है। इसलिए हिन्दुओं

के लिए मुसलमानो की बनिस्वत पूर्ण राष्ट्रवादी की शक्ल में जाहिर होना ज्यादा मुमकिन था, हालाकि हरेक अपनी ख़ास तरह की राष्ट्रीयता का हामी था।

तीसरे वह चीज थी जिसे सच्ची या भारतीय राष्ट्रीयता कहा जा सकता है और जो ऊपर वताई हुई दोनो मजहबी और साम्प्रदायिक राष्ट्रीयताओ से बिलकुल एक जुदा चीज थी। यह उस तरह की राष्ट्रीयता थी जो पश्चिमी देशो में दिखाई पडती है और ठीक-ठीक कहे तो यही एक रूप है जिसे आजकल के अर्थ में राष्ट्रीयता कहा जा सकता है। इस तीसरी जमात में हिन्दू, मुसलमान और दूसरे लोग भी थे। १९२० से १९२२ तक, असहयोग आन्दोलन के जमाने में ये तीनो जमाते या तीनो तरह की राष्ट्रीयतायें एकसाथ मिल गई थी। तीनो रास्ते अलग-अलग थे, पर थोडी देर के लिए समानान्तर दौड़ रहे थे।

१९२१ के सामूहिक आन्दोलन से ब्रिटिश सरकार हैरत में आगई। उसे इसका नोटिस काफी पहले मिल चुका था, पर वह यह नही सोच सकी कि इसके साथ क्या सलूक करना चाहिए या इसे कैसे सम्हालना चाहिए। उसने देखा कि वह अपनी गिरफ्तारी और सजा के पुराने सीधे तरीके से इसे दवा नही सकती, क्योकि कांग्रेस खुद यही वात (गिरफ्तारी या सजा) चाहती थी। इसलिए उसके खुफिया विभाग ने अन्दर से कांग्रेस को कमजोर करने का तरीका निकाला। पुलिस एजेण्ट और खुफिया विभाग के आदमी कांग्रेस कमेटियो में पहुँचे और झगड़ा पैदा कर दिया। उन्होने हिंसा को उत्तेजना दी, जिससे असहयोग के शान्तिपूर्ण उपायो में बाधा पडी और अव्यवस्था पैदा होगई। इस विचित्र तरह की शान्तिपूर्ण लड़ाई और हिंसा को साथ-साथ चलाना साफ-साफ नामुमकिन था। हरेक दूसरे में दखल डालती थी या दूसरे के काम में दिक्कत पेश करती थी। सरकारी अधिकारियो और खुफिया विभाग का दूसरा तरीका यह था कि वे साधुओ और फकीरो के वेश में अपने खुफिया एजेण्टो को साम्प्रदायिक झगडे और दगे खडे करने को भेजते थे।

ऐसे उपाय सदा ही उन सरकारो द्वारा किये जाते है जो जनता की स्वीकृति के बगैर जबरदस्ती उसपर हुकूमत करती है। साम्राज्यवादी सरकारो का कार-बार उन्हीके भरोसे चलता है। ऐसे उपायो को कामयावी हासिल होती है, इससे जनता की कमजोरी और पिछडे होने का ही ज्यादा सवूत मिलता है, सरकार की गुनहगारी का उतना नही। दूसरे देश की जनता में भेद पैदा कर देना और उन्हे एक-दूसरे से लड़ाकर और यो कमजोर करके उनका शोषण करना खुद ही वड़प्पन और श्रेष्ठतर या वेहतर संगठन की निशानी है। यह नीति तभी कामयाव हो सकती है जव दूसरे पक्ष में फूट और झगडे हो। यह कहना कि ब्रिटिश सरकार ने

हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम सवाल पैदा किया, साफतौर पर झूठ होगा; पर उसने इसे कायम रखने या दोनो जातियो के मेल को अनुत्साहित करने की जो लगातार कोशिश की है, उसकी उपेक्षा करना भी गलत होगा।

असहयोग-आन्दोलन के स्थगित कर दिये जाने के बाद, १९२२ ई० में, ऐसी साजिशो के लिए जमीन अनुकूल थी। एक सख्त लड़ाई के बाद, जो बिना किसी नतीजे के एकाएक खत्म होगई, उसकी प्रतिक्रिया हो रही थी। तब वे मुख्तलिफ सड़कें, जो एक-दूसरे के समानान्तर चल रही थी, एक-दूसरे से दूर होने और भिन्न दिशाओ में जाने लगीं। खिलाफत का सवाल अब था ही नहीं। हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक नेता, जो असहयोग के जमाने में जनता के सामूहिक उत्साह से दब गये थे, अब मौका देखकर फिर उठ खडे हुए और सार्वजनिक जीवन में हिस्सा लेने लगे। मध्यमवर्ग के बेकार मुसलमानो नें महसूस किया कि हिन्दुओ ने सब नौकरियो पर क़ब्जा जमा रक्खा है और हमारे रास्ते में कॉटें है। इसलिए उन्होने अपने बारे में जुदा बर्ताव करने और हर चीज में अलग हिस्सा दिये जानें की मॉग की। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम सवाल में नौकरियों का झगड़ा और मध्यम श्रेणी का सवाल था। पर इसका असर सर्वसाधारण पर पड़ा।

सब मिलाकर हिन्दू कुछ अच्छी हालत में थे। अंग्रेजी तालीम को जल्दी इख्तियार करने की वजह से ज्यादातर सरकारी ओहदो और कामों पर वही नियुक्त हुए। वे मुसलमानो की बनिस्वत मालदार भी थे। गॉव का बैंकर या साहूकार बनिया था जो छोटे जमींदारो और काश्तकारो का शोषण करता था और धीरे-धीरे उन्हे बिलकुल बेहाल या भिखमंगा कर देता था और तब खुद उनकी जमीन पर कब्जा कर लेता था। बनिया हिन्दू और मुसलमान काश्तकारो और जमीन वालो में कोई भेद नहीं करता और उनका एक-सा ही शोषण करता है, पर उसके मुसलमानो के शोषण ने, खासकर उन सूबो में जिनमें किसान ज्यादातर मुसलमान थे, साम्प्रदायिक रुख इख्तियार किया। मशीन की बनी चीजो ने संभवतः हिन्दुओ की बनिस्वत मुसलमानो पर ज्यादा चोट की, क्योकि मुसलमानो में कारीगर ज्यादा थे। इन सब बातो ने हिन्दुस्तान की दोनो बडी जातियो में कटुता बढ़ाने और उस मुस्लिम राष्ट्रीयता को मजबूत बनाने में मदद की जो देश की बनिस्वत जाति की तरफ देखती थी।

साम्प्रदायिक नेताओ की मॉगें ऐसी थीं कि सच्ची राष्ट्रीय एकता की सारी उम्मीदो की जड़ पर चोट करती थीं। उन्हींके साम्प्रदायिक तरीके पर उनका मुकाबिला करने के लिए हिन्दू साम्प्रदायिक संस्था सामने आई। यद्यपि वे अपनेको सच्चे राष्ट्रवादी—नेशनलिस्ट—कहते थे, पर दरअसल वे उतने ही संकीर्ण और साम्प्रदायिक

थे जितने कि दूसरे। उनकी राष्ट्रीयता हिन्दू छाप की थी। कुछ हद तक मालिक या खुशहाल (Haves) होने के कारण उन्होने 'सर्वहारा' या साधनहीन (Have-nots) लोगो के साथ अपनी चीजो की शिरकत यानी बँटवारा करना नापसन्द किया। इसमें शक नही कि असल में मालदारो (Haves) की तो एक तीसरी ही पार्टी थी और वह शासक शक्ति यानी हुकूमत करनेवाली ताकत थी। वह टुकडो पर की इस लड़ाई का मजा लेती और फायदा उठाती थी और असली खाना उसीके हाथ रहता था।

संस्था की हैसियत से और सामूहिकरूप में काग्रेस साम्प्रदायिक सस्थाओ से अलग रही, पर काग्रेसमैनो में से बहुतो को उनकी छूत लग गई। असली राष्ट्रवादियो---नेशनलिस्टो---ने इस साम्प्रदायिक पागलपन को रोकने की कोशिश की, पर उनको बहुत कम कामयाबी हुई और बडे-बडे दंगे हुए।

इस अंधाधुधी को बढाने के लिए एक तीसरी तरह की वर्गीय राष्ट्रीयता या फिरकेवाराना कौमियत उठ खडी हुई। यह सिक्ख राष्ट्रीयता थी। गुजरे हुए जमाने में सिक्खो और हिन्दुओ के बीच का फर्क बहुत धुँधला था। राष्ट्रीय जागृति ने जानदार सिक्खो को हिला दिया और वे अपनी एक खास और जुदा हस्तीके लिए कोशिश करने लगे। उनमें एक बहुत बडी तादाद भूतपूर्व सिपाहियो की थी और इन लोगो ने एक छोटी पर बहुत अच्छी तरह सगठित जाति को, जो हिन्दुस्तान की ज्यादातर जमातो की तरह बातूनी न थी बल्कि क्रियाशील थी, कठोर बना दिया। उनमें से ज्यादातर पंजाब में अपनी जमीन के मालिक किसान (जमीदार) थे और कस्बो के बैंकरो और शहरी स्वार्थो की वजह से उनपर मुसीबत आती थी। अलग वर्ग की सूरत में स्वीकार किये जाने की उनकी माँग के पीछे असली उद्देश्य यह था। शुरू में 'अकाली' आन्दोलन ने मजहबी सवालो या गुरुद्वारो की जायदाद पर कब्जा करने में दिलचस्पी लेनी शुरू की। अकाली-आन्दोलन नाम इसलिए पड़ा कि सिखो में अकाली सबसे क्रियाशील और जोरदार थे। इस सवाल पर सरकार से उनकी भिड़न्त होगई और अमृतसर के नजदीक 'गुरु-का-बाग' में उन्होनें साहस और सहनशीलता का अद्भुत दृश्य उपस्थित किया। पुलिस ने अकाली जत्थो को बडी बुरी तरह मारा, पर उन्होनें एक कदम पीछे न हटाया और न पुलिस पर हाथ चलाया। आखिरकार अकालियो की विजय हुई और गुरुद्वारो और मठो पर उनका कब्जा होगया। तब वे राजनैतिक क्षेत्र में आये और अपने लिए बडी-बडी माँगें करने में दूसरे साम्प्रदायिक वर्गो से होड़ करने लगे।

मुख्तलिफ़ जातियो या, जैसा मैंने कहा है, जातीय या वर्गीय राष्ट्रीयताओ की ये संकुचित साम्प्रदायिक भावनाएँ बडी दु:खद मालूम पड़ती थीं और सचमुच ही वैसी

थी। फिर भी वे काफी स्वाभाविक थीं। असहयोग ने हिन्दुस्तान को पूरी तरह से हिला दिया था और इन जातियो या वर्गो की जागृति और हिन्दू, मुसलमान और सिख राष्ट्रीयतायें उसका पहला नतीजा थीं। और भी बहुत-सी छोटी जमाते थीं जिनमें चेतना पैदा हुई। इनमें 'दलितवर्ग' नाम से पुकारे जानेवाले लोग भी थे। ये लोग एक जमाने से ऊँचे दर्जे के हिन्दुओ के जरिये दबा दिये गये थे और ज्यादातर खेतो में काम करनेवाले बेजमीन मजदूर थे। यह स्वाभाविक था कि जब उनमें चेतना आई तब अपनी बहुतेरी बाधाओं या असमर्थताओ से छुटकारा पाने की जबरदस्त इच्छा भी उनमें पैदा हुई और उन हिन्दुओ के प्रति कटुतापूर्ण क्रोध उनमें भर गया जिन्होंने सदियो से उनको दबा रक्खा था।

हरेक जागृतवर्ग राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की तरफ़ अपने ही स्वार्थों की रोशनी में देखता था। एक वर्ग या जाति हमेशा खुदगर्ज होती है, जैसे एक राष्ट्र भी स्वार्थी होता है, यद्यपि जाति या कौम में व्यक्ति निःस्वार्थ दृष्टिकोण रख सकते हैं। इस तरह हर वर्ग अपने हिस्से से बहुत ज्यादा चाहता था और संघर्ष का होना लाजिमी था। एक रुपये को पच्चीस या तीस आनो में तकसीम करना मुमकिन नहीं है। ज्यों-ज्यो अन्तर्साम्प्रदायिक कटुता बढी, हर वर्ग के ज्यादा जोशीले साम्प्रदायिक नेता आगे आते गये, क्योंकि गुस्से के वक़्त हरेक वर्ग अपना प्रतिनिधि उसी आदमी को चुनता है जो अपने वर्ग की माँगो को सबसे आगे और ऊँची रखता है और दूसरे वर्गो को सबसे ज्यादा गाली दे सकता है। इससे मामला और ख़राब होजाता है। सरकार ने इस कशमकश को बहुत-से तरीको से, ख़ास तौरपर उग्र साम्प्रदायिक नेताओ को उत्साहित करके, बढ़ाया। इस तरह जहर फैलता गया और हम ऐसे शैतानी घेरे में फँस गये जिससे निकलने का कोई रास्ता दिखाई न देता था। इसे हिन्दुस्तान में अल्पमत का सवाल कहा जाता था और यह स्वराज्य के लिए एक जबरदस्त बाड़ होगया था।

जब ये शक्तियाँ और विनाशक प्रवृत्तियाँ हिन्दुस्तान में बढ़ रही थीं, गाँधीजी यरवडा-जेल में बडे जोर से बीमार पड़ गये और अपेंडिसाइटीज के लिए उनका आपरेशन हुआ। १९२४ के शुरू में वह जेल से छोड़ दिये गये। साम्प्रदायिक झगडो से वह बडे दुखी थे और कई महीनो बाद होनेवाले एक दंगे से उनको इतना धक्का लगा कि उन्होने इक्कीस दिन का अनशन किया। तुम उनके इस अनशन के वक्त दिल्ली में मौजूद थीं और शायद तुम्हे उसकी याद होगी। शान्ति कायम करने के लिए कई एकता-सम्मेलन हुए, पर उनका कोई खास नतीजा न निकला।

इन साम्प्रदायिक झगडो और वर्गीय या जातीय राष्ट्रीयताओ का असर यह हुआ कि काग्रेस और कौंसिलो की स्वराजपार्टी दोनो कमजोर होगई। स्वराज्य का

आदर्श अँधेरे में पड गया, क्योकि ज्यादातर लोग अपने-अपने वर्ग की भाषा में सोचते और वोलते थे। चूंकि कांग्रेस किसी भी वर्ग की तरफदारी करने से अपनेको वचा रही थी, इसलिए उसपर सम्प्रदायवादियो द्वारा हर तरफ से हमला हो रहा था। यहाँ-तक कि अख़ीर में काग्रेस के कितने ही मशहूर कार्यकर्ता भी साम्प्रदायिक राजनीति में फँस गये। इन दिनो काग्रेस का ख़ास कार्यक्रम शान्ति के साथ संगठन करना और खादी का था और इसने उसे किसान जनता के सम्पर्क में रक्खा।

असेम्वली और कौंसिलो के स्वराजी या कांग्रेस दल और भी ज्यादा गिर गये। क्योकि आम जनता का जीवनदायी स्पर्श उनसे छूट गया था। साम्प्रदायिक झगडे ने उन्हे कमज़ोर कर दिया, पर कौंसिलो के सदस्यो के सामने सरकार जो वहुत तरह के प्रलोभन वरावर रख रही थी वे उनके लिए इससे भी ज्यादा ख़तरनाक सावित हुए। उनके सामने न सिर्फ मिनिस्टरी और ओहदे थे, वल्कि वेशुमार कमेटियो और कमीशनो की मेम्वरी और सरकारी ख़र्चे से कभी-कभी योरप की सैर कर आने का प्रलोभन भी था। कांग्रेस ने मिनिस्टरी और दूसरे पदो का वायकाट किया था और वह आख़ीर तक इस नीति पर डटी रही। पर दूसरे मामलो में इसमें भी कमज़ोरी आगई और एक कदम के वाद दूसरा कदम वढ़ता गया। कौंसिलो के बहुत-से कॉग्रेसी सदस्यो ने अपनी स्थिति का, जिसे उन्होने कांग्रेस की मदद के जरिये हासिल किया था, अपने निजी फ़ायदे के लिए नाजायज़ इस्तेमाल किया। कुछ ने, योरप के मजदूर नेताओ की तरह, उन ऊँचे सरकारी ओहदो तक पहुँचने के लिए इससे सीढी का काम लिया जहाँ से वे कॉंग्रेस-आन्दोलन को कुचलने में सरकार की मदद करते!

रावर्ट व्राउनिंग की 'खोया हुआ नेता' (The Lost Leader) नाम की एक छोटी-सी भावपूर्ण कविता है, उसमें से चन्द लाइने मैं यहाँ दूँगा :—

Just for a handful of silver he left us,
Just for a riband to stick in his coat—
Found the one gift of which fortune bereft us,
Lost all the others she lets us devote,
They, with the gold to give, doled him out silver,
So much was theirs who so little allowed
How all our copper had gone for his service!

अर्थात् —"सिर्फ चाँदी के चन्द टुकड़ो के लिए उसने हमे छोड़ दिया— वस अपने कोट पर (उपाधि या तमगे का) एक फीता लगाने के लिए। उसने सिर्फ एक चीज़ पाई, जिससे किस्मत ने हमे महरूम रक्खा था, और उन सवको खो दिया जो उसने (किस्मत ने) हमे उसे अर्पित करने को दी थीं। जिनके पास देने के लिए सोना था उन्होंने उसे चाँदी के टुकड़े दिये, उनके पास वहुत था, पर इतना थोटा

दिया। उसकी सेवा के लिए किस तरह सारा ताँबा—सारे पैसे—हमने दे दिया था!"

ऊपर मैंने अपनी साम्प्रदायिक मुसीबतो के बारे में तुमको जरा विस्तार से लिखा है, क्योकि १९२० के बाद की हमारी राजनैतिक जिन्दगी में उनका महत्वपूर्ण भाग रहा है। फिर भी हमें उनके बारे में अतिशयोक्ति या ज्यादा बढ़ाकर बात नहीं करनी चाहिए। आजकल उनको उससे ज्यादा महत्व देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है जितना कि देना चाहिए और एक मुसलमान लड़के और हिन्दू लड़के में होनेवाला हरेक झगड़ा साम्प्रदायिक समझ लिया जाता है और हरेक छोटे दंगे का बड़ा प्रचार किया जाता है। हमें याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान एक बहुत बड़ा देश है और हजारों कस्बो और गाँवों में हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के साथ बडी शान्तिपूर्वक रहते हैं और उनके बीच कोई साम्प्रदायिक झगड़ा नहीं है। आमतौर पर इस तरह के झगडे थोड़े-से शहरो में ही होते हैं, यद्यपि कभी-कभी वे गाँवों में भी फैल जाते हैं। यह भी याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक सवाल असल में मध्यम श्रेणी का सवाल है, और चूंकि हमारी राजनीति पर मध्यम वर्ग—कॉंग्रेस में, कौंसिलो में, अखबारो में और दूसरे सब तरह के कामो में—हावी है, इसलिए इसको ज्यादा और अनुचित महत्व मिल जाता है। किसान बोलना—अपने को व्यक्त या जाहिर करना—नहीं जानते, अभी हाल के चन्द सालों से ही वे गाँवो की कॉंग्रेस कमेटियो और किसान-सभाओ और इस तरह की दूसरी संस्थाओ में हिस्सा लेने लगे हैं और यों उनकी राजनैतिक हस्ती शुरू ही हुई है। शहरो के, खास तौर पर बडे-बडे कारखानों के, मजदूर ज्यादा जागृत हैं और उन्होने मजदूर-संघ की शक्ल में अपना संगठन भी कर लिया है। पर कारखानों के ये मजदूर, और उनसे भी ज्यादा किसान, मध्यम श्रेणी से आये हुए व्यक्तियो की तरफ ही अपने नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन के लिए देखते हैं। अब हमें यह देखना है कि उस जमाने में सर्वसाधारण जनता, किसानो और कारखानो के मजदूरो की क्या हालत थी।

महायुद्ध के कारण भारतीय उद्योगो में जो तेजी की तरक्की हुई थी वह शान्ति के बाद भी कुछ वर्षो तक जारी रही। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी भरने लगी और नये कारखानों और उद्योगों को चलाने के लिए बहुत-सी नई कम्पनियो की रजिस्ट्री हुई। खास तौर पर बडी औद्योगिक पेढ़ियो और कारखानो में विदेशी पूंजी लगी थी। इस तरह बडे उद्योगो पर अमली तौर पर ब्रिटिश पूँजीवादियो का नियंत्रण कायम हो गया था। कुछ साल हुए तब अन्दाज लगाया गया था कि हिन्दुस्तान में व्यवसाय करने-वाली कम्पनियो की ८७ प्रतिशत पूँजी ब्रिटिश थी, और संभवतः यह अन्दाज भी कम ही है। इस तरह हिन्दुस्तान पर ब्रिटेन का वास्तविक आर्थिक प्रभुत्व या नियंत्रण

वढ गया। वडे-वडे शहर गाँवो के वल पर नही, छोटे शहरो के वल पर, यानी उनकी हानि करके, खडे होगये। कपडे का उद्योग ख़ास तौर पर वढ गया और इसी तरह खाने-पीने की चीजो के दामो में भी वढती हुई।

वढते हुए औद्योगीकरण यानी वडे-वडे कल-कारख़ाने की वढ़ती के नये सवालो पर ग़ौर करने के लिए सरकार ने वहुतेरी क़मेटियाँ और कमीशन वैठाये। इन कमेटियो और कमीशनो ने सिफारिश की कि विदेशी पूंजी को उत्साहित करना चाहिए। इन्होने आम तौर पर हिन्दुस्तान में ब्रिटिश औद्योगिक स्वार्थो के प्रति पक्षपात किया। हिन्दुस्तानी उद्योगो की रक्षा के लिए एक टैरिफ बोर्ड वनाया गया। पर, जैसा कि मैने कहा है, इस संरक्षण का मतलव वहुत-से मामलो में हिन्दुस्तान में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी का संरक्षण है। इन संरक्षित चीजो का दाम स्वभावतः वाजार में वढ गया, क्योकि उनको चुंगी (Duty) देनी पड़ती थी और इससे उस हद तक गुज़र-वसर का ख़र्च वढ़ गया। इस तरह संरक्षण का वोझ असल में सर्वसाधारण जनता या इन चीजो के खरीदारो पर पड़ा और कारखानेदारो को एक संरक्षित वाजार मिल गया जिससे प्रतिद्वन्द्विता हटाली गई थी या कम हो गई थी।

कारखानो के वढ़ने से, कुदरती तौर पर, उद्योग-धंधो से मजदूरी कमानेवाले लोगो की तादाद भी बढी। वहुत पहले, १९२२ में, सरकार के अन्दाज से हिन्दुस्तान में इस वर्ग म दो करोड़ आदमी थे। गाँवो के आदमी, जिनके पास जमीन नहीं थी और जो वेकार थे, इस वर्ग में शामिल होने के लिए खिचते गये और उनको शोषण की शर्मनाक हालत को वरदाश्त करना पड़ा। सौ वर्ष पहले, वडे कारखानो की प्रणाली की शुरुआत के जमाने में, इंग्लैण्ड में जो हालत थी, वही अव हिन्दुस्तान में थी—'रोजाना काम का भयंकर लम्बा वक्त, दु खदाई मजदूरी की दर, नीचे गिराने और तन्दुरुस्ती को नुकसान पहुँचानेवाली जीवन-प्रणाली। कारखानेदारो के वर्ग की निगाह सिर्फ एक ही वात पर थी और वह यह कि इस खुशहाली के जमाने में ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा उठाकर दौलत जमा करली जाय। कुछ साल तक उन्हें इस काम में खूव कामयावी भी हुई। वे वड़ा ऊँचा मुनाफा उठाते रहे; उधर मजदूरो की हालत वैसी ही खराव वनी रही। मजदूरों को इन ऊँचे मुनाफो में, जिन्हे उन्होने पैदा किया था, कोई हिस्सा न मिलता था; पर वाद में जव खुशहाली और चढ़ती के जमाने के वाद मन्दी आई और व्यापार ढीला पड़ गया, तव मजदूरो से मज़दूरी कम करके इस वदकिस्मती और घाटे में हिस्सा लेने को कहा गया, क्योकि मजदूरी में कटौती हुए विना धधे और उद्योग को मुनाफे पर नहीं चलाया जा सकता था और मालिको के मुनाफा उठाये विना कोई उद्योग कैसे चल सकता था ?

ज्यों-ज्यों मज़दूरो के संगठन यानी मज़दूर-संघ बढे, मजूरी की अच्छी हालतो, काम के कम घण्टों और ज्यादा मजदूरी की माँगें भी उनके साथ बढीं। कुछ इससे और कुछ सारी दुनिया की इस माँग के कारण कि मजदूरों के साथ अच्छा सलूक किया जाना चाहिए, सरकार ने कारखाने के मज़दूरों की हालत सुधारने के लिए बहुत-से क़ानून पास किये। मै किसी पिछले ख़त में तुमको फैक्टरी क़ानून के पास होने की बात बता चुका हूँ। इस क़ानून में यह तजवीज़ रक्खी गई कि १२ से १५ वर्ष तक के लड़के एक दिन में ६ घण्टे से ज्यादा काम न करें। इसी तरह से स्त्रियों और लड़को के लिए रात को काम करने की भी मनाई थी। बालिग मर्दों और स्त्रियो के लिए ज्यादा-से-ज्यादा ग्यारह घण्टे का दिन या ६० घण्टे का सप्ताह (एक काम का हफ़्ता जो ६ दिनों का होता है) की तजवीज़ थी। बाद की थोडी-बहुत तब्दीलियों के साथ यह फैक्टरी क़ानून अभीतक जारी है।

उन दुखिया मज़दूरों के संरक्षण के लिए जो खानो में, ख़ास तौर पर कोयले की खानो में, ज़मीन के नीचे काम करते है, १९२३ में एक इंडियन माइंस ऐक्ट या 'हिन्दुस्तानी खान क़ानून' पास हुआ। १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ज़मीन के नीचे काम करने की मनाई करदी गई, पर स्त्रियाँ काम करती रहीं—यहाँतक कि कुल मजूरो में आधी स्त्रियाँ ही थीं। बालिग लोगों के लिए ६ दिन के हफ़्ते का ज्यादा-से-ज्यादा काम यों निश्चित किया गया था—ज़मीन के ऊपर ६० घण्टे और ज़मीन के नीचे काम करने के लिए ५४ घण्टे। मैं समझता हूँ कि एक दिन काम लेने का ज्यादा-से-ज्यादा समय १२ घण्टे है। मैं काम के इन घण्टो की चर्चा इसलिए कर रहा हूं कि तुमको मज़दूरो की हालत का कुछ इल्म होजाय। इसकी मदद से भी तुम्हें उन की हालत का बहुत थोड़ा ही इल्म हो सकता है, क्योंकि उनके बारे में ठीक और पूरे तौर पर विचार बनाने के पहले तुम्हें इसके अलावा मजदूरी की दर, रहन-सहन की हालत वगैरा की जानकारी भी होनी चाहिए। यहाँ हम इन बातो में नहीं जा सकते, पर यह महसूस करने की बात है कि किस तरह लड़को और लड़कियो, स्त्री और पुरुषों को महज़ थोडी मज़दूरी के लिए, जो किसी तरह सिर्फ उनको जिन्दा रखती है, इन कारखानो में ग्यारह-ग्यारह घण्टे रोज़ काम करना पड़ता है। कारख़ानों में जिस तरह का मनहूस और उबा देनेवाला काम वे करते है वह भयंकर रूप से थका देनेवाला या दिल को गिरा देने वाला होता हैं। उसमें कोई आनन्द नहीं और जब वे बिलकुल थके हुए चूर-चूर होकर घर जाते हैं तो सारे कुटुम्ब को छोटी कोठरी, बल्कि माँद में, सफाई और टट्टी-पेशाब की सहूलियतो बग़ैर रहना पड़ता है।

कुछ और भी कानून पास हुए, जिनसे मजदूरो को कुछ मदद मिली। १९२३ में

वर्कमेन्स कम्पेनसेशन ऐक्ट (मजदूरो के मुआवजे का कानून) पास हुआ, जिसमें दुर्घटनाओ के कारण मजदूर को कुछ मुआवजा देने की तजवीज़ की गई। १९२६ में एक 'ट्रेड यूनियन ऐक्ट' भी पास हुआ जिसमें मजदूर-संघ बनाने और उसकी स्वीकृति के नियम थे। इन दिनो हिन्दुस्तान, और ख़ासकर बम्बई में मजदूर-सघ (ट्रेड यूनियन) आन्दोलन तेजी से बढ़ा। एक 'आल इडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' बनाई गई, पर चन्द सालो के बाद वह दो टुकडो में बँट गई। महायुद्ध और रूसी क्रान्ति के ज़माने से, सारी दुनिया के मजदूर दो दलो में बँट रहे थे और दो मुख्तलिफ दिशाओ में जा रहे थे। पुराने कट्टर और माडरेट मज़दूर संघ द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (सेकेण्ड इंटरनेशनल, जिसके बारे में मै पहले तुम्हें बता चुका हूँ) में शामिल थे। दूसरी तरफ नया और ज़ोरदार आकर्षण सोवियट रूस और तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ यानी 'थर्ड इंटरनेशनल' का है। इससे हर जगह माडरेट और कारख़ानो के जरा अच्छी हालत वाले मजदूर सुरक्षितता और 'सेकण्ड इटरनेशनल' की तरफ देखते है और जो ज्यादा क्रान्तिकारी है वे 'थर्ड इंटरनेशनल' की तरफ देखते है। यह खिचावट या रस्साकशी हिन्दुस्तान में भी हुई और १९२९ ई० के अखीर में अलगाव होगया। तबसे हिन्दुस्तान में मज़दूर-आन्दोलन कमजोर पड़ गया। इन दोनो दलो को एक में मिलाने की कई बार कोशिशें हुईं, पर अभीतक उनमें कोई कामयाबी हासिल नहीं हुई है।

किसानो के बारे में मै उससे कुछ बहुत ज्यादा यहाँ नही बता सकता, जितना पिछले ख़तो में लिख चुका हूँ। उनकी हालत ख़राब होती जाती है और वे साहूकार (ऋणदाता) के क़र्ज से दिन-दिन ज्यादा दबते जाते है। छोटे ज़मीदार, वे किसान जो अपनी ज़मीन के खुद मालिक है, और काश्तकार सब रुपया क़र्ज देनेवाले बनिये और साहूकार के जाल में फँसते जाते है। चूँकि कर्ज अदा करना नामुमकिन है, इसलिए धीरे-धीरे ज़मीन इस ऋण देनेंवाले यानी बनिये या साहूकार के हाथ में चली जाती है और काश्तकार उसका दोहरा गुलाम होजाता है, क्योकि वही (बनिया) अब उसका ज़मींदार और साहूकार दोनो होजाता है। आम तौर पर यह बनिया जमीदार शहर में रहता है और उसके और उसके काश्तकारो के बीच कोई सीधे या गहरे ताल्लुकात नहीं होते। उसकी तो सदा यह कोशिश होती है कि भूखो मरते हुए किसानो से ज्यादा-से-ज्यादा जितना रुपया मिल सके वसूल किया जाय। पुराना ज़मींदार खुद किसानो के बीच रहता था, इसलिए कभी-कभी उनपर दया भी कर देता था। साहूकार जमींदार, जो उनसे दूर शहर में रहता है और अपने गुमाश्तो या कारिन्दो को रुपया उगाहने के लिए भेजता है, ऐसी कमजोरी शायद ही कभी दिखाता हो।

खेतिहरों पर कितना क़र्ज़ है, इसके मुख्तलिफ़ सरकारी तख़मीने सरकारी कमेटियों ने लगाये हैं। १९३० में यह तख़मीना लगाया गया था कि बरमा को छोड़कर सारे हिन्दुस्तान के कृषिजीवी वर्गों पर कुल कर्ज़ ८०३ करोड़ यानी ८ अरब ३ करोड़ रुपयों का है। इसमें ज़मींदारों और किसानों दोनों के कर्ज़ शामिल हैं। पिछले तीन वर्षों की आर्थिक मन्दी में यह कर्ज़ बहुत बढ़ गया होगा।

इस तरह कृषिजीवी (खेती पर गुज़र करनेवाले) वर्ग, छोटे ज़मींदार और काश्तकार, एकसमान दलदल में दिन-दिन ज़्यादा नीचे डूबते जा रहे हैं और सिवा इस क्रान्तिकारी तरीक़े के कि आजकल की भूमि-प्रणाली की जड़ को काट दिया जाय उनके बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है। इंग्लैण्ड से ख़र्चीले कमीशन हिन्दुस्तान आते हैं और स्पेशल ट्रेनों में सारे देश का चक्कर काटते हैं और ऊँची आवाज़ में ऊपरी और दिखाऊ सुधार के उपाय बताते हैं। हाल के सालों में इस तरह के दो 'रायल कमीशन'—कृषि-कमीशन और मज़दूर-कमीशन—आ चुके हैं। टैक्सों का तरीक़ा कुछ ऐसा है कि सबसे ग़रीब वर्ग पर सबसे ज़्यादा बोझ पड़ता है, जिसे वह बर्दाश्त करने में समर्थ नहीं है। फ़ौज, सिविल सर्विस और दूसरे ब्रिटिश ज़िम्मेदारीवाले महकमों के, जिनसे सर्वसाधारण का कोई फ़ायदा नहीं, ख़र्च बढ़ते जाते हैं। शिक्षा पर प्रति व्यक्ति क़रीब ९ पेंस (आठ आना) ख़र्च है, जबकि ब्रिटेन में २ पौण्ड १५ शिलिंग (करीब ३६ रुपया १०½ आना) प्रति व्यक्ति है। इस तरह ब्रिटेन शिक्षा पर प्रति व्यक्ति हमसे ७३⅓ गुना ख़र्च करता है।

आबादी पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय क्या है, इसका अन्दाज़ लगाने की अकसर कोशिश की गई है। यह एक मुश्किल मामला है और अन्दाज़ में फ़र्क़ होना स्वाभाविक है। दादाभाई नौरोजी ने १८७० ई० में २० रुपया सालाना प्रति व्यक्ति का अन्दाज़ किया था। हाल के तख़मीने ६७ रुपया प्रति व्यक्ति तक पहुँचे हैं—यहाँ तक कि कुछ अंग्रेज़ों द्वारा सबसे बढ़ाकर बनाये गये तख़मीने भी ११६ रुपये से ज़्यादा नहीं जाते। दूसरे देशों से इसका मुक़ाबिला करना बड़ा दिलचस्प होगा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में प्रति व्यक्ति औसत १.९२५ रुपये का है और तबसे यह और बढ़ गया है। ब्रिटेन में यह १,००० रुपये प्रति व्यक्ति है। कैसा ज़बरदस्त अन्तर है!

: १६२ :

भारत में शान्तिपूर्ण विद्रोह

१७ मई, १९३३

हिन्दुस्तान और उसके भूतकाल के बारे में मैंने तुमको बहुतेरे दूसरे मुल्कों की बनिस्बत कही ज्यादा ख़त लिखे है; पर भूतकाल अब वर्तमान में मिलता जा रहा है और यह खत, जिसे मैं शुरू कर रहा हूँ, कहानी को आज के हिन्दुस्तान तक पहुँचा देगा। मैं हाल की चन्द घटनाओ का जिक्र करूँगा, जो हमारे मन में ताजा है। उनके बारे में लिखने का वक्त तो अभी नही आया है, क्योकि अभी कहानी अधूरी ही है। पर सब इतिहास वर्तमान में पहुँचकर एकाएक ही खत्म होजाते है और कहानी के बाकी अध्याय भविष्य के गर्भ में छिपे रह जाते है। और सच पूछें तो कहानी कभी खत्म नही होती; वह आगे चलती ही जाती है।

१९२७ के अख़ीर में ब्रिटिश सरकार ने ऐलान किया कि वह भावी सुधारो और सरकार के ढाँचे में तब्दीलियो के बारे में जाँच करने के लिए एक कमीशन भेजेगी। सारे राजनैतिक भारत ने इस ऐलान पर गुस्सा और विरोध जाहिर किया। कांग्रेस ने इसका विरोध इसलिए किया कि वह यो समय-समय पर हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता की योग्यता की जाँच किये जाने के विचार के ही सख्त खिलाफ़ थी। हिन्दुस्तान पर जबतक हो सके अपना कब्जा कायम रखने की अंग्रेजो की जो हार्दिक इच्छा है उसपर परदा डालने के खयाल से वे इस वाक्य का प्रयोग करते थे। कॉंग्रेस ने बहुत पहले से देश के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार का दावा किया था—राष्ट्रो के उसी अधिकार का जिसको लेकर मित्र-राष्ट्रो ने महायुद्ध के जमाने में इतना शोर मचाया था। उसने ब्रिटिश पार्लमेण्ट के हिन्दुस्तान के साथ मनमाना बर्ताव करने या उसके भावी भाग्य का अन्तिम निर्णायक होने के अधिकार को मानने से इनकार कर दिया। इस आधार पर कांग्रेस ने नये पार्लमेण्टरी कमीशन का विरोध किया। हिन्दुस्तान के माडरेट वर्गो ने दूसरे कारणो से कमीशन का विरोध किया, जिसमें ख़ास वजह यह थी कि उसमें कोई हिन्दुस्तानी सदस्य नहीं था। यह एक शुद्ध ब्रिटिश कमीशन था। यद्यपि विरोध के कारण अलग-अलग थे, पर यह बात सच थी कि हिन्दुस्तान के सब वर्गो ने, सबसे अधिक नरम माडरेटो ने भी, मिलकर इसकी निन्दा की और इसके बायकाट का समर्थन किया।

इसी वक्त के करीब, दिसम्बर १९२७ में, मद्रास में कॉंग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ और उसने निश्चय किया कि हिन्दुस्तान का उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता है। यह

पहला मौक़ा था कि कांग्रेस ने स्वतंत्रता के अपने उद्देश्य का ऐलान किया। इसने साफ़ तौर पर और दृढ़ता के साथ ऐलान किया, फिर भी शायद उस वक्त इस बात पर उसकी पूरे तौर पर दिलजमई नहीं हुई थी। दो वर्ष बाद, लाहौर में, निश्चित रूप से स्वतंत्रता कांग्रेस का ध्येय हुई। यह बात कि मद्रास कांग्रेस स्वतंत्रता के बारे में साफ़-साफ़ कोई निश्चय न कर सकी थी, उसके पास किये हुए एक दूसरे प्रस्ताव से भी ज़ाहिर थी, जिसमें उसने हिन्दुस्तान के दूसरे वर्गों और संस्थाओं को मिल-जुलकर देश के लिए एक विधान बनाने को निमंत्रित किया था। यह ज़ाहिर था कि माडरेट वर्ग या नरम विचारवाले लोग स्वतंत्रता तक जाने को तैयार न थे। इस तरह मद्रास-कांग्रेस ने सर्वदल सम्मेलन (All Parties Conference) को जन्म दिया। यह थोड़े दिनों तक ज़िन्दा रहा, पर इसकी ज़िन्दगी क्रियाशील थी।

दूसरे साल, १९२८ में, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश कमीशन आया। जैसा कि मैंने बताया है, आमतौर पर इसका बायकाट हुआ और जहाँ-जहाँ यह गया इसके ख़िलाफ़ ज़बरदस्त प्रदर्शन हुए। इसके अध्यक्ष के नाम से यह 'साइमन कमीशन' कहलाया और सारे हिन्दुस्तान में 'साइमन लौट जाओ' की ध्वनि गूंज उठी। कई जगह प्रदर्शन करनेवालों पर पुलिस ने लाठियाँ भी चलाईं। लाहौर में लाला लाजपतराय तक को पुलिस ने मारा। चंद महीनों बाद लालाजी की मृत्यु हो गई और डाक्टरों ने संभावना बताई कि पुलिस की मार ने उनकी मृत्यु को नज़दीक लाने में मदद की। इन सब बातों से क़ुदरती तौर पर देश में बड़ी उत्तेजना और क्रोध छा गया।

इस दरमियान सर्वदल सम्मेलन एक विधान बनाने और साम्प्रदायिक गुत्थी को सुलझाने की कोशिश कर रहा था। उस वक्त हमारे राजनीतिज्ञों को विधान बनाने का काम बड़ा पसन्द था, मानों ताक़त हासिल करने के लिए सिर्फ़ एक काग़ज़ी विधान की ही ज़रूरत हो! सर्वदल सम्मेलन ने विधान और साम्प्रदायिक सवाल पर अपने प्रस्ताव एक रिपोर्ट की शक्ल में पेश किये। यह रिपोर्ट नेहरू-रिपोर्ट के नाम से मशहूर है, क्योंकि जिस कमेटी ने रिपोर्ट का मस्विदा तैयार किया उसके चेयरमैन दादू थे।

इस साल की दूसरी उल्लेखनीय घटना गुजरात के बारडोली में सरकार द्वारा मालगुज़ारी बढ़ा दिये जाने के ख़िलाफ़ किसानों की एक बड़ी लड़ाई थी। गुजरात में युक्तप्रान्त की तरह बड़ी ज़मींदारियों की प्रणाली नहीं है; वहां ज़मीन पर मिल्कियत रखनेवाले किसान (Peasant proprietors) हैं। सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में इन किसानों ने एक बड़ी ज़बरदस्त लड़ाई लड़ी और भारी फ़तह हासिल की।

दिसम्बर १९२८ की कलकत्ता-कांग्रेस एक तरह से मद्रास की स्वतंत्रता के निश्चयवाली कांग्रेस से नीचे उतर आई। इसने नेहरू-रिपोर्ट में बताये हुए विधान को

मजूर किया, जो कि स्वतंत्रता से बहुत कम था । अस्पष्ट रूप से यह ब्रिटिश उपनिवेशो के विधानो से मिलता-जुलता था । पर इसे भी कांग्रेस नें कुछ ही वक़्त के लिए मजूर किया था और सिर्फ एक साल का वक्त रक्खा था । इसके आधार पर एक साल के अन्दर ब्रिटिश सरकार से राजीनामा न होने पर कांग्रेस फिर स्वतत्रता के ध्येय पर लौट जायगी, यह तय हुआ । इस तरह काग्रेस और देश दोनो एक सकट की तरफ़ वढते जा रहे थे ।

मज़दूर भी वडे उत्तेजित हो रहे थे, और कई वडे औद्योगिक केन्द्रो में मजदूरी घटाने की कोशिश पर वहुत उग्र वनते जा रहे थे । वम्बई में मजदूर वर्ग ख़ास तौर पर अच्छी तरह सगठित था और वहाँ वडी-वडी हड़ताले हुईं, जिनमें एक लाख या इससे भी ज्यादा मजदूरो नें हिस्सा लिया । समाजवादी, और कुछ हद तक साम्यवादी, खयाल मजदूरो में फैलने लगे और सरकार ने इन क्रान्तिकारी वातो और मजदूरो की बढ़ती हुई ताकत से घबराकर १९२९ के शुरू में एकाएक ३२ मजदूर नेताओ को गिरफ्तार कर लिया और उनके ख़िलाफ एक बड़ा षड्यत्र केस चलाया । यह मुकदमा 'मेरठ केस' के नाम से सारी दुनिया में मशहूर होगया है । पौने चार वर्ष के लम्बे मुकदमे के वाद इसी साल सव अभियुक्तो को लम्बी-लम्बी सजायें हुई हैं । और इसकी आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इनमें से किसीपर विद्रोह के अमली काम, यहाँ-तक कि शान्ति-भग करने के लिए भी, मामला नहीं चलाया गया । उनका जुर्म यह दिखाई देता है कि वे साम्यवादी खयालात रखते और उनके प्रचार की कोशिश करते थे ।

आन्दोलन का एक दूसरा रूप और था, जो अन्दर-ही-अन्दर धधक रहा था और कभी-कभी ऊपर भी ज़ाहिर होजाता था । यह उन लोगो की कार्रवाइयाँ थी जो क्रान्ति को लाने के लिए हिंसा के तरीको में विश्वास रखते थे । हिंसात्मक उपायो से क्रान्ति लाने के मार्ग में विश्वास करनेंवालो का एक तरह का आन्दोलन और था, जो अन्दर-ही-अन्दर सुलग रहा था और कभी-कभी ऊपर भी दिखाई दे जाता था । यह आन्दोलन ख़ास तौर पर बंगाल, कुछ हदतक पंजाब और थोड़ा-वहुत संयुक्तप्रान्त में दिखाई देता था । ब्रिटिश सरकार ने इसे कई तरीको से दवाने की कोशिश की और वहुत-से षड्यंत्र केस चलाये गये । 'वंगाल आर्डिनेंस' नाम का एक ख़ास कानून जारी किया गया । इसके ज़रिये सरकार को अधिकार दिया गया कि वह जिस किसीको चाहे, सन्देह होने पर, गिरफ़्तार कर सके और विना कोई मुकदमा चलाये जेल म रख सके । इस आर्डिनेंस के ज़रिये कई सौ वंगाली युवक गिरफ़्तार किये और जेल भेजे गये; वे नज़रवन्द कहलाते थे और उनके जेल की कोई अवधि निश्चित नहीं की गई थी । यह गौर

करने के क़ाबिल मनोरञ्जक बात है कि जब यह असाधारण आर्डिनेंस जारी किया गया तब इंग्लैण्ड में शासन एक मजदूर सरकार के हाथ में था, जो इस आर्डिनेंस के लिए जिम्मेदार थी।

इन क्रान्तिकारियों द्वारा आतंक के बहुत-से काम, ज्यादातर बंगाल में, हुए। इनमें से तीन घटनाओं ने खास तौर पर लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचा। एक लाहौर में ब्रिटिश पुलिस अफसर को गोली मारने की थी। लोगों का ख़याल था कि इसी अफ़सर ने साइमन कमीशन के खिलाफ हुए प्रदर्शन के वक्त लाला लाजपतराय को पीटा था। दूसरी घटना भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त द्वारा दिल्ली के असेम्बली-भवन में बम फेंकने की थी। इस बम ने बहुत कम नुकसान किया और जान पड़ता है कि शोर मचाने और देश का ध्यान अपनी तरफ खींचने के लिए ही यह बम फेंका गया था। तीसरी घटना १९३० में चटगांव में ठीक उस वक्त हुई जब सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू हुआ था। यह शस्त्रागार पर बडे पैमाने पर और साहस से भरा हुआ धावा था और इसमें कुछ कामयाबी भी हुई। सरकार ने इस आन्दोलन को दबाने के लिए जितने भी उपायों की कल्पना की जा सकती थी, उन सबका प्रयोग किया। खुफिया पुलिस और 'मुखबिर' रक्खे गये; बडी तादाद में लोगों को गिरफ्तार किया गया और उनपर षड्यंत्र के मुकदमे चलाये गये; लोगों को नजरबन्द किया गया (कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो लोग अदालत में छूट जाते हैं वे तुरन्त फिर से गिरफ़्तार कर लिये जाते और आर्डिनेस के मुताबिक नजरबन्द बनाकर रक्खे जाते हैं); पूर्वी बंगाल के बहुत-से हिस्सो पर अभीतक फ़ौज का कब्ज़ा है और लोग बिना 'आज्ञापत्र' या परवाने के घूम-फिर नहीं सकते, न बाइसकिलो पर चढ़ सकते हैं, न अपने मन की पोशाक ही पहन सकते हैं। पुलिस को खबर न देने के जुर्म में सारे-के-सारे कस्बो और गाँवों पर भारी जुर्माने किये गये हैं, और जिनपर आतंकवादी होने का शक होता है उनका कुत्तो की तरह पीछा किया जाता है। बहुत समय से यह सब चलता रहा है और अबभी चल रहा है।

१९२९ ई० में लाहौर में जो षड्यंत्र केस चलाया गया था उसमें एक कैदी यतीन्द्रनाथ दास ने जेल के बर्ताव के खिलाफ विरोध-स्वरूप भूख-हड़ताल करदी। यह लड़का आख़ीर तक अपनी बात पर डटा रहा और इकसठवे दिन मर गया। यतीन्द्रनाथदास के आत्म-बलिदान का हिन्दुस्तान पर गहरा असर हुआ। दूसरी घटना, जिसने देश के दिल पर चोट की और उसे व्यथित किया, १९३१ के शुरु में भगतसिंह को दी जाने वाली फांसी थी।

अब मुझे कांग्रेस-राजनीति की तरफ लौटना चाहिए। कलकत्ता-कांग्रेस ने एक

वर्ष का जो समय दिया था, वह खत्म हो रहा था। १९२९ के अखीर में ब्रिटिश सरकार ने उन घटनाओ को बढने से रोकने की कोशिश की जिनकी कि चर्चा थी। उसने भावी उन्नति के बारे में एक अस्पष्ट ऐलान किया। उस वक्त भी कॉग्रेस ने सहयोग के लिए हाथ बढाया, अलबत्ता उसमें कुछ शर्ते जरूर थी। चूंकि ये शर्ते पूरी नही की गई इसलिए दिसम्बर १९२९ की लाहौर कांग्रेस ने लाजिमी तौर पर पूर्ण स्वतत्रता के ध्येय और उसके हासिल करने के लिए लड़ाई लड़ने का फैसला किया। यह'निश्चय ३१ दिसम्बर की आधीरात को किया गया, जब पुराना साल और एक साल का दिया हुआ वक्त खत्म होता था।

इस तरह १९३० का साल आगे आनेवाली घटनाओ की छाया के साथ शुरू हुआ। सत्याग्रह के लिए तैयारियाँ हो रही थी। फिर असेम्बली और कौंसिलो का बायकाट किया गया और काग्रेसी सदस्यो ने उनसे इस्तीफा देदिया। २६ जनवरी को स्वाधीनता की एक खास प्रतिज्ञा सारे देश में, गावो और शहरो में होनेवाली अगणित सभाओ में ली गई और हर साल उसकी वार्षिक-तिथि 'स्वाधीनता दिवस' के नाम से मनाई जाती है। मार्च में बापू की मशहूर दॉडी-यात्रा शुरू हुई। दॉडी समुद्र के किनारे पर है और वहाँ पहुंचकर उन्होने नमक-कानून तोड़ने का ऐलान किया था। उन्होने अपनी लड़ाई का आरंभ करने के लिए नमक-कानून को इसलिए चुना था कि यह टैक्स गरीबो पर बहुत भारी पड़ता था और इस लिए एक खासतौर पर बुरा टैक्स था।

अप्रैल १९३० के मध्य तक सत्याग्रह-आन्दोलन पूरे जोर पर आ गया था और न सिर्फ हर जगह नमक-कानून तोड़ा गया, बल्कि और कानून भी तोडे गये। सारे देश में शान्तिपूर्ण बगावत हो गई थी और उसे कुचलने के लिए नये-नये कानून और आर्डिनेस तेजी के साथ बनते जा रहे थे। लेकिन इन आर्डिनेसो पर भी सत्याग्रह होने लगा, यानी लोग उन्हे ही तोड़ने लगे। सामूहिक रूप से यानी झुण्ड-के-झुण्ड आदमियो की गिरफ्तारियाँ हो रही थी और पशुतापूर्ण लाठियो की वर्षा एक आम बात होगई थी। इनके अलावा शन्ति भीड़ पर गोलियो का चलना, कांग्रेस कमेटियो का गैरकानूनी ऐलान किया जाना, सेसरशिप, अखबारो का गला दबाना, मारना और जेलो में सख्ती करना जारी था। पर मै यहाँ उस जमाने के बारे में ज्यादा कहना नही चाहता। एक तरफ आर्डिनेसो का राज्य था, दूसरी तरफ उन आर्डिनेसो को तोड़ने का एक व्यवस्थित और निश्चित प्रयत्न था। इसके साथ विदेशी कपडे और ब्रिटिश माल का बायकाट भी चल रहा था। करीब एक लाख आदमी जेल गये और कुछ समय तक इस शान्तिपूर्ण पर दृढ़ता के साथ लडी जानेवाली लड़ाई ने दुनिया का ध्यान अपनी तरफ खीच लिया।

मैं तुम्हारे ध्यान में तीन बातें लाना चाहता हूँ। इनमें पहली पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की ज़बरदस्त राजनैतिक जागृति थी। लड़ाई के बिलकुल शुरू में ही, ४ अप्रैल १९३० ई० को पेशावर में शान्त भीड़ पर जोरो के साथ गोली चलाई गई और सारे सालभर हमारे सीमाप्रान्त के भाइयो ने बडी बहादुरी और धीरज के साथ सरकार के पशुतापूर्ण व्यवहारों को वर्दाश्त किया। यह दुगुनी महत्त्वपूर्ण बात थी, क्योकि सीमाप्रान्त के लोग शान्त स्वभाव के नही हुआ करते, जरा-सी उत्तेजना की बात पर आग-बबूला हो जाते है। इतने पर भी वे शान्त रहे। बंगाल या बबई के लिए, जिनके पीछे राजनैतिक कार्य का रेकर्ड है, लड़ाई में सबसे ज्यादा हिस्सा लेना आश्चर्य-जनक नहीं था, पर पठानो जैसे राजनैतिक मैदान में नये आनेवालो के लिए तुरन्त ही सामने आ जाना और ऐसा बहादुराना पार्ट अदा करना एक ताज्जुब की और साथ ही बडी ही तारीफ की बात थी।

दूसरी उल्लेखनीय बात, जो निश्चय ही इस महान् वर्ष की सबसे प्रधान घटना थी, भारतीय स्त्रियो की अभूतपूर्व जागृति थी। जिस तरह से उनमें से हजारो और लाखो नें अपना घूंघट हटा दिया और अपने सुरक्षित मकानो को छोड़कर अपने भाइयो के साथ-साथ लड़ने के लिए मैदान में आ गईं और अक्सर अपने देश-प्रेम और बहादुरी से अपने आदमियो को शर्मिन्दा कर दिया, वह कुछ ऐसी चीज थी कि जिन लोगो ने उसे नही देखा वे मुश्किल से ही उसका विश्वास कर सकते है।

तीसरी नोट करनें लायक बात यह थी कि ज्यो-ज्यो आन्दोलन बढा, किसानो के सवाल का आर्थिक पहलू स्पष्ट रूप से सामनें आता गया। १९३० सारी दुनिया में फैली हुई एक बडी मन्दी का पहला साल था। यह मन्दी अभीतक जारी है। १९३० में खेती से पैदा होनेवाली चीजो का दाम बहुत गिर गया। किसानो पर गाज गिर गया, क्योकि उनकी आमदनी इन चीजो की बिक्री और उससे मिलनेवाले दाम पर ही निर्भर है। इसलिए उनकी इस मुसीबत के साथ करबन्दी का मेल बैठ गया और उनके लिए स्वराज्य कोई दूर का राजनैतिक ध्येय नहीं बल्कि तुरन्त का एक आर्थिक सवाल बन गया। इस तरह उनके लिए आन्दोलन एक नया और ज्यादा परिचित अर्थ लेकर सामने आया और, उसमें जमीदार और-काश्तकार के बीच, वर्ग-संघर्ष का एक तत्त्व पैदा हो गया। यह बात ख़ास तौर पर युक्तप्रान्त और पश्चिमी हिन्दुस्तान में थी।

जब हिन्दुस्तान में सत्याग्रह-आन्दोलन फूल-फल रहा था, तब समुद्र के उसपार लन्दन में, ब्रिटिश सरकार बडी शान-शौकत के साथ एक 'राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस (गोल मेज़ परिषद) कर रही थी। कांग्रेस को इससे कोई सरोकार न था। जितने

हिन्दुस्तानी इसमें गये, सबके सब सरकार के नामजद किये हुए थे। कठपुतलियो या बेजान छायामूर्तियो (परछाई की शक्लो) की तरह वे लदन के रगमच पर कूदते-फाँदते थे और अच्छी तरह महसूस करते थे कि असली लड़ाई हिन्दुस्तान में चल रही है। सरकार ने हिन्दुस्तानियो की कमजोरी दिखाने के लिए बहस में साम्प्रदायिक मसले को सबसे आगे रख दिया; उसने कट्टर साम्प्रदायिक और पश्चाद्गामी लोगो को इस कान्फ्रेन्स के लिए नामजद करने की होशियारी पहले ही करली थी, जिससे समझौते की कोई संभावना ही न थी।

मार्च १९३१ ई० में काग्रेस और सरकार के बीच एक 'ट्रूस' या चदरोजा सुलह इसलिए हुई कि आगे बात-चीत हो सके। सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित कर दिया गया, सत्याग्रह के हजारो कैदी छूटे और आर्डिनेस उठा लिये गये। फिर भी राजनैतिक कैदियो की एक बडी तादाद जेलो में ही रह गई और अब भी है। इनमें १९१४ के षड्यन्त्र, पजाब के फ़ौजी कानून, मेरठ के और दूसरे बहुतेरे षड्यंत्र के मामलो के कैदी थे और बंगाल के नजरबन्द लोग थे। हिन्दुस्तानी जेलो में इनकी एक स्थायी राजनैतिक आबादी या बस्ती ही बस गई है। जबकि सत्याग्रही कैदी बहुत बडी तादाद मे एकसाथ आते और जाते है, तहाँ दूसरे कैदी बिना किसी विश्राम या भग के जेल की जिन्दगी बिता रहे है।

यह देखकर बड़ा मजा आता था कि देहली की सुलह के बाद किस तरह आदमी काग्रेस की दोस्ती का दम भरता था, यहाँतक कि इनमें वे लोग भी थे जो सदा उसपर हमला किया करते और उसे गाली दिया करते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उनपर असर डाला था और काग्रेस को ताकत देखकर वे सोचने लगे कि भविष्य में काग्रेस के हाथ में ज्यादातर सत्ता होगी। इसलिए वे, जो सदा से ही अवसरवादी थे, कांग्रेस की तरफ दौडे और उसकी खुशामद करने और उसकी तारीफ के पुल बाँधने लगे। यह एक दु खदायी पर सच्ची बात है कि राजनैतिक लड़ाइयो में अकसर यह होता है कि जो वर्ग सबसे ज्यादा कुर्बानी करता है उसे सबसे कम मिलता है और जो लोग चुपचाप आराम से अपने घर बैठे हुए होते है वे लड़ाई से मिले हुए माल का बँटवारा करने में सबसे आगे आजाते है।

सन् १९३१ ई० में बापू काग्रेस की तरफ से दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में शरीक होने के लिए लन्दन गये। खुद हिन्दुस्तान में तीन महत्वपूर्ण सवाल उठ खडे हुए, जिनकी तरफ सरकार और काग्रेस दोनो का ध्यान गया। पहला सवाल बगाल का था, जहाँ सरकार ने आतंकवाद को मिटाने की आड़ में राजनैतिक कार्यकर्ताओ के खिलाफ बड़ा ही सख्त दमन जारी कर रक्खा था। एक नया और पहले से बहुत ज्यादा सख्त

आर्डिनेस जारी कर दिया गया और देहली की सुलह के होते हुए भी बंगाल ने नहीं जाना कि शान्ति कैसी होती है।

दूसरा सवाल सीमाप्रान्त में था, जहाँ राजनैतिक जागृति के कारण लोग अब भी कुछ कार्यक्रम चला रहे थे। खान अब्दुलगफ्फारखां के नेतृत्व में एक बड़ा, अनुशासन से भरा हुआ पर शान्तिपूर्ण संगठन बनता और फैलता जा रहा था। इनको 'खुदाई खिदमतगार' और कभी-कभी 'रेडशर्ट' या लाल कुर्ती दल कहा जाता था। 'रेडशर्ट' इसलिए कि ये एक लाल 'यूनिफ़ार्म' (वर्दी) पहनते थे। किसी समाजवादी या साम्य-वादी संस्था से उनका ताल्लुक न था। सरकार इस आन्दोलन को बिलकुल पसंद न करती थी। वह इससे भयभीत थी, क्योंकि वह एक अच्छे पठान सिपाही या योद्धा की कीमत जानती थी।

तीसरा सवाल संयुक्तप्रान्त में पैदा हुआ। विश्वव्यापी मंदी और चीजों के दाम गिर जाने से गरीब काश्तकार पर बड़ी मुसीबत आपड़ी। वह अपना लगान नहीं अदा कर सकता था। उसे कुछ छूट दी गई, पर वह काफी न थी। कांग्रेस ने उसकी तरफ से मध्यस्थता की कोशिश की पर उसका कुछ ज्यादा नतीजा न निकला। जब नवम्बर १९३१ ई० में लगान-वसूली का वक्त आया तो झगड़ा पैदा होगया। कांग्रेस ने काश्तकारों और जमींदारों को राय दी कि जबतक छूट का सवाल तय न होजाय, तब तक लगान और मालगुजारी मत दो। यह सत्याग्रह पहले इलाहाबाद से शुरु हुआ। बस, सरकार ने संयुक्तप्रान्त के लिए एक आर्डिनेस निकाल दिया। यह एक बड़ा ही सख्त और व्यापक आर्डिनेस था। इसमें जिले के अधिकारियों को हर तरह के काम को कुचल देने, यहाँ तक कि व्यक्तियों की आमदरफ़्त को भी बंद करने का पूरा अख्तियार दिया गया था।

इस आर्डिनेस के बाद ही तुरत सीमाप्रान्त में दो नये विचित्र आर्डिनेस जारी किये गये और सीमाप्रान्त एवं संयुक्तप्रान्त में प्रमुख कांग्रेसमैनों को गिरफ्तार कर लिया गया।

जब बापू साल के आख़िरी हफ्ते में, लंदन से बिना किसी कामयाबी के, लौटे तो उनके सामने यह स्थिति थी। तीन प्रान्तों में आर्डिनेस राज्य था और उनके कई साथी जेलों में पहुँच चुके थे। एक हफ्ते के अन्दर फिर कांग्रेस ने सत्याग्रह का ऐलान कर दिया। सरकार ने कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेस से हमदर्दी रखनेवाली संस्थाओं को गैरकानूनी करार दे दिया।

यह लड़ाई डेढ वर्ष तक चलती रही है और अब भी चल रही है। और इस वक़्त में मैंने जो ये खत तुम्हें लिखे हैं, इसी लड़ाई का एक छोटा और अप्रत्यक्ष परि-

णाम है। यह लडाई १९३० की लडाई से कही ज्यादा सख्त रही है। इसके लिए सरकार ने, पहले के अनुभवो से फायदा उठाकर, अपनेको वडी सावधानी से तैयार कर लिया था। कानूनी नकाब और कानूनी ढाचा खत्म कर दिया गया और सर्वव्यापी एव सर्वभक्षी आर्डिनेसो के जरिये, मुल्की अफसरो के सहारे, देश में ऐसा दमन किया गया जिसे एक तरह का 'मार्शल ला' (फौजी कानून) कह सकते है। राज्य की असली पाशविक सत्ता खूब साफ तौर पर दिखाई पडी है। यह वात लाजिमी थी, क्योकि ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय आन्दोलन जोरदार और ताकतवर बनता जायगा और विदेशी सरकार के आधार के लिए ज्यो-ज्यो खतरनाक बनता जायगा त्यो-त्यो सरकारी प्रतिरोध और दमन जवरदस्त और भयकर होता जायगा। ऐसी हालत में धरोहर (Trusteeship) और सद्भावना के पवित्र और नरम वाक्य अलग रख दिये गये और उनकी जगह विदेशी शासन के सच्चे स्तम्भ या रक्षक के रूप में लाठियां और किरचें सामने आई। कानून न सिर्फ सिर पर वैठे हुए वाइसराय की इच्छा बन गया बल्कि हर छोटा अफसर मनमानी करने लगा; क्योकि वह अच्छी तरह जानता था कि वह जो कुछ करेगा उसका उसके ऊपर के अफ़सर समर्थन करेगे। खासकर जार के जमाने के रूस की तरह खुफिया विभाग और सी० आई० डी० के आदमी सब जगह फैल गये और उनकी ताकत वढ गई। कोई बंधन या रोक नही थी और अनियंत्रित सत्ता की भूख सदा उसके इस्तेमाल से बढ़ती जाती है—यहाँ भी बढ़ती गई। एक सरकार जो मुख्यत. अपने खुफिया विभाग के सहारे हुकूमत करती है और एक देश जो ऐसी हुकूमत में होता है, दोनो वहुत जल्द भ्रष्ट या पतित होजाते है; क्योकि हरेक खुफिया विभाग साजिश, भेदियो, झूठ, आतंकवाद, उत्तेजक बनावटी वातो, धोखेवाजी और दूसरी ऐसी ही वातो पर फूलता-फलता है। पिछले तीन वर्षो में हिन्दुस्तान में छोटे अफसरो, पुलिस और सी० आई० डी० को जो बहुत ज्यादा अख्तियारात दे दिये गये थे और उन्होने उनका जैसा इस्तेमाल किया था उससे धीरे-धीरे इन महक्मो के आदमियो में पशुता आती गई और उनका पतन होता गया। लोगो को जेल जाने से रोकने के लिए तरह-तरह की कोशिशें की गई और जेल भेजने की जगह उनपर वेरहमी के साथ गहरी मार मारी गई। कोशिश यह थी कि लोग भयभीत होजायं।

मुझे व्योरे की वातो में नहीं जाना चाहिए। इस मौके पर सरकार की नीति का एक मनोरंजक पहलू यह रहा है कि संस्थाओ और व्यक्तियो की जायदाद, मकान, मोटरे और बैंक में जमा रुपये जब्त कर लिये जायें। यह कांग्रेस के मध्यमवर्ग के समर्थको पर चोट करने और उन्हे डरा देने के लिए किया गया। अव व्यक्तिगत धन

या जायदाद की पवित्रता की बात खत्म होगई है। सरकार एक-न-एक बहाने से इसे जब्त कर रही है। इसी तरह हिंसा उसी वक्त बुरी और अनैतिक बताई जाती है जब कोई वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए उसका इस्तेमाल करता है; पर ख़ुद सरकार वर्तमान व्यवस्था की हिफ़ाजत के लिए सब तरह की बेरहमी से भरी हुई और व्यापक हिंसा से काम लेनें में अपनेको बिलकुल उचित और न्यायपूर्ण समझती है !

इन आर्डिनेंसों में से एक का एक मामूली पर ध्यान देने लायक पहलू यह रहा है कि अपने या अपने साये में पलनेवाले बच्चो के जुर्मो के लिए माँ-बाप और अभिभावक जिम्मेदार है।

जब हिन्दुस्तान में ये सब बाते हो रही है, तब ब्रिटिश प्रचार की मशीनरी, जो बहुत दिनों से अपनी काबलियत के लिए मशहूर है, हिन्दुस्तान की खुशहाली और शान्ति की एक सुन्दर तस्वीर दुनिया के सामनें खीचने में मशगूल है। ख़ुद हिन्दुस्तान में कोई अखबार परिणाम के डर से सच्ची बातो को छापने की हिम्मत नही करता—यहाँतक कि गिरफ़्तार हुए लोगो के नाम तक छापना एक जुर्म है !

पर हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का परदा फाश करनेवाली सबसे खास बात यह रही है कि ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के सब कट्टर पश्चाद्गामी या प्रतिक्रियावादी वर्गो से मेल करनें की कोशिश की। आज ब्रिटिश साम्राज्य उन्नतिशील शक्तियो से लड़ने के लिए सामन्तशाही और प्रतिक्रिया की दूसरी ताकतो पर निर्भर करता है। उसने स्थापित स्वार्थो (Vested Interests) को अपनी मदद के लिए खडा करने की कोशिश की है। इस मदद को पाने के लिए उसने इनको (स्थापित स्वार्थवालो को) यह बताकर डराया कि अगर हिन्दुस्तान से ब्रिटिश सत्ता हटाली जायगी तो सामाजिक क्रान्ति होजायगी और तुम्हारा खात्मा हो जायगा। सामन्तशाही तौर-तरीके वाले राजा लोग हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत की पहली रक्षणात्मक मोर्चाबन्दी (First line of defence) है; उसके बाद बडे-बडे जमींदारो का वर्ग आता है। चतुराई-भरी चालबाजियो से और कट्टर सम्प्रदायवादियो को धकेलकर आगे खड़ा करके अल्पमत के मसले को हिन्दुस्तान की आजादी के रास्ते में एक बड़ा रोडा बना दिया गया है। अभी हाल में वह गौर करनें के काबिल दृश्य दिखाई पडा जब मन्दिर-प्रवेश के सवाल पर ब्रिटिश सरकार ने कट्टर मजहबी प्रतिक्रियावादियो के प्रति हर तरह की हमदर्दी और दोस्ती जाहिर की। हर जगह ब्रिटिश सरकार प्रतिक्रिया, सकुचित धर्मोन्माद और भ्रमपूर्ण खुदगर्जी में अपनी मदद ढूंढती है।

सामूहिक आन्दोलन या लडाई में एक बडी सुविधा होती है। आम जनता को सियासी तालीम देने का यह सबसे अच्छा और तेजी का, गो दुखदाई, तरीका है,

क्योकि आम जनता को 'बडी घटनाओ' के लिए तालीम देकर तैयार करना पड़ता है। शान्ति के समय की मामूली राजनैतिक कार्रवाइयाँ--जैसे प्रजासत्तात्मक देशो में होनेवाले चुनाव वगैरा--अक्सर औसत आदमी को भ्रम में डाल देती है। उसके सामने भाषणो की धार वहती होती है और हरेक उम्मीदवार हर तरह की अच्छी बातो के करने का वादा करता है जिससे गरीब वोटर या खेत, कारखाने या दुकान में काम करनेवाला आदमी घवरा जाता और भ्रम में पड़ जाता है। उसे एक दल से दूसरे में कोई वहुत ज्यादा और साफ फर्क दिखाई नही देता। पर जब एक सामूहिक लड़ाई आती है, या जब क्रान्ति होती है, तब असली स्थिति यो साफ दीखती है जैसे बिजली से रोशनी हो उठी हो। ऐसी मुसीबत की घडियो में समुदाय, वर्ग या व्यक्ति अपनी वास्तविक अनुभूति या प्रकृति को छिपा नही सकते। सत्य बाहर आ जाता है। क्रान्ति का समय न सिर्फ चरित्र (Character), साहस, सहनशक्ति, आत्मत्याग और वर्ग-अनुभूति की कसौटी होता है बल्कि वह मुख्तलिफ वर्गो और समुदायो के बीच के उस असली सघर्ष को जाहिर कर देता है जो सुन्दर और अस्पष्ट जुमलो के नीचे ढका हुआ होता है।

हिन्दुस्तान में सत्याग्रह की लड़ाई एक राष्ट्रीय या कौमी लड़ाई रही है, वर्ग-सघर्ष नहीं। यह निश्चित रूप से मध्यम वर्ग का एक आन्दोलन रहा है जिसके पीछे किसानो का बल है। इसलिए यह वर्गो को उस तरह अलग और स्पष्ट नही कर सका जिस तरह कोई वर्गीय आन्दोलन करता। फिर भी, इस राष्ट्रीय आन्दोलन में भी, कुछ हद तक वर्गो की मोर्चाबन्दी हुई है। इनमें से कुछ--जैसे सामन्तशाही खयाल के राजा लोग, ताल्लुकेदार और बडे जमीदार--पूरे तौर पर सरकार के साथ बँधे हुए है। वे साफ-साफ और जोर से पुकारकर कहते है कि वे कौमी आजादी पर अपने वर्ग के हितो को तरजीह देते है, या कौमी आजादी तभी चाहिए जब उनके खास अख्तियारात को महफूज रखनेवाले सब तरह के संरक्षणो का बंदोबस्त कर दिया जाय। इससे यह साफ हो जाता है कि किसी राष्ट्रीय या कौमी लड़ाई में इनसे किसी तरह मदद की उम्मीद नही की जा सकती, हाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की मुखालफत की उम्मीद जरूर की जा सकती है। इन्होने निश्चित रूप से अपनेको विदेशी सरकार के साथ मिला दिया है।

कुछ हद तक सभी मालिक वर्ग (Possessing Classes), यानी वे सभी वर्ग जिनके स्थापित स्वार्थ (Vested Interest) होते है, किसी भी वडी तब्दीली से डरते है कि कहीं वह उनके खास अख्तियारात या सुविधाओ में दस्तंदाजी न करे। वडे-वडे बोर्जुआ लोग यानी ऊँचे दर्जे का मध्यमवर्ग विदेशी सरकार को नापसंद

करता है और खुद उसकी जगह लेना चाहता है। कुछ हद तक वह सरकार के प्रति कांग्रेस की चुनौती के साथ हमदर्दी रखता है, क्योंकि इससे उसके फायदे के अनुकूल राजनैतिक परिवर्तन होने की सम्भावना उसे मालूम पड़ती है। पर इसके साथ ही वह सामूहिक जनता और मध्यम वर्ग के छोटे लोगो से भी भय करता है। इसके अलावा उसको यह डर भी है कि कही कांग्रेस की विजय से ऐसा सामाजिक परिवर्तन न हो-जाय जो उसको पसन्द न हो। इसलिए ये लोग आम तौर पर मेंड़ या हद पर रहते है, साफ़-साफ़ किसी तरफ़ शरीक नहीं होते, सरकार और कांग्रेस दोनो की हलकी आलोचना करते है और धीरज के साथ उस वक्त का इन्तजार करते है जब ये सत्ता के बँटवारे में बड़ा हिस्सा ले सकेंगे। लेकिन सामाजिक क्रान्ति का कोई इशारा किया जाता है, या उनके स्थापित स्वार्थो पर कोई हमला होता है, तब वे गुस्से से लाल होजाते है। यह एक गैरमामूली बात है कि लोग अपने ख़ास अख़्तियारात और सहूलियतो के बचाव के लिए कितने आग-बबूला हो उठते है। इन अख़्तियारात पर उनका नैतिक दावा या हक जितना ही कमजोर होता है, उतना ही वे उनमें दखल दिये जाने पर गुस्सा होते है।

अल्पमतो का मसला भी ज्यादातर विशेष समुदायो के स्थापित स्वार्थो का ही सवाल है। बहुतसे लोग हमेशा हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में राग अलापा करते है। यह बात काफी तौर पर साफ ह कि ऐसा मेल वाञ्छनीय है। पर यह बात भी उतनी ही जाहिर है कि सिर्फ इस जुमले को जादू के मन्त्र की तरह दोहराने से कोई फायदा नहीं हो सकता; न किसी तरह जोड़-तोड़ के जरिये किये जाने वाले पैक्टो और समझौते से ही कोई मदद मिल सकती है। बदक़िस्मती से सामने के असली सवालो पर 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' जैसे जुमलो से परदा पड़ जाता है। कुछ समुदायो के स्थापित स्वार्थों को अलग छोड़ दें तो गहराई में सवाल असल में आर्थिक है। स्वार्थो के संघर्ष, फिर चाहे वे मुख़्तलिफ़ जातियो के बीच हो या प्रजासत्तावाद और सामन्तशाही के बीच हो, मुस्कराहटो, आलिंगनो और एक-दूसरे की सचाई के वादो या ऐलानो से दूर नही किये जा सकते। अंकगणित या अलजबरा का कोई मसला उसपर मुस्कराने से हल नहीं होता; न एक-दूसरे के ख़िलाफ दो चीजो को उनकी परिक्रमा करने से ही एक में मिलाया जा सकता है।

हाल में कांग्रेस-आन्दोलन नीचे के दर्जे के मध्यम वर्ग के ऐसे आन्दोलन में तबदील होगया है जिसके पीछे छोटे जमींदारो और किसानो की जोरदार मदद है। अब इसमें आम जनता के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने की प्रवृत्ति पहले से ज्यादा बढ गई है और मौलिक और आर्थिक अधिकारो पर एक दिलचस्प प्रस्ताव १९३१ में करांची-

कॉग्रेस ने पास किया था। ज्यो-ज्यो कॉग्रेस सामूहिक या आम जनता की तरफ झुकती जाती है त्यो-त्यो वडे मालिक वर्गो की शका वढ़ती जाती है और वे इससे दूर हटते जाते है, यद्यपि इसका आधार अव भी राष्ट्रीय है।

हिन्दुस्तान में बहुत से लोगो ने वार-वार जेल जाने की आदत डाल ली है, और कुछ तो जेलो में लगातार कई वर्षो तक बने रहते है। दूसरे लोगो के एक समुदाय ने दूसरी आदत पैदा करली है--मेरा मतलब जनता के यानी सरकारी खर्च से गोलमेज कान्फ्रेंस की बैठको में शामिल होने के लिए हर साल लन्दन जाने की आदत से है। साल-दर-साल वे जाते है और वाते ही वाते करते है तथा ब्रिटिश सरकार को एक ऐसा विधान वनाने में मदद देते है जिसका खास मतलब पीढ़ियो तक हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हकूमत को कायम रखना और हरेक स्थापित स्वार्थ की रक्षा करना है। सघ-राज्य का खयाल ही इसलिए आया कि ब्रिटिश भारत को कब्जे में रखने के लिए सामन्त-प्रथा वाले राजाओ की मदद की जरूरत थी। आर० एच० टाने नाम के एक जहीन अग्रेज लेखक ने ब्रिटिश मजदूर दल के लिए कार्यक्रम सुझाते हुए लिखा है कि 'गधो की सबसे ज्यादा मुमकिन तादाद को सवसे ज्यादा संभव संख्या में गाजर देना' ("to offer the largest possible number of carrots to the largest possible number of donkeys") दल (मजदूर दल) का काम नही है। कोई कल्पना कर सकता है कि लन्दन के विधान-निर्माताओ ने इसे ही अपना खास काम खयाल किया होगा ?

हाल में ही ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के विधान के लिए अपने प्रस्तावो को एक छोटी किताब की शक्ल में प्रकाशित किया है, जिसका नाम 'व्हाइटपेपर' है। उसने अपना काम पूरी तरह किया है और उसमें हरेक कल्पना किये जा सकने लायक संरक्षण को शामिल कर लिया गया है जिसे कि आदमी की सूक्ष्म सोच और वना सकती है। ये सरक्षण न सिर्फ उसके स्वार्थो की रक्षा के लिए है वल्कि हिन्दुस्तान पर उसके सैनिक शासन सम्वन्धी और व्यापारिक (Military, Civil and Commercial) यानी त्रिविध नियंत्रण को और मजबूत करने के लिए है। हरेक स्थापित स्वार्थ को महफूज रक्खा गया है और इग्लैण्ड का स्थापित स्वार्थ सवसे वड़ा होने की वजह से उसको सुरक्षित रखने की सबसे जोरदार तजवीज की गई है। यही वात राजाओ, जायदाद पर मालिकी रखनेवाले वर्गो, नौकरियो और ब्रिटिश सरकार के पिछलग्गुओ के वारे में भी है। हरेक स्थापित स्वार्थ के लिए वडी दरियादिली से इन्तजाम किया गया है। वदकिस्मती इतनी ही है कि दूसरे के माल पर दिखाई जानेवाली इस उदारता ने हिन्दुस्तान के कमोवेश तेंतीस करोड़ वाशिन्दो के लिए वहुत कम छोड़ा है। पर उन वेचारो के कोई स्थापित स्वार्थ न थे—सिवाय उनकी जिन्दगी के जिसकी कोई कीमत नहीं।

ब्रिटिश प्रस्तावो को देखकर इलाहाबाद के एक शायर अकबर का, जो कई साल हुए मर गये, एक उर्दू शेर याद आता है। यह शेर उन्होने १९०३ में लार्ड कर्जन के दिल्ली दरबार के वक़्त लिखा था :

महफ़िल उनकी, साकी उनका,
आँखे अपनी, बाकी उनका।

असली सवाल जन-समूह का शोषण बन्द करने का है और जबतक यह नहीं किया जाता तबतक हिन्दुस्तान में शान्ति कैसे हो सकती है, या हमारी आज़ादी की लड़ाई कैसे खत्म हो सकती है ?

इस तरह कहानी चली जारही है। आज (१७ मई) बापू के अनशन का दसवॉ दिन है। अभीतक वह निबाह लेगये है और जान पड़ता है आगे भी बर्दाश्त करलेगे। वह जेल से छोड़ दिये गये है और अनशन के कारण उन्होने छः हफ्तो के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन को स्थगित कर दिया है। उसके बाद ? कौन जानता है ?

मैंने बरमा की उपेक्षा की है और मुझे उसके बारे में तुम्हे कुछ जरूर बताना चाहिए। उसने १९३० या १९३२ के सत्याग्रह-आन्दोलन में हिस्सा नही लिया। पर महान् आर्थिक संकट के कारण १९३० और १९३१ में उत्तरी बरमा में किसानो की एक बडी बगावत होगई। यह बगावत अंग्रेजो ने बडी बर्बरता के साथ दबा दी। इस वक़्त ब्रिटिश सरकार बरमा को हिन्दुस्तान से अलग करने की बडी जोरों से कोशिश कर रही है और बरमा में इससे बडा तहलका मच गया है। ऐसा जान पड़ता है कि वहाँके ज्यादातर लोग हिन्दुस्तान से अलग होना नही चाहते।

और खैरबाद हिन्दुस्तान !——फिर मिलेगे।

: १६३ :

मिस्र की आज़ादी के लिए लड़ाई

२० मई, १९३३

आओ, अब हम मिस्र चले और बढ़ती हुई राष्ट्रीयता और एक साम्राज्यवादी ताकत के बीच होनेवाली दूसरी लड़ाई का मुलाहिजा करे। हिन्दुस्तान की तरह वहां भी यह साम्राज्यवादी शक्ति ब्रिटेन है। मिस्र कई बातो में हिन्दुस्तान से बिलकुल मुख्तलिफ है और वहां ब्रिटेन हिन्दुस्तान की बनिस्बत बहुत थोडे वक़्त से रहा है, फिर भी दोनो देशो में बहुत-सी बाते एक-सी है। हिन्दुस्तान और मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलनो ने अलग-अलग तरीके इख्तियार किये, पर मूल में क़ौमी आज़ादी

की प्रेरणा एक ही है और उद्देश्य भी एक ही है। और इन राष्ट्रीय आन्दोलनो को दबाने में साम्राज्यवाद जो ढंग इख्तियार करता है वह भी दोनो देशो में बहुत-कुछ एक है। इसलिए हम दोनो एक-दूसरे के अनुभवो से बहुत-कुछ सीख सकते है। हम हिन्दुस्तान वालो के लिए तो एक खास नसीहत है, क्योकि हम मिस्र के उदाहरण में देख सकते है कि 'स्वतत्रता' की तिटिश देनो का क्या मतलब होता है और वे कहाँ-तक लेजाती है।

सब अरब देशो (अरबस्तान, इराक, सीरिया, फिलस्तीन) में मिस्र सबसे आगे बढा हुआ है। यह पूर्व और पश्चिम के बीच का राजमार्ग--स्वेज नहर बनने के बाद से जहाजो के लिए तिजारत का महान् समुद्री रास्ता--रहा है। पश्चिमी एशिया के किसी देश की बनिस्बत इसका उन्नीसवी सदी के नये योरप के साथ सबसे ज्यादा सम्पर्क रहा है। दूसरे अरब देशो से बिलकुल जुदा इसकी एक अलग राष्ट्रीय इकाई है, पर उनके साथ इसका घनिष्ट सास्कृतिक सम्बन्ध भी है, क्योकि इन सबकी जबान, परम्परा और मजहब एक ही है। काहरा (कैरो) के रोजाना अखबार सब अरब देशो को जाते है और वहाँ उनका बडा प्रभाव है। इन सब देशो में से सबसे पहले राष्ट्रीय आन्दोलन मिस्र में ही शुरू हुआ, इसलिए दूसरे अरब देशो के लिए मिस्री राष्ट्रीयता का एक नमूना बन जाना लाजिमी था।

मिस्र की बाबत लिखे हुए अपने पिछले खत में मैने अरबीपाशा के नेतृत्व में होनेवाले १८८१-८२ के राष्ट्रीय आन्दोलन का जिक्र किया था और यह भी बताया था कि वह ब्रिटेन के जरिये किस तरह कुचल दिया गया। मैने तुमको शुरू के सुधारको, जमालउद्दीन अफगानी और कट्टर इस्लाम पर पश्चिम के नये खयालात के असर की बाबत भी बताया है। इन सुधारको ने पुराने उसूलो की तरफ लौटकर और धर्म की फिजूलियात यानी सदियो के बीच उसमें मिल गईं बहुतेरी बातों को अलग हटाकर जमाना हाल की तरक्की से इस्लाम का मेल बैठाने की कोशिश की। उन्नतिशील विचार के लोगो ने दूसरा कदम यह रक्खा कि धर्म को सामाजिक संस्थाओ से अलग कर दिया। पुराने धर्मो का कायदा यह है कि वे हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी के हर पहलू को घेर लेते और उसे चलाते है। इस तरह हिन्दूधर्म और इस्लाम, अपनी शुद्ध धार्मिक शिक्षाओ से बिलकुल अलग भी, समाज का विधान बनाते और शादी, विरासत, दीवानी और फौजदारी कानून, राजनैतिक संगठन, और दूसरी सब चीजो के नियम निर्धारित करते है। दूसरे लफ्जो में वे समाज का एक पूरा ढाँचा निर्धारित करते और उसे धार्मिक स्वीकृति और सत्ता देकर स्थायी बनाने की कोशिश करते है। अपनी कठोर वर्ण-व्यवस्था से हिन्दूधर्म इस बारे में सबसे आगे निकल जाता

है। एक सामाजिक ढाँचे को यों धर्म के जरिये स्थायी बना देने से किसी तब्दीली का होना मुश्किल होजाता है। इसलिए दूसरे देशो की तरह मिस्र में भी उन्नतिशील आदमियों नें धर्म को सामाजिक ढाँचे और सामाजिक संस्थाओ से अलग करने की कोशिश की। उन्होनें वजह यह बताई कि पुरानी संस्थायें, जिन्हे धर्म या रिवाज ने पुरानें जमानें में लोगों पर लाद दिया था, उस जमाने की हालत में मुनासिब थीं। पर अब हालत बहुत बदल गई है और पुरानी संस्थायें या प्रथायें अब उनके साथ ठीक नहीं बैठतीं। मामूली विवेक से हम समझ सकते है कि बैलगाडी के लिए बनाया गया एक नियम मोटरकार या रेलगाडी के लिए मुनासिब नही होसकता।

इन उन्नतिशील आदमियो और सुधारकों ने इस तरह की दलीलें पेश कीं। इस वजह से राज्य और बहुतेरे रिवाजो ने ज्यादा लौकिक या दुनियावी शक्ल इख्तियार की, यानी वे धर्म से अलग कर लिये गये। जैसा हम देख चुके है, यह सिलसिला तुर्की में सबसे ज्यादा दूर तक गया। तुर्की प्रजातंत्र का अध्यक्ष या राष्ट्रपति खुदा के नाम पर ग्रहण की जानेवाली शपथ भी नहीं लेता; वह इसे अपनी इज्जत के नाम पर लेता है। मिस्र में मामला इस हद तक नहीं पहुँचा है, पर दूसरे इस्लामी देशो में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। तुर्क, मिस्री, सीरियन, फारसी वगैरा आज धर्म की पुरानी जबान की बनिस्वत राष्ट्रीयता की भाषा में कहीं ज्यादा बोलते है। सम्भवतः हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने दुनिया के मुसलमानो के किसी बडे समुदाय की बनिस्वत राष्ट्रीयकरण के इस सिलसिले का सबसे ज्यादा प्रतिरोध किया है और यो वे इस्लामी देशो के अपने धर्मबन्धुओ की बनिस्वत कहीं ज्यादा अनुदार, कट्टर और मजहबी रंग के है। यह एक अजीब पर गौर-तलब बात है। नई राष्ट्रीयता और पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली के नीचे पैदा हुए मध्यम वर्गो का विकास अक्सर साथ-साथ हुआ है। हिन्दुस्तान के मुसलमान इस बोर्जुआ या मध्यम वर्ग का विकास करने में बहुत सुस्त रहे हैं और इस कमी ने राष्ट्रीयता की तरक्की में बाधा डाली है। यह भी मुमकिन है कि हिन्दुस्तान में उनके अल्पमत में होनें के खयाल ने उनको इतना भयभीत कर दिया कि वे ज्यादा अनुदार और कट्टर होगये और अपनी पुरानी परम्परा से जकड़कर रह गये और नये खयालात की तरफ से शकित होगये। इसी तरह की किसी मानसिक अवस्था में वे हिन्दू भी रहे होंगे जो करीब हजार वर्ष पहले, शुरु के इस्लामी हमलो के वक्त अपने खोलो में घुस गये और एक बडी सख्त, जातियो में बँटी हुई कौम बन गये।

उन्नीसवीं सदी के आखरी चौथाई हिस्से में और उसके बाद, विदेशी व्यापार बढ़ने के साथ, मिस्र में नई मध्यम श्रेणी पैदा हुई और बढी। इस वर्ग के एक आदमी

सैद जगलूल थे जो 'फेल्लाह' या किसान कुटुम्ब से इस दर्जे तक बढ़े थे। जब अरबी-पाशा ने १८८१–८२ में अंग्रेजो को चुनौती दी, तब वह एक युवक थे और उन्होने अरबीपाशा के नेतृत्व में काम किया। तबसे आगे १९२७ में अपनी मौत के वक़्त तक, यानी पैंतालीस वर्षो तक, उन्होने मिस्र की आजादी के लिए काम किया और मिस्री स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेता होगये। वह मिस्र के सर्वमान्य नेता थे; किसान, जिनमें से वह उठे थे, उनसे मुहब्बत करते थे और मध्यम श्रेणी, जिसमें वह खुद थे, उन्हे पूजती थी। लेकिन रईस लोगो यानी पुरानी सामन्ती जमीदार श्रेणी ने उनके साथ अच्छा सलूक नहीं किया। वे उस बढ़ते हुए मध्यम वर्ग को पसन्द नहीं करते थे जो उनको धीरे-धीरे देश में उनके ऊँचे स्थान से दूर धकेल रहा था। उनकी निगाह में जगलूल एक मामूली खानदान का था, और जग़लूल को अपने वर्ग के नेता और प्रतिनिधि की हैसियत से उनके ख़िलाफ लडना पड़ा। हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी अंग्रेज़ों ने सामन्ती जमीदार वर्ग से अपने लिए मदद लेने की कोशिश की। वहाँ यह वर्ग मिस्री की बनिस्बत तुर्की ही ज्यादा था और पुराने शासक सरदारो का नुमाइन्दा था।

इस तरह ब्रिटिश सरकार ने, साम्राज्यवाद के अच्छी तरह परखे हुए और मंज़ूर-शुदा फैशन के ढंग पर, अपने साथ किसी सामाजिक समुदाय या राजनैतिक दल को मिला रखने की कोशिश की और एक वर्ग या दल को दूसरे वर्ग या दल के ख़िलाफ खड़ा करके एक राष्ट्रीयता की वृद्धि को रोक दिया। हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी उन्होने अल्पमत का मसला उठाने की कोशिश की। ईसाई काप्ट लोग मिस्र में थोडी तादाद में हैं। पर इस कोशिश में वे नाकामयाब रहे। और यह सब भी उन्होंने अपने उसी प्रचलित फैशन में अपने ओठो से पवित्र वाक्यो का उच्चारण करते हुए किया। वे कहते रहे कि जो कुछ हम करते हैं सब तुम्हारे ही फायदे के लिए है; हम तो 'गूंगी जनता' के 'ट्रस्टी' हैं और अगर 'झगड़ा पैदा करनेवाले' और दूसरे लोग, जिनका देश में कुछ भी जोखिम उठाने लायक नहीं है, शान्त रहे तो सब कुछ ठीक होजायगा। मजा तो यह है कि जनता का उपकार करने के इस सिलसिले में अकसर उन्हीं फायदा उठानेवाले लोगो को बडी तादाद में गोलियो से भून दिया गया। शायद ऐसा उन्हे दुनिया के दुखो से छुटकारा दिलाने और स्वर्ग की तरफ़ उनके सफ़र को नजदीक लाने के लिए किया गया होगा!

सारे युद्ध के जमाने में और उसके बाद भी बहुत दिनो तक मिस्र में फौजी शासन था। युद्ध के जमाने में वहाँ 'डिसार्मामेण्ट ऐक्ट' और 'कांसक्रिप्शन ऐक्ट' नामी दो कानून पास हुए थे। देश ब्रिटिश फौजो से भरा हुआ था। महायुद्ध के शुरू में ही उसपर ब्रिटिश संरक्षण का ऐलान कर दिया गया था।

१९१८ में शान्ति होने के बाद, मिस्र के राष्ट्रवादियो ने फिर आन्दोलन शुरू किया और मिस्र की आजादी का 'केस' तैयार किया। वे इसे ब्रिटिश सरकार और पेरिस के शान्ति-सम्मेलन के सामने रखना चाहते थे। उस वक्त मिस्र में कोई वास्तविक दल न थे। 'वतनी' (स्वदेशवादी) नामका एक दल था, पर इसके सदस्यो की तादाद भी बहुत कम थी। प्रस्ताव यह था कि जगलूलपाशा के नेतृत्व में एक बड़ा डेपुटेशन मिस्र की स्वाधीनता की वकालत करने के लिए लंदन और पेरिस जाय और इस डेपुटेशन को राष्ट्रीय रूप देने और उसके पीछे कुछ जोर पैदा करने के लिए एक बडी संस्था खोली गई। मिस्र की मशहूर 'वफ्द' पार्टी का जन्म इसी तरह हुआ। 'वफ्द' का मतलब ही 'डेपुटेशन' है। ब्रिटिश सरकार ने इस डेपुटेशन को लंदन जाने की मंजूरी देने से इन्कार कर दिया और मार्च १९१९ में जगलूल और दूसरे नेताओ को गिरफ्तार कर लिया।

इसका नतीजा यह हुआ कि एक खूनी क्रान्ति शुरू होगई। कुछ अग्रेज मारे गये और काहरा (कैरो) के शहर और दूसरे केन्द्रो पर क्रान्तिकारी दल का कब्जा होगया। बहुत-सी जगहो में 'सार्वजनिक रक्षा' की 'राष्ट्रीय कमेटियाँ' कायम की गई। इस बगावत में विश्वविद्यालय (यूनिवर्सिटी) के विद्यार्थियो ने बड़ा हिस्सा लिया। शुरू की इन कामयाबियो के बाद बगावत बहुत-कुछ दबा दी गई, हालाकि बीच-बीच में अंग्रेज अफसर मारे जाते रहे। मगर खुली बगावत दबा दी जाने पर भी आन्दोलन को कुचला न जा सका। आन्दोलन ने लड़ाई का ढंग बदल दिया और 'पैसिव रेसिस्टेंस' या 'शान्त-प्रतिरोध' (यानी एक तरह के सत्याग्रह) का एक दूसरा पहलू इख्तियार किया। इसमें इतनी कामयाबी हुई कि ब्रिटिश सरकार को मिस्र की माँग पर गौर करने को मजबूर होना पड़ा। लार्ड मिलनर की अध्यक्षता में इग्लैण्ड से एक कमीशन भेजा गया। मिस्री राष्ट्रवादियो या नेशनलिस्टो ने इसका बायकाट करने का फैसला किया और इस बायकाट में वे खूब कामयाब हुए। मिलनर-कमीशन के बायकाट में भी यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियो ने खूब हिस्सा लिया। कमीशन इस राष्ट्रीय विरोध से इतना प्रभावित हुआ कि उसने कुछ बहुत बडी सिफारिशें कीं। ब्रिटिश सरकार ने इन सिफारिशो की परवा न की और मिस्र में आजादी की लड़ाई जारी रही। १९१९ के शुरू से १९२२ के शुरू यानी तीन वर्ष तक यह लडाई चलती रही और मिस्री स्वतंत्रता 'इस्तक़लाल अल-तआम' या पूर्ण से कम पर राजी होने को तैयार न थे।

१९१९ में अपनी गिरफ्तारी के कुछ दिनो बाद जग़लूलपाशा छोड़ दिये गये थे। दिसम्बर १९२१ में वह फिर गिरफ्तार करके जलावतन कर दिये गये। पर अंग्रेजो के लिए इससे मिस्र की स्थिति कुछ नहीं सुधरी और उन्हे मिस्रियो को शान्त करने

के लिए कुछ करने को मजबूर होना पडा। यद्यपि जगलूल समझौता न करनेवाले उग्र लोगो में से न थे, फिर भी समझौते की सारी कोशिशें बेकार हुई। जगलूल उग्र न थे, इसका एक सबूत यह भी है कि एक बार कुछ लोगो ने उनका खून तक करने की कोशिश की। उनका कहना था कि तुम अंग्रेजो के साथ कमजोर समझौता करके अपने देश को धोखा दे रहे हो। पर ब्रिटिश सरकार और मिस्री राष्ट्रवादियो के बीच उस वक्त या बाद में भी समझौता न हो सकने के मौलिक कारण थे। ये वही कारण है जो हिन्दुस्तान में भी समझौता होने में बाधक है। मिस्री राष्ट्रवादी मिस्र के ब्रिटिश स्वार्थो की उपेक्षा करना नही चाहते थे। वे इसपर बातचीत करने और ब्रिटेन के साम्राज्य-व्यापार और सैनिक रास्तो सम्बन्धी विशेष स्वार्थो को एक हद तक मंजूर करने को तैयार थे। पर वे इन सवालो पर तबतक विचार करने को तैयार नहीं थे जबतक कि उनके देश की पूर्ण स्वतत्रता स्वीकार न करली जाय। फिर इन मसलो पर भी वे उसी हद तक विचार करने को तैयार थे जिस हद तक जाने में उनकी स्वतंत्रता बनी रहे। पर दूसरी तरफ़ इंग्लैण्ड समझता था कि यह तय करना हमारा काम है कि तुमको कितनी आजादी दी जाय और यह आज़ादी हमारे स्वार्थो के मुआफ़िक होगी, क्योकि उनकी रक्षा करना हमारा पहला फर्ज है।

इस तरह दोनो के बीच समझौते का कोई सामान्य आधार न था। लेकिन ब्रिटिश सरकार महसूस करती थी कि कुछ-न-कुछ जल्द किया जाना चाहिए इसलिए किसी समझौते या राजीनामे के बगैर ही, उसने २८ फरवरी १९२२ को एक ऐलान किया। उसमें उसने कहा कि भविष्य में वह मिस्र को एक 'आज़ाद खुदमुख्तार राज्य' ("Independent Sovereign State") मानेगी, परन्तु—और यह एक बडा परन्तु था—नीचे लिखे चार विषय आगे विचार करने के लिए सुरक्षित रक्खे गये :—

१. मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के आमदरफ्त के मार्गो की रक्षा।

२. प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विदेशी हमलो या दस्तंदाज़ियो के ख़िलाफ़ मिस्र की रक्षा।

३. मिस्र में फैले हुए विदेशी स्वार्थो और अल्पमत वाली जातियो की रक्षा।

४. सूडान के भविष्य का सवाल।

ये संरक्षण अपने हिन्दुस्तान के संरक्षण-बन्धुओ के साथ कितने एक-से मालूम पड़ते है। हम इन्हे यहाँ, अपने देश में, 'सेफगार्ड्स' (संरक्षण) कहते है और उनके अण्डे-बच्चे हमारे देश में कही ज्यादा है। मिस्र में उस वक्त इन संरक्षणो को मंजूर नहीं किया गया और अभीतक मिस्रियो ने इन्हे मंजूर नहीं किया है, क्योकि यो देखने में तो ये सीधे-सादे और निर्दोष मालूम पड़ते थे पर इनका मतलब यह था कि न घरेलू और न वैदेशिक मामलो में मिस्र को कोई वास्तविक स्वतंत्रता मिलेगी। इस तरह २८ फरवरी १९२२

का मिस्र की स्वतंत्रता का ऐलान ब्रिटिश सरकार का एकांगी काम था, जिसे मिस्र ने कभी मंजूर नही किया। पिछले ग्यारह वर्षो में मिस्र में यह बात अच्छी तरह जाहिर होगई है कि सरक्षणो के साथ स्वतंत्रता का भी क्या मतलब हो सकता है।

इस 'स्वतंत्रता' के बावजूद ब्रिटिश अफसरो की देखरेख में और भी डेढ़ साल तक 'मार्शल ला'--फौजी कानून—जारी रहा। यह तब खत्म हुआ जब मिस्र की सरकार ने 'ऐक्ट ऑफ इनडेमनिटी' यानी ऐसा कानून पास किया जिसके जरिये फ़ौजी शासन के ज़माने में अफसरो द्वारा किये गये गैरकानूनी कामों की जिम्मेदारी से उन्हे मुक्त कर दिया गया, यानी उन्हे पनाह दीगई।

नये 'स्वतंत्र' मिस्र को एक बहुत ही प्रतिक्रियात्मक विधान दिया गया, जिसमें बादशाह के हाथ में बडे अख्तियारात थे। यह बादशाह—किंग फुआद—भी बेचारे मिस्रियो पर जबरदस्ती लाद दिया गया। बादशाह फुआद और ब्रिटिश अधिकारियो में खूब मेलजोल था, दोनो राष्ट्रवादियो को नापसन्द करते थे और दोनो जनता की आजादी के खयाल, यहाँतक कि असली पार्लमेण्टरी हुकूमत का भी विरोध करते थे। फुआद खुद अपनेको सरकार समझता था और जो उसके मन में आता वह करता था। उसने पार्लमेण्ट को बर्खास्त कर दिया और अपनी हिफाजत करने के लिए सदा तैयार ब्रिटिश संगीनो पर विश्वास करके डिक्टेटर की तरह हुकूमत करने लगा।

मिस्र की स्वतत्रता के अपने ऐलान के बाद पहला परोपकार का काम जो ब्रिटिश सरकार ने किया वह यह था कि उसने उन अधिकारियो के लिए मुआवज़े की बडी-बडी रकमें माँगीं जो नई हुकूमत के कारण 'रिटायर' (अलग) हो रहे थे! इस वक़्त बादशाह फुआद ही मिस्र की सरकार था और उसने फ़ौरन माँग स्वीकार कर ली और यो पैंसठ लाख पौंड की बडी रकम चुकाई गई—एक बडे अधिकारी को तो आठ हजार पाँच सौ पौण्ड मिले! फिर मजेदार बात तो यह हुई कि इन अधिकारियो में से कई, जो अलग होने के लिए गहरा मुआवजा ले चुके थे, खास कण्ट्राक्ट पर फिर रख लिये गये। याद रक्खो कि मिस्र बड़ा देश नहीं है और उसकी आबादी सयुक्तप्रान्त की आबादी की तिहाई से भी कम है।

मिस्री विधान बडी बहादुरी से कहता है कि "सारी सत्ता राष्ट्र से उद्‌भूत (Emanate) होती है," पर व्यवहार में बात यह है कि जबसे नया विधान जारी किया गया तबसे मिस्री पार्लमेण्ट के लिए बड़ा बुरा जमाना आगया है। जहांतक मैं जानता हूँ (हाल की घटनाओ के बारे में मुझे बिलकुल ठीक इल्म नहीं है), एक भी पार्लमेण्ट अपनी सामान्य अवधि तक जिन्दा नहीं रही। बार-बार बादशाह फुआद के

हाथो उसकी एकाएक मौत होती रही है और यह बादशाह विधान को मुल्तवी करके निरकुश राजा की तरह हुकूमत करता रहा है।

नई पार्लमेण्ट का पहला चुनाव १९२३ में हुआ और जग़लूलपाशा और उनके दल ने, जो अब वफद दल के नाम से मशहूर है, सारे देश में हलचल पैदा करदी। उनको ९० प्रतिशत वोट मिले और २१४ स्थानो में से १७७ पर उन्होने कब्जा कर लिया। इग्लैण्ड के साथ समझौता करने की एकबार फिर कोशिश की गई और इसके लिए जग़लूल लदन गये। पर दोनो दृष्टिकोणो में मेल नही हो सका और कुछ सवालो पर समझौते की बातचीत टूट गई। इन सवालो में से एक सवाल सूडान का था। सूडान मिस्र के दक्षिण में एक देश है। यह मिस्र से बिलकुल जुदा ढंग का है; यहाँ के बाशिन्दे जुदा है और जबान भी जुदी है। इसके ऊँचे क्षेत्रो से नील नदी बहती है। यह नील नदी मिस्र के लिखित इतिहास के शुरू से यानी सात-आठ हजार वर्षो से मिस्र का जीवन-रक्त या सहारा रही है। मिस्र की सारी कृषि और जिन्दगी नील नदी में आनेवाले सालाना सैलाबो—बाढो—के इर्द-गिर्द पनपी है, क्योकि ये सैलाब अबिसीनिया के ऊँचे प्रदेश से कीमती मिट्टी लाते है और मिस्र की ऊजड़ जमीन को उपजाऊ बनाते है। लार्ड मिलनर (मिलनर कमीशन के—जिसका बायकाट हुआ था—अध्यक्ष) ने नील नदी के बारे में लिखा था :—

> "यह खयाल दु खदाई है कि इस महानद से पानी की नियमित आमदनी, जो मिस्र के लिए सुविधा और खुशहाली का नही बल्कि जिन्दगी का सवाल है, सदा खतरे मे रहे; और यह तबतक सदा खतरे मे रहेगी जबतक कि नदी की उँचाई के स्थान मिस्र के कब्जे मे नही रहेगे।"

नदी की धारा के ये ऊँचे स्थान सूडान में है, इसलिए सूडान मिस्र के लिए बडे महत्व का है।

पिछले जमाने में सूडान इंग्लैण्ड और मिस्र के संयुक्त नियंत्रण में समझा जाता था। इसे 'एंग्लो-इजीप्शियन सूडान' (अंग्रेजी-मिस्री सूडान) के नाम से पुकारा जाता था और अब भी बहुत-से नकशो और एटलसो में यही नाम है। चूंकि मिस्र पर अमली तौर पर ब्रिटेन की हुकूमत थी, इसलिए स्वार्थो का कोई संघर्ष नहीं था और मिस्र का बहुत-सा रुपया सूडान में खर्च किया गया। यहाँतक कि १९२४ में लार्ड कर्जन ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट में कहा था कि अगर मिस्र खर्च के लिए धन न दे तो सूडान का दिवाला निकल जाय। लेकिन जब मिस्र छोड़ने के सवाल पर गौर करने के लिए ब्रिटेन को मजबूर होना पड़ा तब उसने सूडान को पकड़ रखना चाहा; दूसरी तरफ मिस्रियो ने महसूस किया कि उनकी सारी हस्ती सूडान से बहने वाली नील नदी की धारा की रक्षा पर निर्भर है; इसलिए स्वार्थों में संघर्ष हुआ।

१९२४ ई० में जब ब्रिटिश सरकार और सैद जगलूलपाशा के बीच सूडान के मसले पर बातचीत हो रही थी, तब कई तरह से सूडान के लोगो ने मिस्र के साथ अपनी मुहब्बत जाहिर की। इसके लिए ब्रिटिश सरकार उनकी छाती पर चढ़ बैठी और मिस्र की सरकार से सलाह-मशविरा किये बिना जो मन में आया किया। मजा यह कि सूडान पर इंग्लैण्ड और मिस्र दोनों का संयुक्त नियन्त्रण था और इसके लिए मिस्र को काफी ख़र्च करना पड़ता था।

अपनी मिस्री स्वाधीनता की कथित घोषणा में ब्रिटेन ने दूसरी छूट विदेशी स्वार्थो के संरक्षण की रक्खी थी। ये विदेशी स्वार्थ क्या थे ? मैं उनके बारे में किसी पिछले ख़त में तुम्हें बता चुका हूँ। जब तुर्की साम्राज्य कमजोर पड़ रहा था, तब महाशक्तियों ने उसपर कई नियम जबरदस्ती लाद दिये थे, जिनके मुताबिक तुर्की में उनके नागरिको के साथ विशेष व्यवहार किये जाने की तजवीज की गई थी। ये यूरो-पियन विदेशी चाहे जो जुर्म करें पर तुर्की अदालतो में उनपर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था। उनका मुकदमा उनके अपने देशो के राजदूतो या राष्ट्रीय प्रतिनिधियो यानी विदेशियों से बनी हुई खास अदालत में होता था। उनको कितने ही टैक्सो से छूट वगैरा की और भी बहुतेरी सहूलियतें दी गई थीं। विदेशियों की ये ख़ास और कीमती सहूलियतें कैपिचुलेशंस कहलाती थीं। कैपिचुलेशन का मतलब शत्रु के प्रति आत्म-समर्पण होता है और यह भी मिस्र राष्ट्र का, कुछ हद तक, अपनी स्वाधीनता से झुकना या आत्म-समर्पण करना ही था। चूंकि तुर्की को उन्हे मानना पड़ा, इसलिए तुर्की साम्राज्य के उपनिवेश भी उन्हे मानने को मजबूर हुए। मिस्र तो पूरी तरह ब्रिटेन के कब्जे में था और वहाँ तुर्की की सत्ता नाम मात्र को भी नहीं रह गई थी; पर इस मामले में उसे तुर्की साम्राज्य का हिस्सा समझा गया और उसपर भी 'कैपिचुलेशंस' लादे गये। ऐसी अनुकूल स्थिति में शहरो में विदेशी व्यापारियों और पूंजीपतियो की बस्तियाँ बस गई। यह लाजिमी था कि वे एक ऐसी प्रथा के तोड़ने का विरोध करते जो हर तरह से उनकी हिफाजत करती और बिना टैक्स दिये उनके मोटे और मालदार होने में मदद देती थी। मिस्र में विदेशी स्थापित स्वार्थ भी ये जिनकी रक्षा की जिम्मे-दारी ब्रिटिश सरकार ने ली थी। मिस्र के लिए ऐसी प्रणाली को मानना मुमकिन न था जो न सिर्फ स्वाधीनता की विरोधी थी बल्कि जिससे उसकी एक बहुत बडी आमदनी मारी जाती थी। अगर सबसे मालदार आदमी टैक्स से बरी होजायें तो फिर सामा-जिक अवस्था में किसी तरह के सुधार का कोई काम बडे पैमाने पर नहीं किया जा सकता। सीधी ब्रिटिश हुकूमत के लम्बे जमाने में अंग्रेजो ने प्रारम्भिक शिक्षा या गांवो के सुधार और सफाई के लिए कुछ नहीं किया था।

घटनायें इस ढग पर हुई कि तुर्की, जो 'कैपिचुलेशन' का असली कारण था, कमालपाशा की फतह के बाद उनसे छूट गया, पर मिस्र ब्रिटिश संरक्षण में अभीतक उनसे लदा हुआ है। यहाँ मैं यह भी कहदूं कि चीन भी अभीतक इसी तरह के 'कैपिचुलेशनो' के ख़िलाफ लड रहा है। उन्नीसवी सदी में, कुछ वक्त तक, जापान भी इनका मजा चख चुका था, पर ज्योही वह ताकतवर होगया, उसने उन्हे ख़तम कर दिया।

इस तरह विदेशी स्थापित स्वार्थो का सवाल ब्रिटेन और मिस्र के तस्फिये के बीच दूसरा रोडा था। स्थापित स्वार्थ सदा ही आजादी के रास्ते में रोड़ा अटकाते है।

अपनी सदा की उदारता के साथ ब्रिटिश सरकार ने अल्पमत वाली जातियो की रक्षा करने का भी निश्चय किया था और यह भी फरवरी १९२२ के स्वाधीनता वाले ऐलान में एक सरक्षण था। अल्पमत वाली मुख्य जाति काप्टो की थी। ऐसा खयाल किया जाता है कि ये लोग पुराने मिस्रियो के वंशज है और इस तरह सब तरह के मिस्रियो में से मिस्र के ज्यादा असली बाशिन्दे है। वे ईसाई है और ईसाई धर्म के शुरू के दिनो से, योरप के ईसाई होने के भी पहले से, ईसाई ही चले आ रहे है। अल्पमत वाली जातियो के प्रति ब्रिटेन की इस कृपालुता पर उसका अहसान मानने की जगह काप्टो ने यह अहसानफरामोशी दिखाई कि ब्रिटिश सरकार से साफ कह दिया कि हमारे लिए आप तकलीफ़ न करे। फरवरी १९२२ के ब्रिटिश ऐलान के बाद एक बडी मीटिग में काप्ट लोग इकट्ठे हुए और प्रस्ताव किया कि "राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति और कौमी एकता के लिए हम सब तरह के अल्पमत के प्रतिनिधित्व और सरक्षणो का त्याग करते है।" काप्टो के इस निर्णय की अग्रेजो ने 'मूर्खतापूर्ण' कहकर आलोचना की। पर बुद्धिमानी या मूर्खता कुछ भी कहो, इसने उनकी रक्षा करने के ब्रिटिश दावे का खात्मा कर दिया और अल्पमत वाली जातियो का सवाल बहस-मुबाहिसे की चीज नही रह गया। बल्कि सच पूछें तो काप्टो ने आजादी की लड़ाई में जबरदस्त हिस्सा लिया और वफ्द दल में जगलूलपाशा के कुछ बहुत ही विश्वासपात्र साथी काप्ट थे।

इन विरोधी दृष्टिकोणो और स्वार्थो के असली संघर्ष के कारण मिस्र, जिसके प्रनिनिधि जगलूलपाशा और उनके साथी थे, और ब्रिटिश सरकार के बीच हो रही १९२४ की समझौते की बातचीत टूट गई थी। इसपर ब्रिटिश सरकार बडी नाराज हुई। अभीतक वह मिस्र में मनमानी करते रहने की अभ्यस्त होगई थी, इसलिए उसे कैरो की नई पार्लमेण्ट और ख़ासकर वफ़्द नेताओ के अडंगे और मुख़ालफत पर बडी खीझ हुई। बस उन्होने वफ़्द लोगो और मिस्री पार्लमेण्ट को अपने साम्राज्यवादी ढंग पर सबक सिखाने का इरादा कर लिया। बहुत जल्द उन्हे मौका भी मिल गया

और जिस ग़ैरमामूली तरीके पर उन्होंने इसका इस्तेमाल किया और इससे फायदा उठाया, उसकी बाबत मैं अगले ख़त में लिखूंगा। वह महत्वपूर्ण घटना आजकल के साम्राज्यवाद की कारगुज़ारियों के लिए आईने की तरह है, इसलिए उसपर अलग ख़त लिखने की ज़रूरत है।

: १६४ :

अंग्रेजों की छत्रछाया में आज़ादी का तात्पर्य

२२ मई, १९३३

अपने पिछले ख़त में मैंने तुम्हें बताया था कि १९२४ में मिस्री सरकार, जिसके प्रतिनिधि राष्ट्रवादी थे, और अंग्रेजो के बीच सुलह की बातचीत शुरू होकर टूट गई थी और इससे ब्रिटिश सरकार बडी नाराज होगई थी। इसके बाद जो उल्लेखनीय घटनायें हुई उनका बयान करने से पहले मैं तुम्हें यह बता देना चाहता हूँ कि कहने के लिए आजाद होते हुए भी मिस्र पर अंग्रेजो का फ़ौजी कब्जा क़ायम रहा। वहाँ सिर्फ़ अंग्रेजी फ़ौज रक्खी ही नहीं गई थी, बल्कि मिस्र की फ़ौज भी अंग्रेजो के ही नियंत्रण में थी। उसका अध्यक्ष 'फ़ौज के सरदार' के ख़िताबवाला एक अंग्रेज था। पुलिस के बडे-बडे अफसर भी अंग्रेज ही थे, और मिस्र में विदेशियो की रक्षा करने का बहाना बताकर ब्रिटिश सरकार अर्थ, न्याय और आन्तरिक महकमों पर भी नियंत्रण रखती थी। गरज यह कि, मिस्री शासन के हरेक महत्वपूर्ण काम पर अंग्रेजो का ही नियंत्रण था। स्वभावत. ही, मिस्रवासी इस बात पर जोर देते थे कि अंग्रेजों को यह नियंत्रण हटा लेना चाहिए।

१९ नवम्बर १९२४ ई० को एक अंग्रेज सर ली स्टाक, जो 'मिस्री फ़ौज के सरदार' के पद पर था और जो सूडान का भी गवर्नर-जनरल था, कुछ मिस्रियो द्वारा क़त्ल कर दिया गया। कुदरती तौर पर इससे मिस्र के और इंग्लैण्ड के अंग्रेजों को बड़ा रंज पहुँचा। इससे मिस्र के राष्ट्रवादी दल वफ़्द के नेताओ को तो और भी ज्यादा रंज हुआ, क्योंकि वे जानते थे कि इसके फलस्वरूप उनपर हमला किया जायगा। और यह हमला काफी जल्दी सामने आगया। तीन ही दिन के अन्दर, २२ नवम्बर को, मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर लार्ड एलनबी ने मिस्री सरकार को एक चुनौती दी, जिसमें नीचे लिखी मांगें फौरन पूरी करने को कहा गया :—

१. माफी मांगी जाय,
२. मुजरिमो को सजा दी जाय
३. सब राजनैतिक प्रदर्शन बन्द कर दिये जायें,

४. ५ लाख पौण्ड हर्जाना दिया जाय,

५. सूडान से २४ घटे मे तमाम मिस्री फोजे हटा ली जायँ,

६ मिस्र के हित की दृष्टि से सूडान मे आबपाशी के रकबे पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया था वह हटा दिया जाय,

७. मिस्र मे सब विदेशियो की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो अधिकार हासिल कर लिया है, उसका आगे कोई विरोध न किया जाय। (इसमे इस बात का खास तौर से इशारा था कि अर्थ, न्याय और आन्तरिक महकमो मे ब्रिटिश सत्ता कायम रक्खी जाय।)

इन सात माँगो पर कुछ गौर किया जाना चाहिए। चूँकि कुछ लोगो ने सर ली स्टाक को कत्ल कर दिया था, ब्रिटिश सरकार फौरन, जॉच की सम्भावना के बिना ही, कुल मिस्री सरकार यानी कुल मिस्री कौम के साथ मुजरिम का-सा बर्ताव करने लगी। इसके अलावा इस सारे मामले से उसने खासा आर्थिक लाभ भी उठाया, और सबसे ज्यादा गौर करने की बात यह है कि उसने इस मौके का फायदा उठाकर उन सब बातो का जबरन तसफिया करना चाहा जिनकी बाबत उसमें और मिस्री सरकार में मतभेद था और जिनके बारे में कुछ ही महीने पहले लन्दन में सुलह की बातचीत शुरू होकर टूट चुकी थी। फिर उसनें इतना ही काफी न समझकर यह भी कहा कि सब राजनैतिक प्रदर्शन निषिद्ध कर दिये जायँ ताकि मुल्क के सामान्य सार्वजनिक जीवन का प्रवाह ही बन्द होजाय।

उस कत्ल के कारण इतनी मांगो का पेश किया जाना तो एक बडी असाधारण बात थी और एक कत्ल से ब्रिटिश लोगो के लिए इतना फायदा उठाना तो एक बडे तेज और उपजाऊ दिमाग का ही काम था। और इसमें ज्यादा ताज्जुब की बात एक यह भी थी कि अपराध और कत्ल को रोकने के लिए खास तौर पर जिम्मेदार समझे जाने लायक दो बडे अफसर (जो नाममात्र को मिस्री सरकार के मातहत थे), यानी काहिरा की पुलिस का अध्यक्ष और सार्वजनिक रक्षा के यूरोपीय विभाग (European Department of Public Safety) का डायरेक्टरजेनरल, अंग्रेज ही थे। कत्ल के लिए उनको किसी ने जिम्मेदार नही समझा। लेकिन बेचारे मिस्री शासक-मण्डल पर, जिसने कि कत्ल के बाद फौरन सख्त रंज और अफसोस जाहिर कर दिया था, ब्रिटिश सरकार का भारी लेकिन बेरहमी से सोचा हुआ और फायदेमन्द गुस्सा दिखाया गया।

मिस्री सरकार ने हद दर्जे की नम्रता प्रकट की। जगलूलपाशा ने चुनौती की करीब-करीब सभी शर्ते मानली, और २४ घण्टे में ५ लाख पौण्ड का हर्जाना भी अदा कर दिया। सिर्फ सूडान के बारे में मिस्री सरकार नें कहा कि वह अपना हक नहीं छोड़ सकती। लेकिन इतनी नम्रता और मुआफी भी लार्ड एलेनबी के लिए काफी न

थी, और चूंकि सूडान-संबंधी शर्तें मानी नहीं गई थीं, इसलिए अंग्रेज़ों की तरफ़ से उसने सिकन्दरिया (एलेग्ज़ेण्ड्रिया) के कस्टम्स हाउस यानी चुंगीघर पर ज़बरन क़ब्ज़ा कर लिया, और इस तरह चुंगी की आमदनी पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया। फिर, मिस्रवासियों के विरोध करने पर भी, उसने सूडान में इन शर्तों को लागू कर दिया और सूडान को ब्रिटिश बस्ती बना डाला। सूडान में फ़ौज की बग़ावतें भी हुईं, लेकिन उन्हें बेहद सख़्ती के साथ दबा दिया गया।

अंग्रेज़ों की इस कार्रवाई के ख़िलाफ़ ज़ग़लूलपाशा और उनकी सरकार ने फ़ौरन इस्तीफ़ा देदिया, और नवम्बर १९२४ के उसी महीने में शाह फ़ुआद ने पार्लमेण्ट तोड़ दी। इस तरह अंग्रेज़ लोग ज़ग़लूल और उसके दल 'वफ़्द' को उनके पद से निकाल बाहर करने और, कम-से-कम उस वक़्त के लिए ही सही, पार्लमेण्ट को ख़त्म कर देने में कामयाब होगये। उन्होंने सूडान को अपने राज्य में मिला लिया, और इस तरह सूडान में नील नदी के पानी के नियन्त्रण द्वारा मिस्र का सरलता से गला घोंटने की ताक़त हासिल करली।

मिस्र की दुखिया पार्लमेण्ट ने एक खेदजनक घटना का साम्राज्यवादी लाभ के लिए दुरुपयोग करने के ख़िलाफ़ राष्ट्र-संघ में अपील की। लेकिन बड़ी शक्तियों के ख़िलाफ़ शिकायतों के बारे में तो राष्ट्रसंघ न कुछ सुन सकता है, न देख सकता है।

उस वक़्त से आजतक मिस्र में एक तरफ़ वफ़्ददल, जो कि लगभग सारे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, और दूसरी तरफ़ शाह फ़ुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर के गुट्ट के बीच, जिनका समर्थन अन्य विदेशी स्वार्थों और राज-दरबार के पिछलग्गू करते हैं, लगातार एक कशमकश चली आ रही है। ज़्यादातर देश का शासन, राज्य-विधान के विरुद्ध भी डिक्टेटरशाहियों द्वारा चलता रहा है, जिसमें शाह फ़ुआद स्वेच्छाचारी बादशाह की तरह काम करता रहा है। जब कभी पार्लमेण्ट की बैठक होजाने दी गई, तभी फ़ौरन उससे यह ज़ाहिर होगया कि वफ़्ददल के साथ क़रीब-क़रीब सारा राष्ट्र है, और इसीलिए वह तोड़ दीगई। फ़ुआद की मदद पर अगर अंग्रेज़ और उनके नियन्त्रण में फ़ौज और पुलिस न होती तो शायद वह इस तरह का अमल न कर सकता। 'आज़ाद' मिस्र के साथ लगभग वैसा ही बर्ताव किया जाता है जैसा कि हिन्दुस्तान में किसी देशी रियासत के साथ, जहाँकि असली सत्ता यानी अंग्रेज़ रेज़ीडेन्ट के इशारों के मुताबिक़ कार्य चलता है।

नवम्बर १९२४ ई० में पार्लमेण्ट तोड़ दी गई। मार्च १९२५ में नई पार्लमेण्ट की बैठक हुई। इसमें वफ़्ददल का भारी बहुमत था, और उसने फ़ौरन ज़ग़लूलपाशा को चेम्बर आफ़ डेप्युटीज़ के प्रधान-पद के लिए चुन लिया। यह बात न तो अंग्रेज़ों

को और न शाह फुआद को अच्छी लगी, और इसलिए उसी दिन इस एक दिन की बिलकुल नई पार्लमेण्ट को तोड दिया गया। इसके पूरे एक साल बाद तक, विधान के ख़िलाफ भी, पार्लमेण्ट नही बनाई गई और फुआद डिक्टेटर की तरह हुकूमत करता रहा। हाँ, उसके पीछे असली ताकत थी ब्रिटिश कमिश्नर। सारे देश ने इसपर नाराजगी ज़ाहिर की, और शाह फुआद और अंग्रेज़ो के इस गुट्ट का विरोध करने के लिए सैद ज़गलूल सब दलो को एक करलेने में कामयाब हुए। नवम्बर १९२५ में सरकारी निषेधाज्ञा की परवा न करते हुए पार्लमेण्ट के मेम्बरों की एक बैठक भी हुई। पार्लमेण्ट-भवन पर तो सैनिको का कब्ज़ा था, इसलिए मेम्बरो को अपनी मीटिंग दूसरी जगह करनी पडी।

इस पर फ़ुआद ने अपने महल से एक हुक्मनामा जारी करके सारे विधान को ही बदल डालने की कोशिश की। उसकी मशा यह थी कि विधान को अधिक अनुदार बना दिया जाय, ताकि पार्लमेण्टो पर ज्यादा आसानी से नियन्त्रण रक्खा जा सके और अधिकांश ज़ग़लूली लोगो का आना बन्द हो जाय। लेकिन इसके ख़िलाफ जबरदस्त पुकार उठी, और यह ज़ाहिर होगया कि नये तरीके के चुनावो का पूरा बहिष्कार किया जायगा। इसपर शाह फ़ुआद को झुकना पड़ा, और पुराने तरीके के मुताबिक ही चुनाव हुए। नतीजा था जगलूल के दल का भारी बहुमत, १४ के विरुद्ध २००। इससे ज्यादा इस बात का क्या सबूत हो सकता था कि राष्ट्र पर जगलूल का कितना असर है और मिस्र क्या चाहता है ? इतना होने पर भी ब्रिटिश कमिश्नर ने (जो कि हिन्दुस्तान के एक भूतपूर्व गवर्नर लार्ड लायड थे) कहा कि उसे ज़ग़लूल के प्रधान मत्री बनने पर ऐतराज़ है; और इसलिए दूसरा व्यक्ति मुकर्रर किया गया। यह समझना ज़रा मुश्किल है कि अंग्रेजो को इस मामले में दख़ल देने से क्या सरोकार था। फिर भी नई सरकार पर ज्यादातर ज़गलूल के दल का ही नियन्त्रण था और बहुत नरम होने की कोशिश करने पर भी वे लोग अक्सर लार्ड लायड के संघर्ष में आजाते थे, जो कि बड़ा सख़्त और ज़ालिम आदमी था और अक्सर उन्ह अंग्रेज़ी जंगी जहाज़ो की धमकी दिया करता था।

ब्रिटेन से समझौता करने की दूसरी कोशिश १९२७ ई० में की गई, लेकिन शाह फ़ुआद का नरम-से-नरम प्रधान मन्त्री भी ब्रिटेन की शर्तों को देखकर ताज्जुब में पड़ गया। सिर्फ कागज़ी आज़ादी के दिखावे के अन्दर उनका असली मकसद था मिस्र को अंग्रेज़ी संरक्षण में रखना। इसलिए सुलह की बातचीत फिर नाकामयाब रही।

जब ये समझौते की बातें चल रही थीं, तब, २३ अगस्त १९२७ को, सत्तर वर्ष की उम्र में, मिस्र के महान नेता सैद ज़गलूलपाशा की मृत्यु होगई। वह तो मर

गये; परन्तु उनकी स्मृति मिस्र में एक शानदार और कीमती विरासत की तरह अब भी जिन्दा है और जनता को स्फूर्ति प्रदान करती रहती है। उनकी पत्नी श्रीमती सफिया जगलूल अब भी जीवित है। राष्ट्र उनसे प्रेम और उनका आदर करता है। उसने उन्हे 'राष्ट्र की माता' की पदवी देदी है और उनका मकान, जो 'पीपल्स हाउस' (जनता का मकान) कहलाता है, एक अर्से से मिस्र के राष्ट्रवादियो का प्रधान केन्द्र है।

जगलूल के बाद मुस्तफा नहसपाशा 'वफ्द' का नेता बना। बाद में मार्च १९२८ में वह प्रधान मन्त्री बना। उसने नागरिक स्वतन्त्रता और जनता के शस्त्र रखने के अधिकार के बारे में कुछ सीधे-सादे आन्तरिक सुधार करने की कोशिश की। मार्शल-ला के जमाने में इन अधिकारो को अंग्रेजो ने कम कर दिया था। ज्योही मिस्र की पार्लमेण्ट ने इस सवाल पर गौर करना शुरू किया त्योही इंग्लैण्ड से धमकियाँ आई कि ऐसा न किया जाय। यह अजीब बात है कि एक बिलकुल घरेलू मामले में इंग्लैण्ड इस तरह दखल दे। लेकिन अपने पुराने तरीके के अनुसार लार्ड लायड ने एक चुनौती पेश कर दी, और माल्टा से ब्रिटिश जंगी जहाज सनसनाते हुए एलेग्जेण्ड्रिया (सिकन्दरिया) के बन्दरगाह में चले आये। नहसपाशा कुछ झुक गया, और उसने इन कानूनो पर विचार कुछ महीने बाद अगले अधिवेशन के लिए स्थगित करना मंजूर कर लिया।

लेकिन अगला अधिवेशन तो होना ही न था। प्रतिक्रिया और साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि ने, शाह फुआद और ब्रिटिश कमिश्नर ने, ऐसी योजना की कि आगे पार्लमेण्ट को शरारत करने का मौका ही न मिले। एक अजीब ढंग की साजिश की गई। नहस-पाशा अपने उच्च चरित्र और रिश्वत न लेने के लिए खास तौर पर मशहूर था। अचानक एक पत्र के आधार पर, जो बाद में जाली साबित हुआ, नहसपाशा और वफ्द के एक काप्टिक [1] नेता पर रिश्वतखोरी का इलजाम लगाया गया। अदालती क्षेत्रो और अंग्रेजो द्वारा जबरदस्त प्रचार किया गया। मिस्र में ही नहीं बल्कि विदेशो में और ब्रिटिश एजेंसियो और अखबारो के सवाददाताओ ने इस झूठे इलजाम को फैलाया। इस इलजाम की आड़ लेकर शाह फुआद ने नहसपाशा से प्रधानमन्त्रित्व से इस्तीफा दे देने को कहा। लेकिन उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, और इसपर उसे फुआद ने बरखास्त कर दिया। लायड-फुआद साजिश की अगली योजना अब अमल में लाई गई। 'सहसा राजनैतिक परिवर्तन' किया गया, और एक खास हुक्मनामा निकालकर शाह ने पार्लमेन्ट को मौकूफ कर दिया और विधान को बदल दिया। विधान में जो धारायें अखबारो की आजादी और दूसरी नागरिक स्वतन्त्रताओ के बारे

१. प्राचीन मिस्रियों के ईसाई वंशजों को 'काप्ट' कहते हैं।

मे थी, उन्हे हटा दिया गया और डिक्टेटरशाही घोषित करदी गई। अंग्रेजी अखबारो और मिस्र के यूरोपियनो ने बडी खुशियाँ मनाई।

डिक्टेटरशाही के होते हुए भी पार्लमेण्ट के मेम्बरो ने अपनी बैठक की और नई सरकार को गैरकानूनी ऐलान कर दिया। लेकिन लायड और फुआद ने इन मामलो की कोई चिन्ता न की। 'इन्साफ और अमन' का काम इतना ही होता है कि वह प्रतिक्रिया और साम्राज्यवाद का समर्थन करे, यह नही कि उनके विरुद्ध हथियार बन सके।

सरकारी दवाव के बावजूद, नहसपाशा के खिलाफ सरकार का मुकदमा बुरी तरह गिर गया। उसपर लगाये हुए इलजाम झूठे साबित हुए और सरकार ने (उसकी ईमानदारी और उदारता कितनी आश्चर्यजनक थी!) हुक्म जारी कर दिया कि इस मुकदमे का फैसला कोई अखबार न छापे! लेकिन खबर तो फौरन फैल ही गई, और हर जगह लोगो को बडी खुशी हुई।

इस डिक्टेटरशाही ने, जिसकी पीठ पर लायड और ब्रिटिश फौज थी, 'वफ़्द' दल यानी मिस्री राष्ट्रीयता को कुचल देने और तबाह कर देने की सख्त कोशिश की। एक नियमित आतंकवाद और समाचारो पर पूरा सेंसर कायम होगया। इसके बावजूद राष्ट्रीयता के बडे-बडे प्रदर्शन हुए, जिनमें स्त्रियो ने खास हिस्सा लिया। एक हफ्ते तक हड़ताल हुई, जिसमें वकीलो वगैरा ने भी हिस्सा लिया, लेकिन सेंसर के कारण अखबार उसकी खबर भी न छाप सके।

इस तरह १९२८ का वर्ष तूफान और मुसीबत में ही गुजरा। वर्ष के अखीर हिस्से में इंग्लैण्ड में राजनैतिक परिवर्तन हुआ और उसका असर फौरन मिस्र पर भी पड़ा। वहाँ मजदूर-दल की सरकार कायम होगई थी, और उसने शुरू में ही एक काम यह भी किया कि लायड को वापस बुला लिया, जो कि ब्रिटिश सरकार के लिए भी असह्य बन गया था। लायड के हटजाने से कुछ वक्त के लिए फुआद-अंग्रेज गुट्ट टूट गया। अंग्रेजो की मदद के बगैर फुआद कुछ नहीं कर सकता था, इसलिए उसने दिसम्बर १९२८ में पार्लमेण्ट के नये चुनाव होनें दिये। फिर भी 'वफ़्द' दल का करीब-करीब सब जगहो पर कब्जा होगया।

अंग्रेजो की मजदूर-सरकार ने मिस्र से सुलह की बातचीत फिर शुरू की, और इस काम के लिए १९२९ में नहसपाशा लन्दन गया। इस बार मजदूर-सरकार अपनी पहले की सरकारो से कुछ कदम आगे बढी और तीनो प्रतिबन्धो पर नहसपाशा का दृष्टिकोण मंजूर कर लिया गया। लेकिन चौथी बात—सूडान—की बाबत एकमत न हो सका। सुलह की बातचीत टूट गई। मगर इस बार पहले की बनिस्बत ज्यादा एकमत हो सका, और दोनो पक्ष एक-दूसरे के प्रति अधिक मित्रतापूर्ण रहे, और दोनों

ने आगे फिर बहस करनें का वादा किया। नहसपाशा और 'वफ़्द' के लिए तो कुल मिलाकर यह एक कामयावी ही थी, लेकिन मिस्र के ब्रिटिश और दूसरे विदेशी व्यापारियो और पूंजी लगानेवालो ने इस बात को विलकुल पसन्द नही किया। शाह फुआद को भी यह बात अच्छी न लगी। कुछ महीने बाद, जून १९३० में, शाह और पार्लमेण्ट में झगड़ा होगया, और नहसपाशा नें प्रधानमन्त्रित्व से इस्तीफा दे दिया।

इस झगडे के अर्से में फुआद ने फिर अपने शासन-काल में तीसरी वार डिक्टेटरशाही चलाई। पार्लमेण्ट तोड़ दी गई, 'वफ़्द'दल के अख़वार बन्द कर दिये गये, और आमतौर पर बडी सख्ती शुरू होगई। पार्लमेण्ट की दोनो उप-सभाओ, चैम्बर और सिनेट, के सभी सदस्यो ने सरकार की परवा न की, और पार्लमेण्ट-भवन में ज़वरदस्ती घुसकर वहाँ एक अधिवेशन कर डाला। वहाँ, २३ जून १९३० को, उन्होने विधान के प्रति वफादार रहनें की शपथ गंभीरतापूर्वक ली, और कसम खाई कि हम अपनी सारी ताकत लगाकर भी उसकी रक्षा करेगे। देशभर में वडे-वडे प्रर्दशन किये गये। इन प्रदर्शनो को फौजो द्वारा भंग किया गया, और वहुत-सा खून बहाया गया। खुद नहसपाशा के भी चोटें आईं। इस तरह कुछ मुट्ठीभर वडे और मालदार लोगो को छोड़कर, जो शाह के पिछलग्गू थे, सारा राष्ट्र जिस डिक्टेटरशाही के ख़िलाफ था, उसकी हिफाजत फौज और पुलिस और उसके अंग्रेज अफसरो ने की। वफ़्दियो के अलावा दूसरे नरम और लिवरल लोगो ने भी, जोकि हिन्दुस्तान की तरह जनता की तरफ से होनेवाले हर तेज़ काम से अपना विरोध ज़ाहिर करते रहते थे, इस डिक्टेटरशाही के ख़िलाफ अपनी आवाज़ वुलंद की।

बाद में, उसी साल, सन् १९३० में, शाह ने एक हुक्मनामा निकाला जिसके ज़रिये एक नये विधान का ऐलान किया गया, जिसमें उसने पार्लमेण्ट के अधिकार कम कर दिये और अपने वढा लिये। ऐसा काम कर लेना कितना आसान था! सिर्फ एक ऐलान कर दिया गया और काम होगया, क्योकि शाह के पीछे एक साम्राज्यवादी ताकत की कठोर मूर्ति छिपी हुई थी।

मैंने मिस्र के १९२२ से १९३० तक के इन नौ वर्षो की कहानी तुमसे कुछ विस्तार में कही है, क्योकि मुझे यह एक वडी गैर-मामूली कहानी मालूम हुई है। अंग्रेजो के फरवरी १९२२ के ऐलान के मुताविक, ये वर्ष मिस्र की 'आज़ादी' के वर्ष थे। मिस्री लोग क्या चाहते थे इसमें भी कोई शका नहीं हो सकती थी। जव कभी उन्हे अवसर दिया गया तभी उन्होंने मुस्लिम और काप्ट, इन दोनो धर्म के लोगो ने, भारी बहुमत से वफ़्दियो को ही चुना। लेकिन चूकि वे यही चाहते थे कि राष्ट्र का अर्थ-शोषण करने की विदेशियो की, खासकर ब्रिटिश लोगो की, ताक़त कम करदी जाय,

इसलिए इन सब विदेशी स्थापित स्वार्थो ने हर तरह से, जोर और जबरदस्ती से, जालसाजी और षड्यन्त्र से, उनका विरोध किया, और अपने हुक्मो को पूरा करने के लिए अपना एक आज्ञाकारी शाह खड़ा कर दिया।

वफ्द-आन्दोलन एक विशुद्ध राष्ट्रवादी मध्यमवर्गीय आन्दोलन रहा है। वह कौमी आजादी के लिए लड़ा, लेकिन उसने सामाजिक समस्याओ में दख़ल नही दिया। जब कभी पार्लमेण्ट ने कुछ भी कार्य किया, तब-तब उसने तालीम व दूसरे महकमो में कुछ अच्छा ही काम कर दिखाया। दरहकीकत, राष्ट्रीय लड़ाई चलते हुए भी, इस थोडे-से अर्से में पार्लमेण्ट ने इतना काम किया जितना कि पिछले चालीस सालो में ब्रिटिश हुकूमत ने नही किया था। वफ्द-दल किसानो में भी लोकप्रिय है, जैसा कि चुनावो और बडे-बडे प्रदर्शनो से जाहिर होजाता है। लेकिन फिर भी, चूँकि यह आन्दोलन ख़ास तौर पर मध्यम-वर्गीय आन्दोलन है, उसने आम जनता को इतना नहीं उठाया है जितना कि सामाजिक परिवर्त्तन का उद्देश्य रखनेवाला कोई आन्दोलन उठा सकता था।

मैंनें यह कहानी १९३० के अख़ीर तक पहुँचा दी है। बाद में भी राष्ट्रवादियो और शाह में कशमकश चलती रही, लेकिन ठीक तौर पर मुझे मालूम नही है कि पिछले वर्षो में क्या-क्या हुआ। जबसे मै जेल में हूँ तबसे अखबारो में तो मिस्र का शायद ही कही जिक्र आता हो। शायद इसका मतलब यही है कि डिक्टेटरशाही चल रही है, और उसके साथ उसका लँगोटिया यार सेन्सर भी। इस बात का कि इंग्लैण्ड में अनुदार-दल की हुकूमत है, जो कि अपनें साम्राज्यवाद पर अभिमान करता है, अर्थ यही है कि मिस्र में अंग्रेजो की दमन करने की सख्त नीति होनी चाहिए। इस हालत में शाह फुआद दु:खी मिस्री लोगो की परवा न करते हुए फिलहाल तो काम जारी रख सकता है।

इस प्रकार ख़त को खत्म करने से पहले मै स्त्रियो के आन्दोलन के बारे में भी कुछ कहना जरूरी समझता हूँ। सारे अरब देशो में, शायद ख़ुद अरब को छोड़कर, स्त्रियो में बडी भारी जागृति होगई है। दूसरे कई मामलो की तरह इस मामले में भी मिस्र इराक या सीरिया या फिलस्तीन से आगे बढ़ा हुआ है। लेकिन इन सब देशो में स्त्रियों का एक संगठित आन्दोलन है, और जुलाई १९३० में अरब स्त्रियो की पहली कांग्रेस दमिश्क में हुई। उन्होने राजनैतिक मामलो की बनिस्बत संस्कृतिक और सामाजिक प्रगति पर ज्यादा जोर दिया। उन्होने अरबी स्वदेशीवाद की घोषणा की है। मिस्र में स्त्रियाँ राजनीति की तरफ ज्यादा झुकी है। वे राजनैतिक प्रदर्शनो में हिस्सा लेती है और उनका एक मजबूत स्त्री-मताधिकार-सघ भी है। वे विवाह-

कानून का अपने हक में सुधार और व्यवसाय आदि में समान अवसर चाहती है। मुस्लिम और ईसाई स्त्रियाँ एक-दूसरे से पूरी तरह सहयोग करती है। बुरके की आदत सब जगह, खासकर मिस्र में, घट रही है। तुर्की की तरह बुर्का बिलकुल गायब तो नही होगया है, लेकिन टूटता जा रहा है।

: १६५ :

पश्चिमी एशिया का विश्व-राजनीति में पुनः प्रवेश

२५ मई, १९३३

एक छोटी-सी जलधारा ही मिस्र और अफरीका को पश्चिमी एशिया से अलग करती है। अब इस स्वेज नहर को हम पार करे और अरब, फिलस्तीन, सीरिया और इराक—जो कि सभी अरब-देश है—और उनसे जरा आगे ईरान पर एक नजर डाले। जैसा कि हम पहले देख चुके है, इतिहास में पश्चिमी एशिया का एक जबरदस्त हिस्सा रहा है और अकसर यह दुनिया की घटनाओ की धुरी रहा है। इसके बाद कई सौ वर्षो का एक ऐसा जमाना आया, जब यह प्रदेश महत्वपूर्ण नहीं रहा। यह एक खाईं या गड़हिया-सा बन गया; जीवन की धारा इसके पास से हरहराती हुई निकल गई, लेकिन इसकी शान्त सतह पर उससे कोई हलकी-सी लहर तक पैदा न हुई। और अब हम एक दूसरी तब्दीली देख रहे है जो 'मध्य-पूर्व' के देशो को फिर ससार की रंगभूमि पर लाती है। पूर्व और पश्चिम को जोड़नेवाला राजमार्ग अब फिर इन्हीं देशो में से होकर गुजरने लगा है। इस बात की तरफ़ हमारा ध्यान जाना चाहिए।

जब कभी मै पश्चिमी एशिया का विचार करने लगता हूँ तो मुझे भूतकाल में डूब जाने का अंदेशा रहता है। मेरे दिमाग में प्राचीन काल के इतने चित्र भर जाते है कि मै उनके आकर्षण को रोक नहीं सकता। लेकिन अब मै अपने आप को इन आकर्षणो में न फँसने दूँगा। फिर भी मै तुम्हे यह याद दिलाना जरूरी समझता हूँ, ताकि तुम भूल न जाओ कि इतिहास के बिलकुल प्रारम्भ से ही कई हजार वर्षो तक दुनिया के इस हिस्से का बड़ा भारी महत्व रहा है। इतिहास में सात हजार वर्ष पहले प्राचीन चैल्डिया का धुंधला चित्र दिखाई देता है। यहाँ आजकल का इराक है। इसके बाद बेबीलोन का चित्र आता है और बेबीलोन वालो के बाद क्रूर असीरियन नजर आते है जिनकी महान् राजधानी निनेवा में थी। फिर असीरियन लोगो की भी हटने की बारी आजाती है, और ईरान से एक नया राजवंश और नई जाति आजाती है, जो हिन्दुस्तान की सरहद से मिस्र तक सारे 'मध्य-पूर्व' को अपनी मर्जी के मुताबिक

नचाती है। ये लोग ईरान के अकेमेनीद थे, जिनकी राजधानी परसीपोलिस थी। इन्हींमे से 'महान्‌नरेश' साइरस, डेरियस (दारा) और जरक्सीज पैदा हुए, जिन्होंनें छोटे यूनान पर हावी होने की कोशिश की, लेकिन उसे जीत न सके। बाद में इन्हे यूनान बल्कि मेसीडोनिया के एक लाल सिकन्दर के हाथो शिकस्त खानी पडी। सिकन्दर की जिन्दगी में एक अजीब घटना यह हुई कि इस एशिया और योरप की सन्धि-भूमि में उसने वह योजना की, जिसे इन दोनो महाद्वीपो का 'विवाह' कहा जाता है। उसने खुद ईरानी बादशाह की लडकी से विवाह किया (हालाकि उसकी कुछ पत्नियाँ पहले से मौजूद थी) और उसके हजारो अफसरो और सिपाहियो ने भी ईरानी कन्याओ से विवाह किये।

सिकन्दर के बाद मध्य-पूर्व में, हिन्दुस्तानी सरहद से लेकर मिस्र तक, कई सदियो तक यूनानी सस्कृति प्रधान रही। इसी जमाने में रोम की शक्ति का उदय हुआ और वह एशिया की तरफ फैलने लगी। सासानियो के नये ईरानी साम्राज्य नें उसकी बढ़ती को रोक दिया। पूर्वी साम्रज्य के भी दो टुकडे होगये, पश्चिमी साम्राज्य और पूर्वीय साम्राज्य, और पूर्वी साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया होगई। पश्चिमी एशिया के इन मैदानो पर पूर्व और पश्चिम की पुरानी कशमकश चलती रही, और इसमें खास हिस्सा लेनेवाले थे एक तो कुस्तुनतुनिया का बिजेण्टाइन साम्राज्य और दूसरा ईरानी सासानी साम्राज्य। और इसी सारे जमाने में जनता के बडे-बडे कारवान ऊँटो पर व्यापारिक चीजें लाद कर इन मैदानो में पूर्व से पश्चिम को और पश्चिम से पूर्व को आया-जाया करते थे, क्योकि 'मध्य-पूर्व' उस युग में संसार का एक बड़ा भारी राजमार्ग था।

पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशो में तीन महान् धर्मो का जन्म हुआ था—यहूदी-धर्म, जरथुस्त्रधर्म (जो मौजूदा पारसियो का धर्म है), और ईसाई-धर्म। अब अरब के रेगिस्तान में एक चौथा धर्म और पैदा हुआ, जो जल्दी ही दुनिया के इस हिस्से में इन सब धर्मो पर हावी होगया। इसके बाद हमें बगदाद का अरब साम्राज्य और पुराने संघर्ष का एक नया रूप, बिजेण्टाइन के विरुद्ध अरब लोगो का युद्ध, नजर आता है। फिर लम्बे और शानदार कारनामो के बाद अरब-संस्कृति भी मन्द पड़ जाती है। और सेलजूक तुर्क आगे आजाते है, और अन्त में मंगोल चंगेजखाँ के वारिसो द्वारा वह बिलकुल दबा दी जाती है।

लेकिन मंगोलो के पश्चिम में आने से पहले ही, एशिया के पश्चिमी किनारों पर ईसाई पश्चिम और मुस्लिम पूर्व के दरमियान खौफनाक लड़ाइयाँ शुरू हो चुकी थीं। ये क्रूसेड के युद्धो के नाम से मशहूर है, जो बीच-बीच में बन्द होकर ढाई

सौ वर्ष तक, यानी करीब तेरहवीं सदी के मध्य तक, जारी रहे। ये युद्ध धर्म-युद्ध समझे जाते हैं, और असल में थे भी। लेकिन इन युद्धो के लिए धर्म कारण की बनिस्बत बहाना ही ज्यादा था। उस जमाने में योरप के लोग पूर्व की बनिस्बत पिछडे हुए थे। वह योरप का अन्धकारयुग था। लेकिन योरप जागता जा रहा था, और आगे बढ़ा हुआ और सभ्य पूर्व उसे चुम्बक की तरह खींचता जा रहा था। पूर्व की तरफ की इस खिचावट ने कई शक्ले इख्तियार की, और इसमें क्रूसेड की लड़ाई सबसे महत्वपूर्ण थी। इन युद्धो के फलस्वरूप योरप ने पश्चिमी एशियाई देशो से बहुत बाते सीखीं। उसने बहुत-सी ललित कलायें, कारीगरियाँ और विलास की आदते सीखीं, और अधिक महत्वपूर्ण बात जो सीखीं वे थी कार्य और विचार की वैज्ञानिक पद्धतियाँ।

क्रूसेड की लड़ाइयाँ अभी खत्म भी न होने पाई थीं कि पश्चिमी एशिया पर मंगोल लोग आ टूटे, जो अपने साथ विनाश और बरबादी लेकर आये। लेकिन हमें मंगोलों को बिलकुल विनाशक ही नहीं समझना चाहिए। चीन से रूस तक भारी तादाद में जाने की उनकी हलचल ने दूर-दूर की जातियो में आपसी ताल्लुकात कायम कर दिये और व्यापार और समागम को प्रोत्साहित किया। उनके महान् साम्राज्य में कारवानो के पुराने रास्ते मुसाफिरी के लिए महफूज़ होगये, और सिर्फ व्यापारी ही नही बल्कि राजनीतिज्ञ, धर्म-प्रचारक और दूसरे लोग भी बडी लम्बी यात्राओ पर आने-जाने लगे। 'मध्य-पूर्व' संसार के इन प्राचीन राजमार्गों की सीध में पड़ता था। यही एशिया और योरप को जोड़नेवाली कडी थी।

तुम्हे शायद याद होगा कि मंगोलो के जमाने में ही मार्कोपोलो अपने निवास-स्थान वेनिस से बडी लम्बी यात्रा करके एशिया में से गुज़रता हुआ चीन पहुँचा था। हमें उसकी लिखी हुई, या यो कहो कि लिखाई हुई, एक किताब मिलती है, जिसमें उसने अपनी यात्रा का हाल बताया है और इसीलिए हम उसका नाम जानते हैं। और भी कई लोगों ने ऐसी ही लम्बी यात्रायें की होंगी, लेकिन उन्होंने उनके बारे में कुछ लिखा नहीं, और अगर लिखा भी होगा तो उनकी किताबें नष्ट होगई होंगी, क्योंकि उस जमाने में किताबें हाथ से लिखी जाती थीं। उस युग में एक देश से दूसरे देश में कारवान हमेशा आते-जाते रहते थे, और हालांकि उनका खास काम व्यापार था, लेकिन उनके साथ कई लोग दौलत पैदा करने या साहसी काम करने के लिए भी चले जाते थे। पुराने जमाने का एक और यात्री है जो मार्कोपोलो जैसा ही है। इसका नाम था इब्न-बतूता। यह एक अरब था, जिसका जन्म चौदहवीं सदी के शुरू में मोरक्को के टैञ्जियर नामक स्थान पर हुआ था। इस तरह वह मार्कोपोलो ने

एक ही पीढी बाद हुआ। मेरा खयाल है कि मैंने इसका जिक्र अपने पिछले खतो में कहीं किया है। उस वक़्त मैंने उसकी यात्राओ की पुस्तक नहीं पढ़ी थी। हाल में ही मैंने यह किताब पढली है, और पढते वक्त मै उसके भ्रमण-प्रेम को, जिसे जर्मन लोग भ्रमण-पिपासा यानी सैलानीपन कहते है, देखकर दंग रह गया। इक्कीस वर्ष की छोटी-सी उम्र में वह इस विस्तृत दुनिया के लम्बे सफर के लिए निकल पडा, और उसके पास सिवा अपनी बुद्धिमत्ता और एक मुसलमान काजी से पाई हुई तालीम के और कुछ न था। मोरक्को से सारा उत्तरी अफरीका पार करके वह मिस्र पहुँचा, और फिर अरब, सीरिया और ईरान को गया। फिर उसने अनातोलिया (तुर्की), दक्षिणी रूस (जो 'सुनहरे कबीलो' के मगोल खानो के अधीन था), और कुस्तुन्तुनिया (जो उस समय भी विजेण्टियम की राजधानी थी) और एशिया और हिन्दुस्तान के सफर किये। उसने हिन्दुस्तान को उत्तर से दक्षिण तक पार किया, मलाबार और लंका गया, और वहाँ से चीन पहुंचा। लौटने पर वह अफ़्रीका के आसपास सफर करता रहा, और सहारा का रेगिस्तान भी पार किया! यह भ्रमण का इतना बड़ा रिकार्ड है कि आजकल की हमारी तमाम सहूलियते होते हुए भी इस जमाने में काफी दुर्लभ है। चौदहवी सदी के पहले आधे हिस्से के बारे में तो यह आश्चर्यजनक रूप से हमारी आँखें खोल देता है। इससे पता लगता है कि उस जमाने में सफर करने का कैसा आम रिवाज था। कुछ भी हो, इब्न-बतूता सभी युगो के महान् यात्रियो में गिना जाना चाहिए।

इब्न-बतूता की किताब में जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ-वहाँके लोगो और देशो के बारे में बडे दिलचस्प बयान है। उस जमाने में मिस्र दौलतमन्द था, क्योकि पश्चिम के साथ होनेवाली सारी हिन्दुस्तानी तिजारत उसके अन्दर से गुजरती थी, और यह बडे मुनाफे का व्यापार था। इन्हीं मुनाफो से काहिरा एक बड़ा शहर बना हुआ था, जिसमें सुन्दर-सुन्दर स्मारक थे। इब्न-बतूता कहता है कि हिन्दुस्तान में जातियाँ थीं, 'सती-प्रथा' थी, और 'पान-सुपारी' देने का रिवाज था। वह बताता है कि हिन्दुस्तानी व्यापारी विदेशी बन्दरगाहो में जाकर भारी व्यापार करते थे, और समुद्रो पर हिन्दुस्तानी जहाज आया-जाया करते थे। वह खास तौर पर देखता है और बयान करता है कि सुन्दर स्त्रियाँ कहाँ-कहाँ है, और उनकी वेश-भूषा, उनके गंध और उनके आभूषण कैसे है। वह दिल्ली के बारे में लिखता है कि यह "हिन्दुस्तान की राजधानी है; बड़ा भारी और शानदार शहर है, जहाँ सुन्दरता और शक्ति आकर इकट्ठी होगई है।" यह पागल सुलतान मुहम्मद तुग़लक का जमाना था, जिसनें कि गुस्से में आकर अपनी राजधानी दिल्ली से दक्षिण के दौलताबाद को तब्दील कर दी थी, और इस

तरह इस "बडे भारी और शानदार शहर" को एक रेगिस्तान--"थोडेसे निवासियो के सिवा, सारा खाली और वीरान"—बना दिया था, और ये थोडे-से निवासी भी बहुत बाद में चुपचाप आकर रहने लगे थे।

मैने इब्न-बतूता का सरसरी तौर पर ही बयान करने की कोशिश की है। पुराने जमाने की ये भ्रमण-कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगती है।

इस तरह हम देखते है कि चौदहवी सदी तक 'मध्य-पूर्वी' या पश्चिमी एशिया का दुनिया के मामलो में बड़ा हिस्सा था, और वह पूर्व और पश्चिम को जोड़नेवाली खास कडी थी। लेकिन इसके अगले सौ वर्षो में हालत बदल गई। उस्मानी तुर्को ने कुस्तुनतुनिया पर कब्जा कर लिया और वे मध्य-पूर्व के इन सारे देशो में, और मिस्र में भी, फैल गये। उन्होने योरप के साथ होनेवाले व्यापार की तरक्की नही की। शायद इसका एक सबब यह भी था कि यह व्यापार उनके भूमध्यसागर के प्रतिस्पर्धी वेनिस और जिनोवा-वासियो के हाथ में था। व्यापार का रास्ता भी बदल गया, क्योकि अब नये समुद्री रास्ते खोज निकाले गये थे और उन्होने कारवान के पुराने खुश्की रास्तो की जगह लेली थी। इस तरह पश्चिमी एशिया में से गुजरनेवाले इन रास्तो का, जिन्होनें कई हजार वर्षो तक बड़ा काम दिया था, इस्तेमाल बन्द होगया, और जिन देशो में से वे गुजरते थे वे भी रग-भूमि के केन्द्र से दूर जा पडे।

सोलहवी सदी के शुरू से उन्नीसवीं सदी के अखीर यानी करीब चार सौ वर्ष तक, समुद्री रास्ते बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण रहे और वे खुश्की के रास्तो पर हावी होगये—खासकर वहाँ जहाँ रेले नही थीं। और पश्चिमी एशिया में तो रेले थी ही कहाँ ? महायुद्ध से कुछ पहले कुस्तुन्तुनिया से बगदाद तक रेल बनाने की एक योजना बनाई गई थी, जिसका समर्थन जर्मन सरकार करती थी। दूसरी ताकते जर्मनी की इस योजना से बहुत जलती थी, क्योकि इससे मध्य-पूर्व में जर्मन प्रभाव बढने की संभावना थी। लेकिन इसी बीच युद्ध आ गया।

१९१८ में जब महायुद्ध खत्म हुआ, तो पश्चिमी एशिया में ब्रिटेन ही सबसे जबरदस्त ताकत थी और, जैसा कि मै बता चुका हूँ, थोडे समय तक तो ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की चकित आँखो के आगे हिन्दुस्तान से लेकर तुर्की तक एक बडे मध्य-पूर्वीय साम्राज्य का सुन्दर सपना दिखाई देता रहा। लेकिन वह पूरा न हो सका। बोलशेविक रूस और कमालपाशा और दूसरे कारणो ने उस सपने के पूरा होनें में बाधा डालदी। फिर भी इग्लैण्ड एक काफी बडे टुकडे पर तो कब्जा जमाये ही रहा। इराक और फिलस्तीन ब्रिटिश नियन्त्रण में है (हालाकि मिस्र की तरह इराक भी आजाद समझा जाता है); सीरिया फ्रांसीसियों के मातहत है; ईरान

ार अरब बहुत कुछ आजाद देश है। इस तरह हालाँकि ब्रिटिश लोग अपनी बडी
हत्वाकाक्षा को पूरा न कर सके, फिर भी वे हिन्दुस्तान को जानेवाले रास्तो पर
ब्जा रखने की अपनी पुरानी नीति पर जमे रहने में कामयाव रहे। इसी उद्देश्य से
ांटिश फौजो ने महायुद्ध के जमाने में मेसोपोटामिया और फ़िलस्तीन में लड़ाइयाँ
डी थी और तुर्की के खिलाफ अरबी बगावत को प्रोत्साहन और मदद दी थी।
नी कारण इंग्लैण्ड और तुर्की में युद्ध के बाद मोसल की बाबत बड़ा झगड़ा खड़ा हो
ग था। और इंग्लैण्ड और सोवियट रूस के मन-मुटाव का भी यही खास कारण
, क्योकि इंग्लैण्ड इस खयाल से नफरत करता है कि रूस जैसी बडी ताकत
न्दुस्तान के रास्ते के पडौस में ही रहे।

महायुद्ध से पहले जिन दो रेलवे लाइनो बगदाद-रेलवे और हेजाज-रेलवे—
ी बाबत इतना झगड़ा था, वे अब बन चुकी है—बगदाद-रेलवे भूमध्यसागर और
ारप को बगदाद से जोड़ती है। हेजाज-रेलवे अरब के मदीना शहर को बगदाद-
ेलवे से अलप्पो पर मिलाती है। (हेजाज, जिसमें इस्लाम के पवित्र नगर मक्का और
दीना है, अरबस्तान का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है।) इस तरह पश्चिमी एशिया
कई महत्वपूर्ण शहर रेल के जरिये योरप और मिस्र से जुड़ गये है और उन तक
ुँचना आसान होगया है। अलप्पो का शहर एक महत्वपूर्ण रेलवे-जंकशन बनता
ा रहा है, क्योकि तीन महाद्वीपो की रेले—योरप से आने वाली लाइन, एशिया से
ादाद होकर आनेवाली लाइन और अफरीका से काहिरा होकर आनेवाली लाइन—
ही आकर इकट्ठी होनेवाली है। ब्रिटिश नीति का उद्देश्य बडे अरसे से एशिया
ौर अफरीका के इन रास्तो पर नियन्त्रण करना रहा है। एशियाई मार्ग अगर
ादाद से आगे बढ़ा दिया जाय तो हिन्दुस्तान तक पहुँच सकता है। अफ़रीकन मार्ग
फ़रीका महाद्वीप के आर-पार कैरो से दक्षिण में केपटाउन तक जायगा ही। केपटाउन
काहिरा तक खिची हुई रेलवे की पूर्ण लाल रेखा का स्वप्न ब्रिटिश साम्राज्यवादी
ुत समय से देख रहे है, और अब वह पूर्ण होने के करीब आ पहुँचा है—'पूर्णलाल'
ा अर्थ यह है कि वह सारे रास्ते भर अंग्रेजी इलाके में से गुजरती हुई जाय, क्योकि
ंटिश साम्राज्य ने नकशे में लाल रंग पर अपना एकाधिकार कर लिया है।

लेकिन, पता नहीं भविष्य में ये बाते पूरी हो या न हो, क्योकि अब मोटर-कारो
ार हवाईजहाजो के रूप में रेलवे के जबरदस्त दुश्मन खडे होगये है। यह भी
मकिन है कि इन स्वप्नो के पूरे होने से पहले ही खुद ब्रिटिश साम्राज्य ही खतम
जाय। इस बीच, यह याद रखने लायक है कि पश्चिमी एशिया में बगदाद और
ाज की इन दोनो, नई रेलो पर ज्यादातर अंग्रेजो का ही नियन्त्रण है, और

वे अपने नियन्त्रण के अधीन, हिन्दुस्तान के लिए नया और छोटा रास्ता खोलने की ब्रिटिश नीति का उद्देश्य पूरा करती है। बग़दाद-रेलवे का एक हिस्सा सीरिया में से गुज़रता है, जो फ्रांसीसियों के नियंत्रण में है। फ्रांस की इस अधीनता को दूर करके, ब्रिटिश अब उसकी जगह एक नई लाइन फ़िलस्तीन में से बनाना चाहते हैं। एक और छोटी-सी रेलवे अरबिस्तान में लालसागर के बन्दरगाह, जद्दाह और मक्का के बीच बन रही है। इससे हर साल लाखों की तादाद में मक्का जानेवाले यात्रियों को बड़ा आराम होजायगा।

इन रेलों के बारे में, जोकि पश्चिमी एशिया को संसार के लिए खोल रही हैं इतना बयान किया गया। लेकिन अपने उद्देश्य को पूरा करने से पहले ही इन रेलों का महत्त्व कुछ कम हो रहा है, क्योंकि उनकी जगह मोटरकारें और हवाईजहाज ले रहे हैं। मोटरकार बहुत जल्दी रेगिस्तान के अनुकूल बन गई हैं, और जिन कारवाँ रास्तों से पहले हज़ारों वर्ष तक धैर्यशाली ऊँट धीरे-धीरे चलते रहे हैं उन्हींपर यह अब सरपट दौड़ी जाती है। रेल बड़ी ख़र्चीली चीज़ है और उसके बनाने में बहुत लगता है। लेकिन मोटर में ख़र्च कम लगता है, और जब ज़रूरत हो तभी वह चलाई जा सकती है। लेकिन मोटर-कारें और लारियाँ आम तौर पर ज़्यादा दूरी तक काम नहीं देतीं। वे अपेक्षाकृत छोटे सफ़रों में, ज़्यादा-से-ज़्यादा एक सौ मील तक, चलाई जाती हैं।

ज़्यादा दूरी के लिए तो हवाई जहाज़ हैं ही। इसमें भी रेल से कम ख़र्च पड़ता है और उससे कहीं ज़्यादा तेज़ चलता है। इसके लिए सड़क या रास्ता बनाना नहीं पड़ता। इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि सवारियाँ या माल लाने-लेजाने के लिए अब वायुयानों का उपयोग तेज़ी से बढ़ता जायगा। अबतक भी बहुत भारी तरक्क़ी होचुकी है, और एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक बड़े-बड़े जहाज़ नियमित रूप से चलते रहते हैं। पश्चिमी एशिया फिर इन महान् वायु-मार्गों का सम्मेलन-स्थान बन रहा है, और बग़दाद ख़ासतौर पर इन सब का केन्द्र है। अब तो ब्रिटिश इम्पीरियल एयरवेज़ नामक कम्पनी के नियमित साप्ताहिक हवाई जहाज़ योरप को पार करते हुए बग़दाद आया करते हैं और वहाँसे हिन्दुस्तान आते हैं। आजकल वे कराची पर रुक जाते हैं, लेकिन उनका सम्बन्ध दिल्ली और बम्बई और मद्रास को जानेवाली हवाई सर्विसों से है। यह तजवीज़ भी की जारही है कि इन हवाई जहाज़ों के सिलसिले को कलकत्ता, रंगून और सिंगापुर तक बढ़ाया जाय, और वहाँसे एक शाखा हांगकांग जाय और दूसरी फूटकर आस्ट्रेलिया चली जाय।

ब्रिटिश हवाई मार्ग की एक दूसरी योजना है लंदन से क़ाहिरा तक, और वहाँ

से आगे पूर्वी अफरीका होते हुए केपटाउन तक (मुझे मालूम नहीं कि आजकल यह मार्ग जारी होगया है या नही) । यह सारा रास्ता भी करीव-करीव ब्रिटिश इलाके में से होकर ही जायगा । इस तरह तुम्हे मालूम होगा कि अंग्रेजो की हवाई योजनाऐं कल्पना में बहुत बडी-बडी है । उनका फैलाव योरप, एशिया और अफरीका तीनो महाद्वीपो में और आस्ट्रेलिया तक है । यह सब उनके साम्राज्य के कारण जरूरी होगया है । पहले जमाने में उनके लिए समुद्री ताकत जरूरी थी, और उन्होने समुद्रो पर बहुत अर्से तक कब्जा रक्खा । लेकिन अब तो समुद्री ताकत का महत्व बहुत कम होगया है । आजकल इंग्लैण्ड के टापू की रक्षा समुद्री ताकत से भी निश्चित नही रही । क्योंकि हवाई जहाजो के लिए तो समुद्रो को पार करना और बमो से शहरों और कारख़ानो को वरबाद कर देना बड़ा ही आसान है । अगर खुद इंग्लैंड पर हवाई हमले का ख़तरा रहता है, तो बडे भारी फैले हुए साम्राज्य पर तो और भी ख़तरा होना चाहिए । इसीलिए हवाई ताकत का महत्व होगया है । हर बडी ताकत अब हवा में प्रवल बनने की इच्छा कर रही है, और पुरानी समुद्री प्रतिस्पर्धा के स्थान पर अब हवाई प्रतिस्पर्धा होने लगी है । हर देश शान्ति-कालीन हवाई सफर को प्रोत्साहन और सहायता दे रहा है, क्योकि इससे सुशिक्षित हवाई जहाज-चालको का एक दल तैयार हो-जाता है, जो युद्ध के वक्त में भी काम दे सकेगा । इसे फौजी वायु-यात्रा, जिसका ताल्लुक सिर्फ लड़ाई करनें और बम फेंकने से ही होता है, न कहकर मुल्की या 'सिविल' वायु-यात्रा कहते है । सच तो यह है कि जब भी संकट आये, शान्तिकालीन सफरी हवाई जहाजो में युद्ध-सम्वन्धी चीजें जोड़कर उन्हे बडी आसानी से लड़ाई के लायक बनाया जा सकता है ।

'सिविल' या मुल्की वायु-यात्रा की तरक्की के लिए जिस तरह ब्रिटेन की वडी-बडी योजनायें है, उसी तरह दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों की भी है । फ्रांसीसी हवाई जहाज पेरिस-मार्सलीज या मर्साई-बेरुत से जाते है, बगदाद पहुँचते है, और वहाँसे हिन्दुस्तान और इंडो-चाइना के सैगोन नगर को जाते है । फ़्रांस की दूसरी हवाई सरविसे भूमध्यसागर और सहारा रेगिस्तान के उसपार भी जाती है । हालैण्ड की भी एक नियमित सरविस एम्सटर्डम से जावा के वटेविया शहर जाती है, जो बग़दाद और हिन्दुस्तान में से गुजरती है । मेरा ख़याल है कि शायद तुमने इलाहावाद के पास बमरौली में उनके बडे-वडे हवाई जहाज देखे होगे, क्योकि हिन्दुस्तान में से गुजरनेवाली ये वडी-वडी सरविसे ज्यादातर सभी इलाहावाद होकर जाती है ।

मुझे इस ख़त में इस वक्त दुनिया में चलनेवाली तमाम हवाई सरविसों की फेहरिस्त नहीं देना है । आजकल तो ऐसी सैकडो सरविसे चल रही है, और योरप

और उत्तरी अमेरिका में तो कोई भी करीब-करीब सभी जगह हवाई जहाज से जा सकता है। मै यहाँ तुम्हारा ध्यान इस बात की तरफ खीच रहा हूँ कि पश्चिमी एशिया, जहाँ कि कई लम्बी-लम्बी हवाई लाइने आकर मिलती है, अचानक हवाई यात्रा के क्षेत्र के रूप में कितना महत्वपूर्ण बन गया है। तुम देखोगी कि कितने हवाई मार्ग आकर बगदाद में मिलते हैं। और भी कई लाइने है जिनका मैने जिक्र नही किया है, मसलन, मास्को से एक लाइन बाकू जाती है, वहासे बगदाद जाती है, और फिर ईरान के तेहरान नगर को जाती है। इन सब बातो के सबब से, पश्चिमी एशिया फिर ससार की राजनीति में निश्चित रूप से दाखिल होजाता है, और अन्तर्महाद्वीपीय मामलो की एक धुरी बन जाता है। इसका यह भी अर्थ है कि वह बडी-बडी शक्तियो के झगडे और संघर्ष का स्थान बन गया है, क्योकि उनके स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हैं और हरेक दूसरे मे आगे बढ़ने की कोशिश करता है। हवा में भी वे 'न अपने काम में ले, न पराये काम आने दें' वाली नीति पर चलते है, और अपने प्रदेशो पर से अपने प्रतिस्पर्धियो को उड़ने से रोकते है। राष्ट्रीयता का यह रूप कभी-कभी हवाई राष्ट्रीयता कहलाता है। इस तरह ईराक सरकार, जिसका अर्थ है ईराक का नियन्त्रण करनेवाले अंग्रेज, मशहूर जर्मन हवाई कम्पनी, जकर्स को अपने हवाई जहाज इराक पर से नही लेजाने देती। और, इस कारण ईरानी सरकार, जो जकर्स के प्रति अधिक मित्रता रखती है, ब्रिटिश इम्पीरियल एयरवेज़ को अपने प्रदेश पर से उड़ने की इजाजत नही देती। कही-कही ये दिक्कते आपस में समझौते करके हल होजाती है, लेकिन इनकी तह में जो प्रतियोगिता है वह चलती रहती है।

हवाई ताकत और आमदरफ्त के बढते हुए महत्व और साथ ही समुद्री ताकत के घटते हुए महत्व के कारण देश-रक्षा के पुराने तरीको में बड़ा भारी फर्क पड़ गया है। जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ, जिस बात की इंग्लैण्ड को हमेशा चिन्ता रही है और जिसको लक्ष्य में रखकर उसकी सारी नीति बनती बिगड़ती रही है, वह है अपने हिन्दुस्तानी साम्राज्य की रक्षा की समस्या। इसके लिए उसने समुद्री ताकत का सहारा लिया, और इसीलिए ठीक-ठीक जगहो पर स्थित बन्दरगाह और कोयला लेने के स्थान उसके लिए महत्वपूर्ण रहे, ताकि उसका समुद्री बेड़ा आसानी से सब जगह आ-जा सके। लेकिन अगर अब हवाई मार्गो पर ज्यादा दारोमदार रखना है तो इन कोयला लेने के स्थानो का अब ज्यादा उपयोग नहीं है। इस तरह अदन जैसे बन्दरगाह का, जो समुद्री महत्व के जमाने में हिन्दुस्तान की रक्षा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था, हवाई जहाज के आजाने के सबब से अब वह महत्व नहीं रहा। अब जिस बात की जरूरत है, वह है हवाई बन्दरगाह, अर्थात् बडे-बडे हवाईस्टेशन और हवाईजहाजो के

लिए तेल की प्रचुर मात्रा। अगर हम इस बात को याद रक्खेंगे तो मध्य-पूर्व आदि में अग्रेजो और दूसरी शक्तियो की कार्रवाइयो की आधारभूत नीति को भी बहुत कुछ समझ सकेगे।

मोसल में, हिन्दुस्तान को जानेवाले इस नये राज-मार्ग पर उसके स्थित होने के अलावा, तेल भी है। इराक में भी तेल है और, जैसा कि हम देख चुके है, वह हवाई लाइनो का मानो हृदय-स्थान है। इस तरह यह आसानी से समझा जा सकता है कि अग्रेजो के लिए इराक पर नियन्त्रण रखना कितना जरूरी है। ईरान में भी तेल के कई क्षेत्र है, और इनमे 'एग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी' नाम की एक अग्रेजी कम्पनी बहुत अर्से से काम करती रही है, जिसमें ब्रिटिश सरकार के भी कई हिस्से है। ईरान मे इस कम्पनी का कारोबार ही सबसे बड़ा कारोबार है, और उसी का देश पर प्रभुत्व है। मेरा खयाल है कि एक पिछले खत में मैंने तुम्हे ईरान की नई तथा उग्र राष्ट्रीयता और इस ऑयल-कम्पनी, जिसका अर्थ है ब्रिटिश-सरकार, के बीच होनेंवाले संघर्ष का हाल लिखा था। ईरानी सरकार ने पुराने इजाजतनामे को, इस आधार पर कि वह उसके हक में न्यायोचित नही है, रद कर दिया। यह मामला राष्ट्रसंघ के सामने लाया गया, और हाल मे ही एक समझौता होगया है, जिसके अनुसार कम्पनी को ईरान एक नया ठेका दे रहा है। इस ठेके के मुताबिक ईरान को मुनाफे में से ज्यादा बड़ा और निश्चित हिस्सा मिलेगा।

तेल या पेट्रोल का महत्व बढ़ रहा है, क्योकि वह सिर्फ हवाई जहाजो और मोटर-गाड़ियो में ही काम नही आता बल्कि उसे कई समुद्री-जहाज भी इस्तेमाल करते है। इसलिए साम्राज्यवादी नीतियो के निर्माण में उसका बड़ा हिस्सा रहता है, जो बडा चिपकनेवाला, फिसलनेवाला और मलिनतापूर्ण होता है। वास्तव में आजकल के साम्राज्वाद को कभी-कभी 'तेल साम्राज्यवाद' भी कहते है।

इस खत में हमने कुछ ऐसे कारणो पर गौर किया है जिन्होने 'मध्य-पूर्व' को एक नया महत्व दे दिया है, और उसे संसार की राजनीति के भँवर में लाकर डाल दिया है। लेकिन इन सब बातो की तह में है सारे एशिया की राष्ट्रीय जागृति, और इसका जहाँतक पश्चिमी एशिया से सम्बन्ध है वहाँतक इसपर हम अगले पत्र में विचार करेगे। हमने तुर्की का भी अध्ययन कर लिया और मिस्र का भी। पश्चिमी एशिया में इन दो देशो ने अपने पडोसियो के लिए मिसाल कायम करदी है।

मै उम्मीद करता हूँ कि इस खत को पढ़ते वक्त तुम एक नक्शा या एटलस अपने पास रख लोगी, जिसने तुम्हे नई रेलवे-लाइन और हवाई मार्ग मालूम हो सकेगे। हमारे लिए इनमें एक खास दिलचस्पी भी है, क्योकि ये हमारे हिन्दुस्तान

से योरप जानेवाले रास्ते पर पड़ते है, और बहुत मुमकिन है कि किसी दिन हमें भी उनपर से गुजरना पड़े। पुरानी समुद्री यात्रा तो बहुत ही धीमी और गुजरे जमाने की मालूम होती है, अब तो हवाई यात्रायें ही दिल को लुभा रही है।

: १६६ :

अरब देश—सीरिया

२८ मई, १९३३

हम देख चुके है कि जिन देशों में प्राय. एक ही सामान्य भाषा और परम्परा होती है, वहाँके लोगो के समूहो को आपस में मिलाने और मजबूत बनाने की राष्ट्रीयता में बडी ताकत होती है। यह राष्ट्रीयता जहाँ किसी एक वर्ग को मिलाकर एक करती है, वहाँ उसे दूसरे समूहों से अलग करके और दूर भी कर देती है। राष्ट्रीयता ने फ़्रान्स को एक मजबूत ठोस अलग राष्ट्र बना दिया है, जो खुद तो बहुत अच्छी तरह संगठित है लेकिन बाकी दुनिया को अपनेसे बिलकुल अलहदा समझता है। इसी तरह राष्ट्रीयता के कारण भिन्न-भिन्न जर्मन देश मिलकर एक जबरदस्त जर्मन-राष्ट्र बन गये है। लेकिन फ्रान्स और जर्मनी के इसी तरह अलग-अलग सगठित होने के कारण ही वे एक-दूसरे से और भी ज्यादा दूर होगये है।

किसी ऐसे देश में तो जहाँ कई जुदा-जुदा जातीय दल रहते है, राष्ट्रीयता देश को मजबूत और सुसंगठित करने के बजाय प्राय. असंगठित कर देती है, उसे दरअसल कमजोर और उसके टुकडे-टुकडे कर देती है। महायुद्ध से पहले आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य कई जातीयताओ का एक ऐसा ही देश था, जहाँ जर्मन-आस्ट्रियन और हगेरियन ये दो जातियाँ तो प्रधान थीं और बाकी सब इनके अधीन थीं। इसलिए जब राष्ट्रीयता ने इन सब क़ौमो में अलग-अलग नया जीवन डाला और इनके साथ उनमें आजाद होने की इच्छा पैदा हुई तो उससे आस्ट्रिया-हंगरी कमजोर होगया। महायुद्ध से मामला और भी ख़राब होगया, और जब महायुद्ध के बाद हार होगई तो सारा देश छोटे-छोटे टुकडो में बँट गया और हर कौमी गिरोह ने अपना छोटा-सा अलग राष्ट्र बना लिया। (यह बँटवारा कोई भला या युक्तिसंगत नहीं था, लेकिन इस विषय में अभी यहाँ हमें विचार नहीं करना है।) परन्तु करारी हार होने पर भी जर्मनी के टुकडे नहीं हुए। वह राष्ट्रीयता की जबरदस्त प्रेरणा के कारण, मुसीबत में भी एक और सगठित बना रहा।

आस्ट्रिया-हंगरी की तरह ही, महायुद्ध के पहले तुर्की साम्राज्य भी कई जातीयता-

ओ का एक मजमा था। बालकन जातियो के अलावा उसमें अरब और आरमीनियन वगैरा जातियाँ भी शामिल थी। इसलिए इस साम्राज्य में भी राष्ट्रीयता एक विशृंखल-कारी शक्ति यानी टुकडे करनेवाली ताकत साबित हुई। सबसे पहले उसका बालकन जातियो पर असर पड़ा, और उन्नीसवी सदी में लगातार, पहले ग्रीस से और फिर एक के बाद एक दूसरी जातियो से तुर्की को हमेशा लडाई करनी पडी। 'बडी शक्तियो' और खासकर जारशाही रूस ने इस उठती हुई राष्ट्रीयता से फायदा उठाने की कोशिश की और उसके साथ साजिश की। उन्होने उस्मानी साम्राज्य पर चोट पहुँचाने और उसे कमजोर करने के लिए आरमीनियन कौम को अपना हथियार भी बनाया, और इसीसे तुर्की हुकूमत और आरमीनियनो में बार-बार संघर्ष हुआ, जिसमें कई बार कत्ले-आम भी हुए। 'बडी शक्तियो' ने इन आरमीनियनो का दुरुपयोग किया और प्रचार-कार्य में उनका इस्तेमाल किया, लेकिन महायुद्ध के बाद जब उनका और कोई उपयोग न रहा तो उन्हे उनकी किस्मत पर छोड़ दिया गया। बाद में आरमीनिया, जो तुर्की के पूर्व में है और काले सागर से लगा हुआ है, सोवियट-प्रजातन्त्र बन गया और रूसी सोवियट यूनियन में शामिल होगया।

तुर्की साम्राज्य के अरबी हिस्सो को जागृत होने में ज्यादा समय लगा, हालाकि अरबो और तुर्को में कभी कोई मुहब्बत नही रही थी। पहले तो उनमें संस्कृति-सम्बन्धी जागृति हुई और अरबी भाषा और साहित्य का पुनरुद्धार हुआ। इस जागृति की शुरुआत सीरिया में उन्नीसवी सदी के मध्य के लगभग हुई, और फिर यह मिस्र और अरबी बोलनेवाले दूसरी देशो में फैल गई। तुर्की की १९०८ की 'युवक तुर्क' क्रान्ति, और सुलतान अब्दुलहमीद के पतन के बाद राजनैतिक आन्दोलन उठ खडे हुए। मुस्लिम और ईसाई दोनो धर्म के अरबो में कौमी ख़यालात फैल गये, और अरब देशो को तुर्की हुकूमत से आजाद करने और उन्हे एक नये राज्य के रूप में बनाने का विचार पैदा हो गया। मिस्र हालांकि अरबी-भाषी देश था, लेकिन वह राजनैतिक रूप से बहुत-कुछ अलग था, और इस नये अरब-राज्य में, जिसमें अरबिस्तान, सीरिया, फिलस्तीन और इराक को शामिल करने का विचार था, उसके शामिल होने की उम्मीद नहीं थी। अरब यह भी चाहते थे कि खिलाफत को उस्मानी सुलतान के पास से हटाकर किसी अरब वंश में ले आया जाय, ताकि वे इस्लाम का धार्मिक नेतृत्व भी फिर प्राप्त कर सके। यह काम भी धार्मिक दृष्टि की बनिस्बत कौमी दृष्टिकोण से अधिक देखा जाता था, क्योकि इससे अखीर में अरबो का महत्व और गौरव ही बढता और सीरिया के ईसाई अरब भी इसके पक्ष में थे।

ब्रिटेन ने इस अरब राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ महायुद्ध से भी पहले साजिश

करनी शुरू कर दी। महायुद्ध के जमाने में एक महान् अरब राज्य बनवा देने के बड़े-बड़े वादे किये गये और मक्का का शरीफ हुसैन, इस उम्मीद से कि वह एक बड़ा बादशाह बन जायगा और फिर खलीफा भी उसकी खुशामद करता फिरेगा, अंग्रेजो के साथ हो गया और उसने तुर्कों के खिलाफ अरब-विद्रोह खड़ा कर दिया। सीरिया के मुसलमान और ईसाई दोनों तरह के अरबो ने हुसैन की इस बगावत का समर्थन किया और उनके कई नेताओ को इसके लिए अपनी जाने देनी पड़ी, क्योकि तुर्कों ने उनको फॉसी पर चढ़ा दिया। दमिश्क और बेरूत में ६ मई को उन्हे फॉसियाँ हुई, और यह दिवस सीरिया में राष्ट्रीय शहीदो की यादगार में अब भी मनाया जाता है।

अंग्रेजो की माली इमदाद से, और खासकर अंग्रेजों के ख़ुफिया महकमे के एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के सहयोग से, जिसका नाम कर्नल लॉरेन्स था, अरब विद्रोह कामयाब होगया। महायुद्ध के खत्म होने के वक्त तक तुर्कों के करीब-करीब सभी अरब-प्रदेश अंग्रेजी नियन्त्रण में आगये। तुर्की साम्राज्य टुकडे-टुकडे होगया। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि तुर्की की आजादी की लड़ाई में मुस्तफा कमालपाशा ने कुर्दिस्तान के एक छोटे-से हिस्से के सिवा गैर-तुर्क प्रदेशो पर कब्जा जमाने का उद्देश्य क[illegible] नही रक्खा। बडी अक़्लमन्दी से उसने सिर्फ तुर्कों की ही रक्षा की।

महायुद्ध के बाद इन अरब देशो के भविष्य का फैसला होना था। विजयी मि[illegible] राष्ट्रो यानी अंग्रेज और फ्रांसीसियो ने ईमानदारी के साथ ऐलान किया कि इन दे[illegible] के बारे में उनका उद्देश्य यह है कि इन "जातियो को, जो अभीतक तुर्कों द्वारा पीड़ि[illegible] थी, पूर्ण और निश्चित रूप से मुक्त किया जाय, और यहाँके बाशिन्दे खुद अप[illegible] स्वतंत्र इच्छा से जैसे राष्ट्रीय शासन और शासक-मण्डल चाहें वैसे कायम कर दि[illegible] जायें।" इन दोनो राष्ट्रों ने इस ऊँचे उद्देश्य की पूर्ति इस तरह शुरू की कि इन अर[illegible] देशो के ज्यादातर हिस्से को खुद ही आपस में बॉट लिया। फ्रास और इंग्लैण्ड [illegible] मैण्डेट (शासनादेश) दिये गये। मैण्डेटो का हासिल करना राष्ट्र-संघ के आशीर्वा[illegible] के साथ साम्राज्यवादी ताकतो के द्वारा नया इलाका हासिल करने का ही एक नया तरीक़ा था। फ्रास को सीरिया और इंग्लैण्ड को फिलस्तीन और इराक मिला, और हेजाज, ज[illegible] अरबस्तान का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा था, अंग्रेजो के आश्रित मक्का के शरीफ हुसै[illegible] के अधीन रक्खा गया। इस तरह, एक ही बड़ा अरब-राज्य बनाने के वादों [illegible] खिलाफ, इन अरब प्रदेशो को अलग-अलग हिस्सो में बॉटकर अलग-अलग मैण्डेट की शक्ल में बना दिया गया और सिर्फ हेजाज ही एक अलग राज्य बनाया गय[illegible] जो जाहिरा आजाद रहा लेकिन दरअसल अंग्रेजो के अधीन था। अरबो को अप[illegible] सारे प्रदेश के इस तरह टुकडे किये जाने से बड़ी निराशा हुई, और उन्होने इन हिस्[illegible]

को अन्तिम मानने से इनकार कर दिया। लेकिन उनकी किस्मत में तो अभी और भी आश्चर्य और निराशा की बातें आनेवाली थी, क्योंकि उनपर ज्यादा आसानी से हुकूमत कर सकने के लिए साम्राज्यवाद की पुरानी भेद-नीति हरेक मेण्डेट के अन्दर भी बरती जाने लगी। अब इनमें से हरेक देश पर अलग-अलग विचार करना आसान होगा। इसलिए मैं पहले फ्रेंच मैण्डेट वाले सीरिया को लेता हूँ।

१९२० के शुरू में अंग्रेजो की मदद से सीरिया में हेजाज के शाह हुसैन के पुत्र अमीर फैसल के अधीन एक अरब सरकार खडी की गई। एक सीरियन राष्ट्रीय कॉंग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसने सयुक्त सीरिया के लिए एक प्रजातंत्रीय विधान पास किया। लेकिन यह तो चन्द दिनो का दिखावा ही था। १९२० की गरमी के दिनो में फ्रासीसी लोग अपनी जेब मे राष्ट्र-सघ की तरफ से सीरिया का मैण्डेट लेकर आगये, और उन्होने फैसल को निकाल बाहर किया और देश पर जबरदस्ती क़ब्जा कर लिया। कुल मिलाकर भी सीरिया एक छोटा-सा देश है, जिसकी आबादी ३० लाख से भी कम है। लेकिन वह फ़ासीसियो के लिए बर्रो का छत्ता बन गया। मुसलमान ओर ईसाई दोनो तरह के सीरियन अरबो ने आजाद होने का पक्का इरादा कर लिया, और दूसरी ताकत के आगे आसानी से सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। वहाँ हमेशा झगडा और मुकामी बगावतें होती ही रही, और फ़्रांसीसी हुकूमत चलाने के लिए बडी भारी फ्रासीसी फौज की जरूरत पडी। इसके बाद फ्रेंच सरकार ने साम्राज्यवाद की वही फूट डालने की चाल चलने की कोशिश की, और देश को और भी छोटी-छोटी रियासतो में बॉटकर और धार्मिक अल्पसंख्यक भेद-भावो को महत्त्व देकर सीरियन राष्ट्रीयता को कमजोर करना चाहा। "शासन करने के लिए अलग-अलग बॉटना" यह नीति जान-बूझकर इख्तियार की गई, और करीब-करीब सरकारी तौर पर जाहिर करदी गई।

हालॉकि सीरिया छोटा-सा देश था, लेकिन उसे पाँच अलग-अलग राज्यो में बॉंटा गया। पश्चिम के समुद्री किनारे पर और लेबेनन पहाड़ के पास लेबेनन राज्य बनाया गया। यहा के ज्यादातर बाशिन्दे मैरोनाइट नामक ईसाई सम्प्रदाय के थे, और सीरियन अरबो के खिलाफ उन्हे अपनी तरफ़ मिला लेने के लिए फ्रान्सीसियो ने उन्हे एक खास दर्जा दे दिया।

लेबेनन के उत्तर में समुद्र के ही किनारे पहाडो के दरमियान एक और छोटा-सा राज्य बनाया गया, जहॉं कि अलावी नाम के मुसलमान रहते थे। इससे भी उत्तर में एलेग्जेण्ड्रेटा नामक एक तीसरा राज्य बनाया गया। यह राज्य तुर्की से लगा हुआ था और इसमें तुर्की भाषा बोलनेवाले लोग ज्यादा थे।

इस तरह देश के बाकी हिस्से, खास सीरिया प्रदेश के कुछ उपजाऊ जिले, चले गये और इससे भी बुरी बात यह हुई कि उसका समुद्र से ताल्लुक बिलकुल टूट गया। हजारो वर्षो से सीरिया की गिनती भूमध्य-सागर के महान् देशो में थी, लेकिन अब वह पुराना सम्बन्ध तोड़ दिया गया और उसे कठोर मरुभूमि से अपना नाता जोडना पड़ा। इस खास सीरिया प्रदेश में से भी एक और पहाडी टुकड़ा काटकर जवल-अद-द्रुज़ नामक एक अलग राज्य वना दिया गया, जहाँ कि द्रुज फिरके के लोग रहते थे।

शुरू से ही सीरियन लोग फ्रेंच "मैण्डेट" के खिलाफ़ थे। पहले ही संघर्ष और वडे-वडे प्रदर्शन हुए थे, जिनमें अरव स्त्रियो ने भी हिस्सा लिया था और जिन्हे फ्रासीसियो ने वडी सख्ती से कुचला था। देश के छोटे-छोटे टुकडे करने और जान-बूझकर धार्मिक और अल्पसंख्यक समस्यायें खडी करने की कोशिश से तो मामला और विगड गया और असन्तोष बढ़ गया। इसे दवाने के लिए जिस तरह हिन्दुस्तान में अग्रेजो ने किया है उसी तरह फ्रान्सीसियो ने भी व्यक्तिगत और राजनैतिक आजादी छीन ली और सारे देश में खुफिया महकमे के लोग फैला दिये गये। उन्होने ऐसे 'राजभक्त' सीरियनों को अफ़सर मुकर्रर किया, जिनका लोगो पर कुछ भी असर नहीं था और जिन्हे उनके देशवासी आमतौर पर देशद्रोही समझते थे। ये वातें अधिक-से-अधिक ईमानदारी की नीयत से की गईं, और फ़्रासीसियो ने ऐलान किया कि वे 'सीरियनो को राजनैतिक अनुभव और आज़ादी की तालीम देना अपना फ़र्ज समझते है'-- हिन्दुस्तान में भी तो इस तरह के वाक्यो से लोग परिचित है।

मामला खासकर जवल-अद-द्रुज़ के लड़ाकू और जंगली लोगो में (जो कि हमारे उत्तर-पश्चिमी सरहदी जातियो जैसे ही है) वढ़ता गया। इन द्रुज लोगो के नेताओं के साथ फ़्रांसीसी गवर्नर ने एक भद्दी चालाकी की। उसने उन्हे वुलाया और फिर उन्हे वहीं कैद कर लिया और जामिनो की तरह पकड रक्खा। यह वाक़या १९२५ के गरमी के दिनो में हुआ और फौरन ही जवल-अद-द्रुज में एक वग़ावत खडी होगई। यह मुक़ामी वगावत जल्द ही सारे देश में फैल गई और सीरियन आजादी और एकता के लिए एक व्यापक विद्रोह वन गई।

सीरियन आजादी की यह लड़ाई एक उल्लेखनीय वात थी। एक छोटा-सा देश, जो हिन्दुस्तान के दो या तीन जिलो के वरावर था, फ्रास के खिलाफ, जो कि उस वक़्त ससार की सबसे वडी सैनिक शक्ति थी, लड़ने को तैयार होगया। सीरियन लोग फ्रास की वडी-वडी और सुसज्जित फौजो के आगे वाक़ायदा मुक़ाविले की लडाई तो लड़ ही नही सकते थे, लेकिन उन्होने उनका देहाती इलाको पर क़ब्जा वनाये रखना मुश्किल कर दिया। सिर्फ वडे-वडे क़स्वे ही फ्रांसीसियो के अधिकार में थे और उन-

पर भी अक्सर सीरियन लोग हमला कर देते थे। फ्रासीसियो ने बहुत लोगो को गोलियो से उडाकर और कितने ही गाँवो को जलाकर आम लोगो को भयभीत करने की पूरी कोशिश की। अक्तूबर १९२५ में प्रसिद्ध पुराने शहर दमिश्क पर भी बम-वर्षा की गई और उसे बहुत-कुछ बरबाद कर दिया गया। सारा सीरिया फौजी छावनी बन गया था। इतने पर भी दो साल तक विद्रोह दब न सका। आखिर वह फ्रास की महान् सैनिक मशीन से कुचल दिया गया। लेकिन सीरियनो के महान् बलिदान बेकार नहीं गये। उन्होनें आज़ाद होने के अपने हक को कायम किया और दुनिया को मालूम होगया कि उनमें भी कितनी दृढता मौजूद है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि फ्रांसीसियो नें इस विद्रोह को मजहबी रंग देना और द्रूज़ो से ईसाइयो को लड़ाना चाहा, मगर सीरियनो ने यह बिलकुल साफ ज़ाहिर कर दिया कि वे कौमी आज़ादी के लिए लड़ रहे है, न कि किसी मजहबी उद्देश्य के लिए। विद्रोह के बिलकुल शुरू में द्रूज़ प्रदेश में एक अस्थायी सरकार कायम करली गई, और इस सरकार ने लोगो से आज़ादी की लड़ाई में शामिल होने और "एक और अखण्ड सीरिया की मुकम्मल आज़ादी हासिल करनें का विधान बनाने के वास्ते कान्स्टीटयूएण्ट एसेम्बली का स्वतन्त्र चुनाव करने, देश पर कब्ज़ा जमानेवाली विदेशी फौजो के हटाये जाने, स्वरक्षा के लिए राष्ट्रीय फौज बनानें, और फ़्रान्स की क्रान्ति तथा 'मनुष्यो के अधिकार' के सिद्धान्तो को प्रयोग में लाने के लिए" अपील निकाली। इस तरह, फ्रांस की सरकार और फौज ने एक ऐसी जाति को दबा देने की कोशिश की जो फ्रेंच-क्रान्ति के उसूलो और उसके ऐलान किये हुए हको के लिए ही खडी हुई थी!

१९२८ के शुरू में सीरिया में मार्शल-ला यानी फौजी कानून खत्म होगया, और प्रेस पर से सेन्सरशिप भी हट गई। कई राजनैतिक कैदी छोड़ दिये गये। राष्ट्रवादियो की माँग के मुताबिक विधान तैयार करने के लिए एक 'कान्स्टीटयूएण्ट एसेम्बली' बुलाई गई। लेकिन फ्रान्सीसियो ने (आजकल जैसा कि हिन्दुस्तान में किया गया है) अलग-अलग धार्मिक निर्वाचन क्षेत्रो की व्यवस्था करके झगडे की जड़ डाल दी। मुसलमानो, ग्रीक कैथलिको, ग्रीक ऑर्थोडाक्स मतवालो और यहूदियो के लिए बिलकुल अलग-अलग क्षेत्र बना दिये गये, और हर वोटर को अपने धर्मवालो को ही वोट देने के लिए मजबूर किया गया। दमिश्क में एक अजीब और आँखें खोल देने-वाली परिस्थिति पैदा होगई। वहाँ राष्ट्रवादियो का नेता एक प्रोटेस्टेण्ट ईसाई था। प्रोटेस्टेण्ट होने के करण वह किसी भी विशेष निर्वाचन-क्षेत्र में नहीं आता था, और हालाकि वह दमिश्क का एक सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति था, लेकिन फिर भी चुना

न जा सका। मुसलमानों ने, जिनकी दस सीटें थीं, एक सीट छोड़ देनी चाही, ताकि वह प्रोटेस्टेण्टों को दी जासके; परन्तु फ्रांसीसी सरकार ने इसे नहीं माना।

फ्रांसीसियों की इन तमाम कोशिशों के बावजूद, कान्स्टीट्यूएण्ट एसेम्बली पर राष्ट्रवादियों का ही नियन्त्रण रहा, और उन्होंने एक आजाद और सर्वोपरि राज्य का विधान तैयार कर डाला। विधान में सीरिया को एक प्रजातन्त्र बनाया गया, जिसमें सारी सत्ता का उद्गम जनता से रक्खा गया। इस प्रस्तावित विधान में फ्रांसीसियों या उनके मैण्डेट का कहीं जिक्र तक नहीं था। इसपर फ्रान्सीसियों ने एतराज किया लेकिन एसेम्बली भी बिलकुल न झुकी, और कई महीनों तक खींचा-तानी चलती रही। आखिरकार फ्रेन्च हाई कमिश्नर ने यह तजवीज की कि विधान का सारा मस्विदा मंजूर कर लिया जाय, सिर्फ़ उसमें एक ऐसी धारा रख दी जाय कि जबतक मैण्डेट-शासन चलेगा तबतक विधान की किसी भी धारा का ऐसा प्रयोग न किया जायगा जो मैण्डेट के अनुसार फ्रान्स की जिम्मेदारियों के खिलाफ़ पडे। यह बड़ी गोलमोल बात थी, फिर भी इसमें फ्रांस को बहुत झुकना पड़ा। लेकिन कान्स्टीट्यूएण्ट एसेम्बली ने इसको भी मंजूर नहीं किया। इसपर मई १९३० में फ्रेन्च सरकार ने इस एसेम्बली को ही बरखास्त कर दिया, और साथ ही संक्रमण-काल (बीच का समय) सम्बन्धी अपनी प्रस्तावित धारा जोड़कर उसके बनाये हुए विधान का ऐलान कर दिया।

इस तरह सीरिया प्रदेश जो कुछ चाहता था वह अधिकांश उसे मिल गया, फिर भी उसने अपनी किसी भी माँग को न तो कम किया, न उसपर समझौता किया। दो बातें बाकी रहीं: एक तो मैण्डेट-शासन का अन्त होना, जिसके साथ संक्रमण-कालीन धारा भी चली जायगी, और दूसरे सारे सीरिया के एकीकरण का बड़ा सवाल। इसके सिवा, आजकल जो विधान चल रहा है, वह बड़ा प्रगतिशील है और पूरी तौर पर आजाद देश के लायक बनाया गया है। महान् विद्रोह के समय में सीरियनों ने अपने को बहादुर और मजबूत लड़ाका साबित कर दिया। उसके बाद सन्धि-चर्चा में भी उन्होंने अपनेको दृढ़ और निश्चित माँगें रखनेवाला साबित किया, और उन्होंने पूरी आजादी की माँग को जरा भी संशोधित या कम करने से इन्कार कर दिया। अखबारों की खबरों से मालूम होता है कि सीरियन राष्ट्रवादियों और फ्रांसीसी सरकार के बीच जल्द ही कोई समझौता होनेवाला है। अखबारों की बयान की हुई बातों पर यकीन तो नहीं करना चाहिए, लेकिन मैं तुम पर ही छोड़ता हूँ कि तुम इस समझौते का जितना मुनासिब हो उतना ही महत्त्व समझना। यह उचित भी मालूम होता है। १९३४ के अखीर में सीरिया प्रदेश तथा अन्सारियों और द्रूजों पर से

फ्रान्सीसी मेण्डेट के खत्म होने और इन तीनो हिस्से के एकीकरण के आधार पर यह समझौता होनेवाला है। इस तरह अब तीनो हिस्सो को मिलाकर एक ही राज्य बन जायगा, लेकिन अलावियो और द्रुजो को भी बहुत ज्यादा आजादी रहेगी। इस राज्य मे अभी लेबेनन शामिल न होगा। वह बीस वर्ष के लिए और भी फ्रान्स के सरक्षण में रहेगा। उसके बाद लेबेनीज प्रजातन्त्र के लोग वोटो द्वारा सीरिया के साथ मिल जाने के सवाल का फैसला करेगे।

: १६७ :

फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन

२९ मई, १९३३

सीरिया से लगा हुआ ही फिलस्तीन है, जिसकी बाबत ब्रिटिश सरकार के पास राष्ट्र-संघ का मैण्डेट (शासनादेश) है। यह और भी छोटा देश है। इसकी आबादी दस लाख से भी कम है, लेकिन इसके पुराने इतिहास और ताल्लुकात की वजह से इसकी तरफ लोगो का ध्यान बहुत जाता है; क्योकि यह यहूदियो के लिए, ईसाइयो के लिए, और किसी हद तक मुसलमानो तक के लिए भी एक पवित्र भूमि है। यहाँके बाशिन्दे ज्यादातर मुसलमान अरब है, और वे आजादी की और सीरिया के अपने अरब-बन्धुओ के साथ मिल जाने की माँग करते है। लेकिन ब्रिटिश नीति ने यहाँ एक खास—यहूदियो की—अल्पसंख्यक समस्या पैदा करदी है। यहूदी लोग अंग्रेजो का साथ देते है और फिलस्तीन की आजादी का विरोध करते है, क्योकि उन्हे अदेशा है कि इसका अर्थ होगा अरबो का शासन। ये दोनो एक-दूसरे के खिलाफ जानेवाले रास्ते है और, जैसा होना लाज़िमी है, सघर्ष होते ही रहते है। अरबो की तादाद ज्यादा है; यही उनकी ताकत है। दूसरी तरफ़ यहूदी बहुत मालदार है और सारी दुनिया में उनका अच्छा संगठन है। इसलिए इंग्लैण्ड अरब राष्ट्रीयता के मुकाबिले में यहूदी धार्मिक राष्ट्रीयता को बढ़ावा देता है और दिखाता है कि दोनो का बीच-बचाव करने और शान्ति कायम रखने के लिए उसका वहाँ बना रहना जरूरी है। यह वही पुराना तमाशा है जो साम्राज्यवाद के अधीन दूसरे देशो में हम देख चुके है। कितना आश्चर्य है कि बार-बार वही दोहराया जाता है!

यहूदी बडे गजब के लोग है। मूलत फिलस्तीन में वे एक छोटी-सी जाति अथवा कई छोटी-छोटी जातियो के रूप में रहते थे, और उनकी शुरु की कहानी बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट यानी प्राचीन धर्मपुस्तक में लिखी हुई है। वे बडे मगरूर थे,

अपने आपको परमात्मा के खास 'पसन्द किये हुए' लोग मानते थे। लेकिन ऐसी झूठी मान्यतायें दुनिया की क़रीब-करीब सभी जातियो में रही है। वे बार-बार हराये गये, दबाये गये, और गुलाम बनाये गये। अंग्रेज़ी की कुछ सबसे सुन्दर और दिल हिला देनेवाली कवितायें तो यहूदियो के गानें और रोने की है। ये कवितायें बाइबिल के प्रमाणित अनुवाद में दी हुई है। मेरा ख़याल है कि मूल हिब्रू भाषा में तो वे इतनी ही या इससे भी सुन्दर होंगी। मैं ओल्ड टेस्टामेन्ट के एक भजन की कुछ पंक्तियो का अनुवाद यहाँ देता हूँ:—

By the waters of Babylon we sat down and wept
when we remembered thee, O Sion!
As for our harps we hanged them up
upon the trees that are therein
For they that led us away captive required of us then
a song, and melody, in our heaviness
Sing us one of the songs of Sion
How shall we sing the Lord's song: in a strange land?
If I forget thee, O Jerusalem:
let my right hand forget her cunning
If I do not remember thee, let my tongue cleave to
the roof of my mouth yea, if I prefer
not Jerusalem in my mirth.

अर्थात्, "ऐ जियोन! जब हमे तेरा स्मरण आया, तो हम बेबीलोन नदी के तट पर बैठ गये और ख़ूब रोये।

अपनी वीणाओ को तो हम वही के वृक्षो पर लटका आये।

क्योकि, जो हमे बन्दी बनाकर ले गये वे हमारे शोक मे हमसे कहते थे कि हमे कोई गीत, कोई राग, सुनाओ। हमे जियोन का गाना सुनाओ।

हम प्रभु का गीत, एक विराने देश मे, कैसे गावे?

ऐ जेरूसलम! यदि मैं तुझे भुलाऊँ तो अपने दाहिने हाथ की सारी कुशलता को भूल जाऊँ।

यदि मैं तेरा नाम लेना भुलाऊँ तो मेरी जिह्वा तालु मे चिपकी रह जाय, यदि मै अपने आनन्द मे सबसे अधिक जेरूसेलम को न चाहूँ।"

ये यहूदी अन्त में सारी दुनिया में जहाँ-तहाँ बिखर गये। उनका कोई देश या राष्ट्र न था, और जहाँ कहीं वे जाते वहीं उनके साथ परदेशियो का-सा बुरा बर्ताव किया जाता था। उन्हे सबसे अलग शहर के खास हिस्सो में, जो 'घेटो' कहलाते थे, बसाया जाता था, ताकि वे दूसरे लोगों को अपवित्र न करदें। कहीं-कहीं उनके लिए खास पोशाक मुकर्रर करदी जाती थी। उनका अपमान किया जाता था, उन्हे अपशब्द

कहे जाते थे, यातनाये दी जाती थी, और सरे-आम कत्ल कर दिया जाता था। 'यहूदी' शब्द ही एक गाली बन गई थी, जिसका अर्थ था कजूस और मक्खी-चूस साहूकार। इतना होने पर भी यह अद्भुत जाति न सिर्फ जिन्दा रही, बल्कि अपनी जातीय और सास्कृतिक विशेषताओ की भी रक्षा की, खूब फूली-फली और अपने अन्दर से अनेक महान् पुरुषो को पैदा किया। आज वैज्ञानिको, राजनीतिज्ञो, साहित्य-कारो, धनपतियो और व्यापारियो में वे सबसे आगे बढ़े हुए मानें जाते हैं। और सब-से बड़े साम्यवादी और कम्यूनिस्ट तक यहूदी हुए हैं। लेकिन ज्यादातर यहूदी तो मालदार नही हैं। पूर्वी योरप के शहरो में उनकी तादाद ज्यादा है, और समय-समय पर उनको 'पोग्रो' यानी कत्लेआम भी बर्दाश्त करने पडते हैं। वतन या राष्ट्र से महरूम इस जाति ने, खासकर ग़रीब यहूदियो ने, पुरानें जेरूसलेम के, जो उन्हे किसी समय की वास्तविकता से महान् और वैभव-पूर्ण दिखाई देता है, स्वप्न देखना कभी न छोडा। जेरूसलेम को वे 'जियोन' कहते है, जो एक प्रकार का स्वर्ग है, और 'जियोनिज्म' वह भूतकाल की प्रेरणा है जो उन्हे जेरूसलम और फिलस्तीन की तरफ आकर्षित करती रहती है।

उन्नीसवी सदी के अन्त के लगभग इस 'जियोनिस्ट' आन्दोलन ने धीरे-धीरे उपनिवेश बनने की शकल इख्तियार की और कई यहूदी फिलस्तीन में बसने पहुँच गये। हिब्रू भाषा का पुनरुद्धार भी शुरू हुआ। महायुद्ध के ज़माने में अंग्रेजी फौजों ने फिलस्तीन पर हमला किया, और जब वे जेरूसलम की तरफ बढ़ रही थीं तब ब्रिटिश सरकार ने नवम्बर १९१७ में बालफोर-घोषणा नाम की एक घोषणा प्रकाशित की। उन्होने जाहिर किया कि उनका इरादा है कि फ़िलस्तीन में एक 'यहूदी वतन' (ज्यूइश नेशनल होम) कायम किया जाय। शायद यह ऐलान अन्तर्राष्ट्रीय यहूदी समाज की सद्भावना हासिल करने के लिए निकाला गया, और आर्थिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण था। यहूदियो नें इसका स्वागत किया। लेकिन इसमें एक छोटी-सी बाधा थी। एक बात की तरफ़, जो गैर-जरूरी न थी, किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। फिलस्तीन कोई वीरान या गैरआबाद प्रदेश न था। यह तो पहले ही किसी-न-किसी का वतन था। इसलिए ब्रिटिश सरकार का यह उदारतापूर्ण प्रयत्न फ़िलस्तीन में पहले से बसे हुए लोगों को नुकसान पहुँचानेवाला था और इन लोगो ने, जिनमें अरब, गैर-अरब, मुसलमान, ईसाई, असल में हर तरह के गैर-यहूदी शामिल थे, इस ऐलान का जोरदार विरोध किया। इन लोगो ने महसूस किया कि हर काम में यहूदी उनका मुकाबिला करेंगे और अपनी बेशुमार दौलत के बल से देश के आर्थिक स्वामी बन जायेंगे। उन्हे अन्देशा था कि यहूदी उनके मुँह की रोटी और किसानो की ज़मीन छीन लेंगे।

पिछले बारह वर्ष की फिलस्तीन की कहानी अरबो और यहूदियो के कशमकश की कहानी है, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने मौके के मुताबिक कभी इधर और कभी उधर हिस्सा लिया, लेकिन वह आम तौर पर यहूदियों का ही साथ देती रही। इस देश के साथ ऐसा बर्त्ताव किया मानों यह स्वशासन-हीन अंग्रेजी बस्ती हो। अरब, जिनके साथ ईसाई और दूसरे गैर-यहूदी लोग भी है, आत्म-निर्णय और पूर्ण स्वाधीनता की माँग हमेशा करते रहे। उन्होने बडे जोर से मैण्डेट का और नये प्रकार से बसनेवालो का इस सबब से विरोध किया है कि वहाँ अब और लोगो की गुंजाइश नहीं है। ज्यो-ज्यों बाहर से यहूदी आते गये, त्यो-त्यो उनका अन्देशा और गुस्सा बढ़ता गया। उन्होने (अरबों ने) बताया कि "जियोनिज्म में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्वार्थ भी मिला हुआ है। जियोनिस्ट आन्दोलन के जिम्मेदार नेतओ ने हमेशा कहा है कि एक मजबूत 'यहूदी वतन' बन जाने पर वह हिन्दुस्तान के मार्ग की हिफाजत करने के लिए अंग्रेजो के वास्ते बड़ा लाभप्रद होगा, क्योकि वह अरब राष्ट्रीय आकांक्षाओ का विरोध करने-वाली एक ताकत होगी।" कैसी अजीब-अजीब जगहो में भी हिन्दुस्तान आ खडा होता है !

अरब कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने और एक लेजिस्लेटिव कौंसिल का, जिसे अंग्रेज़ खडी कर रहे थे, बहिष्कार करने का फैसला किया। यह बहिष्कार बहुत कामयाब हुआ और कौंसिल न बन सकी। एक खास तरह के असहयोग की नीति कई साल तक चलती रही। फिर वह किसी हद तक कमजोर पड गई और कुछ दल अंग्रेजों को आंशिक सहयोग देने लगे। फिर भी अंग्रेज चुनी हुई कौंसिल न बना सके, और हाईकमिश्नर ही सर्वशक्तिमान सुलतान की तरह हुकूमत करता रहा।

१९२८ में अरब कांग्रेस में भिन्न-भिन्न दल फिर मिलकर एक होगये और उन्होंने 'अधिकार के रूप में' प्रजातंत्रीय तरीके की हुकूमत की मांग की। उन्होने बडी बहादुरी से यह भी कह दिया कि "फिलस्तीन के लोग मौजूदा एकतन्त्री कालोनियल शासन-प्रणाली को न तो मान सकते है और न मानेगे।" अरबी राष्ट्रीयता की इस नई लहर में एक मजेदार बात यह भी थी कि आर्थिक सवालो पर जोर दिया गया। स्थिति की असलियत के ज्यादा-से-ज्यादा ठीक तौर पर समझे जाने का यह हमेशा एक चिन्ह होता है।

अगस्त १९२९ में अरबो और यहूदियो के कई बडे-बडे दंगे हुए। असली सबब तो था यहूदियो की बढती हुई दौलत और तादाद के कारण अरबो की कटुता और भय तथा अरबो की आजादी की मांग का यहूदियो द्वारा विरोध किया जाना। लेकिन

तात्कालिक कारण था एक दीवार की, जिसे 'वेलिंग वाल' (रोने की दीवार) कहते हैं, बाबत झगडा । यह उस दीवार का हिस्सा है जो पुराने जमाने मे हेरोड के मन्दिर के चारो ओर बनी हुई थी और इसलिए इसे यहूदी पवित्र मानते हैं, क्योंकि यह उस समय की यादगार है जब उनकी जाति महान् थी । बाद में यही एक मस्जिद बना ली गई और यह दीवार उसका एक हिस्सा बन गई । यहूदी इस दीवार के पास अपनी प्रार्थना करते हैं, खासकर अपने रोदनो को ऊँची आवाज से पढते हैं, इसलिए इसका नाम 'रोने की दीवार' पड़ गया । मुसलमान अपनी एक सबसे प्रसिद्ध मस्जिद के हिस्से पर इस प्रकार रोने पर एतराज करते हैं ।

दगे के दबा दिये जाने के बाद झगड़ा दूसरी शक्लो मे चलता रहा, और अजीब बात यह थी कि अरबो को फिलस्तीन के सब ईसाई सम्प्रदायो का पूरा समर्थन प्राप्त था। हड़तालो और बडे-बडे प्रदर्शनो में मुसलमान और ईसाई दोनो शामिल हुए। स्त्रियो तक ने इसमें बड़ा हिस्सा लिया । इससे जाहिर होता है कि असली झगड़ा धार्मिक नही था, बल्कि नये आनेवालो और पुराने रहनेवालो के बीच एक आर्थिक संघर्ष था । अपने मैण्डेट-सम्बन्धी कर्त्तव्यो को पूरा न कर सकने और खासकर १९२९ के दंगो को न रोक सकने के कारण राष्ट्र-संघ ने ब्रिटिश हुकूमत की बडी आलोचना की ।

इस तरह फिलस्तीन अब भी करीब-करीब एक अंग्रेज कालोनी यानी बस्ती है, और कई बातो में तो कालोनी से भी खराब है, और अंग्रेज लोग अरबो से यहूदियो को लड़ाकर इस हालत को जारी रख रहे हैं । उसमें ब्रिटिश अफसर ही भरे हुए हैं, सारे ऊँचे ओहदो पर वही हैं । अंग्रेजो के मातहत मुल्को की आम हालत के मुआफिक वहाँ भी तालीम की बहुत कम कोशिश की गई है, हालाँकि अरबो को तालीम की जबरदस्त ख्वाहिश है । यहूदियो के बडे-बडे आर्थिक साधन होने के कारण, उनके पास अच्छे-अच्छे स्कूल और कालेज हैं । यहूदी आबादी मुसलिम आबादी के चौथाई हिस्से के करीब तो होचुकी है, और उनकी माली ताकत तो इससे भी कहीं ज्यादा है । वे उस दिन के इन्तजार में है जब फिलस्तीन में उनकी ही तूती बोलेगी । कौमी आजादी और प्रजातान्त्रिक शासन की लड़ाई में अरबो ने उनका सहयोग पाने की कोशिश की, लेकिन इन बातो से उन्होने इन्कार कर दिया । उन्होने हुकूमत करनेवाली विदेशी ताकत का साथ देना पसन्द किया है, और उसे अधिकांश जनता को आजादी न देने में मदद पहुँचाई है । फिर आश्चर्य नहीं कि यह अधिकांश जनता, जिसमें खासकर अरब हैं और ईसाई भी शामिल हैं, यहूदियो के इस रुख पर बुरी तरह नाराज है ।

फिलस्तीन से लगा हुआ, ट्रान्स-जोर्डन नदी के उसपार एक और छोटा-सा राज्य है जिसको अंग्रेजो ने महायुद्ध के बाद पैदा किया है । इसे ट्रान्स-जोर्डन कहते

है। यह एक छोटा-सा रकवा है, जो रेगिस्तान की हद से मिला हुआ और सीरिया और अरब के बीच में स्थित है। इस राज्य की पूरी आवादी क़रीव तीन लाख है, जो कि आजकल के किसी शहर के भी मुश्किल से वरावर है! ब्रिटिश सरकार इसको आसानी से फिलस्तीन के साथ मिला सकती थी, लेकिन साम्राज्यवादी नीति मिलाने के वजाय जुदा करना ज्यादा पसन्द करती है। यह राज्य हिन्दुस्तान को जानेवाले ज़मीन के और हवाई मार्ग के लिए महत्वपूर्ण है। यह रेगिस्तान और उपजाऊ प्रदेशों के वीच में एक लाभदायक सरहदी राज्य है, जो पश्चिम में समुद्र तक पहुँचने का रास्ता है।

हालाँकि यह राज्य छोटा ही है, लेकिन यहाँ भी वही घटनायें हुई जो पास के वडे देशों में हुई थीं। यहाँ भी जनता की तरफ से प्रजातंत्री पार्लमेण्ट की मांग हुई, जो मंजूर नही की गई। प्रदर्शन दवा दिये गये। सेन्सरशिप, नेताओं की जलावतनी, सरकारी कार्यो का वहिष्कार वगैरा सव वाते हुई। अंग्रेजो ने अमीर अब्दुल्ला को (जो हेजाज के शाह हुसैन का एक पुत्र और फ़ैसल का भाई है) वडी चतुराई से ट्रान्स-जोर्डन का शाह वना दिया है। वह विलकुल अंग्रेजो के हाथ की कठपुतली है। लेकिन वह जनता की आँखो से अंग्रेजो को छिपाने के लिए परदे का काम देता है। जो कुछ होता है, अधिकांश वुराई उसीके सिर पर पड़ती है, और वह वहुत ही अप्रिय है। अब्दुल्ला के हाथ में ट्रान्स-जोर्डन का राज्य असल में ऐसा ही है जैसा हमारे हिन्दुस्तान में कई छोटे-छोटे देशी राज्य हैं।

उसूलन तो यह राज्य आजाद है, लेकिन १९२८ के एक सुलहनामे के जरिये फौजी और दूसरी सव तरह की सहूलियते ब्रिटेन को देदी गई है। ट्रान्स-जोर्डन दर-असल ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा वन गया है। यह एक नई किस्म की आजादी का छोटे पैमाने पर नमूना है, जो अंग्रेजो की छत्रछाया में रहती है। इस सुलहनामे और आमतौर पर इस सारी स्थिति को मुसलिम और ईसाई जनता विलकुल नापसन्द करती है। सुलहनामे के ख़िलाफ़ होनेवाले आन्दोलन को दवा दिया गया, जिन अख़-वारो ने उसका समर्थन किया उनतक का निषेध कर दिया गया, और, जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, नेताओ को जलावतन कर दिया गया। इसपर विरोध और भी वढा, और एक राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसने एक राष्ट्रीय इकरार-नामा मंजूर किया और सुलहनामे की निन्दा की। जव नये चुनाव के लिए वोटरो यानी मतदाताओ की फेहरिस्त तैयार की जा रही थी तो जनता के भारी वहुमत ने उसका वहिष्कार किया। लेकिन अब्दुल्ला और अंग्रेजो ने फिर भी सुलहनामे की दिखावटी ताईद के लिए कुछ समर्थक इकट्ठे कर ही लिये।

१९२९ के फिलस्तीन के झगडो के दिनो में अंग्रेजो और बालफोर-घोषणा के खिलाफ ट्रान्स-जोर्डन में भी बडे-बडे प्रदर्शन हुए।

मै तुम्हे मुख्तलिफ देशो की घटनाओ की महत्वपूर्ण बातो को विस्तार से लिखता जाता हूँ, और ऐसा मालूम होता है कि एक ही कहानी बार-बार दोहराई जारही है। मै यह इसलिए लिखता हूँ कि तुम अनुभव करलो कि यह बात नही है कि हम सब लोगो को अपने-अपने देश में अपनी अलग-अलग समस्याओ को निपटाना है, जैसा कि हम कभी-कभी सोचने लगते है। बल्कि हम सबको दुनिया के बडे सवालो को हल करना है और शक्तियो का सामना करना है। हमे उस सघर्ष में से गुजरना है, जिसमें एक तरफ तो पूर्व के सभी देशो की उठती हुई राष्ट्रीयता है और दूसरी ओर उसे दबानेवाले साम्राज्यवाद की वही बार-बार दुहराई जानेवाली चाले है। जैसे-जैसे राष्ट्रीयता पैदा होती और बढ़ती जाती है वैसे-ही-वैसे साम्राज्यवाद की चालो में हलकी-सी तब्दीलियाँ होती जाती है; लोगो को सतुष्ट करने और बाहरी ढाँचे के मामलो में झुक जाने की थोडी-सी दिखावटी कोशिशें की जाती है। इस बीच भिन्न-भिन्न देशो में जैसे-जैसे यह राष्ट्रीय लड़ाई आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हर देश में सामाजिक लड़ाई यानी भिन्न-भिन्न वर्गो की आपसी कशमकश भी साफ जाहिर होती जाती है, और सामन्त और किसी हद तक सम्पत्तिशाली वर्ग भी साम्राज्यवादी शक्ति की तरफ ज्यादा-ज्यादा मिलते जाते है।

: १६८ :

अरब—मध्य-युग से सहसा प्रगति

३ जून, १९३३

मै तुम्हे अरब देशो का हाल लिखता रहा हूँ, लेकिन अभीतक मैंने तुम्हे खास अरब यानी अरबिस्तान के बारे में कुछ नहीं लिखा, जोकि अरबी भाषा और संस्कृति का उद्गम है और इस्लाम की जन्मभूमि है। हालाँकि वह अरब सभ्यता का उद्गम-स्थान था, लेकिन वह पिछड़ा हुआ और मध्ययुगीन ही बना रहा, और हमारी आधुनिक सभ्यता की कसौटियो के मुताबिक नजदीक के अरब देश—मिस्र, सीरिया फ़िलस्तीन और इराक—इससे बहुत ज्यादा आगे बढ़ गये। अरब एक बड़ा भारी देश है। फैलाव और रकबे में वह हिन्दुस्तान के दो-तिहाई के करीब है। लेकिन उसकी आबादी सिर्फ ४० या ५० लाख ही है जो हिन्दुस्तान की आबादी का ७०वा या ८०वां हिस्सा है। इससे जाहिर होता है कि वहाँ आबादी घनी नहीं है। दरअसल

उसके ज्यादातर हिस्से में तो रेगिस्तान है, और इसी सबब से पुराने जमाने के लालची बहादुरों की निगाह उसपर नही पडी और वह तब्दील होते हुए जमाने में बगैर रेल, तार और टेलीफोन के मध्ययुग के निशान-सा बना रहा। उसमें ज्यादातर घूमने-फिरने वाले खानाबदोश फिरके, जिन्हे बदाऊन कहते हैं, बसते थे। ये लोग रेगिस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक 'रेगिस्तान के जहाजो' यानी अपने तेज ऊँटो और अपने खूबसूरत अरबी घोडो पर, जो दुनियाभर में मशहूर हैं, सफर किया करते थे। उनकी जिन्दगी का वही पुराना ढंग था जिसमें कुटुम्ब का बड़ा-बूढ़ा अगुआ होता था और सब उसका कहना मानकर चलते थे। हजार वर्ष में भी उनकी हालत में कोई खास तब्दीली नही हुई थी। लेकिन महायुद्ध ने जिस तरह और भी कई चीजो को तब्दील कर दिया इसी तरह इस सबको भी बदल दिया।

अगर तुम नक़शे को देखोगी तो तुम्हे मालूम होगा कि अरब यानी अरबिस्तान का महान् प्रायद्वीप लाल समुद्र और ईरान की खाडी के बीच में है। उसके दक्षिण में अरब सागर है, और उत्तर में फिलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन और सीरिया का रेगिस्तान है, और उत्तर-पूर्व की तरफ इराक़ की हरी और उपजाऊ तराई है। पश्चिमी किनारे पर लाल समुद्र से लगा हुआ हेजाज का प्रदेश है, जो इस्लाम का जन्म-स्थान है और जिसमें मक्का और मदीना के पवित्र नगर है और जद्दाह का बन्दरगाह है, जहाँ हर साल मक्का को जानेवाले हजारो यात्री उतरा करते हैं। अरब के बीच में और पूर्व में ईरान की खाडी तक फैला हुआ नज्द प्रदेश है। हेजाज और नज्द यही दोनो अरबिस्तान के खास हिस्से हैं। दक्षिण-पश्चिम में यमन है, जिसे पुराने रोमन जमाने से अरेबिया फेलिक्स यानी खुशकिस्मत अरबिस्तान कहा जाता है, क्योंकि दूसरे रेगिस्तान और बंजर हिस्से के मुकाबिले में यह उपजाऊ रहा है। कुदरती तौर पर इस हिस्से में आबादी घनी होनी चाहिए। अरब के दक्षिण-पश्चिमी सिरे के ऊपर अदन है, जो अंग्रेजो के कब्जे में है और जहाँ पूर्व और पश्चिम के बीच आने-जाने वाले जहाज ठहरा करते हैं।

महायुद्ध से पहले करीब-करीब सारा ही देश तुर्की शासन में था या तुर्की हुकूमत को तस्लीम करता था। लेकिन नज्द में अमीर इब्नसऊद धीरे-धीरे आजाद बनता जा रहा था और इलाके पर इलाका सर करता हुआ ईरान की खाडी की तरफ बढ रहा था। यह बात महायुद्ध के पहले के कुछ वर्षो की है। इब्नसऊद मुसलमानो की एक खास कौम या फिरके का, जिसे वहाबी कहते हैं और जिसको अठारहवीं सदी में अब्दुलवहाब ने कायम किया था, सरदार था। वहाबी असल में इस्लाम का एक सुधारक दल था, जैसाकि ईसाइयो में प्यूरिटन मत है। वहाबी लोग कई रीति-रिवाजो

के और पीर-पूजा के खिलाफ थे, जो मुसलमानो में मकबरो और धार्मिक लोगो के स्मारको की पूजा के रूप में बहुत फैल गई थी। वहाबी लोग इसे बुतपरस्ती कहा करते थे, जैसे कि योरप के प्यूरिटन लोग रोमन कैथलिको को, जो सन्तो की मूर्तियो और स्मारको को पूजते थे, मूर्तिपूजक कहा करते थे। इस तरह राजनैतिक विरोध के अलावा, वहाबियो और अरब के दूसरे मुस्लिम फिरको में मजहबी झगड़ा भी था।

महायुद्ध के जमाने में अरब में ब्रिटिश साजिशो ने जोर पकड़ा, और मुख्त-लिफ अरब सरदारो को मदद और रिश्वत देने के लिए ब्रिटेन और हिन्दुस्तान का रुपया पानी की तरह बहाया गया। उनसे जितने किस्म के भी वादे हो सकते है सभी किये गये, और उन्हे तुर्की के खिलाफ बगावत करने के लिए भड़काया गया। कभी-कभी सरदार एक-दूसरे से लड़ते थे और दोनो को अंग्रेजो से मदद मिलती थी! अंग्रेज लोग मक्का के शरीफ हुसैन के जरिये अरब-विद्रोह का झंडा उठवाने में कामयाब होगये। हुसैन का महत्व इस बात से था कि वह पैगम्बर मुहम्मद साहब के खानदान मे था, और इसलिए उसकी बडी इज्जत थी। अंग्रेजो ने हुसैन से वादा किया कि वे उसे सारे अरब के सयुक्त राज्य का बादशाह बना देंगे।

लेकिन इब्नसऊद ज्यादा होशियार था। उसने अंग्रेजो से अपने-आपको खुद-मुख्तार बादशाह तसलीम करवा लिया। उसने ५,००० पौण्ड या ७०,००० रुपया माहवार की रकम लेना मंजूर कर लिया और तटस्थ रहने का वादा कर दिया। इस तरह जबकि दूसरे लोग लड़ते रहे, वह अपनी स्थिति को मजबूत और संगठित बनाता रहा, और उसमें किसी हद तक अंग्रेजो के रुपये की भी मदद रही। इस्लामी मुल्को में, हिन्दुस्तान में भी, शरीफ हुसैन अप्रिय होता जा रहा था, क्योकि उसने तुर्की के सुलतान के खिलाफ, जो कि उस वक्त खलीफा भी था, बगावत की थी। इब्नसऊद ने तटस्थ रहकर बदलती हुई परिस्थितियो का पूरा फायदा उठाया, और धीरे-धीरे इस्लाम का एक ताकतवर आदमी होने का नाम पा लिया।

दक्षिण में यमन था। यमन का इमाम या शासक युद्ध के जमाने में हमेशा तुर्को का वफादार रहा। लेकिन वह लड़ाई की जगह से अलग जा पड़ा था और कोई ज्यादा मदद न पहुँचा सकता था। तुर्की की हार के बाद वह खुदमुख्तार होगया। यमन भी एक स्वतन्त्र राज्य है।

महायुद्ध के अखीर में अरब इंग्लैण्ड के ही हाथो में था, और इंग्लैण्ड हुसैन और इब्नसऊद दोनो को अपने हथियार की तरह से इस्तेमाल करने की कोशिश कर रहा था। लेकिन इब्नसऊद में इतनी होशियारी थी कि वह उनकी कठपुतली न बना। परन्तु शरीफ हुसैन के खानदान की शान अचानक ही बहुत बढ गई, क्योकि

उसकी पीठ पर अंग्रेजों की ताक़त थी। खुद हुसैन हेजाज का बादशाह बना; उसका एक लड़का फ़ैज़ल सीरिया का शासक बना; और दूसरे लड़के अब्दुल्ला को अंग्रेजों ने ट्रान्स-जोर्डन नामक नये राज्य का शासक बना दिया। मगर यह हालत चन्द दिन ही क़ायम रही, क्योंकि, जैसाकि पहले बयान किया जा चुका है, फ़ैज़ल को सीरिया से फ़्रांसीसियों ने भगा दिया, और हुसैन की बादशाहत इब्नसऊद के वहाबियों की चढ़ाई के सामने ख़त्म होगई। फ़ैज़ल फिर बेकारों में शामिल होगया और उसे अंग्रेजों ने इराक़ की हुकूमत दे दी, जहाँकि वह अब भी अंग्रेजों की मेहरबानी से शाह बना हुआ शासन कर रहा है।

उस थोड़े-से अर्से में, जबकि हुसैन हेजाज का बादशाह था, अंगोरा की तुर्की पार्लमेण्ट ने १९२४ में ख़िलाफत को मिटा दिया। अब कोई ख़लीफा न रहा। इसलिए हुसैन बड़ी भारी हिम्मत करके ख़ाली तख़्त पर खुद जा कूदा, और उसने अपनेआपको इस्लाम का खलीफा ऐलान कर दिया। इब्नसऊद ने देखा कि बस उसके लिए यही अच्छा मौका है और उसने अरब राष्ट्रीयता और मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता के सामने हुसैन की मुख़ालफ़त की। वह एक महत्वाकांक्षी अनधिकारी के मुक़ाबिले में इस्लाम का हिमायती बन गया, और बड़े कुशलतापूर्ण प्रचार की मदद से उसने दूसरे देशों के मुसलमानों की सद्भावना प्राप्त करली। हिन्दुस्तान की ख़िलाफ़त कमेटी ने भी उसके पास अपनी सदिच्छायें भेजीं। अंग्रेजों ने भी हवा का रुख़ देखकर, यह महसूस करके कि जिस व्यक्ति की वे अबतक हिमायत करते रहे वह कामयाब न होगा, चुपचाप हुसैन का साथ छोड़ दिया। उन्होंने रुपया देना बन्द कर दिया और एक मज़बूत और चढ़ाई करते हुए दुश्मन के सामने बेचारा हुसैन, जिसके साथ इतने वादे किये गये थे, अकेला लाचार और असहाय छोड़ दिया गया।

कुछ ही महीनों में, अक्तूबर १९२४ में, वहाबी मक्का में दाख़िल होगये, और उन्होंने अपने कट्टरमत के अनुसार कुछ मकबरों को बर्बाद कर दिया। इस बर्बादी की वजह से मुसलमानी मुल्कों में बहुत अंदेशा फैल गया। हिन्दुस्तान में भी इसका बड़ा विरोध किया गया। दूसरे साल मदीना और जद्दाह भी इब्न-सऊद के हाथ में आगये, और हुसैन और उसका ख़ानदान हेजाज से निकाल दिया गया। १९२६ के शुरू में इब्नसऊद ने अपनेको हेजाज का बादशाह घोषित कर दिया। अपनी नई स्थिति को मज़बूत बनाने और बाहर के मुसलमानों की सद्भावना बनाये रखने के लिए उसने जून १९२६ में मक्का में सारे दुनिया के मुसलमानों की कांग्रेस बुलाई, जिसमें उसने दूसरे देशों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया। उसे ख़लीफा बनने की कोई इच्छा न थी और उसके वहाबी-मत के बहुत-से मुसलमान उसे किसी तरह भी ख़लीफा नहीं मान

सकते थे। मिस्र का शाह फुआद, जिसके राष्ट्र-विरोधी और स्वेच्छाचारी कारनामो पर हम पहले गौर कर चुके है, खलीफा बनने को बहुत इच्छुक था, लेकिन उसे कोई नही चाहता था--खुद मिस्र-वासी भी नही चाहते थे। शिकस्त खाने के बाद, हुसैन ने भी खलीफा होने का अपना दावा छोड दिया।

मक्का की इस्लामी कॉग्रेस ने कोई महत्वपूर्ण निर्णय नही किये, और शायद उसकी गरज भी यह नही थी कि उसमें कोई महत्वपूर्ण बात हो। वह तो इब्नसऊद की अपनी स्थिति को, खासकर बाहरी ताकतो के सामने, मजबूत बनाने की तरकीब थी। खिलाफत कमेटी के हिन्दुस्तानी प्रतिनिधि, जिनमें मेरे खयाल से मौलाना मुहम्मद-अली भी शामिल थे, इब्नसऊद से निराश और नाराज होकर लौटे। लेकिन उसपर इसका कोई असर न पड़ा। उसने हिन्दुस्तान की खिलाफत कमेटी का उपयोग कर लिया था, जब कि उसे उसकी जरूरत थी। अब तो उसकी सद्भावना के बगैर भी उसका काम चल सकता भा।

इब्नसऊद सिपाही और योद्धा की हैसियत से तो कामयाब हो ही गया था; अब वह उससे भी मुश्किल काम में यानी अपनेको आजकल के हालात के मुताबिक बनाने में लग गया। यह तरक्की पुराने ढंग के खानदानी समाज से एकाएक आजकल की दुनिया में छलॉग मारकर आजाने के बराबर हुई। मालूम होता ह कि इस काम में भी इब्नसऊद को काफी कामयाबी मिली है, और उसने इस तरह साबित कर दिया है कि वह दूरदर्शी राजनीतिज्ञ है।

उसकी पहली कामयाबी खानाजंगी यानी अन्दरूनी झगडो में हुई। बहुत ही थोडे अर्से में कारवान और सफर के रास्ते बिलकुल सुरक्षित होगये। यह एक बडी फतहयाबी थी, और कुदरती तौर पर बहुत-से यात्रियो ने, जिन्हे कि अभीतक रास्तोमें राहजनी और लूट का अकसर सामना करना पड़ता था, इसे बहुत पसन्द किया।

इससे भी आश्चर्यजनक सफलता थी--घूमते-फिरते रहनेवाले बदायूनो को बसा देना। उसने इनका बसाना हेजाज जीतने से भी पहले शुरू कर रक्खा था, और इस तरह उसने एक आधुनिक राज्य की नींव डाल दी। इन न टिकनेवाले घुमक्कड़ और आजादी-पसन्द बदायूनो को बसाना आसान काम नहीं है, लेकिन इसमें इब्नसऊद को बहुत बडी कामयाबी हासिल हुई है। राज्य का इन्तजाम कई बातो में सुधरा है, और हवाई जहाज और मोटरे और टेलीफोन और आधुनिक सभ्यता के कई दूसरे निशान दिखाई देने लगे है। लेकिन मध्ययुग से आधुनिक युग में छलॉग मारना आसान काम नही है, और सबसे ज्यादा कठिनाई लोगो के खयालात बदलने में आती है।

यह नई तरक्की और तब्दीली बहुत-से अरबो को पसन्द नही आई; पश्चिम की न‌ गढ़ी हुई मशीने, उनके एंजिन और मोटरे और हवाई-जहाज उन्हे शैतान के आविष्कार मालूम हुए। उन्होंने इन नई बातों का विरोध किया, और १९२९ में उन्होंने इब्न सऊद के खिलाफ बगावत भी करदी। इब्नसऊद ने उन्हे चतुराई और दलीलो से अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की, और कइयों को मिलाने में कामयाब भी हुआ। कुछ लोगों ने बगावत जारी रक्खी और इब्नसऊद के जरिये पस्त कर दिये गये।

इसके बाद इब्नसऊद के सामने एक दिक्कत और आई, लेकिन यह दिक्कत तो सारी दुनिया के ही सामने आई थी। १९३० से सभी जगह व्यापार में भारी मन्दी आगई है। पश्चिम के बडे-बडे औद्योगिक देशो ने इसको सबसे ज्यादा महसूस किया है, और इसके बढ़ते हुए जाल से निकलने के लिए अब भी पैर पीट रहे हैं। संसार के व्यापार से अरब का कोई वास्ता नहीं है, लेकिन वहाँ मन्दी का अनुभव दूसरी तरह से हुआ। इब्नसऊद की आमदनी का खास ज़रिया हर साल मक्का आनेवाले यात्रियों की तादाद थी। विदेशो से हर साल क़रीब एक लाख यात्री मक्का आया करते थे। १९३० मे यह तादाद घटकर चालीस हज़ार रह गई, और घटती अब भी जारी है। इसका नतीजा यह हुआ कि राज्य की आर्थिक व्यवस्था बिलकुल उलट-पुलट होगई, और अरब के कई हिस्सो में बडी ही दुर्दशा पैदा होगई। कहा जाता है कि कई प्रदेशों की हालत तो इतनी बुरी है कि तुर्की हुकूमत के ख़राब-से-ख़राब ज़माने में भी वैसी नही हुई थी। रुपये की कमी से इब्नसऊद का हाथ तंग होगया और उसकी कई सुधार-योजनायें बन्द होगई। वह विदेशियो को उद्योग और व्यापार-सम्बन्धी सुविधायें नही देना चाहता था, क्योंकि उसका यह अन्देशा सही था कि अगर विदेशी लोग देश के औद्योगिक साधनो को काम में लायेंगे तो उससे विदेशी असर बढ़ेगा, और फिर इससे विदेशी दस्तन्दाज़ी होगी और अपनी आज़ादी में कमी आयगी। उसका अन्देशा बिल-कुल ठीक था, क्योंकि ज्यादातर जिन तकलीफो को औपनिवेशिक और गुलाम देशों ने बर्दाश्त किया है वे विदेशी उद्योग-विस्तार से ही पैदा हुई हैं। इब्न सऊद ने कुछ तरक्की और खुशहाली होने लेकिन आज़ादी के मिटने की बनिस्बत आज़ादी को ज्यादा पसन्द किया।

फिर भी मन्दी की मजबूरी से इब्नसऊद को अपनी नीति में थोडा सुधार करना पड़ा है, और अब वह विदेशियो को कुछ सहूलियते देने को तैयार है। लेकिन इस स्थिति में भी वह अपनी आज़ादी को महफूज़ रखने का खयाल रखता है, और इसके लिए शर्ते तय करदी गई है। इस तरह पहली सहूलियत जद्दाह बन्दरगाह और मक्का के बीच रेल बनाने के लिए एक हिन्दुस्तानी मुस्लिम पूंजीपति दल को दी ग

वाली है। अरब मे यह रेल एक बडी भारी चीज होगी, क्योकि इससे वार्षिक यात्राओ मे क्रान्ति होजायगी। इससे सिर्फ यात्रियो को ही फायदा न पहुँचेगा, बल्कि अरब लोगो के दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने में भी मदद मिलेगी। उम्मीद है कि रेल दो साल में यानी १९३५ की वसन्त ऋतु से चलने लगेगी।

किसी पिछले खत मे मैं लिख चुका हूँ कि अरब में एक रेलवे तो पहले से ही मौजूद है, जो हेजाज रेलवे कहलाती है और मदीना को सीरिया के अलप्पो नामक स्थान पर बगदाद रेलवे से जोड़ती है।

इस खत के शुरू के हिस्से में मैंने जिक्र किया है कि दक्षिण-पश्चिम में यमन का नाम 'अरेबिया फेलिक्स' था। वास्तव में यह नाम तो दक्षिणी अरब के एक बडे हिस्से को भी दिया गया था, जो करीब-करीब ईरान की खाडी तक फैला हुआ था। लेकिन इस प्रदेश के लिए यह नाम बिलकुल गैरमौजूँ है, क्योकि यह तो एक भद्दा-सा रेगिस्तान है। शायद पुराने जमाने में इसे लोग काफी तौर पर जानते नही थे और इसलिए यह गलती होगई। हालतक तो यह एक अज्ञात प्रदेश था, दुनिया की सतह पर की उन थोडी-सी जगहो में से एक था जिनकी नाप होकर नक़्शा भी नही बना है। सिर्फ तीन साल पहले, पहली मर्तबा, एक अंग्रेज अन्वेषणकारी ने इसको पार किया है।

: १६६ :

इराक़ और आसमान से बम-वर्षा

७ जून, १९३३

अब एक अरब देश और रहता है, जिसपर हमें विचार करना है। यह देश है इराक या मेसोपोटामिया—टाइग्रीस (दजला) और यूफ्रेटीज (फुरात) नदियो के बीच का सम्पन्न और उपजाऊ प्रदेश; पुराने किस्से-कहानियो, बगदाद, और हारूंनल-रशीद और अलिफ लैला की भूमि। यह ईरान और अरबी रेगिस्तान के बीच में स्थित है। दक्षिण में इसका खास बन्दरगाह बसरा है, जो कि ईरान की खाडी से कुछ दूर नदी के ऊपर है। उत्तर में यह तुर्की की हद से लगा हुआ है। इराक और तुर्की दोनो कुर्दिस्तान में आ मिले है, जहाँ कि कुर्द जाति बसती है। अधिकांश कुर्द लोग तो अब तुर्की में है, और मै तुम्हे पहले बता चुका हूँ कि वे तुर्की से अपनी आजादी के लिए लडे थे। लेकिन ईरान में भी कुछ कुर्द लोग है और उनका वहाँ भी एक छोटी तादादवाला पर महत्वपूर्ण समाज है। मोसल, जिसकी बाबत बहुत अर्से तक तुर्की

और इंग्लैण्ड में झगड़ा चलता रहा था, अब इराक के इस उत्तरी कुर्दिश प्रदेश में ही है। इसका अर्थ है कि वह अंग्रेजो के नियन्त्रण मे है। मोसल के नजदीक ही असीरियनों के प्राचीन नगर निनेव के खंडहर है।

इराक उन देशो में से एक था जिनके लिए इंग्लैण्ड को राष्ट्र-सघ से 'मैण्डेट' मिला था। 'मैण्डेट' का अर्थ राष्ट्र-संघ की पवित्र भाषा में है: राष्ट्र-संघ की तरफ से सभ्यता की 'पवित्र धरोहर' (ट्रस्ट)। मूल उद्देश्य यह था कि 'मैण्डेट' वाले देशों के बाशिन्दे अभी इतने बढ़े हुए नही है, या इस लायक नही है, कि वे अपने हितो को खुद सम्हाल सकें, इसलिए बडी शक्तियाँ इस काम में उनको मदद दें। शायद इसकी मिसाल यह होसकेगी कि कुछ गायो या हिरनो के हितो की हिफाजत के लिए किसी शेर को मुकर्रर किया जाय। यह मान लिया गया था कि ये 'मैण्डेट' वहाँके निवासियो के कहने से दिये गये है। पश्चिमी एशिया में तुर्की हुकूमत से आजाद किये हुए मुल्को के मैण्डेट इंग्लैण्ड और फ्रान्स के हिस्से में आये। जैसा कि मै पहले ही बता चुका हूँ, इन दोनो देशो की सरकारो ने ऐलान किया कि उनका एकमात्र यही उद्देश्य है कि "वहाँकी जातियो को मुकम्मल और यकीनी तौर पर सभ्य बनाना' और वहाँ ऐसी राष्ट्रीय सरकारे और व्यवस्थापक-मण्डल कायम करना जिनकी हस्ती वहाँ के असली बाशिन्दो की अपनी इच्छा और पसन्द पर मुनहसर या निर्भर हो।" इस उच्च उद्देश्य को हासिल करने के लिए पिछले बारह वर्षो में जो-जो काम किये गये वे हम सीरिया, फिलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन के विषय में मुख्तसर तौर पर देख ही चुके है। वहाँ बार-बार गड़बडी हुई, असहयोग हुआ और बहिष्कार हुआ। उस वक्त लोगों की प्रेरणा और बिना किसी दबाव की उनकी पसंदगी को बढावा देने के लिए उन्हें गोलियो से मारा गया, उनके नेताओ को सजायें दी गई और जलावतन किया गया, उनके अखबारो का दमन किया गया, उनके शहरो और गांवो को बर्बाद किया गया और अक्सर फौजी कानून तक जारी किया गया। इन घटनाओ में नई बात कोई नहीं है। इतिहास के बिलकुल शुरू से ही साम्राज्यवादी शक्तियां जबरदस्ती से काम लेतीं और विनाश और आतंक फैलाती रही हैं। नये ढग के साम्राज्यवाद में नई बात यह है कि वह अपने आतक और लूट को 'ट्रस्टीशिप', 'जनता का हित', 'पिछडी हुई जातियों को स्वायत्त-शासन की तालीम देना' वगैरा बडे-बडे जुमलो के परदे में छिपाने की कोशिश करता है। वे लोगो पर गोली चलाते है, मारते है और बर्बादी करते हैं— सिर्फ उन्हीं मरनेवाले लोगो की भलाई के लिए! यह पाखण्ड शायद तरक्की की निशानी हो, क्योंकि भलाई के लिए पाखण्ड करना ही पडता है, और इससे जाहिर होता है कि सचाई पसन्द नहीं की जाती और इसलिए उसे इन पसन्द आनेवाले और बहलाने

वाले वाक्यो मे ढक दिया जाता है, और इस तरह उसे छिपा दिया जाता है। लेकिन कभी-कभी यह साधुता-प्रदर्शक पाखण्ड नगी सचाई से बहुत बुरा लगता है

अब हम इस बात पर गौर करते है कि इराक में लोगो की इच्छाओ पर किस तरह अमल किया गया, और ब्रिटिश मैण्डेट में यह देश किस तरह आजादी की तरफ़ ढता चला गया। महायुद्ध के दौरान में अंग्रेजो ने इराक को—या, जिस नाम से वह स वक्त मशहूर था, मेसपॉट को—तुर्की के ख़िलाफ़ अपनी कारगुजारियों का खास [काम बना लिया था। उन्होने इस देश में अग्रेजी और हिन्दुस्तानी फौजो की भर- ार करदी थी। उन्हे १९१६ में एक बडी शिकस्त मिली, जबकि कुतलअमारा में ानरल टाउनशेण्ड की मातहती में एक ब्रिटिश फौज को तुर्की के सामने हार खानी ौर शरण लेनी पडी। सारे मेसोपोटामियन युद्ध में भयकर फ़िज़ूलखर्ची और बद- ‍न्तजामी रही, और चूंकि भारत-सरकार इसके लिए ज्यादातर जिम्मेदार थी इसलिए ‍से अपनी नालायकी और बेवकूफी के बारे में बहुत सख्त बाते बर्दाश्त करनी पडीं। फर भी, अखीर में अंग्रेजो के बढ़े हुए साधनो का नतीजा निकला ही और उन्होने ‍ुर्की को उत्तर में खदेड़ दिया और बाद में वे करीब-करीब मोसल तक जा पहुँचे। ‍हायुद्ध के अखीर में सारा इराक अग्रेजो के फौजी कब्जे में था।

इंग्लैण्ड को इराक का मैण्डेट मिलने का पहला असर १९२० के शुरू में जाहिर ‍ुआ। इसके खिलाफ जबरदस्त विरोध किया गया, जो बढते-बढ़ते दगे-फसाद की शक्ल ‍ें जाहिर हुआ, और दंगो ने बगावत की शक्ल इख्तियार करली, जोकि सारे देश में ‍ैल गई। यह एक अजीब और मजेदार बात है कि १९२० के इस पहले आधे हिस्से ‍ें करीब-करीब एकसाथ ही तुर्की, मिस्र, सीरिया, फिलस्तीन, इराक और ईरान में ‍ड़बडी हुई थी। हिन्दुस्तान में भी उन्हीं दिनो असहयोग की चर्चा थी। इराक की ‍गावत को अन्त में, खासकर हिन्दुस्तान की फौज की मदद से, दबा दिया गया। ‍हुत अर्से से हिन्दुस्तान की फौजो का यह काम रहा है कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का ‍न्दा काम किया करती है, और इस कारण मध्य-पूर्व और दूसरे मुल्को में हमारे देश ‍ी काफी बदनामी होगई है।

अंग्रेजो ने इराक की बगावत को कुछ तो जोर-जबरदस्ती से और कुछ भविष्य में आजादी देने के वादो से दबा दिया। उन्होंने अरब मन्त्रियो की एक अस्थायी सर- कार कायम की, लेकिन हर मन्त्री के साथ एक अंग्रेज सलाहकार था जोकि असली ताकत रखता था। मगर ये फालतू और नामजद मन्त्री भी इतने तेज थे कि अंग्रेजो को पसन्द न आये। अंग्रेजो की योजना यह थी कि इराक बिलकुल उनके हुक्म के

मुताबिक अमल करे, पर कुछ मन्त्रियो ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इसलिए अप्रैल १९२१ मे अंग्रेजों ने मुख्य मंत्री सैयद तालिवशाह को, जो कि उनमें सबसे ज्यादा लायक था, गिरफ्तार करके जलावतन कर दिया, और इस तरह मुल्क को आजादी के वास्ते तैयार करने के लिए यह दूसरा क़दम उठाया गया। १९२१ की गर्मियों में अंग्रेज हेजाज के शाह हुसैन के लड़के फैज़ल को ले आये, और उसे इराक़ियों के सामनें उनके भावी वादशाह के रूप में पेश किया गया। तुम्हे याद होगा कि उन दिनो फ़ैज़ल बेकार था, क्योकि उसकी सीरिया वाली कारगुजारी फ़्रान्सीसी हमले के आगे असफल हो चुकी थी। वह अंग्रेजो का एक अच्छा दोस्त था, और उसने महायुद्ध में तुर्की के खिलाफ उठनेवाले अरव विद्रोह में सवसे ज्यादा हिस्सा लिया था। इसलिए यह मुमकिन था कि स्थानीय मन्त्री अंग्रेजो की योजनाओ के जितने मुआफ़िक हो पाये थे, उससे वह ज्यादा मुआफिक होता। 'प्रतिष्ठित' लोगो यानी मध्य दर्जे के मालदार लोगो और दूसरे प्रमुख व्यक्तियो ने इस शर्त पर फैज़ल को अपना वादशाह वना लेना मंजूर कर लिया कि हुकूमत वैधानिक हो और उसके साथ प्रजातन्त्रवादी पार्लमेण्ट हो। उनके हाथ में कुछ था तो नहीं, लेकिन चाहते थे कि एक सच्ची पार्लमेण्ट वनें, और चूँकि फ़ैज़ल वादशाह वनने ही वाला था इसलिए उन्होने पार्लमेन्ट वनने की यह एक शर्त रखदी। आम तौर पर लोगो की राय नहीं ली गई। इस तरह अगस्त १९२१ में फ़ैज़ल वादशाह वन गया।

लेकिन इससे समस्या हल नही होती थी, क्योकि इराकी लोग ब्रिटिश मैण्डेट के वहुत खिलाफ थे और मुकम्मल आजादी हासिल करके दूसरे अरव देशो के साथ मिल जाना चाहते थे। आन्दोलन और प्रदर्शन जारी रहे, और एक साल वाद अगस्त १९२२ में मामला वहुत ज्यादा वढ़ गया। तव अंग्रेज अधिकारियो ने इराकियो को आजादी का एक सवक और पढाया। ब्रिटिश हाइकमिश्नर सर पर्सी काक्स ने वादशाह की (जो उस समय वीमार था) मन्त्रि-मण्डल की, और इराक को जिस तरह की भी कौंसिल दी गई थी उस सवकी सत्ता का ख़ात्मा कर दिया, और शासन के पूरे अख्तियारात खुद ले लिये। दरहकीकत, वह खुद-मुख्तार डिक्टेटर वन गया, और उसने जैसा मन में आया वैसा जवरदस्ती किया और गड़वडी को अंग्रेजी फौज और ख़ासकर ब्रिटिश हवाई फौज की मदद से दवा दिया। वही पुराना किस्सा जो कि थोड़े-थोड़े फर्क से हिन्दुस्तान, मिस्र, सीरिया वगैरा में हुआ, यहां भी दोहराया गया। राष्ट्रीय अखवार रोक दिये गये, पार्टियां तोड़ दी गईं, नेता जलावतन कर दिये गये और अंग्रेजी हवाई जहाजो ने वमों के ज़रिये ब्रिटिश साम्राज्य की ताक़त को ज़ाहिर कर दिया।

लेकिन फिर भी इससे समस्या का हल न हुआ। कुछ महीनो के बाद सर पर्सी काक्स ने बादशाह और मन्त्रि-मंडल को फिर काम करने का जाहिरा मौका दिया, और इन लोगो से ब्रिटेन के साथ एक सुलह मजूर करवाली। फिर आश्वासन दिये गये कि इग्लैण्ड इराक को आजादी हासिल करने में मदद देगा और राष्ट्र-सघ का मेम्बर भी बनवा देगा। इन सुन्दर और तसल्ली देनेवाले वादो के परदे में यह ठोस वाकया छिपा हुआ था कि इराक-सरकार को इस बात के लिए राजी कर लिया गया कि वह अग्रेज अफसरो या अग्रेजो के पसन्द किये हुए अफसरो की मदद से हुकूमत को चलावे। अक्तूबर १९२२ की इस सुलह की, जो कि लोगो की इच्छा के खिलाफ हुई, जनता ने निन्दा की। जनता ने कहा कि अरब मन्त्रिमण्डल तो एक धोखा है, और असली ताकत फिर भी अग्रेज अफसरो के हाथो में है। नेताओ ने नेशनल कान्स्टीटच्युएण्ट एसेम्बली का, जो कि भावी विधान तैयार करने के लिए बुलाई गई थी, बहिष्कार करने का फैसला किया। यह असहयोग कामयाब हुआ और असेम्बली की बैठक न हो सकी। टैक्स वसूल करने में भी बडी गड़बडी और दिक्कते पैदा हो गई।

एक वर्ष से भी ज्यादा अर्से तक, १९२३ के तमाम साल, ये झगडे चलते रहे। आखिरकार इराक के हक में कुछ तब्दीलियाँ सन्धि में करदी गई और आन्दोलन खड़ा करनेवाले खास नेताओ को जलावतन कर दिया गया। फलत आन्दोलन धीमा पड़ गया, और १९२४ के शुरू में कान्स्टीटच्युएण्ट एसेम्बली का चुनाव हो सका। इस एसेम्बली ने भी ब्रिटिश सुलहनामे का विरोध किया। इसपर अग्रेजो पर भारी दवाव डलवाया, और आखिरकार एक-तिहाई से कुछ ज्यादा मेम्बरो ने सन्धि पर मंजूरी दे दी; लेकिन बहुत-से सदस्य तो इस अधिवेशन में आये तक नही थे।

कान्स्टीटच्युएण्ट एसेम्बली ने इराक के लिए एक नया विधान तैयार किया। कागज पर लिखा हुआ तो वह अच्छा ही मालूम हुआ, क्योकि उसमें यह तय कर दिया गया कि इराक एक खुद-मुख्तार आजाद राज्य है जिसमें कि पुश्तैनी वैधानिक बादशाहत रहेगी और पार्लमेण्टरी ढंग का शासन होगा; लेकिन पार्लमेण्ट की दो मजलिसो में से एक को, यानी सिनेट की, नामजदगी बादशाह पर रक्खी गई। इस तरह बादशाह के हाथ में बडी ताकत रही, और बादशाह की पीठ पर थे अंग्रेज अफ़सर जो कि सभी महत्व-पूर्ण ओहदो पर कायम थे। यह विधान मार्च १९२५ से अमल में आया, और कुछ वर्षो तक नई पार्लमेण्ट काम करती रही, लेकिन मैण्डेट की मुख़ालिफत फिर भी जारी रही। अधिकांश समय तो लोगो का ध्यान मोसल के मामले में इंग्लैण्ड और तुर्की के झगडे पर लगा रहा, क्योकि इस प्रदेश का दावेदार इराक भी था। आख़िरकार जून १९२६ में इंग्लैण्ड, इराक और तुर्की के बीच एक सम्मिलित सन्धि होकर इस मामले

का फ़ैसला होगया। मोसल इराक़ को मिल गया, और चूँकि इराक़ खुद ब्रिटि[illegible] साम्राज्य की छाया में था इसलिए अंग्रेजों के स्वार्थ भी सुरक्षित रहे।

जून १९३० में, ब्रिटेन और इराक़ में एक और दोस्ताना सुलह हुई। इसके जरिये भी, अन्दरूनी और बाहरी मामलों में इराक़ की मुकम्मिल आज़ादी को तस्लीम किया गया। लेकिन शर्तें और रुकावटें ऐसी रक्खी गई जिनसे कि यह आज़ादी गुलामी में तब्दील हो जाती थी। मसलन हिन्दुस्तान को जानेवाले रास्तों की, जिसे सन्धि में 'जरूरी आमद-रफ्त' कहा गया है, हिफाजत के लिए इराक़ इंग्लैण्ड को हवाई-अड्डों के लिए जगह देगा। ब्रिटेन मोसल और दूसरी जगहों पर भी अपनी फ़ौजें रक्खेगा। इराक़ फ़ौजी तालीम के लिए सिर्फ़ अंग्रेज शिक्षक ही रख सकेगा और इराकी फौज में अंग्रेज अफ़सर सलाहकार की हैसियत से मुलाजिम रहेंगे। हथियार, गोला-बारूद, हवाई जहाज वगैरा सिर्फ़ इंग्लैण्ड से लिये जायँगे। युद्ध छिड़ने पर, दुश्मन से [illegible] तैयारियाँ करने के लिए, अंग्रेजों को देश में सब तरह के सुभीते कर दिये जायंगे। इस तरह मोसल के पास के मोर्चे से इंग्लैण्ड बड़ी आसानी से तुर्की, ईरान या आजरबैजान के सोवियट पर हमला कर सकता है।

इस सन्धि के बाद १९३१ में ब्रिटेन और इराक के बीच एक जुडीशियल सन्धि भी हुई, जिसके जरिये इराक ने एक अंग्रेज जुडीशियल सलाहकार (अपील की अदालत का अंग्रेज प्रेसीडेण्ट) और बग़दाद, बसरा, मोसल और दूसरी जगहों में अंग्रेज प्रेसीडेण्ट रखना मंजूर कर लिया।

इन शर्तों के अलावा भी मालूम होता है कि अंग्रेज अफ़सर और भी कई ऊँचे ओहदों पर हैं। नतीजा यह है कि यह 'आज़ाद' मुल्क दरहक़ीक़त इंग्लैण्ड का एक मातहत मुल्क बन गया है। १९३० की संधि, जिसके जरिये से यह सब हुआ है पच्चीस साल के लिए है।

१९२५ में नये विधान के मंजूर होने के बाद हालाँकि नई पार्लमेण्ट काम करने लगी, लेकिन लोग संतुष्ट नहीं थे और बाहरी प्रदेशों में कभी-कभी झगड़े होते थे। ऐसा खासकर कुर्दिश इलाके में होता था, जहाँ कि बार-बार अशान्ति खड़ी हो जाती थी, और जिसे ब्रिटिश हवाई फ़ौज ने बम-वर्षा और सारे गाँव की तबाही की कारगुजारियों के जरिये दबा दिया। १९३० की संधि के बाद इराक़ के ब्रिटि[illegible] सरपरस्ती में राष्ट्र-संघ में शामिल किये जाने का सवाल खड़ा हुआ। लेकिन देश में तो शान्ति नहीं थी, और झगड़े होते ही रहते थे। इससे न तो मैण्डेटरी-शक्ति इंग्लैण्ड की नेकनामी होती थी, और न बादशाह फ़ैसल की हुकूमत की ही नामवरी होती थी क्योंकि बग़ावतों से काफ़ी सबूत मिलता था कि अंग्रेजों द्वारा जबरदस्ती लादी हु[illegible]

सरकार से लोग सतुष्ट नही है। यह बहुत ही अवाञ्छनीय समझा गया कि राष्ट्र-सघ के सामने ये बाते आवे, इसलिए इन झगडो को बल और आतक से खत्म कर देने की खास कोशिश की गई। इस काम के लिए अग्रेजी हवाई फौज का इस्तैमाल किया गया। शान्ति और व्यवस्था कायम करने की उसकी कोशिश का नतीजा किसी हदतक एक मशहूर अग्रेज अफसर के बयान से समझा जा सकता है। ८ जून १९३२ को, लदन में रायल एशियन सोसायटी की सालगिरह के जलसे पर व्याख्यान देते हुए लेफ्टिनेण्ट कर्नल सर आरनल्ड विल्सन ने जिक्र किया है कि किस तरह --

> "आर० ए० एफ० यानी रायल एयर फोर्स ने (जेनेवा की घोषणाओ के विरुद्ध भी) पिछले दस सालो मे, और खासकर पिछले छ महीनो मे, कुर्दिश जनता पर निरन्तर बम-वर्षा की है। बरबाद किये हुए गाँव, मरे हुए पशु, अग-भग की हुई स्त्रियाँ और बच्चे, 'टाइम्स' के विशेष सवाद-दाता के शब्दो मे, ये सब इसके सुबूत है कि सभ्यता का एक ही साँचा सब जगह फैला हुआ है।"

यह जानकर कि गाँव के लोग हवाई जहाज को आता देखकर अक्सर भाग जाते है और इतने विनोद-प्रिय नही हैं कि बमो द्वारा मारे जाने तक ठहरे रहे, एक नये किस्म का बम भी, जिसे कुछ देर बाद फूटनेवाला बम कहते हैं, इस्तेमाल किया गया। यह गिरते ही फूटता न था बल्कि इस तरह बनाया गया था कि कुछ वक्त बाद फूटा करता था। यह राक्षसी युक्ति इसलिए की गई कि गाँववाले हवाई जहाजो के जाने के बाद फिर अपनी झोपड़ियो में लौट आयें और फिर बमो के फटने से घायल हो जायँ। जो मर जाते थे वे तो खुश-किस्मत थे, लेकिन जिनके अंग-भंग हो जाते थे, जिनके हाथ पैर टूट जाते थे, या जिन्हे और किसी जगह सख्त चोटें लगती थीं, वे बहुत ज्यादा बद-किमत थे, क्योकि उन दूर के देहातो में कोई भी डाक्टरी मदद नहीं मिल सकती थी।

इस तरह शान्ति और व्यवस्था फिर कायम होगई, और इराक़ की सरकार ने राष्ट्र-सघ के सामने ब्रिटिश सरपरस्ती में अपनेआपको पेश किया और उसे मेम्बर बना लिया गया। यह बिलकुल ठीक ही कहा गया है कि 'बम मार-मार कर' इराक को राष्ट्र-सघ में दाखिल कर दिया गया।

इराक़ के राष्ट्र-सघ का सदस्य बन जाने पर ब्रिटिश मैण्डेट खत्म होगया। उसकी जगह अब १९३० की संधि आगई, जिससे कि राज्य पर अंग्रेजो का अमली दबाव कायम होगया है। इस स्थिति से असन्तोष अब भी जारी है, क्योकि इराक़ के लोग पूरी आजादी और अरब राष्ट्रो की एकता चाहते हैं। राष्ट्र-संघ की मेम्बरी में उनकी कोई बडी दिलचस्पी नहीं है, क्योकि पूर्व की अधिकाश दूसरी कौमो की तरह

वे समझते हैं कि राष्ट्र-संघ तो बडी-बडी यूरोपियन शक्तियो के हाथ में एक हथियार है जिससे वे अपने औपनिवेशिक या दूसरे स्वार्थ सिद्ध करती रहती है।

अधिक अमली आज़ादी की माँग इतनी ज़बरदस्त है कि बादशाह फ़ैज़ल तक को उसपर अंग्रेजों के सामने ज़ोर देना पड़ा है। जिस समय मै यह ख़त लिख रहा हूँ, अखबारों में यह खबर छपी है कि वह कुछ ही दिनो में सरकारी काम से इंग्लैण्ड जा रहा है। मुमकिन है कि इराक़ और इंग्लैण्ड के ताल्लुकात के सवाल पर फिर से बहस हो और इराक कुछ छोटे-मोटे फ़ायदे हासिल कर सके। जबतक कि फ़ौजी और ख़ास मोर्चेबन्दी सम्बन्धी नियन्त्रण इंग्लैण्ड के हाथ में रहते हैं तबतक वह महत्वशून्य छोटे-छोटे मामलो में झुक भी सकता है, ताकि वह उदार-हृदय मालूम हो सके और शायद उससे दूसरे पक्ष की सद्भावना भी हासिल कर सके। जब अगला महायुद्ध आयगा, तो इराक़ सम्भवतः एक महत्वपूर्ण केन्द्र बनेगा।

अब हम अरब राष्ट्रो पर सरसरी नज़र डाल चुके हैं। तुमने देखा होगा कि महायुद्ध के बाद ये सब हिन्दुस्तान और पूर्व के दूसरे देशो की तरह राष्ट्रीयता की लहरों से ज़ोरो के साथ हिल उठे थे। मानो बिजली की एक लहर इन सब में एक-साथ दौड़ गई हो। दूसरी उल्लेखनीय बात है सबका एक ही तरह के उपाय काम में लाना। इन में से कई देशो में बगावते और हिंसात्मक विद्रोह हुए, लेकिन वे असहयोग और बहिष्कार की नीति की तरफ ही ज्यादा झुकते गये। इसमें शक नहीं कि मुकाबिला करने के इस उपाय का रिवाज पहलेपहल १९२० में हिन्दुस्तान ने ही डाला था, जबकि कॉग्रेस ने बापू का नेतृत्व ग्रहण किया। मेरा यह मतलब नही कि ये दूसरे देश बापू की उसके पक्ष में दी हुई मुख्य दलीलो को भी मानते थे। लेकिन फिर भी असहयोग और कौन्सिलो के बहिष्कार का खयाल हिन्दुस्तान से ही पूर्व के दूसरे देशो में फैला है, और यह उपाय आज़ादी की लड़ाई में घर कर गया है और उसपर अक्सर अमल होता है।

साम्राज्यवादी नियन्त्रण अमल में लाते वक्त इंग्लैण्ड और फ़्रान्स किस तरह परस्पर जुदा-जुदा उपायो को काम में लाते है, यह जानना बड़ा दिलचस्प है और इसपर मैं तुम्हारा ध्यान खींचना चाहता हूँ। इंग्लैण्ड अपने सभी मातहत मुल्कों में जागीरदारो, ज़मींदारो और सबसे अनुदार और पिछडे हुए वर्गों से मेल करने की कोशिश करता है। यह बात हिन्दुस्तान में, मिस्र में और दूसरी जगहो में देखी गई है। वह अपने मातहत देशो में डगमगाती हुई राजगद्दियां पैदा कर देता है, उनपर प्रगति-विरोधी शासको को बिठा देता है, और अच्छी तरह जानता है कि वे उसका समर्थन करेगे। उसने मिस्र में फ़ुआद, इराक़ में फ़ैज़ल, ट्रान्स-जोर्डन में अब्दुल्ला को

गद्दी पर बिठाया, और हेजाज में भी हुसेन को गद्दी पर बैठाने की कोशिश की। दूसरी तरफ फ्रांस चूँकि खुद एक नमूनेदार मध्यमवर्गीय देश है, इसलिए वह अपने मातहत देशो के कुछ मध्यमवर्गीय भागो, उठते हुए व्यापारी वर्गो, द्वारा समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करता है। मसलन, सीरिया में उसने ईसाई मध्यमवर्गो का समर्थन प्राप्त करना चाहा था। इग्लैण्ड और फ्रान्स दोनो ही अपने सब मातहत देशो में अपना विरोध करनेवाली राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए उसे टुकडे-टुकडे करने, फूट डालने, अल्पसख्यक, जातीय और मजहबी सवालो को पैदा करने की नीति का सहारा लेते है। लेकिन सारे पूर्वी देशो में राष्ट्रीयता इन सब भेद-भावो को धीरे-धीरे पार कर रही है, और इस कार्य में वह 'मध्य-पूर्व' के अरब देशो में ही शायद सबसे ज्यादा कामयाब हुई है, जहाँ कि मजहबी फिरके अब राष्ट्रीयता के आदर्श के सामने कमजोर पड़ते जा रहे है।

मैने ऊपर तुम्हे बताया है कि इराक में ब्रिटिश आर० ए० एफ० (रायल एयर फोर्स) से किस तरह काम लिया गया। पिछले दस-बारह साल से ब्रिटिश सरकार की यह निश्चित नीति हो गई है कि वह अपने नाम के आजाद पर असल में आधे-मातहत देशो में जिसे 'पुलिस-कार्य' कहा जाता है, वह करने के लिए हवाईजहाजो का इस्तेमाल करने लगी है। यह ख़ासकर वही किया जाता है जहाँ किसी हद तक स्वायत्त शासन दिया जाता है, और शासक-मण्डल ज्यादातर उसी देश का होता है। इन देशो में अब कब्जा जमानेवाली सेनायें नही रक्खी जाती, या उन्हे बहुत कम कर दिया गया है। इसके कई फायदे है। बहुत-सा रुपया बच जाता है, और उस देश पर फौजी कब्जा जाहिरा कम दिखाई देता है। साथ ही हवाईजहाजो और बमो के द्वारा स्थिति पर उनका पूरा काबू रहता है। इस तरह मातहत इलाको में हवाई जहाजो से बम-वर्षा का उपयोग बहुत बढ गया है, और दूसरी ताकतो की बनिस्बत शायद अंग्रेज ही इस उपाय को ज्यादा काम में लाते है। मैने इराक़ का हाल तो बता ही दिया। यही कहानी हिन्दुस्तान की उत्तर-पश्चिमी सरहद के बारे में भी दोहराई जा सकती है, जहाँ कि हवाई बम-वर्षा अक्सर होनेवाली बात होगई है।

मुमकिन है, फौज भेजने के पुराने तरीके की बनिस्बत यह तरीक़ा ज्यादा सस्ता और ज्यादा कारगर हो। लेकिन यह बहुत ही बेरहम और भयंकर तरीक़ा है। असल में पूरे-पूरे गाँवो पर बम बरसाना, ख़ासकर देर से फूटनेवाले बम बरसाना और गुनहगारो और बेगुनाहो को एक-साथ मार डालने से ज्यादा घृणित और जंगली काम की कल्पना करना भी मुश्किल है। इस तरीके से दूसरे देश पर हमला करना भी बड़ा आसान हो जाता है। इसलिए इसके ख़िलाफ खूब चीख़-पुकार उठी

है, और जिनेवा में राष्ट्र-संघ में निरस्त्र जनता पर हवाई हमला करने के खिलाफ बड़े-बड़े भाषण दिये जाते हैं। पिछले साल (जुलाई १९३२ में) राष्ट्र-संघ की या राष्ट्र-संघ की निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स की मीटिंग में अंग्रेज प्रतिनिधि सर जान साइमन भी इस आम मुखालिफ़त में शामिल होगये थे, और उन्होंने कहा था कि यह 'बिलकुल पूरी तरह से' बन्द कर दिया जाना चाहिए। लेकिन ताज्जुब है कि जो प्रस्ताव पास हुआ उसमें 'देशी गाँवों' पर बम बरसाने की छूट करदी गई !

सिर्फ़ एक हफ़्ता पहले (२९ मई १९३३ को) जिनेवा में निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स में इस मामले पर फिर बहस हुई, और रूटर के एक तार में लिखा है कि "जब अंग्रेजों ने तजवीज की कि मातहत देशों में सिर्फ पुलिस-कार्य के लिए ही हवाई-जहाज का इस्तेमाल किया जाय,........तो इस पर बडी भारी मुखालफत हुई।" मालूम होता है कि दूसरे सब देशों ने, जिनमें यूनाइटेड स्टेट्स भी शामिल हैं, हवाई बम-वर्षा को बिलकुल बन्द कर देने पर जोर दिया। लेकिन ब्रिटिश सरकार मानने से इन्कार कर देती है और इस मामले पर निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स के टूट जाने की नौबत लाने को भी तैयार है। इस बात पर ब्रिटेन सारी दुनिया के खिलाफ है। लेकिन इसमें शक नहीं कि किसी-न-किसी दूसरी साम्राज्यवादी शक्ति का गुप्त समर्थन उसे प्राप्त है।

: १७० :

अफ़ग़ानिस्तान और एशिया के कुछ अन्य देश

८ जून, १९३३

इराक के पूर्व में ईरान या फारस है, और ईरान के पूर्व में अफगानिस्तान है। ईरान और अफगानिस्तान दोनों ही हिन्दुस्तान के पडोसी हैं, क्योंकि ईरानी सरहद हिन्दुस्तान से बलोचिस्तान में कईसौ मील तक मिली हुई है, और अफगानिस्तान और हिन्दुस्तान की सरहद भी बलोचिस्तान की बिलकुल पश्चिमी नोक से हिन्दूकुश के उत्तरी पर्वत तक, जहांतक कि हिन्दुस्तान अपने बर्फ से ढके हुए मस्तक को मध्य-एशिया की छाती पर रक्खे हुए है और सोवियट के मुल्कों की तरफ झांक रहा है, करीब एक हजार मील तक साथ-साथ चली गई है। ये तीनों देश पडोसी ही नहीं हैं। बल्कि इनकी नस्ल भी एक ही है, क्योंकि इन सब में प्राचीन आर्य नस्ल की ही प्रधानता है। और सल्तनत की दृष्टि से भी, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, पिछले जमाने में इन सबमें एकसी बातें थीं। अभी हालतक उत्तरी हिन्दुस्तान में आलिमों की जबान फारसी ही थी, और

अब भी वह खासकर मुसलमानो मे लोकप्रिय है। अफगानिस्तान में आज भी फारसी ही सरकारी भाषा है, हालाँकि अफ़गानिस्तान की आम जबान पश्तो है।

ईरान के बारे में अपने पिछले खतो में जितना लिख चुका हूँ उससे ज्यादा लिखना नही चाहता। लेकिन अफग़ानिस्तान में हाल में जो घटनायें हुई है उनका कुछ जिक्र करना जरूरी है। अफ़गानिस्तान का इतिहास तो हिन्दुस्तान के इतिहास का करीब-करीब एक हिस्सा ही है। असल में बहुत अर्से तक अफगानिस्तान हिन्दुस्तान का ही एक भाग था। अलहदा होने के बाद, और खासकर पिछले सौ-सवासौ साल से, वह रूस और इग्लैण्ड इन दो बडे साम्राज्यो के बीच एक मध्यवर्ती राज्य बन गया है। रूसी साम्राज्य मिट चुका है, और उसकी जगह सोवियट यूनियन कायम होगया है, लेकिन अफ़गानिस्तान अब भी उसी तरह मध्यवर्ती स्थिति में है, जहाँ कि अंग्रेज और रूसी दोनो प्रधानता हासिल करने के लिए साजिश करते रहते है। उन्नीसवी सदी में इन साजिशो ने बढ़कर इंग्लैण्ड और अफ़गानिस्तान के बीच जंग की सूरत इख्तियार कर-ली थी, जिसमे अंग्रेजो को कई बार नुकसान उठाना पड़ा, लेकिन आखिरकार इंग्लैण्ड की प्रधानता कायम होगई। अफगानी राजघराने के कई आदमी अब भी नजरबन्द की तरह उत्तर हिन्दुस्तान में जगह-जगह रक्खे हुए है, और हमें इस बात की याद दिलाते है कि किस तरह इंग्लैण्ड अफगानिस्तान में दस्तंदाजी किया करता था। ऐसे अमीर जो अंग्रेजो के दोस्त थे, हुकूमत करने लगे और अफ़गानिस्तान की पर-राष्ट्रीय नीति निश्चित रूप से अंगेजो के दबाव में होगई। लेकिन ये अमीर कितना भी दोस्ताना बर्ताव रखते हो तो भी उनपर पूरा यकीन नहीं किया जा सकता था, और हर साल अग्रेज उन्हे खुश करने और अपने अधीन बनाये रखने के लिए बहुत-सा रुपया दिया करते थे। अमीर अब्दुर्रहमान इसी किस्म का आदमी था। इसकी लम्बी हुकूमत १९०१ में खत्म हुई। उसके बाद हबीबुल्ला अमीर हुआ, और वह भी अंग्रेजो से अच्छे ताल्लुक्कात रखता था।

अफ़गानिस्तान जो अंग्रेजो का मुहताज बन गया, उसकी एक वजह थी उसकी स्थिति। नक्शे से तुम देख सकोगी कि बलोचिस्तान के बीच में आनें से उसका समुद्र से ताल्लुक टूट गया है। कोई ऐसा मकान हो जिसमें आम सड़क पर पहुंचने के लिए किसी दूसरे की जमीन में से गुजरे बिना रास्ता न हो, तो वह कितनी तकलीफ़देह हालत होगी? ऐसी ही हालत अफ़गानिस्तान की है। बाहरी दुनिया तक पहुंचने का उसका सबसे आसान रास्ता हिन्दुस्तान में से था। उन दिनो हिन्दुस्तान के उत्तर में रूसी इलाके में आमद-रफ्त के कोई अच्छे साधन न थे। मेरा ख़याल है कि हाल में सोवियट सरकार ने रेल बनाकर और हवाई जहाज और मोटर-सरविसो को प्रोत्सा-

हित करके दोनो तरह से इन साधनो को उन्नत कर लिया है। इस तरह जब हिन्दुस्तान ही अफगानिस्तान के लिए दुनिया पर निगाह डालने की सिर्फ़ एक बाहरी खिडकी थी, तो ब्रिटिश सरकार कई तरीको से दबाव डालकर इसका फायदा उठा सकती थी। समुद्र तक पहुँचने की अफगानिस्तान की यह दिक्कत अब भी उस देश के सामने एक बड़ा सवाल है।

१९१९ के शुरू में अफ़गानी राज-दरबार के अन्दरूनी झगडे और षड्यत्र बाहर जाहिर होगये, और राजमहल में एक के बाद एक दो क्रान्तियाँ जल्दी-जल्दी होगई। मै ठीक नहीं जानता कि परदे की ओट में क्या-क्या घटनायें हुई, या इनके लिए कौन जिम्मेदार था। किसी ने पहले अमीर हबीबुल्ला का क़त्ल कर दिया, और उसके बाद उसका भाई नसरुल्ला अमीर हुआ। लेकिन बहुत जल्द ही नसरुल्ला हटा दिया गया और अमानुल्ला, जो कि हबीबुल्ला के छोटे लड़को में से एक था, अमीर बन गया। उसने इसके बाद ही मई १९१९ में हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दी। इसके लिए उस वक़्त तात्कालिक कारण क्या था, या किसने पहले झगड़ा शुरू किया, यह मुझे मालूम नही है। शायद अमानुल्ला को यह बुरा लगा कि वह किसी तरह भी अंग्रेजो के मातहत रहे। वह अपने देश की पूरी आजादी कायम करना चाहता था। शायद उसने यह भी समझा कि इसके लिए मौका भी अच्छा है। तुम्हे याद होगा कि उन्हीं दिनों पंजाब में फौजी कानून जारी था, हिन्दुस्तान में आम बेचैनी थी और खिलाफत के सवाल पर मुसलमानो में आन्दोलन बढ रहा था। कारण और प्रलोभन कुछ भी रहे हो, अफ़गानियो की अंग्रेजो से लड़ाई होगई। लेकिन यह लड़ाई बहुत थोडे अर्से तक चली, और बहुत कम हुई। फौजी ताकत में तो हिन्दुस्तान के अंग्रेज अमानुल्ला से बहुत ज्यादा मजबूत थे, लेकिन उनकी तबीयत लड़ाई की नहीं थी, और कुछ घटनायें होने पर ही उन्होने अफ़गानिस्तान से सुलह करली। नतीजा यह हुआ कि अफगानिस्तान पूरी तरह से आजाद मुल्क तस्लीम कर लिया गया, और विदेशो से अपने ताल्लुक़ात कायम करने में उसे पूरी आजादी मिल गई। इस तरह अमानुल्ला ने अपना मकसद हासिल कर लिया, और योरप और एशिया में उसकी इज्जत बहुत बढ गई। लाज़िमी तौर पर अंग्रेज उसे अच्छा नहीं समझते थे।

अपने देश में एक नई नीति जारी करने के कारण तो अमानुल्ला की तरफ लोगो का और भी ज्यादा ध्यान जाने लगा। यह नीति थी पश्चिमी ढंग के सुधार बड़ी तेजी से करना, जिसे अफ़गानिस्तान का पश्चिमीकरण कहते हैं। इस काम में उसकी पत्नी बेगम सुरैया ने उसे बड़ी मदद दी। उसकी कुछ तालीम योरप में हुई थी, और स्त्रियों का बुर्क़े में बन्द रहना उसे बड़ा खटकता था। इस तरह एक बहुत ही पिछ

हुए देश को थोडे-से वक्त में तब्दील कर देने, अफगानो को पुराने रास्ते से धक्का मारकर और खदेडकर नये रास्ते पर चलाने का आश्चर्यजनक कार्य शुरू होगया। स्पष्टत अमानुल्ला का आदर्श कमालपाशा ही था, और उसने कई बातो में—अफ़गानो को कोट, पेण्ट और यूरोपियन हैट पहनाने और दाढी साफ करवाने तक में—उसकी नकल करने की कोशिश की। लेकिन अमानुल्ला में मुस्तफा कमाल की-सी दृढता और योग्यता न थी। कमालपाशा ने अपने बडे-बडे सुधार करने से पहले अपने देश में और बाहर के देशो में अपनी ताकत बिलकुल महफूज़ और मज़बूत करली थी। उसके साथ एक ज़ोरदार और अच्छी फौज थी, और अपनी जनता में उसकी ज़बरदस्त इज्ज़त थी। अमानुल्ला इन सब बातो का ख़याल न करके आगे बढ़ गया। उसका काम ज्यादा मुश्किल भी था, क्योकि तुर्को की बनिस्बत अफ़गानी लोग ज्यादा पिछडे हुए थे।

लेकिन घटना हो जाने के बाद तो समझदारी आना आसान होता ही है। अमानुल्ला के उन शुरू के वर्षों में, वह सब बातो में कामयाब ही होता नज़र आता था। उसने कई अफगान लड़के और लड़कियो को तालीम हासिल करने के लिए योरप भिजवाया। अपने शासन में उसने कई सुधार शुरू किये और उसने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अपने पडोसियो और तुर्की के साथ सुलह करके मज़बूत करली। सोवियट रूस ने चीन से तुर्की तक सारे पूर्वी देशो के साथ उदार और दोस्ताना नीति जान-बूझकर इख्तियार कर रक्खी थी, और इस सोवियट दोस्ती और मदद की वजह से विदेशी दबाव से तुर्की और ईरान के छूटने में बडी मदद मिली थी। और जिस आसानी से अमानुल्ला ने १९१९ में इंग्लैण्ड के साथ अपने छोटे-से जंग में अपना मकसद हासिल कर लिया था, उसमें भी यही एक महत्वपूर्ण कारण रहा होगा। बाद के वर्षों में सोवियट रूस, तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान इन चार शक्तियो में बहुत-सी सन्धियाँ और सुलहनामे हुए। इन सबमें, या किसी तीन में, एकसाथ कोई सन्धि नहीं हुई। हर शक्ति ने दूसरी तीन शक्तियो से अपनी-अपनी जुदा, लेकिन करीब-करीब एक-सी, सन्धि की। इस तरह 'मध्य-पूर्व' में सन्धियो का एक जाल-सा खड़ा होगया, जिसने इन सब देशो को मज़बूत कर दिया। मैं नीचे इन सन्धियो की सिर्फ तारीख़वार फेहरिस्त दे देता हूँ :—

तुर्क-अफ़गान सन्धि	१९ फ़रवरी १९२१
सोवियट-तुर्की "	१७ दिसम्बर १९२५
तुर्की-ईरानी "	२२ अप्रैल १९२६
सोवियट-अफ़गान "	३१ अगस्त १९२६
सोवियट-ईरानी "	१ अक्तूबर १९२७
ईरानी-अफगानी "	२८ नवम्बर १९२७

ये सन्धियाँ सोवियट राजनीतिज्ञो की कामयाबी का सबूत थीं, और इनसे 'मध्य पूर्व' मे अंग्रेजो के प्रभाव को गहरा धक्का लगा। यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि ब्रिटिश सरकार ने इन्हे बहुत नापसन्द किया, और खासकर अमानुल्ला के सोवियट रूस की तरफ दोस्ती और झुकाव को तो उसने बहुत ज्यादा नापसन्द किया।

१९२८ के शुरू में अमानुल्ला और रानी सुरैया योरप का एक बडा दौरा करने के लिए अफगानिस्तान से रवाना हुए। वे योरप की कई राजधानियो में—रोम, पेरिस, लन्दन, मास्को—गये, और सब जगह उनका बड़ा स्वागत हुआ। ये सभी देश व्यापार और राजनैतिक उद्देश्यो के लिए अमानुल्ला की सद्भावना प्राप्त करने को उत्सुक थे। उसे कीमती तोहफे भी भेंट किये गये। लेकिन उसने बडी राजनैतिक होशियारी से काम लिया, और किसीसे कोई खास वादा नही किया। लौटते वक्त वह तुर्की और ईरान भी होता आया।

उसके लम्बे दौरे की तरफ बहुत लोगो का ध्यान गया। इससे अमानुल्ला की इज्जत बढ़ गई, और इससे दुनिया में अफगानिस्तान का महत्व भी बहुत बढ गया। लेकिन खुद अफगानिस्तान के अन्दर हाल अच्छा न था। एक ऐसे समय, जब कि पुराने तौर-तरीके और जिन्दगी को पलट देनेवाली बडी-बडी तब्दीलियाँ हो रही थी, उसके बीच मे अपने देश को छोड़ जाने में अमानुल्ला ने बडी भारी जोखिम उठाई थी। मुस्तफा कमाल ने यह जोखिम कभी नही उठाई। अमानुल्ला की लम्बी गैरहाजरी में सारे प्रगति-विरोधी लोग और शक्तियाँ, जो उसके खिलाफ थी, धीरे-धीरे सामने आगई। हर तरह की साजिश की गई और उसको बदनाम करने के लिए हर तरह की अफवाहे फैलाई गई। इस अमानुल्ला-विरोधी प्रचार के लिए, न जाने किस तरफ से, रुपये की बाढ़-सी आगई। मालूम होता है कि बहुत-से मुल्ला लोगो को इस काम के लिए रुपया दिया गया था और वे सारे देश में अमानुल्ला को काफिर, दीन का दुश्मन, घोषित करते फिरते थे। रानी सुरैया की अजीब-अजीब तस्वीरे, जिनमें वह यूरोपियन ढग की रात की पोशाक या और कोई लापरवाही में पहनी हुई पोशाक में नजर आती थी, हजारो की तादाद में देहातो में बाटी गई थी—यह दिखाने के लिए कि वह किस अनुचित प्रकार के कपडे पहनती है। इस व्यापक और खर्चीले प्रचार का करनेवाला कौन था? अफगानियो के पास तो न इतना रुपया था, और न इतनी तालीम थी। उनपर इसका खूब असर हो सकता था। मध्य-पूर्व और योरप में यह आम तौर पर माना जाता था और कहा जाता था कि इस प्रचार में ब्रिटिश खुफिया महकमे का हाथ था। ऐसी बातो का साबित होना मुश्किल होता है, और इस काम में अंग्रेजो का ताल्लुक बताने के लिए कोई खास सबूत नहीं मिलता, हालांकि यह बात

गया है कि अफगान बागियो के पास अंग्रेजी रायफले थी। लेकिन यह तो काफी जाहिर था कि अमानुल्ला को अफ़ग़ानिस्तान में कमज़ोर कर देने में इंग्लैण्ड की दिलचस्पी थी।

जिस वक्त अफगानिस्तान मे अमानुल्ला की जडें उखाडी जारही थी, उस वक़्त वह योरप की राजधानियो मे शानदार स्वागतो का आनन्द ले रहा था। वह अपने सुधारो के प्रति नया उत्साह लेकर नये विचारो से भरा हुआ और कमालपाशा से, जिससे वह अगोरा मे मिला था, और भी ज्यादा प्रभावित होकर अपने देश को लौटा। वह इन सुधारो को और भी आगे बढाने के लिए फौरन जुट पड़ा। उसने सरदारो के खिताबात बन्द कर दिये, और मजहबी मुखियो के इख्तियारात भी कम करने की कोशिश की। उसने शासन चलाने के लिए मन्त्रियो की एक कौंसिल बनाने की भी कोशिश की, और इस तरह से अपनी स्वेच्छातन्त्री शक्तियो को भी कम कर लिया। स्त्रियो की आज़ादी का काम भी धीरे-धीरे आगे बढ़ाया गया।

अचानक दबी हुई आग भड़क उठी, और १९२८ के ख़त्म होने के कुछ पहले बगावत चमकने लगी। एक मामूली भिश्ती बच्चा-ए-सक्का के नेतृत्व में विद्रोह फैला और १९२९ में वह कामयाब होगया। अमानुल्ला और उसकी बेगम भाग गये, और भिश्ती अमीर बन गया। पॉच महीने तक बच्चा-ए-सक्का काबुल में हुकूमत करता रहा; बाद में वह अमानुल्ला के एक सेनापति नादिरखां द्वारा हटा दिया गया। नादिरखॉ ने खुद अपनी तरकीब से काम लिया, और जब वह कामयाब होगया तो नादिरशाह के नाम से खुद ही शासक बन बैठा। पिछले साढ़े तीन साल से नादिरशाह ही अफगानिस्तान का बादशाह है, लेकिन इस दर्मियान और झगडे बराबर बने ही रहे, और अब भी बने है। जाहिर है कि वह अमानुल्ला की बनिस्बत इंग्लैण्ड से ज्यादा दोस्ताना ताल्लुक़ रखता है।

अफगानिस्तान में अब भी अमनो-अमान नही है, और साजिश की अफवाहे अक्सर आती ही रहती है। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योकि दो ताकतवर विरोधियो के बीच में मध्यवर्ती राज्य होने की सज़ा तो उस देश को भुगतनी ही चाहिए। इस वक्त अमानुल्ला और भूतपूर्व रानी सुरैया रोम में रह रहे है। दुनिया में भागे हुए राज-वंशो की भरमार होती जा रही है।

आज सुबह के अखबार की एक खबर से जाहिर होता है कि अफगानिस्तान में शान्ति नही है। दो दिन पहले, ६ जून १९३३ को, बर्लिन के अफगान राजदूत को, एक अफगान विद्यार्थी ने 'आज़ादी की ख़ातिर' का नारा लगाकर गोली से मार दिया। यह मत्री नादिरशाह का भाई था।

मैने अफ़ग़ानिस्तान का और पश्चिमी और दक्षिणी एशिया का भी पूरा बयान

कर दिया है। अब मैं एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की हाल की कुछ घटनाओं का थोड़ा हाल बयान करूँगा और फिर इस ख़त को ख़त्म कर दूँगा। इस हिस्से की बाबत मैं तुम्हे ज्यादा नहीं बता सकता, क्योंकि मुझे ख़ुद भी बहुत कम मालूम है।

बरमा के पूर्व में स्याम है, जो दुनिया के इस हिस्से में सिर्फ एक ही देश है जो अपनी आज़ादी को कायम रख सका है। वह एक तरफ़ ब्रिटिश बरमा और दूसरी तरफ़ फ्रेञ्च-इंडोचायना के बीच में जकड़ा हुआ है। इस देश में पुराने भारतीय स्मारक-चिन्हों की भरमार है, और उसकी परम्पराओं और संस्कृति और रीति-रिवाजों पर आज भी हिन्दुस्तान का असर दिखाई देता है। हाल तक वहाँ राजा का मनमाना शासन था, और समाज ज्यादातर सामन्तशाही की हालत में था। हाँ, साथ-ही-साथ छोटा-सा मध्यमवर्ग भी बढ़ रहा था। मेरे ख़याल से राजाओं का ख़िताब अक्सर राम होता था, जिस शब्द से कि हमें फिर हिन्दुस्तान की याद आने लगती है। इस तरह उनमें राम प्रथम, राम द्वितीय इत्यादि राजा हुए थे। महायुद्ध के ज़माने में स्याम मित्र-दल के साथ होगया, जबकि मित्र-दल की जीत साफ़ ज़ाहिर होने लगी थी, और बाद में वह राष्ट्र-संघ का भी सदस्य बन गया।

जून १९३२ में बैंकोक के, जोकि स्याम की राजधानी है, राजमहल में एक क्रान्ति हुई, और बताया गया कि कुछ नौजवान स्यामी अफ़सरों और दूसरे लोगों ने, जोकि एक शासन-विधान की माँग करते थे, राजा और उसके परिवार और मुख्य मन्त्रियों को गिरफ़्तार कर लिया है। राजा ने किसी तरह के एक शासन-विधान को, जिसमें उसके अख़्तियारात महदूद कर दिये गये थे, मान लिया और एक पीपल्स असेम्बली यानी जनता की कौंसिल कायम होगई। मुझे ठीक-ठीक मालूम नहीं है कि वहाँ क्या बातें हुईं, लेकिन मालूम होता है कि जिस तरह नौजवान तुर्कों और सुल्तान अब्दुलहमीद के मामले में अचानक फ़ौजी कार्रवाई की गई थी, इसी तरह की कोई अचानक फौजी कार्रवाई अमल में आई होगी। बेशक इस फौजी कार्रवाई के पीछे जनता की दुर्दशा छिपी हुई थी। फिर भी यह क्रान्ति जनता की आम उथल-पुथल नहीं मालूम हुई। राजा के जल्दी मान जाने से संकट-काल ख़त्म होगया। मालूम होता है कि राजा ने इस तब्दीली की मंजूरी दिल से नहीं दी थी। अप्रैल १९३३ में उस राजा प्रजाधिपक ने इस कारण से अचानक एसेम्बली तोड़ दी कि उसके कुछ सदस्य साम्यवाद की हिमायत कर रहे हैं। इतनी दूर से अधिक समाचार के अभाव में इस बाबत कोई भी फैसला करना मुश्किल है। फिर भी, मालूम होता है कि राजा किसी बहाने की तलाश में था, जिससे वह एसेम्बली को ख़त्म करदे और अपनी स्वेच्छाचारी शक्ति को फिर ग्रहण कर ले। शायद उसे ऐसी हर बात जो उसके अ-

यारात को महदूद करे, साम्यवाद से भरी हुई ही दिखाई देती हो। यह भी बिलकुल मुमकिन है कि स्याम मे किसी हद तक साम्यवाद फैल गया हो, जैसा कि वह चीन के कुछ हिस्सो मे काफी मजबूत है। लेकिन ज्यादा मुमकिन बात यह है कि स्याम में साम्यवादी रग लिये हुए मध्यवर्गीय राष्ट्रीयता पैदा होगई हो, और वहाँकी पुरानी सामन्ती समाज-व्यवस्था पर हमला कर रही हो। सबसे ताजी खबर यह है कि एक और 'शान्तिपूर्ण क्रान्ति' होगई है, और फौजी अफसरो के अगुआ-दल ने फिर जोर पकड़ लिया है, और एसेम्बली को फिर से कायम करने का आग्रह किया है।

स्याम के पूर्व फ्रेन्च इण्डो-चायना में भी राष्ट्रीयता फैली है, और उसकी ताकत बढती जा रही है। राष्ट्रवादी आन्दोलन को दबाने के लिए फ्रेन्च सरकार ने भी कई षड्यन्त्र के मुकदमे चलाये है और बहुत-से लोगो को लम्बी-लम्बी सजायें दी है। मार्च १९३३ में जिनेवा की एक नि शस्त्रीकरण कान्फरेस मे फ्रेन्च प्रतिनिधि मो० सारौत ने एक बडे भेद की बात कही थी। यह प्रतिनिधि खुद फ्रेन्च इण्डो-चायना का गवर्नर रह चुका था। उसने जिक्र किया कि "मातहत देशो में राष्ट्रीयता बढ़ रही है, और उनपर हुकूमत करना बहुत ज्यादा मुश्किल होता जा रहा है।" उसने फ्रेन्च इण्डो-चायना की मिसाल दी कि जब वह वहाँका गवर्नर था तो व्यवस्था कायम रखने के लिए सिर्फ १,५०० आदमी थे, लेकिन अब वहाँ १०,००० आदमियो की जरूरत होती है।

अखीर में डच ईस्ट-इंडीज के अन्तर्गत जावा का भी जिक्र कर देना मुनासिब होगा, जोकि अपनी शकर और रबर के लिए मशहूर है, और साथ ही कारखानेदारो के खेतो पर काम करनेवाले लोगो का बुरी तरह खून चूसने के लिए भी मशहूर है। राष्ट्रीयता की बढ़ती के साथ, हिन्दुस्तान की तरह, थोड़ा-सा राजनैतिक सुधार और और बहुत-सा दमन भी आया। १९२७ में डच सत्ता के खिलाफ बगावत होगई थी जो काफी बेरहमी के साथ दबा दी गई थी। डच सरकार उसे साम्यवादी बगावत बताती थी, हालाकि उसके सारे बयान से वह साम्यवादी की बनिस्बत कौमी ही ज्यादा मालूम होती थी। इसमें शक नहीं कि पूर्व के तमाम मुल्को में साम्यवाद भी बढ रहा है; लेकिन गिनती के खयाल से अब भी वह महत्व-शून्य है। उसकी ताकत इस बात में है कि उसकी तरफ लायक कुरबानी करनेवाले और तेज स्वभाव के नौजवान स्त्री और पुरुष खिचते है।

कुछ महीने पहले जावा के नजदीक के समुद्री हिस्से में एक अजीब घटना हुई। एक डच जंगी जहाज के नाविको ने वेतन-कटौती के विरोध में जहाज पर अपना क़ब्जा जमा लिया और उसे लेकर चल दिये। उन्होंने किसी चीज का नुकसान नहीं

किया, और यह भी साफ जाहिर कर दिया कि वे सिर्फ अपने वेतनो की वावत विरोध कर रहे है। वह एक तरह की उग्र हड़ताल थी। इसपर डच हवाई जहाजो ने इस जंगी जहाज पर बम बरसाये, कई नाविको को मार दिया, और इस तरह उस पर कब्जा पा लिया।

अव हम एशिया को छोड़ देते है, जहाँ कि राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद के बीच लगातार संघर्ष के वाद संघर्ष होते ही जाते है, और योरप पर आते है, क्योंकि योरप भी हमारा ध्यान खीच रहा है। हमने महायुद्ध के वाद के योरप पर विचार नहीं किया है, और तुम्हे याद रखना चाहिए कि अव भी योरप की परिस्थितियो में ही संसार की परिस्थितियो की चावी है। इसलिए हमारे अगले कुछ खत योरप के बारे में ही होगे।

एशिया के दो हिस्सो, दो वडे-वडे हिस्सो, पर गौर करना अभी वाकी है—एक तो चीन का प्रदेश, और दूसरा उत्तर में सोवियट प्रदेश। कुछ समय वाद हम उन पर फिर पहुँचेंगे।

: १७१ :

वह क्रान्ति जो होते-होते रह गई

१३ जून, १९३३

जी० के० चेस्टरटन ने, जो कि आजकल अंग्रेजी के एक मशहूर लेखक है, कहीं लिखा है कि इंग्लैंड में उन्नीसवीं सदी की सवसे वडी घटना वह क्रान्ति है जो कि नहीं हुई या होते-होते रह गई। तुम्हे याद होगा कि उन्नीसवीं सदी में कई मौको पर इंग्लैंड क्रान्ति के किनारे तक आगया था, यानी ऐसी सामाजिक क्रान्ति होने ही वाली थी जिसे निचले वर्ग के लोग ओर श्रमिक मिलकर करते। लेकिन हर वार आखरी वक्त पर शासकवर्ग झुक जाते थे, पार्लमेण्टरी ढांचे के ही अन्दर वोट का अधिकार बढ़ाकर ऊपरी तौर पर कुछ हिस्सा वांट देते थे, और वाहर की साम्राज्यवादी लूट के लाभों में से भी थोड़ा हिस्सा दे देते थे, और इस तरह आनेवाली क्रान्ति को दवा रखते थे। वे ऐसा इसलिए कर सके कि वाहर उनका साम्राज्य वढ रहा था, और उनने उन्हे धन मिल रहा था। इसलिए इंग्लैण्ड में क्रान्ति नहीं हुई, लेकिन उसका साया अक्सर देश पर छा जाता था, और क्रान्ति के भय से घटनाओ पर असर पडता था। इस तरह वह वात, जो असल में हुई नहीं, पिछली सदी की सवसे वडी घटना कही जाती है।

इसी तरह, शायद, यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी योरप में महायुद्ध के

वाद सबसे बडी घटना वह क्रान्ति थी जो कि नही हुई। जिन परिस्थितियो ने रूस मे वोलशेविक क्रान्ति पैदा करदी, वे, चाहे कुछ कम अश में ही सही, मध्य और पश्चिमी योरप मे भी मौजूद थी। रूस और पश्चिम के औद्योगिक देशो--इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स वगैरा--में फर्क यह था कि रूस मे मजबूत मध्यम-वर्गीय समाज नही था। असल में मार्क्स के उसूल के मुताविक तो उम्मीद यही थी कि श्रमिको की क्रान्ति पहले इन्ही उन्नत औद्योगिक देशो में होगी, न कि पिछडे हुए रूस में। लेकिन महायुद्ध ने जारशाही के पुराने सडे हुए ढॉचे को चकनाचूर कर दिया, और सिर्फ इसलिए कि वहॉ बीच में आजाने और पश्चिमी ढग की पार्लमेण्ट द्वारा शासन पर नियत्रण करने के लिए कोई मजबूत मध्यम-वर्ग नही था, मजदूरो के सोवियटो ने सत्ता पर कब्ज़ा जमा लिया। 'इसलिए यह एक काफी आश्चर्यजनक वात हुई कि रूस का पिछड़ापन ही, उसकी कमजोरी का कारण ही, उसके लिए उससे भी उन्नति देशो की बनिस्बत बडा कदम उठाने का सबब बन गया। लेनिन के नेतृत्व में बोलशेविको ने यह कदम उठाया, लेकिन वे किसी धोखे में नही थे। वे जानते थे कि रूस पिछड़ा हुआ है और उसे आगे बढे हुए देशो के बराबर होने में वक्त लगेगा। उन्हे उम्मीद थी कि श्रमिको का प्रजातंत्र कायम रखने की उनकी मिसाल से योरप के दूसरे मुल्को के मजदूर भी अपनी-अपनी मौजूदा हुकूमतो के खिलाफ बगावत करने में उत्साहित होगे। उन्होने महसूस किया कि योरप में सार्वत्रिक सामाजिक क्रान्ति होने से ही उनके बचे रहने की उम्मीद है। वरना, बाकी पूँजीवादी दुनिया तो रूस की नई सोवियट सरकार को कुचल ही देगी।

इसी आशा और विश्वास से अपनी क्रान्ति के शुरू में उन्होने ससार-भर के मजदूरो के नाम अपनी अपीले निकाली। उन्होने दूसरे देशो को जीतकर दवा लेने की योजनाओ की निन्दा की। उन्होने कहा कि जारशाही रूस ओर इग्लैण्ड व फ़्रान्स के बीच जो गुप्त सन्धियां हुई है उनके आधार पर वे अपना कोई दावा नहीं करेगे। और साफ ज़ाहिर कर दिया कि कुस्तुनतुनिया तुर्कों के ही पास रहना चाहिए। उन्होनें पूर्वी देशो को और जारशाही साम्राज्य की कितनी ही पामाल कौमो को उदार से उदार शर्ते दी। और सबसे बडी बात यह थी कि वे दुनियाभर के मजदूरो के हिमायती बन गये, और उन्होंने हर जगह के मजदूरो को प्रेरणा की कि वे उनकी मिसाल पर अमल करे और साम्यवादी प्रजातंत्र कायम करले। राष्ट्रीयता और रूस के राष्ट्र का उनके लिए इसके सिवा और कोई अर्थ न था कि दुनिया के उस हिस्से में ही इतिहास में पहली बार श्रमिको की सरकार कायम हुई थी। जर्मन और मित्र-राष्ट्रो की सरकारो ने बोलशेविक अपीलो का दमन किया, लेकिन फिर भी वे कई लडाई के मोर्चो और कार-खानो के प्रदेशो में पहुँच ही गई। हर जगह उनका काफी असर हुआ, और फ़्रान्सीसी

फौज मे फूट होती दिखाई दी। जर्मन फौजो और मजदूरो पर तो और भी ज्यादा असर हुआ। जर्मनी और आस्ट्रिया और हंगरी—इन हारे हुए मुल्कों में बलवे और बगावतें भी हुई, और कई महीनों या साल-दो साल तक तो योरप में एक जबरदस्त सामाजिक क्रान्ति का अन्देशा बना ही रहा। हारे हुए मुल्को की बनिस्वत जीते हुए मित्र-राष्ट्रो की हालत कुछ अच्छी थी, क्योंकि कामयाबी के सबब से उनमें हारी हुई शक्तियो से वसूल करके अपना कुछ नुकसान पूरा कर लेने की हिम्मत और उम्मीदें पैदा होगई थीं (जो कि बाद की घटनाओ से काफी झूठी साबित हुई)। लेकिन मित्र-राष्ट्रो में भी क्रान्ति का वातावरण था। असल में सारे योरप और एशिया का वातावरण असन्तोष से पूरी तरह भरा हुआ था, और सतह के नीचे क्रान्ति की आग सुलग और गड़गड़ा रही थी और अक्सर भभक उठना भी चाहती थी। लेकिन योरप और एशिया में असन्तोष के और जो वर्ग क्रान्ति करना चाहते थे उनके प्रकारो में भेद था। एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद के खिलाफ उठनेवाली कौमी बगावतो में मध्यम वर्ग आगे रहा; और योरप में श्रमिक वर्गो ने चाहा कि मौजूदा पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को उलट दें और मध्यम-वर्गो से सत्ता छीन ले।

इन गड़गड़ाहटो और अन्देशो के होने पर भी, मध्य या पश्चिमी योरप में रूस की तरह की कोई क्रान्ति नही हुई। पुरानी समाज-व्यवस्था उसपर होनेवाले हमलो को बर्दाश्त कर लेने की ताकत रखती थी, लेकिन वह इन हमलो से इतनी काफी कमजोर होगई और डर गई कि उससे सोवियट रूस बच गया। अगर पीछे की तरफ से यह जबरदस्त मदद न मिली होती तो यह बिलकुल मुमकिन था कि १९१९ या १९२० में साम्राज्यवादी शक्तियो के सामने सोवियट नष्ट होजाता। पर महायुद्ध के बाद धीरे-धीरे जैसे-जैसे साल गुजरते गये, स्थिति किसी हद तक शान्त होती गई। राजवादियो और सामन्त-जमींदारो यानी प्रगति-विरोधी रूढिवादियो और नरम साम्यवादी या सोशल डिमोक्रेट लोगो के बीच एक अजीब तरह का मेल होगया, और इन्होने मिलकर क्रान्तिकारी तत्त्वो को दबा दिया। असल में यह एक अजीब मेल था, क्योंकि सोशल डिमोक्रेट कहा करते थे कि हम मार्क्सवाद और श्रमिको की सरकार में विश्वास रखते हैं। इस तरह जाहिरा तो उनके आदर्श वही थे जो कि सोवियटो और कम्यूनिस्टो यानी साम्यवादियो के थे। फिर भी ये सोशल डेमोक्रेट लोग पूंजीवादियो से भी ज्यादा कम्यूनिस्टों से डरते थे, और कम्यूनिस्टो को कुचलने के लिए पूंजीवादियो से मिल गये। या यह भी मुमकिन है कि वे पूंजीवादियो से इतना डरते थे कि उनके खिलाफ होने की हिम्मत नहीं कर सकते थे; इन्होंने शान्तिपूर्ण और पार्लमेण्टरी पद्धति से अपनी स्थिति मजबूत करने और यों अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद के आने की उम्मीद की। उनमें इरादे कुछ भी रहे

हो, उन्होने क्रान्तिकारी भावना को कुचलने मे प्रगति-विरोधी तत्त्वो को मदद पहुँचाई, और इस तरह योरप के कई देशो मे असल मे प्रति-क्रान्ति करवा दी । अपना दाव पडने पर इस प्रति-क्रान्ति ने इन्ही सोशल डिमोक्रेटिक पार्टियो को कुचल दिया, और फिर तो नई और उग्र साम्यवाद-विरोधी शक्तियो के हाथ में सत्ता आगई । मोटे तौर पर, पिछले चौदह वर्षो में, जबसे कि महायुद्ध खत्म हुआ है, योरप की घटनायें इसी ढग से हुई हैं ।

लेकिन झगडा अभी खत्म नही हुआ है, और साम्यवाद और पूजीवाद, इन दो एक-दूसरे के खिलाफ ताकतो के बीच लडाई चल रही है । इन दोनो में दायमी समझौता कभी नही हो सकता, हालाकि दोनो मे अस्थायी समझौते और सन्धियाँ हुई है और आगे भी हो सकती है । रूस और साम्यवाद दुनिया के एक ध्रुव पर है, तो पश्चिमी योरप और अमेरिका के बडे-बडे पूजीवादी देश दूसरे ध्रुव पर खडे है । दोनो के बीच में लिबरल, माडरेट, और मध्य दल के लोग अब सभी जगह कम होते जा रहे है । संघर्ष और असतोष तो असल में ससार-व्यापी सम्पूर्ण आर्थिक उलट-पुलट और बढती हुई दुर्दशा के कारण पैदा हुआ है, और जबतक इसमें संतोषजनक सुव्यवस्था फिर से कायम न होजाय तब तक यह कशमकश जारी ही रहेगी ।

महायुद्ध के वाद से जो अनेक असफल क्रान्तियाँ हुई है, उनमे जर्मनी की क्रान्ति सबसे ज्यादा दिलचस्प और अंदरूनी बातो पर रोशनी डालने वाली है; इसलिए उसका थोड़ा-सा जिक्र मै करता हूँ । मै तुम्हे पहले ही वता चुका हूँ कि जव महायुद्ध आया तो सारे यूरोपियन देशो के साम्यवादी अपने आदर्शो और वादो के पक्के न रह सके । वे अपने-अपने देश की जबरदस्त राष्ट्रीयता की लहरो में वह गये, और जंग की जबरदस्त खूनी प्यास में समाजवाद के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श को भूल गये । महायुद्ध के शुरू होने के करीव ही, ३० जुलाई १९१४ को, जर्मनी की सोशल डिमोक्रटिक पार्टी के नेताओ ने ऐलान किया था कि हैप्सवर्ग खानदान की साम्राज्यवादी योजनाओ के खातिर वे "किसी भी जर्मन सिपाही का एक बूंद खून भी वहाये जाने के खिलाफ है ।" (उस वक्त आस्ट्रिया के आर्क ड्यूक फ्रेंज फर्डिनेण्ड के कत्ल के मामले में आस्ट्रिया और सर्विया के वीच झगड़ा था ।) पाँच दिन के बाद ही उनके दल नें युद्ध का समर्थन किया, और ऐसा ही दूसरे देशो के सोशल डिमोक्रेटिक दलो ने भी किया। और आस्ट्रिया के समाजवादियो के नेता ने तो पोलैण्ड और सर्विया को आस्ट्रियन साम्राज्य के मातहत कर लेने तक की वाते कह डालीं, और कहा कि इस काम की गिनती दूसरे देश को जबरदस्ती अपने राज्य में मिला लेने में नहीं की जा सकती ।

१९१८ के शुरू में योरप के मजदूरो के नाम निकाली हुई बोल्शेविक अपीलो

तरह से पैदा या मजबूत नही होती । किसी राष्ट्र की क्रान्ति मे तो उसका राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचा ही बदल जाना चाहिए । यह उम्मीद करना कि, जब क्रान्ति के दुश्मनो के हाथ में सत्ता छोड दी जायगी तो वह क्रान्ति टिकी रहेगी, बेमानी है; लेकिन जर्मन सोशल डिमोक्रेटो ने ठीक यही बात की, और उन्होने क्रान्ति के विरोधियो को उसके नाश के लिए तैयारी और सगठन करने के पूरे मौके दे दिये । जर्मनी में पुराने सेनावादियो और फौजी अफसरो का दबदबा बना रहा ।

नई सोशल डिमोक्रेटिक सरकार को यह पसद न आया कि कील के नाविक सारे देश में घूम-घूमकर क्रान्तिकारी विचार फैलाते रहे । उसने इन नाविको को बर्लिन में दबाने की कोशिश की, और जनवरी १९१९ के शुरू में बडे झगडे हुए और खून-खराबी भी हुई । इसपर जर्मन साम्यवादियो ने सोवियट सरकार कायम करने की कोशिश की, ओर शहर की आम जनता से मदद माँगी । उन्हे जनता से कुछ मदद मिली, और उन्होने सरकारी इमारतो पर कब्जा कर लिया—और जर्मनी में एक हफ्ते तक, जिसे बर्लिन मे 'लाल हफ्ता' कहा जाता है, शहर की सत्ता उन्हीके हाथो में दिखाई दी । लेकिन जनता ने काफी साथ नही दिया, क्योंकि ज्यादातर लोग भौंचक्के-से थे, और उन्हे समझ नही आता था कि क्या करना चाहिए । बर्लिन के सिपाही भी भौचक्के-से होगये, और तटस्थ रहे । चूंकि इन सिपाहियो पर यकीन नही किया जा सकता, इसलिए सोशल डिमोक्रेटो ने खास तौर पर कुछ विशेष स्वयसेवक भर्ती कर लिये, और उनकी मदद से साम्यवादी बगावत को दबा दिया । लड़ाई बडी बेरहमी से हुई, और किसीको माफ नही किया गया । लड़ाई खत्म होने के कुछ दिन बाद दो साम्यवादी नेता कार्ल लेबकनेख्ट (Liebknecht) और रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग अपनी छिपने की जगहो पर तलाश कर लिये गये, और कुछ लोगो के ज़रिये बेरहमी से कत्ल कर दिये गये । इस क़त्ल से और बाद में क़ातिलो के मुकदमे में बरी हो जाने से, साम्यवादियो और सोशल डिमोक्रेटो के बीच बडी कटुता पैदा हो गई । कार्ल लेबकनेख्ट विल्हेल्म लेबकनेख्ट का पुत्र था, जोकि उन्नीसवी सदी का मशहूर साम्यवादी लड़ाका था और जिसका नाम मेरे एक पिछले खत में आया है । रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग भी एक पुराना काम करनेवाला था और लेनिन का बड़ा दोस्त था—और सचाई यह थी कि जिस साम्यवादी बगावत के कारण लेबकनेख्ट और लक्ज़ेमबर्ग की मृत्यु हुई, उसके ये दोनो ख़िलाफ थे ।

साम्यवादी लोग सोशल डिमोक्रेटिक प्रजातत्र द्वारा कुचल दिये गये, और इसके बाद फौरन ही वेमर नाम के स्थान पर प्रजातन्त्र के लिए एक शासन-विधान तैयार किया गया । इसलिए उसे वेमर-विधान कहते है । तीन महीने के अन्दर ही प्रजातन्त्र में नई

तब्दीली होने का अन्देशा हुआ। इस बार यह अन्देशा दूसरी ही तरफ से खड़ा हुआ। प्रगति-विरोधियो ने प्रति-क्रान्ति कर डालनी चाही, और उसमें पुराने जनरल खास तौर पर हिस्सा ले रहे थे। यह विद्रोह 'कैप पुश' कहलाता है। कैप नेता का नाम था और पुश जर्मन भाषा में ऐसे विद्रोह को कहते हैं। सोशल डिमोक्रेटिक सरकार के लोग बर्लिन से भाग गये, लेकिन बर्लिन के मजदूरो ने अचानक आम हड़ताल करके, जिससे कि शहर का सारा कामकाज बन्द होगया, इस 'पुश' का खात्मा कर दिया। संगठित मजदूरों केसामने कैप और उसके दोस्तो को भाग जाना पड़ा, और सोशल डिमोक्रेटिक नेता फिर हुकूमत करने आगये। उन्होंने साम्यवादियों के साथ जिस तरह का वर्ताव किया था उसके मुकाबिले कैप-दल के बागियों के साथ सरकार ने बडी नरमी दिखाई। इनमें से कई लोग पेंशन पानेवाले अफसर थे, और विद्रोह करने पर भी उनकी पेन्शनें जारी रहीं।

इसी तरह का क्रान्ति-विरोधी 'पुश' या विद्रोह बवेरिया में भी संगठित हुआ। वह भी नाकामयाब रहा। लेकिन उसमें सबसे बडी दिलचस्पी की बात यह है कि उसका संगठन करनेवाला एक छोटा-सा आस्ट्रियन अफसर हिटलर था, जो आज जर्मनी का डिक्टेटर है।

इस सबका नतीजा यह हुआ कि हालांकि जर्मन प्रजातन्त्र नाम के लिए चलता रहा, लेकिन वह दिन-ब-दिन कमजोर होता गया। समाजवादियो, सोशल डिमाक्रेटों और साम्यवादियों के बीच फूट होने से, प्रगति-विरोधी लोग, जो खुल्लम-खुल्ला प्रजातन्त्र की निन्दा करते थे, ज्यादा-ज्यादा संगठित और उग्र होते गये। बड़े-बड़े भूस्वामियो ने—जो जर्मनी में 'जंकर' कहलाते हैं—और बडे-बडे कारखानेदारो ने धीरे-धीरे उन थोडे-से समाजवादी तत्त्वों को भी शासक-मण्डल में से निकाल दिया जो कि उसमें बाकी रहे थे। वर्साई की सन्धि से जर्मन लोगों को बड़ा धक्का लगा और प्रगति-विरोधियो ने अपने लाभ के लिए उसका दुरुपयोग किया। इस सन्धि के मुताबिक जर्मनी को अपने हथियार त्याग देने पडे और अपनी बडी फौज छोड़नी पडी। उसे सिर्फ एक लाख छोटी-सी फौज रखने की ही इजाजत मिली। नतीजा यह हुआ कि दिखाने के लिए तो निःशस्त्रीकरण हुआ, लेकिन बहुत-से हथियार छिपा दिये गये। बडी-बडी खानगी फौजें यानी मुख्तलिफ पार्टियो के स्वयंसेवक 'स्टील हेलमेट' कहलाते थे; साम्यवादी मजदूरो के स्वयं-सेवक 'रेड-फ्रन्ट' कहे जाते थे, और कुछ समय बाद हिटलर के अनुयाइयो ने 'नाज़ी सेना' के नाम से दल बनाया।

जर्मनी में महायुद्ध के बाद के कुछ वर्षों में क्या-क्या हुआ, यह मैंने तुम्हें काफी बता दिया है, और इससे ज्यादा भी मैं तुम्हें बता सकता हूँ कि किस तरह क्रान्ति वातावरण में भर गई थी, और प्रति-क्रान्ति के साथ लड़ी थी। जर्मनी में मुख्तलिफ हिस्सों

मे, बवेरिया ओर सैक्सनी मे भी, बलवे हुए थे। आस्ट्रिया में भी, जिसे कि संधि ने अपने पहले आकार से बहुत छोटा बना दिया था, बहुत-कुछ ऐसी ही हालतें रही। यह छोटा-सा देश, जिसकी बडी भारी राजधानी वियेना है, भाषा और सस्कृति में बिलकुल जर्मन था। यह १२ नवम्बर १९१८ को, अस्थायी संधि के दूसरे दिन, प्रजातन्त्र बन गया था। यह जर्मनी का हिस्सा बनना चाहता था, लेकिन मित्र-राष्ट्रो ने इसकी सख्त मनाई कर दी, हालाकि जाहिरा तौर पर ऐसा करना बिलकुल स्वाभाविक था। आस्ट्रिया और जर्मनी की इस प्रस्तावित एकता को जर्मन भाषा में 'एन्शलस' कहते हैं ओर यह आजकल की समस्याओ मे से एक है। आस्ट्रिया की एक समस्या टिरोल या टायरोल के बारे में भी है, जिसका एक हिस्सा, जिसमें जर्मन-आस्ट्रियन लोग रहते है, इटली ने दबा लिया है।

जर्मनी की तरह आस्ट्रिया में भी पहले तो सोशल डिमोक्रेटो के ही हाथ में सत्ता थी, लेकिन वे इतने डरे हुए थे और अपने अन्दर उनको इतना कम विश्वास था कि मध्यम-वर्गीय दलो से समझौते की नीति पर चलने लगे। नतीजा यह हुआ कि सोशल डिमोक्रेट बहुत कमजोर होगये और शासन दूसरो के हाथ में चला गया। जर्मनी की तरह ही यहाँ भी प्राइवेट फौजें खडी हुई, और आख़िरकार एक प्रगति-विरोधी डिक्टेटरशाही कायम होगई। बहुत वक़्त तक तो वियेना के समाजवादी शहर और देहात के दकियानूसी विचार के किसानो के बीच संघर्ष चलता रहा। वियेना की समाजवादी म्युनिसिपैलिटी मजदूरो के लिए अच्छे-अच्छे मकान बनवाने और दूसरी योजनाओ के लिए मशहूर होगई।

हंगरी में ३ अक्तूबर १९१८ को, महायुद्ध खत्म होने के पाँच हफ़्ते पहले ही, एक क्रान्ति होगई थी। नवम्बर में प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। चार महीने बाद. मार्च १९१९ मे, एक दूसरी क्रान्ति होगई। यह बेलाकून नाम के एक साम्यवादी नेता के, जो पहले लेनिन का साथी रह चुका था, नेतृत्व में एक सोवियट क्रान्ति थी। एक सोवियट-सरकार भी कायम होगई और कई महीनो तक उसीकी सत्ता रही। इसपर देश के अनुदार और प्रगति-विरोधी लोगो ने अपनी मदद के लिए एक रूमानियन फौज को बुलवाया। रूमानियन लोग बडी खुशी से आगये। उन्होने बेलाकून की सरकार को कुचलने में मदद दी और फिर वे देश को लूटने में लग गये। वे वहाँसे तभी गये, जब कि मित्र-राष्ट्रो ने उनके खिलाफ कार्रवाई करने की धमकी दी। ज्योही रूमानियन चले गये, त्योही हंगरी के अनुदार लोगो ने देश के तमाम उदार या उन्नत विचार के लोगो पर आतंक जमाने के लिए, ताकि वे क्रान्ति के लिए फिर कोशिश न करें, एक प्राइवेट फौज या स्वयंसेवक-दल संगठित कर लिया। इस तरह १९१९ में हंगरी में वह जमाना शुरू

हुआ जो 'सफेद आतंक' (White Terror) कहलाता है और जो महायुद्ध के बाद के इतिहास के सबसे ज्यादा खूनी हिस्सों में से एक माना जाता है। हंगरी में कुछ तब भी सामन्तशाही है, और ये सामन्त जमींदार बड़े-बड़े कारखानेदारों के साथ, जिन्होंने महायुद्ध के जमाने में बड़ी दौलत पैदा करली थी, मिल गये, और उन्होंने न सिर्फ साम्यवादियों को बल्कि आम तौर पर मजदूरो, सोशल डिमोक्रेटो, उदार और शान्तिवादी लोगों और यहूदियों तक को क़त्ल किया और उनपर आतंक फैला दिया। तभीसे हंगरी में एक प्रगति-विरोधी डिक्टेटरशाही कायम है। वहाँ दिखाने के लिए एक पार्लमेण्ट है लेकिन चुनाव की पर्चियाँ खुली हुई पड़ती हैं, यानी पार्लमेण्ट के मेम्बरो का चुनाव ज़ाहिरा तौर पर होता है और पुलिस और फ़ौज इस बात की कोशिश करती है कि डिक्टेटरशाही जिन्हे पसन्द करती या चाहती है सिर्फ वे ही लोग चुने जावें। राजनैतिक सवालों पर सार्वजनिक सभायें होने नहीं दी जातीं।

इस खत में मैंने मध्य-योरप की महायुद्ध के बाद की घटनाओं पर और युद्ध और हार और रूसी क्रान्ति के उन देशों पर होनेवाले परिणामो पर, जो पहले 'मध्य-योरप की शक्तियाँ' कहलाते थे, विचार किया है। युद्ध के आश्चर्यजनक आर्थिक परिणाम, और उनसे पूँजीवाद मौजूदा दुर्दशा में कैसे आ गया है, इसका हाल हमें अलग ही देखना होगा। इस ख़त में मैंने जो कुछ लिखा है उसका मतलब यही है कि महायुद्ध के बाद के उन दिनो में योरप में क्रान्ति आती हुई दिखाई देती थी। इस बात से सोवियट रूस को बड़ी मदद मिली, क्योंकि किसी भी बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति को अपने मजदूर-वर्ग पर बुरा असर पैदा होने के अन्देशे से उसपर पूरे दिल से हमला करने की हिम्मत नहीं हुई। फिर भी क्रान्ति हुई नही, सिर्फ कही-कहीं छोटे-छोटे प्रयत्न हुए जो कुचल दिये गये। इस सामाजिक क्रान्ति के कुचलने और रोकने में सोशल डिमोक्रेटो ने सबसे ज्यादा हिस्सा लिया, हालाकि उनका सारा दल इसी तरह की सामाजिक क्रान्ति के उसूल पर कायम हुआ था। मालूम होता है कि ये सोशल डिक्रेमोट समझते थे या उम्मीद करते थे कि पूँजीवाद खुद ही अपनी मौत मर जायगा। इसलिए जोर से उसपर हमला करने के बजाय उन्होंने उसे कम-से-कम उन वक़्त तो बचे रहने में मदद दी। या यह भी मुमकिन है कि उनकी बड़ी भारी और मालदार पार्टी-मशीन इतने आराम में थी, या मौजूदा समाज-व्यवस्था में ही इतनी फँसी हुई थी, कि वह सामाजिक उथल-पुथल की जोखिम उठाना नहीं चाहती थी। उन्होंने बीच का रास्ता इख्तियार करने की कोशिश की। लेकिन नतीजा यह हुआ कि उन्होंने सारा काम बिगाड़ दिया और हाथ में जो कुछ था वह भी खो दिया। जर्मनी की हाल की घटनाओ ने इस बात को और भी ज्यादा साफ कर दिया है।

महायुद्ध के बाद एक और बात जो जोर पकड़ती गई, वह है बल-प्रयोग की मनोवृत्ति का पैदा होना। यह ताज्जुब की बात है कि जब हिन्दुस्तान में अहिंसा का सन्देश फैलाया जा रहा था, उन्ही दिनो दुनिया में करीब-करीब सभी जगह हिंसा—नग्न और निर्लज्ज हिंसा—ही अमल में आ रही थी और उसका गौरव बढ़ाया जा रहा था। इसका कारण था ज्यादातर तो महायुद्ध और बाद में मुख्तलिफ वर्गो के स्वार्थो की टक्कर। ज्यो-ज्यो मुख्तलिफ़ वर्गो के स्वार्थ ज्यादा-ज्यादा एक-दूसरे से टकराते गये ओर उनमे स्पष्टता और गहराई आती गई, त्यो-त्यो हिंसा बढ़ती गई। उदार सिद्धान्त करीब-करीब मिट गये, और उन्नीसवी सदी का प्रजातन्त्रवाद नापसन्द किया जाने लगा। डिक्टेटर लोग मैदान में आगये।

मैंने इस खत मे हारी हुई शक्तियो के बारे में लिखा है। जीतनेवाली शक्तियो को भी ऐसी ही तकलीफें उठानी पडी, हालांकि मध्य-योरप के समान उथल-पुथल या बलवे इग्लैण्ड और फ्रास में नही हुए। इटली में एक खास ढंग की उथल-पुथल हुई, जिसके अजीब ही नतीजे हुए। उनका बयान भी अलग किया जाना चाहिए।

: १७२ :

पुराने क़र्ज़ चुकाने की नई तरकीब

१५ जून, १९३३

इस तरह हम देखते है कि महायुद्ध के बाद योरप और दरअसल किसी हद तक सारा ससार एक उबलती हुई कढ़ाई की हालत मे था। वर्साई की और दूसरी संधियो से मामले नही सुधरे। योरप के नये नकशे से पोल और जेक और बाल्टिक जातियो को आजाद बनाकर कुछ पुरानी राष्ट्रीय समस्यायें सुलझाई गई। लेकिन इसके साथ ही आस्ट्रियन टिरोला या टायरल को इटली के मातहत करने, यूक्रेन के एक हिस्से को पोलैण्ड को दे देने, और पूर्वी योरप में और भी कुछ दु:खदाई मुल्की बटवारा करने के कारण कई नई-नई राष्ट्रीय समस्याये खडी भी होगई। सबसे अजीब और चिढ पैदा करनेवाली पोलिश कॉरीडर और डेनजिग की व्यवस्था थी। योरप के मध्य और पूर्व में कई नये छोटे-छोटे राज्य बना दिये गये, जिसके मानी हुए सरहदो, चुंगी की हदबन्दियो और आपसी नफरतो में वृद्धि।

१९१९ की इन सन्धियों के अलावा भी रूमानिया ने किसी तरह बेसारेबिया प्रदेश ले लिया, जोकि पहले दक्षिण-पश्चिम रूस का हिस्सा था। तबसे लगातार इस प्रदेश की बाबत सोवियट और रूमानिया में झगड़ा और दलीलबाज़ी होती रही है। बेसारेबिया 'नीपर का एलसेस-लॉरेन' कहलाने लगा है।

मुल्की तब्दीलियो से भी बड़ा सवाल मुआवज़े (रिपेयरेशन्स) का था, यानी उस रुपये का जो महायुद्ध के खर्चों और नुकसानो के बदले में हारा हुआ जर्मनी जीतने वाले मित्र-राष्ट्रो को अदा करे। वर्साई की सन्धि में इसकी कोई निश्चित रकम मुकर्रर नहीं की गई थी, लेकिन बाद की कान्फरेन्सो में मुआवज़े की रकम ६,६०,००,००,००० पौण्ड मुकर्रर की गई, जो सालाना किस्तो में देनी थी। इतनी बडी रकम किसी देश के लिए भी देना मुश्किल था, और हारा और थका हुआ जर्मनी तो इसे देने के और भी ज्यादा नाक़ाबिल था। जर्मनी ने इसका विरोध किया, लेकिन बेकार हुआ, और फिर जब कोई चारा न रहा तो उसने यूनाइटेड स्टेट्स यानी संयुक्तराष्ट्र अमेरिका से उधार लेकर दो-तीन किस्ते अदा कीं। कुछ वक़्त गुज़ारने और फिर सारे सवाल पर फिर से गौर करवाने के लिए ही उसने ऐसा किया। उसे और ज्यादातर दूसरे मुल्कों पर भी यह ज़ाहिर होगया था कि पीढ़ियो तक बडी-बडी रकमें वह देता नहीं जा सकता था।

बहुत जल्दी ही जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था टूट गई, और सरकार के पास न तो बाहरी कर्ज़, जैसे मुआवज़ा वगैरा, और न अन्दरूनी देनदारियाँ तक पूरी करने के लिए काफी धन रहा। दूसरे देशो को अदायगी सुवर्ण में करनी पड़ती थी। जब अदायगियाँ मुकर्रर तारीखो पर न हो सकीं, तो वादा-खिलाफी हुई। फिर भी जर्मनी के अन्दर तो सरकार करेंसी नोटो की शक्ल में अदायगी कर सकती थी, और इसलिए उसने अधिकाधिक कागज़ी नोट छाप लेने की तरकीब चलाई। कागज़ के नोट छाप लेने से धन पैदा नहीं होता; सिर्फ साख या अदायगी की जिम्मेदारी का विश्वास पैदा होता है। लोग कागज़ के नोटो का इस्तेमाल इसलिए करते हैं कि उन्हें मालूम है, अगर वे चाहे तो उनके बदले में उन्हे सोना या चांदी मिल सकता है। इन नोटो के लिए बैंको में हमेशा किसी कदर सोना रक्खा रहता है, जिससे कि नोटो की कीमत बनी रहे। इस तरह कागज़ी रुपये से बडा उपयोगी काम निकलता है, क्योंकि इससे रोज़ाना लेन-देन में सोना लगने से बच जाता है और साख भी बढ़ जाती है। लेकिन अगर कोई सरकार इस बात का खयाल न करे कि बैंको में कितना सोना है और कागज़ी रुपया छापती और बेहद नोट जारी करती चली जाय तो इस कागज़ी रुपये की कीमत ज़रूर गिरेगी। नोट जितना ज्यादा छपता जायगा, उतनी ही उसकी कीमत घटेगी और देनदारी की साख का कार्य भी वह उतना ही कम करेगा। इस व्यवस्था को 'इनफ्लेशन' कहते हैं। १९२२ और १९२३ में जर्मनी में ठीक यही बात हुई। जर्मन सरकार को अपने खर्चे के लिए जैसे-जैसे ज्यादा रुपये की ज़रूरत होती गई, वैसे-वैसे वह ज्यादा-से-ज्यादा नोट छापती गई। इससे हर चीज़ के दाम चढ़ गये, लेकिन पौण्ड, डालर

या फ्राक के मुकाबिले में खुद जर्मन मार्क की कीमत घट गई। इसलिए सरकार को और मार्क छापने पड़े, और फिर इससे मार्क की कीमत और भी गिरी। यह अव्यवस्था बहुत ज्यादा बढ गई, यहाँतक कि एक डालर या पाउण्ड की कीमत अरबो कागजी मार्क होगई। असल मे कागजी मार्क का कोई मूल्य ही नही रहा। लिफाफ़े पर लगाने के लिए एक टिकट की कीमत दस लाख कागजी मार्क होगई। दूसरी चीजो के दाम भी इसी हिसाब से कम या ज्यादा थे, और हमेशा बदलते भी रहते थे।

जर्मनी का यह 'इन्फ्लेशन' और मार्क की कीमत में आश्चर्यजनक गिरावट अपने-आप ही नही होगये थे। यह जर्मन सरकार ने आर्थिक कठिनाइयो में से निकलने के लिए जान-बूझकर किया था, और बहुत काफी दूर तक वह कठिनाइयो में से निकल भी गई; क्योकि सरकार ने और म्यूनिसिपैलिटियो ने और दूसरे कर्जदारो ने जर्मनी के अपने अन्दरूनी क़र्जे आसानी से मूल्यहीन कागजी मार्कों द्वारा चुका दिये। बेशक वे इस तरह बाहरी देशो के कर्जो को नही चुका सकते थे, क्योकि वहाँका कोई भी आदमी उनके कागजी रुपये को नही ले सकता था। जर्मनी में तो वे क़ानून के जरिये भी ऐसी अदायगी को मंजूर करवा सकते थे। इस तरह सरकार और हर कर्जदार कर्जे के दु:खदायी बोझ से छूट गया। लेकिन ऐसा करने में बडी जबरदस्त मुसीबते उठानी पडी। इन्फ्लेशन के इस अर्से में सभी लोगो ने तकलीफें उठाई; लेकिन सबसे ज्यादा मुसीबत मध्यमवर्गो को हुई, क्योकि उन्हे ज्यादातर निश्चित तनख्वाहे मिलती थी, या दूसरी किसी तरह की आमदनी भी निश्चित ही थी। बेशक ज्यो-ज्यो मार्क गिरता गया त्यो-त्यो इनकी तनख्वाहे बढ़ती गई, लेकिन जिस रफ्तार से मार्क गिरता था उसके मुताबिक ही उनकी तनख्वाहे नहीं बढ पाती थी। निचले मध्यमवर्ग तो इस इन्फ़्लेशन से करीब-क़रीब मिट ही गये, और जब हम जर्मनी में बाद के वर्षो में होनेवाली खास-खास घटनाओ पर विचार करेगे तो हमें इस बात को याद रखना होगा। क्योकि फिर तो इन असतुष्ट वर्गहीन (Declassed) मध्यम-वर्गो की एक जबरदस्त असन्तुष्ट सेना बन गई, जिनसे बडी-बडी क्रान्तिकारी संभावनायें थी। वे प्रमुख दलो के साथ बननेवाली प्राइवेट फौजो में दाखिल होगये और ज्यादातर हिटलर के नये दल नैशनल सोशलिस्ट या नाज़ी पार्टी में चले गये।

पुराना मार्क, जो कि अब बिलकुल भी काम का न रहा था, मंसूख कर दिया गया, और नये नोट, जिन्हे 'रेण्टेन मार्क' कहते थे, चालू किये गये। इनमें 'इनफ्लेशन' नही किया गया, और ये अपने सोने की कीमत के बराबर होते थे। इस तरह जर्मनी अपने निचले मध्यम वर्गो का सफाया करके फिर स्थायी मुद्रा-प्रणाली पर लौट आया।

जर्मनी की आर्थिक मुसीबतो के बडे-बडे अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम हुए। मित्र-राष्ट्रो

शक्ल मे रुपया मित्र-राष्ट्रो को देना था। इसलिए अमेरिका ने जर्मनी को उधार दिया, और जर्मनी मित्र-राष्ट्रो को दे सका, ताकि अन्त मे मित्र-राष्ट्र भी अमेरिका को अदायगी कर सके। यह एक बडा मजेदार फैसला था, जिससे कि हरेक संतुष्ट नजर आता था। दरअसल, इसके सिवा वसूली करने की और कोई सूरत ही नही थी। हाँ, यह उधारी और अदायगी का सारा चक्कर एक बात पर निर्भर था—अमेरिका जर्मनी को उधार देता चला जाय। अगर यह बन्द होजाता है तो सारी व्यवस्था टूट जाती है।

इन उधारियो और अदायगियो में नकद धन का वास्तविक लेना और देना नही होता था; कागजी जमा-खर्च होजाता था। अमेरिका जर्मनी के नामे एक खास रकम लिख देता था, जर्मनी इसे मित्र-राष्ट्रो के नामे बदलवा देता था, और मित्र-राष्ट्र फिर उसे ही अमेरिका के नामे बदलवा देते थे। वास्तविक धन कही न जाता था, न आता था, सिर्फ हिसाब के कागजो में कई इन्दराज होजाया करते थे। अमेरिका गरीब मुल्को को, जो अपने पिछले कर्जो का सूद भी न चुका सकते थे, रुपया क्यो उधार देता गया? अमेरिका ने उधार इसलिए दिया कि किसी तरह इनका काम चलता रहे, और वे दीवालिया न हो, क्योकि अमेरिका को योरप के एकदम बर्बाद हो जानें का डर था, जिससे कि सारा कर्जा मारा जाता। इसलिए समझदार ऋणदाता या साहूकार की तरह, अमेरिका ने अपने कर्जदारो को जिन्दा और उनका काम चालू रक्खा। लेकिन कुछ वर्षो के बाद अमेरिका इस लगातार ऋण देने की नीति से तंग आगया और उसने देना बन्द कर दिया। फौरन ही मुआवजे और कर्जे की सारी इमारत गिर पडी, किस्ते रुक गई और योरप और अमेरिका के सारे राष्ट्र एक ऐसी दलदल में फँस गये, जिसमें पडे वे अब भी तड़फड़ा रहे हैं। इसके बारे में मैं बाद में कुछ और कहूँगा।

इस तरह महायुद्ध के बाद मुआवजे की समस्या ने योरप को दस-बारह साल से भी ज्यादा फँसाये रक्खा। इसके साथ ही महायुद्ध के कर्जो यानी जर्मनी के अलावा दूसरे देशो के कर्जो का भी सवाल था। जैसा कि मै महायुद्ध की बाबत लिखे हुए खत में तुम्हे बता चुका हूँ, शुरू के दिनो में इंग्लैण्ड और फ्रांस अपने छोटे-छोटे मित्र-देशो को युद्ध के लिए रुपया उधार देते थे। इसके बाद फ्रांस के जरिये खत्म होगये, और उसने उधार देना बन्द कर दिया। लेकिन इंग्लैण्ड देता रहा। बाद में आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड भी बिगड़ गया, और ज्यादा उधार नही दे सका। सिर्फ अमेरिका ही दे सकता था, और उसने बडी फैयाजी यानी उदारता से कर्जा दिया, जिसमें उनका और इंग्लैण्ड, फ्रास और दूसरे मित्र-राष्ट्रो का भी फायदा था। इस तरह महायुद्ध खत्म

होने पर कुछ देशो पर फ़्रांस का कर्जा होगया था, कई पर इंग्लैण्ड का कर्जा होगया था, और सारे मित्र-राष्ट्रो पर अमेरिका का बड़ा भारी कर्जा होगया था। अमेरिका ही एक ऐसा देश था जिसपर दूसरे किसीका ऋण न था। उस वक़्त वह एक बड़ा भारी साहूकार देश बन गया था। वह इंग्लैण्ड के पुराने स्थान पर पहुँच गया, और संसार का साहूकार बन गया। कुछ आँकडे देने से यह बात और भी साफ होजायगी। महायुद्ध के पहले अमेरिका एक ऋणी देश था, उसपर दूसरे देशो का ३ अरब डालर कर्जा था, महायुद्ध के समाप्त होने के वक़्त तक यह कर्जा मिट गया था, और इसके वजाय अमेरिका ने ही बहुत बडी-बडी रकमे उधार दे दी थी। १९२६ में अमेरिका ऋण-दाता देश होगया, और उसका दिया हुआ कर्जा २५ अरब डालर तक पहुँच गया।

युद्ध के ये कर्जे कर्जदार मुल्को—इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा—पर बहुत ज्यादा वोझ-से थे, क्योकि ये सब सरकारी कर्जे थे, जिनके लिए सरकारे जिम्मेदार थीं। उन्होने अमेरिका से खास रियायती शर्ते प्राप्त करने की कोशिश की, और उन्हे कुछ सहूलियते मिल भी गई, लेकिन फिर भी वोझ तो वना ही रहा। जवतक जर्मनी मुआवजे की रकमें देता रहा, तवतक तो ये कर्जदार मुल्क अमेरिका को वही रकमें (जो असल में अमेरिका का दिया हुआ कर्ज ही था) तब्दील करके देते रहे। लेकिन जब मुआवजे मिलना अनियमित होगया या वन्द होगया, तो कर्जा चुकाना मुश्किल होगया। योरप के कर्जदार देशो ने कोशिश की कि मुआवजे और युद्ध के कर्जो का ताल्लुक कायम कर दिया जाय। उन्होने कहा कि दोनो वातो पर साथ-साथ विचार किया जाना चाहिए, और अगर यह वन्द हो जाता है तो वह भी अपनेआप वन्द होजाना चाहिए, लेकिन अमेरिका ने इन दोनो वातो को एक मानने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि मैंने तो रुपया दिया है, मुझे अपना वह रुपया मिलना चाहिए, और इनसे मुझे कोई मतलव नही कि जर्मनी से मुआवजा मिलता है या नहीं, जिसका कि आधार ही दूसरा है। योरप में अमेरिका के इस रुख़ पर वडी नाराजगी जाहिर की गई और उसे वहुत वुरा-भला कहा गया। कहा कि वह शायलाक जैसा लोभी वनिया है, जिसने अपने कर्जदार का पूरा एक पौंड मास काटकर लेने का हठ किया था। खासकर फ्रान्स में यह कहा गया कि यह युद्ध सवके साझे का काम था, जिसके लिए कि कर्ज लिया गया था, इसलिए कर्जे को साधारण ऋण के समान न समझना चाहिए। और दूसरी तरफ अमेरिकन लोगो में महायुद्ध के बाद योरप में होनेवाले झगडो और गाडियो से वडी नफरत पैदा होगई थी। उन्होने देखा कि अव भी फ्रान्स और इंग्लैण्ड और इटली अपनी-अपनी फौजो और सेनाओ पर भारी-भारी रकमें खर्च करते जा रहे

है, बल्कि शस्त्रास्त्रो के लिए कुछ छोटे मुल्को को कर्जा भी देते जा रहे है। अगर योरप के इन देशो के पास शस्त्रास्त्रो के लिए इतना रुपया है, तो अमेरिका उनसे अपना कर्जा क्यो छोडे ? अगर वह अपना कर्जा छोड़ भी दे, तो शायद वह रकम भी शस्त्रास्त्रो पर खर्च करदी जायगी। अमेरिका की यही दलीले थी, और वह अपने कर्जो का दावा करता ही रहा। इस सवाल का अबतक कोई फैसला नही हुआ है और मेरे लिखते वक्त इसपर दसवी या बीसवी बार बहस हो रही है।

मुआवजे की तरह ही महायुद्ध के कर्जो का किसी तरह चुकाया जाना भी काफी मुश्किल था। अन्तर्राष्ट्रीय कर्जे या तो सोने की शक्ल में, या माल की शक्ल में, या किसी कार्य (जैसे खुश्की या समुद्री मार्ग से माल लाने-लेजाने आदि) की शक्ल में चुकाये जा सकते है। इतनी बडी रकमो को सोने की शक्ल मे देना नामुमकिन था, क्योकि इतना सोना मिल ही नही सकता था। और माल या कार्य की शक्ल में अदायगी करना भी, मुआवजे और कर्जे दोनो के ही लिए, करीब-करीब नामुमकिन था। क्योकि अमेरिका ने और योरप के देशो ने आयात-निर्यात करो की ऊँची-ऊँची दीवारें खडी करदी थी, जिनसे कि विदेशी माल का आना बन्द होगया था। इससे एक असम्भव परिस्थिति पैदा होगई और यही अमली कठिनाई थी। फिर भी कोई देश आयात-निर्यात करो की बाधायें कम करने को या कर्जे की रकम के बदले माल लेने को तैयार न था, क्योकि इससे देश के उद्योग-धन्धो को नुकसान होने की सम्भावना थी। यह एक अजीब और दु:खदाई चक्कर था।

सिर्फ योरप महाद्वीप ही संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का कर्जदार नही था। अमेरिका के बैंकरो और व्यापारियो ने कनाडा और लैटिन अमेरिका (यानी दक्षिणी और मध्य अमेरिका और मैक्सिको) में बहुत बडी-बडी पूंजी लगा रक्खी थी। ये लैटिन अमेरिकन देश महायुद्ध के दर्मियान आधुनिक कारखानो और मशीनो की शक्ति से बडे प्रभावित हुए थे। इसलिए उन्होने कारखानो की तरक्की पर सारा ध्यान लगा दिया, और धन तो, जो कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में बहुत भरा पड़ा था, उत्तर दिशा से बहता हुआ चला आया। उन्होने इतना कर्ज ले लिया कि वे उसका सूद भी नहीं चुका सकते थे। हर जगह डिक्टेटर पैदा होगये और जबतक कर्जा मिलता गया तबतक तो सब मामला ठीक चलता रहा—उसी तरह, जिस तरह कि जबतक अमेरिका जर्मनी को रुपया देता गया तबतक सब मामला ठीक चलता रहा। और योरप की ही तरह जब लैटिन अमेरिका को भी कर्जा मिलना बन्द होगया तो वहाँ भी सारा ढाँचा टूट गया।

अमेरिका की बचाई हुई पूंजी का और लैटिन अमेरिका में उसका परिमाण कितनी जल्दी-जल्दी बढता गया, इसका कुछ अनुमान कराने के लिए मैं तुम्हे दो आँकडे बताता

हैं। १९२६ में अमेरिका की लगी हुई पूंजी सवा चार अरब डालर थी। तीन साल बाद, १९२९ में, वह साढ़े पाँच अरब से ज्यादा होगई।

इस तरह महायुद्ध के बाद के इन वर्षों में अमेरिका बेशक सारी दुनिया का साहूकार बन गया। वह धनी था, सम्पन्न था, और दौलत से फटा पड़ता था। वह सारी दुनिया पर हावी था, और उसके निवासी कुछ-कुछ घृणा के साथ योरप को और एशिया को तो और भी ज्यादा, बूढ़ा और झगड़ालू महाद्वीप समझते थे। १९२२ से १९२९ तक की जबरदस्त खुशहाली के उन दिनों में अमेरिका के धन की तुम कल्पना करो। १९१२ से १९२७ तक के पंद्रह वर्षों में अमेरिका का सारा राष्ट्रीय धन १,८७,२३,९०,००,००० डालर से बढ़कर ४,००,००,००,००,००० डालर होगया। १९२७ में उसकी आबादी ११७० लाख के क़रीब थी और हर आदमी पर ३,४२८ डालर धन का औसत पड़ता था। प्रगति इतनी तेजी से हुई है कि ये आंकड़े हर साल बदल जाते हैं। एक पिछले खत में, हिन्दुस्तान और दूसरे देशों की राष्ट्रीय आय का मुकाबिला करते हुए, मैंने अमेरिका का आँकड़ा बहुत नीचा दिया था। वह आँकड़ा सालाना आमदनी का था, न कि धन का, और शायद वह किसी पिछले साल का था। १९२७ का आँकड़ा जो ऊपर दिया गया है, वह अमेरिका के प्रेसीडेण्ट कूलिज के नवम्बर १९२८ के एक वक्तव्य पर से लिया गया है।

कुछ और आँकड़े भी तुम्हे दिलचस्प मालूम होंगे। वे सब १९२७ के हैं। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में कुटुम्बो की तादाद २७० लाख थी। उनकी मिल्कियत में १,५९,२३,००० बिजलीदार मकान थे, और १,७७,८०,००० टेलीफोन व्यवहार में आते थे। १,९२,३७,१७१ मोटर-कारें चलती थीं, और यह तादाद सारी दुनिया की तादाद का ८१ फीसदी थी। अमेरिका ने सारे संसार की ८७ फीसदी मोटर-गाड़ियाँ बनाई, दुनिया का ७१ फीसदी पेट्रोलियम तैयार किया, और दुनिया का ४३ फीसदी कोयला निकाला। इसपर भी उसकी आबादी संसार की आबादी की ६ फीसदी ही थी। इस तरह आम रहन-सहन का दर्जा बहुत ऊँचा था, और फिर भी जितना ऊँचा होना मुमकिन था उतना नहीं था, क्योंकि धन तो कुछ ही अरबपतियों और खरबपतियों के हाथों में केन्द्रित था। ये 'बड़े-बड़े व्यापारी' (Big Business) सारी दुनिया पर हुकूमत करते थे। उन्हींकी मर्जी से प्रेसीडेण्ट यानी राष्ट्रपति चुना जाता था, वे ही कानूनों के बनानेवाले थे, और अक्सर वही कानूनों को तोड़ा करते थे। इन बड़े व्यापारियों में बड़ी भयंकर रिश्वतखोरी जारी थी, लेकिन अमेरिका में जबतक आम तौर पर सम्पन्नता या खुशहाली रही तबतक उन्होंने इसकी ज्यादा परवा नहीं की।

उन्नीस सौ बीस के वाद के दस वर्षो की अमेरिकन सम्पन्नता के ऑकडे मैंने इसलिए दिये है कि तुम्हे मालूम हो जाय कि आजकल की औद्योगिक सभ्यता ने एक देश को हिन्दुस्तान और चीन जैसे पिछडे हुए अनौद्योगिक देशो के मुकाबिले मे कितना ज्यादा मालदार बना दिया, और तुम यह भी देख लो कि इस सम्पन्नता के मुकाबिले में अमेरिका में वाद का संकट और सर्वनाश कितना बड़ा आया, जिसका कि मै आगे वयान करूँगा।

सकट-काल तो वाद में आया। ठीक १९२९ तक तो यही दिखाई दिया कि योरप और एशिया जिन बुराइयो में फँस गये है उनसे अमेरिका वचा हुआ है। हारी हुई शक्तियो का हाल खराव था। मैंने तुम्हे जर्मनी को तकलीफो का कुछ हाल बता ही दिया है। मध्य-योरप के ज्यादातर छोटे देश, खास तौर पर आस्ट्रिया, तो और भी बुरी दशा में थे। आस्ट्रिया को भी 'इन्फ्लेशन' की मुसीबते उठानी पडी, और पोलैण्ड को भी। फिर इन दोनो को ही अपनी करेंसी या मुद्रा-प्रणाली बदलनी पडी।

लेकिन ये मुसीबते सिर्फ हारे हुए देशो तक ही महदूद नही थी, बल्कि जीतने वाले देशो पर भी धीरे-धीरे आगई। यह बात हमेशा मानी जाती थी कि कर्जदार होना अच्छा नही है। अब एक नया और अजीब ही तजुर्बा हुआ; वह यह कि ऋणदाता होना भी अच्छा नही है। क्योकि विजयी शक्तियाँ, जिनका मुआवज़ा जर्मनी को चुकाना था, इस मुआवज़े के सबब से वडी कठिनाइयो में पड़ गई, और जब उसकी वसूली करने लगी तो वे और भी ज्यादा मुसीबत में पडी। इस वावत मै अगले खत में लिखूँगा।

: १७३ :

मुद्रा की गड़बड़ी

१६ जून, १९३३

महायुद्ध के बाद के जमाने में एक वडी उल्लेखनीय वात मुद्रा यानी सिक्को, नोटो आदि की गड़वडी हुई। महायुद्ध के पहले हर देश में मुद्रा की वहुत कुछ निश्चित कीमत हुआ करती थी। हर मुल्क की अपनी अलग-अलग प्रचलित मुद्रा थी—जैसे हिन्दुस्तान में रुपया, इंग्लैण्ड में पौण्ड, अमेरिका में डालर, फ्रांस में फ्रांक, जर्मनी में मार्क, रूस में रूवल, इटली में लीरा, वगैरा; और इन मुख्तलिफ सिक्को का भी आपस में एक निश्चित सम्बन्ध होता था। वे एक-दूसरे से अन्तर्राष्ट्रीय 'गोल्ड स्टैण्डर्ड' (स्वर्ण-मान) द्वारा सम्बन्धित थे, यानी हर देश के प्रचलित सिक्के की सोने में एक

निश्चित यानी तयशुदा कीमत होती थी। हर देश की सीमा में उसकी प्रचलित मुद्रा और समझी जाती थी, लेकिन उसके बाहर नहीं। दो भिन्न-भिन्न प्रचलित मुद्राओ का सम्बन्ध जोड़नेवाली चीज थी सोना, और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सोने की शक्ल में हुआ करते थे। जबतक कि प्रचलित मुद्राओ का निश्चित स्वर्ण-मूल्य रहा तबतक उनमें ज्यादा फर्क नहीं पड़ सका, क्योंकि जहाँतक मूल्य या कीमत का ताल्लुक है वहाँतक सोना एक काफी स्थायी धातु है—यानी ऐसी धातु है जिसमें मूल्य सम्बन्धी उतार-चढाव बहुत कम होता है।

लेकिन महायुद्ध-काल की जरूरियात से मजबूर होकर युद्ध करनेवाली सरकारों को यह स्वर्ण-मान (गोल्ड स्टैण्डर्ड) छोड़ना पडा, और इस तरह उन्होंने अपनी प्रचलित मुद्राओ को सस्ता बना दिया। किसी हदतक 'इन्फ्लेशन' भी किया गया। इससे व्यापार चलाने में तो मदद मिली, लेकिन मुख्तलिफ देशो की प्रचलित मुद्राओ या सिक्को के बारे में उलट-फेर जरूर होगया। महायुद्ध के जमाने में दुनिया दो विरोधी पक्षो में बँट गई थी—एक मित्र-राष्ट्रो का पक्ष और दूसरा जर्मन पक्ष; और हर पक्ष के अन्दर आपसी सहयोग और संगठन था, और हरेक बात युद्ध को मद्देनजर रखकर की जाती थी। दिक्कते तो महायुद्ध के बाद पैदा हुई, और बदलते हुए माली हालात और कौमो के आपसी अविश्वासो का नतीजा यह हुआ कि मुख्तलिफ प्रचलित मुद्राओ में गड़बडी पड़ गई। आजकल की सारी अर्थ-व्यवस्था ज्यादातर साख (क्रेडिट) पर चल रही है। बैंक-नोट और चेक दोनो ही वास्तविक धन नहीं, सिर्फ अदायगी के वादे है, लेकिन उन्हे वास्तविक धन के तौर पर मंजूर कर लिया जाता है। साख हमारे विश्वास पर कायम है, और अगर विश्वास हट जाता है तो उसके साथ साख (क्रेडिट) भी चली जाती है। पिछले दस-बारह वर्षो में मुद्रा-व्यवस्था में इतनी ज्यादा गड़बड़ी होने का यह भी एक कारण है। क्योंकि योरप की कठिनाई से भरी परिस्थितियों ने सारे विश्वास को हिला दिया है। आज की दुनिया परस्पराधीन भी है, हरेक हिस्से का दूसरे हिस्से से बडा गहरा ताल्लुक है, और हमेशा ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ चलती रहती है। इसका मतलब यह है कि एक देश की गड़बडी का दूसरे देशो पर फौरन असर पड़ता है। अगर जर्मनी का मार्क गिरता है, या जर्मन बैंक फेल होजाता है, तो उससे लन्दन और पेरिस और न्यूयार्क के लोग भी कई तरह से गडबडी में पड़ जाते है।

इन और दूसरे कारणो से, जिन्हे बतलाकर मैं तुम्हे हैरान नहीं करूँगा, करीब करीब तमाम मुल्को में मुद्रा या धन के बारे में दिक्कते पैदा होगई, और अक्सर जो मुल्क उद्योग-धन्धो में जितना ज्यादा बढा हुआ था उतनी ही ज्यादा उसपर मुसीबत

आई । क्योकि औद्योगिक तरक्की का अर्थ था बहुत ही पेचीदा और नाजुक अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा । जाहिर है कि तिब्बत जैसे पिछडे हुए और दुनिया से अलग रहनेवाले देश पर तो मार्क या पौण्ड के उतार-चढाव का कोई असर न होगा, लेकिन डालर की कीमत के गिरने से जापान में फौरन गडबडी पड जायगी ।

इसके अलावा, हर औद्योगिक देश में हरेक वर्ग के हित जुदा-जुदा थे । इस रह, कुछ वर्ग तो सस्ती मुद्रा और इन्फ्लेशन (हाँ, जर्मनी की तरह इनफ्लेशन नही) ाहते थे, लेकिन कुछ वर्ग इससे बिलकुल उलटी बात, डिफ्लेशन यानी मुद्रा का ऊँचा र्ण-मूल्य चाहते थे । मसलन, ऋणदाता बैंकर वगैरा इस राय के थे कि मुद्रा की ीमत ऊँची रहे, क्योकि उन्हे लोगो से धन लेना था, और ऋणी लोग कुदरती तौर र यह चाहते थे कि कर्जे चुकाने के लिए मुद्रा सस्ती रहे । कारखानेदार और माल यार करनेवाले सस्ती मुद्रा के तरफदार थे । क्योकि वह आम तौर पर बैंकरो के र्जदार थे, और उससे भी बड़ा कारण यह था कि इससे विदेश में उनके माल बिकने मदद मिलती थी । अगर ब्रिटेन मे मुद्रा सस्ती हो तो, इसका मतलब यह होगा कि दिेशियो में ब्रिटिश माल की कीमत जर्मन या अमेरिकन या दूसरे देशो के माल से म होगी और इससे ब्रिटेन के कारखानेदारो को फायदा होगा और उनका माल यादा बिकेगा । इस तरह तुम्हे मालूम होगा कि जुदा-जुदा वर्ग अपना-अपना मतलब ाधना चाहते थे, और खास रस्साकशी कारखानेदारो और बैंकरो के बीच में थी । इस बात को ज्यादा-से-ज्यादा आसान बनाकर समझाने की कोशिश कर रहा हूँ । रअसल, इसमे बहुत-से पेचीदा कारण शामिल थे ।

फ्रान्स और इटली में 'इनफ़्लेशन' हुआ, और फ़्राक और लीरा का भाव गिर या । पहले एक पाउण्ड स्टर्लिंग के (जो कि ब्रिटिश पौण्ड का नाम है) लगभग २५ ाक मिला करते थे । फिर भाव के गिरने से एक पाउण्ड के २७५ फ्रांक तक हो ये । आखिरकार उसका भाव एक पाउण्ड के १२० फ्रांक के करीब मुकर्रर कर दया गया ।

महायुद्ध के बाद जब अमेरिका ने इंग्लैण्ड की मदद करना बन्द कर दिया, तो पौण्ड की कीमत कुछ गिर गई । उस वक्त इंग्लैण्ड के सामने कठिनाई खडी हो ाई । क्या उसे मुनासिब था कि वह पाउण्ड की कीमत की इस कुदरती गिरावट को मंजूर करले, और पौण्ड की यह नई कीमत ही मुकर्रर करदे ? इससे माल तो सस्ता होजाता और कारखानो को मदद भी पहुँचती, लेकिन बैंकरो और ऋणदाताओ को नुकसान होता । और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि इससे दुनिया के आर्थिक केन्द्र के रूप में लन्दन की जो स्थिति थी वह मिट जाती । फिर तो इस स्थिति में

घण्टे बढ़ाये गये, और मजदूरों की रहन-सहन का दर्जा नीचे गिर गया। सरकार ने अपनी जीत का फायदा उठाया, और मजदूरों को कमजोर करने के लिए और खास कर भविष्य में कोई भी आम हड़ताल न होने देने के लिए नये कानून बना दिये। १९२६ की यह आम हड़ताल इसलिए नाकामयाब हुई कि मजदूरो के नेताओ में अनिश्चितता और कमजोरी थी, और वे उसके लिए तैयार न थे। असल में उनका सारा मकसद उसको टालना ही था, और जब वे ऐसा न कर सके तो उन्होंने पहला मौका हाथ आते ही उसे खत्म कर दिया। दूसरी तरफ सरकार पूरी तरह तैयार थी और उसे मध्यम वर्गों का सहयोग भी प्राप्त हुआ।

इंग्लैण्ड की आम हड़ताल और कोयले के उद्योगो की लम्बी काम-बन्दी ने सोवियट रूस में बडी दिलचस्पी पैदा होगई थी, और रूस की ट्रेड-यूनियनो ने बहुत बडी-बडी रकमें, जो कि रूस के मजदूरो ने चन्दा करके इकट्ठा की थीं, इंग्लैण्ड के खान-मजदूरों की मदद के लिए भेजीं।

उस वक्त के लिए तो इंग्लैण्ड में मजदूर दबा दिये गये, लेकिन किसी उद्योग की गिरावट और बेकारी की बढ़ती का यह कोई हल न था। बेकारी से मजदूरो में आम तौर पर मुसीबत आई; इससे राज्य पर भी एक बड़ा बोझ होगया, क्योंकि कई देशों में बेकारी का बीमा करने का एक तरीका पैदा हो चुका था। यह मान लिया गया था कि राज्य का फ़र्ज है कि वह ऐसे मजदूरों का भरण-पोषण करे जो बग़ैर अपने किसी कसूर के बेकार हों। सरकार के पास नाम दर्ज करानेवाले ऐसे बेकारो को कुछ मदद दी जाती थी, जिसे 'डोल' कहते थे। इस कारण सरकार और स्थानीय संस्थाओ को बडी-बडी रकमें ख़र्च करनी पड़ती थीं।

यह सब क्यो होरहा था? उद्योग-धंधे क्यो गिरते जा रहे थे? व्यापार क्यो कम हो रहा था? बेकारी क्यो बढ़ रही थी? सिर्फ इंग्लैंड में ही नहीं बल्कि करीब-करीब सभी मुल्को में हालत क्यो ख़राब होती जा रही थी? राजनीतिज्ञ और शासक लोगों ने हालत सुधारने की जाहिरा खूब इच्छा की, कान्फ्रेन्स पर कान्फ्रेंसें की गईं, लेकिन उन्हें कोई कामयाबी न मिली। यह बात नहीं थी कि भूकम्प या बाढ या अनावृष्टि जैसी कोई कुदरती मुसीबत आगई हो, जिससे कि अकाल और तकलीफें पैदा होगई हों। दुनिया बहुत-कुछ पहले की ही तरह चल रही थी। असल में भोजन और कारखाने और हर तरह के जरूरी पदार्थ पहले से मिक्दार और तादाद में ज्यादा ही होगये थे, फिर भी मानव जाति के कष्ट बढ गये। जाहिर था कि कोई-न-कोई बुनियादी ख़राबी होगई है जिससे कि यह उल्टा नतीजा निकला। समाज में कहीं-न-कहीं भयंकर कुप्रबन्ध मौजूद था। समाजवादियो और साम्यवादियो ने बताया कि यह सब पूंजीवाद का ही, जो कि

अब खत्म ही होना चाहता है, दोष है। वे रूस की मिसाल देकर कहा करते थे कि हालाँकि वहाँ बहुत-सी दूसरी गडबडी और तकलीफें है, लेकिन बेकारी नही है।

ये सवाल कुछ पेचीदा है, और इन इनसानी मुसीबतो की दवा क्या है, इस बाबत डाक्टरो और पण्डितो की भी जुदा-जुदा रायें है। फिर भी हम उनपर गौर तो करेंगे ही और उनकी कुछ खास विशेषताओ की जाँच भी करेंगे।

आजकल की सारी दुनिया एक ही सम्पूर्ण इकाई बनती जा रही है, और बहुत हद तक बन भी चुकी है। इसका मतलब यह है कि जीवन, प्रवृत्तियाँ, उत्पत्ति, विभाजन, खपत वगैरा सभी अन्तर्राष्ट्रीय और ससार-व्यापी बन रहे है और यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। व्यापार, उद्योग-धधे, मुद्रा-प्रणाली भी ज्यादातर अन्तर्राष्ट्रीय हो रहीं है। मुख्तलिफ मुल्को मे गहरे नजदीकी ताल्लुकात है, वे एक-दूसरे पर निर्भर है, और एक देश की घटना का दूसरे देश पर असर पड़ता है। इस सारी अन्तर्राष्ट्रीयता के होते हुए भी, सरकारें और उनकी नीतियाँ अब भी सकुचित रूप से राष्ट्रीय ही है। बल्कि महायुद्ध के बाद के वर्षो में यह संकुचित राष्ट्रीयता और भी खराब और उग्र होगई है, और वही आज दुनिया में सबसे जबरदस्त चीज बन गई है। नतीजा यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ और सरकारो की राष्ट्रीय नीतियो के बीच संघर्ष चलता रहता है। ससार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियो को तुम एक ऐसी नदी मान लो, जो समुद्र की तरफ बहती हुई जा रही है, और राष्ट्रीय नीतियाँ मानो उस नदी को रोकने, बाँधने, दिशा बदलने और उलटा बहाने तक की कोशिशो के समान है। जाहिर है कि नदी उलटी नही बहाई जा सकती, और न रुक ही सकती है। लेकिन मुमकिन है कि कही-कही उसके रुख में थोडी-सी तब्दीली हो सके, या बाँध भर जाय और उसके ऊपर से पानी बहने लगे। इस तरह आजकल की यह राष्ट्रीयता नदी के नियमित बहाव में बाधा डाल रही है, और कही बाढ़ें पैदा कर रही है, कही नदी-प्रवाह से झीलें बना रही है, और कहीं सड़नेवाली तलैया पैदा कर रही है, लेकिन वह नदी की आखिरी मंजिल को कभी रोक न सकेगी।

इस तरह व्यापार और आर्थिक क्षेत्र में 'आर्थिक राष्ट्रीयता' कही जानेवाली चीज पैदा होगई है। इसका मतलब यह है कि हरेक देश को जितना माल वह खरीदे उससे ज्यादा बेचना चाहिए, और जितना माल वह खुद खपा सके उससे ज्यादा पैदा करना चाहिए। हरेक मुल्क अपना माल बेचना चाहता है, लेकिन खरीदेगा कौन? बिक्री के लिए जरूरी है कि एक बेचनेवाला हो और एक खरीदनेवाला हो। ऐसी दुनिया हो ही नहीं सकती जिसमें सिर्फ बेचनेवाले ही हो। लेकिन आर्थिक राष्ट्रीयता का आधार यही है। हर मुल्क आयात निर्यात करो की दीवारें यानी आर्थिक बाधायें खडी करता है, जिससे

विदेशी माल न आसके, और साथ ही वह अपना विदेशी व्यापार भी बढ़ाना चाह
है। आयात-निर्यात कर की ये दीवारें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को, जिसके आधार पर
आजकल की दुनिया बनी है, रोकती हैं और मार देती है। जैसे-जैसे व्यापार कम
होता जाता है, उद्योग-धंधों को नुकसान होता है और बेकारी बढ़ती है। इसका
नतीजा यह होता है कि विदेशी माल को, जिससे स्वदेश के उद्योग-धंधो में रुकावट
पड़ने का खयाल किया जाता है, रोकनें के लिए और भी जबरदस्त कोशिश की जाती
है, और आयात-निर्यात करो की दीवारें और भी ऊँची कर दी जाती हैं। इससे
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को और ज्यादा नुकसान पहुँचता है और यह दु:खदाई चक्कर
चलता रहता है।

आजकल की औद्योगिक दुनिया असल में राष्ट्रीयता के दर्जे से आगे बढ चुकी है।
माल की उत्पत्ति और विभाजन की सारी प्रणाली सरकारो और देशो के राष्ट्रीय ढांचों
के साथ मेल नहीं खाती। भीतरी वस्तु अब अपने ऊपरी छिलके से ज्यादा बढने लगी
है, और छिलका तड़कने लगा है।

इन आयात-निर्यात करों और व्यापारिक बाधाओ से हर देश के सिर्फ कुछ वर्गों
को ही असल में फायदा पहुँचता है, लेकिन चूँकि ये वर्ग ही अपने-अपने देशो पर हावी
है इसलिए वे ही देश की नीति को बनाया-बिगाड़ा करते हैं। इसलिए हर देश दूसरे
देशो से बढ़ने की कोशिश करता है, और नतीजा यह होता है कि सभीको नुकसान
पहुँचता है, और राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धायें और घृणायें यानी कौमी लाग-डांट और नफरत
बढ़ती जाती हैं। आपसी मतभेदो को कान्फ्रेंसे करके मिटाने की बार-बार कोशिशें की
जाती हैं, और जुदा-जुदा देशो के प्रतिनिधि ऊँची-से-ऊँची सदिच्छा प्रकट करते हैं
लेकिन कामयाबी उनके पास तक भी नहीं फटकती। क्या इससे तुम्हे हिन्दुस्तान के
साम्प्रदायिक सवाल यानी हिन्दू-मुस्लिम-सिख समस्याओ को हल करने की कोशिशों
की याद नहीं आती? शायद दोनो ही मामलो में नाकामयाबी का कारण यह है कि
धारणायें गलत बनाली गई हैं, हेतु गलत समझे गये हैं, और साथ ही उद्देश्य भी
गलत रक्खे जाते हैं।

जो वर्ग इन आयात-निर्यात करो से और आर्थिक राष्ट्रीयता को बढानेवाले दू
तरीको से—मसलन राज्य की तरफ से विशेष आर्थिक सहायता, रेल-किराये की
दरो वगैरा से—फ़ायदा उठाते हैं वे मिल्कियतदार और कारखानेदार वर्ग ही हैं, जि
कि संरक्षण-प्राप्त स्वदेशी बाजारो से लाभ होता है। इस तरह संरक्षण और आय
निर्यात करो के बारे में स्थापित स्वार्थ निर्मित होजाते हैं, और सभी स्थापित स्वा
की तरह वे भी बड़े जोर के साथ हर ऐसी तब्दीली की मुखालिफत करते हैं जि

उनका नुकसान होता है। यह भी इस बात की एक वजह है कि क्यो आयात-निर्यात कर एकवार शुरू होजाने पर बने ही रहते हैं, और क्यो आर्थिक राष्ट्रीयता दुनिया में चल रही है, हालांकि ज्यादातर लोग मान चुके हैं कि इससे सबका नुकसान है। स्थापित स्वार्थो के एक बार पैदा होजाने पर उनका खातमा करना आसान नही है, और किसी अकेले राष्ट्र का ऐसे मामले में आगे बढना तो और भी कम आसान है। अगर सभी देश एकसाथ मिलकर आयात-निर्यात करो को खत्म करदें या बहुत हद तक घटा दें, तो शायद ऐसा हो भी सके। इसमें भी कठिनाइयाँ होगी। ऐसा करने से औद्योगिक रूप से पिछडे हुए देशो को नुकसान पहुँचेगा, क्योकि वे उन्नत देशो का बराबरी के आधार पर मुकाबिला नही कर सकेगे। नये उद्योग-धंधे तो अक्सर संरक्षणात्मक कर के साये मे ही खडे होते हैं।

आर्थिक राष्ट्रीयता से राष्ट्रो में आपसी व्यापार कम होता है और रुकता है। इस तरह संसार-व्यापी बाजार के खुलने मे हानि होती है। हर राष्ट्र एकाधिकार का क्षेत्र बन जाता है, और उसका बाजार संरक्षित होजाता है; यानी खुला बाजार नही रह पाता। हर राष्ट्र के अन्दर भी एकाधिकार (मोनोपली) बढ़ जाते है, और खुला और उन्मुक्त बाजार गायब होने लगता है। बडे-बडे ट्रस्ट (व्यापारियो के समूह), बडी-बडी दूकाने और बडे-बडे कारखाने छोटे उत्पादको और दूकानदारो को निगल जाते है, और इस तरह प्रतियोगिता को ही खत्म कर देते हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान और दूसरे औद्योगिक देशो में ये राष्ट्रीय एकाधिकार रखनेवाले ट्रस्ट या कम्पनियाँ भयंकर गति से बढ गई है, और इस तरह ताकत थोडे-से ही लोगो के हाथो में जमा होगई है। पेट्रोल, साबुन, रासायनिक चीजें, शस्त्रास्त्र, लोहा, बैंकिग, और दूसरी भी अनेक वस्तुओ में एकाधिकार कायम होगये हैं। इस सबका एक अजीब नतीजा होता है। वह विज्ञान की तरक्की और पूजीवाद की बढ़ती का अनिवार्य यानी कुदरती नतीजा है, लेकिन वह इस पूंजीवाद की जड़ को ही काटता है। क्योकि पूंजीवाद ससार-व्यापी बाजार और खुले बाजार के साथ ही शुरू हुआ था। प्रतियोगिता ही पूजीवाद की जान थी। अगर संसार-व्यापी बाजार मिट जाता है और राष्ट्रीय सीमाओ के अन्दर भी खुले बाजार की प्रतियोगिता मिट जाती है तो समाज के इस पुराने पूजीवादी ढाँचे की बुनियाद ही हट जाती है। यह तो दूसरी बात है कि अब इसकी जगह पर कौन-सी समाज-व्यवस्था आयगी, लेकिन मालूम होता है कि पुरानी समाज-व्यवस्था इन एक-दूसरे की विरोधी प्रवृत्तियो को रखती हुई ज्यादा दिन चल नही सकती।

विज्ञान और औद्योगिक प्रगति मौजूदा सामाजिक प्रणाली से बहुत आगे पहुँच चुकी है। वे भोजन और जिन्दगी की अच्छी चीजें बहुत ज्यादा पैदा करती है और

पूँजीवाद यह नहीं जानता कि इन चीजों का क्या उपयोग किया जाय ! बल्कि वह अक्सर इन चीजों को बर्बाद करने या उनकी उत्पत्ति कम करने लगता है। और इस तरह हम यह असाधारण दृश्य देखते हैं कि प्रचुरता और दरिद्रता यानी बहुतायत और ग़रीबी साथ-ही-साथ मौजूद हैं। अगर आधुनिक विज्ञान और उत्पत्ति के तरीक़े के लायक़ यह पूँजीवाद नहीं है, तो कोई दूसरा तरीक़ा ढूंढ़ना होगा जो विज्ञान के ज्यादा अनुकूल हो। वरना, दूसरा रास्ता यह है कि विज्ञान का ही गला घोंट दिया जाय और उसे आगे बढ़ने से रोक दिया जाय। लेकिन ऐसा करना तो बेवक़ूफ़ी होगी और, कुछ भी हो, उसका तो ख़याल करना ही मुश्किल है।

जब आर्थिक राष्ट्रीयता मौजूद है, जब एकाधिकारों और क़ौमी लाग-डांट में बढ़ती हो रही है, और जब दम तोड़ते हुए पूँजीवाद के दूसरे दोष मौजूद हैं तो सारी दुनिया में गड़बड़ी मची हो तो इसमें ताज्जुब की बात कौन-सी है ? आजकल का साम्राज्यवाद ख़ुद भी इस पूँजीवाद का एक रूप है, क्योंकि हर साम्राज्यवादी ताक़त दूसरी जातियों का ख़ून चूसकर अपने क़ौमी सवालों को हल करना चाहती है। इससे फिर साम्राज्यवादी ताक़तों में लाग-डांट और कशमकश पैदा होती है। आजकल इस उलटी दुनिया में हर बात का नतीजा संघर्ष ही होता है !

मैंने तुम्हें यह बताते हुए इस ख़त को शुरू किया था कि महायुद्ध के बाद मुद्रा-प्रणाली में अजीब गड़बड़ी पैदा होगई थी। क्या हम मुद्रा-प्रणाली को दोष दे सकते हैं, जबकि और भी तमाम बातों में बेहद गड़बड़ी हो गई है ?

: १७४ :

दाँव और घात

१८ जून, १९[illegible]

मेरे पिछले दो ख़त आर्थिक और मुद्रा-सम्बन्धी सवालों की बाबत थे। ये विषय बड़े रहस्यपूर्ण यानी भेद से भरे हुए और समझने में कठिन माने जाते हैं। यह सच है कि वे आसान नहीं हैं, और उनपर बहुत ज्यादा ग़ौर करने की ज़रूरत होती है, लेकिन फिर भी वे बहुत भयंकर नहीं हैं और उन विषयों की बाबत रहस्य का वातावरण बन जाने के लिए कुछ हदतक अर्थशास्त्री और विशेषज्ञ लोग ही ज़िम्मेदार हैं। पुराने ज़माने में रहस्यपूर्ण बातों का ठेका धर्माधिकारियों के पास रहता था, और वे तरह-तरह के क़ायदों और रस्म-रिवाजों के ज़रिये, जो अक्सर किसी ऐसी पुरानी ज़बान में पूरी की जाती थीं जिन्हें कोई नहीं समझता था, और [illegible]

दिखलाकर कि अदृष्ट शक्तियो से उनका सम्बन्ध है, अपनी इच्छा के मुताबिक अज्ञान जनता को चलाया करते थे। आजकल धर्माधीशो की ताकत बहुत कम होगई है, और ओद्योगिक देशो मे तो करीब-करीब बिलकुल ही नही रही। धर्माधीशो की जगह अब विशेषज्ञ, अर्थशास्त्री और बैंकर और ऐसे ही दूसरे लोग पैदा होगये है, जो गूढ भाषा मे, जिसमें ज्यादातर शब्द पारिभाषिक होते है, बात करते है, जिसे मामूली लोगो का समझना मुश्किल होता है। इस तरह औसत आदमी को इन सवालो को तय करने का काम इन विशेषज्ञो पर छोड़ देना पडता है। लेकिन विशेषज्ञ लोग, जान मे या अनजान में, शासकवर्गो के ही साथ जुड़ जाते है, और उनके ही हितो को फायदा पहुँचाते हैं। फिर विशेषज्ञो मे मतभेद भी होता है।

इसलिए यह अच्छा है कि हम सब इन आर्थिक सवालो को, जो आजकल राजनीति और दूसरी भी सारी बातो पर हावी मालूम होते है, कुछ-कुछ समझ लेने की कोशिश करे। इन्सान को कई तरह से वर्गो और श्रेणियो मे बॉटा जा सकता है। एक बँटवारा इस तरह भी हो सकता है कि इन्सान दो श्रेणी के है · एक तो जमाने की लहर के साथ बहनेवाले, जिनकी अपनी कोई इच्छा-शक्ति नही होती और जो पानी की सतह पर पडे हुए तिनके की तरह अपनेआपको इधर-उधर बह जाने देते है, और दूसरे वे लोग जो जिन्दगी मे जोरदार अभिनय करते है और परिस्थिति पर असर डालते है। दूसरे वर्ग के लोगो के लिए ज्ञान और समझ जरूरी है, क्योकि कोई भी कारगर काम इनके आधार पर ही हो सकता है। सिर्फ़ सद्भावना या सदिच्छाओ से ही काम नही चल सकता। जब कभी कोई कुदरती मुसीबत या महामारी या सूखा पड़ जाता है या और कोई भी कष्ट आजाता है तो सिर्फ हिन्दुस्तान में ही नही वल्कि योरप में भी अक्सर देखा जाता है कि लोग कष्ट दूर करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते है। अगर ईश्वर की प्रार्थना से उनकी आत्मा को तसल्ली मिलती है और विश्वास और हिम्मत पैदा होती है तो वह अच्छी चीज है और उसपर किसीको एतराज करने की जरूरत नही। लेकिन प्रार्थना से महामारी मिट जायगी, इस खयाल के बदले अब यह वैज्ञानिक विचार पैदा होता जा रहा है कि बीमारियो के मूल कारणो को सफाई और दूसरे तरीको से दूर करना चाहिए। अगर कारखाने की मशीनो में कोई टूट-फूट होजाय, या गाडी के टायर में सूराख होजाय, तो ऐसा नही देखा जायगा कि लोग बैठे रहे या प्रार्थना करते रहे और सिर्फ आशा, सदिच्छा या प्रार्थना करते रहे, कि वह टूट-फूट अपने-आप दुरुस्त हो जाय, या सूराख खुद जुड जाय। वे काम करना और मशीन और टायर को सुधारना शुरु कर देते है, और फौरन ही मशीन फिर चलने लगती है और गाडी सडक पर दौडने लगती है।

इसी तरह मानवीय और सामाजिक मशीन में भी सदिच्छा के अलावा हमें उसकी अच्छी वाक़फियत और उसकी ताकतों का ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान निश्चित तो प्रायः नही होता, क्योंकि उसका ताल्लुक मनुष्य की इच्छाओ, आकाक्षाओ, रुचि अरुचियों और आवश्यकताओ-जैसी अनिश्चित चीजो से होता है, और जब आ लोगो या तमाम समाज या मुख्तलिफ वर्गो के मनुष्यो का हम विचार करते हैं तो चीजें और अनिश्चित होजाती है। लेकिन अध्ययन और अनुभव और निरीक्षण इस अनिश्चित गिरोह या जमघट में भी धीरे-धीरे व्यवस्था आने लगती है, और ज्ञान बढ़ता है, और उसके साथ अपनी परिस्थिति को बनाने या सम्हालने की हमारी योग्यता भी बढ़ती है।

अब मै महायुद्ध के वाद के इन वर्षो में योरप के राजनैतिक पहलू के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। पहली वात, जो ख़ास तौर पर दिखाई देती है, यह है कि महाद्वीप यानी योरप इन तीन हिस्सो में बँट गया था——महायुद्ध में जीतनेवाले राष्ट्र, महायुद्ध में हारनेवाले राष्ट्र, और सोवियट रूस। नार्वे, स्वीडन, हालैण्ड और स्वीज़रलैण्ड-जैसे भी कुछ छोटे-छोटे देश थे जो इन तीनो हिस्सो में से किसीमें भी न आते थे, लेकिन वृहत्तर राजनैतिक दृष्टिकोण से उनका कोई ख़ास महत्त्व नही था। हाँ, सोवियट रूस श्रमिको की सरकार बनाकर अकेला अलग ही था, और विजयी शक्तियो को हमेशा खटकता रहता था। यह खटक सिर्फ़ इसलिए नहीं थी कि उसकी शासन-प्रणाली ऐसी थी जिससे कि दूसरे देशो के श्रमिको को क्रान्ति की प्रेरणा मिलती थी, बल्कि इसलिए भी थी कि वह विजयी शक्तियो की पूर्व-देशीय योजनाओ में अड़गा डालता था। मैंने तुम्हे रूस में विदेशी ताकतो की लड़ाइयो का हाल पहले बताया है, जिनमें कि सन् १९१९ और १९२० में इन विजयी राष्ट्रो में से ज्यादातर राष्ट्रो ने सोवियट शासन को कुचल डालने की कोशिश की थी। फिर भी सोवियट रूस तो जिन्दा ही रहा, और योरप की साम्राज्यवादी ताकतो को उसकी हस्ती बर्दाश्त करनी पड़ी, लेकिन यह भी किया उन्होने कम-से-कम सदिच्छा या गौरव के साथ ही। ख़ासकर इंग्लैण्ड और रूस की पुरानी लाग-डाट, जोकि ज़ारशाही जमाने से चली आ रही थी फिर भी जारी रही, और उससे कई वार ऐसी सनसनी, अन्देशे और वारदात पैदा होजाते थे, जिनसे लड़ाई छिड़ जाने का डर होजाता था। सोवियट-रूस को विश्वास होगया था कि इंग्लैण्ड उसके खिलाफ हमेशा साज़िश करता रहता है और योरप में सोवियट-विरोधी संगठन खड़ा कर रहा है। कई वार लड़ाई का शोर भी पैदा होजाता था।

पश्चिमी और मध्य योरप में जीते और हारे हुए देशो के बीच का [illegible]

ज्यादा नजर आता था, और फ़ास विजय की भावना को ख़ास तौर पर जाहिर करता था। कुदरती तौर पर हारे हुए मुल्क सुलहनामो की कई शर्तो से असन्तुष्ट थे, और हालाँकि वे कुछ नही कर सकते थे फिर भी भविष्य में तब्दीली के सपने देखा करते थे। आस्ट्रिया और हगरी बडी मुसीबत में थे; उनकी हालत और भी बिगड़ती हुई मालूम होती थी। दूसरी तरफ, युगोस्लेविया सर्बिया का ही बढा हुआ रूप था, और वह कई बेमेल वर्गो और जातियो का एक समूह बन गया था। उसके मुख्तलिफ हिस्सो को एक-दूसरे से ऊब उठने और आपस में जुदा हो जाने की प्रवृत्ति से भर जाने में ज्यादा वक़्त न लगा। खासकर क्रोशिया में (जो अब युगोस्लेविया का एक सूबा है) आजादी का एक जोरदार आन्दोलन चल रहा है, और इसे सर्बियन सरकार ने जोर-जबरदस्ती से दबाने की कोशिश की है। पोलैण्ड नकशे पर अब काफी बड़ा होगया है, लेकिन उसके साम्राज्यवादी लोग दक्षिण में काले समुद्र तक फैल जाने के और इस तरह सन् १७७२ की पुरानी पोलिश सरहद फिर से कायम करने के गैरमामूली सपने देखते हैं। आजकल तो पोलैण्ड में रूसी यूक्रेन का एक हिस्सा भी शामिल है। इसे तरह-तरह के जुल्म, मौत की सज़ाओ, और बर्बरतापूर्ण दमन के आतंक से 'शान्त करने' या 'पोलिश बनाने' की कोशिश कीगई है, और अब भी की जा रही है। ये आग के कुछ छोटे-छोटे-से ढेर हैं जो पूर्वीय योरप में सुलग रहे हैं। इनका महत्व इस कारण है कि इस आग के ज्यादा बढ़ जाने का अन्देशा है।

राजनैतिक रूप में, और उपयोगिता की दृष्टि से भी, महायुद्ध के बाद के जमाने में योरप में फ़्रांस ही प्रमुख राष्ट्र होगया था। वह जो कुछ चाहता था, प्रदेश या राज्य के रूप में और मुआवजे के इकरार की शक्ल में उसे ज्यादातर मिल गया था, लेकिन फिर भी वह सुखी न था। एक बडी दहशत हमेशा उसके सिर पर सवार थी, कि कहीं जर्मनी फिर उससे लड़ने लायक मजबूत न बन जाय, और कहीं उसे हरा न दे। इस दहशत का ख़ास सबब यह था कि जर्मनी की आबादी उससे बहुत ज्यादा थी। फ्रांस का मुल्क असल में जर्मनी से बड़ा है, और शायद उपजाऊ भी ज्यादा है। फिर भी फ्रान्स की आबादी ४१० लाख से कम है, और स्थायी-सी है। लेकिन जर्मनी की आबादी ६२० लाख से ज्यादा है, और बढ़ती जा रही है। जर्मन लोग हमलावर और लड़ाकू भी मशहूर हैं और इसी पीढी के सामने वे दो बार फ्रांस पर हमला भी कर चुके हैं।

इसलिए फ्रास पर जर्मनी द्वारा बदला लिये जाने का भय हमेशा सवार रहा, और उसकी सारी नीति की बुनियाद और खास उसूल 'सुरक्षितता' यानी उसने जो कुछ हासिल कर लिया है उसे बनाये और बचाये रखने की सुरक्षितता ही रहा है।

फ़्रांस की सैनिक प्रमुखता के ही सब से वे सब देश दबे रहते थे, जो वर्साई सन्धि से असन्तुष्ट थे, क्योंकि इस सन्धि को बनाये रखना फ़्रांस की सुरक्षितता लिए जरूरी समझा जाता था। अपनी स्थिति को और भी मजबूत करने के लिए फ्रां ने ऐसे राष्ट्रों का एक गुट बना लिया जो वर्साई-सन्धि को बनाये रखने में दिलचस्प लेते थे। ये देश थे——बेलजियम, पोलैण्ड, ज़ेकोस्लोवेकिया, रूमानिया और युगोस्लेविया

इस तरह फ़्रांस ने योरप में अपना नेतृत्व कायम कर लिया। यह इंग्लैण्ड पसन्द न आया, क्योंकि इंग्लैण्ड नहीं चाहता कि उसके सिवा कोई दूसरी ताकत यो में हावी होजाय। इंग्लैण्ड के दिल में अपने दोस्त फ़्रांस के लिए जो मुहब्बत औ मित्रता थी उसमें बड़ी कमी आगई; इंग्लैण्ड के अखबारों में फ्रांस को खुदगर्ज़ औ संगदिल कहा जाने लगा, और पुराने दुश्मन जर्मनी के लिए मित्रतापूर्ण शब्द इस्तेमा किये जाने लगे। इंग्लैण्ड के लोग कहने लगे कि इंसान को पुरानी बातों को भूल जा और माफ़ कर देना चाहिए, और लड़ाई के दिनों को याद कर शान्ति के दिनों वर्ताव नहीं करना चाहिए। ये कैसी ऊँची भावनायें थीं! और अंग्रेजी दृष्टिकोण से दोहरी प्रससनीय थीं, क्योंकि ये अंग्रेजी नीति से मेल भी खा जाती थीं। एक इटलि राजनीतिज्ञ काउण्ट स्फोरज़ा ने कहा है कि "ब्रिटिश जाति को दयालु ईश्वर ने महान् वरदान दे रक्खा है कि इंग्लैण्ड को जिस बात में कोई राजनैतिक फायदा हो हो, या ब्रिटिश सरकार जो कोई राजनैतिक कार्रवाई करे, उसे सभी वर्ग ऊँचे-से नैतिक कारणों से उचित सिद्ध करें।"

१९२२ के शुरू से यूरोपियन राजनीति में इंग्लैण्ड और फ़्रांस की कशमकश एक स्थायी चीज़ होगई है, और वह तबसे चल ही रही है। जाहिरा तौर पर दोनों तरफ़ के लोग आपस में हँसकर मिलते हैं, शिष्टता के शब्द कहते हैं, और उनके राजनीतिज्ञ और प्रधानमन्त्री अक्सर मिला करते और साथ-साथ फोटो खिचवाते हैं, लेकिन दोनों सरकारें अक्सर एक-दूसरे से भिन्न दिशाओं में ही जा हैं। १९२२ में जब जर्मनी अपनी किस्त की अदायगी न कर सका, तो इंग्लैण्ड प्रदेश पर मित्र-राष्ट्रों के दख़ल करलेने के हक़ में न था। लेकिन फ्रांस ने इंग्लैण्ड परवा न करते हुए अपनी मर्ज़ी के मुताबिक अमल किया। इंग्लैण्ड ने इसमें हिस्सा न लिया।

एक और पुराना मित्र फ्रांस से अलग होगया, और दोनों देशों में कशमकश होने लगी। इसका कारण था १९२२ में मुसोलिनी का सत्ता प्राप्त लेना, और उसकी साम्राज्यवादी आकांक्षायें, जिनमें फ्रांस बाधा डालता मुसोलिनी और फ़ैसिज़्म का हाल मैं तुम्हें अपने अगले ख़त में बताऊँगा।

महायुद्ध के बाद के वर्षों मे ब्रिटिश साम्राज्य मे उसके छिन्न-भिन्न होने की भी कुछ प्रवृत्तियाँ नजर आई। दूसरे खतो में भी मैंने इस सवाल के कुछ पहलुओ पर बहस की है। यहॉ मै सिर्फ एक पहलू का जिक्र करूँगा। आस्ट्रेलिया और कनाडा दोनो ही अमेरिका के सास्कृतिक और आर्थिक प्रभाव में अधिक-अधिक आने लगे थे, और इन तीनो देशो मे जो एक सामान्य बात थी वह है--जापानियो से, खासकर जापानियो के अपने देश मे बसने से, नाराजी। आस्ट्रेलिया को तो इससे खास खतरा है, क्योकि उसमे गैर-आबाद जगह बहुत पडी है और जापान दूर नही है और उसकी आबादी भी बहुत बढती जा रही है। न तो इग्लैण्ड के ये दोनो उपनिवेश और न सयुक्तराष्ट्र अमेरिका ही इग्लैण्ड की जापान से दोस्ती पसन्द करते थे। इंग्लैण्ड अमेरिका को खुश रखना चाहता था, क्योकि ऋणदाता की हैसियत से और दूसरी तरह भी अमेरिका दुनिया में प्रमुख होता जाता था, और साथ ही वह अपना साम्राज्य भी जबतक चल सके तबतक चलाये रखना चाहता था। इसलिए उसने १९२२ में वाशिगटन कान्फरेन्स मे जापान की दोस्ती को कुरबान कर दिया। मैंने चीन पर जो पिछला खत लिखा था उसमें तुम्हे इस कान्फ्रेंस की बाबत लिखा था। वहीपर चार राष्ट्रो का समझौता (Four Power Agreement) और नौ राष्ट्रो की सन्धि (Nine Power Treaty) हुई थी। इन सन्धियो का चीन और पैसिफिक समुद्र-तट से ताल्लुक था, लेकिन सोवियट रूस को, जिसका इनसे जीवन-मरण का सम्बन्ध था, उसके विरोध करने पर भी बुलाया नही गया।

इस वाशिगटन कान्फरेन्स से इंग्लैण्ड की पूर्वीय नीति में फर्क शुरू होता है। अभीतक तो इग्लैण्ड "सुदूर-पूर्व' (Far East) में, और जरूरत हो तो हिन्दुस्तान में भी, जापान से मदद लेने का भरोसा रखता था। लेकिन अब दुनिया के मामलो में 'सुदूर-पूर्व' एक बडा जरूरी हिस्सा बनता जा रहा था, और वहॉ मुख्तलिफ मुल्को के स्वार्थो में कशमकश भी थी। चीन उठ रहा था, या उठता-सा दिखाई देता था, और जापान और अमेरिका एक-दूसरे के ज्यादा खिलाफ होते जा रहे थे। कई लोगो का खयाल था कि अगला महायुद्ध खासकर पैसिफिक (प्रशान्त) महासागर में होगा। जापान और अमेरिका दोनो के बीच में इग्लैण्ड अमेरिका के पक्ष में टल गया, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि उसने जापान का पक्ष छोड़ दिया। उसकी नीति थी बगैर निश्चित इकरार किये हुए ताकतवर और दौलतमन्द अमेरिका से दोस्ती जरूर बनाये रखना। जापानी दोस्ती खत्म कर देने के बाद इंग्लैण्ड ने 'सुदूर-पूर्व' के भावी संभावित युद्ध के लिए तैयारी शुरू करदी। उसने सिंगापुर में बहुत बडे और खर्चीले 'डाक' बनवाये, और इस मुकाम को जहाजी बेडे का जबरदस्त अड्डा बना दिया। इन जगह ने

इंग्लैण्ड हिन्द-महासागर और प्रशान्त महासागर के बीच होनेवाले आवागमन पर नि-न्त्रण रख सकता है। एक तरफ तो वह हिन्दुस्तान और बरमा पर हावी रह सकता है, और दूसरी तरफ़ फ्रांस और हालैण्ड के मातहत देशो पर भी हावी हो सकता है और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह प्रशान्त महासागर के युद्ध में कारगर और जबरदस्त हिस्सा ले सकता है, चाहे वह जापान के खिलाफ हो या और किसी ताकत के खिलाफ हो।

१९२२ में वाशिंगटन में इंग्लैण्ड और जापान का गुट टूट जाने से ज अकेला रह गया। मजबूरन जापानियो को रूस की तरफ नजर दौड़ानी पड़ी, वे सोवियट राज्यो से अच्छे ताल्लुकात कायम करने लगे। तीन साल बाद, जन १९२५ में, जापान और सोवियट यूनियन के बीच एक सन्धि होगई।

महायुद्ध के बाद कुछ साल तक जर्मनी के साथ विजयी शक्तियो ने ज बहिष्कृत का-सा बर्ताव किया। इन शक्तियों से ज्यादा हमदर्दी न पाकर, और कुछ डरा देने की निगाह से, वह सोवियट रूस की तरफ मुड़ा और उससे अप्रैल १९ में एक सन्धि--रेपैलो की सन्धि--करली। सन्धि की बातचीत गुप्त रूप से की गई और इसलिए जब सन्धि प्रकाशित की गई तो मित्र-राष्ट्रो को धक्का-सा लगा। खास ब्रिटिश सरकार तो बहुत घबरा गई, क्योंकि इंग्लैण्ड के शासक-वर्ग सोवियट तर को बहुत ज्यादा नापसन्द करते थे। दरअसल इसी अनुभव ने कि अगर जर्मनी साथ अच्छा बर्ताव न किया गया और उसे मनाया न गया तो वह रूस से मिल जाए जर्मनी के प्रति अंग्रेजो की नीति में तब्दीली पैदा करदी। वे जर्मनी की तकलीफ को खूब महसूस करने लगे, और उन्होंने कई तरह से गैर-सरकारी तरीके पर जर्मनी मदद पहुँचाने की इच्छा प्रकट की। वे रूर-प्रदेश की दखलयाबी से भी दूर रहे। सब कुछ जर्मनी की मुहब्बत के सबब से नहीं किया गया, बल्कि इस ख्वाहिश से कि गया कि जर्मनी रूस से अलग बना रहे, और सोवियट-विरोधी गुट में शामिल रहे। साल तक अंग्रेजो की नीति की यही कसौटी रही, और १९२५ में लोकार्नो में उन्हें का याबी भी मिल गई। लोकार्नो में राष्ट्रो की एक कान्फरेन्स की गई, और महायुद्ध बाद पहली बार विजयी शक्तियो और जर्मनी में कुछ बातो में असली मेल हुआ, जो निस्सन्देह एक सुलहनामे की शक्ल में लिख लिया गया। पूरा मेल तो हुआ ही था; मुआवजे का जबरदस्त सवाल और दूसरे सवाल बाकी ही रहे। लेकिन एक अच्छी शुरुआत होगई थी और कई आपसी आश्वासन और वादे किये गये। जर्मनी ने वर्साई सन्धि में बनाई हुई अपनी पश्चिम की फ्रेंच सीमा को मंजूर कर लिया, लेकिन पूर्वी सीमा को, और उसके साथ समुद्र से मिले हुए पोलैण्ड के बरडोर को, उसने मंजूर

मान लेने से इन्कार कर दिया। हाँ, उसने यह वादा किया कि इसको बदलवाने के लिए वह सिर्फ शान्तिपूर्ण उपाय ही काम में लायगा। अगर एक भी फरीक समझौते को भंग करे तो वाकी सबने मिलकर उसका मुकाबिला करने का इकरार किया।

लोकार्नो की सन्धि अंग्रेजी नीति की सफलता थी। इस सन्धि से ब्रिटेन किसी हद तक फ्रास और जर्मनी के बीच पच बन गया, और इससे जर्मनी रूस से भी अलग कर लिया गया। लोकार्नो का खास महत्व इस बात में है कि इसमें पश्चिमी योरप के राष्ट्र एक सोवियट-विरोधी गुट की शक्ल में आगये। इससे रूस भयभीत होगया और कुछ ही महीनो में उसने तुर्की के साथ सन्धि करके इसका जवाब दे दिया। यह रूसी-तुर्की सन्धि दिसम्बर १९२५ में, मोसल के खिलाफ राष्ट्र-सघ द्वारा फैसला होने के, जो कि तुर्की के खिलाफ था, ठीक दो दिन बाद ही हुई। सितम्बर १९२६ में (जब कि हम लोग इत्तफाक से जेनेवा में थे और तुम इकोल इन्टरनेशनल में अपने छोटे-छोटे पैरो से चलकर पहुँच जाया करती थी) जर्मनी राष्ट्र-संघ में दाखिल होगया। लोग आपस में खूब गले मिले, हाथ मिलाये, और राष्ट्र-सघ के सभी लोगो नें प्रसन्नता की मुस्कराहट से एक-दूसरे को बधाई दी।

इस तरह यूरोपियन राष्ट्रो में, जो अक्सर अपनी आन्तरिक नीतियो से प्रभावित रहते थे, एक-दूसरे के खिलाफ दॉव और घात चलते रहे। इंग्लैण्ड में दिसम्बर १९२३ में आम चुनाव हुआ और उसमे अनुदार दल की हार हुई, और पार्लमेण्ट में मजदूर दल ने, हालॉकि उसका साफ बहुमत न था, पहली बार मन्त्रि-मण्डल बनाया। रैम्जे मैकडानल्ड प्रधानमन्त्री हुआ। यह सरकार सिर्फ साढे नौ महीने ही जिन्दा रही। फिर भी इस अर्से में उसने सोवियट रूस से समझौता कर लिया, और दोनो देशो में राजनैतिक और व्यापारिक ताल्लुकात कायम कर लिये गये। अनुदार लोग सोवियट राज्यो को जरा भी मानने के खिलाफ थे, और ब्रिटेन के अगले आम चुनाव में, जो कि पिछले चुनाव के एक साल के अन्दर हुआ, रूस का वहुत ज्यादा जिक्र आया। इसका कारण यह था कि अनुदार लोगो ने चुनाव में एक खास पत्र को, जो जिनोवीर पत्र के नाम से मशहूर है, अपना खास मोहरा बना लिया था। मैं अब भूल गया हूँ कि इस पत्र में क्या लिखा था, लेकिन स्पष्टत. उसमें कोई साजिश करने की बात सूचित की गई थी, और बताया गया था कि इंग्लैण्ड में खुफिया तौर से कुछ कार्रवाइयाँ करनी चाहिएँ। जिनोवीर सोवियट सरकार का एक प्रमुख वोलशेविक था। उसने उस खत से बिलकुल इन्कार किया और कहा कि वह बनावटी होगा। फिर भी अनुदार लोगो ने उस पत्र का पूरा दुरुपयोग किया, और कुछ-कुछ उसकी मदद से ही चुनाव जीत लिया। अब एक अनुदार सरकार कायम हुई और प्रधानमन्त्री स्टैनली बाल्डविन बना। इस सर-

कार से बार-बार कहा गया कि वह जिनोवीर पत्र की सचाई या झूठ की जाँच कराये, लेकिन उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। बर्लिन में बाद के रहस्योद्घाटन से मालूम हुआ कि वह एक जाली खत था, जो एक 'सफेद' रूसी व्यक्ति यानी एक बोलशेविक-विरोधी प्रवासी रूसी ने बनाया था। लेकिन इस जालसाजी ने इंग्लैण्ड में अपना काम पूरा कर दिया, और एक सरकार को हटाकर दूसरी कायम करदी। ऐसी छोटी-छोटी घटनाओ से अन्तर्राष्ट्रीय मामलो पर असर पड जाया करता है'

नई अनुदार सरकार ने रूस से फौरन ताल्लुकात नही तोडे। वह उससे जाहिरा तौर पर सम्बन्ध बनाये रही, लेकिन व्यवहार में हमेशा नाराजगी जाहिर करती और नुक्स निकालती रही और इसमें शक नही कि अन्दर-ही-अन्दर बहुत-सी साजिशें भी होती रही। जिस उदारता से रूस के मजदूरो ने १९२६ की ब्रिटिश खान-मजदूरो की बडी लड़ाई में मदद पहुँचाई, उससे तो बाल्डविन की सरकार बहुत ज्यादा खीझ गई। बाद में उसी साल एक नई बात से, जो कि इस बार 'सुदूर पूर्व' में हुई, उसे और भी गुस्सा आया। अचानक चीन में एक मजबूत संयुक्त राष्ट्रीय सरकार पैदा होगई, और सोवियट सरकार से उसकी बडी गहरी दोस्ती मालूम हुई। कई महीनो तक चीन में अंग्रेज बडी मुश्किलो में रहे, और उन्हे अपने रौब और दबदबे में होनेवाली कमी को बर्दाश्त करना पडा, साथ ही और भी कई ऐसे काम करने पडे जिन्हे वे नापसन्द करते थे। इसके बाद चीन के आन्दोलन में, कुछ समय की कामयाबी के बाद, फूट पड गई और वह टुकडो में बँट गया। जनरलो यानी सेनापतियो ने आन्दोलन के उग्र विचार वाले व्यक्तियो का कत्ले-आम किया या उन्हे निकाल दिया, और शंघाई के विदेशी बैंकरों का सहारा लेना ही ज्यादा पसन्द किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में रूस की एक बडी हार थी और इससे चीन में तथा दूसरे देशो में रूस की इज्जत बहुत कम होगई। इंग्लैण्ड के लिए यह एक जीत थी, और उसने सोवियट को हार का और भी अनुभव कराकर इस मौके को और भी अच्छा बनाने की कोशिश की। सोवियट-विरोधी गुट फिर संगठित किया गया और रूस को चारो तरफ से घेर लेने की कोशिश की गई।

करीब १९२७ के बीच में दुनिया के मुख्तलिफ हिस्सो में कई जगह सोवियट के खिलाफ कार्रवाई की गई। अप्रैल १९२७ में एक ही दिन पेकिंग के सोवियट राजदूतावास पर और शंघाई के सोवियट प्रतिनिधि के स्थान पर हमले किये गये। इन प्रदेशो पर चीन की दो जुदा-जुदा सरकारो का नियन्त्रण था, लेकिन इस मामले में दोनो ने एक साथ कार्रवाई की। राजदूतावास पर हमला होना और राजदूत का अपमान होना एक बडी गैर-मामूली बात होती है, करीब-करीब लाजिमी तौर पर युद्ध छिड जाता है। रूस का विश्वास था कि इंग्लैण्ड और दूसरी सोवियट-विरो

शक्तियो ने चीन की सरकारो से ऐसी कार्रवाई करवाई, जिससे कि रूस को युद्ध मे पडना पडे। लेकिन रूस ने लडाई न की। एक महीने बाद, मई १९२७ मे, एक और गैरमामूली हमला रूसी व्यापारी कार्यालयो पर किया गया, और इस बार यह लन्दन में हुआ। यह 'आरकस-रेड' कहलाता है, क्योकि इग्लैण्ड में रूस की सरकारी व्यापारी कम्पनी का नाम 'आरकस' था। यह भी दूसरे राष्ट्र का एक बडा भारी और, जैसा कि घटना से साबित हुआ, एक बिलकुल अनुचित अपमान था। इसके बाद फौरन ही दोनो देशो में राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध टूट गये। इसके अगले माह जून मे वारसा में पोलेण्ड मे रहनेवाले सोवियट राजदूत का क़त्ल कर दिया गया। (चार साल पहले लोसेन मे रोम का सोवियट राजदूत मार दिया गया था।) इन सब वाक़आत के एक-के-बाद-एक जल्दी-जल्दी होने से रूस के लोगो को डर होगया, और उन्हे पूरी उम्मीद होगई कि साम्राज्यवादी राष्ट्र सब मिलकर उनपर हमला करेगे। रूस मे युद्ध का जबरदस्त आतक फैल गया और पश्चिमी योरप के कई देशो में मजदूरो ने रूस के पक्ष मे, और नजर आनेवाले युद्ध के खिलाफ, प्रदर्शन किये। लेकिन यह डर निकल गया और युद्ध नही हुआ।

उसी साल, १९२७ मे, रूस ने बडे पैमाने पर बोलशेविक क्रान्ति का दसवॉ वार्षिकोत्सव मनाया। उस वक़्त इग्लैण्ड और फ्रास रूस के बहुत खिलाफ थे, लेकिन पूर्वीय देशो से रूस की दोस्ती का इजहार इसी बात से होता था कि उस उत्सव में ईरान, तुर्की, अफग़ानिस्तान और मगोलिया से आये हुए सरकारी प्रतिनिधियो ने भी भाग लिया था।

जब योरप और दूसरे स्थानो पर ये सनसनियॉ और युद्ध की तैयारियॉ चल रही थी, उसी वक़्त नि शस्त्रीकरण के बारे में बहुत-सी बातचीत भी हो रही थी। राष्ट्र-संघ के कवेनेण्ट (इकरारनामे) में यह बात लिखी हुई थी कि "इस सघ के मेम्बर मानते है कि शान्ति कायम रखने के लिए ज़रूरी है कि अपने-अपने राष्ट्र की सुरक्षितता रखते हुए हरेक राष्ट्र के शस्त्रास्त्रो में ज्यादा-से-ज्यादा कमी की जाय, और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यो पर सब एकसाथ मिलकर अमल करे।" इस ऊँचे उद्देश्य को लिख देने के अलावा राष्ट्र-संघ ने उस वक्त और कुछ नहीं किया, लेकिन उसने अपनी कौंसिल को हिदायत दी कि वह इस मामले में आगे कार्रवाई करे। जर्मनी और दूसरी हारी हुई ताकते तो संधियो के मुताबिक़ नि.शस्त्र कर ही दी गई थीं। जीतने वाले मुल्को ने वादा किया था कि हम भी इसके बाद अपना नि शस्त्रीकरण कर देंगे, लेकिन बार-बार कान्फरेन्से करने के बाद भी कोई ठोस नतीजा नहीं निकला। यह कोई ताज्जुब की भी बात नहीं थी, क्योकि हर राष्ट्र ऐसा नि शस्त्रीकरण चाहता था

जिसके हो जाने पर वह दूसरे राष्ट्रों की वनिस्वत जोरदार बना रहे; और इसे कोई भी दूसरा राष्ट्र मंजूर न करता था। फ़्रांसीसी हमेशा इस मॉग पर अडे कि निःशस्त्रीकरण से पहले सुरक्षितता होजानी चाहिए।

वडी शक्तियो में से न तो अमेरिका और न सोवियट यूनियन ही राष्ट्र-संघ के मेम्बर थे। दरअसल सोवियट यूनियन तो समझता था कि राष्ट्र-सघ एक मुकाबिले का और विरोधी प्रदर्शन है, सोवियट यूनियन के खिलाफ खड़ा किया हुआ पूंजीवादी ताकतो का गिरोह है। सोवियट यूनियन ही खुद एक राष्ट्र-सघ समझा जाता था (जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य को भी वताया जाता है), क्योकि उसमें भी कई प्रजातन्त्र संघ-रूप में शामिल थे। पूर्वीय जातियॉ भी राष्ट्र-संघ को सन्देह की निगाह से देखती थीं, और उसे साम्राज्यवादी शक्तियो का एक हथियार मानती थीं। फिर भी अमेरिका, रूस और करीव-करीव सभी मुल्को ने राष्ट्र-संघ की कान्फरेन्सो में निःशस्त्रीकरण पर विचार करने में हिस्सा लिया। १९२६ में या शायद १९२७ के शुरू में राष्ट्र-संघ ने एक 'प्रिपेयरेटरी कमीशन' मुकर्रर किया, जिसका काम था निःशस्त्रीकरण के मामले में एक वड़ा विश्व-सम्मेलन वुलाने के लिए जमीन तैयार करना। इस कमीशन ने कितनी ही योजनाओ पर, एक-के-वाद-एक, विचार कर डाला, लेकिन उसका सिलसिला खत्म ही न हुआ और नतीजा कुछ न निकला। सोवियट की तरफ से निःशस्त्रीकरण की कई मौलिक तजवीजें पेश की गईं, लेकिन चूंकि यह समझा गया कि उनसे बहुत ही ज्यादा निःशस्त्रीकरण हो जायगा इसलिए उनको अव्यावहारिक मान लिया गया। पिछले साल यही 'प्रिपेयरेटरी कमीशन' विश्व-निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन में मिल गया, और इसकी वैठकें अव महीनो से होती चली आ रही हैं और वातचीत का खात्मा ही नहीं होता है—यहॉतक लोग भी करीव-करीव भूल गये हैं कि जिनेवा में ऐसी कोई चीज मौजूद है!

अमेरिका ने निःशस्त्रीकरण की इन वहसो में सिर्फ हिस्सा ही नहीं लिया, बल्कि संसार में अपनी सबसे जवरदस्त आर्थिक स्थिति के कारण योरप और यूरोपियन मामलो में उसकी दिलचस्पी भी वढ गई। सारा योरप उसका क़र्ज़दार था, और वह यूरोपियन मुल्को को फिर एक-दूसरे का गला काटने से रोकना चाहता था, क्योंकि उच्च उद्देश्यो के अलावा भी, अगर ये सब फिर लडने लगें तो उनके कर्ज और व्यापार का क्या हाल होगा? निःशस्त्रीकरण की वहसो से जब जल्दी कोई नतीजा न निकला तो, १९२८ में, फ्रांस और अमेरिका की सरकारों के बीच बातचीत होकर शान्ति-रक्षा में सहायक होनेवाली एक नई तजवीज निकली। इस तजवीज में बडी हिम्मत के साथ यह कोशिश की गई कि 'युद्ध' को 'गैर-कानूनी' वना दिया जाय,

शुरू में खयाल यह था कि सिर्फ फ्रास और अमेरिका के बीच एक इकरारनामा हो-जाय; लेकिन वह बढ़ गया, और आखिरकार इसमें ससार के करीव-करीब सभी राष्ट्र शामिल होगये । अगस्त १९२८ में पेरिस में इस इकरारनामे पर दस्तखत हुए, इसलिए यह १९२८ का पेरिस का इकरारनामा, या केलाग-ब्रियाँद इकरारनामा, या सिर्फ केलाग इकरारनामा कहलाता है । केलाग अमेरिका का राजमंत्री (Secretary of State) था जिसने इस मामले में नेतृत्व किया था, और एरिस्टाइड ब्रियॉद फ्रास का परराष्ट्र-सचिव था । इस इकरारनामे में एक छोटा-सा मजमून था, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय बहस-तलब मामलो को हल करने के लिए युद्ध से काम लेने की निन्दा की गई थी और इकरारनामे पर दस्तखत करनेवालो ने आपसी बर्ताव में युद्ध की नीति छोड़ देना मजूर किया था । ये शब्द, जो करीब-करीब उस इकरारनामे के ही शब्द है, सुनने में बडे सुन्दर है, और अगर इनको सचाई से लिखा गया होता तो इनसे युद्ध ही खत्म हो सकता था । लेकिन फौरन ही यह जाहिर होगया कि इकरारनामा करनेवाली शक्तियाँ कितनी झूठी है । फ्रासीसियो और अग्रेजो ने, और खासकर अंग्रेजो ने, दस्तखत करने से पहले कई संरक्षण रख लिये, जिससे कि उनके लिए इकरारनामा न होने के बरावर ही होगया । ब्रिटिश सरकार ने इकरारनामे से उन सब जंगी कार्रवाइयो की छूट लेली जो उसे साम्राज्य के हित के लिए करनी पडेंगी । इसका मतलब यह हुआ कि वह जब चाहे तब युद्ध कर सकेगी । उसने अपने अधिकार और प्रभाव के क्षेत्रो पर एक तरह से अंग्रेजी 'मनरो-सिद्धान्त' की घोषणा करदी ।

जब आम लोगो के सामने युद्ध को 'गैर-कानूनी' बनाया जा रहा था, उसी वक्त १९२८ में इंग्लैण्ड और फ्रास के बीच एक गुप्त नौसेना-सम्बन्धी समझौता हुआ । यह बात किसी तरह जाहिर होगई, और इससे योरप और अमेरिका को बड़ा रज पहुँचा । इससे परदे की ओट में होनेवाले मामलो की असली हालत का काफी पता लगता है ।

सोवियट यूनियन ने केलाग-इकरारनामे को मंजूर किया, और उसपर दस्तखत कर दिये । उसके ऐसा करने का असली सबब यह था कि इस तरह, कुछ हद तक ही सही, वह इस इकरारनामे की आड़ लेकर सोवियट पर हमला करनेवाले गुट का बनना रोक देना चाहता था । इकरारनामे में अग्रेजो के संरक्षण खासकर सोवियट के खिलाफ ही रक्खे हुए मालूम होते है । इकरारनामे पर दस्तखत करते वक्त रूस ने इग्लैण्ड और फ्रास के इन संरक्षणो पर जबरदस्त एतराज किया ।

रूस युद्ध को टालने का इतना इच्छुक था कि उसने अपने पडोसियो पोलैण्ड, रूमानिया, इस्थोनिया, लटविया, तुर्की और ईरान से शान्ति रखने के बारे में एक खास सुलह करके अपने बचाव की और भी पेशबन्दी करली । इस सुलहनामे पर १९

फ़रवरी १९२९ को, केलाग-इकरारनामे के अन्तर्राष्ट्रीय कानून बन जाने के ६ महीने पहले, दस्तखत हुए।

इस तरह आपस में लड़नेवाली और भरभराकर गिरनेवाली दुनिया के ढाँचे को आखिरी कोशिशों से बचाने के लिए ये इक़रारनामे और मुआहदे होते गये, मानो इस तरह के इकरारनामों या ऊपरी पैबन्दों से अन्दर गहरी बैठी हुई बीमारी का इलाज हो सकता हो। यह १९२० और १९२९ के बीच का ज़माना था, जब कि योरप के देशों में अक्सर समाजवादी या सोशल डिमोक्रेट लोग राज्या-धिकारी थे। जितना ज्यादा उन्हें राज्याधिकार और सत्ता मिलती गई, उतना ही ज्यादा वे पूंजीवादी ढाँचे के अन्दर अपनेआपको मिलाते गये। दर-हकीकत वे पूंजीवाद के सबसे अच्छे रक्षक बन गये, और अकसर ज्यादा-से-ज्यादा अनुदार या प्रगति विरोधी व्यक्ति के समान उग्र साम्राज्यवादी बन गये। महायुद्ध के बाद के जोश से भरे हुए कुछ क्रान्तिकारी वर्षों के पश्चात्, योरप की दुनिया किसी हद तक ठंडी पड़ गई। मालूम होता था कि फिर कुछ वक़्त के लिए पूंजीवाद ने अपनेआपको परि-स्थितियों के मुताबिक बना लिया, और कहीं भी जल्दी कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावना नजर नहीं आती थी।

सन् १९२९ में योरप का ऐसा हाल था।

: १७५ :

मुसोलिनी और इटली का फ़ैसिज्म

महायुद्ध शुरू होने से पहले भी इटली घोर आर्थिक सकट मे फँस गया था। १९११-१२ मे वह तुर्की के साथ युद्ध मे जीत तो गया था और उत्तरी अफरीका का ट्रिपोली प्रदेश मिल जाने से इटली के साम्राज्यवादी खुश भी बहुत हुए थे, मगर इस छोटी-सी लडाई से इटली की भीतरी भलाई बहुत नही हुई थी और उसकी आर्थिक हालत नही सुधरी थी। बल्कि अवस्था और भी बुरी होगई थी और १९१४ में, जबकि महायुद्ध छिडता ही दिखाई देता था, इटली क्रान्ति के दरवाजे पर खड़ा था। कारखानो मे बडी-बडी हडताले हो रही थी। नरम दल के समाजवादी नेता हड़तालो को दबाकर बडी मुश्किल से मजदूरो को आगे बढने से रोक पाये थे। उसके बाद ही महायुद्ध शुरू होगया। इटली ने अपने जर्मन मित्रो का साथ देने से इन्कार कर दिया. उसने दोनो तरफ से ज्यादा-से-ज्यादा रियायते हासिल करने के लिए अपनी निरपेक्षिता या उदासीनता का फायदा उठाने की कोशिश की। इस तरह ऊँची-से-ऊँची बोली बोलनेवाले को अपनी सहायता बेचने की वृत्ति शोभास्पद तो नही थी, परन्तु राष्ट्रो के हृदय नही होता और उनके व्यवहार के तरीके अलग ही होते हैं। यही व्यवहार अगर व्यक्ति करे तो उन्हे शर्म के मारे सिर नीचा करना पडे। रिश्वत देने के लिए मित्र-राष्ट्रो यानी इग्लैण्ड और फ्रास की स्थिति ज्यादा अनुकूल थी। उन्होनें नकद रुपया भी दिया और आगे चलकर इलाका देने का वचन भी दिया। इस कारण इटली मित्र-राष्ट्रो की तरफ होकर १९१५ की मई में लड़ाई में शामिल हुआ। मेरा खयाल है, मै तुम्हे बता चुका हूँ कि कुछ समय बाद एक गुप्त सन्धि के द्वारा इटली को स्मर्ना और छोटे एशिया का एक हिस्सा देने की बात हुई थी। मगर इस सन्धि के पक्की होने से पहले ही रूस मे बोलशेविक क्रान्ति होगई और यह सारा खेल बिगड़ गया। इटली को यह भी एक शिकायत थी और पेरिस की शान्ति-परिषद में इस बात पर असन्तोष रहा कि इटली के हको की उपेक्षा की गई। वहाँके साम्राज्यवादियो और अमीरो को आशा थी कि नये-नये देश इटली के अधिकार में आयेंगे और वे उनका शोषण करके अपने देश के आर्थिक भार को हलका कर सकेगे।

महायुद्ध के बाद इटली की हालत बहुत खराब होगई थी और वह किसी भी दूसरे मित्र-राष्ट्र से अधिक थक गया था। वहाँकी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होती दीखती थी और समाजवाद और साम्यवाद के हामियो की तादाद बढ रही थी। उनके सामने रूस का बोलशेविक उदाहरण तो था ही। एक तरफ कारखानो के मजदूर आर्थिक अवस्था से कष्ट पा रहे थे, दूसरी तरफ सिपाही बडी तादाद में फौज से खारिज होकर मारे-मारे बेकार फिर रहे थे। उपद्रव होने लगे और मध्यमवर्ग के नेता इन सैनिको को मजदूरो की बढती हुई ताकत का मुकाबिला करने के लिए सग-

ठित करने लगे। १९२० के गरमी के दिनो में स्थिति विकट हो गई। धातु के कारखानो के मजदूरो ने ज्यादा मजदूरी की माँग की। इनकी सभा में ५ लाख सदस्य थे। यह माँग मंजूर नहीं हुई और मजदूरों ने हड़ताल करने का निश्चय कर लिया। उन्होने हड़ताल का एक नया ही तरीका निकाला। यानी मजदूर अपने-अपने कारखानों में पहुँचे और न खुद काम किया और न किसीको करने दिया। संघवादी समाजवादियो (Syndicalists) का यही कार्यक्रम था और फ्रांस का मजदूर-आन्दोलन वहुत अर्से से इसका समर्थक था। इस अडंगेवाजी का जवाव मालिको ने यह दिया कि उन्होने कारखाने वन्द कर दिये। इसपर मजदूरो ने कारखानो पर कब्जा करके उन्हे समाजवादी ढंग पर चलाने की कोशिश की।

मजदूरों की यह कार्रवाई निश्चित रूप से क्रान्तिकारी थी। अगर वे इसपर डटे रहते, तो या तो सामाजिक क्रान्ति हुए विना न रहती या वे नाकामयाब होते। वहुत दिनो तक कोई वीच की हालत कायम नहीं रह सकती थी। उस वक्त इटली में समाजवादी दल वड़ा प्रवल था। मजदूर-संघो पर तो उसका नियन्त्रण था ही, तीन हजार म्युनिसिपैलिटियाँ भी उसके काबू में थीं और पार्लमेण्ट में उसके १५० यानी एक-तिहाई सदस्य थे। अगर किसी दल में जोर हो, उसकी जड़ जमी हुई हो, जायदाद उसके पास हो और वहुत-से सरकारी पद उसके हाथ में हो, तो वह अक्सर क्रान्तिकारी नहीं होता। फिर भी इटली के समाजवादी दल और उसके नरम सदस्यो तक ने कारखानो पर अधिकार कर लेने की मजदूरो की कार्रवाई का समर्थन किया। मगर इतनी-सी वात करके इस दल ने और कुछ नहीं किया। वह पीछे हटना तो नहीं चाहता था, मगर उसमें आगे वढने का साहस भी नहीं था। उसने कम-से-कम विरोध का वीचवाला रास्ता पसन्द किया। उसका वही हाल हुआ जो सव हिचकिचाहट से भरे हुए और अनिश्चयी लोगो का हुआ करता है। वे ठीक समय पर कोई निर्णय नहीं कर पाये, समय उन्हे छोड़कर आगे निकल गया, और वे कहीं के न रहे। उग्र सुधारकों और मजदूर नेताओ की हिचकिचाहट के कारण आखिर कारखानो पर से मजदूरो का कब्जा जाता रहा।

इससे मालिक वर्ग का हौसला वहुत वढ़ गया। उन्होंने देख लिया कि मजदूरों और उनके नेताओ की जितनी ताकत वे समझते थे उतनी नहीं है। अब उन्होंने मजदूर-आन्दोलन और समाजवादी दल से वदला लेने और उन्हें तहस-नहस कर देने की योजना वनाई। १९१९ में फौजो से खारिज हुए सिपाहियो के कुछ स्वयंसेवक-दल बेनिटो मुसोलिनी ने बनाये थे। मालिक वर्ग का ध्यान इनकी तरफ गया। ये स्वयं-दल या फैसिस्ट (जो इटालियन के Fasci di Combattimenti से बना है) कहलाते

थे और इनका मुख्य काम था मौका पाकर समाजवादियो, उग्र सुधारको और उनकी सस्थाओ पर हमला करना। इस तरह से कभी ये किसी समाजवादी पत्र के छापेखाने को नष्ट करते तो कभी किसी समाजवादी नियन्त्रण वाली म्यूनिसिपैलिटी या सहयोग-समिति पर हमला करते। बडे-बडे कारखानेदार और अमीर लोग मजदूर-आन्दोलन और समाजवाद के विरोध में आम तौर पर इन सैनिक दलो को अपने रुपये और प्रभाव की सहायता देने लगे। सरकार ने उनकी ओर से आँखें बन्द करली। वह समाजवादी दल की शक्ति को नष्ट करना चाहती थी।

इन लड़ाकू दलो या, सक्षेप में कहे तो, फैसिस्टो को संगठित करनेवाला यह बेनिटो मुसोलिनी कौन था? उस वक़्त तो वह जवान था। (अब उसकी उम्र पचास वर्ष के करीब है। १८८३ में वह पैदा हुआ था।) उसका जीवन बड़ा रंग-बिरंगा और दिलचस्प रहा था। उसका पिता लुहार था और समाजवादी था। इसलिए बेनिटो समाजवादी संस्कृति लेकर बडा हुआ। शुरू जवानी में ही वह बड़ा गरम आन्दोलनकारी होगया था और क्रान्तिकारी प्रचार-कार्य के कारण उसे स्वीजरलैण्ड की नई रियासतो से निकाल दिया गया था। नरम समाजवादी नेताओ पर उसकी नरमी के कारण उसने बुरी तरह हमले किये। राज्य के खिलाफ बम और दूसरे आतंकवादी साधनो का वह खुला समर्थन करता था। तुर्की के साथ इटली की जो लड़ाई हुई उसकी अधिकांश समाजवादी नेताओ ने ताईद की थी। मगर मुसोलिनी की बात दूसरी थी। उसने लड़ाई का विरोध किया और इस सिलसिले में कई हिंसा के कामो पर उसे कुछ मास की कैद भी भोगनी पडी। लड़ाई का समर्थन करनेवाले नरम समाजवादी नेताओं का उसने घोर विरोध किया और उन्हे समाजवादी दल से निकलवा-कर छोड़ा। मिलान से निकलनेवाले समाजवादी दैनिक पत्र 'अवन्ती' का वह सम्पादक बन गया और उसमें नित्य मजदूरो को हिंसा का मुकाबिला हिंसा से करने की सलाह देता रहा। हिंसा के इस उत्तेजन पर नरम मार्क्सवादी नेताओं को जोरदार आपत्ति थी।

इतने ही में महायुद्ध आ पहुँचा। कुछ महीनों तक मुसोलिनी युद्ध के ख़िलाफ और इटली के तटस्थ रहने के पक्ष में रहा। फिर अचानक उसने अपना विचार या अपने विचारो को जाहिर करने का ढंग बदल दिया और एलान कर दिया कि इटली को मित्र-राष्ट्रो के साथ शरीक होजाना चाहिए। वह समाजवादी पत्र को छोड़कर इस नई नीति का प्रचार करनेवाले एक नये पत्र का सम्पादन करने लगा। वह समाजवादी दल से निकाल दिया गया। आगे चलकर वह साधारण सिपाहियो में भरती होगया, और इटली की तरफ से लड़ाई के मोर्चे पर लड़ता हुआ घायल हुआ।

लड़ाई के बाद मुसोलिनी ने अपनेको समाजवादी कहना बन्द कर दिया।

इस तरह जब समाजवादी नेता शका, सकोच और आपस के झगडो मे लगे रहे और उनके दल में फूट होती रही उस समय फैसिस्टो का जोर खूब बढता गया। नियमित सेना का फैसिज्म के प्रति बडा दोस्ताना रुख था और मुसोलिनी ने सेनापतियो को अपनी तरफ मिला लिया था। मुसोलिनी का यह बडे मार्के का काम था कि उसने ऐसे मुख्तलिफ और विरोधी तत्त्वो को अपने साथ करके ऐक्य-सूत्र में बाँध रक्खा और अपने अनुयायियो के हर समूह का यह विश्वास जमा दिया कि फैसिज्म खास तौर पर उसीका हिमायती है। धनवान फैसिस्ट यह समझने लगे कि मुसोलिनी उनकी सम्पत्ति का रक्षक है और पूजीवाद के खिलाफ वह जो भाषण करता और नारे लगाता है वे खाली सर्वसाधारण को धोखा देने की बातें हैं। गरीब फैसिस्ट यह मानने लगे कि फैसिज्म में असली चीज तो यह पूंजीवाद का विरोध ही है और बाकी बातें अमीरो को खुश करने भर के लिए है। इस तरह मुसोलिनी इन दोनो वर्गो से काम निकालने लगा। एक दिन वह अमीरो के हक में बोलता तो दूसरे ही दिन गरीबो के पक्ष में भाषण देता। मगर असल में वह सम्पत्तिशाली वर्ग का हिमायती था, क्योकि वे उसे आर्थिक सहायता देते थे और यह इसलिए कि वे अपने चिर-शत्रु समाजवाद और मजदूर-आन्दोलन की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे।

अन्त में १९२२ के अक्तूबर में फैसिस्टो की टुकडियो ने नियमित सेनानायको के नेतृत्व में रोम पर धावा बोल दिया। प्रधानमन्त्री ने अबतक फैसिस्टो के कार्यो को सहन किया था। अब उसे भी फौजी कानून की घोषणा करनी पडी। परन्तु अब क्या था; देर बहुत हो चुकी थी और खुद बादशाह भी मुसोलिनी की तरफ होगया था। उसने फौजी कानून की आज्ञा रद करदी, अपने प्रधानमन्त्री का इस्तीफा मजूर कर लिया और मुसोलिनी को प्रधानमन्त्री बनने और मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमत्रण दिया। ३० अक्तूबर १९२२ को फैसिस्ट सेना रोम पहुँची और उसी दिन मुसोलिनी प्रधानमन्त्री बनने के लिए मिलान से रेल द्वारा आ पहुँचा।

फैसिज्म की विजय हुई और सत्ता मुसोलिनी के हाथ में आगई। परन्तु उसका पक्ष क्या था? वह किस नीति और कार्यक्रम का समर्थक था? आम तौर पर बडे आन्दोलनो का निर्माण किसी स्पष्ट विचार-धारा पर होता है और ये विचार कुछ निश्चित सिद्धान्तो पर निर्भर होते हैं, और उनका निश्चित ध्येय और कार्यक्रम होता है। फैसिज्म में यह अद्वितीय गुण है कि न उसके कोई निश्चित सिद्धान्त हैं, न विचार-धारा और तत्त्व-ज्ञान। हाँ, समाजवाद, साम्यवाद और उदार विचारो का विरोध ही एक तत्त्व-ज्ञान समझ लिया जाय तो बात दूसरी है। १९२० में यानी फैसिस्ट दलो के बनने के एक वर्ष बाद मुसोलिनी ने घोषणा की थी कि फैसिस्ट लोग—

सत्ता के यह हरगिज़ अनुकूल नही पड सकता। उनका नेता मुसोलिनी इल ड्यूस अर्थात् सर्वेसर्वा बन गया। उनकी वर्दी काली कुर्ती होने के कारण वे काली कुर्ती वालो के नाम से प्रसिद्ध होगये।

फैसिस्ट लोगो का यदि कोई रचनात्मक कार्य-क्रम था तो वह सिर्फ सत्ता हासिल कर लेना था। इस कारण मुसोलिनी के प्रधानमन्त्री बन जानें पर उनकी यह मुराद पूरी होगई। इसके बाद वह अपने विरोधियो को पीसकर अपनी स्थिति मजबूत करने के काम में लग गया। हिंसा और आतंकवाद का असाधारण चक्र शुरू हुआ। इतिहास में हिंसा एक साधारण-सी बात रही है, परन्तु आम तौर पर इसे एक आवश्यक बुराई समझा गया है और इसके लिए बहाने ढूंढे गये और सफाई दीजाती रही है। मगर फैसि-ज्म को हिंसा के बारे में ऐसा कोई क्षमा-याचना का-सा ढंग इख्तियार करने की जरू-रत मालूम नही देती। इन लोगो के लिए तो यह एक मानी हुई और तारीफ की चीज़ है। वे विरोध न होने की हालत में भी हिंसा करते है, पार्लमेण्ट में विरोधी सदस्यो को इन लोगो ने पीट-पीटकर भयभीत कर दिया और विधान को बिलकुल बदल देनेवाला एक नया कानून जबरदस्ती पास करवा लिया। इस तरह मुसोलिनी के पक्ष में भारी बहुमत प्राप्त किया गया।

यह आश्चर्य की बात है कि जब फैसिस्ट लोगो के हाथ में सचमुच सत्ता आगई और पुलिस और राज की सारी शक्ति पर उनका अधिकार जम गया तब भी उनकी गैर-कानूनी हिंसा जारी रही। परन्तु वह जारी रही और उन्हे कोई रोकनेवाला भी नही रहा। सरकारी पुलिस तो दखल ही क्यो देती? लोगो की हत्यायें हुई, उन्हें मारा-पीटा और अन्य शारीरिक यातनायें दी गई और उनकी सम्पत्ति नष्ट करदी गई। ये फैसिस्ट एक खास तरीके का व्यापक प्रयोग करते थे। उनके विरोध का साहस करने-वालो को वे अण्डी के तेल की भारी-भारी खुराकें पिला देते थे।

१९२४ में गियाकोमो मेटिमोरी नामक समाजवादी नेता की हत्या की गई। यह पार्लमेण्ट का सदस्य था। इससे योरप-भर में बडी सनसनी फैली। इसने थोडे दिन पहले ही चुनाव में फैसिस्ट तरीको पर भाषण देकर उनकी आलोचना की थी। उस-के कुछ ही समय बाद उसकी हत्या करदी गई। दिखावे के लिए हत्यारो पर मुकदमा चलाया गया; परन्तु वे प्रायः बिना सजा के ही छूट गये। उदार दल के नरम नेता अमेण्डोला की मृत्यु मार के कारण हुई। भूतपूर्व उदार प्रधानमन्त्री निटी मुश्किल से जान बचाकर इटली से भागा, मगर उसका घर नष्ट कर दिया गया। ये थोडे-से उदा-हरण तो ऐसे है जिनपर संसार-भर का ध्यान गया। वैसे इनकी हिंसा तो लगातार और व्यापक रूप मे जारी रही। यह हिंसा दमन के कानूनी उपायो से अलग थी। यह

कोई भड़की हुई भीड़ की हिंसा भी नहीं थी। यह तो जान-बूझकर संगठित रूप में की गई बाक़ायदा हिंसा थी। इसके शिकार सभी विरोधी होते थे। समाजवादी और साम्यवादी ही नहीं, उदार दल के शान्त और नरम-से-नरम आदमी भी नहीं बचते थे। मुसोलिनी की आज्ञा थी कि विरोधियों का जीना कठिन या 'असम्भव' बना दिया जाय कोई दूसरा दल, संगठन या संस्था जीवित न रहने पावे; जो कुछ हो फ़ैसिस्ट हो; सभी नौकरियाँ भी फ़ैसिस्टों को ही मिलें। इसकी तामील भी सचाई के साथ होती थी।

मुसोलिनी इटली का सर्वशक्तिमान विधाता और सर्वेसर्वा होगया। वह प्रधान मंत्री ही नहीं, साथ ही वैदेशिक, गृह, औपनिवेशिक, युद्ध, जलसेना और श्रमजीवी विभागों का मंत्री भी बन बैठा। एक तरह से सारा मंत्रि-मण्डल ही वह था। बेचारा बादशाह कोने में बिठा दिया गया। उसका कभी नाम ही सुनाई नहीं देता। पार्लमेण्ट भी धीरे-धीरे एक तरफ़ धकेल दी गई और छायामात्र रह गई। फ़ैसिस्ट महापरिषद् (फ़ैसिस्ट ग्रैंड कौंसिल) का ही बोलबाला होगया और परिषद् में मुसोलिनी की तूती बोलने लगी।

मुसोलिनी ने शुरू-शुरू में विदेशी मामलों पर जो भाषण दिये उनसे योरप में बड़ा आश्चर्य और भय फैला। वे भाषण असाधारण ढंग के थे। वे शेख़ी और धमकियों से भरे थे। उनमें राजनीतिज्ञों की-सी चिकनी-चुपडी बातें ज़रा भी नहीं थीं। ऐसा मालूम होता था मानो वह सदा लड़ाई के लिए तुला बैठा हो। वह इटली के साम्राज्यवादी भाग्य की और इटली के असंख्य वायुयानों के आकाश में छा जाने की बातें करता था; और उसने कई बार अपने पडोसी फ़्रान्स को खुली धमकियाँ दीं। अवश्य ही फ़्रान्स इटली से कहीं अधिक बलवान था। मगर लड़ने की किसीकी इच्छा नहीं थी, इसलिए मुसोलिनी की ये सब बाते बर्दाश्त करली जाती थीं राष्ट्रसंघ को मुसोलिनी ने अपने व्यंग और तिरस्कार का खास तौर पर निशाना बनाया। दिल्लगी तो यह थी कि इटली खुद राष्ट्रसंघ का सदस्य था। एक अवसर पर तो मुसोलिनी ने बहुत बुरी तरह आगे बढ़कर उसका मान भंग किया। फिर भी राष्ट्रसंघ और दूसरी शक्तियाँ इसे पी गई। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे मुसोलिनी के भाषणो की उत्तेजना भी कम पड़ती गई। उसका रवैया नरम हो गया है और अब वह भी दूसरे शान्त राजनीतिज्ञो की तरह ही शान्ति और निःशस्त्रीकरण की बाते करता है। निरंकुश शासको की सत्ता पशुबल पर निर्भर होती है; इस कारण युद्ध उनके लिए सदा खतरनाक होते हैं।

पिछले दस साल में इटली में बहुत-से बाहरी परिवर्तन हुए हैं और यात्रियो के दिल पर वहाँ व्यवस्था और समय की पाबन्दी देखकर अच्छा असर पड़ता है। रोम में

शाही नगर सुन्दर बनाया जा रहा है और सुधार की कई बडी-बडी योजनायें हाथ मे लीगई है। मुसोलिनी के कल्पना जगत् में नये रोमन साम्राज्य के स्वप्न नाच रहे है।

पोप और इटली की सरकार मे प्राचीन काल से झगडा था। वह १९२९ में खत्म होगया। मुसोलिनी और पोप के प्रतिनिधि के बीच समझौता होगया। जबसे १८७१ में इटली राज्य ने रोम को अपनी राजधानी बनाया था तभीसे पोप ने इसे स्वीकार नही किया था और रोम पर अपनी सर्वोपरि सत्ता छोडने से इन्कार किया था। इसीलिए पोप लोगो ने यह नीति ग्रहण करली थी कि पोप निर्वाचित होते ही वे रोम के अपने विशाल वैटिकन महल में चले जाते और फिर कभी इटली की भूमि पर नही निकलते। वे स्वेच्छा से कैदी बनकर रहते थे। १९२९ के समझौते से रोम का यह छोटा-सा वैटिकन इलाका एक स्वतंत्र और सम्पूर्ण सत्ताधारी राज्य मान लिया गया। पोप इस राज्य का निरकुश शासक है और इसके नागरिको की संख्या ५०० के करीब है। इस राज्य की अपनी अदालते, सिक्का, डाक के टिकट और सार्वजनिक सेवा के विभाग है। इसकी छोटी-सी रेलवे दुनिया में सबसे महँगी है। अब पोप कैदी की तरह नही रहता। वह कभी-कभी वैटिकन से बाहर आता है। पोप के साथ सन्धि करके मुसोलिनी कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाइयो में लोकप्रिय होगया। फैसिस्ट हिसा का गैरकानूनी स्वरूप क़रीब एक साल तक बड़ा उग्र रहा और बाद में भी १९२६ तक कुछ-कुछ बना रहा। १९२६ में राजनैतिक विरोधियो से निपटने के लिए 'असाधारण क़ानून' बना दिये गये। इनसे राज्य को बडे अधिकार मिल गये और गैर-कानूनी कार्रवाई अनावश्यक होगई। वे क़ानून कुछ ऐसे ही थे जैसे वे आर्डिनेस और उनपर बने हुए क़ानून है जिनकी हम भारतवासियो पर इतनी वर्षा हुई है। इन 'असाधारण क़ानूनो' के अनुसार लोगो को सजायें दी जा रही है, जेल भेजा जा रहा है और बडी तादाद में देश-निकाले दिये जा रहे है। सरकारी अको के अनुसार १९२६ के नवम्बर और १९३२ के अक्तूबर के बीच में १०,०४४ आदमियो को विशेष अदा-लतो के सामने पेश किया गया था। पौंजा, वेण्टोलीन और ट्रिमटी नामक तीन द्वीप इन निर्वासितो के लिए अलग ही सुरक्षित कर दिये गये है। कहा जाता है कि वहाँ-की हालत बहुत ख़राब है। इस बीच में दमन और गिरफ्तारियाँ तो जारी है ही। अभी हाल ही की यानी १९३३ के मार्च मास की बात है कि मिलान नगर और उत्तरी प्रदेशो में बहुत लोग गिरफ़्तार किये गये थे। रोम पर फैसिस्टो की कूच का पिछले साल दसवाँ वार्षिकोत्सव था। उस अवसर पर आम माफी दी गई थी और बहुत-से मामूली और थोडे-से राजनैतिक कैदो छोडे गये थे। मगर प्रमुख और लम्बी मियाद के राजनैदिक कैदी नहीं छोड़ गये।

इन लगातार गिरफ़्तारियो से जाहिर है कि इस सारे दमन के बावजूद देश में गुप्त और क्रान्तिकारी विरोध मौजूद है। उसकी शक्ति कितनी है, यह कह सकना कठिन है। वैसे जाहिरा तो यही मालूम होता है कि मुसोलिनी ही सर्वेसर्वा है और उसकी जड़ खूब मजबूत जम गई है। परन्तु आर्थिक बोझ बढ़ता जारहा है और देश की माली हालत फिर बहुत ख़राब होगई है। मगर यह बात तो आज करीव-करीव सभी देशो के लिए कही जा सकती है।

: १७६ :

लोकसत्ता और निरंकुश शासन

२२ जून, १९३३

बेनिटो मुसोलिनी ने अपनेको इटली का सर्वेसर्वा (डिक्टेटर) क्या बना लिया, उसके उदाहरण की बीमारी योरप-भर में फैलती दीखने लगी। उसनें कहा—"योरप के हर देश में सिंहासन ख़ाली पड़ा है। कोई योग्य पुरुष उसपर कब्ज़ा करले, इसीकी देर है।" कई मुल्को में निरंकुश शासन कायम होगये। पार्लमेण्टें या तो तोड़ दी गई या उन्हे जबरदस्ती सर्वसत्ताधारियो (डिक्टेटरो) की इच्छाओ के अनुकूल बना लिया गया। स्पेन की मिसाल ध्यान देनें लायक है।

स्पेन महासमर में नहीं पड़ा था। उसने लड़ाकू राष्ट्रो को माल बेच-बेचकर खूब धन कमाया। लेकिन उसके अपने झगडे तो थे ही और वह औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ देश था। एक समय था, जब अमेरिका और पूर्वी देशो का धन उसके यहाँ बहकर आता था और योरप में उसका दर्जा बहुत ऊँचा था। लेकिन वह जमाना कभी का बीत चुका था। अब तो योरप में उसकी महत्वपूर्ण शक्ति भी नहीं समझी जाती थी। उसकी पार्लमेण्ट कमज़ोर-सी संस्था थी। उसे कोर्टे कहते थे। रोमन पादरियो का ज़ोर था। उद्योग-धंधो में पिछडे हुए योरप के दूसरे देशो में जो बात हुई, वही स्पेन में भी हुई। जर्मनी और इंग्लैण्ड के ठोस मार्क्सवाद और नरम समाजवाद की अपेक्षा वहाँ संघवाद और अराजकतावाद का प्रचार ज्यादा हुआ। जब १९१७ में रूस के बोलशेविक सत्ता के लिए जूझ रहे थे उस वक्त स्पेन के मजदूरो और उग्र सुधारकों ने व्यापक हड़ताल करके लोकसत्तात्मक प्रजातन्त्र कायम करने की कोशिश की। बादशाह की सरकार और सेना ने मिलकर इस हडताल और सारे आन्दोलन को कुचल दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि देश में सेना की सत्ता सर्वोपरि होगई। बादशाह भी फौज का सहारा पाकर पहले से जरा अधिक स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी होगया।

मोरक्को के छोटे-बडे दो हिस्से करके फ्रास और स्पेन ने उन्हे अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रो मे बॉट लिया था। १९२१में मोरक्को के रीफ लोगो मे अब्दुलकरीम नाम का एक योग्य नेता स्पेनिश शासन के खिलाफ खडा हुआ। उसने बडी काबलियत और बहादुरी का सबूत दिया और स्पेनिश फौजो को बार-बार हराया। इससे स्पेन की भीतरी स्थिति विकट होगई। राजा और सेनानायक दोनो विधान और पार्लमेण्ट का खात्मा करके निरकुश शासन कायम करना चाहते थे। इस बात पर वे दोनो सहमत थे, लेकिन सर्वेसर्वा कौन बने इस बात पर उनमें मतभेद था। राजा खुद सर्वसत्ताधारी या निरकुश शासक बनना चाहता था और फौज के लोग सैनिक-शाही कायम करना चाहते थे। १९२३ के सितम्बर में फौज ने बगावत करदी। इससे मामला फौज के हक में तय होगया और सेनापति प्राइमो दि रिवेरा सर्वेसर्वा बन गया। उसने पार्लमेण्ट को मुअत्तल करके पशुबल के ज़रिये यानी फौज के सहारे हुकूमत करनी शुरू कर दी। फिर भी रीफो के खिलाफ मोरक्को वाली मुहिम कामयाब नही हुई और अब्दुलकरीम आगे बढ़-बढ़कर स्पेन की सत्ता का तिरस्कार करता रहा। स्पेनिश सरकार ने उसके सामने अनुकूल शर्तें पेश की, मगर उसने उन्हे मजूर नही किया। वह बराबर मुकम्मल आजादी का दावेदार रहा। मुमकिन है कि अकेली स्पेनिश सरकार उसे दबा देने में कामयाब न होती। फ्रान्स का मोरक्को में बड़ा स्वार्थ था। १९२५ में उसने दखल देने का फैसला किया और अपने विशाल साधन अब्दुलकरीम के खिलाफ लगा दिये। १९२६ के मध्य में अब्दुलकरीम की हार हुई, फ्रास वालो के आगे उसने हाथियार डाल दिये और उसकी लम्बी और वीरतापूर्ण लड़ाई खतम हुई।

इस बीच स्पेन में प्राइमो दि रिवेरा की तानाशाही जारी रही। उसके मामूली लवाजमात यानी फौजी ज़बरदस्ती, खबरो पर पाबन्दी, दमन और कभी-कभी फौजी कानून भी साथ रहे। याद रहे कि यह तानाशाही मुसोलिनी की तानाशाही से जुदा ढग की थी। इसका आधार सिर्फ़ सेना पर था और इटली में जनता के कुछ वर्गो का सहारा था। ज्योही ही सेना प्राइमो दि रिवेरा से ऊबी कि और कोई उसकी मदद करनेवाला ही नही रहा। १९३० के शुरू में ही राजा ने प्राइमो को बर्खास्त कर दिया। उसी साल क्रान्ति भी हुई थी और वह दबा भी दी गई थी। मगर प्रजातन्त्र और क्रान्ति की भावना इतनी व्यापक होगई थी कि उसे दबाकर रखना असंभव था। १९३१ में प्रजातन्त्रवादियो ने म्यूनिसिपल चुनाव में अपने भारी बल का परिचय दिया और उसके थोडे ही दिन बाद राजा अलफैन्ज़ो ने गद्दी छोड़कर देश से भाग जाने में ही बुद्धिमानी समझी। अस्थायी सरकार कायम होगई और स्पेन में योरप की सबसे नई प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का जन्म हुआ। अबतक स्पेन निरंकुश राजतन्त्र और धार्मिक

शासन का प्रतीक बना हुआ था। अब उसने राजा अलफैन्जो को मुजरिम करा दिया और चर्च यानी धर्म-संस्था के ख़िलाफ लड़ाई शुरू करदी।

मगर मै तो तुम्हे सर्वसत्ताधारियो (डिक्टेटरो) का हाल कह रहा था। इट और स्पेन के सिवाय जिन दूसरे देशो ने लोकसत्तात्माक शासन-प्रणाली को छोड़ निरंकुश शासन स्थापित कर लिये थे, वे ये है—पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूनान, बल रिया, पुर्त्तगाल, हंगरी और आस्ट्रिया। पोलैण्ड मे सेना पर अधिकार होने के कार पिलसूडस्की सर्व-सत्ताधारी यानी डिक्टेटर बन गया था। यह जार के जमाने का पुरा समाजवादी था। पोलैण्ड की पार्लमेण्ट के सदस्यो को यह ऐसी बुरी-बुरी सुनाया कर था कि आश्चर्य होता था। कभी-कभी तो वे सचमुच गिरफ़्तार करके भेज दिये जाते थे यूगोस्लाविया मे खुद राजा सर्वेसर्वा है। कहते है कि इस देश में कहीं-कही तुर्की शासन से भी अधिक ख़राब हालत और जुल्म है।

मैने जिन मुल्को का जिक्र किया है उन सब में शायद अब खुली तानाशाही न है। उनके जल्दी-जल्दी होनेवाले परिवर्तनो से वाकिफ रहना मुश्किल है। कभी-कभ उनकी पार्लमेण्टो की थोडी देर के लिए नीद खुल जाती है और उन्हे काम करने दिय जाता है। कभी-कभी, जैसा बलगेरिया में हाल ही में हुआ, सत्ताधारी सरकार जि सदस्यो को नापसन्द करती है उनके समूह-के-समूह को गिरफ़्तार करके पार्लमेण्ट उन्हे निकाल देती है। साम्यवादी लोग आम तौर पर इस गुस्से के शिकार होते है पीछे से और दलो के सदस्य जैसे-तैसे अपना काम चलाते है। ये देश सदा ही या तो सर्व सत्ताधारियो यानी डिक्टेटरो के मातहत रहते है या इनकी हालत करीब-करीब ऐसं ही रहती है। व्यक्तियो या छोटे-छोटे समूहो की इन सरकारो का आधार पशुबल होता है और उन्हे लगातार विरोधियो के दमन, हत्या, सख्त पाबन्दियो और क का तथा गुप्तचरो के जाल का सहारा ढूँढना पड़ता है।

योरप के बाहर भी तानाशाहियो का उदय हुआ। मै तुम्हे तुर्की और कमाल पाशा का हाल पहले ही बता चुका हूँ। दक्षिण अमेरिका में कई सर्वसत्ताधारी थे लेकिन वहाँके लिए यह सस्था पुरानी हो चुकी थी, क्योकि दक्षिणी अमेरिका के प्रजा-तन्त्रो ने लोकसत्ता के विधि विधानो को कभी अच्छी नजर से नही देखा।

तानाशाहियो की इस सूची में मैने सोवियट यूनियन को शामिल नहीं किया है, क्योकि वहाँकी तानाशाही है तो उतनी ही निर्दय जितनी और देशो की है मगर वह एक मुख्तलिफ किस्म की है। वहाँ किसी व्यक्ति या छोटे-से समूह का बोलबाला नही है, बल्कि एक ऐसे सुसगठित राजनैतिक दल का है जिसका मुख्य आधार मजदूरो पर है। वे इसे 'गरीबो का सर्वाधिकार' कहते है। इस तरह तानाशाही तीन किस्म

की हुई--साम्यवादियो की, फैसिस्टो की और सेना की। सैनिक तानाशाही में कोई खास बात नही है। वह पुराने जमाने से चली आई है। साम्यवादी और फैसिस्ट तानाशाहियाँ इतिहास में नई चीज हैं और हमारे अपने समय की खास उपज हैं।

इन तानाशाहियो के बारे में सबसे मार्के की बात यह है कि ये लोकसत्ता और प्रतिनिधि-शासन के बिलकुल खिलाफ हैं। तुम्हे याद होगा, मैंने तुम्हे बताया है कि उन्नीसवी सदी लोकसत्ता की सदी थी। उस सदी में फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की दी हुई मनुष्य के अधिकारो-सम्बन्धी विचार-धारा ने उन्नत लोगो के मस्तिष्क पर शासन किया था और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ध्येय सर्वमान्य होगया था। इसीमें से योरप के ज्यादातर देशो में--कही कम कही ज्यादा--प्रतिनिधि-शासन का विकास हुआ। इसमे आर्थिक क्षेत्र में दखल न डालने और जो कुछ चल रहा है वही चलने देने का उसूल चल गया। बीसवी सदी ने, या यू कहो कि महासमर के बाद के सालो ने, उन्नीसवी सदी की इस महान् परम्परा का अन्त कर दिया और अब नियमित लोक-सत्ता की कल्पना का आदर बहुत ही थोडे लोगो में रह गया है। लोकसत्ता के इस पतन के साथ उदार कहलानेवाले समूहो का भी सब जगह एकसा हाल हुआ और अब उनकी गिनती सबल शक्तियो में नही रही।

लोकसत्ता की टीका और विरोध साम्यवादियो और फैसिस्टो दोनो ने किया है, मगर दोनो की दलीले बिलकुल जुदा-जुदा है। जिन देशो में साम्यवाद या फैसिज्म किसीका भी जोर नहीं है, उनमें भी लोकसत्ता की पहले जैसी कद्र नहीं रही। पार्ल-मेण्ट की पहलेवाली बात जाती रही और अब उसकी बहुत इज्जत नही है। शासन विभाग के मुखियाओ को बडे इख्तियारात देदिये जाते है और वे पार्लमेण्ट से पूछे बिना जो ठीक समझते है कर डालते है। इसकी एक वजह तो यह है कि आजकल का वक्त बड़ा नाजुक है। इसमें तुरन्त कार्रवाई करने की जरूरत पड़ती रहती है और प्रतिनिधि-सभायें जल्दी कार्रवाई नही कर सकतीं। जर्मनी ने हाल ही में अपनी पार्ल-मेण्ट को बिलकुल धता बता दिया है और अब वहाँ फैसिस्ट शासन का बुरे-से-बुरा रूप प्रकट हो रहा है। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के प्रधान के हाथो में सदा ही बडे अधिकार रहे है और इस साल वे और भी बढ़ा दिये गये है। इस वक़्त तो सिर्फ इंग्लैण्ड और फ्रास ही दो बडे देश रह गये है जहाँ जाहिरा तौर पर पार्लमेण्ट पहले की तरह काम कर रही है। उनकी मनमानी उनके मातहत देशो और उपनिवेशो में होती है। अंग्रेजो का फैसिज्म हिन्दुस्तान में और फ़्रांस का इण्डो-चीन में 'शान्ति-स्थापन' का काम कर रहा है! मगर लन्दन और पैरिस में भी पार्लमेण्ट खोखली होती जा रही है। पिछले ही महीने उदार दल के एक प्रमुख अंग्रेज ने कहा था --

"हमारी प्रतिनिधि सस्था पार्लमेण्ट तेजी के साथ एक शासन-समूह के हाथ का खिलोना वनती जा रही है और उसके हुक्मो का पालन भर कर देना उसका काम रह गया है। इस समूह का चुनाव एक अपूर्ण और भद्दे निर्वाचन-यन्त्र के द्वारा होता है।"

इस तरह उन्नीसवी सदी की लोकसत्ताओ और पार्लमेण्टो का असर सभी जगह कम हो रहा है। कुछ देशो में तो इन्हे खुले और बहुत भद्दे ढंग से रद कर दिया गया है और कुछ देशो में उनका कोई अर्थ नही रह गया है। वे धीरे-धीरे एक गम्भीर और थोथा तमाशा होती जा रही है। एक इतिहासकार ने पार्लमेण्टो के इस पतन की तुलना उन्नीसवी सदी के राजाशाही के पतन से की है। इस लेखक के मत से पार्लमेण्टें भी उसी तरह निर्वल और दिखावटी चीजें हो जायंगी और होती जा रही है, वे दीखने में बडी और महत्वपूर्ण रहेगी, मगर उनका अर्थ कुछ भी नही रहेगा--जिस तरह कि इंग्लैण्ड और दूसरे देशो में राजा की असली सत्ता जाती रही और वह सिर्फ प्रदर्शन के लिए वैध शासक मात्र रह गया।

यह सब क्यों हुआ? जिस लोकसत्ता का आदर्श असंख्य मनुष्यो को सौ वर्ष से भी अधिक प्रेरणा देता रहा और जिसपर हजारो ने अपने प्राण निछावर कर दिये, वह आज इतनी नापसन्द क्यो होगई? ऐसे परिवर्तन काफी कारणो के विना तो हुआ नही करते। उनका आधार अस्थिरचित्त जनता की सनक भी नही होता। अवश्य ही जीवन की आधुनिक परिस्थिति में कोई बात ऐसी है जो उन्नीसवी सदी की नियमित लोकसत्ता के साथ मेल नही खाती। यह विषय दिलचस्प और पेचीदा है। मैं इसपर यहाँ विस्तार से तो नही कह सकता, मगर दो-एक वाते तुम्हारे विचार के लिए रखता हूँ।

मैने पिछले पैरे में लोकसत्ता का ज़िक्र करते वक़्त 'नियमित' शब्द काम में लिया है। साम्यवादियो का कहना है कि वह सच्ची लोकसत्ता नही थी। वह सिर्फ लोकसत्ता का परदा था जिसके नीचे यह सत्य छिपा रहता था कि एक वर्ग दूसरे वर्गों पर हुकूमत कर रहा है। उनके कहने के मुताविक़ लोकसत्ता पूंजीवादी वर्ग की सर्वोपरि सत्ता के लिए परदे का काम देती थी। उनकी राय में यह धनिक-राज्य था। सर्वसाधारण को जो मताधिकार मिला था, और जिसकी इतनी वड़ाई की गई है, उससे उन्हें चार-पॉच वर्षो में एक वार इतना-सा कहने का हक मिला था कि 'अ' उनपर राज्य करे और उनका शोषण करे या 'व' करे। हर हालत में अमीर गरीवो का खून चूसते रहे। सच्ची लोकसत्ता तभी कायम होसकती है जव यह वर्ग-राज्य और शोषण न रहे और सिर्फ एक ही वर्ग वाकी रह जाय। परन्तु ऐसे समाजवादी शासन का विकास

करने के लिए एक बीच का ऐसा समय जरूरी है जिसमें सारी सत्ता गरीबो के हाथ मे रहे और पूजीवादी और अमीर वर्ग इस तरह दबाकर रक्खे जायँ कि वे मजदूरो के राज्य के खिलाफ षडयन्त्र न रच सके। इस तरह की सर्वोपरि सत्ता सोवियट यूनियन मे है। उसमें सारे मजदूर, किसान और काम करनेवाले वर्गो का प्रतिनिधित्व है। इस तरह इस तानाशाही मे ९० या ९५ फीसदी लोगो की बाकी के ५ या १० फीसदी लोगो पर हुकूमत होती है। यह तो हुई सिद्धान्त की बात। व्यवहार में साम्यवादी दल का नियत्रण सोवियट पचायतो पर है और साम्यवादी दल पर शासको के गुट का अधिकार है। ओर जहाँतक खबरो पर पाबन्दी और विचार या कार्य की आजादी का ताल्लुक है, वहाँतक यह तानाशाही भी उतनी ही कडी है जितनी और किसी तरह की तानाशाही होसकती है। परन्तु चूकि इसका आधार श्रमजीवियो का सद्भाव है, इसलिए उन्हे साथ रखना इसके लिए जरूरी है। और आखरी बात यह है कि इसमें मजदूरो का या किसी एक वर्ग का दूसरे वर्ग के लाभ के लिए शोषण नही होता। कोई शोषक वर्ग बाकी ही नही रहता। अगर कोई शोषण करता है तो वह राज्य ही करता है और वह सबकी भलाई के लिए करता है। यह याद रखने की बात है कि रूस में कभी लोकसत्तात्मक शासन नही रहा। वह तो १९१७ में निरंकुश राजतत्र से एकदम छलाग मारकर साम्यवाद में पहुँच गया।

फैसिस्ट दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न है। मैं तुम्हे पिछले खत में बता चुका हूँ कि यह जान सकना आसान नही है कि फैसिस्टो के क्या उसूल हैं। उनके कोई निश्चित उसूल मालूम नही होते। मगर इसमें कोई शक नही कि लोकसत्ता के वे खिलाफ हैं। हाँ, लोकसत्ता का उनका विरोध और कम्यूनिस्टो (साम्यवादियो) का विरोध बिलकुल जुदा है। साम्यवादी लोकसत्ता के खिलाफ इसलिए है कि यह असली चीज नही है, बनावटी चीज है। फैसिस्ट लोकसत्ता के सिद्धान्त और विचार के ही खिलाफ़ हैं। वे अपनी पूरी ताकत के साथ लोकसत्ता की निन्दा करते हैं। मुसोलिनी ने उसे 'सडी हुई लाश' की पदवी दी है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचार से भी फैसिस्टो को उतनी ही नफ़रत है। उनके ख्याल से राज्य ही सब कुछ है, व्यक्ति की कोई गिनती नही। (साम्यवादी भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बहुत महत्व नही देते)। उन्नीसवी सदी की उदार लोकसत्ता का पुजारी बेचारा मैज़िनी आज जिन्दा होता तो वह अपने देश-बन्धु मुसोलिनी से क्या कहता!

साम्यवादियो और फैसिस्टो को ही नहीं, और बहुत-से लोगो को भी, जिन्होने वर्तमान युग के झगडो पर विचार किया है, इस पुराने विचार मे असन्तोष होगया है कि मताधिकार दे देने का ही नाम लोकसत्ता है। लोकसत्ता का अर्थ है

समानता, और समानता के समाज में ही लोकसत्ता फल-फूल सकती है। यह स्पष्ट है कि सबको मताधिकार दे देने से ही समानता का समाज कायम नही होजाता। वयस्क-मताधिकार यानी सब बालिग स्त्री-पुरुषो को राय देने का हक देदेने या ऐसी ही और कुछ बाते होजाने पर भी आज भयंकर असमानता मौजूद है। इसलिए लोकसत्ता को मौका देना हो तो समानता का समाज कायम होना लाजिमी है। इस तर्क से कई तरह के दूसरे आदर्शों और साधनो का सवाल खड़ा होजाता है। परन्तु यह बात सभी लोग निर्विवाद रूप से मानते है कि आजकल की पार्लमेण्टें बहुत ही असन्तोषजनक है।

फैसिज्म को जरा और गहरी नजर से देखें और मालूम करे कि यह क्या है। इसे हिंसा पर गर्व और शान्तिप्रियता से नफ़रत है। इटली के विश्वकोष में मुसोलिनी ने लिखा है :—

"फैसिज्म का न तो शाश्वत शान्ति की आवश्यकता मे विश्वास है और न उसकी उपयोगिता मे। शान्तिवाद मे जद्दोजहद से बचने की वृत्ति छिपी हुई है। वह मूलत कायरता ही है। इसलिए फैसिज्म कुर्वानी के मुकाबिले मे अमन को ठुकराता है। युद्ध और सिर्फ युद्ध से ही मनुष्य की शक्तियो की अधिक-से-अधिक जोरआजमाई होती है और उसको स्वीकार करने का साहस करनेवाली जातियो के सिर पर ही उच्चता का सेहरा बँधता है। और सब तरह की परीक्षाये नकली होती है। वे मनुष्य के सामने जीवन या मरण के चुनाव का सवाल पेश नही करती।"

फैसिज्म उत्कट राष्ट्रवादी और साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। फैसिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करता है। उसने राज्य को एक देवता बना दिया है। इस देवता चरणो में व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारो की बलि चढ़नी ही चाहिए। उस लिए अपने देश के सिवा और सब मुल्क गैर है और करीब-करीब दुश्मन जैसे है यहूदियो को विदेशी समझकर आमतौर पर सताया जाता है। फैसिज्म में भले कुछ धनिक-विरोधी नारो और क्रान्तिकारी साधनो का स्थान हो, परन्तु उसका सम्पत्तिशाली और प्रतिगामी वर्गों से गठबन्धन जरूर है।

ये फैसिज्म की कुछ सूरते है। उसका कोई तत्त्वज्ञान हो तो उसे समझ सकना कठिन है। हम देख चुके है कि इसका आरम्भ सत्ता की लालसा के साथ हुआ है। जब कामयाबी मिल गई, तब उसका तत्त्वज्ञान बनाने की कोशिश की गई। तुम चक्कर में तो पडोगी मगर तुम्हे फैसिज्म की कल्पना हो जायगी, इसलिए एक प्रसिद्ध फैसिस्ट तत्त्ववेत्ता का उद्धरण दूंगा। उसका नाम जियोवानी जेण्टाइल है। यह फैसिज्म का अधिकार-प्राप्त तत्त्ववेत्ता माना जाता है और फैसिस्ट सरकार का एक मंत्री भी रह चुका है। जेण्टाइल का कहना है कि 'लोगो को अपना आत्मानुभव या विकास अपने

व्यक्तित्व के द्वारा नही करना चाहिए। यह लोकसत्तात्मक ढंग है। उन्हे विकास फैसिस्ट तरीके पर करना चाहिए और संसार की अत्म-चेतना के रूप मे यानी अपने अह के विकसित रूप मे करना चाहिए। (इसका क्या अर्थ हुआ, यह मेरी समझ में खाक भी नही आया)। इस तरह इस दृष्टिबिन्दु में व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य का कोई स्थान नही। इसके अनुसार सच्चा व्यक्तित्व और व्यक्ति-स्वातंत्र्य वही है जो मनुष्य अपनेको किसी दूसरी चीज यानी राज्य में विलीन करके प्राप्त करता है।'

"कुटुम्ब, राज्य और आत्मा मे मिल जाने से मेरा व्यक्तित्व मिटता नही है बल्कि ऊँचा उठता है, मजबूत होता और बढता है।"

जेण्टाइल फिर कहता है:—

"शक्ति किसी भी तरह की हो, यदि उससे सकल्प पर असर पडता है तो वह नैतिक शक्ति ही है, उसके पक्ष मे दलील चाहे उपदेश की दी जाय या डण्डे की।"

इससे हम समझ सकते ह कि भारत में जब सरकार लाठी-चार्ज करवाती है तो कितने नैतिकबल को काम में लेती है!

ये सब बाते तो ऐसी है कि जो चीज हो चुकी हो उसका अर्थ खास तरह से लगाया जाय या उसे न्याय्य सिद्ध किया जाय। यह भी कहा जाता है कि फैसिज्म का उद्देश्य 'सामूहिक राज्य' (Corporative State) की स्थापना करना है। मेरा अनुमान है कि ऐसे राज्य में सब लोग सामूहिक भलाई के लिए मिल-जुलकर काम करते हैं। परन्तु अभीतक इटली में या और कही भी ऐसा राज्य प्रकट नहीं हुआ है। इटली में भी और पूँजीवादी देशो की तरह ही पूँजीवाद मजे से अपना काम कर रहा है।

चूंकि फैसिज्म और मुल्को में भी फैल गया है, इससे जाहिर है कि यह इटली की ही कोई विशेषता नहीं है, बल्कि एक ऐसी चीज है जो किसी भी देश में खास तरह के आर्थिक और सामाजिक हालात होने पर पैदा होसकती है। जब कभी मजदूरो का बल बढता है और वे सचमुच पूँजीवादी राज्य के लिए खतरनाक होजाते हैं, तो पूजीवादी वर्ग का अपने बचाव की कोशिश करना स्वाभाविक है। आम तौर पर मजदूरो की तरफ से ऐसा खतरा भयंकर आर्थिक संकट के अवसरो पर ही पैदा होता है। अगर सम्पन्न और शासक वर्ग उस वक्त पुलिस और फौज की मदद लेकर मामूली लोकसत्तात्मक साधनो से मजदूरो को नहीं दबा सकते हैं, तो वे फैसिस्ट तरीके का सहारा लेते है। यह इस तरह कि एक लोकप्रिय सार्वजनिक आन्दोलन खड़ा कर दिया जाता है; उसमें कुछ रणनाद या नारे तो सर्वसाधारण को पसन्द आनेवाले रख दिये जाते हैं, पर वह आन्दोलन सम्पत्तिशाली वर्ग की रक्षा के ही लिए होता है। इस आन्दोलन की रीढ नीचे दर्जे का मध्यमवर्ग होता है, क्योंकि इसमें बेकारो की तादाद बहुत होती है। इन

नारों से और अपनी हालत सुधारने की उम्मीदों से आकर्षित होकर बहुत-से राजनीतिक विचारों में पिछड़े हुए और असंगठित मजदूर भी शामिल होजाते हैं। ऐसे आन्दोलन को बड़े-बड़े अमीरों से रुपये की मदद मिलती है; क्योंकि उन्हें इससे फ़ायदा होने की उम्मीद होती है। देश की पूंजीवादी सरकार इस आन्दोलन के हिंसा-धर्म और हिंसा कार्य को जानते और देखते हुए भी इसलिए सहन कर लेती है कि यह उनके सबसे शत्रु—समाजवादी मजदूर आन्दोलन—से लोहा लेता है। फ़ैसिज्म दल के रूप में भी और देश की सरकार बन जाने पर और भी प्रबल होकर मजदूरों के संगठन का नाश करता है और सब विरोधियों को भयभीत रखता है।

इस तरह फ़ैसिज्म का उदय उस वक़्त होता है जब बढ़ते हुए समाजवाद और जमे हुए पूंजीवाद में वर्ग-युद्ध तीव्र और भयंकर होजाता है। यह सामाजिक संघर्ष किसी ग़लतफ़हमी से पैदा नहीं होता, बल्कि हमारे वर्तमान समाज के स्वाभाविक विरोधी हितों और संघर्षों को अच्छी तरह समझने के कारण होता है। इन संघर्षों की उपेक्षा करने से ये नहीं मिटते। जिन लोगों को वर्तमान व्यवस्था से कष्ट होता है वे ज्यों-ज्यों इस हित-विरोध को समझते जाते हैं त्यों-त्यों उनमें अपने हिस्से से वंचित रहने पर अधिक ग़ुस्सा पैदा होता है। जिनके पास सब कुछ है वे कुछ भी छोड़ने को तैयार नहीं होते। बस इसीसे संघर्ष तीव्र होजाता है। जबतक पूंजीवाद अपनी सत्ता क़ायम रखने के लिए लोकसत्तात्मक संस्थाओं के साधन काम में ले सकता है, तबतक लोक-सत्ता को क़ायम रहने दिया जाता है। जब यह सम्भव नहीं रहता, तब पूंजीवाद लोक-सत्ता को परे फेंक देता है और हिंसा और आतंकवाद का खुला फ़ैसिस्ट तरीका इख्तियार कर लेता है।

शायद रूस के सिवा योरप के सभी देशों में फ़ैसिज्म थोड़े-बहुत प्रमाण में मौजूद है। इसकी सबसे ताज़ा जीत जर्मनी में हुई है। इंग्लैण्ड में भी शासकवर्ग में फ़ैसिस्ट विचार फैल रहे हैं और उनका प्रयोग हम हिन्दुस्तान में तो अक्सर देखते ही हैं। संसार की रंग-भूमि पर आज फ़ैसिज्म पूंजीवाद का अन्तिम अस्त्र बनकर साम्यवाद से जूझ रहा है।

परन्तु फ़ैसिज्म की और बातें जाने दें तो भी उससे संसार को सतानेवाली आर्थिक समस्याओं का भी कोई हल नहीं मिलता। इसका तीव्र राष्ट्रवाद संसार की एक-दूसरे पर निर्भर रहने की वृत्ति के विरुद्ध पड़ता है और पूंजीवाद के पतन से उत्पन्न होने वाली समस्यायें बढ़ती हैं। दूसरे देशों के प्रति इसकी जो आक्रमणकारी मनोवृत्ति है उससे राष्ट्रों में परस्पर संघर्ष पैदा होता है और इससे अक्सर युद्ध की नौबत आ जाती है।

: १७७ :

चीन की क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति

२६ जून, १९३३

अब हम योरप और उसके असन्तोष को छोडकर उससे भी बडे उपद्रव के क्षेत्र, सुदूर पूर्व, चीन और जापान में चले। चीन पर लिखे हुए अपने पिछले खत में मैंने तुम्हे बताया था कि इस युवा प्रजातन्त्र को कितनी मुश्किले पेश आई है। यह प्रजातंत्र संसार की अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण सस्कृति की भूमि में स्थापित हुआ। उस वक्त देश तहस-नहस होता दिखाई दे रहा था और तूशन और महातूशन नाम से पुकारे जानेवाले बेउसूल सेनानायको की ताकत बढ रही थी। ये लोग हमेशा आपस में लड़ते रहते थे। इन्हे अक्सर साम्राज्यवादी राष्ट्रो की तरफ से उत्साह और सहायता दी जाती थी, क्योकि इन राष्ट्रो का स्वार्थ इसीमें था कि चीन दुर्बल हो और आपस में लड़ता रहे। इन तूशनो के कोई उसूल नही थे। उनमें से हरेक अपनी-अपनी बड़ाई चाहता था और वहाँ जो छोटे-छोटे गृह-युद्ध चलते रहते थे उनमें वे कभी इस तरफ हो जाते थे और कभी उस तरफ। उनके और उनकी सेनाओ के गुजर का भार अभागे किसानो पर पडता था। मैं तुम्हे यह भी बता चुका हूँ कि चीन के महान् नेता डॉक्टर सनयातसेन ने दक्षिणी चीन में कैण्टन नगर में राष्ट्रीय सरकार सगठित की थी। इस महापुरुष ने जीवन-भर चीन की आजादी के लिए कोशिश की थी।

सारे देश पर विदेशी पूँजीवादी राष्ट्रो के आर्थिक स्वार्थो का प्रभाव था। ये शघाई और हॉगकॉग वगैरा बडे-बडे बन्दरगाहवाले शहरो में बैठकर चीन के सारे विदेशी व्यापार का नियंत्रण करते थे। डॉक्टर सन ने बिलकुल सच कहा था कि आर्थिक दृष्टि से चीन इन राष्ट्रो का उपनिवेश है। एक मालिक का होना ही कम बुरी बात नही होती। कई मालिको का होना कभी-कभी उससे भी बुरी बात है। डॉक्टर सन ने देश का औद्योगिक विकास करने और अपने घर का सुधार करने के लिए विदेशो की सहायता लेने की कोशिश की थी। अमेरिका और ब्रिटेन से खास उम्मीदें थी, मगर दोनो ने या और भी किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र ने सहायता नहीं दी। चीन के शोषण में सबका स्वार्थ था। वे उसकी भलाई या बल-वृद्धि नहीं चाहते थे। तब १९२४ में डॉक्टर सन ने रूस की तरफ नजर डाली।

चीन के विद्यार्थियो और शिक्षित वर्ग में गुप्त रूप से पर तेजी के साथ साम्यवाद बढ रहा था। १९२० में एक साम्यवादी दल बन चुका था और वह गुप्त समिति के रूप में काम करता रहा, क्योकि वहाँ की मुख्तलिफ सरकारो ने उसे खुले तौर पर तो

काम करने नही दिया। डॉक्टर सन साम्यवाद से दूर ही रहते थे। उनके मशहूर 'जनता के तीन उसूलों' से मालूम होता है कि वे नरम समाजवादी थे। मगर उनपर इस बात की अच्छी छाप पडी कि सोवियट रूस का चीन और दूसरे पूर्वी राष्ट्रो के साथ उदार और अच्छा बर्ताव है। उन्होंने रूस के साथ दोस्ताना ताल्लुकात पैदा कर लिये और कुछ रूसी सलाहकार रख लिये। इनमें से बोरोडीन ज्यादा मशहूर था। वह एक निहायत क़ाबिल बोलशेविक था। बोरोडीन कैण्टन के राष्ट्रीय दल काउ-मिन-ताँग के लिए एक ज़बरदस्त मददगार साबित हुआ। उसने चीन में एक ऐसे बलशाली राष्ट्रीय दल के निर्माण और संगठन के लिए परिश्रम किया जिसकी पीठ पर सर्वसाधारण का सहारा हो। उसने बिलकुल साम्यवादी ढंग पर ही काम करने की कोशिश नहीं की। उसने दल की राष्ट्रीय बुनियाद क़ायम रक्खी, मगर काउ-मिन-तांग में साम्यवादियो के लिए भरती होने का दरवाजा खुलवा दिया। इस तरह राष्ट्रीय काउ-मिन-ताँग और साम्यवादीदलों में एक तरह का बेज़ाब्ता मेल होगया। काउ-मिन-ताँग के बहुत-से अनुदार और धनी सदस्यो को साम्यवादियों का यह सम्पर्क पसन्द नहीं था। उधर बहुत-से साम्यवादियो को भी यह अच्छा नही लगता था। इसका कारण यह था कि उन्हे अपना कार्यक्रम नरम बनाना पड़ता था और बहुत-सी ऐसी बातें करने से बाज़ रहना पड़ता था जो वे दूसरी सूरत में करते। यह मेल बहुत दिन नहीं टिका। हम देखेंगे कि यह एक नाज़ुक मौके पर टूटा और उससे चीन पर बडी विपत्ति आई। जिन दो या अधिक वर्गों के स्वार्थ आपस में टकराते हो उन्हे एक ही दल में मिलाकर रखना हमेशा मुश्किल होता है। परन्तु जबतक यह मेल क़ायम रहा तबतक खूब कामयाब हुआ और काउ-मिन-ताँग और कैण्टन सरकार का बल बढ़ता गया। किसान-सभाओं और मजदूर-संघो को प्रोत्साहन दिया गया और उनका तेजी से विस्तार हुआ। आम जनता की इसी मदद से कैण्टन की काउ-मिन-ताँग को सच्ची सत्ता प्राप्त हुई। इसीसे जमीन के मालिक नेताओं के कान खडे हुए और आगे चलकर उन्हे दल को तहस-नहस करने की प्रेरणा मिली।

बहुत बातों में ज़बरदस्त फर्क होते हुए भी चीन और भारत की स्थिति में बडी समानता है। चीन असल में कृषि-प्रधान देश है। वहाँ बेशुमार किसान हैं। पूंजीवादी उद्योग सिर्फ छ-सात बडे-बडे शहरो में ही हैं और विदेशियो के हाथो में हैं। करोड़ों किसान कर्ज के भयंकर बोझ से पिसे जा रहे हैं। लगान की दर बहुत ऊँची है और हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी किसानो को कई महीने मजबूरन बेकार रहना पड़ता है। उन दिनो खेतों में बहुत कम काम रहता है। इस तरह इस खाली समय को भरने और उनकी आमदनी बढ़ाने के लिए गृह-उद्योगो की जरूरत है। अब तो वहाँ बहुत-से गृह-उद्योग हो भी गये हैं। वहाँ बडी-बडी जमींदारियाँ बहुत कम हैं। जब कोई बडी

जमीदारी बनती है तो वारिसो में बँटकर उसके जल्दी ही छोटे-छोटे हिस्से होजाते हैं। करीब-करीब आधे किसानो के अपने खेत हैं और आधे जमीदारो की जमीन जोतते हैं। इस तरह चीन छोटे-छोटे बेशुमार किसानो का देश है। सैकडो वर्षों से चीनी किसानो को यह श्रेय है कि वे जमीन में से अधिक-से-अधिक सार निकाल लेते हैं। उनके खेत इतने छोटे हैं कि उन्हे मजबूर होकर ऐसा करना पड़ता है। वे अपनी विलक्षण सूझ काम में लाते हैं और भयकर परिश्रम करते हैं। मेहनत बचाने की कृषि की आधुनिक सुविधायें उनके पास नही हैं। वर्ना जितना फल उन्हे मिलता है उसके लिए इतनी कठोर मेहनत न करनी पड़ती।

इस सारी सूझ और कडी मेहनत के बावजूद लगभग आधे किसानो का आमद-ख़र्च बरावर नहीं होता था और वे अपनी छोटी-छोटी उम्र यूँही आधेपेट गुज़ार देते थे। हिन्दुस्तान के बेशुमार किसानो का भी यही हाल होता है। चीनी किसान सदा ही नंगे-भूखे-से रहते थे और जब अकाल और बाढ़ का संकट आता तो लाखो बेमौत मर जाते। बोरोडीन की सूचना पर डॉक्टर सन की सरकार नें किसानो और मजदूरो की मुसीबत दूर करने के लिए कानून बनाये, लगान पौना कर दिया गया, मजदूरो के लिए आठ घण्टे की मेहनत और जीवन-निर्वाह के योग्य मजदूरी मुकर्रर की गई और किसान-सघ स्थापित किये गये। स्वभावत. इन सुधारो का सर्वसाधारण ने स्वागत किया और उनके दिल उत्साह से भर गये, वे नये संघो में धड़ाधड़ शामिल होगये और कैण्टन-सरकार की मदद के लिए खडे होगये।

इस तरह कैण्टन ने अपनी शक्ति मजबूत करके उत्तर के तूशनो से भिड़न्त करने की तैयारी करली। एक फौजी कालेज खोल दिया गया और सेना का निर्माण किया गया। कैण्टन में ही नही, सारे चीन में और कुछ हद तक पूर्व-भर में एक दिलचस्प घटना यह होरही है कि धार्मिक सत्ता का स्थान भौतिक सत्ता लेती जा रही है। संकुचित अर्थ में तो चीन कभी धार्मिक देश नहीं रहा। अब वह और भी भौतिक होगया है। पहले शिक्षा धार्मिक थी, अब भौतिक करदी गई है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि चीन के बहुत-से प्राचीन मन्दिर अब सार्वजनिक उपयोग के काम में लाये जा रहे हैं। कैण्टन के एक मशहूर और पुराने मन्दिर में आजकल पुलिस को तालीम दी जाती है। दूसरे स्थान पर मन्दिरो को बदलकर तरकारी के बाजार बना दिये गये हैं। धार्मिक अन्ध-विश्वास को दूर करने के लिए संस्थायें बन गई हैं। वे प्रचार-कार्य करती हैं।

डॉक्टर सनयातसेन १९२५ के मार्च में मर गये, मगर कैण्टन-सरकार की ताकत बढ़ती गई। बोरोडीन उसका सलाहकार बना रहा। थोडे समय बाद कुछ घटनायें

ऐसी हुई जिनसे चीन-निवासी विदेशी पूजीपतियो और खास तौर पर अंग्रेजों के खिलाफ गुस्से से भर गये। शंघाई की मिलो में हड़ताले हुई थी और १९२५ की मई में एक प्रदर्शन में एक मजदूर मारा गया। उसकी स्मृति में एक विशाल सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया गया था। उस अवसर पर विद्यार्थियो और मजदूरो ने साम्राज्य-विरोधी प्रदर्शन किये। एक अग्रेज पुलिस अफसर ने अपने मातहत सिक्ख सिपाहियो को इस भीड़ पर गोली चलाने का हुक्म दिया। हुक्म मारने के लिए गोली चलाने का था। कई छात्र मारे गये। इससे चीन-भर में अंग्रेजो के खिलाफ गुस्से की आग भभक उठी। बाद की एक घटना ने स्थिति को और भी बिगाड़ दिया। यह घटना १९२५ के जून में कैण्टन की शमीन नामक विदेशी बस्ती में हुई। वहाँ मुख्यत चीनी विद्यार्थियो की भीड़ पर मशीनगन चला दी गई। ५२ आदमी मारे गये और बहुत-से घायल हुए। इस घटना को 'शमीन का हत्या-काण्ड' नाम दिया गया और इसके लिए मुख्यत अंग्रेजो को दोषी ठहराया गया। कैण्टन में ब्रिटिश माल के राजनैतिक बहिष्कार की घोषणा करदी गई और कई महीने तक हॉगकॉग का व्यापार बन्द कर दिया गया। इससे अंग्रेज व्यवसायियो और ब्रिटिश सरकार को बड़ा नुकसान हुआ। तुम्हे शायद मालूम ह कि हांगकाग दक्षिण चीन में अंग्रेजो का इलाका है। यह कैण्टन के पास ही है और यहाँसे बहुत बड़ा व्यापार होता है।

डॉक्टर सन की मृत्यु के बाद कैण्टन-सरकार के दाहिने और बायें अगो यानी नरम और गरम दलो में लगातार कशमकश रही। कभी एक पक्ष के हाथ में सत्ता आजाती तो कभी दूसरे के हाथ में। १९२६ के मध्य में नरम दली च्याग-काई-शेक प्रधान सेनापति बना और उसने साम्यवादियो को धकेल बाहर करना शुरू कर दिया। फिर भी दोनो दल किसी तरह एक हद तक साथ-साथ काम करते रहे। उनके दिलो में परस्पर अविश्वास जरूर था। उसके बाद कैण्टन की सेना का तूशनो से लडने और उन्हे निकाल बाहर करने के लिए उत्तर की तरफ बढ़ना शुरू हुआ। उसका उद्देश्य सारे देश मे एक राष्ट्रीय सरकार कायम करना था। यह कूच एक असाधारण घटना थी और शीघ्र ही सारे ससार का ध्यान उसकी तरफ खिच गया। असल में लडाई भी बहुत कम हुई और दक्षिण की सेना फतह-पर-फतह हासिल करती हुई तेजी से आगे बढ़ती गई। उत्तर वालो में फूट थी, लेकिन दक्षिण वालो की असली ताकत इस बात में थी कि किसान और मजदूर उन्हे चाहते थे। उनकी फौज के आगे-आगे प्रचारको और आन्दोलको की टुकडी चलती थी और वह किसानो और मजदूरो के सघ सगठित कर-करके उन्हे समझाती थी कि कैण्टन-सरकार के मातहत होने पर उन्हे क्या-क्या लाभ होगे। इसलिए नगर और गॉव दोनो ने वढती हुई फौज का स्वागत किया

और उसे हर तरह मदद दी। कैण्टन की सेना के खिलाफ लड़ने के लिए जो फौजें भेजी जाती वे शायद ही कभी लडती और अक्सर सब सामान-सहित उसमे आकर मिल जाती। १९२६ का साल खत्म होने से पहले राष्ट्रवादियो ने आधा चीन पार कर लिया और यॉगत्सी नदी पर हैंकन का बडा शहर ले लिया। उन्होने अपनी राजधानी कैण्टन से हटाकर हैंकन मे करली और उसका नाम बदल कर वूहन रख लिया। उत्तरी सेनापतियो को पस्त करके भगा दिया गया। साम्राज्यवादी सत्ताओ की अकस्मात् ऑख खुली। उन्हे बुरा तो लगा, परन्तु उन्होने देख लिया कि एक नवीन और आक्रमणकारी राष्ट्रवादी चीन सामने खड़ा है, जो समानता का दावा करता है और धमकी में आने से इन्कार करता है।

१९२७ के शुरू मे राष्ट्रवादियो ने हैंकन की ब्रिटिश रियायती वस्ती पर कब्जा करने की कोशिश की। इसपर चीनियो और अंग्रेजो में संघर्ष होगया। अगर इस तरह का उत्तेजनापूर्ण रुख चीनी लोग पहले कभी इख्तियार करते तो लड़ाई छिड़ जाती और ब्रिटिश सरकार उन्हे कुचल डालती। इतना ही नही, वह उन्हे डरा-धमकाकर हर्जाने और रिआयते वसूल करती। १८४० के अफीम के युद्ध से अवतक सदा [य]ही रिवाज चला आता था, यह हम देख चुके है। मगर अब जमाना बदल गया था [अ]ौर अंग्रेजो के मुकाबिले में नई तरह का चीन खडा था। इसलिए तुरन्त और पहली [ह]ी बार अँग्रेजो की नीति बदली और नवीन चीन के प्रति उन्होने नरम रुख इख्तियार [क]िया। हैंकन की वस्ती का मामला छोटा-सा था और आसानी से तय हो सकता था। [प]रन्तु उससे थोडी ही दूर पर और राष्ट्रवादियो की कूच के रास्ते में ही शंघाई का [ब]ड़ा बन्दरगाह था। चीन में विदेशियो के अधिकार में यह सवसे वड़ा और कीमती [रि]आयती क्षेत्र था। शघाई की किस्मत के साथ विदेशियो के वडे-वडे स्वार्थ लगे हुए थे। [य]ह शहर—नही, उसका रिआयती भाग—विदेशी नियंत्रण में था और करीव-करीव चीनी [स]रकार की सत्ता से स्वतत्र था। जब चीन की राष्ट्रीय सेना शघाई के करीव पहुँचने [ल]गी, तो शघाई के इन विदेशियो और उनकी सरकारो को वडी चिन्ता हुई और [उ]नकी सेना और लडाकू जहाज शीघ्र उस बन्दर पर पहुँच गये। १९२७ के शुरू [ज]नवरी में ब्रिटिश सरकार ने खासतौर पर वडी-सी सेना शंघाई भेजदी। इसमें [ह]िन्दुस्तानी सिपाही भी थे।

उस वक्त हैंकन या वूहन में कायम राष्ट्रीय सरकार के सामने एक मुश्किल [स]मस्या पैदा होगई—आगे वढा जाय या न वढा जाय, और शघाई को लेलिया जाय या नही? उन्हे अवतक आसानी से जो कामयावी मिली थी उससे उनका हौसला वढ गया था और उनमें उत्साह भर गया था। शंघाई था भी अत्यन्त आकर्षक

पुरस्कार। उधर वे केवल आगे बढ़ ही रहे थे और ५०० मीलों से भी ज्यादा लम्बा-चौड़ा इलाका पार कर आये थे, मगर उन्होंने वहाँ अपनी हालत मजबूत बनाने का उपाय नही किया था। इस हालत में अगर वे शंघाई पर हमला कर देते तो विदेशी सत्ताओ से भिड़कर मुश्किलो में फँस जाते। मुमकिन है इससे उन्होने जो कुछ हासिल किया था वह भी खतरे में पड़ जाता। बोरोडीन ने सावधानी से चलने और स्थिति को मजबूत कर लेने की सलाह दी। उसकी राय यह थी कि राष्ट्रवादियो को शंघाई से अलग ही रहना चाहिए और चीन के दक्षिणी आधे भाग में, जहाँ उनका अधिकार कायम हो चुका था, अपनी स्थिति दृढ़ कर लेनी चाहिए। इस बीच में उत्तर में प्रचार-कार्य के जरिये जमीन तैयार करनी चाहिए। उसे उम्मीद थी कि बहुत जल्दी यानी एकाध वर्ष में ही सारा चीन राष्ट्रवाद के आगमन का स्वागत करेगा। उस वक्त शंघाई को लेलेने, पेकिंग पर कूच करने और विदेशी सामाज्यवादी शक्तियो का सामना करने का मौका मिलेगा। क्रान्तिकारी होकर भी बोरोडीन ने यह सावधानी की सलाह दी, क्योंकि वह अनुभवी था और परिस्थिति विशेष को पैदा करनेवाले भिन्न-भिन्न तत्त्वो को समझ सकता था। परन्तु काउ-मिन-ताँग के दाहिने अंग के नेताओ ने और खास तौर पर प्रधान सेनापति च्यांग-काई-शेक ने शंघाई की तरफ कूच करने पर जोर दिया। शंघाई को लेलेने की इस इच्छा का असली कारण आगे चलकर उस वक्त जाहिर हुआ जब काउ-मिन-ताँग के बिखरकर दो टुकडे होगये। इन दाहिने अंग के नेताओ को किसान और मजदूर-संघो की बढ़ती हुई ताकत पसन्द न थी। बहुत-से सेनानायक खुद भू-स्वामी थे। इसलिए उन्होने इन संघों को कुचल देने का फैसला कर लिया, भले ही इसमें दल के दो टुकडे हो जायँ और राष्ट्रवादी पक्ष कमजोर हो जाय। शघाई बडे-बडे चीनी अमीरो का महत्वपूर्ण केन्द्र था। दाहिने अग के यानी प्रतिगामी सेनानायको को यह विश्वास था कि ये अमीर उन्हे अपने दल के प्रगतिशील अंग और खासतौर पर साम्यवादियो से लड़ने में रुपये-पैसे की और दूसरी मदद देंगे। वे यह भी जानते थे कि ऐसी लडाई में उन्हे शघाई के विदेशी साहूकारो और कारखानेदारो से भी मदद मिलेगी।

इसलिए उन्होने शंघाई पर कूच कर दी। १९२७ के १२ मार्च को शहर का चीनी हिस्सा उनके हाथ आ भी गया। विदेशी बस्ती पर उन्होने हमला नहीं किया। शघाई का यह पतन हुआ भी बहुत लड़ाई के बिना ही। विरोधी सेनायें राष्ट्रवादियो में जा मिलीं और राष्ट्रवादियों के पक्ष में मजदूरो की आम हड़ताल हो जाने से शघाई की तत्कालीन सरकार का पूरी तरह पतन होगया। दो दिन बाद नानकिंग का बडा शहर भी राष्ट्रीय सेना के कब्जे में आगया। इसके बाद ही काउ-मिन-ताँग दल के उग्र

और नरम अगो मे फूट हुई। इससे राष्ट्रीय विजय का अन्त होगया और चीन पर विपत्ति आगई। क्रान्ति ख़त्म हुई और प्रति-क्रान्ति शुरू होगई।

च्याग-काई-शेक ने हैंकन-सरकार के बहुत-से मन्त्रियो की इच्छा के खिलाफ शघाई पर कूच किया था। इसलिए दोनो दल एक-दूसरे के ख़िलाफ साजिश करने लगे। हैंकनवालो ने सेना पर च्याग का प्रभाव घटाने और उससे पिण्ड छुड़ाने की कोशिश की। च्यांग ने नार्नाकग में दूसरी सरकार कायम करली। यह सब शंघाई की विजय के थोडे दिन बाद ही होगया। हैंकन की अपनी ही सरकार से विद्रोह करके अब च्याग ने अपना स्वरूप पूरी तरह प्रकट कर दिया और साम्यवादियो, उग्रदलवालो और सघ वाले मजदूरो पर हल्ला बोल दिया। जिन मजदूरो की बदौलत वह शंघाई पर इतनी आसानी से कब्ज़ा कर पाया था और जिन्होने खुशी से पागल होकर उसका स्वागत किया था, उन्हीको अब उसने चुन-चुनकर सताया और कुचल दिया। बहुत लोगो को गोली या तलवार से मार दिया गया और हजारो को गिरफ्तार करके जेलखाने भेज दिया गया। लोगो की धारणा यह थी कि राष्ट्रवादी शघाई में स्वतन्त्रता की धारा बहायेंगे; और हुआ यह कि खून की नदियाँ बह निकली।

१९२७ के अप्रैल मास के इन्ही दिनो में एक ही रोज पेकिग और शंघाई के सोवियट दूतावासो की एकसाथ तलाशियाँ हुई। यह साफ जाहिर था कि च्यांग-काई-शेक उत्तरी सेनानायक चैंग सोलिन से मिलकर कार्रवाई कर रहा है। वैसे इन दोनो में लडाई समझी जाती थी। पेकिग और शंघाई दोनो में साम्यवादियो और प्रगतिशील मजदूरो का 'सफाया' किया गया। साम्राज्यवादी सत्ताओ ने तो इन घटनाओ का स्वागत किया ही। उन्हे यह काम इसलिए पसन्द था कि इससे चीनी राष्ट्रवादियो की एकता भंग होकर उनका बल क्षीण होता था। यह बहुत मुमकिन है कि उस वक्त च्यांग-काई-शेक का शंघाई-स्थित विदेशी राष्ट्रों से खुफिया ताल्लुक हो। आगे चलकर तो इसमें कोई शक नही रहा कि उसने उनका सहयोग चाहा था। तुम्हे याद होगा कि लगभग उसी समय, यानी १९२७ के मई में, ब्रिटिश सरकार ने लन्दन के सोवियट भवन की तलाशी ली थी और फिर रूस के साथ ताल्लुकात तोड दिये थे।

इस तरह एक-दो महीने के अन्दर ही चीन का सारा नक्शा बदल गया। जो काऊ-मिन-ताग ऐक्य और विजय की पताका फहराता हुआ चीनी राष्ट्र का प्रतिनिधि था और सफलता का सेहरा सिर पर बाँधे हुए विदेशी सत्ताओ के सम्मुख खड़ा हुआ था, वही काउ-मिन-तॉग अब तहस-नहस होगया था, उसके भिन्न-भिन्न अग आपस में लड़ रहे थे, और जिन मजदूरो और किसानो ने उसे जीवन और बल दिया था वे ही अब

सताये और मारे जाते थे। शंघाई के विदेशी स्वार्थों को फिर सुख की साँस लेने का मौका मिला। वे बड़े कृपा-पूर्ण हाथो से एक समूह को दूसरे के खिलाफ मदद देने लगे। मजदूरो को भड़काने और सताने का लाभदायक और सुखद मनोरंजन वे खास तौर पर करने लगे। शंघाई ही क्या, चीन भर के कारखानो के मजदूरो का मालिक लोग भयकर शोषण करते थे और उनका जीवन और रहन-सहन अत्यन्त दु:खी था। संगठन से उन्हे बल मिला था और मालिको को मजबूर होकर उनकी मजदूरी बढ़ानी पडी थी। इस कारण कारखानेदारों को—भले ही वे यूरोपियन हो या जापानी और चीनी हो—मजदूर-संघ नही सुहाते थे।

चीन मे घटना-चक्र जिस तरह चल पड़ा उसपर मास्को मे बोरोडीन की कडी टीका हुई और १९२७ के जुलाई में वह रूस चला गया। उसके जाते ही हैंकन के काउ-मिन-तॉग दल का उग्र पक्ष छिन्न-भिन्न होगया। अब काउ-मिन-तॉग पर नानकिंग-सरकार का पूरा नियंत्रण होगया और साम्यवादियो के खिलाफ़ खास तौर पर, और वैसे सभी उग्र दलवालो और मजदूर नेताओ के खिलाफ़, लडाई जारी रही। इस अवसर पर जो लोग चीन छोड़कर चले गये, या जिन्हे निकाल दिया गया, उनमें से महान नेता सनयातसेन की आदरणीया विधवा श्रीमती सन भी थी। उन्होनें दु:खित होकर घोषणा की कि सेनावादियो और दूसरे लोगो ने चीन की स्वतन्त्रता के लिए किया गया उनके पतिदेव का महान् कार्य नष्ट कर दिया। फिर भी ये सेनावादी डाक्टर सन के उसूलो की ही दुहाई देते रहे।

चीन फिर सेनानायको की आपसी लड़ाइयो की भूल-भुलैया में फँस गया। कैण्टन ने नानकिंग-सरकार से अलग होकर दक्षिण में अपनी स्वतन्त्र सरकार कायम करली। १९२८ में पेकिंग नानकिंग-सरकार के हाथ पड़ गया। उसका नाम बदलकर पीपिंग रख दिया गया। इसका अर्थ 'उत्तरी शान्ति' है और पेकिंग का अर्थ 'उत्तरी राजधानी' है। मगर अब वह राजधानी तो रहा नहीं।

पेकिंग के पतन के बाद—हॉ, अब तो हमें उसे पीपिंग कहना चाहिए—देश के मुख्तलिफ हिस्सों में गृह-युद्ध जारी रहा। कैण्टन में तो अलग सरकार बन ही गई थी। उत्तर में भी भिन्न-भिन्न सेनानायक अपनी मनमानी करते, परस्पर लड़ते रहते और कभी-कभी थोडे दिन के लिए आपस में सुलह कर लेते थे। कहने को कैण्टन के सिवा सारे चीन में नानकिंग की राष्ट्रीय सरकार का शासन था, मगर कई इलाके उसकी हुकूमत के बाहर थे। उनमें से उल्लेखनीय एक बड़ा भीतरी प्रदेश था। वहां साम्य-वादी शासन कायम होगया था। नानकिंग-सरकार का मुख्य आधार, आर्थिक सहायता के लिए, शंघाई के कोठी वालो पर था। अलग-अलग सेनानायको की बड़ी-बड़ी सेनाओं

का बोझ किसानो पर भयकर होगया। बेशुमार सिपाही काम की तलाश में देहातो मे आवारा फिरने और काम न मिलने पर अक्सर लूटमार करने लगे।

१९२७ के दिसम्बर मे नार्नाकग-सरकार और सोवियट रूस के सम्बन्ध टूट गये और साम्राज्यवादी सत्ताओ की शह पाकर नार्नाकग ने आगे बढकर सोवियट का विरोध करने की वृत्ति धारण करली। अगर रूस बराबर युद्ध को टालता न रहता तो १९२७ मे ही चीन से उसकी जंग छिड़ जाती। १९२९ में चीन ने फिर आक्रमणकारी ढग इख्तियार किया। इस बार मचूरिया में ऐसा हुआ। वहाँके सोवियट दूतावास की तलाशी ली गई और चीनी पूर्वी रेलवे के रूसी कर्मचारियो को बरखास्त कर दिया गया। यह रेलवे अधिकाश में रूसी सम्पत्ति थी और सोवियट सरकार ने चीनियो के खिलाफ तुरन्त कार्रवाई की। कुछ महीनो तक एक तरह का जग रहा। उसके बाद सरकार ने पुरानी व्यवस्था फिर से कायम करने की रूसी माँग स्वीकार करली।

मंचूरिया से और उसके बीच में होकर निकली हुई रेलवे से कई बार अन्तर्राष्ट्रीय पेचीदगियाँ पैदा हुई है, क्योंकि वहाँ बहुत-से, और खासकर चीन, जापान और रूस के, स्वार्थ टकराते है। पिछले दो वर्षो में दुनियाभर के नाराज़ होने पर भी जापान ने उसपर पूरा नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की और उसमें वह प्राय सफल भी हो गया है। इसका हाल अगले खत में बताऊँगा।

मैंने ऊपर ज़िक्र किया है कि चीन के कुछ हिस्सो में साम्यवादी सरकार कायम हुई है। यह सरकार आज भी मौजूद है। हाँ, यह स्पप्ट नही है कि इसका बल कितना है और इसका अधिकार कितने विस्तार में है। मालूम होता है दक्षिण के क्वाटंग प्रान्त के हेफंग जिले में १९२७ के नवम्बर में पहलेपहल साम्यवादी शासन कायम हुआ था। यह 'हेफग सोवियट प्रजातन्त्र' कहलाया। इसका विकास अलग-अलग किसान-संघो में से हुआ था। चीन के भीतरी भागो में सोवियट इलाका बढता गया और १९३२ के मध्य तक असली चीन का छठा भाग उसमें शामिल होगया। इसका विस्तार २,५०,००० वर्गमील और जन-संख्या ५ करोड होगई। इस इलाके पर साम्यवादी दल का सम्पूर्ण अधिकार है और कहते है वहाँ अनुशासन का भी अच्छा पालन होता है। उन लोगो ने चार लाख आदमियो की लाल सेना बनाली है और उसके सहायक अंगो में लडके और लड़कियाँ भी शामिल होगये है। नार्नाकिग और कैण्टन दोनो सरकारो ने इन चीनी सोवियटो को कुचलने में कोई कसर नही रक्खी है, मगर अभीतक उन्हे सफलता नहीं मिली। इनका एक कारण तो यह है कि कम्यूनिस्ट इलाका भीतरी भागो में है और वहाँ आवागमन के साधन अच्छे न होने के कारण वह दुर्गम है। दूसरा कारण यह है कि काउ-मिन-ताँग का प्रभाव तो

जल्दी-जल्दी नष्ट हो रहा है और सोवियटों की लोकप्रियता और ताक़त बढ रही है। साम्यवाद के लिए कहा जाता है कि वह उद्योग-प्रधान देशों में ही फलता-फूलता है, और ये चीनी सोवियट प्रजातन्त्र ठहरे बहुत पिछडे हुए और दुनिया से अलग-थलग। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये चीन के भविष्य का निर्माण करने में महत्वपूर्ण काम करेंगे। आज भी इनके अधिकार में बहुत बड़ा प्रदेश है। वह क़रीब-क़रीब संयुक्तप्रान्त, दिल्ली, पंजाब, और सीमाप्रान्त के सम्मिलित इलाके के बराबर है, यानी बनारस से पेशावर तक उसका विस्तार हो सकता है। आबादी भी संयुक्तप्रान्त से अधिक है।

आज मेरी गिरफ़्तारी को अठारह महीनें होगये ! पूरा डेढ़ वर्ष निकल गया !

: १७८ :

जापान सारी दुनिया को अँगूठा दिखाता है

२९ जून, १९३३

हम चीन के अंग-भंग की दु:खद कहानी सुन चुके हैं। हमने यह भी देख लिया कि किस तरह क्रान्ति पहले तो विजयी हुई और फिर अचानक वह बेदम होगई और भयंकर प्रति-क्रान्ति यानी क्रान्ति के खिलाफ होनेवाली प्रतिक्रिया उसे निगल गई। पर कहानी अभी खत्म नहीं हुई। अभी और बाकी है। जिस वक़्त यह लिख रहा हूँ, उस वक़्त भी चीन के अंग-भंग का सिलसिला जारी है। क्रान्ति के असफल होने की वजह यह थी कि राष्ट्रीयता के बन्धनों में जितना बल था उससे ज्यादा ताकत वर्ग-भावना के स्वार्थ और संघर्ष में थी। अमीरों और भूस्वामियों ने किसानों और मजदूरों की प्रधानता कायम होनें से राष्ट्रीय आन्दोलन की कमर तोड़ देना अच्छा समझा। हिंदुस्तान में भी हमें आज यही बात दूसरी शक्ल में होती हुई नजर आ रही है।

चीन के लिए भीतरी झगडे तो थे ही, अब उसको एक विदेशी दुश्मन के सफल-पूर्ण आक्रमण का सामना भी करना था। यह [illegible] था और [illegible] चीन की कमजोरी और दूसरे राष्ट्रों के और-और झ[illegible] रहने से फ[illegible] पर तुला हुआ था।

जापान आधुनिक उद्योगवाद और मध्यय[illegible] का शासन तथा स[illegible] सैनिक नियंत्रण क[illegible] भूस्वामी, शा[illegible] ने मिलकर [illegible] बनाने की को[illegible] सम्राट् सर्वोपरि [illegible]

सरदार रहे। धर्म, शिक्षा और सभी बातो में यही ध्यान रक्खा गया है। धर्म-विभाग सरकारी नियन्त्रण में है, मन्दिरो और धर्म-स्थानो पर सरकारी अफसरो का सीधा कब्जा है और पुजारी सरकारी नौकर हैं। इस तरह मन्दिरो और स्कूलो के जरिये प्रचार का एक जवरदस्त हथियार काम मे लाया जा रहा है। वह लोगो को न सिर्फ देशभक्ति की शिक्षा देता रहता है, वल्कि उन्हे यह भी सिखाता रहता है कि सम्राट् दैवी पुरुष है और उसकी आज्ञा का पालन हर हालत में होना चाहिए। पुरानी वीर परम्परा से मिलते-जुलते अर्थ का जापानी शब्द 'बुशीदो' है। इसका अर्थ एक प्रकार की वंश-भक्ति है। इसी कल्पना का विस्तार करके उसे राज्य-भर पर लागू कर दिया गया है और सबसे ऊपर सम्राट् से इसका नाता जोड़ दिया गया है। असल में सम्राट् एक प्रतीक है और उसके नाम पर वडे-वडे भूस्वामी और सैनिक वर्ग शासन-सत्ता का संचालन करते है। उद्योगवाद के कारण जापान में एक अमीर वर्ग पैदा हुआ है, मगर वडे-वडे कारखानेदार भूस्वामियो में से ही वन गये हैं और इस कारण शक्ति एक अमीर वर्ग के हाथ में जाने की नौबत नही आई। नतीजा यह हुआ है कि जापान में थोडे-से बलशाली परिवारो का देश के उद्योग और राजनीति दोनो पर एकाधिकार कायम होगया है।

जापान में वहुत जमानें से बौद्ध धर्म लोकप्रिय रहा है, लेकिन शिण्टो मत राष्ट्रीय धर्म अधिक है और वह पूर्वजो की पूजा पर जोर देता है। इस पूजा में राष्ट्र के पुराने सम्राटो और वीर पुरुषो की और खास तौर पर उन लोगो की पूजा शामिल है जो लडाई मे मारे गये हो। इस तरह शिण्टो धर्म देश-प्रेम और सम्राट्-भक्ति के भावो का प्रचार करने के लिए एक जवरदस्त और कारगर हथियार वन गया है। जापानी लोगो का विलक्षण देश-प्रेम और अपने वतन के लिए कुर्वानी करने की उनकी तैयारी मशहूर है। मगर यह वात वहुत लोग नहीं जानते कि यह देश-प्रेम वहुत आक्रमणकारी और विश्वव्यापी साम्राज्य के सपने देखनेवाला है। १९१५ के करीव जापान में एक नया सम्प्रदाय निकला। यह 'ओमोतो क्यो' कहलाता है और इसका प्रचार देशभर में वडी तेजी से होगया। इस सम्प्रदाय का खास उसूल यह है कि जापान सारी दुनिया का शासक हो और सम्राट् उसका प्रमुख सत्ताधारी। इस सम्प्रदाय की तरफ से कहा गया था कि—

"हमारा उद्देश्य सिर्फ यही है कि जापान का सम्राट् सारे संसार का शासक वन जाय, क्योकि संसार में वही ऐसा शासक है जिसमें सबसे प्राचीन स्वर्गवासी पूर्वज से विरासत में मिली हुई आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रचार की भावना वाकी है।"

हम देख चुके है कि महायुद्ध के समय जापान ने चीन को डरा-धमकाकर उससे

जल्दी-जल्दी नष्ट हो रहा है और सोवियटो की लोकप्रियता और ताकत बढ़ रही है। साम्यवाद के लिए कहा जाता है कि वह उद्योग-प्रधान देशो में ही फलता-फूलता है और ये चीनी सोवियट प्रजातन्त्र ठहरे बहुत पिछडे हुए और दुनिया से अलग-थलग फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये चीन के भविष्य का निर्माण करने में महत्वपू काम करेगे। आज भी इनके अधिकार में बहुत बड़ा प्रदेश है। वह करीब-करी संयुक्तप्रान्त, दिल्ली, पंजाब, और सीमाप्रान्त के सम्मिलित इलाक़े के बराबर है यानी बनारस से पेशावर तक उसका विस्तार हो सकता है। आबादी भी संयुक्तप्रा से अधिक है।

आज मेरी गिरफ़्तारी को अठारह महीनें होगये! पूरा डेढ़ वर्ष निकल गया!

: १७८ :

जापान सारी दुनिया को अँगूठा दिखाता है

२९ जून, १९३

हम चीन के अंग-भंग की दुःखद कहानी सुन चुके है। हमने यह भी देख लिय कि किस तरह क्रान्ति पहले तो विजयी हुई और फिर अचानक वह बेदम होगई और भयंकर प्रति-क्रान्ति यानी क्रान्ति के खिलाफ होनेवाली प्रतिक्रिया उसे निगल गई। पर कहानी अभी ख़त्म नही हुई। अभी और बाकी है। जिस वक़्त यह लिख रहा हूँ, उस वक़्त भी चीन के अंग-भंग का सिलसिला जारी है। क्रान्ति के असफल होने की वजह यह थी कि राष्ट्रीयता के बन्धनो में जितना बल था उससे ज्यादा ताकत वर्ग-भावना के स्वार्थ और संघर्ष में थी। अमीरो और भूस्वामियो ने किसानो और मजदूरो की प्रधानता कायम होनें से राष्ट्रीय आन्दोलन की कमर तोड देना अच्छा समझा। हिन्दु स्तान में भी हमें आज यही बात दूसरी शक्ल में होती हुई नजर आ रही है।

चीन के लिए भीतरी झगडे तो थे ही, अब उसको एक विदेशी दुश्मन के सकल्प-पूर्ण आक्रमण का सामना भी करना था। यह दुश्मन जापान था और वह चीन की कमजोरी और दूसरे राष्ट्रो के और-और झंझटो में फँसे रहने से फायदा उठाने पर तुला हुआ था।

जापान आधुनिक उद्योगवाद और मध्यकालीन सामन्तशाही का और प्रतिनिधि शासन तथा स्वेच्छाचार एवं सैनिक नियत्रण की खिचडी का एक अजीब नमूना है। भूस्वामी, शासको और सैनिकवर्ग ने मिलकर इरादतन वहाँ ऐसा खानदानी राज्य बनाने की कोशिश की है जिसमें सम्राट् सर्वोपरि अधिकारी और वे उसके सामन्त या

वर्तमान व्यवस्था की ऐसी सारी बातो का खात्मा हो। जापान मे सत्ताधारी पूँजीपति-वर्ग लोगो का अधिकाधिक शोषण कर रहा था, उनके कष्ट दिन-दिन बढ रहे थे और इसलिए वहाँ भी साम्यवाद फैल रहा था। आबादी तेजी से बढ़ रही थी। अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया के वीरान जगलो में भी जाकर जापानी लोग बस नही सकते थे। उनके लिये दरवाजा बन्द कर दिया गया था। चीन पास में था, मगर वहाँ पहले ही आबादी ज्यादा थी। कुछ लोग कोरिया और मंचूरिया में जा बसे थे। जापान के अपने खास झगडे तो थे ही, दुनियाभर उद्योगवाद और व्यापार की मंदी के कारण जो कष्ट अनुभव कर रही थी उसका उसे भी सामना करना पड़ा। जब उसकी भीतरी परिस्थिति गम्भीर होने लगी, तो साम्यवादी और सभी उग्र विचारो का दमन शुरू होगया। १९२५ में एक 'शान्तिर-रक्षा कानून' पास हुआ। उसकी भाषा रोचक है, इसलिए इस कानून की पहली कलम उद्धृत करता हूँ। वह यो है :—

> "जिन्होने राष्ट्र के विधान को बदलने या व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली को मिटाने की गरज से कोई मण्डल या पञ्चायत सगठित की है या जो उसके उद्देश्य को पूरी तरह जानकर उसमे शामिल हुए है, उन्हे मौत से लगाकर पाँच वर्ष कैद तक की सजा दी जायगी।"

यह कानून कितना ज्यादा सख्त है कि इसमें न सिर्फ साम्यवाद की ही बल्कि सभी तरह के समाजवादी, उग्र या वैध सुधारो तक की मनाई करदी गई है। इससे यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि साम्यवाद के बढने से जापानी सरकार कितनी डरी हुई है।

मगर साम्यवाद तो सामाजिक परिस्थिति से पैदा होनेवाले व्यापक दुखो का परिणाम है। जबतक इस परिस्थिति में सुधार नहीं होता तबतक सिर्फ दमन से काम नही चल सकता। इस वक्त जापान में लोगो को भयंकर कष्ट है। चीन और हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी किसान कर्ज के भारी बोझ से कुचले जा रहे है। जबरदस्त फौजी खर्च और लड़ाई की जरूरियात की वजह से वहाँ टैक्स का बोझ खास तौर पर भारी है। ऐसी खबरे भी आती है कि भूखो मरते हुए किसान घास और जडें खाकर गुजर कर रहे है और अपने बच्चो तक को बेच रहे है। बेकारी के कारण मध्यमवर्ग का भी बुरा हाल है और खुदकुशी बढ रही है।

साम्यवाद के विरोध का सिलसिला बडे पैमाने पर १९२८ के आरम्भ में शुरू हुआ। उस वक्त एक रात में एक हजार से ज्यादा गिरफ्तारियाँ हुई, मगर अखबारो को एक महीने तक यह खबर छापने की इजाजत नहीं मिली। तबसे पुलिस की तरफ से तलाशियां और बहुत ज्यादा तादाद में धर-पकड का तांता-सा बँधा हुआ है।

अपनी इक्कीस माँगे पूरी कराने की कोशिश की थी। इसपर अमेरिका और योरप में बड़ा शोर मचने से वह जितना चाहता था उतना सब तो उसे नही मिला, मगर बहुत कुछ मिल गया। युद्ध के बाद जार का साम्राज्य टूट गया और जापान ने देखा कि एशिया में हाथ-पैर फैलाने का इससे अच्छा मौका नही मिलेगा। उसकी फौज साइबेरिया में घुस गई और उसके एजेण्ट ठेठ मध्य-एशिया में समरकन्द और बुखारा तक जा पहुँचे। मगर सोवियट रूस के सम्हल जाने से, और कुछ अमेरिका के विरोध और अविश्वास के कारण, जापान के मंसूबे पूरे नही हुए। यह सदा याद रखने की बात है कि जापान और अमेरिका में जरा भी प्रेम नही है। वे एक-दूसरे से बड़ी नफरत करते हैं और प्रशान्त महासागर के आर-पार से एक-दूसरे को सशंक दृष्टि से देखते रहते हैं। १९२२ की वाशिंगटन-परिषद् से जापान की महत्वाकांक्षाओ पर पानी फिर गया और अमेरिका की राजनीति सफल होगई। इस परिषद् में जापान-सहित नौ राष्ट्रो ने चीन की अखण्डता का आदर करने की प्रतिज्ञा की। इसका यह अर्थ था कि जापान को चीन मे फैलने की सारी आशाये छोड़नी होगी। इस परिषद् में इंग्लैण्ड और जापान की सधि भी खत्म हुई और सुदूर पूर्व में जापान अकेला रह गया। ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर में एक जबरदस्त समुद्री किला बनाना शुरू कर दिया। यह साफ तौर पर जापान के लिए खतरनाक है। १९२४ मे अमेरिका ने जापानियो के खिलाफ आयात-कानून पास किया। वह अपने यहाँ जापानी मजदूरो को नही आने देना चाहता था। इस जातीय भेद-भाव से जापान में बहुत और सारे पूर्व में कुछ-कुछ, रोष पैदा हुआ। मगर जापान अमेरिका का कुछ बिगाड़ नही सका। इस तरह अकेला पड़ जानें और चारो तरफ दुश्मनो से घिर जाने पर जापान की नजर रूस पर गई और १९२५ के जनवरी में उसके साथ सुलह होगई।

इसी बीच मे जापान पर जो महान् विपत्ति आई और उसे बहुत कमजोर कर गई, उसका हाल तुम्हे अवश्य बताऊँगा। १९२३ के १ सितम्बर को वहाँ एक भयंकर भूकम्प आया और उसके साथ-साथ राजधानी टोकियो के विशाल नगर में तूफान भी आया और आग भी लगी। यह विशाल नगर नष्ट होगया और योकोहामा बन्दर भी नेस्तनाबूद होगया। एक लाख से ऊपर आदमी मारे गये और बहुत भारी नुक्सान हुआ। जापानी लोगो ने इस विपत्ति का सामना साहस और दृढता के साथ किया और पुराने टोकियो के खण्डहरो पर उन्होने नया शहर खड़ा कर लिया।

जापान ने रूस के साथ अपनी कठिनाइयो की वजह से सुलह की थी। लेकिन इसका यह मतलब नही था कि उसने साम्यवाद का समर्थन किया हो। साम्यवाद का अर्थ ही यह है कि सम्राट-पूजा, सामन्तशाही, शासकवर्ग द्वारा गरीबो का शोषण और

वर्तमान व्यवस्था की ऐसी सारी बातो का ख़ात्मा हो। जापान में सत्ताधारी पूँजीपति-वर्ग लोगो का अधिकाधिक शोषण कर रहा था, उनके कष्ट दिन-दिन बढ रहे थे और इसलिए वहाँ भी साम्यवाद फैल रहा था। आबादी तेजी से बढ़ रही थी। अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया के वीरान जंगलो में भी जाकर जापानी लोग बस नही सकते थे। उनके लिये दरवाज़ा बन्द कर दिया गया था। चीन पास में था, मगर वहाँ पहले ही आबादी ज्यादा थी। कुछ लोग कोरिया और मंचूरिया में जा बसे थे। जापान के अपने ख़ास झगडे तो थे ही, दुनियाभर उद्योगवाद और व्यापार की मदी के कारण जो कष्ट अनुभव कर रही थी उसका उसे भी सामना करना पड़ा। जब उसकी भीतरी परिस्थिति गम्भीर होने लगी, तो साम्यवादी और सभी उग्र विचारो का दमन शुरू होगया। १९२५ में एक 'शान्तिर-रक्षा कानून' पास हुआ। उसकी भाषा रोचक है, इसलिए इस कानून की पहली कलम उद्धृत करता हूँ। वह यो है :—

> "जिन्होने राष्ट्र के विधान को बदलने या व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली को मिटाने की गरज से कोई मण्डल या पञ्चायत सगठित की है या जो उसके उद्देश्य को पूरी तरह जानकर उसमे शामिल हुए है, उन्हे मौत से लगाकर पाँच वर्ष कैद तक की सजा दी जायगी।"

यह कानून कितना ज्यादा सख़्त है कि इसमें न सिर्फ साम्यवाद की ही बल्कि सभी तरह के समाजवादी, उग्र या वैध सुधारो तक की मनाई करदी गई है। इससे यह अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि साम्यवाद के बढ़ने से जापानी सरकार कितनी डरी हुई है।

मगर साम्यवाद तो सामाजिक परिस्थिति से पैदा होनेवाले व्यापक दुखो का परिणाम है। जबतक इस परिस्थिति में सुधार नहीं होता तबतक सिर्फ दमन से काम नही चल सकता। इस वक़्त जापान में लोगो को भयंकर कष्ट है। चीन और हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी किसान कर्ज के भारी बोझ से कुचले जा रहे हैं। जबरदस्त फौजी खर्च और लड़ाई की जरूरियात की वजह से वहाँ टैक्स का बोझ खास तौर पर भारी है। ऐसी खबरे भी आती हैं कि भूखो मरते हुए किसान घास और जडें खाकर गुज़र कर रहे हैं और अपने बच्चो तक को बेच रहे हैं। बेकारी के कारण मध्यमवर्ग का भी बुरा हाल है और खुदकुशी बढ रही है।

साम्यवाद के विरोध का सिलसिला बडे पैमाने पर १९२८ के आरम्भ में शुरू हुआ। उस वक्त एक रात में एक हजार से ज्यादा गिरफ्तारियाँ हुई, मगर अख़बारो को एक महीने तक यह खबर छापने की इजाज़त नहीं मिली। तबसे पुलिस की तरफ से तलाशियाँ और बहुत ज्यादा तादाद में धर-पकड का ताँता-सा बँधा हुआ है।

सबसे बड़ा धावा पिछले साल यानी १९३२ के अक्तूबर में हुआ। उस वक्त २२५० आदमी पकड़े गये। इनमें से ज्यादातर आदमी मजदूर नहीं, बल्कि विद्यार्थी और शिक्षक हैं। इनमें सैकडो स्नातक यानी ग्रेजुएट और स्त्रियाँ हैं। यह बात अजीब सी मालूम होती है कि जापान में बहुत-से मालदार युवकों का साम्यवाद की तरफ झुकाव हुआ है। पिछले दिनो एक बैंक भी लूटा गया है। यह साम्यवादियो का काम बताया जाता है और उन्होंने पुराने, रूसी और पोलिश 'भूतपूर्व मालिको' (ex-proprietors) की नकल की है। पुलिस साम्यवाद और उग्र विचारो को दबाने में इतनी मशगूल रहती है कि उसे मामूली मुजरिमो के लिये बहुत कम वक्त मिलता है। वहां भी हिन्दुस्तान की तरह उदात्त विचारक अपराधियो से ज्यादा खौफ़नाक समझे जाते हैं। हिन्दुस्तान में मेरठ-षड्यन्त्र का मामला चला, कुछ जापानी साम्यवादियो के मुकदमे भी वैसे ही बरसो तक चलते रहे हैं।

मैंने जापान के ये सब हालात तुम्हे इसलिए बता दिये हैं कि जापान ने मंचूरिया में जो करतूत की है उसकी भूमिका या जमीन के बारे में तुम्हे कुछ अन्दाज होजाय। अब मै उस करतूत का कुछ हाल सुनाता हूँ।

पिछले खतो में मै तुम्हे बता चुका हूँ कि जापान ने एशिया महाद्वीप की जमीन पर पहले कोरिया और फिर मंचूरिया में पैर जमाने की लगातार कोशिश की। १८९४ में चीन के और दस वर्ष बाद रूस के साथ जापान की जो लडाइयां हुई उन दोनो का यही मतलब था। जापान को कामयाबी मिली, और वह एक-एक कदम आगे बढ़ता गया। कोरिया को उसने अपनेमें मिलाकर जापानी साम्राज्य का अंग ही बना लिया। रूस ने मंचूरिया के आरपार चीन की पूर्वी रेलवे बनाई थी। उसका एक हिस्सा जापान के नियन्त्रण में आ गया और उसका नाम दक्षिण मंचूरिया रेलवे रख दिया गया। इन सब तब्दीलियो के होते हुए भी सारे मंचूरिया पर चीन की ही हुकूमत थी और रेलवे के कारण चीनी लोग आ-आकर बडी तादाद में वहाँ बसते रहे। असल में ऐसा माना जाता है कि दुनिया के इतिहास में जितने जितने लोग इस तरह चीन के उत्तर-पूर्व के प्रान्तो में आकर बसे, उतने और कम ही स्थानो पर बसे हैं। १९२३ से१९२९ तक सात वर्ष के भीतर २५ लाख चीनियो ने देश-त्याग किया। मंचूरिया की आबादी अब तीन करोड़ है और इनमें से ९५ फीसदी चीनी है। इस तरह तीनो प्रान्त पूरी तरह चीनी है। बाकी ५ फीसदी रूसी, मंगोली खानाबदोश, कोरियन और जापानी है। पुराने मंचू लोग चीनियो में मिल गये है और अपनी भाषा तक भूल बैठे है।

तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हे १९२२ में वाशिंगटन कान्फरेन्स के मौके पर हुई

नो राष्ट्रो की सन्धि का हाल बताया था। यह सुलह या सन्धि ख़ास तौर पर पश्चिमी राष्ट्रो की सूचना पर चीन में जापानियो के हथकण्डे रोकने के लिए हुई थी। साफ और असदिग्ध शब्दो मे जापान-सहित नवो राष्ट्रो ने 'चीन की सत्ता, स्वाधीनता और उसकी भूमि एव शासन-संबधी अखण्डता का आदर करना' मजूर किया था।

कुछ वर्ष तक जापान ने कुछ नही किया। लेकिन परदे की आड में कुछ चीनी सेनापतियो या तूशनो को गृह-युद्ध जारी रखकर चीन को कमजोर करने में रुपये-पैसे की और दूसरी मदद करता रहा। उसने चंग सोलिन की खास तौर पर मदद की। इसका मंचूरिया और पेकिंग में भी बोलबाला था और जबतक दक्षिण के राष्ट्र-वादियो की विजय न हुई तबतक उसीका बोलबाला रहा। १९३१ में जापानी सरकार ने मचूरिया में खुले तौर पर आक्रमणकारी रवैया इख्तियार कर लिया। इसकी वजह यह भी हो सकती है कि जापान की भीतरी आर्थिक हालत बहुत खराब हो चली थी और इसलिए सरकार मजबूर होकर विदेश में ऐसा काम कर रही थी, जिससे लोगो का ध्यान बँट जाय और घर की खीचतान कुछ कम हो जाय, या सैनिक दल का शासन में बहुत जोर बढ गया हो या यह खयाल होगया हो कि दूसरे सब राष्ट्रो को तो अपने-अपने झगडो और व्यापारिक मन्दी की चिन्ता है, इसलिए कोई बोलनेवाला नही है। शायद इन सभी कारणो से प्रेरित होकर जापान ने इतनी ख़तरनाक कार्रवाई की हो। इस कार्रवाई से १९२२ की नौ राष्ट्रो की संधि तो टूटती ही थी, यह बात राष्ट्र-संघ के नियमो के भी खिलाफ थी, क्योकि चीन और जापान दोनो ही राष्ट्र-संघ के सदस्य थे और उसकी मजूरी के बिना एक-दूसरे पर हमला नही कर सकते थे, और १९१८ में युद्ध को गैर-कानूनी कर देने के लिए पैरिस में जो केलाग-संधि हुई थी उसका भी साफ तौर पर भंग होता था। चीन के खिलाफ लड़ाई की कार्रवाइया करके जापान ने जान-बूझकर ये अहदनामे और वादे तोड़ डाले और संसार-भर का विरोध मोल ले लिया।

अलबत्ता उसने यह बात साफ लफ्ज़ो में नही कही। जापानी सरकार ने कुछ ऐसे कमजोर और झूठे बहाने बनाये कि मंचूरिया में डाकुओ का उपद्रव है और वहाँ ऐसी छोटी-मोटी घटनायें होगई है कि व्यवस्था और जापानी हितो की रक्षा के लिए मजबूर होकर फौज भेजनी पडी है। साफ तौर पर लड़ाई का ऐलान नहीं किया गया, फिर भी जापानियो की तरफ से मंचूरिया पर हमला होगया। इससे चीनी लोग बडे नाराज हुए। चीनी सरकार ने नाराजगी जाहिर की, और राष्ट्र-संघ और दूसरे राष्ट्रो से फरियाद की, मगर किसीने कोई ध्यान नही दिया। सभी देश अपने-अपने झगडो के मारे तंग थे। जापान का विरोध करके नई इल्लत कौन मोल ले? यह भी मुम-

किन है कि कुछ राष्ट्रों ने—खास तौरपर इंग्लैण्ड ने—जापान से खुफिया समझौता कर लिया हो। चीन की अनियमित सेना ने जापान को मंचूरिया में खूब दिक किया। फिर भी यह नहीं माना गया कि दोनो देशों में युद्ध है! जापान को अधिक दिक्कत तो चीन के जापानी माल के बडे बहिष्कार-आन्दोलन से हुई।

१९३२ की जनवरी में जापानी फ़ौज शंघाई के पास चीन की ज़मीन पर आ धमकी और वहाँ उसने आधुनिक समय का एक बड़ा ही दर्दनाक कत्लेआम कर डाला। उसने पश्चिमी राष्ट्रों के डर से विदेशी बस्तियों को तो छोड़ दिया और घनी आबादी के चीनी मुहल्लों पर हमला किया। शंघाई के पास एक बडे इलाके पर बम और गोले बरसाये गये। मेरे ख़याल से उस इलाके का नाम चेपेई था। वह बिलकुल तहस-नहस कर दिया गया, हज़ारों मारे गये और बेशुमार लोग बेघर-बार होगये। याद रहे कि यह लड़ाई किसी फ़ौज के ख़िलाफ नहीं थी। यह तो बेगुनाह और नि.शस्त्र लोगो पर बम-वर्षा थी। इस 'वीरतापूर्ण' कार्रवाई का ज़िम्मेदार एक जापानी जल-सेनापति था। पूछने पर उसने कहा कि जापान का यह निर्णय दयापूर्ण है कि "नि शस्त्र लोगों पर अन्धाधुन्ध बम-वर्षा सिर्फ दो ही दिन और की जाय।" शंघाई में लंदन के 'टाइम्स' पत्र का जो संवाददाता था वह जापान का हिमायती था, मगर उसके दिल पर भी इस घटना से इतनी चोट पहुँची कि उसने इसे चीनियों का जापानियो के हाथो 'कत्ले-आम' बताया। चीनियो के भाव इस घटना पर क्या हुए होंगे, इसका तो अन्दाज आसानी से लगाया जा सकता है। समूचे चीन में क्रोध और आतंक की लहर दौड गई और ऐसा मालूम हुआ कि इस जंगली विदेशी हमले के सामनें देश के मुख़्तलिफ और एक-दूसरे के विरोधी सेनानायक और शासक आपस के ईर्ष्या-द्वेष को भूल गये हैं। सबके मिलकर जापान का मुकाबिला करने की चर्चा चली और चीन के भतरी प्रदेश की साम्यवादी सरकार ने भी नानकिंग सरकार को अपनी सेवायें पेश कीं। फिर भी ताज्जुब की बात यह हुई कि नानकिंग या उसके नेता चियांग-काई-शेक ने बढती हुई जापानी फ़ौज की तरफ शंघाई की रक्षा करने के लिए चिट्टी उँगली भी नहीं उठाई। नानकिंग ने इतना-सा किया कि राष्ट्रसंघ के पास अपनी विरोध-सूचना भेज दी। उसने जापानियों का सम्मिलित विरोध सगठित करने की कोशिश तक नहीं की। मालूम होता है वह बाते भले ही बडी-बडी बनाता हो, लेकिन उसके जी में मुकाबिला करने की इच्छा ही नहीं थी, हालांकि देश क्रोध के मारे लाल पीला हो रहा था।

इसके बाद ही दक्षिण से चलकर एक अजीब-सी सेना शंघाई के मैदान में आ पहुँची। यह उन्नीसवीं कूचवाली सेना कहलाती थी। इसमें कैण्टन के लोग ही थे, मगर यह न तो कैण्टन सरकार के ताबे में थी और न नानकिंग के। इन भद्दी-सी फ़ौज के

पास न बहुत सामान था, न बडी तोपें। उसकी वर्दी भी रद्दी-सी थी। चीन के कडाके के जाडे से बचने के लिए उसके पास पूरे कपडे भी नही थे। उसमे बहुत-से पन्द्रह-सोलह वर्ष के और कुछ सिर्फ बारह-बारह वर्ष के लड़के भी थे। इस बेसामान फौज ने च्याग-काई-शेक के हुक्म के खिलाफ जापानियो से लडने और उन्हे रोक रखने का फैसला किया। १९३२ के जनवरी और फरवरी में दो हफ्ते तक नानकिंग-सरकार की मदद के बिना ये लोग लडते रहे। वे लडे भी इस विलक्षण वीरता से कि कही अधिक सबल और सुसज्जित जापानी सेना को रुक जाना पडा। इससे खुद उन्हे भी ताज्जुब हुआ। जापानियो को ही नही, बल्कि विदेशी राष्ट्रो और खुद चीन-निवासियो को भी ताज्जुब हुआ। जब ये लोग दो हफ्ते तक किसी की मदद के बिना लडते रहे और सब से उन्हे शाबाशियाँ दी जा रही थी, तब कही बचाव में मदद करने के लिए चियाग-काई-शेक ने थोडे-से सिपाही भेजे।

उन्नीसवे कूच की सेना ने इतिहास बना दिया और ससार-भर मे नाम कमा लिया। उसकी स्वदेश-रक्षा ने जापान की योजनाओ को अस्त-व्यस्त कर दिया। इधर पश्चिमी राष्ट्रो को भी शघाई में अपने स्वार्थो की चिन्ता थी। इसलिए शंघाई क्षेत्र से जापानी सेना धीरे-धीरे हटाली गई और जहाजो में भर-भरकर वापस भेज दी गई। यह उल्लेखनीय बात है कि इन पश्चिमी राष्ट्रों को चापेई जैसे हजारो आहुतियाँ लेने-वाले मनमाने हत्याकाण्डो और पवित्र राष्ट्रीय सधियो और अन्तर्राष्ट्रीय नियमो के भग होने का इतना खयाल नही था जितना अपने माली और दूसरे स्वार्थो का खयाल था। इस मामले की राष्ट्र-संघ से कई बार फरियाद की गई, मगर वह किसी-न-किसी बहाने से इसे हमेशा टालता रहा। सघ के लिए यह कोई महत्त्व की बात ही न थी कि सचमुच लड़ाई हो रही है और हजारो आदमी मारे जा चुके है और मारे जा रहे है। कहा यह गया कि चूँकि सरकारी तौर पर लड़ाई का ऐलान नही किया गया, इस-लिए वास्तविक युद्ध हुआ ही नही। सघ की इस कमजोरी और जीती मक्खी निगल जाने की कार्रवाई से उसकी प्रतिष्ठा और कीर्ति को बडा धक्का लगा। अलबत्ता इसकी जिम्मेदारी कुछ बडे राष्ट्रो के सिर पर थी। इग्लैण्ड ने तो संघ में खास तौर पर जापान का पक्ष लिया। आखिरकार सघ ने लॉर्ड लिटन की अध्यक्षता में मचूरिया के मामले की जाँच के लिए एक कमीशन मुकर्रर किया। इसे राष्ट्रो ने तुरन्त मजूर कर लिया। क्योकि इसका अर्थ था कई मास तक निर्णय स्थगित रखना। मचूरिया बहुत दूर था और कमीशन को वहाँ जाकर जाँच करने और रिपोर्ट लिखने में मुद्दत लगती। शायद मामला हवा में ही उड जाता।

जापानी शघाई से तो हट गये, पर अब उन्होंने मचूरिया की तरफ ज्यादा ध्यान

देना शुरू कर दिया। उन्होंने एक नाममात्र की सरकार क़ायम करके ऐलान कर दिया कि मंचूरिया नें आत्म-निर्णय के अधिकार से काम लिया है। इस नई कठपुतली का नाम मंचूकुओ रक्खा गया और चीन के पुराने मंचू राजवंश के एक जर्जर युवक को नये राज्य का राजा बना दिया गया। वैसे यह सब सिर्फ एक तमाशा था और असली शासक जापान था। सब लोग जानते थे कि जापानी फ़ौज हटा ली जाय तो मंचूकुओ राज्य का एक दिन मे ढेर हो जाय।

जापानियो को मंचूरिया में दिक़्क़त पेश आई, क्योंकि चीनी स्वयसैनिको के दल उनसे बराबर लड़ते रहे। इन टुकड़ियों को जापानी लोग 'डाकू' कहते है। जापानियो ने स्थानीय चीनियो को भर्ती करके मचूकुओ की सेना बनाई और उसे शिक्षित और सुसज्जित किया। जब उसे डाकुओ से लड़ने भेजा गया तो वह सारा नये ढग का सामान लेकर डाकुओ में जा मिली। इस सदा चलते रहने वाली जग के मारे मंचूरिया का बुरा हाल है। फ़सलें बोई नही जाती और सोयावीन का व्यापार मर रहा है।

कई महीनो की जॉच-पड़ताल के बाद लिटन-कमीशन ने राष्ट्र-सघ के सामने अपनी रिपोर्ट पेश करदी। यह बडी सावधानी, सयम और विवेकपूर्वक लिखी गई थी पर इसमें जापान की पेट भरकर निन्दा की गई थी। इससे बृिटिश सरकार बडी परेशान हुई, क्योकि वह जापान की रक्षा करने पर तुली हुई थी। अन्त में सघ के सामने यह सवाल पेश हुआ। इंग्लैण्ड से अमेरिका का रवैया जुदा ही था। वह जापान के बहुत ख़िलाफ़ था। अमेरिका ने ऐलान किया कि जापान मचूरिया में या और कही भी जबरदस्ती कोई परिवर्तन करेगा तो अमेरिका उसे मंजूर नही करेगा। अमेरिका के इस सख्त रवैये के बावजूद इंग्लैण्ड ने और कुछ फ़्रांस, इटली और जर्मनी ने जापान का समर्थन किया। यह कहा जा चुका है कि इस और दूसरे मामलो में ब्रिटेन ने जापान के साथ खुफ़िया समझौता कर रक्खा है।

जिस वक़्त संघ निर्णय को टालने में कोई कसर नही रख रहा था उसी वक़्त जापान ने एक नया काम किया। १९३३ के नये दिन की बात है। जापानी फौज एकाएक चीन में जा धमकी और उसने शनहेकवान नगर पर हमला कर दिया। यह शहर चीन की बडी दीवार की तरफ़ है। बडी-बडी तोपो और नाशक जहाजो से गोले और वायुयानो से बम बरसाये गये। यह पूरी तरह नये ढंग का हमला था और शनहेकवान जलकर खाक होगया। बहुत तादाद में उसके निवासी हताहत हुए। इसके बाद जापानी सेना बढती हुई चीन के जेहोल प्रान्त मे घुसकर पीपिंग के पास पहुँच गई। बहाना यह किया गया कि 'डाकू' लोग जेहोल को केन्द्र बनाकर वहांसे मंचूकुओ पर हमले किया करते थे। किसी-न-किसी तरह जेहोल मचूकुओ में शामिल कर लिया गया।

इस नये हमले और नये दिन के हत्याकाण्ड से संघ की नीद खुली और छोटे राष्ट्रो के संघ ने एक प्रस्ताव द्वारा लिटन-रिपोर्ट को मजूर किया और जापान की निन्दा की। जापान ने इसकी जरा भी परवा नही की। (क्या वह नही जानता था कि इंग्लैण्ड और कुछ दूसरे राष्ट्र चुपके-चुपके उसकी पीठ ठोक रहे थे ?) जापान राष्ट्र-संघ में से निकल गया। संघ से इस्तीफा देकर जापान चुपचाप पीपिंग की तरफ बढता गया। उसका किसीने मुकाबिला नही किया। ऐसा मालूम होता है कि यह सब पहले से गढा-गढ़ाया खेल था। करीब एक महीने पहले जब जापान की फौज पीपिंग के दरवाजे पर पहुँच गई तब अचानक यह ऐलान हुआ कि ३१ मई १९३३ ई० को चीन और जापान में लड़ाई बन्द होने की सुलह होगई है। सारा मामला रहस्यपूर्ण मालूम होता है और अभी-तक कोई निश्चित बात मालूम नही होपाई है। लेकिन इतना दीखता है कि जापानी सरकार की विजय होगई और नानकिंग-सरकार ने, चाहे कमजोरी से या जान-बूझकर, उस विजय को स्वीकार कर लिया है। जापानी हमले के प्रति नानकिंग-सरकार और काउ-मिन-तॉग दल ने जिस दयनीय उपेक्षा का परिचय दिया, उसके बाद अगर चीन में उनकी लोकप्रियता बुरी तरह घट रही हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

मैं मंचूरिया के विषय में बहुत कह गया। वह महत्वपूर्ण है, क्योकि चीन के भविष्य पर उसका असर पड़ता है। लेकिन इस बात से उसका महत्व और भी ज्यादा होगया है कि उससे राष्ट्र-संघ की कलई खुल गई और यह साबित होगया कि अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय के प्रमाणित होने पर भी संघ कुछ नहीं कर सकता और इसलिए वह एक बिलकुल निकम्मी चीज है। इससे बडे-बडे यूरोपियन राष्ट्रो की दुरगी चालो और साज़िशो का भी भण्डाफोड़ होगया। इस खास मामले में संघ का सदस्य न होते हुए भी अमेरिका ने जापान के खिलाफ कड़ा रुख इख्तियार करने की कोशिश की और लड़ाई पर उतारू-सा होगया। मगर इंग्लैण्ड और दूसरे राष्ट्रो ने गुप्त रूप से जापान का जो समर्थन कर दिया, उससे अमेरिका के रुख का कोई असर नहीं हुआ और वह भी जापान के विरोध में अकेला पड जाने के डर से अधिक सावधान होगया। संघ ने जापान की साधुतापूर्ण भर्त्सना यानी शरीफाना डॉट-डपट करदी है। उम्मीद तो यह रक्खी गई थी कि इसके साथ-साथ कोई सम्मिलित कार्रवाई भी की जायगी। लेकिन हुआ कुछ भी नही, और न आगे कुछ होना-जाना है। मंचूकुओ के कठपुतली राज्य को राष्ट्र-संघ के सदस्यो ने मंजूर नहीं किया, मगर यह नामंजूरी भी खिलवाड-सी होती जा रही है।

राष्ट्र-संघ ने जापान की निन्दा करदी, तब भी ब्रिटिश मंत्री और राजदूत आगे बढ-बढकर जापान के कार्य को उचित बताते रहते हैं। रूस के प्रति इंग्लैण्ड का

व्यवहार इससे बिलकुल उलटा है। क़रीब दो महीने हुए कि रूस में गुप्तचरों के अपराध पर कुछ अंग्रेज इंजीनियरों पर मुक़दमा चलाया गया था। कुछ छोड़ दिये गये और दो को हलकी-हलकी क़ैद की सजा दीगई। इसपर बड़ा वावेला मचा और ब्रिटिश सरकार ने रूसी माल को ब्रिटेन में आने से रोक दिया। रूस ने भी अंग्रेजी माल के आने की मनाई करके इसका मुनासिब जवाब दिया।

इस तरह कम-से-कम अभी तो चीन के हाथ से मंचूरिया जाता रहा। मंगोलिया सोवियट देश है। उसकी रूसी सोवियट-संघ से दोस्ती है। तिब्बत अब आजाद हो गया। असली चीन में अब कम-से-कम तीन सरकार हैं। मुख्य सरकार नानकिंग में है, दूसरी दक्षिण में कैण्टन में है, और तीसरी अन्दरूनी इलाके की साम्यवादी सरकार है। इनके अलावा अनेक सेनापति और तूशन हैं। वे मनमानी करते और कभी इस दल के और कभी उस दल के साथ मिलते रहते हैं। उत्तर में बड़ी दीवार से लगाकर लगभग पीपिंग तक जापान मुँह बाये बैठा है। बड़े-बड़े बन्दरगाहों पर विदेशियों का क़ब्जा है। उनकी बड़ी-बड़ी रिआयती बस्तियाँ हैं और वे बड़े-बड़े भीतरी प्रदेशों के व्यापार पर अपना अधिकार रखते हैं। सोवियट और साम्यवादी इलाके को छोड़कर देश पर विदेशियों का आर्थिक प्रभाव और प्रभुत्व और भी ज्यादा है।

एक और बड़ा प्रान्त चीन से अलग होता दीख रहा है। यह सिकियांग अथवा चीनी तुर्किस्तान है और तिब्बत और साइबेरिया के बीच में है। इस प्रान्त के यारकन्द और काशगर नगरों को, काश्मीर के श्रीनगर से लद्दाख प्रान्त के लेह नगर होकर कारवान नियमित रूप से जाते रहते हैं। दो-तीन मास से खबरें आ रही हैं कि सिकियांग के तुर्कों ने विद्रोह कर दिया है और यारकन्द और काशगर पर कब्जा कर लिया है। अंग्रेज ऐसा संकेत करते रहते हैं कि इस विद्रोह के पीछे सोवियट रूस का हाथ है। दूसरी ओर, समाचार भेजने वाली सोवियट संस्थाओं ने खुले तौर पर कहा है कि यह विद्रोह कुछ ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के प्रोत्साहन से हुआ है। उनका उद्देश्य यह बताया जाता है कि मंचूकुओ की तरह सिकियांग भी चीन और रूस के बीच में एक निरपेक्ष राज्य बन जाय। जिस अंग्रेज अफसर ने सिकियांग में यह विद्रोह संगठित किया है उसका नाम तक प्रकाशित किया गया है। कहा नहीं जा सकता कि सच्ची बात क्या है, मगर यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि ब्रिटिश और सोवियट दोनो सरकारे सिकियांग में षड्यंत्र रच रही हैं। मुमकिन है यह विद्रोह राष्ट्रीय हो, क्योंकि वहाँके मुसलमान तुर्कों पर धार्मिक भावो से राष्ट्रीय भावो का असर ज्यादा है। मालूम होता है, चीनी तुर्किस्तान में प्रजातंत्र की घोषणा होगई है।

इस खत के साथ मैंने चीन और जापान की कहानी को आज के दिन तक पहुँ

दिया है। अब मैं सुदूर पूर्व से विदा लेता हूँ। मगर इसे ख़त्म करने से पहले मैं तुम्हे छोटे-से कोरिया देश की याद दिला देना चाहता हूँ (वैसे यह इतना छोटा तो नही है)। जापानी उस देश के स्वामी है, मगर वह अभीतक आजादी के सपने देखता है और उसके लिए कोशिश भी करता है। (कोरिया के बाहर तो!) 'कोरिया की अस्थायी प्रजातन्त्र सरकार' भी है।

: १७६ :

समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र संघ

७ जुलाई, १९३३

अब जरा सोवियट पंचायतो की भूमि रूस में लौट चले और उसकी कहानी जहाँ छोडी थी वहाँसे फिर आगे बढ़ायें। हम १९२४ की जनवरी तक पहुँच गये थे, जबकि क्रान्ति के प्रवर्त्तक और नेता लेनिन का देहान्त हुआ था। उसके बाद दूसरे देशो की बाबत मैंने जो बहुत-से ख़त तुम्हे लिखे है उनमें रूस का जिक्र बार-बार आया है। योरप की समस्याओ या हिन्दुस्तानी सरहद, सुदूर पूर्व, चीन और जापान, तुर्की और ईरान पर विचार करते वक्त बीच-बीच में रूस से ताल्लुक पड़ता रहा है। यह बात तुम्हे साफ दिखाई देने लगी होगी कि एक राष्ट्र की राजनीति और अर्थनीति को दूसरे देश की राजनीति और अर्थनीति से अलग रखना बहुत मुश्किल ही नही, असल में ग़ैर-मुमकिन है। पिछले वर्षो में राष्ट्रो के आपस के ताल्लुकात इतने गहरे होचले है और वे एक-दूसरे पर इतने निर्भर रहने लगे है कि दुनिया कई बातो में एक होगई है। हमारे स्कूल-कालेजों की वही पुरानी रफ़्तार है। राष्ट्रीय इतिहास की पुस्तको में अब भी पुराने ढंग पर ख़ास देशो का ही हाल रहता है। लेकिन इतिहास अब अन्तर्राष्ट्रीय विषय यानी दुनिया-भर का इतिहास होचला है। अब उसे एक देश के बारे में समझने के लिए भी समूचे संसार पर नजर रखकर देखना पडेगा।

योरप और एशिया में सोवियट संघ का लम्बा-चौड़ा प्रदेश पूँजीवादी संसार से अलग ही है। फिर भी वह हर जगह इस दूसरी दुनिया के सम्पर्क में और अनेक बार सघर्ष में आता है। पिछले ख़तो में मै तुम्हे बता चुका हूँ कि सोवियट नीति पूर्व के देशो के प्रति उदार है। उसने तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान को मदद दी और चीन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लिये। ये सम्बन्ध बाद में एकाएक टूट गये। मै तुम्हे यह भी कह चुका हूँ कि किस तरह आर्कस पर धावा हुआ और ज़िनोवीर पत्र से ब्रिटेन के आम चुनाव पर असर पडा, हालांकि बाद में वह ख़त बनावटी

निकला । म तुम्हे सोवियट देश के वीच में लेचलकर यह दिखाना चाहता हूँ कि वहां जो अद्भुत और मनोहर सामाजिक प्रयोग होरहा है उसकी प्रगति कैसी है ।

१९१७ से १९२१ तक क्रान्ति के बाद के पहले चार वर्ष क्रान्ति की रक्षा में बहुतेरे दुश्मनो से लड़ने में बीते । यह जमाना बडे जोश और नाटक की-सी तब्दीलियों का था । उसमें लड़ाई और बगावत, गृह-युद्ध, भूख और मौत की भरमार थी । इस अन्धकार मे यह रोशनी भी थी कि आम जनता में जिहादी या धर्म के के लिए लडने-जैसा जोश था और आदर्श की रक्षा में उसने गैर-मामूली बहादुरी दिखाई थी। लोगो को तुरन्त किसी फल की उम्मीद नही थी, मगर उनके हृदय भावी आशाओ और नतीजो के भाव से भरे हुए थे । इनके कारण वे सारे भयकर कष्ट सह लेते थे और थोडी देर के लिए यह भी भूल जाते थे कि उनके पेट में अन्न नहीं पड़ रहा है । यह 'सैनिक साम्यवाद' का जमाना था ।

इसके बाद जब १९२१ में लेनिन ने नई अर्थनीति जारी की, तब थोडा आराम मिला । यह नीति साम्यवाद से पीछे हटकर देश के पूँजीपति वर्ग से समझौता करने की थी । इसका यह अर्थ नही था कि बोलशेविक नेताओं ने अपना ध्येय बदल दिया है । इसका मतलब इतना ही था कि आराम लेने और ताजा होने के लिए वे एक कदम पीछे हटगये थे, ताकि फिर बाद में वे कई कदम आगे बढ़ने के काबिल होजायें। इस तरह सोवियट ने जमकर एक ऐसे राष्ट्र की रचना का बहुत बड़ा काम अपने हाथ में लिया, जिसका बहुत कुछ नाश होचुका था । निर्माण के इस काम में उन्हे रेलवे इंजिनो और गाड़ियो, मोटर के छकडो, हलो और कारखानो के सामान की और यत्रो की जरूरत थी । यह सब उन्हे विदेशों से खरीदना पड़ा और उसके लिए उनके पास रुपया बहुत कम था । इसलिए उन्होने विदेशो से कर्ज लेने की कोशिश की, ताकि वे खरीद के माल की कीमत हलकी किस्तो में चुका सकें। मगर कर्ज तो तब मिले जब इन देशो से बोल-चाल का भी वास्ता हो । वे तो सरकारी तौर पर एक-दूसरे को मानते तक न थे । इसलिए सोवियट रूस को इस बात की बडी फिक्र थी कि किसी तरह बडे राष्ट्र उसे मानले । लेकिन इन बडी-बडी साम्राज्यवादी सत्ताओ को बोलशेविको और उनके सारे कामो से नफ़रत थी । उनके ख़याल से साम्यवाद इतनी बुरी वस्तु थी जिसका दमन करना ही उचित था । दस्तन्दाज़ी और लड़ाई करा-कराके वे उसे कुचलने की कोशिश भी भरसक कर चुकी थीं । मगर उन्हे कामयाबी नहीं मिली । उनका बस चलता तो वे सोवियट के साथ कोई सरोकार न रखतीं । मगर जिस सरकार के कब्ज़े में समूची दुनिया का छठा हिस्सा हो उसकी उपेक्षा करना मुश्किल है । इससे भी ज्यादा मुश्किल है एक ऐसे अच्छे ग्राहक की उपेक्षा करना जो बहुत

बडे प्रमाण मे कीमती मशीने खरीदने को तैयार हो। रूस-जैसे कृषि-प्रधान देश और जर्मनी, इग्लैण्ड और अमेरिका जैसे उद्योग-प्रधान देशो में व्यापार होने से दोनो ही पक्ष का फायदा था, क्योंकि रूस को यंत्रो की जरूरत थी और उसके बदले में वह सस्ते खाद्य पदार्थ और कच्चा माल देसकता था।

आखिरकार साम्यवाद की घृणा से थैली का जोर ज्यादा ताकतवर साबित हुआ और करीब-करीब सभी देशो ने सोवियट सरकार को मान लिया और बहुतो ने तो उसके साथ सन्धियाँ भी करली। अमेरिका ही एकमात्र ऐसा राष्ट्र है जिसने अबतक सोवियट को स्वीकार नही किया है। आजतक भी उनके आपस में राजनैतिक संबंध नहीं है, हालॉकि उनके कायम होजाने की जल्दी ही उम्मीद है। फिर भी रूस और अमेरिका में व्यापार होता रहा है।

इस तरह सोवियट ने ज्यादातर पूँजीवादी और साम्राज्यवादी राष्ट्रो के साथ ताल्लुकात कायम कर लिये। एक हद तक, उसने इनके आपसी ईर्ष्या-द्वेष से फ़ायदा भी उठाया। यह फायदा उसने उस समय भी उठाया जब १९२२ में पराजित जर्मनी ने उसके साथ रपैलो की सन्धि की थी। मगर यह समझौता बडा ही नापायदार था और पूँजीवाद और साम्यवाद की दो प्रणालियो में मौलिक विरोध था। औपनिवेशिक देशो की गुलाम रिआया और कारखानो के मजदूर दोनो ही दलित और शोषितवर्ग में थे। बोलशेविक सदा इन लोगो को शोषको से बगावत करने के लिए भड़काते रहते थे। यह काम वे सरकारी तौर पर नही करते थे, बल्कि कोमिण्टर्न नाम की अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सस्था के द्वारा करते थे। उधर साम्राज्यवादी राष्ट्र और खासकर इंग्लैण्ड सोवियट की हस्ती मिटाने के लिए बराबर साजिश करते रहते थे। इसलिए झगडा तो होता ही; और बार-बार झगड़ा होने से राजनैतिक सम्बन्ध-विच्छेद होने और लडाई की खबरे उड़ने की नौबत भी आई। तुम्हे याद होगा कि १९२७ में आर्कस के धावे और तलाशी के बाद रूस के ताल्लुकात इंग्लैण्ड से टूट गये थे। असल बात तो यह है कि पिछले साढे पन्द्रह वर्ष में, जबसे सोवियट का जन्म हुआ है तभीसे, इग्लैण्ड और रूस में कशमकश रही है। इसका कारण भी आसानी से समझा जा सकता है। इंग्लैण्ड सबसे बड़ा साम्राज्यवादी राष्ट्र है और रूस एक ऐसी कल्पना सामने रखता है जो साम्राज्यवाद की जड़ ही काट डालना चाहती है। मगर इन विरोधी देशो के बीच में और भी एक चीज है। जार के जमाने मे ही रूस और इंग्लैण्ड में पीढियो से दुश्मनी चली आती है।

इंग्लैण्ड और दूसरे पूंजीवादी देशो में आज सोवियट सेना का इतना भय नहीं है जितना सोवियट विचारो और साम्यवादी प्रचार का है। यह है तो अप्रत्यक्ष चीज,

मगर जोरदार और ख़तरनाक बहुत है। इसका प्रतीकार करने के लिए रूस के ख़िलाफ लगातार और बहुत कुछ झूठा प्रचार किया जाता है और सोवियट की दुष्टता की अजीब-अजीब कहानियाँ फैलाई जाती है। सोवियट नेताओ के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ऐसी जबान काम में लाते है जो उन्होने लड़ाई के वक़्त में दुश्मन के लिए भले ही ली हो, मगर और कभी किसीके लिए नही प्रयोग की। लॉर्ड बर्कनहेड ने सोवियट राजनीतिज्ञो को ऐसे वक़्त में 'हत्यारों का गुट' और 'मुट्ठीभर मोटे मेंडक' बताया था, जब इन दोनों देशों में कोई लड़ाई न थी, बल्कि दोनो में परस्पर राजनैतिक सम्बन्ध थे। इन बातों से यह जाहिर है कि सोवियट और साम्राज्यवादी राष्ट्रो में सच्ची दोस्ती नही हो सकती। उनमें मौलिक भेद है। महायुद्ध के विजेता और पराजित राष्ट्रों में मेल हो सकता है, मगर साम्यवादियों और पूंजीवादियो में नहीं हो सकता। इन दोनों में अगर मेल हो सकता है तो वह अस्थायी ही हो सकता है। वह सिर्फ थोडे वक़्त के लिए लड़ाई बन्द कर देने का निश्चय है।

सोवियट रूस और साम्राज्यवादी राष्ट्रो के झगडे की जड़ बार-बार यह बताई जाती है कि रूस ने विदेशो का कर्ज चुकाने से इन्कार कर दिया। आजकल तो यह जिन्दा सवाल नही रहा, क्योकि इन बुरे दिनो में तो करीब-करीब सभी देशो ने कर्ज नही चुकाया है। फिर भी यह सवाल समय-समय पर खड़ा होता रहता है। बोलशेविको के हाथ में सत्ता आई, उसके थोडे ही दिन बाद उन्होने दूसरे देशो से लिया हुआ जार के समय का कर्ज रद कर दिया। वैसे तो १९०५ की असफल क्रान्ति के समय ही इस नीति का ऐलान कर दिया गया था। उन्होने अपने उसूल की सचाई का यह सबूत दिया कि चीन वग़ैरा पूर्वी देशों में वे जो रुपया मॉगते थे उसका दावा छोड़ दिया। महायुद्ध के हर्जाने की रकम में से भी उन्होंने अपना हिस्सा छोड़ दिया। १९२२ में मित्र-राष्ट्रों ने इस कर्ज के बारे में एक माग-पत्र (Memorandam) दिया, जिसके जवाब में सोवियट सरकार ने उन्हे याद दिलाया कि भूतकाल में कितने पूंजीवादी राष्ट्रो ने अपने कर्ज रद कर दिये और विदेशियो की सम्पत्ति जब्त करली थी। "जो सरकारे और प्रणालियाँ क्रान्तियो से पैदा होती है वे पिछले शासनो की जिम्मेदारियो को निभाने के लिए बँधी हुई नहीं है।" सोवियट सरकार ने मित्र-राष्ट्रो में से फ्रास को खास तौर पर स्मरण दिलाया कि उसने अपनी महान् क्रान्ति के समय क्या किया था।

"फ्राम की उम राष्ट्रीय परिषद् ने, जिमका फ्रास आज उचित उत्तराधिकारी होने का दावा करता है, २२ दिसम्बर १७९२ को ऐलान किया था कि अत्याचारियो की मधियो मे जनता की मत्ता बँधी हुई नही है। इम घोषणा के अनुसार

क्रान्तिकारी फ्रांस ने न सिर्फ पुराने शासकों की विदेशों के साथ की हुई संधियाँ ही फाड़ फेंकी, बल्कि राष्ट्रीय ऋण भी रद कर दिया।"

इस तरह कर्ज अदा न करने का औचित्य साबित कर देने पर भी, सोवियट सरकार दूसरे राष्ट्रों से राजीनामा करने के लिए इतनी उत्सुक थी कि वह कर्ज के सवाल पर भी उनसे चर्चा करने के लिए पूरी तरह तैयार होगई। मगर उसने यह शर्त रक्खी कि यह चर्चा उसी वक्त हो सकती है जब विदेशी सरकार सोवियट को बिना शर्त के मान ले। असल बात तो यह है कि सोवियट ने इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका को कर्ज चुकाने के बहुत आश्वासन दिये, मगर इन पूंजीवादी राष्ट्रों को रूस के साथ समझौता करने की बहुत उत्सुकता नहीं थी।

ब्रिटिश दावे के मुकाबिले में सोवियट ने बड़ा मजेदार दावा पेश किया। रूस पर अंग्रेजों का सारा दावा सरकारी और युद्ध के ऋण, रेलवे के हिस्सों और व्यापारिक पूंजी के रूप में ८४ करोड़ पौण्ड का था। बोलशेविकों के दुश्मनों को रूसी गृहयुद्ध में ब्रिटेन और ब्रिटिश सेना ने मदद दी थी। उससे जो हानि हुई थी उसके हिस्से का दावा रूस ने ब्रिटेन पर किया। गृहयुद्ध में रूस की सारी हानि चार अरब छ करोड़ बहत्तर लाख छब्बीस हजार चालीस पौण्ड कूती गई थी। इसमें ब्रिटेन का हिस्सा दो अरब पौण्ड के करीब था। इस तरह ब्रिटेन के दावे से रूस का दावा अढाई गुना था।

बोलशेविकों का यह दावा कमजोर भी नहीं था। उन्होंने 'अलाबामा' नामक जहाज की मशहूर नजीर पेश की थी। उन्नीसवीं सदी में अमेरिका में जो गृहयुद्ध हुआ था उसीके सिलसिले में दक्षिणी राज्यों के लिए यह जहाज इंग्लैण्ड में बना था। यह जहाज गृह-युद्ध छिड़ने के बाद लिवरपूल से रवाना हुआ था और इसने उत्तरी राज्यों की जहाजी यात्रा और व्यापार को बहुत नुक्सान पहुँचाया था। इंग्लैण्ड और अमेरिका में लड़ाई होते-होते बच गई। संयुक्त राष्ट्र की सरकार ने दावा किया कि युद्ध के जमाने में लड़ाई का जहाज दक्षिणी राज्यों को सौंपने का इंग्लैण्ड को कोई हक न था और इसलिए जितना नुक्सान हुआ वह उसे मिलना चाहिए। मामला पंचायत में डाला गया और अन्त में इंग्लैण्ड से अमेरिका को ३८,८९,१६६ पौण्ड हर्जाने के दिलवाये गये।

रूस के गृह-युद्ध में इंग्लैण्ड का हिस्सा कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण और असर डालने-वाला था। जिस एक लड़ाकू जहाज के देने पर उसे इतना भारी हर्जाना चुकाना पड़ा उससे तो यह बहुत ज्यादा था। सोवियट की तरफ से सरकारी तौर पर बताया गया है कि रूस के विदेशी हस्तक्षेप की लड़ाइयों में साढ़े तेरह लाख आदमी मारे गये।

रूस के पुराने कर्ज के सवाल का आखिरी फैसला नहीं हुआ, मगर ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है त्यों-त्यों उसका महत्त्व अपनेआप घटता जा रहा है।

इस बीच बड़े-बड़े पूँजीवादी और साम्राज्यवादी देश इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और इटली वही बात कर रहे हैं जिसपर वे रूस से इतने बिगड़े थे। यह सही है कि वे न तो कर्ज रद्द करते हैं और न पूँजीवादी प्रणाली के आधार का विरोध करते हैं। वे तो सिर्फ रुपया चुकाते नहीं।

रूस को ताजा होने के लिए समय की जरूरत थी और समाजवादी ढग पर एक लम्बे-चौड़े देश के निर्माण के महान् कार्य मे उसकी सारी शक्ति लगी हुई थी, इसलि सोवियट नीति यह थी कि किसी भी तरह शान्ति रक्खी जाय। दूसरे देशो में समा वादी क्रान्ति होने की निकट-भविष्य मे सम्भावना नहीं दिखाई देती थी, इस कार फिलहाल 'विश्व-क्रान्ति' का खयाल धुँधला पड़ गया था। पूर्वी देशो में शासन-प्रणा पूँजीवादी थी, फिर रूस ने उनके साथ दोस्ती और सहयोग की नीति अपनाई। मै तुम्हे बता दिया है कि रूस, तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान में आपसी सधियो क जाल बिछ गया था। सभीको बड़े-बड़े साम्राज्यवादी देशो से एक-सा ही खौफ औ नफरत थी, इसलिए वे सब मिल गये।

१९२१ मे लेनिन ने जिस नई अर्थ-नीति की शुरुआत की थी उसका मतल यह था कि मध्यवर्ग के किसान भूमि के समाजवादी विभाजन से सहमत होजावें वहाँके मालदार किसानो को 'कुलक' कहते हैं। कुलक शब्द का अर्थ मुक्का है। इन लोगों को प्रोत्साहन नहीं दिया गया, क्योंकि ये भी छोटे-छोटे पूँजीपति ही थे और भूमि के समाजवादी विभाजन का विरोध करते थे। लेनिन ने गाँवो में बिजली के प्रचार की भी बड़ी भारी योजना जारी की। बिजली के बड़े-बड़े यंत्र वहां लगाये गये। इसका मतलब हर तरह किसानो की मदद करना और देश को उद्योग-प्रधान बनाने के लिए रास्ता साफ करना था। सबसे बड़ा उद्देश्य यह था कि किसानों मे उद्योगवादी मनोवृत्ति पैदा होजाय और शहरी मजदूरो के वे ज्यादा नजदीक आजायें। जिन गाँवों में बिजली की रोशनी लग गई और जिनकी खेती का ज्यादातर काम बिजली के जोर से होने लग गया, वहाँके किसान पुराना ढर्रा और अन्ध-विश्वास छोड़कर नये ढंग पर विचार करने लगे। शहरो और गाँवो के, शहरियो और देहातियो के स्वार्थो में सदा संघर्ष होता है। शहरी मजदूर चाहता है कि गाँवो से तो उसे खाद्य सामग्री और कच्चा माल सस्ता मिले और वह जो माल कारखानों में बनाता है उसकी कीमत ऊँची मिले। उधर किसान चाहता है कि शहर से औजार और पक्का माल तो सस्ते भावो पर मिले और उसकी पैदा की हुई खाद्य सामग्री और कच्चे माल की कीमत ज्यादा-से-ज्यादा मिले। चार वर्ष के सैनिक साम्यवाद के कारण यह संघर्ष बहुत तीव्र हो रहा था। नई अर्थ-नीति के जारी करने का मतल

कारण यही था कि यह संघर्ष कम किया जा सके। इसलिए किसानो को ख़ानगी व्यापार करने की भी सुविधा दी गई।

बिजली के प्रचार की योजना पर लेनिन का इतना ज्यादा जोर था कि उसका बनाया हुआ एक सूत्र (फार्मूला) मशहूर होगया। उसने कहा था कि "बिजली और सोवियट पचायते मिलकर समाजवाद के बराबर है"। लेनिन की मौत के बाद भी बिजली का प्रचार बडी तेजी से जारी रहा। किसानो पर असर डालने और खेती के तरीको का सुधार करने के लिए दूसरा उपाय यह किया गया कि हल चलाने और दूसरे कामो के लिए भारी एंजिनो से काम लेना शुरू किया गया। ये यंत्र अमेरिका की फोर्ड कम्पनी से लिये गये थे। रूस में मोटर से चलनेवाले यंत्र बनाने का बडा कारखाना कायम करने का ठेका भी सोवियट सरकार ने फोर्ड कम्पनी को दिया। इस कारखाने में हर साल एक-एक लाख मोटरे तैयार हो सकती थी। यह कारख़ाना ख़ासकर बोझा ढोने और हल चलाने के एंजिन बनाने के लिए ही था।

दूसरा काम, जिससे सोवियट और विदेशी स्वार्थों का संघर्ष हुआ, यह था कि रूस ने भी तेल और पैट्रोल निकालना और विदेशो में बेचना शुरू कर दिया। कोह-काफ के आज़रबैजन और ज्यार्जिया प्रदेशो में तेल बहुतायत से पाया जाता है। शायद यह उसी बडे तेल-क्षेत्र का भाग है जो ईरान, मोसल और इराक तक फैला हुआ है। कास्पियन समुद्र पर बाकू नगर तो दक्षिणी रूस का बड़ा तेल-नगर है। रूस वालो ने बडी-बडी तेल की कम्पनियो से सस्ते भाव पर विदेशो में तेल और पैट्रोल बेचना शुरू कर दिया। अमेरिका की स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी, एंग्लोपर्शियन, रॉयल डचशेल कम्पनी और दूसरी कम्पनियाँ बडी ताकतवर है और दुनिया-भर को तेल पहुँचाने का इनको एकाधिकार-सा मिला हुआ है। सोवियट के सस्ते भावो पर तेल और पैट्रोल बेचने से उन्हे बड़ा नुक्सान हुआ और गुस्सा आया। उन्होने रूसी तेल को 'चोरी का तेल' कह-कर सोवियट के ख़िलाफ आन्दोलन शुरू कर दिया, क्योकि रूस ने कोहकाफ के तेल के कुएँ उनके पुराने पूंजीवादी मालिको से छीन लिये थे। लेकिन थोडे दिन बाद इन कम्पनियो ने इस 'चोरो के तेल' के साथ समझौता कर लिया।

मैंने इस ख़त में और दूसरे ख़तो में जगह-जगह पर 'सोवियट' या 'सोवियटो' का जिक्र किया है। कभी-कभी इसका भी जिक्र किया है कि 'रूस' ने यह किया और 'रूस' ने वह किया। इन सारे लफ्जो का इस्तेमाल मैंने जरा आजादी के साथ किया है और एक ही अर्थ में किया है। अब मैं तुम्हे बता देना चाहता हूँ कि यह चीज क्या थी और क्या है। तुम यह तो जरूर जानती हो कि बोलशेविक क्रान्ति के बाद, १९१७ के नवम्बर में, पेट्रोग्राड में सोवियट प्रजातन्त्र का ऐलान किया गया था। जार का

साम्राज्य कोई एकरस राष्ट्रीय राज्य न था। खास रूस का योरप और एशिया की बहुत-सी जातियों पर प्राधान्य था। इन जातियों की तादाद क़रीब दो सौ थी और उनमें आपस में बड़ा भारी फ़र्क था। ज़ार के ज़माने में उनके साथ गुलाम रिआया का-सा बर्ताव होता था और कमोबेश उनकी भाषाओ और संस्कृतियो का भी दमन किया जाता था। मध्य-एशिया के पिछड़े हुए लोगो के सुधार के लिए प्रायः कुछ नहीं किया गया। यहूदियो का कोई खास प्रदेश नहीं था और अल्प-संख्यक जातियो में सबसे बुरा बर्ताव उनके साथ होता था। यहूदियो के हत्याकाण्ड बुरी तरह मशहूर होगये थे। इन हत्याओं को 'पैग्रो' कहते थे। इस कारण इन पीड़ित जातियो के बहुत-से लोग रूसी क्रान्ति में शामिल हुए; लेकिन उनकी खास दिलचस्पी राष्ट्रीय क्रान्ति में थी, सामाजिक क्रान्तियों में नहीं थी। १९१७ के फरवरी महीने की क्रान्ति के बाद जो अस्थायी सरकार बनी उसने इन जातियों से बहुत-से वादे किये, मगर उसने किया-धरा कुछ नही। उधर लेनिन ने बोलशेविक दल के शुरू ज़माने से ही इस बात पर ज़ोर दिया था कि हरेक जाति को अपने भाग्य-निर्णय का पूरा हक दिया जाय, यहाँतक कि वे चाहे तो बिलकुल अलग और स्वतन्त्र भी होजायँ। यह पुराने बोलशेविक कार्यक्रम का अंग था। क्रान्ति के बाद बोलशेविकों ने देश की शासन-सत्ता हाथ में आते ही आत्म-निर्णय के इस उसूल में अपना विश्वास दुहराया।

गृह-युद्ध के समय ही ज़ार का साम्राज्य चूर-चूर होगया था और थोड़े दिन तक सोवियट प्रजातन्त्र के नियन्त्रण में मास्को और लेनिनग्रेड के चारो ओर छोटा-सा इलाका रह गया। पश्चिमी राष्ट्रो का प्रोत्साहन पाकर बाल्टिक समुद्र से लगी हुई कई जातियां, अर्थात् फिनलैण्ड, एस्टोनिया, लटविया, और लिथुएनिया, स्वाधीन राज्य बन गईं। इसी तरह पोलैण्ड भी स्वाधीन बन गया। जब रूसी सोवियट की गृह-युद्ध में विजय हुई और विदेशी सेनायें अपने-अपने घर गईं तब साइबेरिया और मध्यएशिया में अलग-अलग और स्वाधीन सोवियट सरकारे बन गईं। इन सरकारो के समान उद्देश्य थे, इसलिए उनकी आपस में गहरी दोस्ती होना लाज़िमी था। १९२३ में उन्होंने मिलकर सोवियट संघ बना लिया। इसका पूरा और सरकारी नाम समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र संघ (Union of Socialist and Soviet Republics) है। अंग्रेज़ी में इसे संक्षेप में U. S S R (यू० एस० एस० आर०) भी कहते हैं।

१९२३ से संघ के प्रजातन्त्रो की संख्या में कुछ परिवर्तन हुए है, क्योंकि एक-दो प्रजातन्त्रो के टुकड़े होगये हैं। मैं समझता हूँ आजकल संघ में ७ प्रजातन्त्र हैं—

(१) रूस (Russian Socialist Federative Soviet Republic) जिसे संक्षेप में आर० एस० एफ० एस० आर० कहते हैं।

(२) सफेद रूसी समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र ।

(३) उक्रेन समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र ।

(४) क़ाफ़ के पार का समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र (Trans-Caucasian Socialist Federative Soviet Republic) ।

(५) तुर्कमीनिस्तान या तुर्कमीन समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र ।

(६) उज़बक समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र ।

(७) ताजीकिस्तान या ताजिक समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र ।

मंगोलिया का भी सोवियट संघ से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है ।

इस तरह सोवियट संघ कई प्रजातन्त्रो का समूह है । इन अंगभूत प्रजातन्त्रों में से कुछ खुद भी संघ है । इस तरह रूसी प्रजातन्त्र बारह स्वशासन-भोगी प्रजातन्त्रों का संघ है । और क़ाफ के पार का प्रजातन्त्र आज़रबैजन, ज्यार्जिया और आर्मीनिया के तीन प्रजातन्त्रो का सघ है । इन परस्पर-सम्बन्धित और एक-दूसरे पर निर्भर प्रजातन्त्रो के अलावा इनके भीतर बहुत-से 'राष्ट्रीय' और 'स्वशासन-भोगी' प्रदेश हैं । हर जगह इतने स्वशासन को जारी रखने का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक जाति को अपनी संस्कृति और भाषा की रक्षा करने और ज़्यादा-से-ज्यादा आज़ादी भोगने का मौका मिले । कोशिश यह की गई है कि जहाँतक हो सके किसी एक राष्ट्रीय या जातीय समूह का दूसरे पर प्रभुत्व न रह सके । अल्पसंख्यक जातियो की समस्या को सोवियट ने जिस तरह हल किया है वह हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है, क्योकि हमारे सामने भी यह मुश्किल सवाल है । हमसे सोवियट की कठिनाइयाँ कहीं ज्यादा थीं, क्योकि उन्हे १८२ मुख्तलिफ़ जातियो से निपटना था । लेकिन उन्होने इस मसले को बहुत सफलतापूर्वक हल किया है । उन्होने बहुत आगे बढ़कर हरेक अलग जाति को मान लिया और उन्हे अपना काम और शिक्षा अपनी-अपनी भाषा में करने का उत्साह दिलाया । यह बात अलग-अलग अल्प-संख्यक जातियो की अलग होने की वृत्ति को खुश करने के लिए ही नहीं की गई, बल्कि यह अनुभव करके की गई कि देशी भाषा के ज़रिये ही सर्वसाधारण में सच्ची शिक्षा और संस्कृति की प्रगति होसकती है । इस नीति का नतीजा भी बहुत अच्छा निकला है ।

इस तरह संघ में एक ही तरह की पद्धति जारी नहीं की गई है, फिर भी उसके मुख्तलिफ़ हिस्से एक-दूसरे के इतने ज्यादा नज़दीक आते जा रहे हैं जितने ज़ार के केन्द्रित राज्य में भी वे कभी नहीं आये थे । इसका कारण यह है कि उनके आदर्श समान हैं और वे सब मिलकर एक ही बड़ा काम कर रहे हैं । संघ के प्रत्येक प्रजातन्त्र को जब चाहे संघ से अलग होने का हक है, मगर ऐसा होने की नौबत शायद ही

आवे, क्योंकि पूँजीवादी संसार के विरोध के सामने समाजवादी प्रजातन्त्रों के संघ में शामिल रहने में उन्हें बहुत बड़े-बड़े फ़ायदे हैं।

अवश्य ही इस संघ का प्रधान प्रजातन्त्र रूसी प्रजातन्त्र है। यह लेनिनग्रेड से ठेठ साइबेरिया तक देश के आर-पार फैला हुआ है। सफ़ेद रूस पोलैण्ड से लगा हुआ है। उक्रेन काले समुद्र के किनारे-किनारे दक्षिण में है। यह रूस का अन्न-भण्डार है। कोह काफ़ के पार वाला प्रजातन्त्र, जैसा इसके नाम से ही जाहिर है, क़ाफ पहाड़ के उसपार कैस्पियन और काले समुद्र के बीच में है। इस प्रजातन्त्र में आर्मीनिया भी शामिल है। यह मुद्दतों तक तुर्कों और आर्मीनियनों के भयंकर हत्याकाण्ड की रंगस्थली रहा है। अब सोवियट प्रजातन्त्र बन जाने से यहाँके लोग शान्तिपूर्ण कामों में लग गये दीखते हैं। कैस्पियन समुद्र की दूसरी ओर तुर्कमीनिस्तान, उजबकिस्तान और ताजकिस्तान नामक तीन मध्य-एशियाई प्रजातन्त्र हैं। उजबकिस्तान में बुखारा और समरक़न्द के मशहूर शहर हैं। ताजकिस्तान अफ़ग़ानिस्तान के ठीक उत्तर में है और यह हिन्दुस्तान के सबसे पास का सोवियट इलाक़ा है।

मध्य-एशिया के साथ बहुत पुराने जमाने से हमारे ताल्लुक़ात रहे हैं, इसलिए इन मध्य एशियाई प्रजातन्त्रों के साथ हमारी ख़ास दिलचस्पी है। पिछले चन्द सालों में उन्होंने जो उल्लेखनीय प्रगति करली है उसके कारण वे और भी आकर्षक होगये हैं। ज़ारशाही में वे बहुत पिछड़े हुए और अन्धविश्वासी देश थे। उनमें शिक्षा का प्रचार बहुत कम था और उनकी स्त्रियाँ क़रीब-क़रीब परदे में रहती थीं। लेकिन अब वे बहुत बातों में हिन्दुस्तान से आगे हैं।

: १८० :

'पायटिलेटका' अथवा रूस की पंचवर्षीय योजना

९ जुलाई १९३३

जबतक लेनिन जिया वही सोवियट रूस का एकमात्र नेता रहा। उसके आख़िरी फ़ैसले के सामने सब झुक जाते थे। जब कभी संघर्ष होता तो उसकी बात क़ानून की तरह मान ली जाती थी और साम्यवादी दल के आपसी झगड़े पलभर में मिटा देती थी। उसकी मृत्यु के बाद विपत्ति का आना लाज़िमी था, क्योंकि प्रतिस्पर्धी मानी मुख़ालिफ़ गिरोह और शक्तियाँ प्रभुत्व के लिए आपस में लड़ने लगीं। लेनिन के बाद बाहर की दुनिया की और कुछ हद तक रूस की नज़र में भी ट्राट्स्की बोलशेविकों में प्रधान आदमी था। ट्राट्स्की ने ही अक्तूबर की क्रान्ति में प्रमुख भाग लिया था और

उसीने जबरदस्त मुश्किलात के बावजूद लाल सेना बनाई थी। इसी सेना ने गृह-युद्ध में और विदेशी दस्तन्दाजी के खिलाफ फतह हासिल की थी। फिर भी ट्राटस्की बोलशेविक दल में नया-ही-नया आया था और लेनिन को छोड़कर पुराने बोलशेविक न उसे बहुत चाहते थे और न उसपर विश्वास करते थे। इन पुराने बोलशेविको में से स्टालिन साम्यवादी दल का प्रधानमंत्री बन गया था और उस हैसियत से रूस का प्रधान और बड़ा ही ताकतवर संगठन उसके हाथ में था। ट्राटस्की और स्टालिन में बनती न थी। वे एक-दूसरे से नफरत करते थे और किसी भी बात में मेल नहीं खाते थे। ट्राटस्की प्रतिभाशाली लेखक और वक्ता था और उसने अपनी महान् संगठन और कार्य-शक्ति का भी सबूत दे दिया था। वह बडी तेज अक्ल का रौशन-दिमाग आदमी था। वह क्रान्ति के उसूलो का विकास करता रहता और विरोधियो पर चाबुक और बिच्छू के डंक की तरह चुभनेवाले वाग्बाण चलाया करता था। उसके सामने स्टालिन मामूली आदमी लगता था। वह शान्त, सरल और मामूली अक्ल वाला आदमी था। फिर भी वह एक बड़ा संगठनकर्ता, एक वीर योद्धा और फौलादी इरादा रखनेवाला यानी दृढ़-संकल्प वाला आदमी था। अब तो वह 'फौलाद का आदमी' कहलाने भी लगा है। इन दोनो बडी हस्तियो के लिए साम्यवादी दल में एकसाथ गुंजाइश नहीं थी।

स्टालिन और ट्राटस्की का संघर्ष व्यक्तिगत ही नहीं था, उससे ज्यादा और कुछ भी था। क्रान्ति के विकास के बारे में दोनो की नीति और साधन अलग-अलग थे। ट्राटस्की ने क्रान्ति के बहुत वर्ष पहले से ही 'स्थायी क्रान्ति' के उसूल गढ रक्खे थे। उनके मुताबिक किसी एक देश के लिए पूरे समाजवाद की स्थापना करना मुमकिन नही, भले ही उस देश की स्थिति कितनी ही अच्छी और अनुकूल हो। सच्चा समाजवाद विश्व-क्रान्ति के बाद ही आ सकता है, क्योकि उसी वक्त किसानो को पूरा समाजवादी बनाया जा सकता है। आर्थिक विकास में समाजवाद पूँजीवाद के बाद की दूसरी ही ऊँची मंजिल है। जब पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय होगया, तभी वह बैठ गया। आज अधिकांश जगत् में हम यही होता देख रहे है। इस अन्तर्राष्ट्रीय रचना का काम समाजवाद ही सफलतापूर्वक कर सकता है। इसीलिए समाजवाद अनिवार्य है। मार्क्स का यही उसूल है। लेकिन समाजवाद को एक ही देश यानी राष्ट्रीय रूप में ही अमल में लाने की कोशिश की जायगी तो उसका अर्थ पीछे हटकर नीची आर्थिक सीढ़ी पर उतरना होगा। अन्तर्राष्ट्रीयता उन्नति मात्र की जरूरी बुनियाद है और इसमें सामाजिक उन्नति भी शामिल है। अन्तर्राष्ट्रीयता से पीछे हटना न संभव है और न वाञ्छनीय या मुनासिब ही है। इसलिए ट्राटस्की के मन मे सोवियट संघ जैसे बडे किन्तु अकेले देश में समाजवाद का निर्माण कर सकना आर्थिक दृष्टि से असम्भव है। कितनी ही बाते ऐसी है जिनमें

सोवियट को पश्चिमी योरप के उद्योगवादी देशो पर निर्भर रहना पड़ता है। यह तो शहर और गॉव के सहयोग की-सी बात हुई। उद्योगवादी पश्चिम को शहर समझ लिया जाय, और रूस को अधिकांश में गॉव मान लिया जाय। राजनैतिक दृष्टि से भी ट्राटस्की की राय में पूँजीवादी वातावरण के बीच में अकेला समाजवादी देश बहुत दिनो तक जिन्दा नहीं रह सकता। दोनो में जरा भी मेल नही होसकता। हम देख चुके हैं कि यह बात कितनी सच है। या तो पूँजीवादी राष्ट्र उस समाजवादी देश को कुचल देंगे या पूँजीवादी देशो में सामाजिक क्रान्तियॉ होकर सब जगह समाजवाद कायम हो जायगा। अलबत्ता कुछ समय या कुछ वर्षो तक दोनो साथ-साथ रह सकते हैं, मगर उनका समतौल स्थिर नहीं होगा।

बहुत हद तक यही ख़याल क्रान्ति के पहले और पीछे सभी बोलशेविक नेताओ का रहा है। वे बडे अधीर होकर विश्व-क्रान्ति या कम-से-कम कुछ यूरोपियन देशो में क्रान्ति की बाट देखते रहे। महीनों तक योरप की हवा में गर्जना होती रही, मगर तूफान वर्षा हुए बिना ही निकल गया। रूस अपनी पंचवर्षीय योजना में लग गया और साधारण जीवन बिताने लगा। ट्राटस्की ने इसपर खतरे की घण्टी बजाई। उसने चेतावनी दी कि अगर विश्व-क्रान्ति के उद्देश्य से उग्र नीति काम में नहीं ली गई तो रूस की क्रान्ति भी जोखिम में पड़ जायगी। इस चेतावनी का नतीजा यह हुआ कि ट्राटस्की और स्टालिन में जबरदस्त द्वन्द्व-युद्ध छिड़ गया और इस टक्कर ने कुछ वर्षो तक बराबर साम्यवादी दल को हिला रक्खा। दल की सत्ता स्टालिन के हाथ में थी, इसलिए उसकी पूरी जीत हुई। ट्राटस्की और उसके हिमायती क्रान्ति के दुश्मन समझे गये और दल में से निकाल दिये गये। ट्राटस्की को पहले तो साइबेरिया भेजा गया और फिर संघ के बाहर निर्वासित कर दिया गया।

स्टालिन और ट्राटस्की में जल्दी ही भिड़न्त होने का कारण यह था कि स्टालिन ने किसानो को समाजवाद के पक्ष में करने के लिए कृषि के बारे में उग्र नीति जारी करने का प्रस्ताव किया। यो दूसरे देशो में क्या हो रहा है इसका खयाल न करके अकेले रूस में समाजवाद का निर्माण करने की कोशिश थी। ट्राटस्की ने इसे मञ्जूर नहीं किया। वह अपने 'स्थायी क्रान्त्रि' के उसूल पर डटा रहा। उसका कहना था कि इसके बिना किसान पूरी तरह समाजवादी नहीं बन सकते। असल बात यह थी कि स्टालिन ने भी ट्राटस्की की बहुत-सी सूचनाओ पर अमल तो किया, मगर किया उसने अपने ढंग से, ट्राटस्की के ढंग पर नहीं। इसके बारे में ट्राटस्की ने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है: "राजनीति में निर्णायक यही बात नहीं होती कि वस्तु क्या है, बल्कि यह होती है वह कैसे की जाती है और कौन करता है।"

इस तरह इन दो बडे आदमियो का बड़ा झगड़ा खत्म हुआ और जिस रग-मंच पर ट्राटस्की ने इतनी वीरता और तेजस्विता का अभिनय किया था वहाँसे उसे हटा दिया गया। जिस सोवियट संघ का वह एक प्रधान निर्माणकर्त्ता था उसको छोडकर उसे जाना पड़ा। इस जबरदस्त हस्ती से करीब-करीब सभी पूजीवादी देश भयभीत थे। उन्होने उसे अपने यहाँ नहीं आने दिया। दूसरे यूरोपियन देशो की तरह इंग्लैण्ड ने भी उसे घुसने की इजाजत नही दी। अन्त में उसे तुर्की में शरण मिली और वह आज-कल प्रिंकिपो में रहता है। मैं समझता हूँ यह इस्तम्बोल से आगे एक छोटा-सा टापू है। पद और दूसरे काम-काज की जिम्मेवारियो और झझटो से छूटकर अब वह लिखने-पढ़ने के काम में लग सकता है। उसके ऐसा करने से परिणाम भी सुन्दर निकला है। उसका नया ग्रंथ History of the Russian Revolution (रूस की क्रान्ति का इतिहास) है। अभी उसकी उम्र भी बहुत नही है। वह कोई पचास-पचपन वर्ष का होगा। संभव है भविष्य के गर्भ में उसके लिए बहुत काम रक्खा हो। आगे चलकर उसका कुछ भी हो, ससार के इतिहास में उसके लिए एक कोना सुरक्षित है; और जिस संघर्ष के साथ सोवियट रूस में उसकी हस्ती मिट गई वह एक दु खान्त नाटक तो है, लेकिन इससे उसके प्रतिभाशाली और अद्वितीय जीवन में कला का स्पर्श होगया। प्रिंकिपो में बैठकर वह कडी भाषा में स्टालिन और उसके साथियो की टीका करता रहता है और संसार के अनेक भागो में नियमित ट्राटस्की-दल खड़ा होगया है। साम्यवाद का यह अंग सत्ताधारी साम्यवादी दल को पसन्द नहीं है, क्योकि वह साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की आज्ञा मानता है और परिषद् पर स्टालिन का प्रभुत्व है।

ट्राटस्की का निपटारा करके स्टालिन ने असाधारण साहस के साथ कृषि-संबधी अपनी नई नीति के काम को हाथ में लिया। उसके सामनें बडी कठिन परिस्थिति थी। पढ़े-लिखो में बेकारी और मुसीबत थी और मजदूरो में भी हड़तालें हो चुकी थीं। उसने कुलको यानी मालदार किसानों पर भारी कर लगाये और यह रुपया सम्मिलित खेती के निर्माण में खर्च किया। सम्मिलित खेती का यह मतलब है कि छोटे-छोटे बहुतेरे किसान सहयोग के तरीके पर बडी-बडी खेतियाँ करते हैं और उसका मुनाफा आपस में बाँट लेते हैं। सम्पन्न किसानो ने इस नीति का विरोध किया और वे सोवियट सर-कार से बहुत बिगडे। उन्हे यह डर था कि उनके मवेशी और खेतो का सामान उनके दरिद्र पडोसियो के मवेशियो और सामान के साथ मिला दिया जायगा। इस डर के मारे उन्होंने सचमुच पशु-धन नष्ट कर दिया। इतने ज्यादा मवेशी मारे गये कि अगले साल खाने-पीने की चीज़ो की, मांस की, और दूध मक्खन वगैरा की बहुत ज्यादा कमी रही।

इस बात की स्टालिन को आशा नही थी, मगर वह जी कड़ा करके अपने कार्य-क्रम पर अटल रहा। इतना ही नहीं, उसने कार्यक्रम को बढ़ाया और उसे सारे देश के लिए कृषि और उद्योग दोनो के एक बलशाली आयोजन के रूप में बदल दिया। किसान को उद्योग के निकट लाना था और इसके लिए राज्य की ओर से नमूने के बडे-बडे और सम्मिलित खेत कायम करना था। बडे-बडे कारखाने खोलकर पानी से, बिजली निकालने के यंत्र लगाकर, खानों का काम और इसी तरह के अनेक दूसरे काम जारी करके देश-भर को उद्योगवादी बनाना था। साथ ही शिक्षा, विज्ञान, सहयोगी खरीद-फरोख्त, लाखो मजदूरों के लिए मकान बनवाने और सब तरह उनके रहन-सहन का तरीका ऊँचा करने वगैरा के काम हाथ में लेने थे। यही मशहूर 'पंच-वर्षीय योजना' थी। रूसी लोग इसे 'पायाटिलेटका' कहते है। यह कार्य-क्रम इतना विशाल, उच्चाकांक्षापूर्ण और कठिन था कि किसी धनी और उन्नत देश के लिए भी एक पीढ़ी में पूरा होना मुश्किल था। रूस जैसे पिछडे हुए और गरीब मुल्क के लिए इसे हाथ में लेना तो हद दर्जे की बेवकूफी ही मालूम होती थी।

यह पंचवर्षीय योजना बहुत ध्यानपूर्वक विचार और खोज के बाद बनी थी, वैज्ञानिको और इंजीनियरो ने सारे देश की स्थिति की जॉच की थी और बहुत-से विशेषज्ञो ने इस समस्या पर चर्चा करली थी कि कार्यक्रम के एक भाग का दूसरे के साथ कैसे मेल बिठाया जाय। सच्ची कठिनाई इस मेल बिठाने के काम में आई थी। अगर कारखाने के लिए कच्चे माल का अभाव हो तो बड़ा सारा कारखाना खोल देने के मानी ही क्या? अगर कच्चा माल मिल भी जाय तो उसे कारखाने में पहुँचा देने का इन्तजाम होना चाहिए। इस तरह ढुलाई की समस्या हल करनी पड़ती है, उसके लिए रेलवे बनानी पड़ती है। रेलवे के लिए कोयला चाहिए और उसके लिए खाने चलाना आवश्यक है। खुद कारखाने को चलाने के लिए कोई शक्ति चाहिए। यह शक्ति जुटाने के लिए बडी-बडी नदियों को बॉधकर उनके पानी से बिजली पैदा की गई और यह बिजली तारो के जरिये कारखानो और खेतो में पहुँचाई गई और शहरो और गांवो में रोशनी के लिए इस्तेमाल की गई। फिर इन सब कामो के लिए इंजीनियरो, मिस्त्रियो और कुशल मजदूरों की जरूरत होती है और थोडे-से समय में बीसो हजार स्त्री-पुरुषों को तालीम दे देना हँसी-खेल नहीं है। हजारों की तादाद में खेतो पर काम करने के लिए भारी-भारी एंजिन भेज तो दिये जायँ, मगर उन्हे चलाये कौन?

ये थोडे-से उदाहरण तुम्हें इस बात की कल्पना करने के लिए दे दिये है कि पंचवर्षीय योजना से कैसी-कैसी घबरा देनेवाली और पेचीदा समस्यायें पैदा हुई होगी। इसमें एक-एक भूल से दूरवर्ती परिणाम निकल सकते थे। कार्य की शृंखला

में एक भी कमज़ोर या पिछडी कडी से देर होने या सारा सिलसिला बन्द हो जाने की सम्भावना थी। लेकिन पूंजीवादी देशो की अपेक्षा रूस को एक बडी सुविधा थी। पूँजी-वाद में ये सारे काम व्यक्तियो की इच्छा और संयोग पर निर्भर रहते है और लाग-डाँट के कारण प्रयत्न बेकार भी बहुत होते है। अलग-अलग पदार्थ पैदा करनेवाले मुख्तलिफ किस्म के मजदूरो में कोई सहयोग नहीं होता। संयोग से बाजार में आकर ख़रीदारी या बिक्री करनेवालो के बीच में कुछ सहयोग होजाता है। सार यह है कि बडे पैमाने पर और योजना के अनुसार काम नहीं होता। अलग-अलग व्यापरी या कम्प-नियाँ अपने भावी कामो की योजनायें बना सकती है और बनाती है, मगर इन व्यक्तिगत योजनाओ में दूसरो से बाज़ी मार लेजाने की सम्भावना ही रहती है। राष्ट्रीय दृष्टि से इसका नतीजा उलटा ही होता है। इसका अर्थ यह होता है कि विपु-लता और अभाव, सम्पन्नता और विपन्नता साथ-साथ रहते है। सोवियट सरकार को यह सुविधा थी कि देशभर के भिन्न-भिन्न उद्योगो और प्रवृत्तियो पर उसका नियन्त्रण था। इसलिए वह हरेक प्रवृत्ति को उचित स्थान देकर एक ही योजना बना सकी और उसको अमल में ला सकी। इसमें शक्ति नष्ट होने की भी गुंजाइश नही रहती। सिर्फ हिसाब लगाने या काम चलाने या काम चलाने में जो भूले होजाती है उन्हीसे जो हानि होती है सो होती है। ये भूले भी अलग-अलग आदमियो के हाथ में नियन्त्रण होने की हालत में ज्यादा होती है और सारा नियन्त्रण एक ही जगह से होने में कम होती है।

पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य सोवियट-संघ में उद्योगवाद की जड मज़बूत करना था। कल्पना यह नही थी कि कपड़ा वगैरा जैसी सबकी जरूरत की चीजें बनाने के कुछ कारखाने खोल दिये जायें। हिन्दुस्तान की तरह बाहर से मशीने मँगाकर लगा लेना तो आसान था। खपत का माल बनानें के इन कारखानो को 'हलके उद्योग' कहते है। इन हलके उद्योगो का दारोमदार 'भारी उद्योगो' पर होता है। लोहा, फौलाद और यंत्र बनाने के कारखाने भारी उद्योग कहलाते है। ये छोटे उद्योगो के लिए यंत्र, सामान और एंजिन वग़ैरा तैयार करते है। सोवियट सरकार नें बहुत दूर की सोचकर पंचवर्षीय योजना में इन आधार-भूत या बडे कारखानो पर सारी शक्ति लगाने का निश्चय किया। इस तरह उद्योगवादी बुनियाद मज़बूत होजायगी और बाद में छोटे-छोटे उद्योग भी सरलता से खडे हो सकेगे। बडे कारख़ानो से रूस को यंत्रो और लड़ाई के सामान के लिए भी दूसरे देशो के मुंह की ओर नहीं देखना पडेगा।

मौजूदा परिस्थिति में रूस के लिए बडे-बडे उद्योग पसन्द करना ही ठीक था, मगर इससे लोगो को प्रयत्न भी बहुत अधिक करना पडा और कष्ट भी ख़ूब सहने

पडे । बडे उद्योगो पर छोटे उद्योगो से बहुत ज्यादा खर्च करना पड़ता है और इससे भी बड़ा अन्तर यह है कि बडे उद्योगो से बहुत देर में मुनाफ़ा होता है। कपडे का कारखाना खोलते ही कपड़ा तैयार होने लगता है और वह तुरन्त बिक सकता है। यही हाल दूसरे छोटे कारखानो का है जो खपत की चीजें बनाते है। मगर लोहे या फ़ौलाद के कारखाने में तो फौलाद की पटरी या एंजिन ही बन सकते है। ये जब-तक रेलवे न बन जाय तबतक न खप सकते है, न काम आ सकते हैं। इसमें समय लगता है और तबतक बहुत-सा रुपया उस व्यवसाय में रुका रहता है और उतना ही देश दरिद्र रहता है।

इस कारण रूस के लिए इतनी ज्यादा तेजी के साथ बडे-बडे कारखानो का बनाना बडी भारी कुर्बानी थी। यह सारी रचना, ये सारे यंत्र बाहर से आये थे, उनकी कीमत चुकानी पडी थी और वह भी सोना-चाँदी के रूप में। इसकी व्यवस्था कैसे की गई ? सोवियट-संघ के निवासियो ने अपने पेट पर पट्टी बाँध ली—आधे भूखे रहे, और बाहरवालो को चुकाने के लिए जरूरी चीजो से भी अपनेको वंचित रक्खा। उन्होने अपने खाद्य-पदार्थ बाहर भेजे और उनके मूल्य से यंत्रो के दाम चुकाये। गेहूँ, कँगरान, जौ, गल्ला, तरकारी, फल, अण्डे मक्खन, मांस, पक्षी, शहद, मछली, शकर, तेल, मिठाइयाँ आदि जो भी चीजें बिक सकती थीं वे सब बिकने को भेजदीं। इन चीजों के भेजने का अर्थ यह था कि उन्होने इनके बिना काम चलाया। रूसियों को मक्खन मिला ही नहीं या बहुत कम मिला, क्योकि वह यंत्रो की कीमत में बाहर चला जाता था। यही हाल और बहुत-से माल का हुआ।

यह प्रबल प्रयत्न पंचवर्षीय योजना के रूप में १९२९ में शुरू हुआ। क्रान्ति की भावना फिर फैल गई, आदर्श की पुकार पर सर्वसाधारण के दिल हिल गये और उन्होने इस नवीन संग्राम में अपनी सारी शक्ति लगादी। यह संग्राम किसी विदेशी या भीतरी दुश्मन के ख़िलाफ नहीं था। यह लड़ाई रूस की पिछडी हुई हालत के, पूँजीवाद के अवशेष के और नीचे रहन-सहन के ढंग के खिलाफ थी। लोगो ने फिर से उत्साहपूर्वक त्याग करना बर्दाश्त किया और फकीरो की-सी सख़्त जिन्दगी बिताई। उन्होने महान् भविष्य के संकेत पर वर्तमान का बलिदान कर दिया। करते भी क्यों नहीं ? उन्हींको तो उसके निर्माण का गर्व और श्रेय था।

एक काम को पूरा करने में राष्ट्रो ने पहले भी अपनी सारी शक्तियाँ लगाई है, मगर यह बात युद्ध-काल में ही हुई है। महासमर के समय जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ्रांस के जीवन का एक ही लक्ष्य था; और वह था लड़ाई में जीतना। इस उद्देश्य के सामने और सब बाते गौण हो गई थीं। मगर यह श्रेय इतिहास में सोवियट रूस

को ही पहलेपहल मिला है कि उसने राष्ट्र की सारी शक्ति नाश के नही निर्माण के शान्तिपूर्ण प्रयत्न में, यानी एक पिछडे हुए देश का औद्योगिक उत्थान करने और उसे समाजवाद के ढाँचे में ढालने के काम में, लगादी। मगर कष्ट भी लोगो को और खास तौर पर उच्च और मध्यमवर्ग के किसानो को बहुत ही हुआ और कई वार ऐसा मालूम होनें लगता था कि यह सारी विशाल योजना वैठ जायगी और शायद अपने साथ-साथ सोवियट सरकार को भी ले डूबेगी। ऐसी अवस्था में टिके रहना ग़ैर-मामूली हिम्मत का ही काम था। बडे-बडे बोलशेविकों ने विचार किया कि कृषि-सबधी कार्य-क्रम का भार और उससे होनेंवाला कष्ट असहनीय है और लोगो को आराम मिलना चाहिए। मगर स्टालिन का यह ख़याल नहीं था। वह जी कड़ा करके चुपचाप अड़ा रहा। वह बात करना नहीं जानता था। सार्वजनिक भाषण वह शायद ही कभी देता था। वह ऐसा दीखता था मानो भाग्य की अटल रेखायें लोहे की मूर्ति वनकर एक निश्चित लक्ष्य की ओर वढ़ रही हैं। उसके इस साहस और दृढ़ सकल्प की छूत उसके साम्यवादी दल के सदस्यो और दूसरे कार्यकर्त्ताओ को भी लगी।

पंचवर्षीय योजना के पक्ष में लोगो का जोश कायम रखने और उन्हे अपने प्रयत्न में लगा रखने के लिए लगातार प्रचार-कार्य किया गया। पानी से बिजली निकालने के वडे-वडे कारखानो, बाँधो, पुलो, पुतलीघरो और सामूहिक खेतो के वनाने में जनता ने खूब दिलचस्पी ली। इंजीनियरिंग सवसे लोकप्रिय धन्धा होगया और इंजीनियरिंग के वडे-वडे सफल कार्यों की वैज्ञानिक तफसील से अख़वार भरे रहने लगे। जंगल और मरुभूमियाँ आवाद होगई और एक-एक वडे कारख़ाने के आसपास वड़ा और नया शहर खड़ा होगया। नई सड़के, नई नहरे और नई रेलवे वन गई। रेले ज्यादातर विजली की थीं। हवाई जहाजो के जरिये आनें-जाने की प्रणाली का विकास होगया। रासायनिक पदार्थो, युद्ध-सामग्री और औजारों के उद्योग कायम होगये और सोवियट-संघ भारी एंजिन, मोटरे, रेल के डब्बे, हवाई जहाज़ और पनचक्कियाँ सव वनानें लग गया। विजली का दूर-दूर तक प्रचार होगया और रेडियो आम तौर पर काम में आने लगा। वेकारी का नाम-निशान भी नहीं रहा, क्योंकि निर्माण-कार्य और दूसरा काम इतना था कि उसमें जितने मजदूर मिल सकते थे वे सव लग गये। वहुत-से योग्य इंजीनियर विदेशो से आये। उनका स्वागत किया गया। याद रहे कि यह वात उन दिनो की है जव सारे पश्चिमी योरप और अमेरिका में मन्दी छाई हुई थी और वेकारो की तादाद वुरी तरह वढ गई थी।

मगर पंचवर्षीय योजना के काम में कोई दिक्कत न आई हो, सो वात नहीं थी। कई वार वड़ा झगड़ा खड़ा होजाता था, सहयोग की भी कमी होजाती और प्रतिक्रिया

और हानि भी होजाती थी। लेकिन इन सब बातो के होते हुए भी काम का जोश बढ़ता गया और हमेशा ज्यादा-से-ज्यादा काम की माँग बनी रही। फिर तो यह आवाज़ आने लगी कि पाँच वर्ष की योजना चार ही वर्ष में पूरी हो, मानो इस विलक्षण कार्यक्रम के पूरा करनें के लिए पाँच वर्ष का समय थोड़ा नहीं था। योजना जाब्ते से ३१ दिसम्बर १९३२ को यानी चार वर्ष के अखीर में पूरी हुई; और १९३३ की प्रथम जनवरी से यानी तुरन्त ही दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू होगई!

पंचवर्षीय योजना की चर्चा करते समय कुछ लोग तो इसे बड़ी भारी कामयाबी बताते हैं और कुछ कहते हैं यह नाकामयाब रही। कहाँ-कहाँ नाकामयाबी रही, यह बताना आसान है; क्योंकि कई बातो में लोगों की आशायें पूरी नहीं हुई। आज रूस में बहुत बातों में भयंकर विषमता है। मुख्य अभाव कुशल और तालीमयाफ्ता कार्यकर्त्ताओ का है। कारखानें अधिक और उन्हे चलानें के लिए योग्य इंजीनियर थोड़े हैं। भोजनालय और पाकशालायें ज्यादा और होशियार रसोइये कम हैं। यह बेहिसाब हालत अवश्य ही थोडे समय बाद नहीं रहेगी, या कम तो हो ही जायगी। एक बात साफ है कि पंचवर्षीय योजना ने रूस की बिलकुल कायापलट करदी है। सामन्तशाही से निकलकर वह एकदम उन्नत उद्योगवादी देश होगया है। संस्कृति की भी आश्चर्य जनक प्रगति हुई है। समाज की सेवा के साधन, स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय और आकस्मिक घटना का बीमा आदि की व्यवस्था संसार-भर से अधिक व्यापक और उन्नत ढग की है। मुसीबत और ग़रीबी होते हुए भी बेकारी और भूख का भयंकर भत जो दूसरे देशों के मजदूरों पर सवार है उसका रूस से काला मुँह होगया है। लोगो को आर्थिक निश्चिन्तता की नई अनुभूति होरही है।

पंचवर्षीय योजना की सफलता-असफलता की दलीलो में कोई सार नहीं है। उसका अमली उत्तर तो सोवियट-संघ की आज की हालत से मिल जाता है। दूसरा जवाब यह भी है कि इस योजना ने संसार-भर के दिमाग पर अपनी छाप बिठाई है। अब सभी तीन वर्ष, पॉच वर्ष और दस वर्ष की योजनाओ की बात करते हैं। यहाँतक कि आम तौर पर समय के एक पीढ़ी पीछे रहनेवाले भारतीय गवर्नरो को भी योजनाओं की बात करने का चस्का लग गया है। सोवियट ने इस शब्द में जादू भर दिया है।

: १८१ :

सोवियट संघ की कठिनाइयाँ, असफलतायें और सफलतायें

११ जुलाई, १९३३

सोवियट रूस ने पंचवर्षीय योजना बनाकर एक बड़ा भारी काम हाथ में लिया था। यह योजना अकेले ही कई क्रान्तियो के बराबर थी। इसमें खेती और उद्योग दोनो की क्रान्तियाँ शामिल थी। पुराने ढंग से छोटे पैमाने पर खेती करनेवाले किसानो में बडे पैमाने पर सामूहिक और यन्त्रो द्वारा खेती का तरीका चला देना और रूस जैसे उद्योगहीन देश को इस तेजी से उद्योगवादी बना देना क्रान्ति से क्या कम है? मगर योजना के बारे में सबसे दिलचस्प बात थी वह भावना जो उसके पीछे काम कर रही थी, क्योंकि यह भावना राजनीति और उद्योग दोनो के लिए नई है। यह भावना विज्ञान की भावना है। इसमें समाज-रचना के काम में सोच-समझकर वैज्ञानिक तरीके इस्तेमाल करने की कोशिश है। ऐसी वात किसी उन्नत-से-उन्नत देश में भी पहले नहीं हुई थी। इस तरह मानवीय और सामाजिक मामलो में विज्ञान के साधनो का उपयोग करना ही सोवियट योजना की वडी भारी खासियत है। यही वजह है कि सारी दुनिया इस वक्त योजना बनाने की चर्चा कर रही है, मगर जव पूंजीवाद जैसी सामाजिक व्यवस्था का आधार ही स्पर्धा यानी लाग-डाट और मालदारो के स्वार्थो की रक्षा है तो उसमें कोई भी सफल योजना वनाना कठिन है। इसलिए योजना वनाने और पूजीवादी देशो में सहयोग कायम करने की कोरी वातें ही होकर रह जाती है।

मगर मै तुम्हे कह चुका हूँ कि पंचवर्षीय योजना से कष्ट, कठिनाई और गड़वड़ वहुत हुई। लोगो को इसकी भयंकर कीमत चुकानी पडी। ज्यादातर लोगो ने यह क़ीमत ख़ुशी-ख़ुशी चुकाई और उज्ज्वल भविष्य की उम्मीद में कुरवानी की और कष्ट सह लिये। कुछ लोगो ने यह कीमत मन से नहीं, वल्कि सोवियट सरकार के दवाव से चुकाई। जिनको सवसे ज्यादा तकलीफ हुई उनमें कुलक या मालदार किसान भी थे। उनके पास दौलत ज्यादा थी और उनका खास असर था। इसलिए नई योजना से उनका मेल नहीं वैठा। वे समाज के पूंजीवादी अंग थे और इस कारण वे सामूहिक खेती का समाजवादी ढग पर विकास होने में वाधक थे। अक्सर वे इस समूहवाद का विरोध करते थे, कभी-कभी गिरोहो में घुसकर उन्हे भीतर से कमजोर करते थे या उनमे नाजायज फायदा उठाने की कोशिश करते थे। सोवियट सरकार ने उनपर हथौडे वरसाये। सरकार ने मध्यमवर्ग के वहुत-से आदमियो पर भी वडी सख्तियां कीं, क्योंकि उनपर दुश्मन की तरफ़ से जासूसी और गुप्त विरोध करने का शक था। इस सन्देह

के कारण, जो शायद कुछ मामलों में सच्चा था,बहुत-से इंजीनियरो को सजायें देकर जेल में भेज दिया गया। चूँकि बहुत-सी हाथ में ली हुई बडी-बडी योजनाओ में इंजीनियरो की ख़ास ज़रूरत थी, इसलिए इस कार्रवाई से पचवर्षीय योजना को भी धक्का पहुँचा।

विषमता तो क़रीब-क़रीब सभी जगह थी। ढुलाई की व्यवस्था ठीक न होने से अक्सर कारख़ानो और खेतो में पैदा हुए माल को वहीं पडे-पडे इन्तजार करना पड़ता था। इससे सब जगह काम में गड़बड़ होती थी। सबसे बडी मुश्किल यह थी कि योग्य विशेषज्ञों और इंजीनियरो की कमी थी।

इस पंचवर्षीय योजना के समय संसार में, या यूँ कहो कि पूंजीवादी संसार में, ऐसी मन्दी छाई हुई थी जैसी पहले कभी नहीं हुई। व्यापार बैठता जा रहा था, कारख़ाने बन्द हो रहे थे और बेकारी बढ़ रही थी। अनाज और कच्चे माल की कीमत बुरी तरह घट जाने से दुनियाभर के किसानो में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। यह अजीब बात मालूम होती थी कि जब और सब जगह यह बेकारी और बेरोजगारी फैली हुई थी उस वक़्त सोवियट संघ में दिन-रात काम-धन्धे की धूम मची हुई थी। ऐसा मालूम होता था कि दुनिया की मन्दी का उसपर कोई असर ही नही है। उसकी अर्थ-व्यवस्था ही बिलकुल जुदा थी। मगर मन्दी के असर से सोवियट भी बच नहीं सका। यह असर चुपके-चुपके और अप्रत्यक्ष रूप से हुआ। इससे सोवियट की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गई। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि सोवियट बाहर से मशीने मोल ले रहा था और उनकी कीमत उसे खेती की पैदावार विदेशो को बेचकर चुकानी पड़ती थी। चूँकि खाद्य पदार्थो का भाव संसार के बाजारो में गिर गया था, इसलिए सोवियट को भी अपने निर्यात माल की कीमत थोडी मिलती थी। मगर ख़रीदी हुई मशीनरी के दाम चुकाने को तो उसे पूरा सोना ही देना पड़ता था। इसलिए अधिकाधिक अन्न बाहर भेजना पड़ता था। इस तरह दुनिया की व्यापारिक मन्दी और भावो की कमी से सोवियट को भी नुक्सान हुआ और उसने जो हिसाब लगा रक्खा था उसमें बहुत-सी गड़बड हुई। इससे देश में कई ज़रूरत की चीज़ो की और भी कमी होगई और उतनी ही तकलीफ बढ़ी।

एक तरफ अन्न की कमी दिन-दिन ज्यादा होरही थी और दूसरी ओर सघ-भर में आबादी बेहिसाब बढ़ रही थी। खेती की पैदावार की मन्द प्रगति के मुकाबिले में आबादी का इस तेजी से और बेहिसाब बढ़ना ही सोवियट की प्रधान समस्या थी। क्रान्ति से पहले सोवियट संघ के मौजूदा इलाको की आबादी १३ करोड़ थी। उसके बाद गृहयुद्ध में भीषण जन-हानि हुई। फिर भी इसके बाद के सालो में आबादी में जो बढ़ती हुई वह देखने की बात है :—

१९१७ में आबादी थी	१३ करोड़
१९२६ ,, ,, ,,	१४ करोड़ ९० लाख
१९२९ ,, ,, ,,	१५ करोड़ ४० ,,
१९३० ,, ,, ,,	१५ करोड़ ८० ,,
१९३३ ,, (वसन्त ऋतु का अनुमान)	१६ करोड ५० ,,

इस तरह १५ वर्ष से जरा ज्यादा समय में ३॥ करोड़ आदमी वढ गये। २६ फी सदी वृद्धि एक ग़ैरमामूली बात है।

वैसे सारे सोवियट संघ की ही आवादी बढ़ी, मगर शहरो में विशेष वृद्धि हुई। पुराने नगर और भी बडे बन गये और मरुभूमि में नये-नये कारख़ानो के नगर खडे होगये। पंचवर्षीय योजना में बडे-बडे उद्योग-धन्धो का निर्माण हुआ। उनमें काम बहुत था। इससे आकर्षित होकर बेशुमार किसान अपने गाँव छोड़-छोड़कर शहरो में जापहुँचे। रूस-भर में १९१७ में एक लाख या उससे अधिक आबादी के २४ शहर थे। १९२६ में इनकी संख्या ३१ और १९३३ में ५० से ऊपर होगई। पद्रह साल के भीतर सोवियट ने १०० से ऊपर उद्योग-नगर वना दिये। १९१३ से १९३२ के बीच में मास्को की आवादी १६ लाख से ३२ लाख यानी दुगुनी होगई। लेनिनग्रेड में भी दस लाख आदमी वढ़ गये और वहाँ तीस लाख की सख्या पूरी होगई। काफ़ के पार वाकू नगर की आबादी भी ३,२४,००० से वढकर ६,६०,००० यानी दुगुनी होगई। १९१३ से १९३२ तक शहरो की आवादी २ करोड़ से ३॥ करोड़ होगई।

जब किसान शहर में जाकर मजदूर बन जाता है तो वह अपने गाँव में था, उस वक्त की तरह अन्न पैदा करनेवाला नही रहता। कारख़ाने में काम करके वह पक्का माल या औज़ार वना सकता है, मगर जहाँतक खाद्य पदार्थों का ताल्लुक है वह खर्च करनेवाला ही होजाता है। इस तरह गाँवो से उठ-उठकर वहुत-से किसानो के शहरो में चले जाने का मतलब यह हुआ कि जो अन्न पैदा करते थे वे ही उसे ख़र्च करनेवाले बन गये। भोजन के मसले को इस वात ने और भी पेचीदा बना दिया।

एक वात और भी थी। देश के वढ़ते हुए उद्योग के लिए कारख़ानो को अधिकाधिक कच्चे माल की जरूरत हुई। इस तरह कपडे के कारखानो में रुई की जरूरत हुई। इसलिए अनेक प्रदेशो में अनाज के बजाय रुई और दूसरा कच्चा माल वोया गया। इससे भी अन्न की कमी वढी।

सोवियट सघ की आवादी का इतना ज्यादा बढना ख़ुद ही ख़ुशहाली का बढ़िया सबूत था। अमेरिका की तरह इनका कारण लोगों का बाहर से आकर बसना नहीं था। इससे ज़ाहिर होता था कि लोगो को कष्ट और असुविधा होते हुए भी भूखों

नहीं मरना पड़ा। नाप-तौलकर खाद्य पदार्थों के बाँटने की कडी व्यवस्था से सारी आबादी के पास बिलकुल जरूरी भोजन-सामग्री पहुँच जाती थी। आँखो देखनेवालो का अधिकारपूर्वक कहना है कि आबादी के इस तेजी से बढ़ने का कारण ज्यादातर यह था कि लोगों को आर्थिक निश्चिन्तता अनुभव होने लगी थी। वहाँ अब बच्चे कुटुम्ब के लिए भार-रूप नही है, क्योंकि राज्य उनकी सम्हाल रखने, उन्हे खिलाने-पिलाने और शिक्षा देने के लिए तैयार है। दूसरा कारण यह है कि सफाई और इलाज की सहूलियतों के बढ़ जाने से बच्चो की मृत्यु-संख्या २७ से घटकर १२ फ़ी सदी रह गई है। मास्को में १९१३ में साधारणतः एक हजार पर २३ मौतें हुआ करती थीं; पर १९३१ में १३ प्रति हजार ही रह गईं।

खाद्य पदार्थों की कमी से होनेवाली अनेक कठिनाइयो में एक और बढ़ गई। १९३१ में संघ के कुछ भागो में अकाल पड़ गया। १९३१ और १९३२ में सुदूर पूर्व में युद्ध की गरम खबरे भी उड़ती रहीं। कहीं दूसरी पूँजीवादी शक्तियो से मिलकर जापान रूस पर हमला न करदे, इस डर से सोवियट ने आडे वक़्त पर फौज के काम आने के लिए अनाज और दूसरे खाद्य पदार्थ इकट्ठे करना शुरू कर दिया। सोवियट के खिलाफ जंग छिड़ने का खतरा सच्चा ही है और वह बना रहता है, मगर बोलशेविकों पर तो यह दिन-रात भूत की तरह सवार रहता है और इसी लिए बार-बार ऐसी खबरे उड़ती रहती है। एक पुरानी रूसी कहावत है कि 'डर से आँखें बडी हो जाती है।' यह कहावत बच्चो पर लागू करो या जातियो और राष्ट्रो पर, कितनी सच्ची है! चूंकि साम्यवाद और पूंजीवाद में सच्चा मेल नहीं होसकता, और साम्राज्यवादी राष्ट्र साम्यवाद को कुचलने पर तुले हुए हैं और उसके लिए पैंतरे बदलते और षड़यन्त्र रचते रहते है, इसलिए बोलशेविको के कान सदा खडे रहते हैं और ज़रा-सी उत्तेजना मिलते ही वे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगते हैं। अक्सर उन्हे चिन्ता का काफी कारण भी मिल जाता है और उन्हें घर के भीतर भी कारखानो और बडे व्यवसायो के नष्ट करने के व्यापक प्रयत्नो का सामना करना पड़ा है।

१९३२ सोवियट संघ के लिए बहुत ही नाजुक साल रहा और अब भी, १९३३ के जुलाई में, यह लिखते समय तक संकट-काल समाप्त नहीं हुआ है। बहुत-से सामूहिक खेतो पर सार्वजनिक सम्पत्ति की चोरियाँ बहुत हुईं। इन चोरियो और गुप्त विरोध के ख़िलाफ सरकार ने बहुत सख़्त कार्रवाई की। मामूली तौर पर रूस में मृत्युदण्ड नहीं है, मगर प्रति-क्रान्ति के मामलों में यह सजा जारी करदी गई है। सोवियट सरकार ने आज्ञा दी है कि सार्वजनिक सम्पत्ति का चुराना प्रति-क्रान्ति के बराबर है, इसलिए इसकी सजा मौत है। इस बारे में स्टालिन ने कहा है: "अगर पूंजीवादियो

ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को पवित्र और रक्षणीय बताकर अपने समय में पूंजीवादी व्यवस्था को दृढ करने का उद्देश्य पूरा किया है तो हम साम्यवादियो को तो सार्वजनिक सम्पत्ति को पवित्र और रक्षणीय घोषित करके नई समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत करने की और भी ज्यादा कोशिश करनी चाहिए।"

लोगो को आराम पहुंचाने के लिए सोवियट सरकार ने और भी उपाय किये। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण कार्य था सामूहिक और व्यक्तिगत खेतो की फ़ालतू पैदावार को शहरो के बाजार में बेचने की इजाजत देना। इससे कुछ-कुछ उस नई अर्थ-नीति की याद आती है जो सैनिक साम्यवाद के समय के बाद १९२१ में जारी हुई थी। मगर आज के सोवियट सघ में और उस समय के सघ में ज़मीन-आसमान का फर्क है। वह अब समाजवाद के मार्ग पर बहुत-सी मजिले तय कर चुका है, वह उद्योगवादी बन गया है और उसकी खेती बहुत कुछ सामूहिक होगई है।

पिछले चार साल में २,००,००० सामूहिक खेत संगठित किये गये हैं और ५,००० सरकारी खेत भी हैं। ये खेत औरो के लिए नमूने का काम देते हैं। ये बहुत बडे हैं। इनमें सबसे बड़ा ५० लाख एकड़ का है। इस काल में १,२०,००० जोतनेवाले एंजिन और लगाये गये हैं। लगभग दो-तिहाई किसान अब इन सामूहिक कृषि-संघो के सदस्य होगये हैं।

दूसरी प्रवृत्ति जिसकी आश्चर्य-जनक प्रगति हुई है, सहयोग-समितियो के संगठन की है। १९२८ में खरीदारो की सहयोग-समिति के दो करोड़ साढे छ. लाख मेम्बर थे। १९३२ में यह तादाद सात करोड़ पचास लाख होगई। इस सस्था के थोक और फुटकर बिक्री भंडारो का सिलसला संघ के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला हुआ है, कोई जगह उनसे खाली नही है।

रूस के बेशुमार नये उद्योगो और कारखानो की फेहरिस्त से इस खत को भरने की जरूरत नहीं है। वह सूची लम्बी और प्रभावशाली होगी। मगर इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि पिछले छ वर्ष में बीस लाख मजदूर-कुटुम्बो को नये मकान रहने के लिए मिले हैं। यह तो मैं तुम्हे दूसरी जगह बता ही चुका हूँ कि मजदूरो की तन्दुरुस्ती और जिन्दगी की रक्षा के लिए सामाजिक बीमे की बडी व्यापक व्यवस्था की गई है।

१९३३ की पहली जनवरी को दूसरी पचवर्षीय योजना शुरू होगई। यह भी है तो लम्बी-चौडी, परन्तु यह पहली से आसान है। इसकी मनशा छोटे उद्योगो की तरक्की करना है और इसका नतीजा यह होगा कि लोगो का रहन-सहन का तरीका जल्दी ऊँचा होजायगा। यह उम्मीद की जाती है कि पिछले चार वर्ष के कष्ट और

दो-तिहाई बच्चों को पाठशालाओ में ही गरम-गरम दुपहरी कराई जाती है, यानी दोपहर का नाश्ता कराया जाता है। इसका पैसा नहीं लिया जाता। वहाँ तो शिक्षा भी मुफ्त दी जाती है। मुफ्त दी भी क्यो न जाय? वहाँ मजदूरो का राज जो ठहरा।

साक्षरता की वृद्धि और तालीम की तरक्की के कारण वहाँ पढ़नेवाले लोगो की तादाद बहुत बढ़ गई है और शायद रूस में और किसी भी देश से ज्यादा किताबें और अखबार छपते हैं। अधिकांश पुस्तके गम्भीर और 'भारी' है, और देशों की तरह हलके उपन्यास नहीं है। रूसी श्रमजीवी को इंजीनियरिंग और बिजली से इतनी दिलचस्पी है कि वह उनके विषय की पुस्तके पढ़ना जितना पसन्द करता है उतना कहानियो की किताबें पढ़ना नहीं करता। मगर बच्चों के लिए बहुत मजेदार पुस्तके हैं, परियों की कहानियाँ तक है, हालांकि मै समझता हूँ पुराने ख़याल के बोलशेविको को परियो की कहानियाँ पसन्द नहीं है।

विज्ञान में या विज्ञान के शुद्ध स्वरूप और उसके बहुत-से प्रयोगों में रूस पहले ही प्रथम श्रेणी में आ चुका है। विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं की बहुत-सी विशाल संस्थायें और प्रयोगालय बन गये है। लेनिनग्रेड में वनस्पति-उद्योग की इतनी बडी संस्था है कि उसमें अकेले गेहूं के २८,००० अलग-अलग नमूने हैं! यह संस्था हवाई जहाज से चावल बोने के तरीकों का प्रयोग कर रही है।

ज़ारो और उनके उमरावों के पुराने महलो में अब लोगो के लिए अजायबघर, आरामगाहे तथा स्वास्थ्य-भवन बन गये है। लेनिन ग्रेड के पास ही एक छोटा-सा कस्बा है। पहले इसे 'ज़ारको सेलो' यानी 'ज़ार का गाँव' कहते थे। वहाँ सम्राट् के दो महल थे और गरमी में ज़ार वहीं रहता था। अब उसका नाम बदल कर 'डेत्स्को सेलो' यानी 'बच्चो का गाँव' रख दिया गया है। मेरा ख़याल है कि पुराने महल अब बच्चो और नवयुवको के ही काम के रह गये है। आज के सोवियट रूस में बच्चो और नवयुवको पर ख़ास महरबानी है। दूसरो को भले ही अभाव का कष्ट हो, पर इन लाड़लो को तो हर चीज बढ़िया-से-बढ़िया मिलनी चाहिए। उन्हींके लिए तो मौजूदा पीढ़ी मेहनत कर रही है, 'क्योकि वे ही आगे चलकर समाजवादी और वैज्ञानिक राज्य के मालिक बनेगे, बशर्तेकि यह उनके जीवन-काल में स्थापित होजाय।' मास्को में 'माता और बच्चे की रक्षा की केन्द्रीय संस्था' है।

रूस में स्त्रियो को शायद और सब देशों से ज्यादा आजादी है। फिर भी उन्हे राज्य की तरफ से ख़ास संरक्षण मिला हुआ है। वे सब धन्धो में प्रवेश कर सकती है और उनमें इंजीनियरो की ख़ासी बडी तादाद है। किसी भी सरकार ने अगर पहले-पहल एक स्त्री को राजदूत बनाया हो तो वह रूस ने बुढ़िया बोलशेविक श्रीमती

कोलनताई को बनाया। मेरा ख़याल है कि लेनिन की विधवा श्रीमती क्रुप्सकाया सोवियट के शिक्षा-विभाग की एक शाखा की अध्यक्ष है।

सोवियट संघ दिन-दिन और घडी-घडी होनेवाले इन परिवर्तनों के कारण एक मज़ेदार देश होगया है। लेकिन उसका भी कोई भाग इतना रोचक और मनोहर नहीं है जितना साइबेरिया का मरुस्थल और मध्यएशिया की प्राचीन घाटियाँ है। ये दोनो ही मानवीय परिवर्तन और उन्नति के प्रभाव से पीढ़ियो तक अछूते रहे है, लेकिन आज वडी तेज़ी से छलांगें भरकर आगे बढ़ रहे है। इन तेज़ी से तब्दीलियो की तुम्हे थोडी-सी कल्पना कराने के लिए मैं ताजिकिस्तान का कुछ हाल बताता हूँ। शायद यह सोवियट संघ के सबसे पिछडे हुए प्रदेशो में से था।

ताजिकिस्तान पामीर पर्वत-श्रेणी की घाटियो में, आक्सस यानी अक्षु नदी के उत्तर में, अफ़ग़ानिस्तान और चीनी तुर्किस्तान से लगा हुआ है। भारतीय सीमाप्रान्त से भी दूर नही है। यह बुख़ारा के अमीरो के कब्ज़े में था और ये अमीर रूसी ज़ार के उमराव थे। १९२० में बुख़ारा की स्थानीय क्रान्ति हुई और अमीर को हटाकर प्रजा ने बुख़ारा सोवियट प्रजातन्त्र कायम कर लिया। इसके वाद ख़ानाजंगी शुरू हुई और उसी उत्पात में अनवरपाशा की मृत्यु हुई। यह किसी ज़माने में तुर्की का सार्वजनिक नेता था। बुख़ारा प्रजातंत्र का नाम उज़बक समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र पड़ा और वह रूसी सोवियट संघ एक अंगभूत सर्वसत्ताधारी प्रजातंत्र हुआ। १९२५ में उज़बक प्रदेश के भीतर एक स्वशासन-भोगी ताजिक प्रजातंत्र वना। १९२९ में ताजिकिस्तान भी एक सर्वसत्ताधारी प्रजातंत्र वन गया और सोवियट संघ के सात अंगभूत सदस्यो में से एक होगया।

ताजिकिस्तान को इतना गौरव तो मिल गया, मगर वह दस लाख से भी कम आवादी का छोटा-सा पिछड़ा हुआ इलाका था। वहाँ रास्ते भी अच्छे नहीं थे, सिर्फ़ ऊँटो के रास्ते थे। नया दौर शुरू होते ही सड़कें, आवपाशी, खेती, उद्योग, शिक्षा और स्वास्थ्य के साधन सुधारने के उपाय किये गये। मोटरो के रास्ते बनाये गये, खेती वोई जाने लगी और सिंचाई के कारण उसमें ख़ूब सफलता मिली। १९३१ के मध्य तक रुई की खेती के ६० फ़ी सदी भाग में सामूहिक प्रणाली जारी होगई और अन्न-प्रदेश के वडे भाग का संगठन भी सामूहिक खेती के तरीक़े पर होगया। बिजलीघर वन गया और आठ रुई के और तीन तेल के पुतलीघर खडे होगये। एक रेलवे वन गई और उज़बकिस्तान में होकर सोवियट सघ की वडी रेलवे से मिला दी गई। हवाई जहाज़ भी चलने लगे और उनको ख़ास-ख़ास हवाई रास्तो से जोड दिया गया।

१९२९ में सारे देश में सिर्फ़ एक दवाख़ाना था। १९३२ में ६१ अस्पताल और

३७ दाँत के दवाखाने होगये जिनमें २१२५ बीमारों के रहने का इंतजाम था और २० डॉक्टर थे। शिक्षा की प्रगति का पता निम्नलिखित अंकों से लग सकता है.—

१९२५ में	सिर्फ़ ६ आधुनिक पाठशालायें
१९२६ के अन्त में	११३ पाठशालायें और २,३०० छात्र
१९२९ में	५०० पाठशालायें
१९३१ में	२०० से अधिक शिक्षण-संस्थायें और १,२०,००० छात्र।

अवश्य ही शिक्षा पर ख़र्च भी एकदम बढ़ गया है। १९२९–३० का शिक्षा का बजट ८० लाख रूबल था। (बट्टा न लगे तो, यानी बराबर का भाव हो तो, एक रूबल लगभग २ शिलिंग या १।-)॥ के बराबर होता है।) १९३०–३१ का बजट २ करोड़ ८० लाख रूबल था। साधारण पाठशालाओं के सिवा शिशुशालायें, ट्रेनिंग स्कूल, पुस्तकालय और वाचनालय खुल रहे थे और १९३२ में नारा यह था कि 'अगले दो वर्ष में निरक्षरता मिट जानी चाहिए'। लोगों में इल्म यानी विद्या की ज़बरदस्त प्यास पैदा हो गई थी।

इन हालात में स्त्रियों का परदे में रहना तो मुमकिन ही नहीं था और वह तेज़ी से हट रहा था।

इन सब बातों में मुश्किल से ही विश्वास हो सकता है। क्या बिजली की इस तेज़ चाल से तरक़्क़ी हो सकती है ? यह भी याद रहे कि इस देश की आबादी दस लाख से थोड़ी-सी ही ज़्यादा है, यानी इलाहाबाद ज़िले से भी बहुत कम है। मैंने यह जानकारी और अंक एक योग्य अमेरिकन यात्री की रिपोर्ट से लिये हैं। वह १९३२ के शुरू में ताजिकिस्तान देखने गया था। शायद उनके बाद तो वहाँ और भी परिवर्तन हुए हैं।

मालूम होता है कि सोवियट संघ ने नवजात ताजिक प्रजातन्त्र को शिक्षा और दूसरे कामों के लिए रुपये की मदद इसीलिए दी कि पिछड़े हुए भागों को उन्नत करना संघ की नीति है। लेकिन इस प्रदेश में खनिज सम्पत्ति भी बहुत मालूम होती है। सोना, तेल और कोयला मिले हैं और ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि सोना बहुत ज़्यादा है। पुराने ज़माने में चंगेज़ख़ाँ के समय तक ये सोने की खानें चलती थीं, मगर तबसे उनका काम बन्द मालूम होता है।

१९३१ में ताजिकिस्तान में प्रतिक्रान्तिवादियों का विद्रोह हुआ और बहुत-से भूस्वामी और अमीरवर्ग के लोग, जो देश छोड़कर अफ़ग़ानिस्तान भाग गये थे, हमला करने आये। मगर यह विद्रोह सफल नहीं हुआ, क्योंकि किसानों ने साथ नहीं दिया।

यह ख़त लम्बा हो रहा है और खिचड़ी-सा बनता जा रहा है। लेकिन सोवियट

संघ के बारे में मेरा यह आखिरी खत है इसलिए इसे थोडा बढाकर मैं तुम्हें अब सोवियट की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बता देता हूँ। तुम्हे याद हो तो तुम पहले ही जान चुकी हो कि केलॉग-सधिपत्र पर सोवियट ने भी दस्तखत किये थे। यह सधि युद्ध को बन्द करने के लिए हुई थी। १९२९ में लिटविनोफ़ का समझौता भी हुआ था। असल में रूस किसी भी तरह शान्ति की रक्षा और युद्ध को टालने के लिए बुरी तरह उत्सुक था और इन वातो को पक्की करने के लिए वह हर मौके का स्वागत करता था। इन सधियो और समझौतो को काफी न समझकर उसने अपने पडोसियो के साथ परस्पर हमला न करनें के शर्तनामे भी कर लिये। १९३२ के नवम्बर में उसने इसी तरह की एक सन्धि फ्रांस के साथ की। योरप की राजनीति में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। मेरे ख़याल से रूस के पडोसियो में अकेले जापान ने ही परस्पर हमला न करने का समझौता करने से इन्कार किया। चीन ने बहुत दिन तक शान्त विरोध करने और राजनैतिक सम्बन्ध न जोड़ने के बाद सोवियट सरकार की सत्ता को दुवारा स्वीकार किया। यह उस वक़्त की बात है जब चीन पर मंचूरिया में जापान का दबाव बहुत बढ गया था।

जापान के साथ सोवियट के ताल्लुकात अच्छे नहीं है। जापान की सरकार सोवियट को सुदूरपूर्व में हमेशा छेड़ती और तंग करती रहती है। पिछले साल-दो साल में सुदूरपूर्व में युद्ध होने की बातें भी बार-बार उठती रही है, मगर रूस ने लड़ाई करने से अपमान सह लेना ज्यादा पसन्द किया है। इंग्लैण्ड और रूस का संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्थायी चीज़ बन गई और कभी-कभी वह चमक उठती है। कुछ महीने पहले मास्को में ब्रिटिश इंजीनियरो पर मुकदमा चला था। उस पर बड़ा वावेला मचा और नतीजा यह हुआ कि दोनो देशो ने एक-दूसरे से वदला लेने की कार्रवाइयाँ कीं। मगर वह तूफान अब जाता रहा है, इंजीनियर छोड़ दिये गये है और साधारण सम्बन्ध कायम होगये है। अमेरिका ने अभी तक रूस को स्वीकार नहीं किया है, हालांकि दोनो देशो में व्यापार ख़ूब होता है। अव अमेरिका स्वीकार कर लेगा, ऐसी बात चल रही है, और यह भी कहा जाता है कि चूंकि इग्लैंड और जापान रूस के प्रतिस्पर्धी और भावी शत्रु है, इसलिए वे अमेरिका को सोवियट सरकार को स्वीकार करने से रोक रहे है। इधर सोवियट का वड़ा आग्रह है कि अमेरिका उसे स्वीकार करले।

जर्मनी में नाजी सरकार के रूप में रूस का एक नया और आगे वढकर चोट करनेवाला दुश्मन पैदा होगया है। अभी रूस का सीधा नुक्सान करने का तो इसमें सामर्थ्य नहीं है, मगर आयन्दा के लिए उसका खतरा वहुत है और वह अभी से साज़िश करने लगा है। वह दिन-दिन फैसिस्ट होता जा रहा है।

विदेशो के साथ सोवियट रूस एक सन्तुष्ट राष्ट्र का-सा व्यवहार करता रहा है। झगडे से बचने और किसी भी कीमत पर शान्ति कायम रखनें की कोशिश करना उसका ध्रुव है। यह रवैया क्रान्तिकारी नीति से बिलकुल उलटा है। क्रान्तिकारी नीति का उद्देश्य तो दूसरे देशो में क्रान्ति को उत्तेजन देना होता है। इसलिए रूस की मौजूदा नीति अन्तर्राष्ट्रीय नहीं, राष्ट्रीय नीति है। इससे हम ट्रॉटस्की की 'स्थायी क्रान्ति' की और स्टालिन की एक देश में समाजवाद फैलाने की नीति का भेद समझ सकते है। यह समझ में आ सकता है कि अपनी वडी-वडी भीतरी योजनाओ में वुरी तरह व्यस्त रहने के कारण रूस को वाहर झगडे मोल लेने का अवकाश नहीं है। मगर इसका यह नतीजा लाज़िमी है कि वह पूंजीवादी राष्ट्रों के सामने एक छोटी-सी सयानी लड़की का-सा व्यवहार करने की कोशिश करे और अपने मानें हुए शत्रु साम्राज्यवादी और फैसिस्ट राष्ट्रो से समझौते करे। इसका अर्थ हुआ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ की मूल नीति का त्याग। इससे यह भी परिणाम हुआ है कि रूस के वाहर अलग-अलग देशो में साम्यवादी दल कमज़ोर होगये है और उनका कोई असर नही है। सोवियट संघ की नीति यह है कि वाहर समाजवाद और साम्यवाद का कुछ भी हो, अपनी रक्षा किसी भी तरह करनी चाहिए।

जिस वक्त मै यह लिख रहा हूँ उस वक्त लन्दन में ससार-भर की आर्थिक परिषद् हो रही है। यह परिषद् तो असफल हो रही है, मगर रूस ने इस अवसर का लाभ उठाकर संसार के सारे देशो से आये हुए प्रतिनिधियो में से अपने पडोसियो के साथ परस्पर हमला न करने का दूसरा समझौता कर लिया है। रूस, अफगानिस्तान, एस्टोनिया, लटविया, ईरान, पोलैण्ड, रूमानिया, तुर्की और लियुएनिया ने १९३३ के शुरु जुलाई में इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। जापान पहले की तरह अब भी अलग ही है।

: १८२ :

विज्ञान की प्रगति

१३ जुलाई, १९३३

महासमर के वाद के वर्षों में दुनिया-भर में जो राजनैतिक घटनायें हुई है उनके बारे में मैंने तुम्हे विस्तारपूर्वक लिखा है। थोड़ा-सा हाल आर्थिक परिवर्तनो का भी बताया है। इस चिट्ठी में दूसरे विषयो और खास तौर पर विज्ञान और उसके नतीजो के बारे में लिखना चाहता हूँ।

विज्ञान की बात शुरू करने से पहले मैं तुम्हे फिर याद दिला दूं कि महायुद्ध के समय से स्त्रियो की हालत में बहुत बडी तब्दीली होगई है। जिसे कानून, समाज और रिवाज के बंधनो से स्त्रियो की मुक्ति कहा जाता है उसकी शुरुआत उन्नीसवी सदी में हुई थी, जब बडे-बडे उद्योग कायम हुए और उनमें स्त्री मजदूरो को नोकर रक्खा गया। पहले तो तरक्की की रफ्तार सुस्त थी। फिर लड़ाई के कारण उसकी गति बहुत तेज होगई ओर युद्ध के बाद तो वह करीब-करीब पूरी होगई। आज तो ताजिकिस्तान में भी, जिसका हाल पिछले ख़त मे लिख चुका हूँ, स्त्रियाँ डॉक्टर, शिक्षक और इजीनियर है। ये ही कुछ वर्ष पहले परदे में रहती थी। तुम और तुम्हारी पीढ़ी तो परदे से बाहर रहने को स्वाभाविक समझ लोगी। पर यह बात न सिर्फ एशिया में बल्कि योरप में भी बिलकुल नई है। सौ वर्ष भी नही हुए कि १८४० में लन्दन में संसार का पहला दासत्व-विरोधी सम्मेलन हुआ था। उसमें स्त्री-प्रतिनिधि अमेरिका से आई थी जहा हब्शी गुलामो के होने से बहुत लोगो में आन्दोलन मचा हुआ था। लेकिन सम्मेलन ने इन स्त्री-प्रतिनिधियो को इस बिना पर शामिल करने से इन्कार कर दिया कि किसी स्त्री के लिए सार्वजनिक सभा में भाग लेना अनुचित और बेहयाई की बात है!

तो अब विज्ञान की बात करे। सोवियट रूस की पंचवर्षीय योजना का बयान करते वक़्त मैंने तुम्हे बताया था कि यह योजना सामाजिक मामलो में विज्ञान की भावना का प्रयोग थी। कुछ ही हद तक सही, पिछले डेढ़-दो सौ वर्ष से पश्चिमी सभ्यता के पीछे यही भावना रही है। जैसे-जैसे इसका असर बढ़ता गया, वैसे-वैसे तर्क-विरुद्ध और जादू-टोना तथा अंध-विश्वास के विचार पीछे हटते गये है और विज्ञान के विपरीत साधनो और क्रियाओ का विरोध हुआ है। इसका यह मतलब नही कि जन्तर-मन्तर, वहम और ख़ामख़याली पर विज्ञान की भावना की पूरी विजय होगई है। अभी यह बात बहुत दूर है। मगर तरक्की जरूर बहुत हुई है और उन्नीसवी सदी में इस भावना की कई बातो में बडी भारी जीत हुई है।

मैं तुम्हे पहले बता चुका हूँ कि उद्योग और जीवन में विज्ञान के प्रयोग से उन्नीसवीं सदी में कितने बडे परिवर्तन हुए है। ससार और खास तौर पर पश्चिमी योरप और उत्तरी अमेरिका इतने बदल गये है कि पहचाने नहीं जा सकते। वे इतने बदल गये जितने पहले हजारो वर्ष में नही बदले थे। उन्नीसवी सदी में योरप की आबादी का इतना ज्यादा बढ जाना कम ताज्जुब की बात नहीं है। १८०० में सारे योरप की आबादी १८ करोड़ थी। वह कई युगो में धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते इतनी हुई थी। फिर उसमें एकदम वृद्धि हुई और १९१४ में वह ४६ करोड होगई है। इस बीच में लाखो आदमी योरप से दूसरे देशो में और खासकर अमेरिका में भी जा बसे

थे। हम इनकी तादाद चार करोड़ समझ सकते हैं। इस तरह सौ से कुछ ज्यादा वर्ष में ही योरप की आबादी १८ से ५० करोड़ होगई। यह वृद्धि योरप के उद्योग-प्रधान देशो में अधिक मार्के की हुई। अठारहवीं सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड की आबादी सिर्फ ५० लाख थी और वह पश्चिमी योरप में सबसे गरीब देश था। वह दुनिया का सबसे मालदार मुल्क होगया और उसकी आबादी चार करोड़ होगई।

इस बढ़ती और दौलत का कारण यह था कि वैज्ञानिक जानकारी के कारण प्रकृति की क्रियाओ पर अधिक नियंत्रण होगया था, या यों कहो कि उन्हे ज्यादा अच्छी तरह समझ लिया गया था। इससे ज्ञान बहुत बढ़ गया, मगर यह न समझ लेना कि अक्ल भी बहुत बढ़ गई। मनुष्य कुदरत की ताकत को काबू में रखने और उससे काम तो लेने लग गये, मगर उन्हे यह ख़याल साफ-साफ़ नहीं था कि जीवन का ध्येय यानी जिन्दगी का मकसद क्या है या क्या होना चाहिए ? ताकतवर मोटर-गाडी काम की और वाञ्छनीय चीज है, लेकिन यह तो मालूम होना चाहिए कि उसमें बैठकर जाना कहाँ है। अगर उसे ठीक तरह नहीं चलाया जाय तो वह चट्टान पर से उछलकर खड्ड में जा पडेगी। ब्रिटिश विज्ञान-संघ के अध्यक्ष ने पिछले साल कहा था· "मनुष्य नें अपने ऊपर काबू करना तो सीखा ही नहीं, और कुदरत पर उसका काबू पहले ही हो गया।"

हममें से ज्यादातर लोग विज्ञान से पैदा हुई या बनी हुई चीजें काम में लाते हैं। जैसे रेल, हवाई जहाज, बिजली, बेतार का तार और हजारो और चीजें। मगर हम यह विचार नहीं करते कि ये बनीं कैसे ? हम अपना हक समझकर उन्हे योंही स्वीकार कर लेते हैं। हमें इस बात का बड़ा गर्व है कि हम उन्नत युग में रहते हैं और खुद भी बड़े 'आगे बढ़े हुए' हैं। इसमें तो कोई शक नहीं कि हमारा जमाना पहले के जमानो से बहुत जुदा है और, मेरे खयाल से, यह कहना भी बिलकुल सही है कि यह पहले से कहीं अधिक उन्नत है। मगर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम व्यक्ति या समूह की हैसियत से भी पहले से अधिक उन्नत हैं। यह कहना परले दर्जे की बेवकूफी होगी कि चूंकि एंजिन हांकनेवाला एंजिन को चला सकता है, इसलिए एंजिन हांकनेवाला अफलातून या सुकरात से अधिक उन्नत या ऊँचे दर्जे का मनुष्य है। लेकिन यह कहना बिलकुल ठीक होगा कि अफलातून के रथ से एंजिन आवागमन का बढ़िया साधन है।

आजकल हम बहुत-सी किताबें पढ़ते हैं। मुझे भय है कि इनमें से ज्यादातर वाहियात किताबें हैं। पुराने जमाने में लोग थोडी-सी किताबें पढ़ते थे, लेकिन वे अच्छी होती थीं और उन्हे उनका अच्छा ज्ञान होता था। योरप के दार्शनिकों में स्पिनोजा बहुत बड़ा आदमी था। वह विद्या और बुद्धि का भण्डार था। वह सत्रहवीं सदी

में एम्स्टर्डम में रहता था। कहा जाता है कि उसके पुस्तकालय में साठ से कम ही ग्रन्थ थे।

इसलिए हमारा भला यह समझने में ही है कि ससार में ज्ञान-वृद्धि होजाने से यह जरूरी नही है कि हम पहले से अच्छे या समझदार होगये। ज्ञान से पूरा लाभ उठा सकने के लिए हमें ज्ञान का ठीक-ठीक उपयोग करना आना चाहिए। अपनी तेज गाडी पर चढकर सरपट दौडने से पहले हमें यह मालूम होना चाहिए कि किधर जाना है। यानी हमें कुछ कल्पना तो होनी चाहिए कि जीवन का ध्येय क्या है? वेशुमार लोगो को आज कोई ऐसी कल्पना नही है और वे इसकी कभी चिन्ता भी नहीं करते। वे रहते विज्ञान के युग में हैं और उनके विचार और कार्य वहुत पुराने जमाने के हैं। इसलिए कठिनाइयो और सघर्ष का पैदा होना स्वाभाविक है। चालाक बन्दर मोटर चलाना सीख सकता है, मगर ऐसे हाँकनेवाले के हाथो में जान सुरक्षित नही होती।

आधुनिक ज्ञान आश्चर्यजनक रूप में पेचीदा और व्यापक है। हजारो खोज करनेवाले लगातार अपने काम में लगे रहते है। हरेक अपने-अपने विभाग में खोज करता रहता है, अपने-अपने चप्पे में बिल खोदा करता है और ज्ञान-गिरि में छोटे-छोटे कण जोडता रहता है। ज्ञान का क्षेत्र इतना लम्बा-चौड़ा है कि प्रत्येक कार्यकर्त्ता को अपनी-अपनी दिशा में विशेषज्ञ बनना पड़ता है। अक्सर उसे ज्ञान की दूसरी शाखाओ का पता भी नही होता और इस तरह वह कुछ विभागो में बड़ा पण्डित होकर भी दूसरे अनेक विभागो में बिलकुल कोरा होता है। उसके लिए मानव-प्रवृत्ति के सारे क्षेत्र के बारे में बुद्धिमत्तापूर्ण विचार करना कठिन होजाता है। पुराने अर्थ में वह सुसंस्कृत नहीं है।

अलबत्ता ऐसे व्यक्ति भी है जो इस संकुचित विशेषज्ञता से ऊपर उठे है। वे खुद विशेषज्ञ होकर भी विस्तृत दृष्टिकोण रख सके है। युद्ध और मानवीय झगडो से विचलित न होकर ये लोग वैज्ञानिक खोज का काम बरावर करते रहे हैं और पिछले पन्द्रह-बीस वर्ष में उन्होने ज्ञान में काफी वृद्धि की है। आज का सबसे बड़ा वैज्ञानिक एल्वर्ट आइन्स्टीन समझा जाता है। यह जर्मनी का यहूदी है और चूँकि हिटलर की नई सरकार यहूदियो को पसन्द नही करती, इसीलिए आइन्स्टीन हाल में जर्मनी से निकाल दिया गया है।

आइन्स्टीन ने भौतिक शास्त्र के कुछ नये सिद्धान्तो का आविष्कार किया है। इनका सृष्टि से सम्बन्ध है और ये गणित की पेचीदा क्रियाओ से निकले है। इनसे न्यूटन के कुछ ऐसे सिद्धान्तो में भी परिवर्तन होगया है जिन्हे दो सौ वर्ष से असंदिग्ध रूप में माना जाता था। आइन्स्टीन के मत का समर्थन भी वडे मजेदार तरीके पर हुआ। उसके मत के अनुसार प्रकाश का व्यवहार एक खास तरीके का होता है

और उसकी परीक्षा सूर्य-ग्रहण के अवसर पर हो सकती है। जब ग्रहण हुआ तो प्रकाश की किरणों का व्यवहार उसी तरह का हुआ। इस प्रकार गणित के तर्क से निकाले हुए परिणाम की पुष्टि वास्तविक प्रयोग से होगई।

मै यह उसूल तुम्हे समझाने की कोशिश नहीं करूँगा, क्योकि यह बहुत गहन है और मुझे भी इसकी स्पष्ट कल्पना नहीं है। यह सापेक्ष्यवाद (Theory of Relativity) कहलाता है। जगत् के बारे में विचार करते समय आइंस्टीन को पता लगा कि समय और स्थान की कल्पनायें अलग-अलग लागू नही हो सकतीं। इसलिए उसने दोनो को रद करके एक नया विचार पेश किया और उसमें दोनो को मिला दिया। यही स्थान-समय (Space-Time) कल्पना है।

इधर आइंस्टीन नें विश्व का विचार किया, उधर वैज्ञानिको ने अत्यन्त असीम चीजो की खोज की। सुई की नोक को लो। यह शायद छोटी-से-छोटी चीज है जिसे आँख से देखा जा सकता है। वैज्ञानिक साधनो से यह साबित कर दिया गया कि यह सुई की नोक एक तरह से अपने भीतर एक विश्व को छिपाये हुए है। इसके भीतर एक-दूसरे के चक्कर लगानेवाले अणु है और प्रत्येक अणु ऐसे परमाणुओ से बना है जो परस्पर स्पर्श किये बिना घूमते रहते है और प्रत्येक परमाणु के बहुत-से छोटे-छोटे बिजली के अंश होते है। इन्हे प्रोटन और एलेक्ट्रन (विद्युत्कण) कहते है। ये भी सदा बडी तेजी से घूमते रहते है। इनमें भी और सूक्ष्म भाग होते है जिन्हे पाजिट्रन, न्यूट्रन और डेण्टन कहते है। और उनकी औसत जिन्दगी एक सेकण्ड का अरबवाँ हिस्सा कूती गई है! यह सब बहुत ही छोटे पैमाने पर आकाश में घूमनेवाले ग्रहो और तारो की-सी बात हुई। याद रहे कि अणु इतना छोटा होता है कि बढिया-से-बढिया खुर्दबीन से भी दिखाई नहीं देता। परमाणुओ और उनके हिस्सो की तो कल्पना करना भी कठिन है। फिर भी वैज्ञानिक यन्त्रो की इतनी उन्नति हुई है कि इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिस्सो के बारे में भी बहुत-सी जानकारी इकट्ठी होगई है। हाल में परमाणु के टुकडे किये गये है।

विज्ञान के नये-से-नये मतो का विचार करते समय दिमाग चक्कर खाने लगता है और उन्हे समझ सकना बहुत ही कठिन है। अब मै तुम्हे और भी आश्चर्यजनक बात कहूँगा। हम जानते है कि हमारी पृथ्वी हमें इतनी बडी दीखती है, परन्तु सूर्य के लिए वह एक छोटा ग्रह है और सूर्य खुद बहुत ही नगण्य-सा छोटा तारा है। स्थान के महासागर में सारा सूर्य-मण्डल एक बूँद के बराबर है। विश्व में दूनियां इतनी बडी-बडी है कि उसके कुछ भागो से हम तक प्रकाश के पहुँचने में हजारो लाखों वर्ष लगते है। इस तरह जब हमें रात को कोई तारा दीखता है तो वह जो कुछ अब

है वह नही दीखता है, बल्कि वह दीखता है जो उसकी प्रकाश-किरण के रवाना होते वक़्त वह था। सभव है इस किरण को अपनी लम्बी यात्रा पर निकले सैंकडो हजारो वर्ष होगये हो। समय और स्थान सम्बन्धी हमारे विचारो में इन बातो से बडी गड़बड़ होती है, इसीलिए ऐसे मामलो पर विचार करने में आइंस्टीन के मत से बडी मदद मिलती है। अगर हम स्थान छोड़कर सिर्फ समय का विचार करे तो भूत और वर्तमान की खिचडी होजाती है, क्योकि जिस तारे को हम देखते है वह हमारे लिए वर्तमान है, मगर दरअसल हमें जो दिखाई देता है वह भूतचाल की चीज है। हमें जितना-सा ज्ञान है उसके हिसाब से तो सभव है प्रकाश की किरण के रवाना होने के बाद वह तारा कभी का नष्ट होगया हो।

मैंने कहा है कि हमारा सूर्य छोटा-सा महत्वहीन तारा है। लगभग एक लाख तारे और है। ये सब आकाशगगा कहलाते है। रात को दीखनेवाले तारो में से अधिकाश इसमें है। परन्तु खाली आँख से हमें बहुत ही थोडे तारे दीखते है, बडे-बडे खुर्दबीनो की मदद से हमें बहुत अधिक तारे दीख सकते है। इस विज्ञान के विशेषज्ञो ने हिसाब लगाया है कि जगत् में ऐसी एक लाख अलग-अलग आकाश-गंगायें है !

और एक आश्चर्य की बात सुनो। हमें बताया गया है कि यह जगत् बढ़ती हुई चीज है। सर जेम्स जीन्स नामक गणित-शास्त्री ने इसकी साबुन के ऐसे बुल्ले से तुलना की है जो बड़ा होता जा रहा है और विश्व उस बुल्ले की ऊपरी सतह है। यह बुल्ले या बुदबुदे के जैसा जगत् इतना बड़ा है कि प्रकाश को इसके एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचनें में लाखो और करोडो वर्ष लगते है !

अगर तुम्हारी आश्चर्य-शक्ति थक न गई हो तो जगत् के बारे में और भी कुछ बताऊँ। यह जगत् सचमुच अद्‌भुत वस्तु है। केम्ब्रिज का एक प्रसिद्ध ज्योतिषी सर आर्थर एडिंगटन हमें बताता है कि हमारा जगत् धीरे-धीरे बिखर रहा है और वह घडी की तरह है। अगर इसमें फिर से किसी तरह चाबी नहीं भरी गई तो यह छिन्न-भिन्न होजायगा। अलबत्ता यह सब होता लाखो वर्षो में है, इसलिए हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उन्नीसवीं सदी के मुख्य विज्ञान भौतिक और रसायनशास्त्र थे। उनसे मनुष्य को प्रकृति या बाहर की दुनिया पर प्रभुत्व प्राप्त करने में मदद मिली। फिर वैज्ञानिक पुरुष अपनें भीतर देखने और अपना खुद का अध्ययन करने लगा। जीवनशास्त्र का महत्व बढा। मनुष्य, पशु और वनस्पति के प्राणो का अध्ययन हुआ। अबतक उसमें असाधारण उन्नति हो चुकी है और जीवशास्त्री कहते है कि इंजेक्शन या सुई लगाकर अथवा दूसरे साधनो से शीघ्र मनुष्यो के स्वभाव भी बदले जा सकेंगे। इस तरह शायद यह भी होसकेगा कि कायर साहसी बन जाय या अधिक

संभव यह है कि इस तरीके से सरकार अपने आलोचको और विरोधियो की विरोध-शक्ति कम कर सकेगी।

जीवशास्त्र के बाद दूसरी सीढ़ी पर मानसशास्त्र अथवा मनोविज्ञान है। इसका सम्बन्ध मन से, मानवीय विचारो, हेतुओं, भय और इच्छाओ से है। इस प्रकार विज्ञान नये-नये क्षेत्रो में प्रवेश कर रहा है और हमें अपने बारे में बहुत-सी बातें बता रहा है। इससे शायद हमें अपने पर नियन्त्रण रखने में मदद मिलेगी।

सन्ततिशास्त्र भी जीवशास्त्र से आगे का एक कदम है। यह नस्ल-सुधार का विज्ञान है।

यह भी दिलचस्प बात है कि किस प्रकार कुछ पशुओ के अध्ययन से विज्ञान के विकास में सहायता मिली है। बेचारे मेण्डक को चीर-फाड़कर यह मालूम किया गया कि ज्ञानतन्तु और स्नायु किस प्रकार काम करते हैं। मक्खी एक नन्ही-सी जान है। एक मक्खी होती है जो अक्सर ज्यादा पके केलो पर बैठती है। इसीसे उसका नाम केला-मक्खी पड़ा है। इसके जरिये पैतृक संस्कारो का जितना ज्ञान हुआ है उतना और किसी साधन से नहीं हुआ है। इस मक्खी को ध्यान से देखने पर यह पता चल गया है कि एक पीढ़ी के संस्कार दूसरी पीढ़ी को उत्तराधिकार में किस तरह मिलते हैं। इससे मनुष्यों के उत्तराधिकार-सिद्धान्त की क्रिया समझने में कुछ-कुछ मदद मिलती है।

इससे भी बेहूदा-सा जानवर, जिससे हमें बहुत शिक्षा मिलती है, साधारण टिड्डी है। अमेरिकन लोगो ने दीर्घकाल तक और सावधानी से अध्ययन करने के बाद दिखाया है कि पशुओ और मनुष्यो में लिंग-भेद कैसे होता है। अब हमें इस विषय में बहुत-सी बातें मालूम होगई हैं कि छोटा-सा पिण्ड-गर्भ अपने जीवन के ठेठ प्रारम्भ से ही किस प्रकार नर या मादा बन जाता है और धीरे-धीरे बढ़ता-बढता नर या मादा प्राणी यानी छोटा लड़का या लड़की होजाता है।

चौथा उदाहरण मामूली घरेलू कुत्ते का है। पावलोव एक प्रसिद्ध रूसी विज्ञान-वेत्ता है। इस समय उसकी उम्र ८४ वर्ष की है, फिर भी वह अपना काम कर रहा है। उसने कुत्तो को ध्यान से देखना शुरू किया और जब खाना देखते ही उनके मुंह से लार टपकती तब वह खास तौर पर ध्यान देता। उसने कुत्ते के मुंह के इस रस को माप तक लिया। खाने को देखते ही कुत्ते के मुंह में इस तरह पानी का आना एक अपने-आप होनेवाली घटना है। यह ऐसी बात है जैसे पहले के अनुभव के बिना बच्चा छींकता, जभाई लेता या अंगडाई लेता है। यह तो हुई अपनेआप होनेवाली प्रेरणा (Unconditional reflex) की बात।

बाद में पावलोव ने यही बात प्रेरणा से पैदा करने की कोशिश की। यानी उसने

एक खास सकेत पर भोजन मिलने की आशा करना सिखाया। नतीजा यह हुआ कि कुत्ते के दिमाग में इस सकेत के साथ खानें का सम्बन्ध जुड़ गया और भोजन न आने की हालत में वही परिणाम होने लगा जो भोजन से होता था।

कुत्तो ओर उनकी लार पर किये गये इन प्रयोगो के आधार पर मनुष्य के मानस-शास्त्र की रचना हो रही है और यह दिखा दिया गया है कि किस प्रकार वहुत-सी वाते मनुष्य वचपन में अपनेआप करता है और वडा होने पर वे ही वाते किसी परिस्थिति या प्रेरणा से करने लगता है। असल वात यह है कि हम जो कुछ सीखते है उस सवका यही आधार है। हमारी आदते इसी तरह वनती है और हम भाषाएँ वग़ैरा सीखते है। हमारे सारे काम इसी तरह होते है। साधारण भय की ही वात ले लो। जव कोई आदमी पास में साँप देखता है या उससे मिलता-जुलता रस्सी का टुकड़ा उसे नज़र आता है तो वह वडी तेज़ी में और बिना विचारे उछलकर दूर भागता है। इसमें उसे पावलोव के प्रयोगो के ज्ञान की ज़रूरत नही है।

पावलोव के प्रयोगो ने सारे मानस-शास्त्र में क्रान्ति कर दी है। कुछ प्रयोग तो वडे मनोरञ्जक है, मगर इस प्रश्न पर यहाँ विस्तार से नही लिख सकता। हाँ, इतना और कहूँगा कि मानस-विज्ञान में खोज के और भी कई तरीके है।

मैंने यह थोडी-सी मिसाले इसलिए दी है कि तुम्हे वैज्ञानिक कार्य के तरीको का कुछ खयाल वँध जाय। पुरानी आध्यात्मिक पद्धति में बडी-बडी वातो की अस्पष्ट चर्चा की जाती थी। उन वातो को पूरी तरह समझना ही मुश्किल था, तो उनका विश्लषेण करना तो असम्भव ही था। लोग उनपर विवाद करते-करते खूब गरम होजाते, मगर उनकी दलीलो की सत्यता या असत्यता की कोई अन्तिम कसौटी नहीं थी, इस-लिए मामला सदा हवा में ही उड़ जाता। वे लोग दूसरी दुनिया की चर्चा में इतने लगे रहते थे कि उन्हे इस संसार की साधारण वातो पर ध्यान देने की परवा नहीं थी। विज्ञान का तरीका उससे बिलकुल उलटा है। छोटी-छोटी और नगण्य दिखाई देनेवाली वातो को ध्यान से देखा जाता है और इसीसे महत्वपूर्ण परिणाम निकल आते है। इन परिणामो के आधार पर सिद्धान्त वनाये जाते है और इन सिद्धान्तो की परीक्षा और अधिक अध्ययन और प्रयोगो द्वारा करली जाती है।

इसका यह अर्थ भी नही है कि विज्ञान में भूल नहीं होती। भूल तो कई वार होती है और कदम पीछे हटानें पडते है। मगर किसी प्रश्न को समझने का सही तरीका वैज्ञानिक पद्धति ही मालूम होती है। आज विज्ञान का वह सारा अहंकार और संकीर्ण भाव भी जाता रहा है जो उसमें उन्नीसवीं सदी में था। उसे अपनी सफलताओ पर गर्व है, मगर उसमें यह मानने की विनम्रता भी है कि अभी तो ज्ञान का विशाल और

अनन्त महासागर अछूता पड़ा है। बुद्धिमान यही समझा करते है कि उनका ज्ञान बहुत थोड़ा है। मूर्ख समझते है कि वे सब कुछ जानते है। यही बात विज्ञान की है। ज्यो-यो वह प्रगति करता है त्यो-त्यो उसका कट्टरपन घटता है और उससे जो सवाल पूछे जाते है उनका जवाब वह संकोच के साथ देता है। एडिंगटन कहता है—"विज्ञान की उन्नति की माप यह नही है कि हम कितने सवालो का जवाब दे सकते है, वल्कि यह है कि हम कितने सवाल पूछ सकते है।" बात शायद यही है, फिर भी विज्ञान दिन-दिन ज्यादा सवालो का जवाब देता है और हमें जिन्दगी को समझने में मदद देता है। इस तरह अगर हम उससे फायदा उठाना चाहे तो वह हमें पहले से अच्छी जिन्दगी बसर करने में समर्थ बनाता है और जीवन के उद्देश्य को एक पूरी करने योग्य चीज बनाता है। वह जीवन के अँधेरे कोनो में रोशनी पहुँचाता है और तर्क-विरुद्ध अस्पष्ट बातो के झमेले से निकालकर हमें सत्य के सम्मुख उपस्थित करता है।

: १८३ :

विज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग

१४ जुलाई, १९३३

पिछले खत में मैंने तुम्हे नई-नई वैज्ञानिक प्रगति के अद्भुत संसार की झाँकी कराई थी। पता नहीं तुम्हे वह झाकी अच्छी लगेगी या नहीं और तुम्हारा विचार और सफलता के इन क्षेत्रों की ओर आकर्षण होगा या नही। तुम्हे इन विषयो पर अधिक जानने की इच्छा होगी तो तुम आसानी से बहुत-सी किताबें खोज लोगी। मगर यह याद रखना कि मनुष्य के विचार में सदा तरक्की होती रहती है और वह प्रकृति और जगत् की समस्याओ को समझने और उनसे जूझने की हमेशा कोशिश करता रहता है। इस कारण संभव है जो बात मैं तुम्हे आज बता रहा हूँ वह शायद कल बिलकुल नाकाफी और पुरानी होजाय। मानव मस्तिष्क की इस चुनौती ने मुझे तो मुग्ध कर दिया है। यह जगत् के दूर के कोनो में कैसे उड़ान मारती है, उसके गहरे-से-गहरे रहस्यो में कैसे गोते लगाती है और अत्यन्त छोटी-से-छोटी चीज से लगाकर अत्यन्त बड़ी-से-बड़ी वस्तु को नापने और हाथ में लेने का साहस करती है।

यह सब 'विशुद्ध' विज्ञान कहलाता है। इसका जीवन पर सीधा या तुरन्त असर नहीं पड़ता। यह जाहिर है कि सापेक्ष्यवाद या स्थान-समय (Space-Time) की कल्पना या जगत् के आकार से हमारे दैनिक जीवन का कोई ताल्लुक नहीं। इन सिद्धान्तो में से ज्यादातर ऊँचे गणितशास्त्र पर अवलम्बित है और इस अर्थ में गणित

के ये गहन और उच्च प्रदेश विशुद्ध विज्ञान है। अधिकाश लोगो को इस प्रकार के विज्ञान में वहुत रस नहीं आता। विज्ञान की जो वातें रोजमर्रा की जिन्दगी पर लागू होती है उनकी तरफ आम लोगो का अधिक आकर्षण होना स्वाभाविक है। पिछले डेढसौ वर्ष में इसी व्यावहारिक विज्ञान ने जिन्दगी की कायापलट की है। असल वात यह है कि आज जीवन पर विज्ञान की इन शाखाओ का शासन है, वे ही उसे वनाती-बिगाड़ती है, और उनके विना जीवन की कल्पना भी नही हो सकती। लोग अक्सर वात किया करते है कि पुराना जमाना वडा अच्छा था, सतयुग था। प्राचीन काल के कुछ भाग वेशक वहुत ही मनोहर है और सभव है कुछ वातो में वे हमारे समय से वढकर भी हो। मगर शायद यह आकर्षण भी दूरी के या और किसीकी अपेक्षा एक ख़ास अनिश्चितता के कारण हो। हम किसी युग को इस कारण भी महान् समझ सकते है कि उसे कुछ महापुरुषो ने सुशोभित किया था अथवा उनकी उस समय प्रधानता रही थी। मगर साधारण लोगो की हालत तो इतिहास के ठेठ उस छोर से इस छोर तक दु.ख-पूर्ण ही रही है। उनका सदा से चला आरहा वोझ तो किसीने कुछ भी हलका किया है तो विज्ञान ने ही किया है।

अपने चारो तरफ देखोगी तो तुम्हे पता लग जायगा कि जो चीजें तुम्हे नजर आरही है उनमें से ज्यादा का विज्ञान के साथ कुछ-न-कुछ ताल्लुक है। हम यात्रा करते है तो व्यावहारिक विज्ञान के साधनो से, उन्ही के द्वारा एक-दूसरे के समाचार जानते है, हमारा भोजन भी उन्हींके जरिये तैयार होता और एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाया जाता है। जो अख़वार हम पढ़ते है, हमारी पुस्तके और हमारे लिखने के कागज और कलम वैज्ञानिक उपायो के विना तैयार ही नही हो सकते। सफाई, तन्दुरुस्ती और कुछ वीमारियो पर फतह हासिल करने के लिए विज्ञान का सहारा जरूरी है। आधुनिक ससार का काम व्यावहारिक विज्ञान के विना विलकुल नहीं चल सकता। और सव दलीले छोड़ भी दें तो एक दलील आखिरी है : विज्ञान के विना संसार की आवादी को पूरा खाने को नहीं मिल सकता और आधी या इससे अधिक आवादी भूखो मर जायगी। मै तुम्हे वता चुका हूँ कि किस तरह पिछले सौ वर्ष में आवादी इतनी तेजी से वढ़ गई है। यह वढ़ी हुई आवादी तभी जिन्दा रह सकती है जव भोजन-सामग्री को पैदा करने और एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए विज्ञान की मदद मिल जाय।

जवसे विज्ञान ने वडे यंत्रो का मानव-जीवन में प्रवेश कराया है तभीसे उन्हे सुधारने का सिलसिला वरावर जारी है। हर साल और माह वेशुमार छोटे-छोटे फेरवदल करके इन यंत्रो को ज्यादा काम के और मनुष्य के परिश्रम पर कम निर्भर

रहनेवाले बनाने की कोशिश होरही है। बीसवी सदी के पिछले तीस वर्षों में यन्त्रो के सुधार की प्रगति खासतौर पर तीव्र हुई है। इन सालो में तरक्की की रफ़्तार—जो अब भी जारी है—इतनी तेज रही है कि उससे उद्योग या पैदावार के तरीको की उतनी ही कायापलट होरही है जितनी अठारहवी सदी के पिछले आधे हिस्से की औद्योगिक क्रान्ति से हुई थी। यह नई क्रान्ति ज्यादातर पैदावार के काम में बिजली के बढ़ते हुए इस्तेमाल से हुई। इस तरह बीसवीं सदी में और वह भी खासकर अमेरिका में एक महान विद्युत-क्रान्ति हुई है और इससे जीवन की बिलकुल नई अवस्थायें पैदा होरही हैं। जैसे अठारहवी सदी की औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम यन्त्र-युग हुआ वैसे ही आज विद्युत-क्रान्ति शक्ति-युग (Power Age) लारही है। आज उद्योगो, रेलो और बहुत-से दूसरे कामो में बिजली इस्तेमाल होती है, बिजली की ताकत का सब जगह बोलबाला है। इसीलिए लेनिन को बहुत दूर की सूझी थी और उसने सारे सोवियट रूस में पानी से बिजली पैदा करने के बड़े-बड़े कारखाने बनाने का निश्चय किया था।

और-और सुधारो के साथ उद्योगो में बिजली की ताकत के इस इस्तेमाल से कई बार बहुत थोडे खर्च में बडी तब्दीलियाँ होजाती है। इस तरह बिजली से चलनेवाले यन्त्र में थोड़ा-सा हेर-फेर करने से उत्पत्ति दुगुनी होसकती है। इसका कारण यह है कि इससे आदमी की ज़रूरत कम-से-कम होती जा रही है और आदमी तो धीरे-धीरे काम करता है और उससे भूले भी ज्यादा होती है। इस तरह जैसे-जैसे यंत्र सुधरते जाते है वैसे-वैसे उनमें कम मजदूर रखने पड़ते हैं। आजकल अकेला आदमी थोडे-से हत्थे हिलाकर और बटन दबाकर बडी-बडी मशीने चलाता है। इसका नतीजा एक तरफ यह होता है कि पक्के माल की उत्पत्ति बेहिसाब बढ़ जाती है, और दूसरी तरफ़ यह कि कारखाने में बहुत मजदूरो की जरूरत न रहने से लोग बेकार होजाते हैं। साथ ही मशीने बनाने की कला में इतनी तेजी से तरक्की होती है कि अकसर जब किसी कारखाने में नई मशीन लगाई जाती है तो लगाते-लगाते नये-नये सुधारो के कारण वह कुछ बातो में पुरानी पड़ जाती है।

अलबत्ता मशीन यानी यंत्र-युग की शुरुआत से ही मजदूरो का स्थान मशीनें लेती रही है। शायद मै तुम्हे बता चुका हूँ कि उन दिनो बहुत-से दगे भी हुए थे और मजदूरो ने गुस्से में नई मशीनो को तोड़-फोड़ दिया था। लेकिन आखिरकार मालूम हुआ कि मशीनो से ज्यादा लोगो को काम मिलता है। मजदूर मशीन की मदद से ज्यादा माल तैयार कर सकता है, इस कारण उसकी मजदूरी बढ जाती है और माल का भाव सस्ता होजाता है। इस तरह मजदूर और साधारण लोग इस माल को

ज्यादा खरीद सकते है। उनके रहन-सहन का ढँग ऊँचा होजाता है और पक्के माल की मांग वढ जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि अधिक कारखाने खुलते है और ज्यादा आदमियो को काम मिलता है। इस तरह मशीन हर कारखाने में मजदूरो की जगह तो लेती है, मगर सब वातो को देखते हुए ज्यादा कारखाने खुलने से बहुत ज्यादा मजदूरो को काम मिल जाता है।

यह क्रिया बहुत समय तक जारी रही, क्योकि इसे उद्योग-प्रधान देशो के द्वारा पिछडे हुए दूर-दूर देशो के बाजारो के शोषण से मदद मिलती रही। पिछले कुछ साल से यह क्रिया बन्द होगई दीखती है। शायद मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था के अब और फैलने की गुजाइश नही रही है और इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन की जरूरत है। आधुनिक उद्योगवाद में 'सामूहिक उत्पत्ति' होती है, मगर वह जारी तभी रह सकती है जब बनाये हुए माल को सर्वसाधारण खरीदते रहे। अगर आम लोग बहुत गरीब या बेकार हो तो वे माल नही खरीद सकते।

यह सब होते हुए भी, यत्रो का सुधार बराबर होरहा है और मनुष्यो का स्थान मशीने ले रही है और बेकारी बढ रही है। पिछले चार साल मे दुनिया-भर में बडी मन्दी छाई हुई है, मगर इससे यत्र-सुधार की प्रगति में बाधा नही पडी है। कहा जाता है कि १९२९ से अमेरिका के सयुक्त राज्यो में इतने ज्यादा सुधार हुए है कि अगर १९२९ की उत्पत्ति कायम रक्खी जाय तो भी जो लाखो आदमी बेकार होगये है वे हरगिज काम में नही लगाये जा सकते।

कारण और भी बहुत है, मगर एक कारण यह भी है कि जिससे संसार-भर में खासकर उद्योग-प्रधान देशो में बेकारी की महासमस्या पैदा हुई है। यह एक अजीब और उलटी समस्या है, क्योकि नई-से-नई मशीनो के जरिये ज्यादा-ज्यादा माल तैयार होने का मतलब यह है—या होना चाहिए—कि राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़े और सबके रहन-सहन का ढग ऊँचा हो। इसके बजाय दरिद्रता और कष्ट भयंकर रूप से बढ़ गये है। खयाल होता है कि इस समस्या को वैज्ञानिक ढंग से हल करने में मुश्किल नहीं होनी चाहिए। शायद मुश्किल न भी हो। मगर असली कठिनाई वैज्ञानिक और उचित रूप से हल करने में आती है। ऐसा करने में बहुत-से स्थायी स्वार्थो पर असर पडता है और उनमें अपनी-अपनी सरकार पर काबू रखने की ताकत है। दूसरे, यह समस्या मूल में अन्तर्राष्ट्रीय है और आजकल राष्ट्रीय स्पर्धा के कारण कोई अन्तर्राष्ट्रीय हल निकल नही पाता। सोवियट रूस इसी तरह की समस्याओ को वैज्ञानिक उपायो से हल करने की कोशिश कर रहा है, मगर उसे करना पड़ता है सब कुछ राष्ट्रीय पैमाने पर ही। बाकी की दुनिया पूंजीवादी और खिलाफ है, इस कारण उसकी मुश्किले

और भी बढ़ जाती है । यह बात न होती तो उसकी कठिनाइयाँ कम होतीं । इससे ट्राटस्की की यह बात एक हद तक समझ में आसकती है कि अकेले देश में सच्चा समाजवाद नहीं हो सकता । दुनिया की राजनैतिक रचना भले ही अभी पिछडी हुई और संकीर्ण राष्ट्रवादी है, फिर भी दुनिया आज दरअसल अन्तर्राष्ट्रीय बन गई है। समाजवाद सफल होना है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व-व्यापी समाजवाद बनना होगा । घडी की सुइयाँ पीछे नहीं घुमाई जा सकतीं, इसी तरह अपूर्ण होते हुए भी आज की अन्तर्राष्ट्रीय रचना राष्ट्रीय एकान्तवाद के पक्ष में कुचली नहीं जा सकती। कुछ देशो में फैसिस्ट लोग राष्ट्रीयता का रंग गहरा करने की जो कोशिश कर रहे हैं, वह अन्त में नाकामयाब हुए बिना नहीं रह सकती, क्योकि वह मूल में ही आज की संसारव्यापी अर्थ-नीति के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के खिलाफ है । हाँ, यह हो सकता है कि इस तरह खुद डूबकर वह दुनिया को भी साथ में ले डूबें और, आधुनिक सभ्यता की भाषा में, सबको एक-साथ आफत में फँसा दें ।

ऐसी विपत्ति का खतरा कोई दूर की या अकल्पनीय बात हरगिज नहीं है । हम देख चुके हैं कि जहाँ विज्ञान के साथ-साथ बहुत-सी अच्छी बाते आगई हैं वहाँ उसके कारण युद्ध की भयंकरता भी बुरी तरह बढ़ गई है । राज्यो और सरकारो ने अक्सर विशुद्ध और व्यावहारिक दोनो तरह के विज्ञान की अनेक शाखाओ की उपेक्षा की है, मगर विज्ञान के युद्ध-सम्बन्धी पहलू के प्रति उन्होने लापरवाही नहीं दिखाई है । उन्होंने अपनेको शस्त्र-सज्जित और बलवान बनाने के लिए नई-से-नई वैज्ञानिक कला से पूरा फायदा उठाया है । ज्यादातर राज्यो का पशुबल ही अन्तिम आश्रय होता है और वैज्ञानिक यंत्र-कला उन्हे इतने बलवान बना रही है कि वे आम तौर पर किसी परिणाम के भय के बिना ही प्रजा पर जुल्म कर सकते हैं । पुराने जमाने में जालिम सरकारो के खिलाफ जनता बगावत कर दिया करती थी और खुले रास्तो में मोर्चे बांधकर लड़ाई किया करती थी । फ़्रांस की महान् राज्यक्रान्ति में ऐसा ही हुआ था । मगर अब ये बातें असंभव होगई है । अब किसी नि शस्त्र या हथियार-बन्द भीड़ के लिए भी संगठित और सुसज्जित सरकारी सेना से लड़ना नामुमकिन है । रूस की राज्य-क्रान्ति की तरह राज्य की सेना खुद राज्य के खिलाफ होजाय, यह दूसरी बात है । मगर जबतक ऐसा न हो तबतक बलपूर्वक राज्य को नहीं हराया जा सकता । इस कारण अब आजादी के लिए लड़नेवाली प्रजा को दूसरे और शान्तिपूर्ण सामूहिक उपायो का सहारा लेना पड़ता है ।

इस तरह विज्ञान से राज्यो पर समूहो का नियन्त्रण कायम होता है और व्यक्तिगत आजादी और लोकसत्ता के उन्नीसवीं सदी वाले पुराने विचारो का नाश होता है ।

ऐसे समूह-शासन अलग-अलग तरह के राज्यो में बन जाते है। कभी तो यह शासन जाहिरा तौर पर लोकसत्ता के सिद्धान्तो का आदर करते है और कभी उनकी खुली निन्दा करते है। समूह-शासन वाले इन भिन्न-भिन्न राज्यो की आपस में मुठभेड़ होती है और राष्ट्रो में लड़ाई छिड जाती है। आज या भविष्य में ऐसी बडी लड़ाई हो तो वह इन समूह-शासनो को ही नहीं, सभ्यता तक को नष्ट कर सकती है। यह भी हो सकता है कि उसकी खाक में से अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी राज्य पैदा हो। मार्क्सवादियो को यही आशा है।

युद्ध असल में इतनी भयकर चीज है कि उसपर विचार करना रुचिकर विषय नही होता। इसी वजह से अच्छे-अच्छे शब्दो, बहादुरी पैदा करनेवाले संगीत और भड़कीली वर्दियो में सचाई छिपाई जाती है। मगर आज युद्ध का क्या अर्थ होता है, इसे थोडा जान लेने की जरूरत है। पिछले महायुद्ध से बहुत लोगो को लड़ाई की भयंकरता समझ में आई। फिर भी कहा जाता है कि आगे जो लड़ाई होगी उसके सामने पिछला महायुद्ध कुछ भी नही था। इसका कारण यह है कि अगर औद्योगिक यन्त्र-कला में पिछले कुछ वर्षो में दसगुनी तरक्की हुई है तो युद्ध-विज्ञान सौगुना अधिक बढा है। लड़ाई में अब पलटन के हमलो और रिसाले के धावो की कोई गिनती नहीं रही। आज पुराना पैदल सिपाही और घुड़सवार करीब-करीब उतने ही निकम्मे होगये है जितने धनुष और वाण। आज के युद्ध में मशीन से चलनेवाले टैंको और हवाई जहाजो और बम गोलो का काम रह गया है। खास तौर पर पिछले दोनो का ही महत्व है। हॉ, टैंक रेंगनेवाले पहियो पर चलनेवाला एक तरह का लड़ाई का जहाज होता है।

वायुयानो की गति और शक्ति दिन-दिन बढ़ रही है। सिनोर डिला सिरवा नामक एक स्पेन-निवासी ने नया आविष्कार किया है। इसे 'ऑटोजीरो' कहते है। यह करीब-करीब सीधा उड़ता है और इसलिए हवाई जहाजो के अड्डे जैसे किसी चीज की जरूरत नही होती। यह तेज भी चल सकता है और धीरे-धीरे भी, और चक्कर भी लगा सकता है।

अगर जग छिड़ जाय तो ऐसा अन्देशा है कि लड़नेवाले राष्ट्रो पर फौरन दुश्मन के हवाई हमले होगे। जंग का ऐलान होने के कुछ ही घण्टो में ये हवाई जहाज आ पहुँचेगे या दुश्मन को और भी नुक्सान में रखने के लिए चुपके से पहले भी आ सकते है। और फिर वे बडे-बडे शहरो और कारखानो पर निहायत जोरदार बम गोलो की वर्षा कर देंगे। इनसे बचाव होना करीब-करीब नामुमकिन होगा। सम्भव है शत्रु के कुछ वायुयान नष्ट कर दिये जायें, परन्तु शहर को बरबाद करने के लिए तो बाकी बचे हुए वायुयान भी काफी होगे। हवाई जहाजो में से फेंके हुए बम-गोलो में से जहरीली गैसें

निकलेंगी और प्रदेश के प्रदेश में फैलकर छा जायेंगी। इसकी पहुँच के भीतर हरेक जीव दम घुटकर मर जायगा। यह निहत्थी आबादी को बडे पैमाने पर और निहायत निर्दय और कष्टप्रद ढंग से बरबाद करना होगा। इससे असहनीय शारीरिक और मानसिक पीड़ा होगी। और इस तरह की घटना विरोधी दलो के बडे-बडे शहरो में दोनो तरफ से साथ-साथ भी हो सकती है। पिछले महायुद्ध की तरह योरप में लड़ाई हुई तो लन्दन, पेरिस और बर्लिन कुछ ही दिनो या हफ़्तो के भीतर राख के ढेर होजायेंगे।

हालत और भी ख़राब होसकती है। हवाई जहाजो से जो बम-गोले फेंके जायेंगे उनमे अलग-अलग भयंकर बीमारियो के कीडे भरे होगे तो शहर के शहर में इन रोगो की छूत फैल जायगी। इस तरह की 'कीडो की लड़ाई' और तरह भी जारी रह सकती है। चीज़ो और पीने के पानी में कीटाणु मिलाये जा सकते है और प्लेग के चूहे जैसे रोगवाहक जन्तुओ से काम लिया जा सकता है।

ये सब बातें राक्षसी और अविश्वसनीय मालूम होती है और है भी ऐसी ही। राक्षस भी ऐसा करना नही चाहेगा। मगर जब लोग पूरी तरह भयभीत होकर जीवन-मरण के युद्ध में लगे होते है तब अविश्वनीय बातें होती ही है। इसी डर के मारे कि कही दुश्मन अनुचित और राक्षसी उपायो से काम न लेने लगे, प्रत्येक देश को सबसे आगे रहने की प्रेरणा मिलती है। इसका कारण यह है कि हथियार इतने ख़तरनाक है कि जो मुल्क उनका पहलेपहल इस्तेमाल करता है वह बडे फायदे में रहता है। डर की आँखें बडी होती है!

असल में पिछले महायुद्ध के समय भी जहरीली गैस दूर-दूर तक काम में लाई गई थी और यह बात बहुत लोगो को मालूम है कि सभी बडे-बडे राष्ट्रो के यहाँ आज लड़ाई के काम के लिए यह गैस तैयार करने के बडे-बडे कारख़ाने मौजूद है। इन सब बातो का एक अजीब नतीजा यह होगा कि आगामी महायुद्ध में वास्तविक लडाई युद्ध-क्षेत्र में नही होगी। सेनाओ को खाइयाँ खोदकर एक दूसरे के सामने आने की ज़रूरत न होगी। सच्ची लड़ाई शहरो में और नि शस्त्र आबादी के घरो में होगी। यह भी मुमकिन है कि युद्ध में सबसे सुरक्षित जगह युद्ध-क्षेत्र होगा, क्योकि सेना की तो हवाई हमलो, जहरीली गैसो और छूत की बीमारियो से पूरी रक्षा की ही जायगी। परन्तु पीछे रहनेवाले लोगो, स्त्रियो और बच्चो की रक्षा के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होगी।

इन सबका परिणाम क्या होगा? विश्वव्यापी नाश? सदियो की कोशिशो से संस्कृति और सभ्यता की जो बढिया इमारत तैयार हुई है उसका अन्त?

क्या होगा, यह कोई नहीं जानता, भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है, उसे देखा नहीं जा सकता। हमें तो केवल दो क्रियायें संसार में साथ-साथ होती हुई दिखाई दे रही है।

इन दोनो में परस्पर विरोध और स्पर्द्धा है। एक में सहयोग और समझदारी की प्रगति है और सभ्यता का निर्माण है। दूसरी क्रिया नाशकारी है। वह सब चीजो को तोड-फोड देना चाहती है और मनुष्य जाति के लिए आत्महत्या का प्रयत्न है। दोनो की गति दिन-दिन तीव्र हो रही है और दोनो ही विज्ञान के अस्त्रो और कलाओ से सुसज्जित होरही है। जीत किसकी होगी ?

: १८४ :

महामन्दी और संसारव्यापी संकट

१९ जुलाई, १९३३

विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में जो ताकत सौंप दी है और इन्सान उसको जिस तरह काम में ला रहा है उसपर जितना ज्यादा विचार करते है उतना ही अधिक आश्चर्य होता है। आज सचमुच पूँजीवादी दुनिया जिस बुरी हालत में है उसे देखकर हैरत होती है। रेडियो के जरिये विज्ञान हमारी आवाज दूर-दूर के देशो में पहुँचाता है। बे-तार के तार से हम पृथ्वी के दूसरे किनारे पर बसे हुए लोगो से बात करते है और थोडे ही दिन में हम 'टेलीविजन' (Television) यानी दृश्य-प्रेक्षण यंत्र से उन्हे देखने भी लगेंगे। विज्ञान अपनी अद्भुत कला के जरिये वे सब चीजें पैदा कर सकता है जिनकी मानव-जाति को बडे परिमाण में जरूरत है और वह संसार को दरिद्रता के पुराने रोग से सदा के लिए छुड़ा सकता है। बहुत पुराने जमाने से ही, जब इतिहास उदय होने लगा था तभीसे, मनुष्य रोजमर्रा की कडी मेहनत से थोड़ा-बहुत आराम पाने के लिए कोशिश करता रहा है। इस मेहनत के बदले उसे पुरस्कार बहुत थोड़ा मिलता रहा है और इसके बोझे से वह हमेशा कुचला जाता रहा है। इससे छुटकारा पाने की उम्मीद में वह स्वर्ग के सपने देखता रहा है और एक ऐसी दुनिया में पहुँचने की कल्पना करता रहा है जहाँ दूध की नदियाँ बहती हो और सब चीजो का ठाठ हो। लोगो ने गुजरे हुए सुनहरे जमाने की अर्थात् सतयुग की याद करके आनेवाले स्वर्ग से ये आशायें लगाई कि कम-से-कम वहाँ तो शान्ति और सुख मिलेगा। उसके बाद ही विज्ञान का अवतार हुआ। इसने उत्पत्ति के साधन तो लोगो के हाथ में खूब दे दिये, मगर फिर भी इस वास्तविक और संभवनीय बाहुल्य के बीच में भी ज्यादातर आद-मियो की जिन्दगी में मुसीबत और गरीबी बनी ही रही। क्या यह अजीब गोरखधन्धा नहीं है ?

हमारा वर्तमान समाज सचमुच विज्ञान और उसकी दी हुई बेशुमार चीजो से

परेशान है। उनका एक-दूसरे के साथ मेल नहीं बैठता। समाज के पूँजीवादी स्वरूप और नई वैज्ञानिक कला और उत्पत्ति के तरीको में संघर्ष है। समाज ने पैदा करना तो सीख लिया, मगर पैदा की हुई चीजो का बँटवारा करना नहीं सीखा।

इस छोटी-सी भूमिका के वाद हम जरा योरप और अमेरिका पर एक नजर और डाले। महायुद्ध के वाद पहले दस वर्षो में वहाँ क्या-क्या झगडे हुए और दिक्कते पेश आईं, उनका थोड़ा-सा हाल मै तुम्हे वता चुका हूँ। लड़ाई के वाद की अवस्थाओ का हारे हुए देशों यानी जर्मनी और मध्य-योरप के छोटे-छोटे मुल्को पर बहुत बुरा असर हुआ; उनकी मुद्रा-प्रणाली की साख नष्ट होगई और मध्यमवर्ग के लोग वर्वाद होगये। योरप के विजेता और साहूकार राष्ट्रो की स्थिति भी इससे थोडी-सी ही अच्छी थी। वे सब अमेरिका के कर्जदार थे और उनके सिर पर राष्ट्रीय युद्ध-ऋण का भार भी वहुत ज्यादा था। इन दोनो कर्जो के वोझ के मारे वे लड़खडा रहे थे और हक्के-वक्के होगये थे। वे इस आशा में जी रहे थे कि जर्मनी से हर्जाने का रुपया मिल जायगा और उससे कम-से-कम विदेशी कर्ज चुकाने का काम निकल जावेगा। यह उम्मीद वहुत माकूल नही थी, क्योकि जर्मनी तो वेचारा खुद दिवालिया था। इस कठिनाई का उपाय इस तरह हुआ कि अमेरिका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, जर्मनी ने इंग्लैण्ड और फ्रांस वगैरा को उनके हिस्से का हर्जाना चुका दिया और उन्होने इससे अमेरिका को कर्ज का एक हिस्सा अदा कर दिया।

इन दस सालो में सयुक्तराष्ट्र अमेरिका ही एकमात्र सम्पन्न देश था। वहाँ तो दौलत की वाढ़-सी आगई थी और इस खुशहाली का ही यह नतीजा हुआ कि लोगो ने वेहिसाव आशायें वाँध लीं और सरकारी कागजो (Securities) और कारखानो के हिस्सो (Shares) का सट्टा होने लगा।

पूँजीवादी जगत् में आमतौर पर यह खयाल फैला हुआ था कि पहले की तरह यह आर्थिक उथल-पुथल भी निकल जावेगी और धीरे-धीरे संसार में सम्पन्नता का समय आ जावेगा। असल में ऐसा मालूम होता है कि पूँजीवाद के जीवन में सकट के वाद सम्पन्नता और सम्पन्नता के वाद संकट आते ही रहते हैं। मार्क्स ने अपने 'कैपिटल' (पूंजी)नामक ग्रन्थ में वहुत पहले ही यह वात वता दी थी और यह सावित कर दिया था कि पूँजीवाद के तरीको में न कोई योजना होती है और न विज्ञान। इसलिए उनका इस तरह का नतीजा होना लाजिमी है। उद्योगो की सफलता से एक समय ऐसा आता है जव चीजो के भाव वुरी तरह वढ जाते हैं। उस समय अधिक-से-अधिक मुनाफा उठाने के लिए सव लोग खूव माल पैदा करना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि खपत से कहीं ज्यादा उपज हो जाती है। तैयार माल या

ढेर लग जाता है। व्यवसाय की हालत नाजुक होजाती है और उद्योग फिर मन्दा पड़ जाता है। थोड़े समय हालत स्थिर रहती है। इस बीच में इकट्ठा हुआ माल धीरे-धीरे निकल जाता है, कारखाने फिर चेतते है और शीघ्र ही दूसरा सम्पन्न काल आजाता है। साधारणत यही चक्र चलता है और अधिकांश लोग यह आशा लगा लेते है कि किसी-न-किसी समय खुशहाली आकर रहेगी। लेकिन १९२९ में अचानक हालत और भी बुरी होगई। अमेरिका ने जर्मनी और दक्षिणी अमेरिका के राज्यो को रुपया उधार देना बन्द करके उधार लेने और देने के कागजी व्यवसाय का अन्त कर दिया। यह स्पष्ट था कि अमेरिका के पूंजीपति सदा रुपया उधार देते ही नही रह सकते थे, क्योकि इससे उनके कर्जदारो का कर्ज और भी बढ़ता जाता और कर्ज का कभी चुकना ही नामुमकिन होजाता। उन्होने अबतक भी रुपया इसीलिए उधार दिया था कि उनके पास नकद रुपये की बहुतायत थी और उसका और कोई उपयोग वे कर नहीं सकते थे। इस फालतू रुपये से वे सट्टा भी खूब करने लगे। लोगो को जुआ खेलने का बाकायदा नशा-सा आगया और हर आदमी जल्दी धनवान बनने की इच्छा करने लगा।

जर्मनी को उधार मिलना बन्द होते ही वहाँ उथल-पुथल मच गई और कुछ जर्मन बैंको का दिवाला निकल गया। धीरे-धीरे हर्जाने और कर्ज की अदायगी का दौर बन्द होगया। दक्षिणी अमेरिका की बहुत-सी सरकारे और दूसरे छोटे-छोटे राज्य नादिहन्द होने लगे। संयुक्तराष्ट्र के राष्ट्रपति हूवर ने जब विस्मय के साथ यह देखा कि उधार देने की सारी प्रणाली का ही खात्मा हुआ जा रहा है, तो १९३१ के जुलाई मास में साल-भर के लिए कर्ज की अदायगी मुल्तवी करदी। इसका अर्थ यह हुआ कि एक वर्ष के लिए कर्जदारो को आराम देने को ऋण और हर्जाने का चुकाना सरकारो के लिए आपस में बन्द कर दिया गया।

इस बीच में १९२९ के अक्तूबर में अमेरिका में एक मार्के की घटना होगई। शेयरो के सट्टे से उनके भाव बेहूदा तरीके पर बढ़ गये और फिर अचानक उसी तरह गिर गये। न्यूयार्क के धनी हलको में बडी उथल-पुथल मच गई और उसी दिन से अमेरिका की सम्पन्नता का जमाना खत्म हुआ। व्यापार की मन्दी से जैसे दूसरे देश कष्ट भोग रहे थे वही हाल संयुक्तराष्ट्र का भी होगया। उद्योग और व्यवसाय की मन्दी अब विशालकाय बनकर दुनियाभर में फैल गई। यह ख़याल न करना कि शेयरो के सट्टे या न्यूयार्क की आर्थिक उथल-पुथल के कारण अमेरिका का दिवाला निकल गया या इनके कारण मन्दी आगई। यह तो ऊँट की पीठ पर लदे हुए बोझे में आखिरी तिनके का शामिल होना था। असली कारण तो बहुत गहरे थे।

दुनिया-भर में व्यापार घटने लगा और खास तौर पर खेती से पैदा होनेवाली चीजो का भाव तेजी से गिरने लगा। कहते है, लगभग सभी चीजो की पैदावार जरूरत से ज्यादा होगई थी। इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि जो माल तैयार होता था उसे खरीदने के लिए लोगो के पास रुपया नही था, यानी माल की खपत कम होगई थी। जब तैयार माल बिक न सका, तो वह जमा होगया। इसलिए जिन कारखानो में वह तैयार होता था, उनका बन्द होना भी स्वाभाविक था। वे ऐसी चीजें बनाते नहीं रह सकते थे जिनकी बिक्री न हो। इससे योरप, अमेरिका और सभी देशो में बेकारी बहुत बुरी तरह बढ़ गई। सभी औद्योगिक देशो को गहरी हानि पहुँची। यही हाल उन कृषि-प्रधान देशो का भी हुआ जो दुनिया के बाजार में उद्योगो के लिए खाद्य-पदार्थ या कच्चा माल भेजते थे। इस तरह हिन्दुस्तान के कारखानो को भी कुछ नुक़सान पहुँचा, मगर भावो के गिर जाने से किसानो को बहुत ज्यादा हानि हुई। मामूली तौर पर खाने-पीने की चीजो की कीमत का घटना लोगो के लिए न्यामत होता है, क्योकि उन्हे खाने का सामान सस्ता मिल जाता है। मगर पूंजीवादी प्रणाली में उलटी गंगा बहती है। इसलिए यह वरदान भी शाप बन गया। किसानो को जमींदार या सरकार का लगान चुकाने के लिए नकद रुपया देना पडा और यह नकद रुपया हासिल करने के लिए उन्हे अपना माल बेचना पड़ा। माल की कीमत असाधारणत. इतनी कम होगई कि कभी-कभी उन्हे सारी पैदावार बेच देने पर भी काफी रुपया नहीं मिला। अक्सर उन्हे जमीनो से बे-दख़ल कर दिया गया, मिट्टी के झोपडो से निकाल दिया गया और उनके घरो में जो थोड़ा-सा सामान रहता है वह भी लगान चुकाने के लिए नीलाम कर दिया गया। इस तरह जिस वक़्त खाद्य पदार्थ इतने सस्ते थे उस समय भी, जिन लोगो ने उन्हे पैदा किया था, उन्हे भूखो मरना और बेघर-बार होना पड़ा।

ससार की परस्पर-निर्भरता ने ही इस मन्दी को सर्वव्यापी बना दिया। मेरा अनुमान है कि बाहरी दुनिया से अलग-थलग कोई तिब्बत जैसी जगह ही इससे बची रही होगी। महीने दर महीने मन्दी फैलती गई और व्यापार गिरता गया। ऐसा मालूम होता था कि सारे सामाजिक शरीर को धीरे-धीरे लकवा मार रहा है और उसे बेकार कर रहा है। चार साल से लगातार यही हाल है। और, कहीं-कहीं अस्थायी सुधार होने की बात छोड दें तो, स्थिति बिगडती ही जा रही है। इस बिगाड की कल्पना करने का सबसे अच्छा उपाय शायद यह है कि पिछले चार साल के व्यापार के सच्चे आँकडो की जाँच की जासके। ससार के व्यापार के राष्ट्र-सघ ने नीचे लिखे आँकडे प्रकाशित किये है। ये अक हर वर्ष के पहले तीन मास के और लाख स्वर्ण-डालरो में है—

पहली तिमाही	आयात का मूल्य	निर्यात का मूल्य	दोनो का मूल्य
१९२९	७९७२०	७३१७०	१५२८९०
१९३०	७३६४०	६५२००	१३८८४०
१९३१	५१५४०	४५३१०	९६८५०
१९३२	३४३४०	३०२७०	६४६१०
१९३३	२८२९०	२५५२०	५३८१०

इन अको से हमें मालूम होता है कि ससार का व्यापार किस तरह अधिकाधिक गिरता गया है। और इस वर्ष की पहली तिमाही में तो वह चार वर्ष पहले जितना था उसका ३५ फी सदी या एक-तिहाई के करीब ही रहगया। और यह गिरावट अब भी जारी है और ऐसा दिखाई देता है, मानो सारी पूँजीवादी सामाजिक रचना इस प्रकार खत्म होरही है कि उसके फिर से सम्हलने की आशा ही न हो।

व्यापार-सम्बन्धी ये कठिन अंक मानवीय हिसाब से हमें क्या बता रहे है? ये हमें कह रहे हे कि अधिकाश लोग इतनें गरीब है कि जो वे पैदा करते हैं उसे खरीद नही सकते। ये कह रहे है कि बेशुमार मजदूर बेकार है और संसार की अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी उन्हे रोजगार नही मिल सकता। योरप और संयुक्त-राष्ट्र में ही तीन करोड़ मजदूर है, जिनमें से तीस लाख ब्रिटेन में और एक करोड़ तीस लाख संयुक्तराष्ट्र में है। हिन्दुस्तान या एशिया के दूसरे देशों में कितने बेकार है, इसका तो किसीको पता भी नही है। शायद अकेले हिन्दुस्तान में बेकारो की तादाद योरप और अमेरिका से भी कही ज्यादा है। दुनियाभर के इन बेशुमार बेकारो और उनके आश्रित कुटुम्बियो का विचार करो तो तुम्हे कुछ कल्पना होगी कि व्यापार की मन्दी से मनुष्यो पर कैसी मुसीबत आई है। योरप के अनेक देशो में सरकारी बीमे की ऐसी प्रणाली है कि बेकारो में दर्ज होनेंवाले सब लोगो को गुजर के लायक खर्च दिया जाय। संयुक्तराष्ट्र में उन्हे धर्मादा दिया जाता है।

मगर इस खर्चे और ख़ैरात से क्या काम चलता है और बहुतो को यह भी कहाँ मिलता है? मध्य और पूर्वीय कुछ हिस्सो में अवस्थायें भयकर है। आस्ट्रिया और हंगरी रोग-पीड़ित राष्ट्र होगये हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनकी बीमारी प्राण लेकर छोडेगी। जर्मनी में विपत्ति का डंक लगने से हाल ही में एक असाधारण प्रतिक्रान्ति हुई। इंग्लैण्ड को १५० वर्ष के ससार-व्यापी साम्राज्यवादी शोषण का सहारा है, फिर भी उसका काम चलना मुश्किल होरहा है। वह बेकारो को बीमे के रूप में खर्च देता है और किसी तरह उन्हे शान्त रखता है। मगर इस ख़र्च का भार उठाना दिन-दिन भारी होरहा है। ज्यतक हिसाव लगाने पर मालूम होता है कि जितना

उसने महायुद्ध पर ख़र्च किया था उससे कहीं अधिक महायुद्ध के वक्त से वह बेकारों पर ख़र्च कर चुका है। देशभर में कारखानें खाली और बेकार पडे है। लंकाशायर का रुई का महान् उद्योग, जो किसी समय आधी दुनिया को कपड़ा देता था, अब सिकुड़कर आधा रहगया है और वहाँके कारीगर श्रमजीवी बेकार बैठे अच्छे दिनो की प्रतीक्षा कर रहे है और वे दिन आ नही रहे। इन रजिस्टर में दर्ज हुए मज़दूरो को फिर भी थोड़ा-सा ख़र्च मिल जाता है। मगर इनके पीछे और कितने अधिक लोग है, जिन्हे कुछ भी नही मिलता और जो भूखो मरते है ?

सभी बडे उद्योग-प्रधान देशो में अमेरिका पर मन्दी का प्रहार सबसे पीछे हुआ। परन्तु उसकी प्रतिक्रिया भी और जगहो से वहाँ अधिक हुई। अमेरिका के लोगो को व्यापार की लम्बी और लगातार मन्दी का तथा कष्ट-सहन का अभ्यास नहीं है। उनके पास हमेशा पैसे का ज़ोर रहा है। इसलिए पहली चोट लगते ही उनके होश उड़ गये। जब बेकारो की तादाद लाखो पर पहुँचने लगी और भुखमरी का दृश्य एक मामूली बात होगई तो राष्ट्र की हिम्मत टूट गई। बैंको और उद्योगो में लोगो का विश्वास नहीं रहा और उन्होने रुपया निकाल-निकालकर घरो में जमा कर लिया। बैंको की तो हस्ती ही विश्वास और साख के आधार पर होती है। विश्वास नही रहा तो बैंक भी गया। संयुक्तराष्ट्र में इग्लैण्ड से विपरीत छोटे-छोटे बैंक बहुत है। वे अपना-अपना कारोबार स्वतन्त्र रूप से चलाते है। दूसरे शहरो में इनकी शाखायें भी नही होतीं। इन छोटे बैंको का बालू की भीत की तरह ढेर होगया। पिछले चारेक वर्ष में संयुक्तराष्ट्र में क़रीब दस हजार बैंको का दिवाला निकल गया। एक-एक दिवाले से स्थिति और भी विकट हुई, लोग और भी अधिक डर गये, और आमतौर पर हालत पहले से ज्यादा ख़राब होगई।

अमेरिका में योरप की तरह बेकारो के बीमे की पद्धति नही है। मगर हम हिन्दुस्तानियो की तरह अमेरिकनो को अपने बीच में लोगो को भूखे मरते देखकर उनकी उपेक्षा करने का भी अभ्यास नहीं है। यहाँ भारत में तो लोग भूखो मरे तो किसीको परवा ही नही होती; और लाखों भूखो मरते ही है। भुखमरी की क्रिया आम तौर पर धीरे-धीरे होती है। जब यह तेज़ और व्यापक होजाती है तब उसे अकाल का नाम दे देते है और फिर स्थिति का मुकाबिला करने के लिए कुछ निर्बल-सा प्रयत्न कर दिया जाता है। अमेरिका में हज़ारो धर्मार्थ संस्थाओ और म्युनिसि-पैलिटियो ने बेकारो को खिलाने-पिलानें का बीड़ा उठा लिया। यह उनके लिए बड़ा भारी बोझा होगया और इससे बहुत-सी म्युनिसिपैलिटियां दिवाले की हालत तक पहुँच गई। अमेरिका ने किसी भी तरह अपने लाखो बेकार मज़दूरो को ज़िन्दा रख लिया।

परन्तु इन मजदूरो की हालत दिन-पर-दिन बिगडती ही चली गई। बहुतो को कुछ भी मदद नहीं मिली, और वे एक शहर से दूसरे शहर मारे-मारे फिरते रहे। वे बाजारो में घूमते रहते, आने-जानेवाले मोटरवालो से उन्हे भी बिठा लेने की मिन्नत करते रहते और अक्सर धीमी चलनेवाली मालगाड़ियो पर चढ़कर उनके पायदानो पर लटकते रहते। अमेरिका में इन आवारो को 'होबो' कहते है। अमेरिका में पहलेपहल इन आवारा 'होबो' लोगो में हजारो स्त्रियाँ भी दिखाई दीं। वे भी रोजगार की तलाश में खाक छानती थीं। इससे भी ज्यादा मर्मस्पर्शी बात यह थी कि कम उम्र के लडके और लडकियाँ और बच्चे तक अकेले या छोटे-छोटे झुण्ड बनाकर उस विशाल देश के इस किनारे से उस किनारे तक भटकते फिरते। शिशु-संघ ने हिसाब लगाया है कि अमेरिका में २१ वर्ष से नीचे के ऐसे दो लाख के करीब लड़के और लड़कियाँ मारे-मारे फिरते है। इससे उन हालतो का स्मरण होता है जो गृह-युद्ध के बाद रूस में भी मौजूद थीं। उस समय रूस आवारा लड़के और लड़कियो से भरा था।

बडी उम्र के और हट्टे-कट्टे आदमी काम की आशा लगाये और बाट देखते हुए बेकार बैठे रहते थे, और नमूने के कारखाने भी बन्द पडे थे, फिर भी पूँजीवाद चीज ही ऐसी है कि उसी वक्त मिठाई की अँधेरी और गन्दी दुकाने खुलने लगी और १२ से १६ वर्ष के बच्चो को उनमें थोडी-सी मजदूरी पर दस-दस और बारह-बारह घण्टे रोज़ काम में जोता जाने लगा। कुछ कारख़ानेदारो ने इन लड़के और लडकियो की बेकारी की मजबूरी का फायदा उठाया और उनसे अपने कारख़ानो में ख़ूब कड़ा और लम्बा काम लिया। इस तरह मन्दी के कारण अमेरिका में फिर से बच्चों की मजूरी शुरू हुई और इस बुराई और ऐसी ही दूसरी बुराइयो को रोकनेवाले कानूनो की खुले-आम अवहेलना की गई।

यह याद रहे कि अमेरिका में या बाकी की दुनिया में खाद्य पदार्थो या तैयार माल की कमी नहीं थी, बल्कि शिकायत यह थी कि माल ज़रूरत से ज्यादा है और पैदावार ख़र्च से ज्यादा हुई है। सर हेनरी स्ट्राकोश नामक प्रसिद्ध अंग्रेज़ अर्थशास्त्री ने बयान किया है कि जुलाई सन् १९३१ में, यानी मन्दी के दूसरे साल में, संसार की मण्डियो में इतना माल था कि अगर अगले सवा दो वर्ष तक संसार भर के लोग कुछ भी काम न करते तो भी उनका गुज़र उसी तरह से चलता रह सकता था जिस तरह गुज़र करनें का उनका अभ्यास है। यह बयान ख़ूब गौर करने लायक है। फिर भी इसी काल में इतना व्यापक कष्ट और भुखमरी रही है जितनी आधुनिक औद्योगिक संसार ने कभी नहीं देखी। एक तरफ यह कष्ट और दूसरी तरफ साथ ही साथ खाद्य पदार्थो को सच-मुच नष्ट कर देने का सिलसिला जारी रहा। फसलें नहीं काटी गईं और उन्हे खेतो में

आन्दोलन इतना पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी रहा। अब वे सच्चे अर्थ में जाग्रत ग़रीब बन रहे है।

मैनें संयुक्तराष्ट्र की अवस्थाओं का विस्तार से बयान किया है, क्योंकि अमेरिका कई बातों में मनोहर देश है। पूँजीवादी देशो में यह सबसे उन्नत है और यहाँ योरप और एशिया की तरह इसके प्राचीन काल पर सामन्तशाही का असर नहीं रहा है। इस कारण वहाँ परिवर्तन तेज़ी से होने की सम्भावना रहती है। दूसरे देशो में ग़रीबो को कष्ट सहनें का ज्यादा अभ्यास रहा है। अमेरिका के लिए यह बात और इतने बडे पैमाने पर होना एक नई विस्मयकारक घटना थी। मैने अमेरिका के बारे में तुम्हे जो कुछ बताया है उससे तुम मन्दी के समय दूसरे देशो की हालत का अन्दाज़ लगा सकती हो। कुछ देशो की हालत तो बहुत बुरी थी और कुछ की ज़रा अच्छी थी। सब बातो को देखते हुए कृषि-प्रधान और पिछडे हुए देशो की इतनी दुर्दशा नही हुई जितनी आगे बढ़े हुए उद्योग-प्रधान देशो की हुई। उनके पिछडेपन ने ही एक हद तक उनकी रक्षा की। उनकी खास मुसीबत यह थी कि खेती की पैदावार के भाव एक-दम गिर जाने से वहाँके किसानो पर आफत का पहाड टूट पडा। आस्ट्रेलिया एक कृषि-प्रधान देश है। भावो के गिर जाने से वह अंग्रेज़ी बैंको को क़र्ज़ नहीं चुका सका और दिवाला निकलने की नौबत आपहुँची। आख़िर उसने अंग्रेज़ साहूकारो की कडी शर्तें मानकर अपनी जान बचाई। मन्दी के ज़माने में साहूकार वर्ग के ही वारे-न्यारे होते है और उसीका सबपर सिक्का जमता है।

दक्षिणी अमेरिका में संयुक्तराष्ट्र से उधार मिलना बन्द होने और मन्दी के कारण उथल-पुथल मच गई, और वहाँकी अधिकाश प्रजातन्त्र सरकारो या यो कहो कि वहाँके सर्वेसर्वा शासको का तख्ता उलट गया। दक्षिण के सारे देशो में क्रान्तियाँ हुईं। इनमें अर्जेण्टाइन, ब्रैज़ील और चिली के तीनो प्रमुख देश शामिल थे। दक्षिणी अमेरिका में सभी क्रान्तियाँ राजमहलो तक सीमित रहती है और केवल सर्वेसर्वा शासक और बडे-बडे सरकारी अधिकारी बदल जाते है। ये क्रान्तियाँ भी इसी तरह की थीं। वहाँ जो व्यक्ति या दल सेना और पुलिस पर अधिकार जमा लेता है वही शासक बन बैठता है। दक्षिणी अमेरिका की सभी सरकारें बुरी तरह कर्ज़ में फँसी हुई हैं और अधिकाश नादिहन्द होचुकी है।

: १८५ :

संकट के कारण

२१ जुलाई, १९३३

इस महान् मन्दी के पिशाच ने संसार का गला दबा रक्खा है और लगभग सारे काम-काज बन्द या मन्द कर दिये हैं। बहुत जगहो पर उद्योग का चक्र घूमना बन्द होगया है। जिन खेतो में खाने-पीने के और दूसरे पदार्थ पैदा होते थे वे यो ही बेजुते पड़े है। रबड़ के पेडो से रबड़ चू रहा है, मगर उसे इकट्ठा करनेवाले नहीं हैं। पहाड़ियो के ढाल, जहाँ पहले चाय के हरे-भरे खेत लहलहाते थे, अब बजर पडे है और उनकी कोई सम्हाल नहीं करता। जो लोग ये सब काम किया करते थे वे बेकारो की महान् सेना में भर्ती होकर काम और रोजगार की बाट देखते है, मगर वह मिलता ही नही और वे बेचारे निराश होकर भूख और दरिद्रता का सामना कर रहे है। बहुतेरे देशो में आत्महत्याओ की तादाद खूब बढ़ गई है।

मैं बता चुका हूँ कि मन्दी की चोट सभी उद्योगो पर हुई। मगर एक उद्योग अछूता रहा, और वह था हथियार और युद्ध-सामग्री बनाने का। यह उद्योग भिन्न-भिन्न राष्ट्रो की जल, स्थल और हवाई सेनाओ के लिए हथियार और युद्ध के सामान तैयार करता है। यह व्यवसाय खूब चमका और इसके हिस्सेदारो को मुनाफा भी भरपूर मिला। इसपर मन्दी का कुछ असर नही हुआ, क्योकि इसका धंधा राष्ट्रो की प्रतिद्वद्विता और संघर्ष पर चलता है और ये दोनो बातें इस संकट-काल में खूब बढ़ गई।

सोवियट संघ का बड़ा प्रदेश भी मन्दी के सीधे असर से बचा रहा। वहाँ बेकारी तो हुई ही नहीं और पंचवर्षीय योजना के कारण काम पहले से भी ज्यादा रहा। यह प्रदेश पूजीवाद के नियंत्रण से बाहर था और यहाँकी अर्थ-व्यवस्था भी अलग तरह की थी। लेकिन, जैसा में तुम्हे बता चुका हूं, उसपर भी मन्दी का अप्रत्यक्ष रूप में कुपरिणाम तो हुआ ही, क्योकि खेती की पैदावार उसे विदेशो में बेचनी पड़ती थी और उसका भाव बहुत गिर गया था।

इस महामन्दी का, इस संसारव्यापी संकट का, कारण क्या था? यह संकट अपने ढंग का भयकर तो करीब-करीब उतना ही था जितना पिछला महायुद्ध था। इसे पूंजीवाद का अन्तकाल कहते है, क्योकि इसकी चोट से पूंजीवाद की व्यापक और पेचीदा व्यवस्था छिन्न-भिन्न होरही है। पूंजीवाद का इस तरह अन्त क्यो होरहा है? और क्या यह संकट स्थायी है? पूंजीवाद इसके बाद भी कायम रहेगा? या यह कि जिस महान् प्रणाली ने युग-युगान्तर से संसार पर अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है वह अन्तिम

आन्दोलन इतना पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी रहा। अब वे सच्चे अर्थ में जाग्रत ग़रीब बन रहे हैं।

मैंने संयुक्तराष्ट्र की अवस्थाओ का विस्तार से बयान किया है, क्योकि अमेरिका कई बातों में मनोहर देश है। पूँजीवादी देशो में यह सबसे उन्नत है और यहां योरप और एशिया की तरह इसके प्राचीन काल पर सामन्तशाही का असर नहीं रहा है। इस कारण वहाँ परिवर्तन तेजी से होने की सम्भावना रहती है। दूसरे देशो में ग़रीबो को कष्ट सहनें का ज्यादा अभ्यास रहा है। अमेरिका के लिए यह बात और इतने बडे पैमाने पर होना एक नई विस्मयकारक घटना थी। मैंने अमेरिका के बारे में तुम्हे जो कुछ बताया है उससे तुम मन्दी के समय दूसरे देशो की हालत का अन्दाज लगा सकती हो। कुछ देशों की हालत तो बहुत बुरी थी और कुछ की जरा अच्छी थी। सब बातों को देखते हुए कृषि-प्रधान और पिछडे हुए देशो की इतनी दुर्दशा नही हुई जितनी आगे बढ़े हुए उद्योग-प्रधान देशो की हुई। उनके पिछडेपन ने ही एक हद तक उनकी रक्षा की। उनकी खास मुसीबत यह थी कि खेती की पैदावार के भाव एक-दम गिर जाने से वहाँके किसानो पर आफत का पहाड टूट पड़ा। आस्ट्रेलिया एक कृषि-प्रधान देश है। भावों के गिर जाने से वह अंग्रेजी बैंको को कर्ज नहीं चुका सका और दिवाला निकलने की नौबत आपहुँची। आख़िर उसने अंग्रेज साहूकारो की कडी शर्तें मानकर अपनी जान बचाई। मन्दी के जमाने में साहूकार वर्ग के ही वारे-न्यारे होते हैं और उसीका सबपर सिक्का जमता है।

दक्षिणी अमेरिका में संयुक्तराष्ट्र से उधार मिलना बन्द होने और मन्दी के कारण उथल-पुथल मच गई, और वहाँकी अधिकांश प्रजातन्त्र सरकारो या यो कहो कि वहांके सर्वेसर्वा शासको का तख़्ता उलट गया। दक्षिण के सारे देशो में क्रान्तियां हुई। इनमें अर्जेण्टाइन, ब्रैजील और चिली के तीनो प्रमुख देश शामिल थे। दक्षिणी अमेरिका में सभी क्रान्तियाँ राजमहलो तक सीमित रहती हैं और केवल सर्वेसर्वा शासक और बडे-बडे सरकारी अधिकारी बदल जाते हैं। ये क्रान्तियां भी इसी तरह की थीं। वहां जो व्यक्ति या दल सेना और पुलिस पर अधिकार जमा लेता है वही शासक बन बैठता है। दक्षिणी अमेरिका की सभी सरकारें बुरी तरह कर्ज में फँसी हुई हैं और अधिकांश नादिहन्द होचुकी हैं।

: १८५ :

संकट के कारण

२१ जुलाई, १९३३

इस महान् मन्दी के पिशाच ने ससार का गला दबा रक्खा है और लगभग सारे काम-काज बन्द या मन्द कर दिये है। बहुत जगहो पर उद्योग का चक्र घूमना बन्द होगया है। जिन खेतो में खाने-पीने के और दूसरे पदार्थ पैदा होते थे वे यो ही बेजुते पडे है। रबड के पेडो से रबड़ चू रहा है, मगर उसे इकट्ठा करनेवाले नही है। पहाड़ियो के ढाल, जहां पहले चाय के हरे-भरे खेत लहलहाते थे, अब बजर पडे है और उनकी कोई सम्हाल नही करता। जो लोग ये सब काम किया करते थे वे बेकारो की महान् सेना में भर्ती होकर काम और रोजगार की बाट देखते है, मगर वह मिलता ही नहीं और वे बेचारे निराश होकर भूख और दरिद्रता का सामना कर रहे है। बहुतेरे देशो में आत्महत्याओ की तादाद खूब बढ़ गई है।

मै बता चुका हूँ कि मन्दी की चोट सभी उद्योगो पर हुई। मगर एक उद्योग अछूता रहा, और वह था हथियार और युद्ध-सामग्री बनाने का। यह उद्योग भिन्न-भिन्न राष्ट्रो की जल, स्थल और हवाई सेनाओ के लिए हथियार और युद्ध के सामान तैयार करता है। यह व्यवसाय खूब चमका और इसके हिस्सेदारो को मुनाफा भी भरपूर मिला। इसपर मन्दी का कुछ असर नही हुआ, क्योकि इसका धंधा राष्ट्रो की प्रतिद्वद्विता और सघर्ष पर चलता है और ये दोनो बातें इस संकट-काल में खूब बढ़ गईं।

सोवियट संघ का बड़ा प्रदेश भी मन्दी के सीधे असर से बचा रहा। वहाँ बेकारी तो हुई ही नहीं और पंचवर्षीय योजना के कारण काम पहले से भी ज्यादा रहा। यह प्रदेश पूजीवाद के नियन्त्रण से बाहर था और यहाँकी अर्थ-व्यवस्था भी अलग तरह की थी। लेकिन, जैसा में तुम्हे बता चुका हूं, उसपर भी मन्दी का अप्रत्यक्ष रूप में कुपरिणाम तो हुआ ही, क्योकि खेती की पैदावार उसे विदेशो में बेचनी पड़ती थी और उसका भाव बहुत गिर गया था।

इस महामन्दी का, इस संसारव्यापी संकट का, कारण क्या था? यह सकट अपने ढंग का भयंकर तो करीब-करीब उतना ही था जितना पिछला महायुद्ध था। इसे पूंजीवाद का अन्तकाल कहते है, क्योकि इसकी चोट से पूंजीवाद की व्यापक और पेचीदा व्यवस्था छिन्न-भिन्न होरही है। पूंजीवाद का इस तरह अन्त क्यो होरहा है? और क्या यह संकट स्थायी है? पूंजीवाद इसके बाद भी कायम रहेगा? या यह कि जिस महान् प्रणाली ने युग-युगान्तर से संसार पर अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है वह अन्तिम

सॉस ले रही है ? ऐसे कितने ही सवाल पैदा होते है और उनमें बड़ा आकर्षण या कशिश है, क्योकि उनके जवाव पर मानव-जाति का और साथ ही हमारा भी भविष्य निर्भर है । इस संकट को दूर करने के लिए पिछले चार वर्ष में भिन्न-भिन्न देशो में मुख्तलिफ उपाय किये गये है, मगर उनसे स्थिति उलटी बिगडी ही है । वहुत-सी वलवर्द्धक ओष-धियॉ दी गई मगर, जैसा सभी उत्तेजक दवाइयो का असर होता है, इससे भी थोडे समय के लिए सुधार मालूम हुआ और बाद में और भी शिथिलता आई । १९३२ के दिसम्वर में ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकन सरकार को एक खत भेजा और उसमें यह प्रार्थना की कि उसका युद्ध का कर्ज माफ कर दिया जाय । इस खत में यह वताया गया था कि किस तरह 'मर्ज वढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' । उसमें कहा गया कि "सव जगह कर बुरी तरह बढ़ा और खर्च खूब घटा दिया गया है । फिर भी जिस नियंत्रण और मर्यादा से बीमारी का इलाज होने की उम्मेद थी उसीसे वह और वढ़ गई ।" आगे चलकर यह वताया गया कि "इस नुक्सान और मुसीवत का कारण प्रकृति की कजूसी नहीं है । भौतिक विज्ञान की सफलता दिनोदिन वढ़ रही है और सच्ची दौलत के पैदा करने की छिपी हुई विशाल शक्तियाँ ज्यो-की-त्यो बनी हुई है ।" कसूर प्रकृति का नही, बल्कि इन्सान और उसकी बनाई हुई प्रणाली का है ।

पूँजीवाद की इस बीमारी का सही-सही निदान करना या इसके इलाज का नुसखा तजवीज करना आसान नहीं है । अर्थशास्त्रियो को इस वारे में सब कुछ मालूम होना चाहिए, लेकिन उनके आपस में ही मतभेद है और वे अलग-अलग कारण और इलाज बताते है । अगर इस मामले में किसीके दिमाग में साफ विचार है तो सिर्फ साम्यवादियो और समाजवादियो के दिमाग में हैं । उनका कहना है कि पूँजीवाद का इस भॉति छिन्न-भिन्न होना उनके सिद्धान्तों और विचारो के अनुसार उचित है । पूँजीवादी विशेषज्ञ तो साफ तौर पर अपनी घवराहट और परेशानी कबूल करते है । मॉटेग्यू नॉर्मन अंग्रेज अर्थ-व्यवस्थापको में एक बहुत बड़ा और काबिल आदमी है । वह बैंक ऑफ इग्लैण्ड का गवर्नर है । उसने कुछ महीने पहले एक सार्व-जनिक अवसर पर कहा था—"आर्थिक समस्या मेरे बूते की बात नहीं है । कठिनाइयाँ इतनी विशाल और नवीन है कि उनकी कोई नजीर नहीं मिलती और मैं तो इस विषय को वडे अज्ञान और विनय के साथ हाथ में लेता हूँ । मेरे लिए यह सवाल बहुत वडा सवाल है । अभी तो अंधेरी गुप सुरग-ही-सुरंग दिखाई देती है । आशा है आगे चलकर प्रकाश के भी दर्शन हो ।" मगर यह प्रकाश छलावे की तरह हमारे हृदयों में आशायें पैदा करता और फिर विलीन होजाता है । इस बीच दुनिया किसी महान् विपत्ति के मुख में फिसलती चली जा रही है । सर आक्लैण्ड गिडीज नामक मशहूर

अंग्रेज राजनीतिज्ञ ने कहा है कि "विचारशील लोगो का विश्वास है कि समाज का हास शुरू होगया है। हमें मालूम है कि योरप में एक युग का अन्त होरहा है।"

जर्मन लोगो की राय में इस उथल-पुथल का असली कारण युद्ध का हर्जाना था। और बहुत-से लोगो के खयाल से मन्दी का सबब यह था कि राष्ट्रो के विदेशी और भीतरी युद्ध-ऋण का बोझा असह्य होगया ओर वह सारे उद्योग को कुचलने लगा। इस तरह ससार के कष्टो के लिए मुख्यत. महायुद्ध को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियो का यह खयाल है कि झगडे की जड रुपये का विचित्र व्यवहार और भावो का बुरी तरह गिरना है और यह हुआ है सोने की कमी के कारण। सोने की कमी कुछ तो इसलिए हुई कि खानो से ही ससार की जरूरत के लायक सोना नहीं निकलता और ज्यादातर इसलिए हुई कि अलग-अलग सरकारो ने सोना जमा कर लिया। दूसरे लोग यह भी कहते हैं कि सारी खुराफात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को रोकनेवाली आर्थिक राष्ट्रीयता, चुगी और भारी कर-बन्दी की वजह से है। एक कारण यह बताया जाता है कि वैज्ञानिक कला बहुत आगे बढ़ गई है, उसके कारण बहुत कम मजदूरो की जरूरत रह गई है और इसलिए बेकारी ज्यादा होगई है।

इन सारी सूचनाओ के पक्ष में बहुत-कुछ कहा जा सकता है और यह भी मुमकिन है कि संसार की मौजूदा गड़बड़ में इन सभीका हाथ रहा हो। मगर इनमें से किसी एक पर या सब पर भी सकट का दोष लगाना उचित या न्याय-संगत मालूम नहीं होता। असल में इन बताये जानेवाले कारणो में से बहुत-से तो इस उथल-पुथल के परिणाम है। हाँ, संकट को गम्भीर बनाने में इनमें से एक-एक ने मदद जरूर पहुँचाई है। मगर झगडे की जड़ बहुत गहरी है। युद्ध में हार जाना इसका कारण नही है, क्योकि विजेता खुद इसमें फँसे हुए है। राष्ट्र की गरीबी भी कारण नहीं हो सकती, क्योकि ससार के सबसे धनी देश अमेरिका को ज्यादा-से-ज्यादा नुक्सान हो रहा है। इसमें कोई शक नही कि संकट के जल्दी ही होने में महायुद्ध का जबरदस्त हाथ रहा है। इसके दो कारण हुए। एक तो कर्ज का भारी भार और ऋणदाताओ में उसके बँटवारो का तरीका, और दूसरा कारण यह हुआ कि लड़ाई के समय और लड़ाई के बाद कुछ वर्ष चीजो के जो ऊँचे भाव रहे वे बनावटी थे और उनका एकदम से गिरना अनिवार्य था। परन्तु हम जरा और गहरे पैठकर देखें।

कहते है कि जरूरत से ज्यादा उत्पत्ति झगडे की जड़ है। लेकिन यह शब्द ही गलत है। जब करोडो आदमी नितान्त आवश्यक-से-आवश्यक चीजो की कमी के कारण तकलीफ पा रहे है तो जरूरत से ज्यादा उत्पत्ति कैसी? हिन्दुस्तान में करोडो मनुष्यो को तन ढकने के लिए भी पूरा कपड़ा नहीं मिलता। फिर भी हम सुनते है

कि हिन्दुस्तानी मिलों और खादी-भण्डारों में माल भरा पड़ा है और कपड़ा जरूरत से ज्यादा तैयार होगया है। असल बात यह है कि लोग इतने ग़रीब हो गये हैं कि वे कपड़ा ख़रीद नहीं सकते। बात यह नहीं है कि उन्हें कपडे की जरूरत नहीं है। बात यह है कि ग़रीबों के पास रुपया ही नहीं है। इस धनाभाव का अर्थ यह नहीं है कि रुपया दुनिया से ग़ायब होगया है। इसका अर्थ यह है कि संसार के लोगों में रुपये का बटवारा बदल गया है और लगातार बदल रहा है। यानी सम्पत्ति के विभाजन में असमानता है। एक ओर बहुत ज्यादा धन है और उसके मालिकों को यह भी मालूम नहीं कि इस सब का क्या उपयोग करे। वे उसे केवल दबा लेते हैं और बैंकों में जमा कराते रहते हैं। यह रुपया बाजार में चीजें खरीदने के काम नहीं आता। दूसरी तरफ धन की बहुत कमी है और जिन चीजों की जरूरत है वे भी रुपये के अभाव में नहीं ख़रीदी जा सकतीं।

घुमा-फिराकर इस सब कथन का यह अर्थ हुआ कि दुनिया में ग़रीब और अमीर हैं। यह बात इतनी साफ़ तौर पर जाहिर है कि इसके लिए किसी तर्क की जरूरत नहीं है। इतिहास के शुरू से ही ये ग़रीब और अमीर बराबर चले आये हैं। फिर मौजूदा संकट के लिए उन्हे क्यों जिम्मेवार ठहराया जाय? मेरे ख़याल से किसी पिछले ख़त में मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि पूंजीवादी प्रणाली की सारी वृत्ति ही सम्पत्ति के विभाजन की असमानताओं को बढ़ाने की है।

सामन्तशाही में स्थिति प्रायः स्थिर रहती थी या धीरे-धीरे बदलती थी। पूंजीवाद में बडे-बडे यंत्र और संसारव्यापी बाजारों के कारण वेग है और उसमें परिवर्तन तेजी से होता है, क्योंकि दौलत व्यक्तियों और दलों के पास इकट्ठी होजाती है। सम्पत्ति के विभाजन में असमानता के बढ़ने और उसमें कुछ और कारणों के मिलने से उद्योग-प्रधान देशों में मजदूरों और पूंजीपतियों में नया संघर्ष पैदा हुआ। इन देशों के पूंजीपतियों ने मजदूरों को कई तरह की रिआयतें देकर इस खिंचाव को कम किया। मगर अपने यहाँ ज्यादा मजदूरी देकर और जीवन-सम्बन्धी अवस्थाओं में सुधार करके इन लोगों ने गुलाम देशों और पिछडे हुए प्रदेशों का ख़ूब शोषण किया। इस तरह एशिया, अफरीका, दक्षिणी अमेरिका और पूर्वी योरप के शोषण से पश्चिमी योरप और उत्तरी अमेरिका के उद्योग-प्रधान देशों को दौलत जमा करने में मदद मिली। इसका थोड़ा-सा हिस्सा उन्होंने अपने यहांके मजदूरों को भी देदिया। जैसे-जैसे नये बाजार पैदा हुए वैसे-वैसे नये उद्योग चल पडे या पुराने बढ गये। साम्राज्यवाद ने आगे बढ-बढ-कर इन बाजारों और कच्चे माल की तलाश करने का रूप धारण कर लिया। इससे अलग-अलग औद्योगिक राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा हुई और उनके स्वार्थ टकराये। जब मार्

दुनिया पर ही एक तरह से पूजीवादी शोषण छा गया तो फैलने की यह क्रिया वन्द होगई और वडे-वडे राष्ट्रो के सघर्ष से लडाई छिड़ गई ।

ये मव वाते मै पहले वता चुका हूँ, लेकिन मै इन्हे इसलिए दोहरा रहा हूँ कि तुम्हे वर्तमान सकट को समझने मे मदद मिले । वढते हुए पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के इस जमाने मे पश्चिम मे अनेक वार संकट आये, क्योकि एक तरफ लोग बहुत-सा रुपया वचाकर रखते थे और दूसरी तरफ लोगो के पास खर्च करने को वहुत थोड़ा रुपया रहता था। मगर ये सकट-काल निकल गये, क्योकि पूजीपतियो का फालतू रुपया पिछडे हुए प्रदेशो का विकास और शोषण करने मे लग गया और इस तरह वहॉ नये बाजार खडे होगये और माल की खपत वढ़ गई । साम्राज्यवाद पूजीवाद का अन्तिम स्वरूप कहलाया । मामूली हालत मे यह शोषण-क्रिया दुनिया-भर के उद्योग-प्रधान वन जाने तक जारी रह सकती थी, लेकिन वीच मे कठिनाइयाँ और रुकावटे पैदा होगई । खास मुश्किल थी साम्राज्यवादी राष्ट्रो की भयंकर प्रतिस्पर्धा । उनमे से हरेक खुद वडे-से-वड़ा हिस्सा लेना चाहता था । दूसरी मुश्किल यह हुई कि पराधीन देशो मे नया राष्ट्रवाद पैदा हुआ। वहॉंके उद्योगो की उन्नति होने लगी,और वे अपने यहॉकी मण्डियों को माल पहुँचाने लगे ।

हम देख चुके हैं कि इन सब क्रियाओ के परिणाम-स्वरूप युद्ध हुआ । लेकिन युद्ध से पूंजीवाद की कठिनाइयाँ न हल न हुई, हो सकती थीं । सोवियट संघ का विशाल प्रदेश पूंजीवादी ससार मे से सफा निकल गया और शोषण करने जैसा वाजार न रहा । पूर्व मे राष्ट्रीयता अधिकाधिक तीव्र हो चली और उद्योगवाद फैलने लगा । लड़ाई के समय और लड़ाई के वाद वैज्ञानिककला मे जो जवरदस्त उन्नति हुई उससे भी सम्पत्ति के असमान विभाजन मे और वेकारी के पैदा होने मे मदद मिली । युद्ध-ऋण भी एक प्रवल कारण हुआ ।

युद्ध-ऋण भारी वहुत था और यह याद रखना चाहिए कि वह कोई ठोस सम्पत्ति नही था । अगर कोई देश रेलवे या आवपाशी के लिए या देश के किसी और लाभ-दायक काम के लिए रुपया उधार लेता है तो उस ऋण और खर्च के वदले मे उसके पास कुछ ठोस चीज आजाती ह । असल मे इन कामो पर खर्च की हुई सम्पत्ति से भी अधिक पैदा हो सकती है । इसीलिए ये उत्पादक कार्य कहलाते है ।

मगर युद्ध-काल मे उधार लिया हुआ रुपया ऐसे किसी काम मे खर्च नहीं हुआ । वह उत्पादक तो था ही नहीं, वल्कि विनाशक था । बेशुमार रुपया खर्च किया गया और उसके पीछे नाश-ही-नाश वाकी रहा । इस तरह युद्ध-ऋण खालिस भार के सिवा और कुछ न था । युद्ध-ऋण तीन तरह का था । एक लडाई का हर्जाना था जो

चुकाने के लिए हारे हुए देशों को मजबूरन राजी होना पड़ा; दूसरे मित्र-राष्ट्रों पर एक-दूसरे का और खास तौर पर अमेरिका का कर्ज था, और तीसरे प्रत्येक देश ने अपने-अपने नागरिकों से रुपया उधार लिया था।

इन तीनों अलग-अलग तरह के क़र्ज़ों में से हरेक बहुत भारी था। लेकिन इन सब में प्रत्येक देश का राष्ट्रीय ऋण सबसे बड़ा था। इस तरह लड़ाई के बाद ब्रिटिश राष्ट्रीय ऋण ६ अरब ५० करोड़ पौण्ड तक पहुँच गया था। ऐसे क़र्ज़ों का ब्याज चुकाना भी बहुत बड़ा भार होगया था और उसका अर्थ हुआ बहुत भारी कर लगाना। जर्मनी ने अपना सारा भीतरी क़र्ज़ नोट छाप-छापकर उतार दिया। इससे वहाँका पुराना सिक्का मार्क खत्म हुआ और इस तरह से उसने अपना बोझा हल्का कर लिया हालांकि जिन लोगों ने उसे उधार दिया था वे घाटे में रहे। फ्रांस ने भी नोट छाप-छापकर निकालने का वही तरीका इख्तियार किया, मगर उस हद तक नहीं गया। उसने अपने सिक्के फ्रांक की कीमत घटाकर पाँचवे हिस्से के लगभग करदी और इस तरह एक ही बार में अपने भीतरी राष्ट्रीय ऋण का $\frac{4}{5}$ हिस्सा उड़ा दिया। यह चाल दूसरे देशों के क़र्ज़ यानी युद्ध के हर्जाने और विदेशी क़र्ज़ के बारे में नहीं चली जा सकती थी। उन्हें तो ठोस सोना ही देना पड़ा।

एक देश का दूसरे देश को इस तरह क़र्ज़ अदा करने का अर्थ यह हुआ कि चुकानेवाले देश को उतने रुपये की हानि हो और वह और भी गरीब होजाय। लेकिन भीतरी क़र्ज़ अदा कर देने से देश की स्थिति में ऐसा कोई फ़र्क नहीं पड़ता, क्योंकि रुपया किसी भी तरह देश का देश में रहता है। फिर भी एक दूसरी तरह का अन्तर तो पड़ा ही, और वह बहुत बड़ा अन्तर था। इस तरह के क़र्ज़ देश के अमीर और ग़रीब सभी लोगों पर कर लगाकर जमा किये हुए रुपये से चुकाये जाते हैं। सरकार को उधार देनेवाले लोग धनवान थे। नतीजा यह हुआ कि धनवानों का क़र्ज़ चुकाने के लिए धनी और निर्धन दोनों पर कर लगाया गया। इससे धनवानों ने सरकार को कर के रूप में जो कुछ दिया था उससे कहीं ज्यादा उन्हें वापस मिल गया; पर ग़रीबों ने तो दिया ही दिया, उन्हें बदले में मिला कुछ नहीं। फलतः मालदार ज्यादा मालदार होगये और ग़रीब और भी ग़रीब होते गये।

योरप के क़र्ज़दार देशों ने अमेरिका के क़र्ज़ का जो कुछ हिस्सा चुकाया वह सब रुपया भी वहाँके बड़े-बड़े साहूकारों और धन-कुबेरों की जेब में गया। इस तरह युद्ध-ऋण का नतीजा यह हुआ कि बुरी परिस्थिति और भी बुरी होगई और ग़रीबों को नुकसान पहुँचाकर अमीर लोग धन से और भी लद गये। धनवानों ने इस रुपये को किसी काम में लगाना चाहा क्योंकि कोई व्यवसायी अपने रुपये को बेकार प

नही रखना चाहता। उन्होने नये-नये कारखानो और यंत्रो में और दूसरे बडे-बडे खर्च के उद्योगो में यह रुपया जरूरत से ज्यादा लगा दिया। आमतौर पर लोगो की जैसी दिवालिया हालत होरही थी उसे देखते हुए उनका इस तरह पूजी लगाना मुनासिब नही था। पर वे शेयरबजार में सट्टा भी करने लगे। उन्होने अधिकाधि बडे और व्यापक पैमाने पर माल बनाने की तैयारी करली। मगर इससे फायदा क्या, जब सर्वसाधारण के पास खरीदने को रुपया ही न हो? इस तरह उत्पत्ति अधिक होगई, माल बिक न सका, उद्योगो में घाटा रहने लगा और बहुत-से बन्द होने लगे। व्यवसायियो ने नुकसान से घबराकर उद्योगो में पूजी लगाना बन्द कर दिया और रुपया बैको में पड़ा रक्खा। इस तरह बेकारी फैल गई और मन्दी ससारव्यापी होगई। मैनें उथल-पुथल के बताये हुए भिन्न-भिन्न कारणो की अलग-अलग चर्चा की है, परन्तु वे सब साथ-साथ चलते रहे और इसीसे व्यापार की यह मन्दी इतनी भयंकर होगई जितनी कि पहले कभी नही थी। तत्वतः इसका कारण पूजीवाद से प्राप्त हुई फालतू आमदनी का असमान विभाजन था। इसीको दूसरी तरह से यो कहा जा सकता है कि गरीबो ने जिस माल को अपनी मेहनत से तैयार किया था उसीको खरीदने के लिए उन्हे मजदूरी और वेतन के रूप में काफी रुपया नहीं मिला। उनकी सारी आमदनी से इस माल की कीमत ज्यादा थी। अगर यह रुपया गरीबो के पास होता, तो इस माल के खरीदने में काम आता। मगर यह रुपया तो उन थोडे-से धनवान लोगो के पास जमा होगया जिन्हे यह भी पता न था कि इसका क्या करे। यही फालतू रुपया ऋण की धारा में बह-बहकर अमेरिका से जर्मनी, मध्य-योरप और दक्षिणी अमेरिका पहुँचा। इसी विदेशी कर्ज ने युद्ध-जर्जर योरप और पूंजीवादी व्यवस्था को कुछ वर्ष तक कायम रक्खा। फिर भी संकट का एक कारण तो यह ऋण भी बनाही और इसी-के बन्द होने पर सारा ढाँचा अर्रा कर गिर पड़ा।

अगर पूंजीवाद के संकट का यह निदान सही है, तो इलाज भी वही ठीक होसकता है जिससे सबकी आय समान हो या कम-से-कम समान होने की सम्भावना हो। यह काम पूरी तरह तो समाजवाद को अपनाने से ही हो सकता है लेकिन जबतक परिस्थिति मजबूर न करे तब तक पूंजीपति ऐसा होनें देने वाले नहीं हैं। लोग सयोजित पूंजीवाद की, पिछडे हुए प्रदेशो का शोषण करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघो की बात करते है, परन्तु इन बातो के पीछे राष्ट्रीय लाग-डॉट और संसार के बाजारो के लिए साम्राज्यवादी राष्ट्रो का आपसी सघर्ष भयंकर होता जारहा है। ऐसी हालत में योजना कैसी? दूसरे को नुक्सान पहुँचाकर अपना फायदा करने की? पूंजीवाद का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ होता है और स्पर्धा उसके स्वभाव में है। स्पर्धा और योजना का क्या साथ?

जब संकट और मन्दी संसारव्यापी है, तो यही कल्पना होती है कि उनका उपाय भी अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। सहयोग का कोई-न-कोई रास्ता निकालने की कोशिशें मुख्तलिफ देशो ने की है, मगर वे सब नाकामयाब रहे। इसलिए प्रत्येक देश जगत्व्यापी इलाज से निराश होकर आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप में राष्ट्रीय उपाय ढूंढ रहा है। दलील यह दी जाती है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कम होरहा है तो हम कम-से-कम अपने देश का व्यापार तो अपने हाथ में रक्खें और विदेशी माल अपने यहाँ न आने दें। बाहर के व्यापार का कोई भरोसा नही और वह बदलता भी रहता है, इसलिए हर मुल्क अपने घरू बाजार पर ही ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान देने की कोशिश कर रहा है। चुंगी-कर लगाकर या बढ़ाकर विदेशी माल को रोका जाता है और इसमें सफलता भी मिली है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुँचाने में भी सफलता मिली है, क्योकि हर मुल्क की चुंगी से दुनिया के व्यापार में रुकावट होती है। योरप, अमेरिका और कुछ हद तक एशिया-भर में चुंगी की ऊँची-ऊँची दीवारे खडी है। चुंगी का दूसरा नतीजा यह हुआ कि जिन्दगी का मामूली खर्च बढ़ गया, क्योकि खाद्य पदार्थो का और उन सब चीजो का, जिनकी चुगी से रक्षा होती है, भाव चढ़ गया। चुंगी से राष्ट्रीय एकाधिकार पैदा होता है और बाहर की लाग-डॉट मिट जाती है या मुश्किल होजाती है। एकाधिकार में भाव तो बढ़ते ही है। जिस विशेष उद्योग को चुंगी का संरक्षण मिल जाता है उसे उस संरक्षण से लाभ होता है, या यो कहो कि उसके मालिको को तो फायदा होता है, मगर माल को खरीदनेवाले लोग ज्यादातर घाटे में रहते, है क्योकि उन्हे ज्यादा कीमत चुकानी पड़ती है। इस तरह चुंगी से विशेष वर्गो को थोड़ा आराम मिल जाता है और स्थायी स्वार्थ पैदा होजाते है, क्योकि चुगी से फायदा उठानेवाले उद्योग उन स्वार्थो को कायम रखना चाहते है। इस तरह हिन्दुस्तान में कपडे के उद्योग को जापान के ख़िलाफ़ बहुत भारी संरक्षण मिला हुआ है। इससे भारतीय मिल-मालिको को बहुत लाभ है और वे ऊँचे भाव लगा सकते है। संरक्षण के बिना वे जापान की बराबरी नहीं कर सकते। यहाँ का शक्कर का उद्योग भी सरक्षित है। इस कारण हिन्दुस्तान-भर में, और विशेषकर सयुक्तप्रान्त और बिहार में, शक्कर के कारखाने धड़ाधड खुले है और खुलते जा रहे है। इस तरह स्थायी स्वार्थ पैदा होगये है और अगर शक्कर की चुंगी उठादी जाय तो इन स्वार्थो को धक्का पहुँचेगा और शक्कर के नये कारखाने शायद बन्द होजायँगे।

दो तरह के एकाधिकारो की वृद्धि हुई। एक तो बाहरी एकाधिकार यानी चुगी की सहायता पानेवाले राष्ट्रो के बीच में; और दूसरे भीतरी एकाधिकार, जिसमें बडे व्यवसाय छोटो को हड़प कर लेते है।

समाजवादियों और साम्यवादियों की बात छोड़ दें तो भी कितने ही विचारशील लोग वर्तमान स्थिति में पूंजीवाद की उपयोगिता में सन्देह करने लगे हैं। कुछ लोगों ने सिर्फ़ मौजूदा लाभ के तरीके को बल्कि रुपया देकर माल ख़रीदने की मूल्य-प्रथा को भी मिटा देने के लिए अचम्भे में डालनेवाले उपाय सुझाये हैं। अमेरिका के अर्थशास्त्री इंजीनियरों के एक दल ने अपना नाम 'टैकनो-क्रैट्स' रक्खा है। उनका प्रस्ताव है कि रुपये के बजाय शक्ति की इकाई ही काम में लानी चाहिये। इस इकाई को अर्ग (Erg) कहते हैं। दूसरी सूचना यह है कि यह इकाई अर्न (Ern) होना चाहिए। इसका अर्थ है शक्ति की इकाई के साथ नत्रजन (Nitrogen) को मिला देना। मैं यह नहीं समझाऊँगा कि इनका उपयोग किस तरह से किया जाये। मैं तो इनका उल्लेख सिर्फ तुम्हें यह समझाने के लिए कर रहा हूँ कि किस तरह लोगों का दिमाग पुरानी बातें छोड़ता जा रहा है। डगलस साहब की सामाजिक साख का सिद्धान्त एक और ही तजवीज पेश करता है। उसके अनुसार मजदूरी और वेतन प्राचीन काल के अवशेष-मात्र हैं, इसलिए उन्हें बिलकुल ही उठा देना चाहिए। इस मजदूरी और वेतन का चुकाना लोगों में ख़रीदने की ताकत बाँटना है। आजकल इससे अच्छी तरह काम नहीं चलता, क्योंकि ख़रीदने की अधिकांश शक्ति मुट्ठी-भर लोगों के हाथ में चली जाती है। इसलिए, मेजर डगलस, सूचित करते हैं कि देश की असली दौलत में साल भर में जो ख़ालिस वृद्धि हो उसकी समूची क़ीमत सारे नागरिकों को राष्ट्रीय मुनाफे की शक्ल में बाँट दी जाया करे। इस तरह सभी नागरिक ख़र्च की सभी चीजें ख़रीद सकते हैं—यानी वह माल जो खप सकता है, न कि रेलवे और कारखानों जैसा बड़ा माल। इस तरह वर्षभर में समूचे राष्ट्र द्वारा पैदा की हुई चीजें सबको मिल जायेंगी। इस प्रथा में अति उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि ख़र्च करने की और पैदा करने की शक्ति में समतोल रहता है। इस प्रणाली का आधार उधार की प्रथा को बढ़ाकर सब नागरिकों में फैला देना है।

ये सब प्रस्ताव अभी तो हवा-ही-हवा में हैं। ये हैं भी इतने क्रान्तिकारी कि पूंजीवादी लोग इन्हें नहीं अपना सकते। जिनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय ने हाल में बेकारी तुरन्त कम करने के लिए यह सीधी-सी सूचना पेश की कि मजदूरों के काम के घण्टे सप्ताह में चालीस कर दिये जायें। इसका फल यह होता कि लाखों और मजदूरों को काम मिल जाता और उस हदतक बेकारी घट जाती। मजदूरों के सभी प्रतिनिधियों ने इस सूचना का स्वागत किया; परन्तु ब्रिटिश सरकार इसके ख़िलाफ़ थी, और जर्मनी और जापान की मदद से उसने किसी तरह इसे दाख़िल दफ़्तर करवा दिया। लड़ाई के बाद के इस सारे समय में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय में ब्रिटेन की कारगुजारी बराबर प्रतिगामी रही है।

जब सकट और मन्दी संसारव्यापी है, तो यही कल्पना होती है कि उनका उपाय भी अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। सहयोग का कोई-न-कोई रास्ता निकालने की कोशिशे मुख्तलिफ देशो ने की है, मगर वे सब नाकामयाब रहे। इसलिए प्रत्येक देश जगत्व्यापी इलाज से निराश होकर आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप में राष्ट्रीय उपाय ढूँढ रहा है। दलील यह दी जाती है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कम होरहा है तो हम कम-से-कम अपने देश का व्यापार तो अपने हाथ में रक्खें और विदेशी माल अपने यहाँ न आने दें। बाहर के व्यापार का कोई भरोसा नहीं और वह बदलता भी रहता है, इसलिए हर मुल्क अपने घरू बाजार पर ही ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान देने की कोशिश कर रहा है। चुगी-कर लगाकर या बढ़ाकर विदेशी माल को रोका जाता है और इसमें सफलता भी मिली है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुँचाने में भी सफलता मिली है, क्योकि हर मुल्क की चुंगी से दुनिया के व्यापार में रुकावट होती है। योरप, अमेरिका और कुछ हद तक एशिया-भर मे चुंगी की ऊँची-ऊँची दीवारे खडी है। चुंगी का दूसरा नतीजा यह हुआ कि जिन्दगी का मामूली खर्च बढ़ गया, क्योकि खाद्य पदार्थो का और उन सब चीजो का, जिनकी चुगी से रक्षा होती है, भाव चढ़ गया। चुगी से राष्ट्रीय एकाधिकार पैदा होता है और बाहर की लाग-डॉट मिट जाती है या मुश्किल होजाती है। एकाधिकार में भाव तो बढ़ते ही हैं। जिस विशेष उद्योग को चुंगी का संरक्षण मिल जाता है उसे उस संरक्षण से लाभ होता है, या यो कहो कि उसके मालिको को तो फायदा होता है, मगर माल को खरीदनेवाले लोग ज्यादातर घाटे में रहते, है क्योकि उन्हे ज्यादा कीमत चुकानी पडती है। इस तरह चुगी से विशेष वर्गो को थोड़ा आराम मिल जाता है और स्थायी स्वार्थ पैदा होजाते है, क्योकि चुंगी से फायदा उठानेवाले उद्योग उन स्वार्थो को कायम रखना चाहते है। इस तरह हिन्दुस्तान में कपडे के उद्योग को जापान के खिलाफ़ बहुत भारी संरक्षण मिला हुआ है। इससे भारतीय मिल-मालिको को बहुत लाभ है और वे ऊँचे भाव लगा सकते है। संरक्षण के बिना वे जापान की बराबरी नहीं कर सकते। यहाँ का शक्कर का उद्योग भी सरक्षित है। इस कारण हिन्दुस्तान-भर में, और विशेषकर सयुक्तप्रान्त और बिहार में, शक्कर के कारखाने धड़ाधड खुले है और खुलते जा रहे है। इस तरह स्थायी स्वार्थ पैदा होगये है और अगर शक्कर की चुंगी उठादी जाय तो इन स्वार्थो को धक्का पहुँचेगा और शक्कर के नये कारखाने शायद बन्द होजायँगे।

दो तरह के एकाधिकारो की वृद्धि हुई। एक तो बाहरी एकाधिकार यानी चुगी की सहायता पानेवाले राष्ट्रो के बीच में; और दूसरे भीतरी एकाधिकार, जिसमें बडे व्यवसाय छोटो को हड़प कर लेते है।

अलबत्ता एकाधिकारों की वृद्धि कोई नई चीज़ नहीं है। यह तो महायुद्ध के पहले भी कई साल तक होती रही है। अब उसकी गति तेज़ होगई है। चुंगी भी अनेक देशों में पहले से मौजूद थी। इंग्लैण्ड ही बड़े देशों में ऐसा था जिसने मुक्त व्यापार (Free Trade) पर अबतक भरोसा रक्खा और चुंगी के बिना काम चलाया था। परन्तु अब उसे भी अपनी परम्परा तोड़कर दूसरे देशों की बराबरी में आना पड़ा और चुंगी-कर लगाना पड़ा। इससे उसके कुछ उद्योगों का तात्कालिक बोझा कुछ हलका होगया। इन सब उपायों से स्थानीय और अस्थायी लाभ तो हुआ, लेकिन सारे संसार की दृष्टि से देखा जाय तो हालत असल में पहले से भी ख़राब होगई। न सिर्फ़ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और भी कम होगया, बल्कि सम्पत्ति के विभाजन की असमानता क़ायम रही और बढ़ गई। बराबरी के राष्ट्रों ने एक-दूसरे के ख़िलाफ़ चुंगी-कर लगा दिया। इन्हें चुंगी की दीवार कहते हैं। इससे आपस में संघर्ष बराबर बना रहा। जैसे-जैसे संसार की मण्डियाँ कम होती गईं और उनपर संरक्षण लगता गया वैसे-वैसे उनके लिए छीना-झपटी भी तेज़ होती गई और मालिक लोग अपने मज़दूरों की मज़दूरी कम करने के लिए दबाव डालने लगे, ताकि वे दूसरे देशों से लाग-डाँट कर सकें। इस तरह मन्दी बढ़ती गई और बेकारों की तादाद में वृद्धि होती गई। मज़दूरी घटाने के साथ-साथ मज़दूरों की ख़रीदने की ताक़त भी कम होगई।

: १८३ :

नेतृत्व के लिए अमेरिका और इंग्लैण्ड का झगड़ा

२९ जुलाई, १९३३

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि मौजूदा मन्दी के ज़माने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटते-घटते सिर्फ़ तीसरे हिस्से तक रह गया है। लोगों की ख़रीदने की शक्ति कम होजाने से अन्दरूनी या देशी व्यापार कम होगया। बेकारी बढ़ती चली गई और इन करोड़ों बेकारों का पालन-पोषण करने का बड़ा भारी बोझा मुख़्तलिफ़ सरकारों के सिर पर आ पड़ा। भारी कर लगाने पर भी बहुत-सी सरकारों का आय-व्यय बराबर होना तक असम्भव-सा होगया। उनकी आमदनी घटती गई और ख़र्च, किफ़ायत और वेतन की कटौती के बावजूद, बढ़ा-चढ़ा रहा। इसका कारण यह था कि इस ख़र्च का बड़ा भार जल, स्थल और हवाई सेना के ख़र्च और भीतरी और बाहरी क़र्ज़ की अदायगी के साथ बँधा हुआ था। राष्ट्रीय बजटों में घाटा रहने लगा। यानी आय से ख़र्च

ज्यादा हो गया। इन घाटो की पूर्ति या तो रुपया उधार लेने से ही हो सकी या दूसरी अमानती रकमो में से रुपया निकालकर हो पाई। इससे सम्बन्धित देशों की आर्थिक स्थिति कमजोर होगई।

साथ-ही-साथ माल के बडे-बडे ढेर बे-बिके रह गये, क्योकि लोगो के पास खरीदने को काफी रुपया नही था और कई जगहो पर ये 'फालतू' खाद्य-पदार्थ और दूसरी चीजें सचमुच नष्ट करदी गई, हालांकि और स्थानो में लोगो को उनकी सख्त जरूरत थी। यह संकट और मन्दी सोवियट संघ के सिवाय सारी दुनिया में हुई। किन्तु इसे मिटाने के लिए भिन्न-भिन्न राष्ट्रो ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप में आपस में सहयोग नहीं किया। हरेक देश ने अपनी ही चिन्ता, दूसरो से आगे बढ़ने की कोशिश और दूसरों की विपत्ति से खूब फ़ायदा उठाने की तजवीज की। इस निजी और खुदगर्जी से भरी हुई कार्रवाई तथा दूसरे अधूरे उपायो से स्थिति और भी गंभीर होगई। संसार के मामलो में दो मुख्य बाते या प्रवृत्तियाँ और हैं, जिनका इस व्यापारिक मन्दी से तो कोई ताल्लुक नही है लेकिन इसपर उनका असर बहुत पड़ता है। एक तो है सोवियट संघ के साथ पूंजीवादी संसार की प्रतिद्वन्द्विता या लागडॉट, और दूसरी इंग्लैण्ड और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा।

पूंजीवादी संकट से सारे पूंजीवादी देश कमजोर और ग़रीब होगये और एक अर्थ में युद्ध के संयोग कम होगये है। हर मुल्क अपना घर सुधारने में लगा हुआ है और किसीके पास जोखम के कामो पर खर्च करने के लिए रुपया नहीं है। फिर भी उलटी बात तो देखो कि इसी संकट से लड़ाई का खतरा बढ़ गया है, क्योकि इससे राष्ट्र और उनकी सरकारे निराश होरही है। और निराश लोग अक्सर अपनी भीतरी कठिनाइयाँ बाहर लड़ाई लड़कर हल किया करते है। यह बात खास तौर पर उस हालत में होती है जब सत्ता सर्वेसर्वा शासक या छोटे-से दल के हाथ में होती है। सत्ता छोड़ने के बजाय वह अपने देश को लड़ाई के गढ़े में फेंक देता है और इस तरह अपनी रिआया का ध्यान घरेलू झगडो से हटा देता है। यो देखा जाय तो सोवियट संघ के खिलाफ युद्ध छिडने की सम्भावना सदा रहती है, क्योकि यह आशा रक्खी जा सकती है कि इस युद्ध में बहुत-से पूंजीवादी देश आपस में मिल जायेंगे। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि सोवियट संघ पर पूंजीवादी संकट का पूरा असर नहीं हुआ। वह अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूरा करने में लगा और किसी भी तरह लड़ाई से बचने पर तुला रहा।

महायुद्ध के बाद इंग्लैण्ड और अमेरिका की लाग-डॉट लाज़िमी होगई। ये दोनो संसार की सबसे बडी ताकते है। दोनो ही संसार के मामलों में अपना-अपना प्रभुत्व रखना चाहती है। महायुद्ध के पहले इंग्लैण्ड का प्रभुत्त्व निर्विवाद था। युद्ध

से संयुक्तराष्ट्र सबसे मालदार और ताकतवर राष्ट्र होगया और स्वभावत उसने चाहा कि संसार में जिस पद का वह अपनेआपको हकदार समझता था वह पद यानी प्रमुख पद भविष्य में उसे मिले। आयन्दा वह हर बात में इंग्लैण्ड की ही नही चलने देने वाला था। इंग्लैण्ड खुद भी पूरी तरह समझ गया था कि जमाना बदल गया है और उसने अमेरिका की दोस्ती चाहकर अपनेआपको समय के अनुकूल बनाने की कोशिश भी की। उसने तो यहाँतक किया कि अमेरिका को खुश करने लिए जापान के साथ की हुई मित्रता की सन्धि तोड़दी और आगे बढकर अमेरिका को खुश करने की कई कार्रवाइयां कीं। लेकिन इंग्लैण्ड अपने विशेष स्वार्थ और स्थिति और खासकर आर्थिक नेतृत्व छोड़ने को तैयार न था क्योकि इन चीजो के साथ उसकी महानता और उसका साम्राज्य बँधे हुए थे। मगर अमेरिका को ठीक इसी आर्थिक नेतृत्व की जरूरत थी। इसलिए दोनो देशो में सघर्ष लाजिमी होगया। दोनो देशो के साहूकर ऊपर से आपस में बडी मीठी और प्रेम-भरी बाते करते थे, लेकिन दरपरदा अपनी-अपनी सरकारो के बल पर जगत् के आर्थिक और औद्योगिक नेतृत्व रूपी बडे पुरस्कार के लिए लड़ते रहते थे। इस खेल में जीत और तुरप के पत्ते अधिकतर अमेरिका के हाथ में दिखाई दिये, लेकिन दीर्घ अनुभव और क्रीड़ा-कौशल इग्लैण्ड की तरफ ज्यादा थे।

युद्ध के कर्ज़े के कारण दोनो राष्ट्रो में कटुता और भी बढ गई और इग्लैण्ड में अमेरिका को यह कहकर गालियाँ दी जाने लगीं कि वह तो अपने सेर-भर मास के लिए शायलाक बन रहा है। बात असल में यह थी कि ब्रिटिश सरकार पर अमेरिका का कर्ज ग़ैरसरकारी साहूकारो का दिया हुआ था। इन लोगो ने युद्ध-काल में या तो रुपया दिया था या साख दी थी। संयुक्तराष्ट्र की सरकार ने अपनी ओर से सिर्फ इतमीनान दिलाया था। इसलिए सयुक्तराष्ट्र की सरकार के लिए कर्ज़ को उडा देने का सवाल नही था। अगर वह इंग्लैण्ड को कर्ज़ माफ कर देती तो इतमीनान दिलाने-वाले की हैसियत से खुद उसको रुपया चुकाना पड़ता। अमेरिका की कांग्रेस को ऐसा कोई कारण नही दिखाई दिया कि वह खासतौर पर संकट के समय इस अतिरिक्त जोखम को अपने ऊपर ओढ़े।

इस तरह इग्लैण्ड और अमेरिका के आर्थिक स्वार्थों की खींचातानी मुख्तलिफ तरीको पर हुई। आर्थिक स्वार्थ का जोर दूसरे जोरो से बढकर होता है। इन दोनों जातियो में बहुत-सी बाते एक-सी हैं। फिर भी उनमें आजकल भावी युद्ध की सम्भावना की चर्चा होरही है। ऐसे युद्ध में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि इंग्लैण्ड जीत सकेगा, क्योकि अमेरिका का बल और उसके साधन बहुत बड़े हैं। लेकिन ऐसे युद्ध के सिवाय दूसरा चारा यही दिखाई देता है कि इग्लैण्ड के विशेष अधिकार

और उसका प्रधान-पद धीरे-धीरे किन्तु लगातार सयुक्तराष्ट्र के हाथो में चला जावे। यह विचार अग्रेजो को सुखकर नही हो सकता कि जिन चीजो को वे इतने महत्त्व की समझते है उनमें से अधिकाश को वे छोडदें, वे अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा और साम्राज्यवादी शोषण का लाभ खो दें और अमेरिका के सद्भाव पर निर्भर रहकर ससार में पीछे की जगह स्वीकार करे। वे बिना लडे दबनेवाले नही है। इग्लैण्ड की वर्तमान स्थिति का यही दु:खपूर्ण चित्र है। उसके पुराने बल के सारे श्रोत सूखते जा रहे है और भविष्य अनिवार्य पतन की तरफ सकेत करता हुआ मालूम होता है, मगर पीढियो तक जिस अग्रेज जाति को दूसरो पर हुकूमत करने की आदत रही है, वह इस तरह की स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार नही है। वह इसके ख़िलाफ लड़ रही है और लडेगी।

मैंने तुम्हे आज के संसार की दो मुख्य प्रतिद्वद्विताये बताई है, क्योकि इनसे घटना-चक्र बहुत कुछ समझ में आ जाता है। अलबत्ता और भी बहुत-सी प्रतिस्पर्धायें है। सारी पूँजीवादी प्रथा का आधार ही प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता पर है।

हाँ, तो मन्दी के कारण घटना-चक्र किस प्रकार घूम रहा है उसीका वर्णन जारी रक्खें। जून १९३० में फ्रांसीसियो ने राइनलैण्ड खाली कर दिया। इससे जर्मन लोगो की बडी चिन्ता दूर हुई, लेकिन यह चीज इतनी देर में आई कि उसे सद्भाव का चिन्ह नही समझा गया और मन्दी के अन्धकार के कारण सभी चीजो का रंग काला दिखाई देता था। जैसे-जैसे व्यापार की हालत बिगड़ती गई वैसे-वैसे ऋणी देशो के पास रुपये की कमी होती गई और हर्जाने और कर्ज़ का चुकाना मुश्किल ही नही बल्कि असम्भव होगया। अदायगी की मुश्किल को टालने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने एक वर्ष के लिए ऋण वसूल करना स्थगित कर दिया था। कोशिश तो यह की गई कि युद्धऋण के सारे सवाल पर ही फिर से विचार किया जाय। लेकिन संयुक्त-राष्ट्र की कॉंग्रेस ने यह मंजूर नहीं किया। फ्रास की सरकार भी जर्मनी से युद्ध का हर्जाना वसूल करने के सवाल पर उतनी ही सख़्त रही। ब्रिटिश सरकार चूंकि देन-दार भी थी और लेनदार भी थी, इसलिए वह इस बात के पक्ष में थी कि हर्जाने और ऋण दोनो रद करके हिसाब साफ कर दिया जाय।

सब देश अपने-अपने हिसाब से विचार करते थे। फल यह हुआ कि मिलकर कोई कार्रवाई नहीं हो सकी। १९३१ के बीच में जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था टूट गई और बैंको के दिवाले निकल गये। इससे इंग्लैण्ड में भी संकट पैदा होगया और वह अपना देना नहीं चुका सका। देश का आर्थिक पतन होने की नौबत आगई। इस ख़तरे का बहाना लेकर मजदूर सरकार को उसीके मुखिया मैकडॉनल्ड ने भंग कर दिया और

वह 'राष्ट्रीय सरकार' का नेता वनकर सामने आगया। इस सरकार में प्रधानता अनुदार दल की थी। लेकिन पाउण्ड की रक्षा यह राष्ट्रीय सरकार भी न कर सकी। उसी समय के आसपास वेतन घटाने के सवाल पर अटलाटिक प्रदेश की जलसेना के ब्रिटिश नाविको ने विद्रोह कर दिया। इस शान्त विद्रोह का ब्रिटेन और योरप पर जवरदस्त असर हुआ। रूसी क्रान्ति की स्मृतियाँ और नाविको के विद्रोह की वाते लोगो के दिमाग में ताजा हो आई और आनेवाले वोलशेविज्म का भय उनके दिलो में भर गया। ब्रिटिश पूंजीपतियो ने विपत्ति आने से पहले अपनी पूंजी वचा लेने का निर्णय किया और उसे वडे परिमाण में विदेशो में भेज दिया। धनवान लोगो का देश-प्रेम रुपये पर आँच आने की जोखम नही उठा सकता।

ज्यो ही ब्रिटिश पूंजी वाहर गई, पाउण्ड की कीमत घट गई और अन्त में २३ सितम्वर १९३१ को इंग्लैण्ड को सोने का विनिमय छोड़ देना पड़ा। यानी उसे अपना सोना वचाने के लिए पाउण्ड को सोने से अलग करना पड़ा। उसके वाद से अव कोई पहले की तरह पाउण्ड के नोटो के वदले में सोना नही माँग सकता।

पाउण्ड की कीमत का इस तरह घट जाना ब्रिटिश साम्राज्य और इंग्लैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की दृष्टि से एक वडी भारी घटना थी। इसका अर्थ था कम-से-कम कुछ समय के लिए उसका वह आर्थिक नेतृत्व छोड़ देना जिसके वदौलत रुपये-पैसे के मामले में लन्दन संसार का केन्द्र और मुख्यनगर वन गया था। इस नेतृत्व की रक्षा के लिए १९२५ में इंग्लैण्ड ने अपने उद्योगो को हानि पहुँचाकर भी सोने का विनिमय फिर से ग्रहण कर लिया था और उसे वेकारी, और कोयले की खानो की हडतालो का सामना करना पड़ा था। लेकिन ये सव उपाय वेकार हुए और दूसरे देशो की कार्रवाइयो से पाउण्ड को सोने से अलग होना पड़ा। यह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त होने की शुरुआत का निशान मालूम हुआ और संसार-भर में इसका यही अर्थ लगाया गया। चूँकि यह ऐतिहासिक घटना २३ सितम्वर १९३१ को हुई इसलिए यह तारीख वडी महत्त्वपूर्ण होगई। परन्तु इंग्लैण्ड ठहरा डटकर लडनेवाला और उसके अधीन निस्सहाय साम्राज्य तो आडे वक़्त में काम आने के लिए था ही। हिन्दुस्तान और मिस्र ये दोनो देश पूरी तरह उसके कब्ज़े में थे। इन दोनो का सोना खींचकर ही अधिकांश में उसने अपना संकट टाल दिया। पाउण्ड के गिरने से उसके कारखानो को फायदा हुआ, क्योकि वह अपना माल विदेशो में सस्ता वेच सकता था। उसने विलक्षण ढंग से अपनी हालत सम्हाल ली। फिर भी युद्ध के हर्जाने और कर्ज़ की समस्या तो थी ही। यह जाहिर था कि जर्मनी हर्जाना नहीं चुका सकता और ऐसा करने से उसने जाने में भी इन्कार कर दिया। अन्त में १९३२ में लाज़ेन में एक परिषद् हुई। उसमें हर्जाने

की रकम घटाकर इस आशा से नाममात्र की रख दी गई कि सयुक्तराष्ट्र ऋण मे भी ऐसी ही कमी कर देगा। लेकिन सयुक्तराष्ट्र की सरकार ने ऋण और हर्जाने के सवालो को मिलाने से या कर्ज को बट्टेखाते लिखने से इन्कार कर दिया। इससे सारा मामला फिर उलट गया और योरप के लोग अमेरिका से बडे नाराज हुए।

दिसम्बर १९३२ में सयुक्तराष्ट्र को किस्त चुकाने का समय आया। इग्लैण्ड और फ्रास वगैरा की तरफ से बडे जोर की वकालत हुई, लेकिन अमेरिका टस-से-मस न हुआ। बडी बहस के बाद इंग्लैण्ड ने भुगतान कर दिया। लेकिन यह भी कह दिया कि बस यह आखिरी किस्त है। फ्रास और कुछ दूसरे देशो ने भी रुपया देने से इन्कार कर दिया और दिवालिया होगये। इसके बाद कोई नया समझौता नही हुआ और पिछले मास यानी जून १९३३ में कर्ज की दूसरी किस्त चुकाने का समय आया। फ्रांस ने फिर भुगतान करने से इन्कार कर दिया, लेकिन इग्लैण्ड के प्रति अमेरिका ने उदारता दिखाई और नाममात्र के लिए थोड़ा-सा रुपया लेकर बडे सवाल का फैसला आगे के लिए छोड दिया। मालूम नही वह फैसला क्या होगा, लेकिन यह बात काफी तौर पर साफ है कि ऋण का बड़ा भाग कभी अदा नही होगा। मामला परिस्थितियो के हाथ में चला गया है और उन्होने कर्ज का सफाया कर दिया है। शायद अमेरिका ने भी सब्र कर लिया है, लेकिन वह कर्जा छोड़ देने के बदले में कुछ विशेष अधिकार या लाभ लेलेना चाहता है।

इस बारे में जब इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे बडे-बडे और धनी पूंजीवादी देश अपने ऋण से पिण्ड छुड़ाने की कोशिश कर रहे है और अपने-अपने ढंग और प्रणाली के मुताबिक ऐसी मॉग कर रहे है तो यह विचार करना दिलचस्पी से खाली न होगा कि सोवियट ने जब अपना कर्ज चुकाने से इन्कार कर दिया तो उसकी इन्ही देशो ने इतनी तीव्र निन्दा क्यो की? हिन्दुस्तान में भी जब कॉग्रेस की तरफ से यह कहा गया कि इंग्लैण्ड का हिन्दुस्तान पर जो कर्जा बताया जाता है उसके सारे सवाल पर हमारी निष्पक्ष अदालत विचार करेगी तो सरकारी हलको से 'धर्म डूब गया' की पुकार मचाई गई है। राष्ट्रीय ऋण चुकाने के ऐसे ही सवाल पर आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड में भी गहरा सघर्ष उत्पन्न होगया और उनके बीच व्यापारिक युद्ध अबतक भी चल रहा है।

मैने बार-बार इग्लैण्ड के आर्थिक नेतृत्व और उसके लिए अमेरिका की लड़ाई का और अलग-अलग देशो के बैंको के उथल-पुथल और आर्थिक पतन का उल्लेख किया है। तुम पूछती होगी कि इन सब बातो का अर्थ क्या है, क्योंकि मुझे इसमें सदेह ही है कि तुम यह सब समझती होगी, शायद तुमको इस विषय में रस न आता हो। लेकिन जब मै इसके बारे में इतनी सारी बातें कह चुका हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि

थोड़े और विस्तार से समझाने का प्रयत्न करूँ। हमें रस आवे या न आवे, इन आर्थिक घटनाओं का राष्ट्रीय और व्यक्तिगत दोनों ही दृष्टियों से हमपर खूब परिणाम होता है। और इसलिए जिन बातो से हमारा वर्तमान और भविष्य बनता-बिगड़ता है उन्हें समझ लेना ही अच्छा है। बहुत-से लोगो पर पूंजीवादी संसार की आर्थिक व्यवस्था की रहस्यमयी कार्य-प्रणाली की ऐसी छाप पड़ती है कि वे इसे बड़े भय और आदर्श की दृष्टि से देखने लगते है। उन्हे यह इतनी पेचीदा, नाजुक और जटिल मालूम होती है कि वे इसे समझने की भी कोशिश नहीं करते और इसलिए इसे वे विशेषज्ञो, साहूकारो और ऐसे ही लोगों के लिए छोड़ देते है। यह पेचीदा और जटिल तो बेशक है और यह आवश्यक नहीं कि जो चीज जटिल है वह अच्छी भी हो ही, परन्तु फिर भी हमें वर्तमान संसार को समझना हो तो इस आर्थिक प्रणाली का भी कुछ ज्ञान होना चाहिए। मैं तुम्हे सारी प्रणाली समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। यह मेरे बूते की बात भी नहीं है। क्योंकि मैं इसका कोई विशेषज्ञ नहीं हूँ, मैं तो इसका एक विद्यार्थी मात्र हूं। और इसलिए तुम्हें थोड़ी-सी बातें बता भर दूंगा। मुझे आशा है कि इनकी मदद से तुम संसार की कुछ घटनाओं और अखबारों की खबरें समझ सकोगी। इस कार्य में मुझे फ्रांसिस डिलायजी नामक फ्रांस के एक योग्य अर्थशास्त्री के अत्यन्त स्पष्ट वर्णन पर आधार रखना पड़ेगा। फ्रेंच लोग बड़े साफ़ दिमाग और जाग्रत बुद्धि के होते है। अंग्रेजों में यह बात नहीं है; उन्हे तो अपने 'दिमाग़ी घपलेपन' और तर्कहीनता पर ही नाज है। मुझे शायद जो कुछ मैं कह चुका हूँ उसीका बहुत-कुछ हिस्सा दोहराना पड़ेगा। परन्तु तुम्हें समझने में मदद मिले तो उसकी परवा न करना। याद रखना इसका नाम पूंजीवादी प्रणाली है। इसमें हिस्सेदारी की व्यक्तिगत कम्पनियाँ होती है, गैरसरकारी बैंक होते है और शेयर बाजार होते है, जहाँ शेयर यानी हिस्से खरीदे और बेचे जाते है। सोवियट संघ में आर्थिक और औद्योगिक प्रणाली बिलकुल दूसरी तरह की है। वहां ऐसी कम्पनियां, खानगी बैंक या शेयर बाजार नहीं होते। वहाँ करीब-क़रीब सब चीजो की मालिक सरकार है और उसीका उनपर नियन्त्रण है और विदेशी व्यापार असल में तबादले के ढंग पर है।

तुम जानती हो कि प्रत्येक देश का भीतरी व्यवसाय करीब-करीब सारा चैकों के जरिये और उससे कम बैंक-नोटो के द्वारा होता है। सोना और चांदी तो छोटी-मोटी खरीदारी के सिवाय क्वचित् ही काम में लाये जाते है (सोना तो असल में मिलता ही कम है)। यह कागजी रुपया साख की निशानी होता है और जबतक लोगों का नोट जारी करनेवाले बैंकों या देश की सरकार में विश्वास होता है तबतक इनसे नकद रुपये का काम निकलता रहता है। लेकिन इस कागजी रुपये से एक देश से दूसरे देश को रुपया चुकाने का काम नहीं निकलता। क्योंकि हरेक देश का अपना-अपना राष्ट्रीय

सिक्का होता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का आधार सोना होता है, क्योकि दुर्लभ धातु के रूप में इसका अपना मूल्य है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सोना या तो सिक्के के रूप में दिया जाता है या पासे के रूप में। परन्तु यदि एक देश से दूसरे देश के हरेक भुगतान मे सचमुच सोने का ही उपयोग करना पडे तो वडी जबरदस्त दिक्कत होजाय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास ही न होने पाय। इसके सिवा ससार-भर के सोने की वास्तविक मात्रा से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कीमत या मात्रा भी सीमित होजाय, क्योकि जव यह सीमा आ पहुँचे और भुगतान के लिए सोना और मिले नही तो उस वक्त तक विदेशी व्यापार का आगे लेन-देन ही नही हो सकता जवतक कि कुछ सोना छुट्टा होकर वापस न आजावे।

परन्तु वात ऐसी नही है। १९२९ में ससारभर में सारा सोने का सिक्का ११ अरव डालर था। उसी वष में, जो माल एक देश से दूसरे देश को भेजा गया उस सवकी कीमत ३२ अरव डालर थी। ४ अरव का विदेशी ऋण भी था और ४ अरव के ही करीव का दूसरा विदेशी भुगतान था। इसमें यात्रियो का खर्चा, जहाज का भाड़ा और प्रवासियो द्वारा घर भेजा हुआ रुपया सब शामिल था। इस तरह सब मिलाकर राष्ट्रीय भुगतानो की कीमत लगभग ४० अरव डालर हुई। यह सोने के सिक्को से करीव-करीव चौगुना है।

तो फिर विदेशो का भुगतान किस तरह किया जाता है? जाहिर है कि सब-का-सव भुगतान सोने के रूप में तो नही किया जा सकता। आमतौर पर भुगतान एक प्रकार के सहायक रुपये या चैक और हुण्डी आदि पुर्जो के रूप में किया जाता है। ये पुर्जे व्यापारी अपने ऋण की रसीद के रूप में विदेशो को भेजते है। यह काम-काज विदेशी हुण्डियो के विनिमय का काम करनेवाले वैंको के जरिये होता है। विनिमय के ये वैंक भिन्न-भिन्न देशो के लेवा-वेची करनेवाले लोगो के सम्पर्क में रहते है और उनके पास जो हुण्डियाँ आती है उनके द्वारा लेन-देन का जमा-खर्च करते रहते है। यदि किसी समय वैंक के पास हुण्डियो का अभाव होजाय तो वह उसकी पूर्ति सरकारी वॉण्ड या कर्ज या अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियो के हिस्सो आदि के रूप में प्रसिद्ध सरकारी कागज से कर लेते है। ये हिस्से तार द्वारा वेचे या दूसरो को दिलाये जा सकते है और इस प्रकार दूसरे देशो में भुगतान तुरन्त किया जा सकता है।

इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान केन्द्रीय विनिमय वैंको के द्वारा व्यापारी या सरकारी कागज के रूप में यानी हुण्डियो और सिक्योरिटी आदि के रूप में होता है। इन वैंको को रोजमर्रा की व्यापारिक आवश्यकताओ के लिए इन दोनों तरह के कागजो का यानी हुण्डियो और सिक्योरिटियो का ढेर हमेशा अपने पास रखना

पड़ता है। वे प्रति सप्ताह सूचियाँ प्रकाशित करके वताते रहते हैं कि उनके पास कितना सोना और कितना विदेशी पुर्जा है। साधारणतः विदेशी भुगतान के लिए सोना कभी बाहर नहीं भेजा जाता। परन्तु जब कभी ऐसा होता है कि और किसी तरह से भुगतान करने की अपेक्षा सचमुच सोना भेजना सस्ता पड़ता है तब साहूकार लोग सुवर्ण-धातु भेजते हैं।

सोने के विनिमय वाले देशों में राष्ट्रीय सिक्के का मूल्य सोने की शक्ल में मुकर्रर होता है और वहाँ उसके बदले में कोई भी सोना माँग सकता है। इसलिए ये सिक्के प्रायः स्थिर रहते हैं और उनका आपस में विनिमय होसकता है, क्योंकि उनके बदले में सोना मिल सकता है। उनकी कीमत में कमी-वेशी होसकती है तो वह एक देश से दूसरे देश में सुवर्ण-धातु भेजने के ख़र्च की वजह से ही होसकती है, क्योंकि अपने देश में कीमत ज्यादा हुई तो व्यवसायी दूसरे देश से आसानी से सोना मँगवा सकता है। सोने के विनिमय की प्रणाली यही है। इस प्रणाली में अलग-अलग राष्ट्रों के सिक्के स्थिर होते हैं और १९ वीं सदी से ठेठ महायुद्ध के समय तक इस प्रणाली के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ता गया। आज यह प्रणाली टूट गई है और इसीलिए रुपये का व्यवहार बड़ा विचित्र होगया है और अधिकांश राष्ट्रों का सिक्का अस्थिर बन गया है।

मोटे हिसाब से हर देश का आयात और निर्यात का व्यापार बराबर-सा होता है। दूसरे शब्दों में कहे तो, एक देश जो माल मँगाता है उसकी कीमत वह उस माल के रूप में चुकाता है जो वह बाहर भेजता है। परन्तु यह बात बिलकुल सही नहीं है और अक्सर एक-न-एक तरफ थोड़ा-बहुत रुपया बाकी निकलता है। जब जावक से आवक का मूल्य अधिक होता है तो वह देना-बाकी (Advance Balance) कहलाता है और उस देश को हिसाब पूरा करने के लिए कुछ भुगतान और ऊपर से करना पड़ता है। भिन्न-भिन्न देशों के बीच में माल का आवागमन नियमित रूप से हर्गिज़ नहीं होता, वह बहुत बार बदलता रहता है। उसमें उतार-चढाव आते हैं और प्रत्येक परिवर्तन के साथ हुण्डियों की माँग और उनका भुगतान बदलता रहता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि किसी देश के पास ऐसी हुण्डियाँ तो बहुत होती हैं जिनकी उसे उस समय ज़रूरत नहीं होती और ऐसी हुण्डियाँ उसके पास काफी नहीं होतीं जिनकी उसे आवश्यकता हो। मसलन फ़्रास के पास जर्मनी पर जर्मनी के सिक्के मार्क में की हुई हुण्डियाँ तो काफी से ज्यादा हो, परन्तु ऐसी हुण्डियाँ काफी न हो जिनसे वह अमेरिका के साथ डालर के रूप में हिसाब तय कर सके, तो ऐसी हालत में फ़्रांस जर्मनी की हुण्डियों को बेचकर उनके बदले में संयुक्तराष्ट्र पर डालर की हुण्डियाँ ख़रीदना चाहेगा। ऐसा वह तभी कर

सकता है जब हुण्डियो का कोई ऐसा केन्द्रीय बाजार हो जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय होता हो। ऐसा बाजार उसी देश में हो सकता है जहाँ नीचे लिखी तीन सुविधायें हो—

१. उसका विदेशी व्यापार इतना फैला हुआ और मुख्तलिफ किस्म का होना चाहिए कि उसके पास सब तरह की हुण्डियो की बहुतायत रहे।

२. वहाँ हर तरह के सरकारी कागज़ मिल सके, यानी वह पूँजी का सबसे बड़ा बाजार हो।

३ उसका सोने की भी सबसे बडी मण्डी होना आवश्यक है, ताकि हुण्डी और सरकारी काग़ज दोनो के न मिलने की हालत में सोना आसानी से मिल सके।

सारी १९ वी सदी में इग्लैण्ड ही ऐसा देश था जहाँ ये तीनो शर्तें पूरी होती थी। चूंकि वह उद्योग के क्षेत्र में सबसे पहले उतरा था और एक विशाल साम्राज्य पर उसका एकाधिकार था, इसलिए ससार में उसका विदेशी व्यापार सबसे अधिक हो गया था। उसने अपने बढते हुए उद्योग पर अपनी खेती का बलिदान कर दिया। उसके जहाज हर बन्दरगाह से व्यापार का माल और हुण्डियाँ ले जाते थे। इस महान् औद्योगिक विकास के कारण वह स्वभावत. पूँजी का सबसे बड़ा बाजार बनगया और उसके पास सब तरह के विदेशी सरकारी पुर्जो का ढेर लग गया। दूसरा सहायक कारण उसके लिए यह हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ——यानी दक्षिण अफरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा और हिन्दुस्तान में——दुनिया का दो-तिहाई सोना निकलता था। इन सोने की खानो का माल लन्दन में फौरन बिक जाता था। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड इनका निकला हुआ सारा सोना एक बँधे हुए भाव पर खरीद लेता था।

इस तरह लन्दन हुडियों, सरकारी कागजो और सोने की प्रधान मण्डी बन गया। वह संसार की आर्थिक राजधानी होगया। जिस किसी सरकार या साहूकार को विदेश से हिसाब करने की जरूरत हुई और अपने देश में इसका साधन न मिला, तो वह लन्दन चला जाता और वहाँ उसे हर तरह का व्यापारिक और आर्थिक कागज तथा सोना मिल जाता। पाउण्ड के नोट व्यापार के ठोस चिन्ह बन गये। अगर डेनमार्क या स्वीडन को दक्षिण अमेरिका से कुछ ख़रीद करने की जरूरत हुई तो सौदा पाउण्ड के नोटो में हो जाता था, भले ही माल कभी लन्दन न आये।

इग्लैण्ड को इस धन्धे से बड़ा भारी मुनाफा था, क्योकि सारी दुनिया का काम उससे निकलता था और उसके बदले में दुनिया उसे कुछ-न-कुछ कर देती थी। इससे प्रत्यक्ष लाभ तो था ही। साथ ही विदेशी व्यापारी भावी भुगतान के लिए अग्रेज़ी बैंको में रुपया जमा रखते थे। इस अमानत को ये बैंक दूसरे लोगो को थोडे-थोडे समय के लिए उधार देकर फायदा उठाते थे। अंग्रेज़ी बैंको को विदेशी कारखानेदारो के धन्धे

का सब हाल भी मालूम होजाता था। उनके हाथों में होकर जो हुण्डियाँ गुज़रती थीं उनसे जर्मन या दूसरे विदेशी व्यापारियों द्वारा लगाये हुए भावों का और विदेशों में उनके ग्राहकों के नामों तक का अंग्रेज़ी बैंकों को पता चल जाता था। ब्रिटिश उद्योग के लिए यह जानकारी बहुत उपयोगी थी, क्योंकि इससे उसे अपने विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों को मात देने में सामर्थ्य मिलता था।

इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय को बढ़ाने और मज़बूत करने के लिए अंग्रेज़ी बैंकों ने दुनियाभर में शाखायें और आढ़तें खोल दीं। विदेशों को ब्रिटिश उद्योग के प्रभाव में लाने के काम में तो ये बैंक मदद देते ही थे। ब्रिटिश दृष्टिकोण से ये एक और भी बड़ी उपयोगी सेवा करते थे। ये पूछताछ करते रहते थे और सभी बड़ी-बड़ी स्थानीय दूकानों और व्यवसायों के बारे में लिखित सामग्री रखते थे। इससे जब कभी कोई स्थानीय दूकान हुण्डी करती थी तो वहाँका ब्रिटिश बैंक या आढ़तिया उस हुण्डी का मूल्य जानता था और अगर वह उसमें कोई जोखम नहीं समझता तो उसपर अपनी साख दे सकता था। इसे 'सिकारना' कहते हैं, क्योंकि बैंक उस हुण्डी पर 'स्वीकार किया' यह शब्द लिख देता है। ज्योंही बैंक ने इसके सिकरने की गारण्टी दी कि हुण्डी आसानी से बेची या दूसरे के नाम की जा सकती थी, क्योंकि उसकी पीठ पर बैंक की साख होती थी। ऐसी गारण्टी के बिना एक अनजान विदेशी दूकान की हुण्डी को लन्दन जैसे या और कहीं के दूर के बाजार में खरीदनेवाला नहीं मिल सकता, क्योंकि उस दूकान को कोई जानता न था। बैंक हुण्डी को सिकार कर जोखम तो उठाता था; परन्तु वह ऐसा करता था अपनी स्थानीय शाखा द्वारा पूरी जाँच करवाने के बाद ही। इस तरह सिकारने की इस प्रथा ने हुण्डियों के लेन-देन और साधारणतः सारे व्यवसाय के लिए ही सुविधा करदी, और साथ ही दुनिया के व्यापार पर लन्दन नगर का पंजा भी मज़बूत बना दिया। दूसरे किसी देश की ऐसी स्थिति नहीं थी कि वह किसी बड़े पैमाने पर यह सिकारने का काम कर सके, क्योंकि विदेशों में उसकी शाखायें थोड़ी थीं।

इस तरह १०० से भी अधिक वर्ष तक लन्दन संसार की आर्थिक राजधानी रहा और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और व्यापार की बागडोर उसके हाथों में रही। रुपया तो वहाँ बहुत था ही और इस कारण सस्ती शर्तों पर मिल भी सकता था। इससे सारे साहूकार उधर आकर्षित होते थे। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के गवर्नर के पास दुनिया के चारों कोनों से व्यापार और अर्थ-प्रबन्ध की रत्ती-रत्ती खबरें आती थीं और वह अपने बहीखातों और कागजों पर एक नज़र डालकर बता सकता था कि किस देश की आर्थिक व्यवस्था कैसी है। असल में कभी-कभी तो ऐसा होता था कि

उस देश का जितना हाल उसे मालूम होता उतना वहाँकी सरकार को भी नही होता था। जिन सरकारी कागजो में किसी विदेशी सरकार का हिताहित होता उन्हे खरीदने और वेचने के छोटे-छोटे दाव-पेचो से या थोडी मुद्दत के लिए खास ढंग से कर्ज देकर उस विदेशी सरकार की राजनैतिक नीति पर दवाव डाला जा सकता था। इसे ऊँचा अर्थ-प्रबन्ध (High Finance) कहते है। साम्राज्यवादी राष्ट्रो के हाथ में दवाव डालने के जो साधन पहले भी थे और अब भी है उनमें यह साधन निहायत कारगर है।

महायुद्ध के पहले यह परिस्थिति थी। लन्दन नगर ब्रिटिश साम्राज्य के वल और वैभव का केन्द्र और चिन्ह था। महायुद्ध के कारण अनेक परिवर्तन हुए और पुरानी व्यवस्था उलट गई। लन्दन यानी इंग्लैण्ड को विजय तो प्राप्त हुई, मगर उसकी कीमत वहुत महँगी चुकानी पडी।

लडाई के वाद क्या हुआ, यह अगले खत मे बताऊँगा।

: १८७ :

डालर, पाउण्ड और रुपया

२७ जुलाई, १९३३

महायुद्ध नें दुनिया के तीन टुकडे कर दिये। दो टुकडे तो दोनो तरफ लड़नेवाले राष्ट्रो के हुए और तीसरे में तटस्थ देश रहे। लड़नेवाले प्रदेशो में परस्पर कोई व्यापार या सम्पर्क वाकी न रहा। हॉ, एक-दूसरे की जासूसी करने का खुफिया काम चलता ही रहा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पूरी तरह चौपट होगया। समुद्र पर कब्जा होने के कारण इंग्लैण्ड, फ़्रांस और दूसरे मित्र-राष्ट्र तटस्थ और पराधीन देशो के साथ थोड़ा व्यापार जारी रख सके; लेकिन जर्मन पनडुब्बियो के मारे वह भी महदूद होगया था। लड़नेवाले राष्ट्रो के सारे साधन लड़ाई में लग गये और वेशुमार रुपया खर्च हुआ। करीब १½ वर्ष तक इंग्लैण्ड और फ्रास अपने गरीव साथियो को रुपया देते रहे और खुद अपने ही प्रजाजनो और अमेरिका से उधार लेते रहे। इसके वाद फ़्रास तो थक गया और दूसरो को मदद न दे सका। इंग्लैण्ड ११ साल तक और वोझा उठाता रहा। मार्च १९१७ में उसकी भी थककर वैठ रहने की वारी आगई। उस वक़्त वह सयुक्त-राष्ट्र को ५ करोड़ पाउण्ड की चढी हुई किस्त नहीं चुका सका। इस नाजुक अवसर पर जब और किसी के पास भी आर्थिक साधन शेष नहीं रहे, इंग्लैण्ड, फ़्रास और उनके मित्रो के सौभाग्य से, अमेरिका उनकी तरफ लड़ाई में शामिल होगया। उस वक़्त से

लगाकर संयुक्तराष्ट्र सारे मित्र-राष्ट्रो को लड़ाई के लिए रुपया देता रहा। उसने अपने प्रजाजनों से 'स्वाधीनता' और 'विजय' ऋणो के नाम से भारी कर्ज़ लिया और खुद भी खूब खर्च किया और मित्र-राष्ट्रो को भी उधार दिया। जैसा कि मैं बता चुका हूं, नतीजा यह हुआ कि जब युद्ध बन्द हुआ तो संयुक्तराष्ट्र दुनियाभर का साहूकार था और सारे राष्ट्र उसके कर्ज़दार थे। लड़ाई के शुरू में अमेरिका की सरकार पर योरप का ५ अरब डालर का ऋण था। लड़ाई के अन्त में अमेरिका का योरप पर १० अरब डॉलर का कर्ज़ होगया।

युद्ध के ज़माने में अमेरिका को सिर्फ इतना ही आर्थिक लाभ नही हुआ। साथ ही उसका विदेशी व्यापार बढ़ गया और इंग्लैण्ड और जर्मनी का घट गया। अमेरिका का विदेशी व्यापार ब्रिटिश व्यापार के बराबर होगया। संयुक्तराष्ट्र के पास संसार का दो-तिहाई सोना और बहुत-से विदेशी सरकारो के हिस्से और बॉण्ड भी इकट्ठे होगये।

इस तरह संयुक्तराष्ट्र की माली हालत सबसे अच्छी होगई। वह अपने कर्ज़ के भुगतान की मॉग-भर करके अपने किसी भी ऋणी देश को दिवालिया बना सकता था। इसलिए उसे इस बात पर ईर्षा होना स्वाभाविक था कि दुनिया की आर्थिक राजधानी होने का प्राचीन पद लन्दन के पास क्यो रहे। वह चाहता था कि यह पद उसे मिले। वह चाहता था कि न्यूयार्क संसार का सबसे धनी शहर है, इसलिए लन्दन का स्थान उसे मिले। इस तरह न्यूयार्क और लन्दन के साहूकारो और धन-कुबेरो में भयकर संघर्ष शुरू हुआ और उनकी पीठ पर उनकी सरकारें थीं।

अमेरिका का दबाव पड़ा तो अग्रेज़ी पाउण्ड हिल गया। बैंक आफ् इग्लैण्ड अपने सिक्के पर सोना नहीं दे सका और पाउण्ड के नोट का सोने के विनिमय से सम्बन्ध नही रहा। इसलिए उसकी कीमत बदलने और घटने लगी। फ्रांस के फ्राक का भी भाव गिर गया। ऐसा मालूम होता था कि सारी दुनिया अस्थिर होगई है और उसमें अकेला अमेरिका का डालर चट्टान की तरह स्थिर होकर खडा है।

यह समझा जा सकता है कि इन अवस्थाओ में रुपये का व्यवसाय और सोना लन्दन से मुंह मोड़कर न्यूयार्क चला गया होगा। मगर आश्चर्य की बात देखो कि ऐसा नहीं हुआ और विदेशी हुण्डियां और खानो का सोना अब भी लन्दन जाता रहा। इसका यह कारण नही था कि लोग डालर से पाउण्ड को ज्यादा चाहते थे, बल्कि सबब यह था कि डालर आसानी से मिलता नहीं था। तुम्हे याद होगा, मैं बता चुका हूं कि 'सिकारने' की प्रथा के अनुसार ब्रिटिश बैंक अपनी शाखाओं और आढतो के ज़रिये दुनिया-भर में काम करते थे। अमेरिका के बैंको की ऐसी शाखायें या विदेशी आढते नहीं थी और इसलिए उनके पास 'सिकार कर' विदेशी हुण्डियां प्राप्त करने का

कोई साधन नही था, और हुण्डियो का ब्रिटिश बैंको के जरिये लन्दन पहुँच जाना स्वाभाविक था। इस कठिनाई का सामना करने के लिए अमेरिकन बैंको ने झटपट विदेशो में शाखायें और आढते खोलना शुरू कर दिया, और कई मुकामो पर बढ़िया इमारते खडी होगई। लेकिन एक कठिनाई और थी। 'सिकारने' का काम ऐसे सधे हुए आदमी ही कर सकते थे, जिन्हे मुकामी हालात और स्थानीय व्यवसाय के बारे में पूरी जानकारी हो। ब्रिटिश बैंको ने सौ वर्ष तक प्रगति करके ऐसे आदमी तैयार कर लिये थे। इस बारे में जल्दी उनकी बराबरी करना आसान नही था।

तब अमेरिका वाले लन्दन के विरोध में कुछ फ्रेंच, स्विच और डच बैंको से मिल गये। मगर इसमें बहुत कामयाबी नही मिली। फ्रास बड़ा धनी देश है और वह बहुत-सो पूजी भी बाहर भेजता है, परन्तु उसने विदेशी हुण्डियो का लेन-देन संगठित करने की तरफ कभी ध्यान नही दिया था। इस तरह न्यूयार्क और लन्दन में रस्साकशी चलती रही और सारी बातो को देखते हुए लन्दन का कुछ बिगड़ा नही। १९२४ में न्यूयार्क के पक्ष में एक नई बात पैदा होगई। बहुत-से नोट छाप-छापकर निकालने के बाद जर्मन मार्क की कीमत स्थिर करदी गई और नोटो के छापने के समय जो जर्मन पूंजी स्वीजरलैण्ड और हालैण्ड में चली गई थी (जोखम या खतरे के समय पूँजी हमेशा इसी तरह बाहर चली जाती है) वह जर्मन बैंको में लौट आई। अमेरिका के आर्थिक गुट में जर्मनी के शामिल होजाने से लन्दन की स्थिति बहुत बदल गई थी, क्योकि अब लन्दन की सहायता के बिना ही अमेरिका की हुण्डियो के बदले में योरप की हुण्डियाँ मनचाही मिल सकती थी। और लन्दन का सिक्का आज भी अस्थिर है, यानी सोने के रूप में पाउण्ड की कोई बँधी हुई कीमत नहीं है। वह सोने के विनिमय से अलग होगया।

अब तो लन्दन नगर के धनकुबेर घबराये। उन्होने देखा, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के व्यवसाय की सारी मलाई तो न्यूयार्क और उसके यूरोपियन साथियो के हाथ में चली जा रही है और लन्दन के हिस्से में सिर्फ जूठन बाकी रह जाती है। इस हालत को रोकने के लिए पहला काम करने का यह था कि सोने के साथ पाउण्ड को फिर बाँध दिया जाय। इससे विनिमय का फिर से अच्छा व्यवसाय आने लगेगा। इसलिए १९२५ में पाउण्ड की पुराने हिसाब से कीमत स्थिर करदी गई। अंग्रेज साहूकारो की इसमें बडी विजय थी, क्योकि पाउण्ड की कीमत बढ जाने का अर्थ था उनकी आमदनी का बढ जाना। लेकिन अंग्रेजी उद्योग के लिए यह बुरा हुआ, क्योकि इससे विदेशो में अंग्रेजी माल का भाव बढ़ गया और कारखानेदारो को अमेरिका, जर्मनी और दूसरे औद्योगिक देशो के साथ विदेशी बाजार में स्पर्धा करने में बडी मुश्किल होने लगी। परन्तु इंग्लैण्ड ने जान-बूझकर अपनी साहूकारी प्रथा, या यो कहो कि संसार के

विनिमय के बाजार में अपनी आर्थिक प्रभुता, कायम रखने के लिए कुछ हदतक अपने उद्योगों का बलिदान कर दिया। पाउण्ड की प्रतिष्ठा एकदम बढ़ गई, परन्तु तुम्हें याद होगा कि उसके बाद इंग्लैण्ड में घरेलू झगडे पैदा होगये। इनका एक कारण उद्योग को आघात पहुँचना भी था। बेकारी फैल गई और लम्बे समय तक कोयले की खानो में आम हड़ताल भी रही।

पाउण्ड का मूल्य स्थिर होगया परन्तु इतने से ही काम नहीं चल सकता था। अमेरिका ब्रिटिश सरकार से एक बडी भारी रकम खाते-पेटे या हाथ-उधार की माँगता था। इसे वह किसी भी समय वापस ले सकता था। इस तरह की माँग करके अमेरिका इंग्लैण्ड की स्थिति बहुत ही विकट बना और पाउण्ड का भाव गिरा सकता था, इसलिए बडे-बडे ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, जिनमें स्टेनली बाल्डविन भी थे, दौडे-दौडे न्यूयार्क पहुँचे। वे किस्तो के रूप में युद्ध-ऋण के भुगतान के बारे में अमेरिका से शर्तें तय करना चाहते थे। अमेरिका के ऋणी सभी यूरोपियन देश थे और उनके लिए उचित मार्ग यही था कि वे आपस में सलाह करके फिर अच्छी-से-अच्छी शर्तें प्राप्त करने के लिए अमेरिका के पास जाते। परन्तु ब्रिटिश सरकार को पाउण्ड को बचाने और लन्दन का आर्थिक नेतृत्व कायम रखने की इतनी चिन्ता हुई कि उसे फ्रास या इटली के साथ मशविरा करने का वक्त भी नहीं मिला और वह किसी भी भाव जल्दी-से-जल्दी अमेरिका के साथ कोई प्रबन्ध कर लेना चाहती थी। प्रबन्ध तो होगया, मगर हुआ भारी कीमत देकर। अमेरिका की सरकार ने जो कडी-कडी शर्तें रक्खीं वे सब उसे माननी पडीं। बाद में फ्रास और इटली का समझौता, अपने कर्ज के बारे में अमेरिका के साथ कहीं अच्छी शर्तो पर हुआ।

इन कठोर प्रयत्नो और कुर्बानियो से पाउण्ड और लन्दन नगर की रक्षा होगई। परन्तु दुनिया के सभी बाजारो में न्यूयार्क के साथ तनातनी जारी रही। धन की बहुतायत होने के कारण न्यूयार्क ने थोडे व्याज पर लम्बी मियाद के कर्जे देना शुरू किया, और अनेक देश जो पहले लन्दन के बाजार में उधार लिया करते थे अब न्यूयार्क के प्रलोभन में फँस गये। इन देशो में कनाडा, दक्षिण अफरीका और आस्ट्रेलिया शामिल थे। न्यूयार्क की बराबरी इन लम्बी मियाद के कर्जों में लन्दन नहीं कर सकता था; इसलिए उसने मध्य-योरप के बैंको को छोटी मियाद के कर्ज देने की कोशिश की। छोटी मियाद के कर्जों में साहूकार के अनुभव और उसकी प्रतिष्ठा का महत्व अधिक होता है।

यह बात लन्दन के हक में थी। इसलिए लन्दन के बैंको ने वियेना के बैंको के साथ गहरे सम्बन्ध स्थापित कर लिये और उनके जरिये मध्य और दक्षिण-पूर्वीय

योरप यानी डैन्यूब और वालकन प्रदेशो के बैंको के साथ भी सम्बन्ध जोड़ लिया। न्यूयार्क भी वहाँ थोडा-बहुत काम-काज करता रहा। इस समय लोग दौलत के लिए पागल हो रहे थे। लन्दन और न्यूयार्क की स्पर्धा के कारण रुपया योरप में वहा आ रहा था, और लखपतियो और करोडपतियो की तादाद अजीब तेजी के साथ बढ़ रही थी। इसका उपाय भी लोगो ने सीधा-सा ढूंढ लिया था। कोई साहसी आदमी इनमें से किसी देश में रेलवे या कोई और सार्वजनिक हित का काम करने के लिए रिआयत हासिल कर लेता, या दियासलाइयां बनाने और वेचने या इसी तरह का कोई ठेका ले लेता। इस रिआयत या ठेके का काम करनें के लिए कम्पनी वन जाती और वह अपने हिस्से निकालती। इन हिस्सो के आधार पर न्यूयार्क और लन्दन के वडे-वडे वैंक धन उधार दे देते। साहूकार न्यूयार्क में दो फीसदी के व्याज पर डालर के रूप में रकम उधार लेलेते और फिर उसी रकम को बर्लिन में ६ फीसदी पर और वियेना में ८ फीसदी पर उधार देदेते। इस तरह चालाकी से दूसरे लोगो का धन इधर-उधर करके ये साहूकार वहुत धनवान होगये। इनमें से इवर क्रूगर नामक एक स्वीडन-निवासी वड़ा मशहूर था। उसके पास दियासलाइयो के ठेके थे, इसलिए वह दियासलाई का राजा कहलाता था। किसी समय क्रूगर की वडी भारी प्रतिष्ठा थी। परन्तु अब यह सावित होगया है कि वह पूरा ठग था और उसनें वेशुमार रुपया ग़वन किया था। जव वह पकड़ा ही जानेवाला था तव, वरस दो वरस हुए, उसनें आत्महत्या करली। उस समय के और भी कई मशहूर साहूकार अपने गन्दे तरीको के कारण आफत में फँस गये।

इंग्लैण्ड और अमेरिका की मध्य और पूर्वीय योरप में जो स्पर्धा हुई, उससे एक लाभ हुआ। १९२९ में मन्दी शुरू हुई, उससे पहले के सालो में योरप में इस स्पर्धा के कारण दौलत की नदियाँ बह गईं इससे वहाँ की हालत वहुत सम्भल गई।

इस वीच, १९२६ और १९२७ में, फ़्रास ने भी वहुत नोट छाप डाले थे और फ़्रांक की कीमत वहुत घट गई थी। जव फ़्रांक का भाव गिरा तो धनवाले फ़्रांसीसियो नें—और धन तो फ्रांस के सभी छोटे-छोटे अमीर भी वचाकर रखते हैं—नुक्सान के डर से अपना धन वाहर भेज दिया। उन्होंनें विदेशी सरकारी कागज़ और हुण्डियो के ढेर-के-ढेर खरीद लिये। १९२७ में फ़्रांक की कीमत फिर स्थिर होगई और उसका भाव सोने के साथ वांध दिया गया। मगर उसकी कीमत पहले से $\frac{1}{5}$ रह गई। अव फ़्रांस के जिन लोगो के पास विदेशी पुर्जे थे उन्हे उनको फ़्रांक में वदल लेने की वडी उत्सुकता हुई। उनका व्यापार अच्छा चेता, क्योंकि उन्हे अव मूल से पँचगुने फ़्रांक मिल रहे थे। इस तरह नोटो के छपने से उन्हे जरा भी हानि नहीं हुई। अगर वे आरम्भ से ही फ़्रांक

रखते तो जरूर हानि होती। उस मौके से लाभ उठाने का फ्रेंच सरकार ने भी निर्णय कर लिया और उसने बदले में नई छपी हुई फ्रांक की हुण्डियाँ देकर ये सारी विदेशी हुण्डियाँ या सरकारी कागज खरीद लिये। इस तरह फ्रेंच सरकार इन विदेशी हुण्डियो और सरकारी पुर्जों को लेकर अचानक बहुत मालदार होगई। असल बात यह है कि उस समय ये हुण्डियाँ और पुर्जे उसीके पास सबसे अधिक थे। उसकी इच्छा भी नहीं थी और उसमें इतना दम भी नहीं था कि वह आर्थिक नेतृत्व के लिए इंग्लैण्ड और अमेरिका की होड़ कर सके। परन्तु दोनों पर प्रभाव डालने की स्थिति में वह जरूर होगई थी।

फ़्रांस के लोग फूंक-फूंककर क़दम रखते है और यही हाल उनकी सरकार का है। जो कुछ उनके पास होता है उसे भी गॅवा देने की जोखम उठाकर बड़ा मुनाफा करने के बजाय वे सुरक्षित रहकर थोड़ा लाभ उठाना पसन्द करते है। इसलिए फ्रेंच सरकार ने सावधान होकर अपना फ़ालतू धन थोडे व्याज पर लन्दन के अच्छे-अच्छे व्यापारियो को उधार दे दिया। इस तरह उसने ब्रिटिश बैंक से सिर्फ दो फीसदी ब्याज लिया। उसी पूंजी को ब्रिटश बैंक पाँच-छः फीसदी पर जर्मन बैंको को दे देते और जर्मन बैंक आठ-नौ फीसदी पर उसे वियेना भेज देते और वहांसे वह धन बारह फीसदी पर हंगरी या बालकन में पहुँच जाता। जितनी बडी जोखम उतना ही ज्यादा ब्याज। मगर बैंक आफ़ फ्रांस ने जोखम उठाना पसन्द नहीं किया। इसीलिए उसने ब्रिटिश बैंको के साथ लेन-देन किया। इस प्रकार फ़्रांस ने अपनी खरीदी हुई विदेशी हुण्डियो के रूप में बहुत-सा रुपया लन्दन में रख दिया और इससे लन्दन की न्यूयार्क के साथ जो लड़ाई चल रही थी उसमें मदद मिली।

इस बीच में व्यापारिक उथल-पुथल और मन्दी बढ़ रही थी और खेती की पैदावार के भाव घट रहे थे। १९३० के जाडे में गेहूँ का भाव इतना गिर गया कि पूर्वीय योरप के बैंक अपने कर्जदारो से रुपया वसूल नहीं कर सके और इसलिए उन्होंने वियेना में पाउण्ड और डालर के रूप में जो ऋण लिया था वह नहीं लौटा सके। इससे वियेना के बैंको में उथल-पुथल मच गई और वहां के क्रेडिट ऐनस्टाल्ट नामक सबसे बडे बैंक का दिवाला निकल गया। इसने फिर जर्मन बैंक हिल उठे और मार्क का ढांचा बैठने की नौबत आगई। ऐसा होता तो जर्मनी में अमेरिका और ब्रिटेन की पूंजी को खतरा होता। इसीको टालने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने युद्ध-ऋण और हर्जाने की वसूली स्थगित रखने का ऐलान किया था। उस समय हर्जाने की अदायगी का आग्रह करने का अर्थ जर्मनी का सम्पूर्ण आर्थिक नाश होता। हुआ यह कि इतने से भी काम न चला। जर्मनी दूसरे देशों को अपना खानगी कर्ज भी न चुका सका और उसका भुगतान भी मुल्तवी करना पड़ा।

नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजो का बहुत-सा धन जो जर्मनी को थोडी मियाद के कर्ज के रूप में दिया गया था, वहीं बन्द होगया। लन्दन के साहूकारो की स्थिति बिकट होगई, क्योकि उनके सिर पर भी देना था और वे जर्मनी से रकम मिलने पर आशा लगाये बैठे थे। फ़्रांस और अमेरिका ने १३ करोड़ पाउण्ड उधार देकर उनकी मदद की, मगर यह मदद वक़्त निकल जाने पर पहुँची। लन्दन के आर्थिक हलक़ो में घबराहट फैल गई। ऐसी घबराहट के अवसर पर सब लोग अपनी-अपनी रक़म निकाल लेना चाहते हैं। इसलिए १३ करोड़ पाउण्ड बात-की-बात में साफ होगये। यह न भूलना कि उस समय पाउण्ड सोने के विनिमय से बँधा हुआ था और कोई भी पाउण्ड के नोट के बदले में सोना माँग सकता था।

उस समय ब्रिटेन में मजदूर सरकार थी। उसने और धन उधार लेना चाहा और चिन्तित होकर न्यूयार्क और पेरिस के साहूकारो से माँगा। मालूम होता है, उन्होने कुछ शर्तों पर मदद करना स्वीकार कर लिया। एक शर्त यह थी कि ब्रिटिश सरकार को मजदूरो और सामाजिक सेवा-सम्बन्धी कामो में किफायत करनी चाहिए। शायद मजदूरी और वेतन घटाने की बात भी सुझाई गई थी। यह ब्रिटेन के घरू मामलो में विदेशी साहूकारो का दख़ल देना हुआ। मजदूर सरकार के विरोधियो ने इस स्थिति का अनुचित लाभ उठाया। उस सरकार के मुखिया और प्रधान मन्त्री रैमजे मैकडानल्ड ने सरकार और अपने दल दोनो को धोखा दिया और मुख्यतः अनुदार दल की सहायता से उसने दूसरी सरकार बना ली। यह 'राष्ट्रीय सरकार' कहलाई। यह संकट-निवारण के लिए ही बनी थी। योरप के मजदूर-आन्दोलन के इतिहास में रैमजे मैकडानल्ड का यह काम बे-वफाई का बडे मार्के का उदाहरण था।

राष्ट्रीय सरकार पाउण्ड की रक्षा के लिए बनी थी। वचन के अनुसार फ़्रांस और अमेरिका से उसे ऋण भी मिल गया। परन्तु उसकी सहायता से भी पाउण्ड की रक्षा न हो सकी। २३ सितम्बर १९३१ को सरकार को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा और पाउण्ड फिर अस्थिर सिक्का बन गया। पाउण्ड का भाव तेजी से गिरने लगा और लगभग १४ शिलिंग सोने के बराबर रहगया। यानी मोटे हिसाब से उसकी कीमत पहले से दो-तिहाई होगई।

इस घटना और तारीख़ का संसार में बड़ा असर हुआ। योरप ने इसे ब्रिटिश साम्राज्य के भावी नाश का निशान समझा, क्योकि इसका अर्थ था संसार के सराफा-बाजार में लन्दन की प्रभुता का अन्त होना। पाउण्ड के गिरने से अनेक देशों का धक्का हिल गया, क्योकि उन्होने पाउण्ड के नोट सोना समझकर रख छोड़े थे और उनके बदले में सोना हर वक़्त मिल भी सकता था। अब उन नोटों के बदले में सोना

साथ दिया, क्योकि जर्मनी में अमेरिका का धन रुक जाने से संयुक्तराष्ट्रो के बैंको में उथल-पुथल मच गई थी। इस उथल-पुथल में बहुत-से अमेरिकनो ने अपने डालर बेच-कर पौण्ड के नोट खरीद लिये। इस तरह ब्रिटिश सरकार को डालर की हुण्डियां बहुतायत से मिल गई। इन्हे न्यूयार्क के सरकारी बैंक में देकर उसने बदले में सोना ले लिया। चूंकि डालर सोने के विनिमय पर था, इसलिए उसके एवज़ में कोई भी सोना मांग सकता था। इस तरह किसी भी आपत्ति या पाउण्ड का भाव अधिक गिरे बिना ही ब्रिटिश सुवर्ण-भण्डार भर गया और पाउण्ड का मूल्य अस्थिर रह गया और सुवर्ण विनिमय से हट गया। साथ ही लन्दन के पास भरपूर विदेशी हुण्डियो और सरकारी पुर्जों के होने से वह फिर संसार का बड़ा और मुख्य हुण्डी-बाजार बन गया। फिलहाल न्यूयार्क हार गया। इसका बड़ा कारण तो, जैसा मैं किसी पिछले खत में बता चुका हूं, यह था कि वहांके हजारो छोटे-छोटे बैंक बर्बाद होचुके थे।

: १८८ :

पूँजीवादी दुनिया की मिलकर प्रयत्न करने की असमर्थता

२८ जुलाई, १९३३

मैंने तुम्हे आर्थिक स्पर्धाओ और चालबाजियो की कितनी लम्बी कहानी सुना डाली! यह तुम्हे शायद ही अच्छी लगी हो। असल में मुझे खुद को भी अफसोस-सा ही है कि मैंने इस मजमून पर कलम उठाई और तुम्हे यह सलाह देने को जी चाहता है कि तुम इसे छोडदो। अन्तर्राष्ट्रीय साजिशो का जाला इतना गुंथा हुआ है कि इसे सुलझाना या इसमें घुसकर निकल आना आसान बात नहीं है। मैंने तो तुम्हे जो कुछ ऊपर-ऊपर दिखाई देता है उसीकी झांकी-सी दिखाने की कोशिश की है। जो कुछ होता है उसका बहुत-कुछ हिस्सा न कभी ऊपर आता है, न जाहिर होता है।

आज की दुनिया में साहूकार और पूंजीपति का महत्व बहुत ज्यादा है। कारखानेवालो के दिन भी जाते रहे। अब तो बडे-बडे साहूकार ही उद्योग, खेती, रेलवे, ढुलाई और एक हद तक सरकार और सब चीजो पर नियन्त्रण रखते है। वजह यह है कि उद्योग और व्यवसाय के बढने से उनके लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपये की जरूरत होती है और यह रुपया बैंको से मिलता है। संसार का ज्यादातर काम आज-कल उधार या साख पर चलता है। और उधार देना-न देना, कम-ज्यादा देना और उसपर अधिकार रखना, यह सब बडे बैंको के हाथ में है। कारखानेदार और किसान दोनो को अपना काम चलाने के लिए रुपया उधार लेने बैंक के पास जाना पड़ता है।

यह उधार का धन्धा साहूकारो के लिए फायदेमन्द तो है ही, इससे धीरे-धीरे उद्योग और खेती पर उनका काबू भी बढता है। किसी नाजुक वक्त पर उधार देने से इन्कार करके या अपना रुपया वापस माँगकर वे उधार लेनेवाले का काम चौपट कर सकते है। यह बात देश के भीतर और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र दोनो में लागू होती है, क्योकि बडे-बडे केन्द्रीय बैक अलग-अलग देशो की सरकारो को रुपया उधार देते है और इस तरह उनपर अपना दबाव रखते है। इसी तरह न्यूयार्क के साहूकार मध्य और दक्षिणी अमेरिका की बहुत-सी सरकारो पर नियंत्रण रखते है।

इन बडे-बडे बैंको की बात यह है कि अच्छे और बुरे दोनो तरह के समय में इन्हे मुनाफा ही-मुनाफा होता है। अच्छे दिनो में सबका रोजगार अच्छा चलता है और उसका हिस्सा इन्हे भी मिलता है। लोग खूब रुपया बैंको में जमा कराते है, बैंक उस पर बहुत थोड़ा ब्याज देते है और उसी रुपये को अधिक ब्याज पर दूसरो को उधार दे देते है। बुरे यानी मन्दी और संकट के दिनो में वे अपना रुपया दाँतो से पकडे रखते है। इससे मन्दी तो बढ़ती है, क्योकि उधार के बिना बहुत-से धन्धो का चलना कठिन होजाता है, लेकिन बैंको को दूसरी तरह फायदा होता है। जमीन, कारखानो और सभी चीजो का भाव गिर जाता है और बहुत-से उद्योगो का दिवाला निकल जाता है। बैंक झटपट ये सब कुछ सस्ते में ख़रीद लेते है। इस तरह तेजी और मन्दी के बारी-बारी से दौर होने में साहूकारो का लाभ है।

वर्तमान महामन्दी के जमाने में बडे बैंको का बराबर अच्छा हाल रहा है और उन्होने अच्छा मुनाफ़ा (Dividend) बॉटा है। यह सच है कि संयुक्तराष्ट्र में हज़ारो बैंको और आस्ट्रिया और जर्मनी में कुछ बडे-बडे बैंको का दिवाला निकल गया है। अमेरिका में जिन बैंको का दिवाला निकला वे सब छोटे-छोटे बैंक थे। मालूम होता है अमेरिका की बैंक-प्रणाली ही गलत थी। फिर भी न्यूयार्क के बडे-बडे बैंको का काम ठीक-ठीक चला। इग्लैण्ड में किसी बैंक का दिवाला नही निकला। अलबत्ता अगर मन्दी बनी रही तो अन्त में वहाँके बडे-से-बडे बैंको की भी वही हालत होगी जो खास तौर पर बिगड जाने पर जर्मनी और आस्ट्रिया में हुई थी।

इन कारणो से आज की पूंजीवादी दुनिया में सच्ची सत्ता साहूकारों के हाथ में है। इसीलिए लोग कहते है कि शुद्ध औद्योगिक युग के बाद अब यह हमारा 'पूंजीयुग' (Financial Age) आया है। पश्चिमी देशो में और ख़ासतौर पर अमेरिका में धड़ाधड लखपति और करोड़पति बन रहे है। अमेरिका तो करोड़पतियो का देश ही कहलाने लगा है। इन धन-कुबेरो की बडी तारीफ होती है। लेकिन दिन-दिन यह प्रकट हो रहा है कि बडे-बडे पूंजीपतियो के तरीके बहुत ही गन्दे है और डाकुओ

और धोखेबाजों से इन लोगों में इतना ही भेद है कि ये अपना काम बड़े पैमाने पर करते हैं। बड़े-बड़े एकाधिकार (ठेके) छोटे-छोटे धन्धों को कुचल डालते हैं। बड़ी-बड़ी पूंजी के दांव-पेंच, जिन्हें बहुत कम लोग समझ सकते हैं, उन ग़रीबों को खूब मूंडते हैं जो भरोसा करके अपनी पूंजी लगाते हैं। योरप और अमेरिका के कुछ बड़े-से-बड़े श्रीमन्तों का हाल ही में भण्डाफोड़ हुआ है और वह दृश्य कोई सुहावना दृश्य नहीं था।

हम देख चुके हैं कि इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच आर्थिक नेतृत्व के लिए जो लड़ाई चल रही थी उसमें फ़िलहाल लन्दन की जीत हुई। लेकिन इस विजय से क्या हाथ आया ? इस लड़ाई के १२ वर्ष तक जारी रहने से धीरे-धीरे इससे होनेवाला लाभ कम होता गया। खास तौर पर पिछले चार साल में मन्दी खूब फैली और व्यवसाय और उद्योग को खा गई। विदेशी व्यापार पहले से एक-तिहाई रह गया। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यापारिक काग़ज़ यानी हुण्डियां भी दो-तिहाई घट गईं। जब काग़ज़ कम हुआ तो उसके बजाय और कुछ काम में लाना ज़रूरी होगया और सरकारी काग़ज़ यानी सिक्योरिटीज़ वग़ैरा की ज्यादा चाह हुई। इनकी भी बड़ी कमी होगई। व्यापार और उद्योग की मन्दी के कारण नये हिस्से और सिक्योरिटियां नहीं निकलीं और पुरानी सिक्योरिटियों की क़ीमत पहले से आधी या उससे भी कम होगई। अब भी भाव बराबर गिर रहे हैं और यदि इस गिरावट को रोकने की कोई बात न हुई तो सम्भव है अन्त में कुछ भी मूल्य न रहे !

इस तरह व्यापारिक और सरकारी दोनों तरह के काग़ज़ कम होगये हैं। फिर भी सरकारी और ख़ानगी क़र्ज़ों पर चुकाया जानेवाला ब्याज तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। ऋणी देशों की जान बड़ी आफ़त में है कि वे क्या करें और कैसे चुकावें ? चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए और कोई साधन नहीं है। इसलिए स्वभावतः तौर पर ग़रीब देशों में सोने की मांग बढ़ गई। फिर भी इन देशों से सोना धनी देशों में बहा चला जा रहा है, क्योंकि ग़रीब देशों के पूंजी वाले लोगों ने सिक्के का भाव बदलना और गिरता हुआ देखकर अपने रुपये की रक्षा करने के लिए विदेशी सरकारी पुर्ज़े ख़रीद लिया। इस तरह धनी देशों में सोना बढ़ता जा रहा है और ग़रीब मुल्कों में कम होता जारहा है। जिन देशों के पास सोना खूब जमा होगया है वे हैं संयुक्त-राष्ट्र, फ़्रान्स, स्वीज़रलैण्ड और हालैण्ड। इंग्लैण्ड के पास भी अब तो काफ़ी सोना इकट्ठा होगया है।

लेकिन इतना सोना और धन इकट्ठा होने पर और उद्योग के नये-से-नये साधनों के होते हुए भी अमेरिका को बहुत सहायता नहीं मिली, क्योंकि मन्दी के साथ-साथ वहाँ

के बेकारो की तादाद भी बढ़ती चली गई और डेढ़ करोड़ तक पहुंच गई। वहां मज़दूरी की दर संसार में सबसे ऊंची थी, वह भी जल्दी-जल्दी घट गई और उसके साथ ही रहन-सहन का तरीका भी नीचा होगया। जिस महान् देश में सबको अवसर मिलता था और जिसका नाम सुनकर दूर-दूर से स्त्री-पुरुष आते थे, वहां निराशा का साम्राज्य छा गया। देश में बडे-बडे पूंजीपतियो का बोलबाला था। इनकी अनेक सरकारी जांच-पडतालो में कलई खुल गई और वे पूरी तरह भ्रष्ट साबित होगये। इस तरह पूंजी और उद्योग के नेताओ पर से लोगो का विश्वास उठ गया। मन्दी के इस सारे ज़माने में हरबर्ट हूवर राष्ट्रपति थे, लेकिन उन्होनें विकट स्थिति का कुछ भी उपाय नहीं किया। वे बडे-बडे पूंजीपतियो के मित्र समझे जाते थे। इसलिए उन्होने मनमानी करने के लिए उन्हे स्वतन्त्र छोड़ दिया। नतीजा यह हुआ कि जनता उनसे बुरी तरह नाराज़ होगई। १९३२ के नवम्बर में जब हर चार वर्ष में होनेवाले राष्ट्रपति का चुनाव हुआ तो हूवर को फ़्रैंक रूज़वेल्ट ने भारी बहुमत से हरा दिया। निराशा में डूबे हुए अमेरिका के मध्यमवर्ग के बेशुमार लोगो की रूज़वेल्ट की तरफ दृष्टि गई और उन्हे आशा हुई कि वह हमारे कष्ट दूर करेंगे। अमेरिका के विधान के अनुसार चुनाव तो १९३२ के नवम्बर में होगया, परन्तु नये राष्ट्रपति ने अधिकार १९३३ के मार्च तक नहीं सम्भाले। इस बीच में संसार-भर की स्थिति और भी बिगड़ गई और एक ऐसी बडी आर्थिक परिषद् बुलाने की चर्चा ज़ोर से चली जिसमें मन्दी के उपाय सोचने के लिए संसार के सब देश इकट्ठे हो। १९३३ के मार्च के शुरू में रूज़वेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति की गद्दी पर बिठाये ही जा रहे थे कि वहांके बेंको में दुबारा उथल-पुथल मच गई। उथल-पुथल बडे ज़ोर की थी और लोगो में इतनी घबराहट फैल गई कि कुछ दिनो के लिए सारे बैंक बन्द कर देनें पडे। इससे संयुक्तराष्ट्र को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा। डालर को पाउण्ड का साथ देना पड़ा और सोने से अलग होना पड़ा। देश में सोने की कमी नहीं थी और असल बात तो यह है कि अमेरिका के पास और किसी भी देश से ज्यादा सोना था। लेकिन आजकल की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का इतना विचित्र हाल है कि यह सब कुछ होते हुए भी अमेरिका को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा और सोनें की निकासी बन्द करनी पडी। शायद इसका असली उद्देश्य यह था कि बैंको और साहूकारो को नुक्सान पहुंचाकर भी उद्योग और खेती का भार हलका करनें के लिए डालर का भाव घटा दिया गया। मैंने तुम्हे पिछले ख़त में समझाया था कि रुपये का मूल्य १८ पेंस मुकर्रर कर देने से किस तरह हिन्दुस्तान में पूंजी की कीमत बढ़ गई और लोगो पर कर्ज़ का भार भी ज्यादा होगया। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने डालर का भाव घटाकर इससे उलटी बात की। तमाशे की बात तो यह देखो कि डालर का भाव

घटाने से इंग्लैण्ड नाराज हुआ, क्योंकि इससे सोने का विनिमय छोड़कर उसने पाउण्ड के लिए जो सहूलियत हासिल करली थी वह जाती रही। अमेरिका के सोने का विनिमय छोड़ने से फ़्रांस को भी बहुत बुरा लगा, क्योंकि उस वक़्त फ़्रास ही एकमात्र ऐसा बड़ा देश था जो सोने के विनिमय पर कायम था। उसके लिए भी अब उसपर कायम रहना मुश्किल होगया। अगर अमेरिका और इंग्लैण्ड जैसे दूसरे बड़े-बड़े देश अपना-अपना सोना छाती-तले दबाकर बैठ जायें और उसे बाहर न निकलने दें तो जिन लोगो के पास फ़्रांस के नोट थे वे उसके बदले में सोना माँगते तो उन सबको फ़्रास कहां-तक सोना दिये चला जाता ?

सब पश्चिमी देशो में भविष्य के बारे में शंका और अनिश्चितता फैली हुई थी। युद्ध-ऋण का मामला अभीतक तय न होनें से वह और भी बढ गई थी। प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् से ऐसा लगता था कि कोई रास्ता निकल आयगा—शायद वहां कुछ हो सके और आपस की स्पर्धा और गला दबाने की वृत्ति रोकने के लिए कोई समझौता होजाय। परिषद् में इकट्ठे होकर असफल होना जोखम की बात थी। क्योकि फिर तो सहयोग की अन्तिम आशा के नष्ट होने की भी सम्भावना थी। एक मशहूर अमेरिकन अर्थशास्त्री ने कहा था कि यह परिषद् सफल न हुई तो सारी पूंजीवादी इमारत चूर-चूर हो जायगी। एक ब्रिटिश मन्त्री ने कुछ इस तरह की बात कही थी कि परिषद् कामयाब न हुई तो निराशा, प्रतिक्रिया और विद्रोह होगा। जोखम तो बडी थी, क्योकि कोई सम्मिलित योजना दिखाई नहीं देती थी। लेकिन जोखम उठाने के सिवाय कोई चारा भी न था। रैमसे मैकडॉनल्ड ने कहा, "यह हालत नहीं रहने दी जा सकती। कोई-न-कोई रास्ता निकालना ही पडेगा।"

यह भी बात नही थी कि यह अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् अपने ढग की पहली ही परिषद् हो। महायुद्ध के बाद न जाने कितनी परिषदें हो चुकी है। असल में यह परिषदो का ही युग है। लड़ाई के बाद २७ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषदें हो चुकी थीं। यह २८वीं परिषद् होनेवाली थी। घटना-चक्र और आधुनिक उद्योग के विकास से मजबूर होकर संसार को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग ढूंढना पड़ता है। इसके लिए बार-बार कोशिश की जाती है, लेकिन वह कामयाब नहीं होती, क्योंकि पूंजीवादी समाज का पैतृक संस्कार ही साफ तौर पर ऐसा है कि उसमें ऐसे सहयोग की गुंजायश नहीं रहती। परिषदें प्रस्ताव बड़े अच्छे-अच्छे कर देती हैं, मगर बाद में उनपर अमल कुछ भी नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की नाकामयाबी की सबसे बड़ी मिसाल राष्ट्र-संघ में मिलती है।

१२ जून १९३३ को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् बड़ी शान-शौकत के साथ लन्दन में शुरू हुई। ६६ देशों के प्रतिनिधि शामिल हुए। जोरदार भाषण दिये गये।

संयुक्तराष्ट्र के प्रतिनिधि ने घबराई हुई दुनिया की बात कही और बताया कि राष्ट्रो के लिए "आर्थिक एकान्तवास की नीति इख्तियार करना बेवकूफी और सबका सन्यासियो की तरह अलग-अलग जिन्दगी बसर करना फिजूल है।" ज्यो ही लच्छेदार भाषण खत्म हुए, कठिनाइयाँ सामने आने लगी। अमेरिका ने युद्ध-ऋण के सवाल पर परिषद् में चर्चा करने से इन्कार कर दिया। यह मामला ख़ानगी चर्चा का था। परिषद् पर पहला प्रहार तो यह हुआ। फिर सोने से अलग हुए सिक्को यानी पाउण्ड और डालर का भाव मुकर्रर करने के सवाल पर अपनी-अपनी स्थिति अच्छी बनाने के लिए अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच में चालबाजियां शुरू हुई। फ्रांस और सोने के विनिमय वाले बाकी के देश खींच-तान करके अपना काम चला रहे थे, क्योकि पाउण्ड और डालर सोने के विनिमय से अलग थे और वे चाहते थे कि इन दोनो सिक्को का भाव स्थिर होजाय। लेकिन अमेरिका और इंग्लैण्ड तत्काल अपने-आपको किसी तरह बाँधना नही चाहते थे और एक-दूसरे के पैतरे ध्यान से देख रहे थे। इन सब कारणो से परिषद् का कबाड़ा बैठ गया। सहयोग का प्रयत्न विफल होगया। अब हर देश अलग-अलग दूसरो का ख़याल किये बिना, संन्यासी की तरह रहकर और सम्भवतः स्वावलम्बी अर्थनीति बनाकर, संकट का सामना करने की कोशिश करेगा। पूंजीवाद के कुछ नेताओ ने ही यह भविष्यवाणी की है। मगर सिर्फ परिषद् के असफल हो जाने से ही न तो पूँजीवाद की इमारत एकदम नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी और न क्रान्ति फैल जायगी। लेकिन इसमें कोई शुबहा नही कि इस नाकामयाबी ने पूँजीवाद की पीठ पर एक और लात जमाई है और अब उसका आगे का रास्ता ख़न्दक की तरफ जारहा है।

जर्मन सरकार ने पहले ही सार्वजनिक रूप में कह दिया कि उसकी स्थिति सरकारी या खानगी किसी भी तरह का ऋण चुकाने की नहीं है। उसने लम्बी मियाद माँगी है; लेकिन वह शायद ही भुगतान कर सके। उस तरह जर्मनी की इस कार्रवाई का मतलब न देने के ही बराबर है। इससे उसके साहूकारो की विकट स्थिति होगई है, क्योकि कभी-कभी कर्जदारो का दिवाला निकलने से कर्ज देनेवालो पर भी आफत आजाती है। १९३१ में जर्मनी में उथल-पुथल होने से ही तो इंग्लैण्ड को सोने का विनिमय छोड़ना और पाउण्ड को गिरना पड़ा था।

ब्रिटिश नीति साफ तौर पर आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति बन चुकी थी। ब्रिटिश अर्थ-मन्त्री कहता है—"हमें अपने देश और साम्राज्य के हितो का ख़याल रखकर स्वतंत्र मार्ग का अनुसरण करते रहना चाहिए।" उसने पाउण्ड के नोट को सोने या डालर के साथ मिलाने से इन्कार कर दिया। अमेरिका के लिए फिर भी कुछ मुमकिन है, लेकिन इंग्लैण्ड के लिए स्वावलम्बी होना मुमकिन नहीं है। इंग्लैण्ड अपने लिए काफी खाद्य-

सामग्री पैदा नहीं करता और उसके कारखानो के लिए कच्चा माल बाहर से आता है। इसी कारण वह मुक्त-व्यापार पर कायम रहा और उसने अपने यहां बाहर का माल विना चुंगी लगाये या वहुत थोडी चुंगी लगाकर आने दिया था। संसार के व्यापार और उसके अपने व्यापार में रस्साकशी होने और साधारण तौर पर मौजूदा संकट के कारण उसे मजबूरन मुक्त-व्यापार की नीति छोड़कर विदेशी माल पर चुंगी लगानी पडी। यह सरकारी आमदनी बढ़ाने और कम-से-कम ब्रिटिश माल के लिए घर के बाजार की रक्षा करने के लिए किया गया है। इससे भी ज्यादा बडी कोशिश की गई है पाउण्ड के नोटो के भाव के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य को एक ही आर्थिक इकाई बना देनें का। साम्राज्य काफी बड़ा है। उसमें तरह-तरह के देश शामिल है और वे इंग्लैण्ड के लिए काफी खूराक और दूसरी सामग्री पैदा करते है। इसलिए सिद्धान्त-रूप से तो साम्राज्य को स्वावलम्वी बनाना मुमकिन था ही। इतना बड़ा प्रदेश, जिसमें पाउण्ड के नोटो का विनिमय और सब तरफ से सुरक्षित बाजार हो, इंग्लैण्ड के लिए बडी सहूलियत की बात है। डालर या फ़्रांक के बारे में पाउण्ड का भाव बढ़ और घट सकता है, लेकिन इससे उस प्रदेश में कोई फर्क नहीं पड़ता जहां पाउण्ड रुपये जैसे स्थानीय सिक्के के साथ बंधा हो। •

इस ख़याल को ध्यान में रखकर ओटावा (कनाडा) में ब्रिटिश साम्राज्य की एक परिषद् की गई। इस परिषद् में जल्दी ही यह बात सामने आगई कि साम्राज्य के देशो को बाकी के ससार से अलग करके एक इकाई बना देना इतनी आसान बात नहीं है। रुपये के या और किसी मामले में हिन्दुस्तान को दबाकर उससे कुछ भी करा लेना इंग्लैण्ड के लिए बहुत आसान था; लेकिन कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफरीका केवल 'मातृदेश' के फायदे के लिए कुछ भी त्याग करनेवाले नहीं थे। दक्षिण अफरीका तो बाद में भी कुछ समय तक सोने के विनिमय पर क़ायम रहा (वह सोना पैदा करने वाला देश है) और पाउण्ड के नोट के विनिमय में शामिल नहीं हुआ। ओटावा में भाव-ताव और लेन-देन की बाते खूब हुई और अगर इंग्लैण्ड उपनिवेशो की मांगें मजूर न कर लेता तो परिषद् के भग होने की नौबत आ पहुँची थी। अपने उद्योगो को थोडी हानि पहुँचाकर भी उसे ऐसा करना पड़ा। उसे राजनैतिक और साम्राज्य सबन्धी कारणो से प्रभावित होना पड़ा, क्योंकि परिषद् को भंग करने से जो हानि होती उसे वह बर्दाश्त नहीं कर सकता था। उससे साम्राज्य को बड़े जोर का आघात पहुँचता। इसलिए जहांतक मुमकिन हो साम्राज्य के माल को तरजीह देने और विदेशी सामान न आने देने की बात तय पाई। जबसे यह सवाल छिड़ा है तभीसे ब्रिटिश माल को तरजीह देने यानी उसपर कम चुंगी लगाने या

चुगी न लगाने के विरोध में हिन्दुस्तान में तीव्र भावना रही है। इसका एक कारण राजनैतिक भी हो सकता है, लेकिन साथ ही यह भावना भी है कि दूसरे विदेशी राष्ट्रो के साथ व्यापार वन्द करके सिर्फ ब्रिटिश व्यापार के भरोसे रहना हमारे लिए हानिकर है। फिर भी दिल्ली की मौजूदा व्यवस्थापिका सभा ने, जो भारतीय जनता की प्रतिनिधि नहीं है, ओटावा के समझौते का समर्थन कर दिया। इसका एक नतीजा यह हुआ कि भारतवर्ष में आनेवाले दूसरे विदेशी माल के मुक़ाबिले में ब्रिटिश माल के भाव घट गये, क्योंकि दूसरे देशो के माल पर बन्दरगाहो पर अधिक कर ले लिया जाता है। इस सुविधा का फायदा सरकार और ब्रिटिश-उद्योग ने ब्रिटिश माल के वहिष्कार के भारतीय आन्दोलन को दवानें में उठाया।

एक वर्ष के अनुभव ने बता दिया है कि ओटावा-नीति सफल नहीं हुई और उपनिवेशो और इग्लैण्ड के बीच में और ख़ास तौर पर कनाडा के साथ बड़ा संघर्ष है, क्योकि कनाडा वढते हुए उद्योगवाला देश है और संयुक्तराष्ट्र के साथ उसके गहरे ताल्लुकात हैं। ब्रिटिश उद्योग की कुछ शाखाओ की कुछ हानि भी हुई ही है और चारो तरफ चुंगी की दीवार खडी हो जाने से चीजो के भाव बढ़ गये हैं और निर्वाह का ख़र्च अधिक होगया है। इस तरह ओटावा-नीति बहुत सफल नहीं हुई। हाँ, उससे कुछ उद्योगो का भार अस्थायी रूप से हलका होगया, लेकिन ब्रिटिश राज्य की परेशानी वढाने के लिए जापान ने साम्राज्य की मण्डियो पर जोर से धावा कर दिया है। उसने हिन्दुस्तान, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफरीका और इंग्लैण्ड तक को नही छोड़ा है। मैं तुम्हे वता चुका हूँ कि किस तरह जापान ने मंचूरिया और चीन में जवरदस्ती की और जानबूझकर राष्ट्र-संघ की अवज्ञा की। जापान ऐसा कर सका, इसका वड़ा कारण यह था कि उसे गुप्त रूप से इग्लैण्ड की सहायता मिल गई। अप्रत्यक्ष रूप से जापान को इग्लैण्ड और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा से भी मदद मिली। अमेरिका ने जापान की जवरदस्ती के ख़िलाफ कड़ा रुख़ दिखाया था। मगर इंग्लैण्ड की दुतर्फा नीति देखकर उसे भी नरम पड़ जाना पड़ा। जापान पर इससे भी वडी विपत्ति अपनें घरेलू आर्थिक झगडो और पूंजी-सम्वन्धी संकट के कारण आई। जापान के सिक्के येन का भाव तेजी से गिरा और जापानी माल सस्ता हो गया। इसका फायदा उठा कर विदेशी मण्डियो को विदेशी माल से भर दिया गया। यह माल इतना सस्ता था कि चुगी की दीवारें भी न रोक सकीं। इस सस्तेपन के कारण ही जापानी माल के चीनी बहिष्कार-आन्दोलन की कमर टूटी। पूर्व की सारी मण्डियो और दक्षिण अफरीका और आस्ट्रेलिया में भी जापानी माल की भरमार होगई। इंग्लैण्ड में जाकर कुर्ता एक शिलिंग में और मोजे दो पेंस में बिकने लगे। जर्मनी को भी बड़ा धक्का लगा। ऐसे भावो से स्पर्धा करना बिलकुल नामुमकिन

था। ब्रिटिश कारखानेदारो ने इस जापानी स्पर्धा को 'आर्थिक खतरा' बताया। हिन्दुस्तान में इसके खिलाफ बड़ा शोर-गुल मचा और जापानी माल पर नये और भारी कर लगा दिये गये। बदले में जापान जो हिन्दुस्तानी रुई खरीदता था वह उसने खरीदना बन्द कर दिया। इससे रुई पैदा करनेवाले हिन्दुस्तान के किसानो की हानि होगई।

जापानियों ने इस भयंकर रूप में भाव घटाने की क्या युक्ति की ? प्रथम तो येन का भाव गिर गया। दूसरे वहाँ के कारखानों में काम करनेवाली मजदूर लडकियो को मजदूरी बहुत कम दी जाती है। तीसरे जापानी सरकार उद्योगो को मदद देती है। और चौथे जापान की जहाजी कम्पनियाँ थोड़ा भाड़ा लेकर मदद करती है। लेकिन यह भी मानना होगा कि जापानियों ने व्यवसाय और उद्योग में अपनी योग्यता का भी परिचय दिया है और वे सस्ती ही नहीं अच्छी चीजें भी बना रहे है। यह बहुत लोगों को मालूम नहीं है कि पुराने ब्रिटिश कारखाने अब बहुत पिछड गये है और उनकी मशीनें भी नई नहीं है। अलबत्ता नकली रेशम और मोटर के नये उद्योग योग्यतापूर्वक चलाये जा रहे हैं। भारतीय उद्योगो की व्यवस्था आमतौर पर अच्छी नहीं होती।

जैसे-जैसे यह भयंकर जापानी लाग-डाँट बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे दूसरे देश और विशेषत. ब्रिटिश साम्राज्य के देश अपनी मण्डियो का दरवाजा उसके लिए बन्द करते जा रहे है। अगर जापानी माल का इस तरह बहिष्कार किया जायगा तो जापान क्या करेगा ? उसके महान् उद्योग नष्ट हो जायगे और सारी आर्थिक व्यवस्था चौपट हो जायगी। यह बात दूसरी है कि उसे चीन के भीतरी हिस्से में उतना ही बड़ा बाजार मिल जाय। लेकिन इसकी सम्भावना बहुत कम है। बस इसी तरह की नाशकारी स्पर्धा पूंजीवादी प्रणाली में चलती रहती है। कि इससे झगडे खडे होते है। आर्थिक प्रतिशोध की कार्रवाइयां होती है और अखीर में युद्ध तक छिड़ जाता है। (आर्थिक प्रतिशोध की कार्रवाइयां तो हम हिन्दुस्तान में भी देख रहे है।)

इसी तरह अगर ब्रिटेन के घर बाजार का दरवाजा योरप के दूसरे मुल्कों के लिए बन्द कर दिया जाय तो उनमें भी इनमें से कई देश बरबाद ही होजायेंगे। इसतरह हम देखते है कि हर देश अपने ही भले के लिए जो उपाय कर रहा है उनसे दूसरे देशों को और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुँचती है और संघर्ष और झगड़ा पैदा होता है।

: १८६ :

स्पेन में क्रान्ति

२९ जुलाई, १९३३

अब मैं तुम्हे व्यापारिक मण्डी और कथित सकट की लम्बी कहानी से दूर ले चलूँगा। यह सकट जैसा होना चाहिए, वैसा इधर या उधर फैसला कर देनेवाला नही साबित हुआ। यह तो जमकर बैठ गया और करीब-करीब हमारा साथी बन गया। इससे तुम्हे हटाकर मैं पिछले दो वर्ष की दो प्रमुख घटनाओ का हाल कहूँगा। ये दो घटनायें है स्पेन की क्रान्ति और जर्मनी की प्रति-क्रान्ति।

योरप का दक्षिण-पश्चिम का कोना स्पेन और पुर्तगाल से मिलकर बनता है। योरप के पुराने इतिहास में इन्होने महत्वपूर्ण भाग लिया है। इन ख़तो के दौरान में इसकी कुछ झलक हम देख चुके है। अरबो का लम्बा और तेजस्वी ज़माना और कॉर्डोवा और ग्रेनाडा के गौरव; साहसी नाविको की प्रसिद्ध जल-यात्रायें; पोप द्वारा इन दोनो में संसार का बँटवारा और अमेरिका और ईस्ट-इण्डीज़ द्वीपो में साम्राज्यो की स्थापना; इस विस्तृत साम्राज्य के बन्दरगाहो और पूर्व के व्यापार से बहकर आनेवाली दौलत; कुछ अर्से के लिए योरप में उनकी प्रभुता और स्पेन के ख़िलाफ नेदरलैण्ड्स की आजादी की लड़ाई; और फिर सम्राज्य का पतन और नाश——इन सबका थोड़ा-थोड़ा हाल हम देख चुके। इस दक्षिण-पश्चिम के कोनें पर पश्चिमी योरप के उद्योगवाद का बहुत ही कम असर हुआ और वह दरिद्र और पिछडा हुआ रहा। पादरियो का प्रभाव ख़ूब रहा। स्पेन और पुर्तगाल दोनो का शासन कमोवेश निरकुश राजाओ के हाथ में था और व्यवस्थापिका सभायें बहुत कमजोर थीं। स्पेन की व्यवस्थापिका सभा 'कोर्टे' कहलाती है। १८७० के आसपास थोडे समय तक स्पेन में प्रजातन्त्र रहा था। लेकिन वह कामयाब नहीं हुआ और राजा किसी-न-किसी तरह फिर वापस आगया। १८९८ में क्यूवा के मामले में स्पेन की अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र से लड़ाई हुई, उसमें वह अपना आख़िरी उपनिवेश भी खो वैठा। क्यूवा आज़ाद होगया और फिलिपियन लोगो की जवरदस्त मुखालफत होते हुए भी अमेरिका ने फिलीपाइन टापुओ पर कब्ज़ा कर लिया। जहाँतक मुझे याद पड़ता है, सिर्फ मोरक्को में स्पेन के प्रभाव में एक प्रदेश है। और कोई उसका उपनिवेश नहीं है।

पुर्तगाल ने किसी-न-किसी तरह न सिर्फ गोवा-जैसे हिन्दुस्तान के छोटे-छोटे टुकडे ही वलिक अफरीका के ये वडे-वडे उपनिवेश भी अभीतक अपने कब्ज़े में कर रक्खे है। १९१० में राजा को गद्दी से उतारकर वहाँ प्रजातंत्र कायम हुआ। उस वक्त से

वहाँ कई विद्रोह हुए। राजा के दल वाले राजा को वापस लाने की कोशिश करते रहे और उग्र दल के समाजवादी और दूसरे लोग सर्वेसर्वा शासको और प्रतिगामी सरकारो से पिण्ड छुड़ाने का प्रयत्न करते रहे। मगर प्रजातन्त्र किसी-न-किसी रूप में अबतक चला आरहा है। उसपर आम तौर पर सैनिक दल का काबू रहा है। महायुद्ध में पुर्तगाल ने इंग्लैण्ड, फ़्रास और उसके साथियो की तरफदारी की थी और उसमें से वह बड़ा भारी कर्जा मोल लेकर निकला था। नतीजा यह हुआ कि उसका दिवाला निकल गया। १९२६ से इस देश का कर्ता-धर्ता और सैनिक शासक जनरल कार्मोना है। वहाँ विद्रोह होने की खबरे बहुत बार उड़ती है। जब मैं ये पक्तियाँ लिख रहा हूँ, वैसा ही समाचार फिर निकला है। इससे यह जाहिर है कि मौजूदा शासन में स्थिरता नहीं है।

मैं पिछले खत में लिख चुका हूँ कि स्पेन में भी प्राइमो-द-रिवेरा के हाथ में सारी सैनिक और शासन की सत्ता थी। यह व्यवस्था मोरक्को में अब्दुलकरीम के खिलाफ जग में बार-बार हार खाने के बाद कायम हुई। आखिरकार उसके स्थान पर स्पेन का प्रजातत्र कायम हुआ। पुराने एकतत्र शासन की इमारत पूरी तरह जर्जर हो-चुकी थी और रूस की जारशाही की तरह वह भी दुश्मन से लोहा लिये बिना ही चूर-चूर होगई। यहाँ का राजा बूर्बन और हैप्सबर्ग दोनो राजवशो की सन्तान था। जब अप्रैल १९३१ में म्युनिसिपल चुनाव में प्रजातन्त्रवादियो की जबरदस्त जीत हुई तो इतने ही से डरकर राजा भाग गया। इस क्रान्ति की तारीख १४ अप्रैल १९३१ थी। उसी दिन वहाँ अस्थायी सरकार कायम होगई।

स्पेन की यह क्रान्ति मार्च १९१७ वाली रूस की पहली क्रान्ति से बहुत मिलती-जुलती है। दोनो ही जगह क्रान्ति सामन्तशाही का सफाया करने के लिए देर से होने-वाली कोशिश थी और उसके लिए खास जोर दुखी और असन्तुष्ट किसानो ने लगाया था। क्रान्ति के बाद भी स्पेन की हालत वैसी ही हुई जैसी १९१७ के मार्च और नवम्बर की दोनो क्रान्तियो के बीच में रूस की हुई थी। स्थिरता के कहीं दर्शन नहीं होते और अलग-अलग वर्ग अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकाते रहे। क्रान्ति के विरोध में विद्रोह हुए और दबा दिये गये। यह हाल उग्र दल के विद्रोहो का हुआ है। स्पेन का अन्त क्या होगा, यह कहना मुश्किल है। मगर रूस की समानता से यह विचार जरूर होता है कि शायद यहाँ भी दूसरी क्रान्ति होगी और शासन-सूत्र मजदूरों और किसानो के हाथ में आजायगा। मुमकिन है कुछ वर्ष तक यह न भी हो। रूस में जो घटना-चक्र इतनी तेजी से चला उसका कारण यह था कि उन दिनो महायुद्ध जारी था और उससे बहुत बरबादी और कष्ट हुआ था। स्पेन में रूस से भी अधिक [illegible]

मध्यमवर्ग है और अबतक इस वर्ग ने नागरिक प्रजातंत्र को कायम रक्खा है। स्पेन के मध्यमवर्ग के लोकशाही शासन के इतने अधिक दिन तक जीवित रहने का तीसरा कारण यह है कि इसने कृषि-सुधार को समस्या को जरा उत्साह के साथ हाथ में लिया है और इस तरह किसानो को थोड़ा आराम पहुँचाया है। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी आज स्पेन में मौलिक अस्थिरता दिखाई देती है। दमन खूब है—और चाहे स्पेन को लेलो, चाहे भारत या और किसी देश को लो, बडे पैमाने पर होनेवाला दमन सदा इस बात का चिन्ह होता है कि शासन-यन्त्र में डर घुस गया है और उसे अपनी स्थिरता का भरोसा नही रहा है।

स्पेन की मौजूदा सरकार उग्र दल की उदार लोकसत्ता बताई जाती है और उसपर समाजवाद की हलकी-सी छाप है। प्रधानमत्री मेनेल अज़ाना सरकार और देश का सबसे ताकतवर आदमी समझा जाता है। राष्ट्रपति अलकला ज़मोरा है। अज़ाना खुद समाजवादी नही है, मगर स्पेनिश पार्लमेण्ट यानी 'कोर्टे' में समाजवादी दल उसका साथ देता है। यह दल सबसे सबल और सुसंगठित है। इस दल की पीठ पर मजदूर-सभायें है और समाजवाद में मार्क्स का अनुयायी होने पर भी यह दल साम्यवाद का विरोधी है। साम्यवादी दल स्पेन में कमजोर है, परन्तु अराजकतावादियों का दल शक्तिशाली है। ये लोग 'अराजक संघवादी' (Anarcho-Syndicalists) कहलाते है।

मैने तुम्हे किसी पिछले खत में बताया था कि किस तरह उद्योगवाद में पिछडे हुए दक्षिणी योरप के देशो में अराजकतावाद की वृद्धि हुई। इसके साथ बम फेंकने वगैरा के कामो को न मिला देना। इंग्लैण्ड और जर्मनी में मजदूर-आन्दोलन का निर्माण श्रमजीवी-संघ के ठोस ढंग पर हुआ था और इटली और स्पेन में अराजकता-वाद के विचार अधिक फैले थे। कार्ल मार्क्स और बकूनिन का पुराना झगड़ा इसी विषय पर हुआ था और बकूनिन को अधिकांश अनुयायी दक्षिण से मिले थे। इसी विषय को लेकर मार्क्स ने बकूनिन को प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ में से निकलवा दिया था। परन्तु अराजकतावाद और किसी देश से स्पेन में अधिक रहा। पूर्वी समुद्र-तट पर बार्सिलोना में इसका ज्यादा जोर है। जनवरी १९३३ में अराजकतावादियो का एक बड़ा विद्रोह हुआ; मगर वह दबा दिया गया।

यह बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि ये अराजक-संघवादी लोग क्या चाहते हैं। कम-से-कम मै तो उन्हे या उनकी नीति को समझ नहीं पाया। मुझे वह निरर्थक मालूम होती है। उनके सिवा स्पेन में दो तरह के विचारो के लोग और हैं। इनमें से एक के हाथ में इस वक्त सत्ता है। यह उदार लोकसत्ता की मजिल पार करके धीरे-धीरे समाजवाद तक पहुँचना चाहता है। दूसरा दल पूरे समाजवाद या समूहवाद

(Collectivism) की तरफ सीधा ही वढ़ना चाहता है और नये सिरे से काम शुरू करना चाहता है।

स्पेन के नये विधान में कुछ दिलचस्प वाते है। व्यवस्थापिका सभा यानी 'कोर्ट' एक ही है और सभी वालिग स्त्री-पुरुषो को राय देने का हक हासिल है। खास वात यह है कि राष्ट्र-संघ की मंजूरी के विना राष्ट्रपति को लड़ाई का ऐलान करने की मनाई है। जितने अन्तर्राष्ट्रीय नियम राष्ट्र-संघ में वनते है और स्पेन द्वारा मंजूर कर लिये जाते है वे तुरन्त स्पेन का कानून वन जाते है और अगर कोई निश्चित कानून उनके विरुद्ध पहले से होता है तो वह भी रद होजाता है।

शुरू-शुरू में जो कानून वने उनमें यह वात भी थी कि किसी व्यक्ति या कुटुम्ब के अधिकार में २५ एकड़ से ज्यादा आवपाशी की जमीन नहीं रह सकती, और यह भी उसी वक्त तक रह सकती थी जवतक कि उसमें काश्त होती रहे। करखानो में मजदूर-समितियों को अधिकार दिया गया था कि कुछ वातो में वे कारखानों की व्यवस्था पर भी देखरेख रक्खें। खानगी ठेके उठाकर उनपर राज्य का अधिकार कर दिया गया। ३ वर्ष में २८ हजार नई पाठशालायें खोलने का शिक्षा-सम्वन्धी वड़ा कार्यक्रम तय किया गया। मजदूरों के लिए कम-से-कम इतनी मजदूरी मुकर्रर करदी गई कि वे सुख से रह सके।

ये और वहुत-से और कानून वन तो गये, मगर सवपर अमल नहीं हुआ। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि पिछले दो सालो में वहुत कुछ हुआ है। प्रजातन्त्र ने जो दो वडी समस्यायें हाथ में लीं वे है चर्च की और किसानो की।

स्पेन सदियो से एक ऐसा देश रहा है जहां कैथलिक (सनातनी ईसाई) सम्प्रदाय का जोर है। ईसाई-धर्म में आस्था न रखनेवालो को दण्ड देनेवाले न्यायालय—'इनक्विजिशन'—यहींसे शुरू हुए थे। जेसुइटपंथ का प्रवर्त्तक भी एक स्पेनी ही था। सभी कार्यों में चर्च यानी पादरियो का असर रहता था। सवसे ज्यादा असर शिक्षा-प्रणाली पर था और यह ज्यादातर उन्हींके नियन्त्रण में रहती थी। प्रजातन्त्र ने शिक्षा पर से यह पुराना पंजा हटा दिया। कोर्ट ने गिरजाघरों की ५० करोड़ डालर की सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति वना दिया और ८० हजार साधुओं और साध्वियों का पाठशालाओं में पढ़ाने का अधिकार छीन लिया। विचार यह है कि १ जनवरी १९३४ तक सारी प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालायें राज्य के हाथ में आजायें।

इस नीति का कुदरती नतीजा रोम के पोप के साथ टकराव होना था। पोप ने राष्ट्रपति को समाज-बहिष्कृत करने की खुली धमकी दी और उसे इतना भय लगा

कि जून १९३३ में उसने अजाना को प्रधान मत्री के पद से मौकूफ कर दिया। परन्तु अजाना की जगह लेने के लिए कोई नहीं था, इसलिए वह प्रधान मंत्री बनकर फिर लौट आया।

दूसरी यानी किसानो की समस्या हल होना अभी बहुत दूर की बात है। सरकार का यह इरादा था कि जिन जमीदारो की जमींदारी छीनी जाय उन्हे मुआवज़ा देदिया जाय और जितनी बडी जमीदारी हो उतना ही कम मुआवज़ा दिया जाय। यह क्रिया बहुत धीरे-धीरे हुई और रूस की तरह दूर-दूर के किसानो ने कानून अपने हाथ में लेकर जमीदारियो पर क़ब्ज़ा कर लिया। इससे सरकार को बड़ा धक्का पहुँचा और उसने जल्दी से कानून बना डाले। उसके सौभाग्य से ठीक उसी समय राजा के पक्ष में एक विद्रोह होगया और उसमें बहुत-से बडे-बडे सरदारो, उमरावो और जमीदारो ने हिस्सा लिया। विद्रोह आसानी से दबा दिया गया और जिन लोगो ने विद्रोह में भाग लिया था उनकी जायदादें जब्त करने का सरकार को अच्छा बहाना मिल गया। कुछ और बडी-बडी जायदादें छीन ली गईं, क्योकि "वे अनियमित ढंग पर पैदा हुई थीं।" फिर ये छीनी हुई जमीदारियाँ किसानो को बाँट दी गईं।

इन सब बातो के बावजूद अब भी बडी-बडी ख़ानगी जायदादें हैं और राज्य का साधारण आर्थिक नियन्त्रण अनुदार लोगो के हाथ में है। अभीतक इस मूल आर्थिक समस्या को सुलझाने की बात सरकार टालती रही है।

शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रम में अच्छी प्रगति हुई है और १९३३ के शुरू तक १० हज़ार नई पाठशालायें बन चुकी है।

सरकार के सामने एक मुश्किल सवाल केटेलोनिया का था। यह पूर्वी समुद्र-तट का एक प्रान्त है। बार्सिलोना इसकी राजधानी है और अराजकतावाद का यहाँ अड्डा है। मुद्दत से इस प्रान्त ने अलग रहने का आन्दोलन किया है और जब स्पेन में प्रजा-तन्त्र हुआ तो केटेलोनिया ने अपने अलग प्रजातन्त्र की घोषणा करदी। परन्तु मालूम होता है केटेलोनिया को स्पेन के प्रजातन्त्र के अधीन बहुत कुछ स्वशासन देकर समझौता कर लिया गया है।

इस तरह पुराना और कछुए की चाल चलनेवाला स्पेन दिन-दिन तेज़ी के साथ बदल रहा है। पादरियो का असर जाता रहा, उमरावो की शक्ति बिलकुल क्षीण होगई और सामन्तशाही विलीन होरही है। खेती-सम्बन्धी सुधारो से किसानो के कष्ट कुछ कम हुए हैं, परन्तु उन्हे सन्तुष्ट करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। सवाल यह है कि मध्यम वर्ग का लोकशाही प्राजातन्त्र इस सुधार-कार्यक्रम को जारी रख सकेगा या दूसरी क्रान्ति और होगी और नये सिरे से काम शुरू करना पडेगा ?

: १९० :

जर्मनी में नाज़ियों की जीत

३१ जुलाई, १९३३

स्पेन की क्रान्ति पर कुछ लोगो को ताज्जुब हुआ, लेकिन असल में ताज्जुब की कोई बात न थी। यह स्वाभाविक घटना-चक्र की बात थी और ध्यान से देखनेवाले लोग जानते थे कि यह होकर रहेगी। राजा, सामन्त और पादरियो की इस पुरानी इमारत में घुन लग चुका था और कोई बल बाकी नही रहा था। आज की परिस्थिति से उसका बिलकुल मेल नहीं बैठता था और इस तरह पके फल की तरह हाथ लगते ही वह गिर पडी। हिन्दुस्तान में भी अभीतक पुराने जमाने की सामन्तशाही के बहुत-से खण्डहर बाकी है। उन्हे विदेशी सत्ता का सहारा न मिले तो वे शायद जल्दी ही मिट जावे।

लेकिन जर्मनी में हाल ही में जो परिवर्तन हुए है वे बिलकुल दूसरी तरह के हैं; और उन्होने बेशक योरप को हिला दिया है और बहुत-से लोगो के होश उड़ा दिये है। हमारे लिए वे अभी इतने नजदीक की चीज है कि अभी उनके बारे में तटस्थ रहकर कोई राय नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि रोज नई-नई ख़बरे आती है और उनसे या तो खीझ पैदा होती है या गुस्सा आता है। दूर से देखनेवाले को कुछ ऐसा मालूम होता है कि ज्यादातर जर्मनो का सिर फिर गया है। उनके हैवानी और जगली व्यवहार का और कोई अर्थ ही नहीं समझ मे आता। और यह कोई अर्थ भी नहीं। जर्मनो-जैसे सुसंस्कृत और बडे ही उन्नत लोगो का इस तरह का बर्ताव देखकर बडा आश्चर्य होता है।

हिटलर और उसके नाजियो की जर्मनी में जीत होगई है। उनको फैसिस्ट कहा गया है और उनकी जीत प्रतिक्रान्ति की जीत बताई गई है, यानी १९१८ की जर्मन क्रान्ति के बाद जो हुआ उससे उलटी गंगा बह रही है। ये सब बातें बिलकुल सही है और हिटलरशाही में फैसिज्म के सारे तत्त्व, भयंकर प्रतिक्रिया और सारे उदार-दलों और खासतौर पर मजदूरों पर जंगली हमलों की प्रवृत्ति मिलेगी। फिर भी इसमें इटली के फैसिज्म से बहुत कुछ बातें अधिक हैं। इसमें कोरी प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि यह कुछ अधिक विशाल और सामूहिक भावना पर आधार रखनेवाला आन्दोलन है। सामूहिक भावना अधिक लोगों यानी श्रमिकों की नहीं है बल्कि उस मध्यमवर्ग की है जो भूखों मर रहा था, जिसके पास कोई अधिकार न रहे थे, और इसलिए जो क्रान्तिकारी बन गया था।

किसी पिछले खत में इटली का हाल लिखते हुए मैंने फैसिज्म की चर्चा की थी और वताया था कि यह उस समय कायम हुआ, जब आर्थिक सकट के जमाने में पूंजीवादी राज्य को सामाजिक क्रान्ति का खतरा था। मालिक पूंजीवादी वर्ग ने सामूहिक आन्दोलन खड़ा करके अपनी रक्षा का प्रयत्न किया। इसके लिए शुरू में नीचे दर्जे के मध्यमवर्ग को साधन बनाया गया और भोले-भाले किसान और मजदूरो को आकर्षित करने के लिए भ्रम में डालनेवाले पूंजीवाद के विरोधी नारे इस्तेमाल किये गये। जब सत्ता और राज्य का नियत्रण हाथ में आगया तो सारी लोकसत्तात्मक सस्थाओ का सफाया होने लगा, दुश्मन कुचले जाने लगे और सभी मजदूर सस्थायें खासतौर पर नष्ट-भ्रष्ट की जाने लगी। इस तरह उनका शासन प्रधानत· हिसा की वुनियाद पर खड़ा है। नये शासन में मध्यमवर्ग के समर्थको को नौकरियाँ देदी गई है और आमतौर पर कारखानो पर राज्य का कुछ-न-कुछ नियत्रण कायम होगया है।

हम देखते है और इसकी संभावना भी की जा रही थी कि जर्मनी में यह सब कुछ हो रहा है, लेकिन ताज्जुव की बात तो यह है कि इसके पीछे कितनी जबरदस्त प्रेरणा है और कितने ज्यादा लोग हिटलर से जा मिले है।

नाजी प्रतिक्रिया पाँच महीने पहले यानी मार्च १९३३ में हुई। लेकिन मैं तुम्हे इस आन्दोलन के शुरू के हालात बताने के लिए थोड़ा पीछे ले जाऊँगा।

१९१८ की जर्मन क्रान्ति, सच कहा जाय तो, नकली चीज थी; वह कोई क्रान्ति नही थी। कैसर चला गया और प्रजातंत्र की घोषणा होगई। मगर पुरानी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रणाली बनी रही। कुछ वर्ष तक नरम मार्क्सवादियो यानी लोकसत्तात्मक समाजवादियों के हाथ में राज्य का नियत्रण रहा। उन्हे पुराने प्रतिगामी और स्थायी स्वार्थ वाले लोगो का बड़ा डर था और वे सदा उनसे समझौता करने की कोशिश करते रहते थे। उनकी पीठ पर उनके दल के जबरदस्त संगठन का जोर था। लाखो सदस्य और श्रमजीवी-संघ उनके हाथ में थे और वहुत लोगो की सहानुभूति उनके साथ थी। लेकिन प्रतिगामी शक्तियो के सामने उनकी नीति सदा वचाव की रही। आक्रमणकारी रुख तो उन्होने अपने ही उग्र अग और साम्यवादी-दल के प्रति रक्खा। उन्होने अपने काम में इस वुरी तरह घोटाला किया कि उनके वहुत-से सहायको ने उनका साथ छोड़ दिया। मज़दूर उन्हे छोड़कर साम्यवादी-दल में मिल गये और कई लाख सदस्यो के होने से वह दल खूब ताकतवर दन गया। मध्यमवर्ग के मददगार प्रतिगामी दलो में जा मिले। लोकसत्तात्मक समाजवादियो (Social Democrats) और साम्यवादियो में वरावर आपस में ठनी रहती थी। इससे दोनो की ताकत कमजोर होगई।

जब लड़ाई के बाद के वर्षों में जर्मनी ने धड़ाधड़ नोट छापकर निकाले तो जर्मनी के कारखानेदारों और बड़े-बड़े ज़मींदारों ने इस कार्रवाई का समर्थन किया। ज़मींदारो पर भारी क़र्ज़ था और उनकी जायदादें गिरवी रक्खी हुई थीं। सिक्के का उस समय प्राय. कुछ भी मूल्य न था। उनके क़र्ज़ चुक गये और जायदादें फिर उनके कब्ज़े में आगईं। बड़े-बड़े कारखानेदारों ने अपने यंत्र सुधरवा लिये और बड़ी-बड़ी कम्पनियां बनालीं। जर्मनी का माल इतना सस्ता होगया कि वह हर कहीं आसानी से बिकने लगा और बेकारी ग़ायब होगई। श्रमजीवी-वर्ग का मज़दूर-संघों के रूप में प्रबल संगठन था और मार्क के गिर जाने पर भी उन्होंने अपनी मज़दूरी न घटने दी। सिक्के के गिरजाने से मध्यमवर्ग की कमर टूट गई और वह बिलकुल दरिद्र होगया। १९२३-२४ में यही अपहृत मध्यमवर्ग पहलेपहल हिटलर के साथ शामिल हुआ। जब बैंकों के दिवाले निकलने और बेकारी के बढ़ने से मन्दी फैली तो और बहुत लोग हिटलर के साथ शामिल होगये। वह असन्तुष्ट लोगों के लिए आश्रय-स्थान बन गया। साथियों के मिलने का दूसरा बड़ा साधन पुरानी सेना का अफ़सर वर्ग था। महासमर के बाद वर्साई की सन्धि की शर्तों के अनुसार यह फ़ौज तोड़ दी गई थी और हज़ारों अफ़सर बेकार होगये थे। उनके पास कोई काम न था। उस समय अलग-अलग खानगी फ़ौजें बन रही थीं। इन फौजों का नाम 'नाज़ी स्टॉर्म ट्रूप्स' यानी नाज़ी तूफ़ानी दल था। राष्ट्रवादियों की फ़ौलादी टोपियों (Steel-helmets) वाली सेना थी। ये लोग अनुदार दल के थे और क़ैसर के वापस आने के पक्ष में थे। बेकार अफ़सर इन सेनाओं में भर्ती होगये।

एडोल्फ़ हिटलर कौन था? आश्चर्य की बात तो है मगर, सच है कि एक दो साल पहले तक वह जर्मन नागरिक तक नहीं बना था। वह जर्मन-आस्ट्रियन था और उसने छोटी हैसियत से युद्ध में काम किया था। उसने जर्मन प्रजातन्त्र के विरुद्ध विद्रोह में भाग लिया था, मगर अधिकारियों ने रिआयत करके उसे छोड़ दिया था। फिर उसने लोकसत्तात्मक समाजवादियों का विरोध करने के लिए राष्ट्रीय समाजवादियों (National Socialists) के नाम से अपना दल संगठित किया। नाज़ी शब्द इसी नाम से निकला है। 'नेशनल' (National) से ना (NA) और सोशलिस्ट (Socialist) (जर्मन में सोशलिस्ट की जगह यह शब्द इस्तेमाल होता है) से "ज़ी" (Zi) लेलिये गये हैं। यद्यपि इस दल का नाम समाजवादी था, परन्तु समाजवाद से इसका कोई वास्ता न था। समाजवाद का जो साधारण अर्थ है, उसका हिटलर जानी दुश्मन था और है। इस दल ने अपना चिह्न स्वस्तिक को बनाया। यह [illegible] मङ्गल का है, लेकिन यह निशान प्राचीन काल से संसार-भर में प्रसिद्ध है। नाज़ियों ने

'तूफानी दल' (Storm Troops) के नाम से भूरे कुर्ते की वर्दी वाली एक लड़ाकू सेना भी सगठित की। इसीलिए जैसे इटली के फैसिस्टो को काली कुर्तीवाले कहते हैं, वैसे ही नाजियो को भी अक्सर भूरी कुर्तीवाले (Brownshirts) के नाम से पुकारते हैं।

नाजियो का कार्यक्रम न स्पष्ट था और न रचनात्मक। वह तीव्र राष्ट्रीयतावादी था और जर्मनी और जर्मनो की महानता पर जोर देता था। वाकी वातो में तो वह भिन्न-भिन्न विरोधी भावनाओ की खिचडी था। वर्साई के सुलहनामे के ख़िलाफ तो वह था ही। उसे हर जर्मनी अपमानजनक समझता था। इसलिए बहुत लोग नाज़ियो की ओर आकर्षित हुए। यह कार्यक्रम मार्क्सवादियो, साम्यवादियो और समाजवादियो सवके ख़िलाफ था और मजदूर-सघो वग़ैरा का विरोधी था। यहूदियो से उसे ख़ास चिढ थी, क्योकि यहूदियो को विदेशी जाति समझा जाता था और कहा जाता था कि वे जर्मनी की पवित्र आर्य नस्ल को बिगाड़तें हैं और उसके ऊँचे रहन-सहन को नीचा करते हैं। अस्पष्ट रूप से वह पूंजीवाद का विरोधी भी था, लेकिन वस इतना-सा ही कि मुनाफा खानेवालो और धनवानो को गालियाँ देदी जायें। इन लोगो के दिमाग़ में अगर कोई समाजवाद की, और वह भी धुंधली-सी, कल्पना थी तो यह थी कि सार्वजनिक सम्पत्ति पर राज्य का थोडा-वहुत नियन्त्रण होना चाहिए।

इन सब वातो के पीछे हिंसा की एक असाधारण विचार-धारा थी। हिंसा की प्रशंसा तो होती ही थी और उसे प्रोत्साहन भी दिया जाता था। हिंसा करना मनुष्य का सर्वोच्च कर्तव्य भी समझा जाता था। जर्मनी का एक मशहूर दार्शनिक, ऑस्वाल्ड स्पेंग्लर इस तत्वज्ञान का भाष्यकार है। वह कहता है—"मनुष्य शिकारी जानवर है, वीर, चालाक और निर्दय है" .....“आदर्श कायरता के चिन्ह हैं"... "प्रगतिमान जीवो का शिकारी पशु ही सबसे ऊँचा स्वरूप है।" वह कहता है कि "सहानुभूति, राजीनामा, और शाँति ये दन्तहीन भावनायें हैं और घृणा ही शिकारी पशुओ की सबसे सच्ची जातीय भावना है।" मनुष्य को सदा सिह के समान होना चाहिए जो अपनी गुफा में किसी वरावरीवाले का रहना कभी सहन न करे। उसे गाय की तरह दव्बू वनकर न रहना चाहिए, जो झुंड वनाकर रहती है और इधर से उधर हाकी जाती है। अवश्य ही इस प्रकार के मनुष्य के लिए युद्ध सवसे वड़ा और सुख देनेवाला काम होगा।

ऑस्वाल्ड स्पेंग्लर आज के वडे-से-वडे विद्वानो में एक है। उसनें जो पुस्तकें लिखी हैं उनमें भरे हुए असाधारण पाण्डित्य को देखकर आश्चर्य होता है। और इस सारी विद्वत्ता से उसने ये विस्मयकारी और घृणापूर्ण परिणाम निकाले हैं। उसके उद्धरण मैंने इसलिए दिये हैं कि उनसे हमें हिटलरवाद के पीछे काम करनेवाली मनो-

वृत्ति समझ में आती है और पिछले कुछ महीनो में जो निर्दयता और पशुता हुई है उसके कारण स्पष्ट होजाते है। हाँ, यह नहीं मान लेना चाहिए कि सारे नाज़ियो के विचार ऐसे ही है। परन्तु नेताओ और उग्र अंगो के ख़याल ज़रूर यही है, और लोग इन्हींकी नकल करते है। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि साधारण नाज़ी विचार ही नहीं करता। उसे अपने दुःख और राष्ट्रीय अपमान ने जगा दिया और जो स्थिति थी उसपर उसे क्रोध आगया। (रूर प्रदेश पर फ़्रेंच अधिकार होने से जर्मनी में बड़ा रोष था)। जो हालात मालूम हुए है उनसे ऐसा दीखता है कि हिटलर बडा विलक्षण और ज़ोरदार वक्ता है। उसने अपने बेशुमार श्रोताओ की भावनाओ को जगाया और जो कुछ होरहा था उसका सारा दोष मार्क्सवादियो और यहूदियो के सिर मँढ दिया। जर्मनी के साथ फ़्रास या अन्य विदेशो ने बुरा बर्ताव किया तो यही लोगो के लिए नाज़ियो में मिल जानें का एक कारण बन गया; क्योकि जर्मनी की सम्मान-रक्षा नाज़ी ही तो करनेवाले थे। आर्थिक संकट और भी विकट हुआ तो नाज़ीदल में और अधिक लोग भर्ती होगये।

लोकसत्तात्मक समाजवादी दल ने थोडे ही समय में शासन का नियन्त्रण खो दिया और दूसरे दलो की लाग-डॉट के कारण 'कैथलिक सेण्टर' नामक दूसरे दल के हाथ में सत्ता आई। रीस्टैग यानी जर्मन पार्लमेण्ट में कोई एक दल इतना ज़ोरदार नहीं था कि दूसरो की उपेक्षा कर सके। इसलिए बार-बार चुनाव होते थे और दलों में आपस में साज़िश और चालबाज़ियाँ जारी रहती थीं। नाज़ियो की बढती देखकर लोकसत्तात्मक समाजवादी इतने डर गये कि उन्होंने पूंजीवादियो के केन्द्रीय दल और राष्ट्रपति के पद के लिए बूढे सेनापति हिंडनबर्ग के चुनाव का समर्थन किया। नाज़ियो की बढती के बावजूद मज़दूरो के दोनो दल यानी लोकसत्तात्मक समाजवादी और साम्यवादी मज़बूत थे और दोनो के ही लाखो आदमी अन्त तक सहायक रहे, परन्तु दोनो के लिए समान रूप से विपत्ति सामने होने पर भी उनमें परस्पर सहयोग नहीं होसका। साम्यवादियो को तो यह कटु स्मृति बनी हुई थी कि १९१८ के बाद लोकसत्तात्मक समाजवादियो ने अपनी सत्ता के ज़माने में उन्हें किस तरह सताया था और बाद के हर अवसर पर उन्होंने किस तरह प्रतिगामी दलो का साथ दिया था। उधर लोकसत्तात्मक समाजवादी दल ब्रिटिश मज़दूर दल की तरह दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ से सम्बद्ध था। उसके पास रुपये की कमी न थी, उसका सगठन खूब ज़ोरदार था, और उसके हाथ में कृपा करने के विपुल साधन थे। वह अपनी सुरक्षित स्थिति और प्रतिष्ठा को खतरे में डालने का कोई काम नहीं करना चाहता था। जो कानून के खिलाफ या सीधी लड़ाई की कुछ भी कार्रवाई करने हुए बड़ा डर लगता

था। उसने अपनी अधिकतर शक्तियाँ साम्यवादियो के विरोध में खर्च कीं। दिल्लगी यह कि ये दोनो दल अपने-अपने ढग पर मार्क्सवादी थे।

इस तरह जर्मनी बराबरी की फौजो की एक छावनी-सी बन गया। अक्सर दगे होने लगे और खास तौर पर नाजियो द्वारा साम्यवादी मजदूरो की हत्यायें होने लगीं। कभी-कभी मजदूर भी बदला लेते। हिटलर को अपना भानमती का पिटारा कायम रखने में विलक्षण सफलता मिली। इसमें मुख्तलिफ किस्म के लोग थे जिनकी बहुत थोडी बाते एक-दूसरे से मिलती थी। इसमें एक तरफ निम्न श्रेणी के मध्यमवर्ग और बडे-बडे कारखानेदारो और दूसरी तरफ धनी किसानो की अजीब खिचडी-सी थी। कारखानेदार हिटलर का साथ और उसे रुपया इसलिए देते थे कि वह समाज-वाद को कोसता था और बढ़ते हुए मार्क्सवाद और साम्यवाद के विरुद्ध एक ही स्तम्भ दिखाई देता था। गरीब मध्यमवर्ग के लोगो, किसानो और मजदूरो को उसके पूजी-विरोधी नारो से आकर्षण होता था।

१९३३ के मार्च के शुरू की बात है या फरवरी की, मुझे ठीक-ठीक याद नही, जब बूढे राष्ट्रपति हिडनबर्ग ने, जिसकी उम्र अब ८६ वर्ष की है, हिटलर को चासलर बना दिया। यह प्रधानमंत्री की बराबरी का जर्मनी में सबसे ऊँचा ओहदा है। उस वक्त नाजियो और राष्ट्रवादियो में मेल था, मगर बहुत जल्द यह जाहिर होगया कि सम्पूर्ण अधिकार नाजियो के हाथ में है और दूसरे किसी की कोई गिनती नहीं है। साधारण चुनाव में नाजियो और उनके मित्र राष्ट्रवादियो का रीस्टैग में नाम मात्र का बहुमत होगया। बहुमत न भी होता तो कोई बात न थी, क्योकि नाजी अपने विरोधियो को पार्लमेण्ट में ही पकड़कर जेलखाने भेज देते थे। इस तरह सारे साम्य-वादी और बहुतसे लोकसत्तात्मक समाजवादी सदस्यो को हटा दिया गया। ठीक इसी समय रीस्टैग की इमारत आग लगकर खाक होगई। नाजियो ने कहा कि यह साम्य-वादियो का काम है और राज्य की जड काटने के लिए साजिश है। साम्यवादियो ने जोरदार शब्दो में इसका खण्डन किया। इतना ही नहीं, उन्होने नाजियो के नेताओ पर यह अभियोग लगाया कि उन्होने साम्यवादियो पर हमला करने का बहाना ढूँढने के लिए आग लगाई है।

इसके बाद जर्मनी-भर में नाजियो का आतंक शुरू होगया। पहलेपहल पार्ल-मेण्ट बन्द करदी गई, हालाँकि नाजियो का बहुमत था। सारी सत्ता हिटलर और उसके मन्त्रिमण्डल को सौंप दी गई। वे जो चाहे सो कानून बनावे या करे। इस तरह प्रजातन्त्र के 'वेमर' विधान का सफाया करके लोकसत्ता के सारे स्वरूप को खुले तौर पर नष्ट कर दिया गया। जर्मनी में एक प्रकार का सघ-शासन था। इनका भी खात्मा

करके सारी शक्ति बर्लिन में केन्द्रित करदी गई। सब जगह डिक्टेटर-ही-डिक्टेटर रख दिये गये। वे सिर्फ अपनेसे ऊपर वाले डिक्टेटर के प्रति ही जिम्मेदार थे। सब डिक्टेटरो का गुरुघण्टाल तो हिटलर था ही।

इधर ये परिवर्तन होरहे थे, उधर नाजियो के सैनिक दलो को जर्मनी-भर में छोड़ दिया गया। ये लोग जहां जाते वहीं अजीब जंगली और हैवानी ढग की हिंसा और भय-प्रदर्शन की कार्रवाइयां करने लगते। एसी बात पहले कभी नहीं हुई थी। इस तरह की मारकाट और जोर-जुल्म पहले भी हुए हैं, 'लाल आतंक' और 'सफेद आतंक' का जिक्र इस किताब में पहले किया जा चुका है, लेकिन वे हमेशा उसी वक्त हुए हैं जब किसी देश या प्रधान दल को गृह-युद्ध में अपने प्राणो के लिए लड़ना पड़ा है। भय-प्रदर्शन भयंकर खतरे या निरन्तर भय के कारण हुआ करते हैं। परन्तु नाजियो के सामने ऐसा कोई खतरा भी नहीं था और भय का कारण भी नहीं था। सरकार उनके हाथ में थी और उनके मुकाबिले में कोई सशस्त्र विरोध भी नहीं था। इस तरह भूरी कुर्ती वालो का आतंक क्रोध या डर का परिणाम नहीं था बलिक जान-बूझकर बैठे-बिठाये, और अविश्वसनीय पशुता के साथ उन सब लोगो को दबा देने की बात थी जो नाजियो का साथ नहीं दे रहे थे।

पिछले कुछ महीनो में जर्मनी में जो अत्याचार हुए हैं और अब भी परदे की आड़ में होरहे हैं उनकी सूची या फेहरिस्त लिखने से कोई फायदा न होगा। मारपीट, यातनायें, गोली मार देने, हत्यायें कर डालने वग़ैरा की पाशविक कार्रवाइयां बडे भारी पैमाने पर हुई हैं और स्त्री और पुरुष दोनो उनके शिकार हुए हैं। बहुत बडी तादाद में, जो १३,००० से ६०,००० के बीच में कूती जाती है, लोगो को जेल या नजरबन्दी में डाल दिया गया है और कहा जाता है कि उनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता है। सबसे जोर का हमला तो साम्यवादियो पर किया गया है, मगर उनसे नरम लोकसत्तात्मक समाजवादियो का भी कुछ ज्यादा अच्छा हाल नहीं हुआ। यहूदियो की बुरी तरह कमबख्ती आई है और शान्तिवादियों, उदार दल वालो, मजदूर-सघ वालो और अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों पर भी हमले किये गये हैं। नाजी लोग डके की चोट कहते हैं कि यह तो मार्क्सवाद, और मार्क्सवादियो के ही नहीं, बल्कि 'उग्र' विचार वाले सभी लोगों का नाश करने का युद्ध है। यहूदियों को सारे पदो और धन्धों से भी निकाल बाहर करना है। हजारों यहूदी अध्यापक, शिक्षक, सगीतज्ञ, वकील, न्यायाधीश, वैद्य और डाक्टर बर्खास्त करदी गई हैं। यहूदी दूकानदारों का बहिष्कार कर दिया गया है और यहूदी मजदूरों को कारखानो से निकाल दिया गया है। जो पुस्तकें नाजियों को नापसन्द हैं वे ढेर-की-ढेर नष्ट करदी गई हैं और खुले तौर पर उनकी होलियां

की गई हैं। जिन अख़बारो ने जरा भी मतभेद प्रकट किया या टीका की, उन्हे बेदर्दी के साथ कुचल दिया गया। इस आतंकवाद का कोई समाचार नही छापने दिया जाता और कानाफूसी तक की कडी सजा दी जाती है।

नाज़ी दल के सिवा और सब संगठन और दल दबा दिये गये हैं। पहली बारी साम्यवादियो की आई, बाद में लोकसत्तात्मक समाजवादी, फिर कैथलिक मध्य दल-वाले और अन्त में नाज़ियो के मित्र राष्ट्रवादी भी कुचल दिये गये। जर्मनी के बल-शाली मजदूर-संघ, जिनमें पीढियो का परिश्रम, बचत और त्याग लगा था, तोड़ दिये गये और उनके सारे रुपये और सम्पत्ति को ज़ब्त कर लिया गया। सिर्फ एक दल और एक संगठन रहने दिया गया; और वह है नाज़ी दल।

नाजियो की विचित्र विचार-धारा जबरदस्ती सबके गले के नीचे उतारी जाती है और आतंक इतना छाया हुआ है कि कोई चूं तक नहीं कर सकता। शिक्षा, नाटक, कलाओ और विज्ञान सभी चीजो पर नाज़ी-छाप लगाई जा रही है। कप्तान हरमन गोरिंग हिटलर के ख़ास आदमियो में से है। उसका कहना है, "सच्चा जर्मन अपने ख़ून के साथ विचार करता है।" दूसरे नाज़ी नेता का कहना है कि "शुद्ध तर्क और राग-द्वेष-रहित विज्ञान के दिन गुज़र गये।" बच्चो को सिखाया जाता है कि हिटलर दूसरा ईसा है, मगर पहलेवाले से बड़ा है। नाज़ी-सरकार लोगों में और ख़ासकर स्त्रियो में शिक्षा का बहुत विस्तार करने के पक्ष में नहीं है। असल में हिटलरवादियो की राय में स्त्री का स्थान घर और रसोई में है और उसका मुख्य काम राज्य के लिए लड़ने और मरने के लिए बच्चे पैदा करना है। डॉ० जोज़ेफ गोएबेल्स दूसरा बड़ा नाज़ी नेता और 'प्रचार और प्रकाशन' मंत्री है। उसने कहा है कि "स्त्री का स्थान कुटुम्ब में है और उसका उचित कार्य अपने देश और राष्ट्र के लिए बच्चे देना है। स्त्रियो को मुक्त करने में राज्य के लिए ख़तरा है। उन्हे चाहिए कि पुरुषो की बाते पुरुषो के लिए छोड़ दें।" इसी डॉ० गोएबेल्स ने हमें यह भी बता दिया है कि जनता को प्रकाश देने का उसका क्या तरीका है। वह कहता है—"मेरा इरादा यह है कि पियानो बाजे की तरह अख़बारो को भी अपनी अँगुलियो पर नचाऊँ।"

इस सारी बर्बरता, पाशविकता और गरजने और आग उगलने के कार्यक्रम की पीठ पर वंचित मध्यमवर्ग की दरिद्रता और भूख का बल था। यह सचमुच नौकरियो और रोटियो की लड़ाई थी। यहूदी डॉक्टर, वकील, शिक्षक और दाइयो वग़ैरा को निकाल देने का कारण यह था कि 'आर्य-जर्मन' उनकी होड़ नहीं कर सकते थे। उनकी सफलता पर इन्हे ईर्षा थी और उनकी नौकरियाँ ये ख़ुद लेना चाहते थे। यहूदी दुकानो को इसलिए बन्द कर दिया गया, क्योंकि वे सफल प्रतिस्पर्धी थीं। बहुत-सी

गैरयहूदी दुकानों को बन्द करके उनके मालिक गिरफ़्तार कर लिये गये, क्योंकि नाज़ियों को सन्देह था कि ये लोग बेजा तौर पर ऊँचे भाव लगाकर फायदा उठाते हैं। नाज़ियों का पक्ष लेनेवाले किसान पूर्वी एशिया की बड़ी-बड़ी जमींदारियों पर आँख लगाये बैठे हैं और उन्हें खुद बांट खाया चाहते हैं। शुरू-शुरू के नाज़ी कार्यक्रम में एक ख़ास मज़ेदार बात यह तजवीज थी कि १२ सौ मार्क सालाना से अधिक वेतन किसी को न दिया जाय। यह ८ हज़ार रुपये वार्षिक या ६६६ रुपये मासिक के बराबर होता है। मालूम नहीं इसपर कहांतक अमल किया गया है, लेकिन यह ज़ाहिर है कि कुछ-न-कुछ होरहा है। आजकल प्रधान मंत्री की तनख़्वाह २६ हज़ार मार्क सालाना यानी १ हज़ार रुपया माहवार है। प्रस्ताव यह है कि जिन खानगी कम्पनियों को सरकार से मदद मिलती है उनके संचालकों या मालिकों तक को १८ हज़ार मार्क वार्षिक से अधिक वेतन न दिया जाय। इन लोगों को पहले अक्सर बड़ी-बड़ी रकमें दी जाती थीं। इन अंकों की तुलना उन भारी वेतनों से करो जो दरिद्र भारत अपने कर्मचारियों को देता है। कांग्रेस ने कराची में वेतन की सीमा ५ सौ रुपया मासिक बांधने का प्रस्ताव किया है।

यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि नाज़ी-आन्दोलन के पीछे केवल पाशविकता और आतंक ही है। ये चीज़ें मुख्य तो हैं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अधिकांश मज़दूरों को छोड़कर बाकी के ज्यादातर जर्मनों में हिटलर के लिए बड़ा सच्चा उत्साह है। यदि पिछले चुनाव के अंकों को सही मानकर चला जाय तो ५२ फ़ीसदी जनता हिटलर के पक्ष में है। ये ५२ फ़ीसदी लोग शेष ४८ फ़ीसदी या उनके एक भाग पर आतंक जमा रहे हैं। इन ५२ फ़ीसदी लोगों में अब तो शायद और भी शामिल होगये हों। ये सब हिटलर को खूब चाहते हैं। जर्मनी जाकर आये हुए लोग बताते हैं कि वहाँ एक अजीब मानसिक वातावरण पैदा होगया है और ऐसा मालूम होता है जैसे कोई धार्मिक पुनर्जीवन हो गया हो। जर्मन लोग महसूस करने लगे हैं कि वर्साई की संधि से वे वर्षों तक जिन अपमान और दमन के शिकार रहे वह अब जाता रहा और अब वे फिर आज़ादी से सांस ले सकते हैं। लेकिन जर्मनी के दूसरे आधे या लगभग आधे भाग की भावना दूसरी है। नाज़ियों के भयंकर प्रतिशोध के डर से जर्मनी का मज़दूर-वर्ग उनकी आज्ञा या नियंत्रण में है, लेकिन उनके दिल में घृणा और क्रोध की आग जल रही है। सारे मज़दूरों को देखा जाय तो उन्होंने पशुबल और आतंकवाद के सामने घुटने टेक दिये हैं और जिस इमारत को उन्होंने बड़े परिश्रम और त्याग से खड़ा किया था उसकी बर्बादी को उन्होंने दुःख और निराशा के साथ अपनी आँखों देखा है। पिछले कुछ महीनों में जर्मनी में जो-जो घटनाएँ हुई हैं उनमें सबसे आश्चर्य की बात …

हुई है कि लोकसत्तात्मक समाजवादियो का महान् दल मुकाबिले की जरा भी कोशिश किये बिना बिलकुल नेस्तनाबूद होगया। योरप के श्रमजीवीवर्ग का इससे पुराना, इससे बडा और इससे अधिक सुसगठित दल और कोई न था। यह दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ की रीढ था। हालाँकि सिर्फ नाराजगी जाहिर करने से कुछ भी होना-जाना नही था, फिर भी इस दल ने इतना भी न किया। वह सारे अपमान और तिरस्कार को चुपचाप सहता रहा और अखीर में खुद भी मिट गया। पग-पग पर लोकसत्तात्मक समाजवादी नेता नाजियो के सामने झुकते गये। उन्हे हर बार यह उम्मीद होती थी कि झुकने और अपमान सहन करने से मुमकिन है कुछ तो बचा रह जायगा। लेकिन उनका झुकना ही उनके लिए बेडी होगया और नाजियो ने मजदूरो को बताया कि किस नीचता के साथ विपत्ति के समय उनके नेताओ ने उनका साथ छोड़ दिया। योरप के मजदूर वर्ग की लड़ाई के लम्बे इतिहास में हार अधिक और जीत कम हुई है। लेकिन इस बेहयाई के साथ, जरा भी विरोध किये बिना, मजदूर-पक्ष को धोखा देने और आत्म-समर्पण करने की दूसरी कोई मिसाल नही मिलती। साम्यवादी दल ने लोहा लेने की कोशिश की और आम हड़ताल कराई, लेकिन लोकसत्तात्मक समाजवादी नेताओ ने साथ नही दिया और हड़ताल टाय-टॉय फिस होगई। साम्यवादियो का दल टूट गया है, फिर भी उनका काम गुप्त सगठन के रूप में जारी है। मालूम होता है कि यह संगठन दूर-दूर तक फैला हुआ है। नाजियो के जासूसी विभाग के होते हुए भी साम्यवादियो के गुप्त समाचारपत्र का प्रचार कई लाख समझा जाता है। लोक-सत्तात्मक समाजवादियो के जो नेता किसी तरह जर्मनी से निकल भागे हैं उनमें से भी कुछ गुप्त उपायो द्वारा बाहर से थोड़ा बहुत प्रचार-कार्य कर रहे हैं।

भूरी कुर्ती वालो के आतंकवाद से सबसे ज्यादा कष्ट मजदूर-वर्ग को पहुँचा। लेकिन ससार का लोकमत यहूदियो के साथ होनेवाले व्यवहार से अधिक उत्तेजित हुआ था। योरप को वर्ग-युद्ध का अभ्यास-सा होगया है, और उसमें सहानुभूति अपने-अपने वर्ग के साथ होती है। मगर यहूदियो पर जो हमला हुआ वह जातीय आक्रमण था। वह कुछ ऐसा था जैसा मध्ययुग में हुआ करता था, या हाल के जमाने में जार-शाही रूस जैसे पिछडे देशो में गैरसरकारी तौर पर हुआ करता था। सारी जाति पर सरकारी अत्याचार होने से योरप और अमेरिका को बडा आघात पहुँचा। यह आघात इस बात से और बढ गया कि जर्मन यहूदियो में संसार-प्रसिद्ध आदमी, तेजस्वी वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, संगीतशास्त्री और लेखक भी थे। इस सूची में एल्बर्ट आइन्स्टीन जैसे महान् व्यक्ति का नाम भी था। ये लोग जर्मनी को अपना घर समझते थे और सब जगह जर्मन समझे जाते थे। इनको पाकर कोई भी देश अपने को

गौरवशाली समझ सकता था। मगर नाजी लोग तो जातीय द्वेष में इतने पागल और अन्धे होगये थे कि उन्होंने इन्हें भी मार भगाया। इसपर दुनिया-भर में विरोध की जबरदस्त आवाज उठी। इसके बाद नाजियों ने यहूदी दुकानदारों और धन्धेवालों का बहिष्कार शुरू किया। विचित्र बात यह थी कि इन यहूदियों को आम तौर पर जर्मनी छोड़कर जाने भी नहीं दिया जाता था। ऐसी नीति का यही नतीजा होसकता था कि ये लोग भूखों मर जायँ। दुनिया के शोर मचाने से यहूदियों के ख़िलाफ नाजियों के खुले तरीके तो नरम पड़ गये, मगर नीति वही है।

लेकिन यहूदी लोग यद्यपि संसार-भर में बिखरे हुए हैं और वे किसीको भी अपना राष्ट्र नहीं कह सकते, फिर भी वे इतने निस्सहाय नहीं हैं कि बदला न ले सकें। व्यवसाय और पूंजी बहुत-कुछ उनके हाथ में है और उन्होंने चुपचाप बिना शोरगुल मचाये जर्मन माल के बहिष्कार का ऐलान कर दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने न्यूयार्क में मई १९३३ में एक परिषद् करके एक प्रस्ताव किया है, जिसमें निश्चय किया गया है कि "जर्मनी के सारे माल का, सामग्री का और जर्मनी में तैयार हुई, पैदा हुई और सुधारी हुई सब चीजों और उनके हिस्सों का बहिष्कार किया जाय। जर्मनी के सब जहाजों और माल व मनुष्यों को ले जानेवाले साधनों तथा जर्मनी के स्वास्थ्य और सुखप्रद स्थानों और आरामगाहों का भी बहिष्कार किया जाय। और आम तौर पर ऐसा कोई काम न किया जाय जिससे जर्मनी की मौजूदा व्यवस्था को किसी भी तरह की आर्थिक सहायता पहुँचती है।" इसमें कमी क्या रही? यहूदियों का यह संसारव्यापी और बलशाली बहिष्कार छोटी-मोटी बात नहीं है। इससे जर्मनी की माली हालत, जो पहले से ही अच्छी नहीं थी, और भी ख़राब होरही है।

विदेशों में हिटलरशाही की एक प्रतिक्रिया तो यह हुई। दूसरी प्रतिक्रियायें इस-से भी गहरा असर करनेवाली थीं। नाजी लोग शुरू से ही वर्साई की सन्धि की निन्दा करते आये हैं और उसपर फिरसे विचार करने की उनकी मांग रही है। ख़ास तौर पर पूर्वी सीमा के बारे में उनका ज्यादा जोर रहा है, क्योंकि वहां जो बेहूदा व्यवस्था की गई है उसके अनुसार डैन्जिग तक पोलैण्ड को एक लम्बा टुकड़ा दे दिया गया है और जर्मनी के शरीर के एक अंग का विच्छेद कर दिया गया है। नाजियों की दूसरी जोरदार मांग यह रही है कि शस्त्रों के मामले में सब राष्ट्रों को पूरी समानता होनी चाहिए (तुम्हें याद होगा कि सन्धि की शर्तों के अनुसार जर्मनी बहुत कुछ निःशस्त्र कर दिया गया था)। हिटलर के गरजने और आग उगलने वाले भाषणों से और फिर से शस्त्र धारण करने की धमकियों से योरप पूरी तरह घबरा उठा। फ्रांस को विशेष चिन्ता हुई, क्योंकि शक्तिशाली जर्मनी से उसीको ज्यादा खौफ होसकता था।

कुछ दिन तक ऐसा मालूम होने लगा कि योरप में लडाई छिडने ही वाली है। नाजियो के डर से योरप के राष्ट्रो में अचानक नई गुटबन्दी शुरू हुई। फ्रास की सोवियट रूस के साथ घुटने लगी। वर्साई की सधि से पोलैण्ड, जेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लाविया वगैरा देश या तो स्वतत्र हुए थे या इन्हे फायदा पहुँचा था। उस सधि के रद होने की सम्भावना से ये सब देश एक-दूसरे के नजदीक आगये और साथ ही रूस की तरफ खिचने लगे। आस्ट्रिया में आश्चर्यजनक स्थिति पैदा होगई। वहाँ (पाँच फुट से भी कम ऊँचे) चासलर डॉलफस के हाथ में अधिकार आचुका था, मगर इसका फैसिज्म हिटलर के फैसिज्म से भिन्न था। आस्ट्रिया में नाजियो का जोर है, लेकिन डॉलफस उनका विरोध करता रहा है। इटली ने हिटलर की विजय का स्वागत किया, मगर उसके सारे हौसले नही बढ़ाये। इग्लैण्ड अनेक वर्षो से जर्मनी के पक्ष में रहा था, लेकिन अब अकस्मात् उसका प्रबल विरोधी बन गया। अग्रेज लोग उन्हे फिर से 'हूण' कहकर पुकारने लगे। हिटलर का जर्मनी योरप में बिलकुल अकेला पड़ गया। यह जाहिर था कि लड़ाई होती तो फ्रांस की जबरदस्त फौज बेहथियार जर्मनी को कुचल डालती। हिटलर ने अपनी चाल बदल दी और शान्ति की बाते करने लगा। मुसोलिनी उसकी मदद पर पहुँच गया और उसने फ़्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी और इटली के बीच में चतुरंगी समझौते का प्रस्ताव रक्खा।

फ़्रांस को हिचकिचाहट हुई थी, मगर अन्त में जून १९३३ में इस समझौते पर चारो राष्ट्रो के हस्ताक्षर होगये। जहाँतक इस समझौते की भाषा का ताल्लुक है वह निर्दोष-सी है, और उसमें इतना ही कहा गया है कि कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में और खास तौर पर वर्साई की सधि पर पुनर्विचार करने के किसी भी प्रस्ताव के बारे में चारो राष्ट्र आपस में मशविरा कर लेगे। लेकिन यह संधि सोवियट के खिलाफ गुटबन्दी करने की एक कोशिश समझी जाती है। यह तो साफ है कि फ्रास ने उसपर बहुत ही बेमन से दस्तखत किये थे। शायद इस संधि के परिणामस्वरूप और इसके जवाब में पहली जुलाई १९३३ को सोवियट और उसके पडोसियो के बीच एक-दूसरे पर हमला न करने की सधि लन्दन में हुई थी। यह बडी दिलचस्पी की बात है कि सोवियट की इस सधि के प्रति फ़्रांस ने बडी सहानुभूति और सहमति प्रकट की है।

हिटलर का मूल कार्यक्रम जर्मन पूंजीवाद का कार्यक्रम है। वह अपनेआपको सोवियट रूस से योरप की रक्षा करनेवाला बताता है। उसे मालूम है कि फ़्रांस से तो कुछ मिलना है नहीं, जर्मनी के कही और इलाका हाथ लग सकता है तो सोवियट संघ से छीनकर पूर्व में ही लग सकता है। लेकिन इसके पहले जर्मनी का सशस्त्र होना जरूरी है और इसलिए वर्साई की सधि में इस आशय का परिवर्तन होने की जरूरत है। कम-से-

कम इतना आश्वासन तो मिलना ही चाहिए कि कोई दख़ल न देगा। हिटलर को इटली की मदद का भरोसा है। उसे शायद यह भी उम्मीद है कि अगर वह इंग्लैण्ड की मदद भी हासिल कर सके तो चतुरंगी सन्धि के अनुसार किसी भी चर्चा में फ्रांस के विरोध का बल घट जायगा। एक तरफ तीन और दूसरी तरफ एक तो हो ही जायेंगे।

इस तरह हिटलर ब्रिटिश मदद हासिल करने की कोशिश कर रहा है। इसके लिए उसने खुले तौर पर यहाँतक कह दिया है कि अगर हिन्दुस्तान पर अंग्रेजो का प्रभाव कम हो जायगा तो विपत्ति आजायगी। वैसे उसका सोवियट-विरोधी होना ही ब्रिटिश सरकार के लिए एक आकर्षण है, क्योकि, जैसा मै तुम्हे बता चुका हूँ, ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कोई चीज इतनी बुरी नही लगती जितना सोवियट रूस लगता है। लेकिन नाजियो की कार्रवाइयो से ब्रिटिश जनता को इतनी नफरत होगई है कि उसे हिटलरशाही के पक्ष में किसी भी प्रस्ताव का समर्थन करने में कुछ वक्त लगेगा।

तरह-तरह के ख़तरो से दुनिया के होशहवास पहले से ही उडे हुए थे। नाजी जर्मनी ने योरप में तूफान का घर बनकर परेशानियाँ और बढादी है। ख़ुद जर्मनी में क्या होगा? नाजी शासन कबतक रहेगा? जर्मनी में नाजियो के प्रति घृणा और विरोध की कमी नहीं है, लेकिन यह भी साफ है कि संगठित विरोध बिलकुल कुचल दिया गया है। जर्मनी में कोई दल या संगठन बाकी नहीं रहा है और नाजियो का ही बोलबाला है। ख़ुद नाजियो में भी दो दल मालूम होते है। एक ओर पूंजीपति और व्यवसायी वर्ग है। यह नाजी दल का दाहिना यानी नरम अंग है। बायें यानी उग्र अंग में दल के साधारण सदस्यो का बहुमत है। इसमें हाल ही में शामिल होनेवाले बहुत-से मज़दूर भी है। जिन लोगो के कारण हिटलर के आन्दोलन में क्रान्तिकारी भावना आई, उनमें पूंजीवाद के विरुद्ध उग्र परिवर्तन की भावना बहुत थी। इन लोगो ने बाद में बहुत-से समाजवादियो और मार्क्सवादियो को अपनेमें शरीक कर लिया है। नाजी आन्दोलन के दाहिने और बायें अंगो में बहुत कम बाते मिलती-जुलती है। हिटलर की बड़ी सफलता इसी बात में है कि उसने दोनो को साथ रख छोड़ा है और एक को दूसरे से भिड़ाकर अपना काम निकालता रहा है। यह बात तभीतक रह सकती है जबतक सामने शत्रु दिखाई देता है। अब शत्रु तो कुचल दिया गया या उसे हज़म कर लिया गया है। अब धीरे-धीरे दायें और बायें अंगो में संघर्ष बढ़ेगा।

कुछ गड़बड़ तो अभी से शुरू होगई है। उग्र दल के नाजियो ने मांग की कि जब पार्टी क्रान्ति पूरी तरह सफल होचुकी है तो अब पूंजीवाद, जमींदारी प्रथा वगैरा के खिलाफ 'दूसरी क्रान्ति' शुरू होनी चाहिए। परन्तु हिटलर ने इस दूसरी क्रान्ति को बेदर्दी के साथ दबा देने की धमकी दे डाली। इस तरह यह निश्चित रूप से पूंजीवादी

नरम दल के साथ होगया है। उसके बडे-बडे साथी लगभग सभी इस समय ऊँचे पदो पर विराजमान हैं। उन्हे सब तरह का आराम है। इसलिए वे परिवर्तन के लिए उत्सुक नहीं हैं। परन्तु उन बेशुमार बेकार लोगो का क्या हाल है, जो कुछ-न-कुछ मिलने की आशा से हिटलर के साथ हुए थे? कुछ हजार लोगो की व्यवस्था की जा सकती है, लाखो की नही की जा सकती। यह प्रकट है कि नाजियो में बड़ा असन्तोष है और जबतक यह असन्तोष रहेगा तबतक कोई स्थिरता नही होसकती। यह नहीं कहा जा सकता कि हिटलर का विरोध होते हुए भी 'दूसरी क्रान्ति' होगी या नहीं। और अगर इस तरह की उथल-पुथल का खतरा बना रहा तो यह सम्भावना हमेशा रहेगी कि हिटलर घर के मामलो से लोगो का ध्यान हटाने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय विकट स्थिति पैदा करदे।

हिटलरवाद का वर्णन लम्बा होगया। और इतनी लम्बी चिट्ठी भी मैंने दूसरी नहीं लिखी है। मगर इतना तुम स्वीकार करोगी कि नाजियो की यह विजय और उसके परिणाम योरप और संसार के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हुए हैं और उनका दूर-दूर तक असर पहुँच सकता है। इसमें सन्देह नही कि यह फैसिज्म ही है और हिटलर खुद एक आदर्श फैसिस्ट है। परन्तु इटली के फैसिज्म से नाजी आन्दोलन थोड़ा अधिक व्यापक, दूर-दूर तक फैला हुआ और उग्र है। यह देखना है कि ये उग्र अंग कुछ रंग लाते हैं या योंही कुचल दिये जायँगे। कुछ हद तक नाजी आन्दोलन की वृद्धि से पुराने मार्क्सवादियो का यह विश्वास रहा है कि सच्चा क्रान्तिकारी वर्ग श्रमजीवी-वर्ग ही है और जैसे-जैसे हालात बिगड़ते जायँगे वैसे-वैसे निम्न-श्रेणी के मध्यमवर्ग के असन्तुष्ट और वंचित अंग भी मजदूर-वर्ग में अपनेआप आकर मिलते जायँगे और अन्त में मजदूर-क्रान्ति होजायगी। दरअसल जर्मनी में जो कुछ हुआ वह इससे बिलकुल उलटा है। जब उथल-पुथल हुई उस समय मजदूर बिलकुल क्रान्तिकारी नहीं थे। उस वक्त तो निम्न-श्रेणी के वंचित मध्यमवर्ग और दूसरे असन्तुष्ट लोगो का एक नया ही क्रान्तिकारी वर्ग बन गया। यह बात पुराने मार्क्सवाद के अनुसार नहीं हुई। परन्तु दूसरे मार्क्सवादियो का कहना है कि मार्क्सवाद को कोई ऐसा कड़ा नियम, धर्म या संप्रदाय नहीं समझना चाहिए जो अपनी बात को धर्म की तरह अधिकार के साथ अन्तिम सत्य बताता हो। यह तो इतिहास का एक तत्त्वज्ञान है, एक दृष्टिकोण है, जो बहुत-सी बाते समझाता और मिलाता है और समाजवाद या सामाजिक समानता की कार्य-प्रणाली दिखाता है। इसके मूल सिद्धान्त अलग-अलग तरह से इस तरह लागू करने चाहिएँ जिससे भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न देशो के बदलते हुए हालात के साथ उनका मेल बैठ सके।

: १६१ :

निःशस्त्रीकरण

२ अगस्त, १९३३

मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि दुनिया-भर की जो आर्थिक-परिषद् लन्दन में हुई थी, वह असफल रही। फ़िलहाल परिषद् का काम बन्द करके सब लोग अपने-अपने घर चले गये हैं और कहने को यह आशा प्रकट कर गये हैं कि अधिक अनुकूल परिस्थिति में शायद फिर कभी मिलेंगे।

सहयोग का दूसरा संसार-व्यापी प्रयत्न निःशस्त्रीकरण परिषद् के रूप में हुआ और वह भी इसी तरह असफल हुआ। यह परिषद राष्ट्र-संघ के इकरारनामे का नतीजा थी। वर्साई की संधि में यह तय हुआ था कि जर्मनी और आस्ट्रिया, हंगरी आदि दूसरे पराजित राष्ट्र भी निःशस्त्र होजायँ। वे जल-सेना, हवाईसेना या बडी स्थल-सेना नहीं रख सकते थे। यह भी तजवीज थी कि दूसरे देश भी धीरे-धीरे घटाते-घटाते इतनी-सी फ़ौज रक्खें जितनी कि राष्ट्र के लिए जरूरी हो। इस कार्यक्रम के पहले हिस्से यानी जर्मनी को नि.शस्त्र करनेवाले हिस्से पर फ़ौरन अमल किया गया। लेकिन दूसरा हिस्सा यानी आमतौर पर सेनायें घटानेवाला हिस्सा ज्यों-का-त्यों एक सपना बना हुआ है। कार्य-क्रम के इस दूसरे हिस्से की पूर्ति के लिए ही वर्साई की सन्धि के क़रीब १३ साल बाद कहीं निःशस्त्रीकरण परिषद् बुलाई गई थी। लेकिन पूरी परिषद् के होने से पहले वर्षों तक जाँच कमीशन सारे मामले की छान-बीन करते रहे थे।

आख़िरकार १९३२ के शुरू में विश्व-नि.शस्त्रीकरण परिषद् हुई। डेढ़ साल से बीच-बीच में इसकी बैठकें होती रहीं। अगर प्रस्ताव और रिपोर्टों की तादाद या अनन्त वाद-विवाद और व्याख्यानबाजी से इसकी सफलता का अन्दाज लगाया जासकता हो तो सचमुच यह परिषद् ख़ूब सफल हुई। मैं समझता हूँ लगातार एक ही मामले के लिए पहले कभी इतनी तैयारी और बहस नहीं हुई है और न कभी पहले किसी परिषद् की कार्रवाई और रिपोर्ट के काग़ज़ात का इतना पहाड़ इकट्ठा हुआ था। फिर भी कोई बात तय ही नहीं होती। परिषद् नित्य होती है, पर उसका कोई अन्त ही नहीं होता, क्योंकि कोई राष्ट्र इसके टूटने की ज़िम्मेदारी नहीं लेना चाहता। फिर भी कोई असाधारण घटना न हुई तो यह टूटकर ही रहेगी, क्योंकि असली मुश्किल यह है कि आज की दुनिया में आपस में भयंकर लाग-डाँट और संघर्ष जारी है और जबतक यह संघर्ष रहेगा तबतक कोई राष्ट्र सेना कम करके अपनेको कमज़ोर बनाने का साहस नहीं कर सकता।

फ्रास को जर्मनो के पिछले हमलो की याद बनी हुई है। इसलिए वह हमेशा 'रक्षा' पर जोर देता रहा है। वह कोई ऐसी व्यवस्था चाहता है जिससे बैठे-बिठाये हमला कर देना असम्भव नही तो कठिन जरूर होजाय। उसने यह सुझाया है, कि हमला करनेवाले देश से आज्ञा-पालन करानें के लिए राष्ट्र-सघ खुद सेना रक्खे। इससे राष्ट्र-सघ राज्यो के ऊपर एक नया राज्य बन जायगा; पर इस बात पर सहमत होने के लिए अधिकाश देश तैयार नही है। आज राष्ट्र-सघ की जिस तरह की रचना है उससे अक्सर उसकी यह टीका की जाती है कि वह कुछ बडे राष्ट्रो के हाथ का हथियार है। ऐसे संगठन की ताकत बढाने का मतलब यही होगा कि इन राष्ट्रो की शक्ति बढ़ जायगी और वे दूसरो का शोषण कर सकेंगे। वे नाम तो अन्तर्राष्ट्रीय हित का लेंगे, मगर असल में वे अपना काम बनावेंगे। दलील कुछ इसी तरह की दीजाती है।

प्रत्येक राष्ट्र परिषद के सामने ऐसा प्रस्ताव रखता है जिससे अपने मुकाबिले में दूसरे राष्ट्रो की ताकत कम होजाय। ऐसी हालत में समझौता किस तरह होसकता है? सोवियट रूस ने ऐसी तजवीजें पेश की जो सारे मामले की तह तक जाती थी और जिनके मंजूर कर लेने से सब जगह असली निःशस्त्रीकरण होजाता। लेकिन दूसरे राष्ट्रो ने कह दिया कि यह तो व्यावहारिक नही है और ऐसी आदर्शवादी योजना का मौजूदा हालात से मेल नहीं बैठ सकता। असल बात यह है कि इन दूसरे राष्ट्रो में से कोई भी सच्चा नि शस्त्रीकरण नही चाहता। वे तो इतनी-सी चर्चा करते है कि खर्च घटाकर छोटे-मोटे परिवर्तन या कमी के साथ अस्त्र-शस्त्र किस तरह कायम रक्खे जायँ। इससे बढ़कर तमाशा और क्या होसकता है कि इधर तो ये राष्ट्र जिनेवा या लुसान में नि.शस्त्रीकरण की गम्भीर चर्चा करे और उन्हीमें से एक यानी जापान मंचूरिया में खूनी युद्ध जारी रक्खे या दक्षिणी अमेरिका के प्रजातन्त्र आपस में लड़ते रहे या ब्रिटेन हिन्दुस्तान के सीमाप्रान्त के लोगो पर बम-वर्षा करता रहे।

केलॉग-ब्रियॉद समझौते के अनुसार युद्ध गैर-कानूनी ठहराया गया था। अगर यह बात सही है तो फिर सेनायें रखने की क्या जरूरत है? लेकिन साम्राज्यवादी सरकारो में से कोई भी इन सधियो का ऐसा गम्भीर अर्थ नही लगाती और वे सब एक-दूसरे के विरोध में भयकर रूप से फौजें बढ़ाती जा रही है। तुम्हे याद होगा कि केलॉग-समझौते में भी ब्रिटेन ने कई बडी-बडी बातो के बारे में इतना अधिकार अपने हाथो में रख लिया था कि उस समझौते की जान ही निकल गई थी। नि शस्त्रीकरण-परिषद् में जापानियो के बाद ब्रिटिश प्रतिनिधियो ने ही परिषद के रास्ते में सबसे ज्यादा रोडे अटकाये है। जिस वक़्त जापान मंचूरिया में राष्ट्र-संघ की खुली तौहीन कर रहा था, उस वक़्त ब्रिटिश प्रतिनिधि-मण्डल बराबर जापानियो का मित्र बना

रहा। चीन में जापानी हमले का अमेरिका ने विरोध किया। मगर ब्रिटिश रुख के कारण उस विरोध का बहुत-सा जोर मारा गया।

जापान ने इस बहाने का सहारा लिया था कि वह कोई 'युद्ध' नहीं कर रहा है, बल्कि कुछ आवश्यक 'कार्रवाइयाँ' (!) कर रहा है। भविष्य में कोई राष्ट्र ऐसे असाधारण बहाने न बना सके, इसके लिए 'आक्रमणकारी' राष्ट्र की व्याख्या करने का प्रस्ताव हुआ। पहले सोवियट रूस ने, फिर राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने, और अन्त में राष्ट्र-संघ की एक समिति ने व्याख्या की। इन सब व्याख्याओं ने करीब-क़रीब यह असम्भव कर दिया कि कोई राष्ट्र 'आक्रमणकारी' होने का दण्ड भोगे बिना सीमा पार करके दूसरे देश में सेना भेज सके, या दूसरे देश के समुद्र-तट पर घेरा डाल सके। छोटे-बड़े क़रीब-करीब सभी राष्ट्रों ने, यहाँतक कि फ़्रांस ने भी, यह व्याख्या मानली। जापान के लिए यह व्याख्या बहुत परेशान करनेवाली थी। परन्तु इसका असली विरोध इंग्लैण्ड की तरफ से हुआ और उसका साथ इटली ने दिया। इंग्लैण्ड ने 'आक्रमणकारी' की यह व्याख्या मानने से इन्कार कर दिया और चाहा कि इस मामले को अनिश्चित रहने दिया जाय। इसका असली अर्थ यह था कि जब कभी कोई राष्ट्र इस तरह का हमला करे तो उस वक़्त सफलतापूर्वक हस्तक्षेप करने का अधिकार राष्ट्र-संघ के हाथ में देना इंग्लैण्ड नहीं चाहता था।

हाल में सोवियट रूस, पोलैण्ड, एस्थोनिया, लटविया, लियुएनिया, रूमानिया, ईरान, तुर्की, अफ़गानिस्तान, ज़ेकोस्लोवेकिया और यूगोस्लाविया के बीच में एक-दूसरे पर हमला न करने का जो 'पैक्ट' यानी राज़ीनामा हुआ है उसमें आक्रमणकारी की यह व्यापक व्याख्या पूरी तरह स्वीकार की गई है। इस राज़ीनामे के साथ फ़्रांस ने भी अपनी सम्पूर्ण सहमति प्रकट की है। रूस के पश्चिमी पडोसियों में से अकेला फिनलैण्ड ही इस समझौते में शामिल नहीं हुआ है। उसपर ब्रिटेन का बहुत असर है।

नि:शस्त्रीकरण परिषद् में हवाई जहाज़ो से गोले बरसाने के मामले में ब्रिटेन ने जो विरोधी रुख इख़्तियार किया वह दूसरी मशहूर मिसाल है। हालांकि क़रीब-करीब सभी राष्ट्रों ने बम-वर्षा के इस रिवाज को बिलकुल उठा देने की ख्वाहिश ज़ाहिर की (मुझे याद नहीं कि ब्रिटेन के पिट्ठू इराक़ और हालैण्ड के सिवा और किसी देश ने यह इच्छा प्रकट न की हो)। फिर भी ब्रिटेन जिसे 'शान्ति-रक्षा के लिए बम-वर्षा करना' कहता है उसे कायम रखने पर उसका आग्रह बना ही रहा। जिस वक़्त मैं यह ख़त लिख रहा हूँ उस वक्त भी हिन्दुस्तान की उत्तरी-पश्चमी सीमा पर हवाई हमला होने और ब्रिटेन की शाही हवाई सेना द्वारा गांवों पर बम बरसाये जाकर उन्हें नष्ट करने का हाल अख़बारों में आया है।

कुछ महीनो तक बेकार कोशिशें करने के बाद निःशस्त्रीकरण परिषद् इस बुरी तरह दल-दल में फँसी कि न वह आगे बढ़ सकती थी और न उसमें से निकल सकती थी। आर्थिक संकट और व्यापारिक मन्दी के कारण सभी राष्ट्रो के लिए जल, स्थल ओर हवाई सेनाओ पर बडी रकमें खर्च करते रहना बहुत मुश्किल होरहा था। वे किफ़ायत करना चाहते थे और फौजें घटाने के पक्ष में यह प्रेरणा शान्ति की इच्छा से भी ज्यादा ताकतवर थी। फिर भी साम्राज्यवादी राष्ट्र किसी बात पर एक मत ही नहीं होते थे। वे एक-दूसरे से भी डरते थे और कुछ हद तक उन लोगों से भी डरे हुए थे जिनका वे अपने-अपने साम्राज्य में शोषण करते थे। साम्राज्य प्रेम और सद्भाव के आधार पर खडे नही हुआ करते। उनकी पीठ पर तो बल और हिंसा होती है। इनके बिना वे एक दिन भी नही टिक सकते।

परिषद् के सामने एक कठिन समस्या जर्मनी की थी। जर्मनी दूसरे राष्ट्रो के साथ समानता माँग रहा था। या तो उसे भी औरों के बराबर सेना बढ़ाने दी जाय, या और राष्ट्र भी उसके बराबर अपनी फौज घटा ले। यह दलील लाजवाब थी। क्या खुद राष्ट्र-संघ ने यह नही कह दिया था कि जर्मनी के नि·शस्त्र होने के बाद दूसरे राष्ट्र भी निःशस्त्र होंगे? अवश्य ही जर्मनी शान्ति और नि.शस्त्रीकरण का कोई बड़ा प्रेमी नहीं था, मगर उसे मालूम था कि सारे राष्ट्र निःशस्त्रीकरण की किसी भी व्यापक योजना को मंजूर नही करेगे और इसलिए उन्हे झख मारकर जर्मनी की समानता की माँग स्वीकार करनी पडेगी और उसे सेना रखने की इजाज़त देनी होगी। जर्मनी की हालत पर बडी हमदर्दी दिखाई गई और बराबरी का हक देनें का यकीन भी दिलाया गया। उसके बाद हिटलर और नाज़ी लोग अपनी धमकिया और आक्रमणकारी रवैया लेकर सामने आये। बस तुरन्त स्थिति बदल गई, फ़्रांस तन गया और एक हद तक इंग्लैण्ड और दूसरे राष्ट्रो का रुख़ भो कड़ा पड़ गया। दूसरे राष्ट्र कहने लगे कि अगर नाज़ी जर्मनी को हथियारबन्द होने दिया जायगा तो वह योरप के लिए बड़ा खतरा बन जायगा और अगर हम सेना कम कर देंगे तो उससे भी शान्ति भग होने की सम्भावना रहेगी। जर्मनी के पक्ष में कोई भी परिवर्तन होता तो उससे फ्रास की ताकत घटती और फ़्रास को इतनी घबराहट होगई कि वह ऐसे किसी परिवर्तन को सह नहीं सकता। स्थिति यह है कि नि शस्त्रीकरण परिषद् की गाडी अटक गई है। आगे के लिए कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। योरप में लड़ाई का खतरा बढ गया है और फौज कम करने की किसी राष्ट्र की हिम्मत नहीं होती। शिक्षा और दूसरे जरूरी और उपयोगी कामो से रुपया बचाकर भी सेनायें रखनी पड़ती है। इन कारणो से नि शस्त्रीकरण के बारे में कोई भी कारगर समझौता होना

बहुत मुश्किल है। दूसरी ओर इस तरह का समझौता न हुआ तो जर्मनी को फिर से शस्त्र धारण न करने के लिए किस मुँह से कहा जा सकता है ? और नाज़ी जर्मनी ने हथियार उठा लिये तो फिर युद्ध छिड़ने में देर नहीं लगेगी ! इस तरह योरप दल-दल में फँस गया है ! इन सब बातों को ध्यान में रखने से ही यह बात समझ में आ सकती है कि हाल में इटली, जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच जो चतुरंगी समझौता हुआ है वह सिर पर लटकती हुई लड़ाई की तलवार को गिरने से रोकने की और टालने की ही एक कोशिश है और सोवियट ने अपने पडोसियों के साथ आपस में हमला न करने का जो समझौता किया है वह भी आगामी युद्ध से बचने का ही उपाय है।

इस बीच नि.शस्त्रीकरण परिषद् तेज़ी के साथ एक तरह की शस्त्रीकरण-परिषद् होती जारही है। जर्मनी तो बीच-बीच में शस्त्र धारण करने की धमकी देता ही रहता है। जापान ने भी बडी शान्ति के साथ ऐलान कर दिया है कि दो वर्ष बाद जब ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस के साथ किये हुए वर्तमान समझौते की अवधि पूरी होगी तो वह अपनी जलसेना बढ़ायेगा। (यह समझौता वाशिंगटन-परिषद् में १९२२ में हुआ था)। नि.शस्त्रीकरण परिषद के सफल होने में बहुतेरी दिक्कते है। इन्हे बढ़ाने के लिये परदे की आड़ में बेशुमार षड्यंत्र चलते रहते हैं। ये कार्रवाइयाँ शस्त्रास्त्र बनानेवाले व्यापारियो के बडी-बडी तनख्वाहे पानेवाले आदमी खास तौर पर करते रहते हैं। आज की पूंजीवादी दुनिया में अस्त्र-शस्त्र और नाशकारी यंत्र बनाने का धन्धा बडे ही मुनाफे का उद्योग है। ये हथियार बनाये तो जाते है अलग-अलग देशो की सरकारो के लिए, क्योंकि आमतौर पर लड़ाई सरकारे ही करती है, फिर भी विचित्र बात यह है कि हथियार बनानेवाले खानगी व्यापारी होते हैं। इन कारखानों के मुख्य मालिक खूब मालदार होजाते है और उनका सरकारो से गहरा सम्पर्क रहता है। शुरू की किसी चिट्ठी में सर बेसिल ज़हरोफ नाम के एक ऐसे ही आदमी का थोडा-सा हाल मै तुम्हे बता चुका हूँ। हथियार बनाने वाले कारखानो के हिस्सो पर बड़ा मुनाफा मिलता है और उनकी अक्सर माँग रहती है। उस दिन यह साबित हुआ था कि इग्लैण्ड के बहुत-से बडे-बडे कर्मचारियो, यहाँतक कि मंत्रियों, लाट-पादरियो, पार्लमेण्ट के सदस्यो और दूसरे बडे-बडे सार्वजनिक व्यक्तियो के हिस्से भी इन कम्पनियो में है।

लडाई से और लड़ाई की तैयारियो से इन हथियार बनानेवाले कारखानो को फायदा होता है। वे सामूहिक मृत्यु का व्यापार करते है और जो कोई उन्हे कीमत देता है निष्पक्ष होकर उसीके हाथो वे अपने नाशकारी यन्त्र बेच देते है। जिस वक़्त

राष्ट्र-सघ चीन में जापान के हमले की निन्दा कर रहा था उसी वक्त अग्रेज़ी, फ़्रेंच और दूसरी हथियारो की दुकाने जापान और चीन दोनो को आज़ादी के साथ हथियार और लडाई के सामान पहुँचा रही थी। ज़ाहिर है कि सचमुच नि शस्त्रीकरण होजाय तो इन दूकानो का पटरा बैठ जाय, क्योकि इनका सारा व्यापार जाता रहे। इसलिए उनके खयाल से जो वडी भारी विपत्ति की बात है उसे रोकने के लिए वे ख़ूब कोशिश करते है। असल में वे इससे भी आगे बढते है। राष्ट्र-सघ ने ख़ानगी तौर पर हथियार बनाने के मामले की जाँच करने के लिए एक ख़ास कमीशन बिठाया था। वह इस नतीजे पर पहुँचा कि ये दुकाने लड़ाई की ख़बरे फैलाने और अपने-अपने देशो को लडाकू नीति इख़्तियार करने की प्रेरणा करने में लगी रही है। यह भी पाया गया कि ये दूकाने अलग-अलग देशो के जल और स्थल सेना-सम्बन्धी खर्च के बारे में झूठे समाचार फैलाती है, ताकि दूसरे देशो को अपना फौजी खर्च बढ़ाने की प्रेरणा हो। वे एक देश को दूसरे देश से भिड़ाने की कोशिश करती है और हथियारो के मामले में होड़ लगाने की वृत्ति बढ़ाती है। वे सरकारी कर्मचारियो को रिश्वत देती और लोकमत पर असर डालने के लिए अख़बारो को ख़रीद लेती है। इतना ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ बनाकर और ठेके लेकर वे हथियारो और युद्ध के सामान के भाव बढ़ा देती है। राष्ट्र-संघ के जाँच-कमीशन ने सुझाया कि शस्त्रास्त्रो का ख़ानगी तौर पर बनाना बन्द कर दिया जाय। नि शस्त्रीकरण-परिषद् में भी यह प्रस्ताव किया जा चुका है। मगर वहाँ भी विरोध ब्रिटिश सरकार की तरफ से ही हुआ और लगातार हुआ। अलग-अलग देशो के शस्त्रास्त्र बनाने के इन कारख़ानो का आपस में गहरा ताल्लुक़ होता है। वे देश-प्रेम से नाजायज फायदा उठाकर मौत के साथ खेलते है, फिर भी उनका अपना काम अन्तर्राष्ट्रीय है। उनके संगठन को 'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (Secret International) का नाम दिया गया है। यह स्वाभाविक है कि ये लोग नि.शस्त्रीकरण पर आपत्ति करे और इस बारे में समझौता न होने देने के लिए इनसे जितना कुछ हो सकता था वह सब इन्होने किया ही। इनके आदमी ऊँचे-से-ऊँचे राजनैतिक हलको में आते-जाते है और इनकी मनहूस शक्ले परदे के पीछे से डोर हिलाती हुई जिनेवा में दर्शन देती रही है।

इस 'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सघ' के साथ अक्सर अलग-अलग सरकारो के गुप्तचर-विभाग या खुफिया पुलिस का गहरा सम्बन्ध होता है। हरेक सरकार दूसरे देशो के पोशीदा हालात जानने के लिए जासूस नौकर रखती है। कभी-कभी ये जासूस पकडे जाते है और उसी समय उनकी सरकार झट कह देती है कि ये हमारे आदमी नहीं है। आर्थर पोन्सनवी कुछ साल पहले, मेरे ख़याल से, ब्रिटिश सरकार के वैदेशिक उपमन्त्री थे। आजकल वे लार्ड पोन्सनवी वन गये है। इन गुप्तचर-विभागो की चर्चा करते

हुए पोन्सनबी ने मई १९२७ मे कामन्स सभा में कहा था—"जब हम नैतिकता की बडी-बडी बातें करते है, उस समय हमें इन सचाइयों का वास्तविक ख़याल रखना चाहिए कि जालसाज़ी, चोरी, झूठ, रिश्वत और भ्रष्टाचार दुनिया के सभी वैदेशिक विभागो और मंत्रिमण्डलो में मौजूद है। ..... मै कहता हूँ कि माने हुए नैतिक नियमों के अनुसार हमारे जो प्रतिनिधि विदेशो में रहते है वे वहाँके गुप्त कागजात के भेद मालूम न करे तो यह समझा जायगा कि उन्होने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया।"

चूंकि इन गुप्तचर-विभागो का काम छिपकर होता है इसलिए उनपर काबू रखना मुश्किल है। उनका अपने-अपने देशो की विदेशी नीति पर बडा असर होता है। इनका संगठन व्यापक और बलशाली होता है। शायद इस समय ब्रिटिश खुफिया विभाग सबसे प्रबल और दूर-दूर तक फैला हुआ है। एक मिसाल ऐसी भी मिलती है कि एक मशहूर ब्रिटिश जासूस रूस में एक उच्च सोवियट कर्मचारी बन गया था! वर्तमान भारत-मन्त्री सर सेम्युअल होर युद्ध-काल में रूस में ब्रिटिश खुफिया विभाग के सरदार थे। उन्होने हाल ही में कुछ गर्व के साथ खुले तौर पर कहा है कि ख़बरे मालूम करने का उनका तरीका इतना बढ़िया था कि रासपुटिन के खून का हाल और किसीकी बनिस्वत उन्हे बहुत पहले मालूम होगया था।

निःशस्त्रीकरण-परिषद् के सामने असली कठिनाई यह थी कि दो तरह के देश है—सन्तुष्ट और असन्तुष्ट, शासक और शासित, मौजूदा स्थिति को कायम रखना चाहनेवाले और उसमें परिवर्तन चाहनेवाले। जिस तरह प्रभुता-प्राप्त वर्ग और दलित-वर्ग में सच्ची स्थिरता नहीं हो सकती, ठीक उसी तरह इन दो तरह के मुल्को में कोई स्थायी समझौता नही होसकता। सब बातो को देखते हुए राष्ट्र-संघ इन ज़ोरावर राष्ट्रो की चीज़ है। इसलिए उसकी कोशिश मौजूदा स्थिति को कायम रखने की ही है। रक्षा के समझौतो और 'आक्रमणकारी' राष्ट्र की व्याख्या के प्रयत्नो का यही उद्देश्य होता है कि जो हालत है वह बनी रहे। कुछ भी हो जाय, जिन राष्ट्रो का राष्ट्र-संघ पर नियंत्रण है उनमें से किसी एक को भी शायद संघ 'आक्रमणकारी' कहकर बुरा नहीं बतायगा, वह हमेशा ऐसी चालबाज़ियाँ करेगा कि दूसरा पक्ष ही 'आक्रमणकारी' घोषित हो जाय।

शान्तिवादी और दूसरे लोग, जो युद्ध रोकना चाहते है, इन रक्षा के समझौतो का स्वागत करते है। इस तरह वे एक अर्थ में अन्यायपूर्ण वर्तमान स्थिति को कायम रखने में मदद देते है। योरप के बारे में अगर यह बात सही है तो एशिया और अफरीका के बारे में और भी सही है, क्योंकि वहाँ साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने बड़े-बड़े

इलाके अपने राज्य में मिला लिये है। इसलिए एशिया और अफरीका में मौजूदा हालत बनी रहनें का मतलब यह है कि साम्राज्यवादी शोषण जारी रहे

इस वर्तमान स्थिति को कायम रखने के लिए जो समझौते या कार्रवाइयां योरप में हुई हैं उनसे अबतक अमेरिका का सयुक्तराष्ट्र अलग रहा है। लेकिन मालूम होता है वह भी अब योरप की प्रणाली में थोड़ा-थोड़ा फॅसता जा रहा है।

: १६२ :

राष्ट्रपति रूज़वेल्ट का रक्षा का प्रयत्न

४ अगस्त, १९३३

यह किस्सा ख़त्म करने से पहले मैं तुम्हे अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की एक झॉकी और करा देना चाहता हूँ (और अब इस कहानी के पूरा होने में बहुत देर नही की जा सकती)। इस वक़्त अमेरिका में एक महान् और मनोहर-सा प्रयोग होरहा है। दुनिया की आँखें उसपर लगी हुई है, क्योकि उसके परिणाम पर यह बात निर्भर है कि भविष्य में पूंजीवाद किधर जायगा। मैं यह फिर से कहदूं कि अमेरिका अभीतक सबसे उन्नत पूँजीवादी देश है। मालदार भी वही सबसे ज्यादा है और उसके औद्योगिक यंत्र और कला दूसरे देशो से उन्नत हैं। उसे किसी और मुल्क का रुपया देना नहीं है और उसपर अगर किसीका कर्ज़ है तो वह अपने ही नागरिको का है। उसका निर्यात-व्यापार बहुत है और बढ रहा है; फिर भी यह उसके बडे भारी भीतरी व्यापार का एक छोटा-सा भाग (१५ फीसदी के करीब) है। यह देश लगभग सारे योरप के बराबर बड़ा है। मगर बड़ा भारी फर्क यह है कि जहाँ योरप कई छोटे राष्ट्रो में बॅटा हुआ है, जिनकी सीमाओ पर भारी चुगी लगती है, वहॉ संयुक्तराष्ट्र के अपने इलाके के भीतर ऐसी कोई व्यापारिक बाधायें नहीं हैं। इसलिए योरप की बनिस्बत अमेरिका में जबरदस्त भीतरी व्यापार का विकास बहुत आसान था। योरप के दरिद्र और कर्ज़ से दबे हुए देशो से अमेरिका को ये सब सहूलियते ज्यादा थीं। उसके पास सोने, रुपये और माल की बहुतायत थी।

यह सब होते हुए भी पूंजीवादी संकट ने उसे आदबाया और उसका सारा गरूर तोड़ दिया। जिस राष्ट्र के जीवट और कार्य-शक्ति का कोई पार नहीं था उसपर भाग्यवाद छागया। सारा देश तो फिर भी धनी बना रहा और रुपया भी कहीं ग़ायब नहीं होगया, मगर वह थोडे-से स्थानो में जमा होगया। न्यूयार्क में फिर भी करोडो-अरबो की पूजी के ढेर दिखाई देते थे। जे०पियरपौण्ट मार्गन नामक बड़ा साहूकार अब

भी अपनी विलास-सामग्री से सजी बढ़िया नाव का दिखावा करता था। कहते हैं, उसपर ६० लाख पाउण्ड खर्च हुआ है। फिर भी न्यूयार्क को हाल ही में 'भूखा शहर' बताया गया है। शिकागो जैसे बडे-बडे नगरो की म्यूनिसिपैलिटियाँ लगभग दीवालिया होचुकी है और वे अपने हजारो नौकरो का वेतन नहीं चुका सकतीं। इसी शिकागो शहर में 'उन्नति की शताब्दी' (The Century of Progress) के नाम से एक शानदार नुमाइश या 'विश्व-मेला' भर रहा है।

ये विषमतायें अमेरिका तक ही महदूद नहीं है। लन्दन में जाकर देखो, उच्च-वर्ग के अंग्रेजो में सर्वत्र वैभव और विलास के दरिया बहते दिखाई देंगे। अलवत्ता वहाँकी गरीब बस्तियो में यह बात नहीं है। लंकाशायर या उत्तरी या मध्य इग्लैण्ड के कुछ भागो में जाकर देखोगी तो तुम्हे वेकारो की लम्बी-लम्बी कतारे, पिचके हुए गाल और जीवन के दुःखपूर्ण दृश्य ही दिखाई देंगे।

इन वर्षों में अपराधों की वृद्धि, खास तौर पर संगठित दलो द्वारा होनेवाले जुर्मो की वृद्धि, खूब हुई है। यानी गुण्डो के दल-के-दल मिलकर काम करते हैं और जो लोग बाधक होते हैं उन्हे अक्सर गोली से उड़ा देते हैं। कहते है कि ये जुर्म उस वक़्त से ज्यादा बढ़े हैं जबसे कि शराब-बन्दी का कानून पास हुआ है। मदिरा-निषेध का यह कानून महायुद्ध के बाद ही बन गया था। इसका एक कारण यह था कि बडे-बडे कारखानेदार अपने मजदूरो को शराब से इसलिए दूर रखना चाहते थे कि वे लोग ज्यादा अच्छा काम कर सकें। परन्तु धनवान लोग स्वयं इस कानून की अवहेलना करते थे और बाहर से मँगा-मँगाकर शराब पीते थे। धीरे-धीरे शराब का गैरकानूनी व्यापार बहुत बढ़ गया। यह इस तरह होता था कि शराब बाहर से भी छिपकर मँगाई जाती थी और देश में भी गुप्त रूप से बनाई जाती थी। आम तौर पर छिपकर तैयार की हुई शराब असली शराब से कहीं घटिया और हानिकारक होती थी। यह शराब गुप्त स्थानो पर बहुत ऊँचे दामो में बेची जाती थी और इस तरह के खानगी शराबखाने सभी बडे-बडे शहरो में हजारो की तादाद में होगये। ये सब कार्रवाइयाँ गैरकानूनी तो थीं ही, इन्हे जारी रखने के लिए पुलिसवालो और राज्याधिकारियो को रिश्वत दी जाती थी और कभी-कभी उन्हे डराया-धमकाया भी जाता था। कानून की इस व्यापक अवहेलना से गुण्डो के दल बढ़ गये। इस तरह 'मदिरा-निषेध' का एक ओर तो यह नतीजा हुआ कि मजदूरो और देहातियो को फायदा पहुँचा। दूसरी ओर बड़ा नुकसान भी हुआ। यानी चोरी से शराब बनानेवालो का एक जबरदस्त स्वार्थी दल पैदा होगया। सारा देश दो दलो में बँट गया। मदिरा-निषेध के पक्ष वाले 'सूखे' (Drys) कहलाये जाने लगे और उसका विरोध करनेवाले 'गीले' (Wets) कहलाये।

संगठित अपराधों में सबसे मशहूर और दिल दहलानेवाला अपराध यह था कि धनवानों के छोटे-छोटे बच्चों को गुण्डे उड़ा लेजाते थे और अपने कब्जे में रखकर उनके बदले में रुपया ऐंठते थे। एक-दो साल पहले की ही बात है, लिण्डबर्ग का दूध पीता लड़का इसी तरह उड़ाया गया था और उसकी पाशविक ढंग से हत्या की गई थी। इस घटना से संसार के हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा।

इन सब बातों के साथ व्यापारिक मन्दी मिल गई और यह भी मालूम होगया कि बहुत-से बड़े-बड़े राजकर्मचारी और व्यवसायी भ्रष्ट और अयोग्य हैं। इससे अमेरिका के लोग घबरा उठे। १९३२ के नवम्बर में राष्ट्रपति के चुनाव के अवसर पर लाखों आदमियों की दृष्टि रूजवेल्ट की ओर गई और उन्हें आशा हुई कि वह उनका कष्ट कम करेगा। रूजवेल्ट 'गीले' पक्ष में था और लोकशाही दल (Democratic Party) का आदमी था। इस दल के आदमी क्वचित् ही संयुक्तराष्ट्र के राष्ट्रपति हुए हैं।

अलग-अलग देशों के विशेष लक्षणों को सदा ध्यान में रखकर उनकी तुलना करना दिलचस्प और फायदेमन्द होता है। इसलिए संयुक्तराष्ट्र की हाल की घटनाओं का जर्मनी और इंग्लैण्ड की घटनाओं से मुकाबिला करने का लोभ होता है। जर्मनी के साथ अमेरिका की बड़ी समानता है, क्योंकि खूब औद्योगिक देश होते हुए भी दोनों में ही किसानों की आबादी बहुत है। जर्मनी की सारी आबादी में २५ फीसदी और संयुक्त-राष्ट्र में ४० फीसदी किसान हैं। राष्ट्रीय नीति के निर्माण में इन किसानों का असर पड़ता है। इंग्लैण्ड में यह बात नहीं है, क्योंकि वहाँ थोड़े-से किसान हैं और उनपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। हाँ, अब जरा उनकी उन्नति की कोशिश की जा रही है।

जर्मनी के नाजी आन्दोलन का मुख्य कारण यह था कि नीचे दर्जे के वञ्चित मध्यमवर्ग की तादाद बहुत बढ़ गई थी और जर्मन सिक्के का भाव गिर जाने के बाद यह तादाद और भी तेजी से बढ रही थी। जर्मनी में यही वर्ग क्रान्तिकारी बना। ठीक यही वर्ग आजकल अमेरिका में बढ़ रहा है। ये 'सफेद कॉलर के गरीब' ('White Collar proletariat') कहलाते हैं, ताकि मजदूर-वर्ग के गरीबों से इनका भेद किया जा सके। मजदूर वर्ग शायद ही कभी सफेद कॉलर लगाता है।

तुलना करने की दूसरी बातें हैं सिक्के सम्बन्धी संकट, मार्क, पाउण्ड और डालर का सोने के विनिमय से हटना, नोटों का खूब छापा जाना और बैंकों का दिवाला निकलना। इंग्लैण्ड में बैंकों का दिवाला न निकलने का कारण यह था कि वहाँ छोटे-छोटे बैंक बहुत नहीं हैं और साहूकारी के व्यवसाय का नियन्त्रण चार बड़े बैंकों के हाथ में है। बाकी बातों में घटना-चक्र तीनों में एकसा ही रहा। पहले जर्मनी में संकट आया, फिर इंग्लैण्ड में और बाद में संयुक्तराष्ट्र में। मामूली तौर पर नाजियों के, १९३१ के

चुनाव में ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के, और नवम्बर १९३२ के चुनाव में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के सहायक अपने-अपने देश में एक ही वर्ग के लोग थे। यह वर्ग था नीचे दर्जे का मध्यमवर्ग। इसके बहुत लोग पहले दूसरे दलो में रह चुके थे। इस तुलना को बहुत दूर तक नहीं खीचना चाहिए। इसका एक कारण तो यह है कि राष्ट्र-राष्ट्र में भेद होता है, और दूसरा कारण यह है कि स्थिति जर्मनी में जहाँतक पहुँच चुकी है वहां-तक इंग्लैड और अमेरिका में अभीतक नहीं पहुँची है, मगर खास बात यह है कि उद्योगवाद में खूब आगे बढ़े हुए इन तीनों ही देशो में बहुत मिलते-जुलते आर्थिक प्रभाव काम कर रहे हैं। इसका परिणाम भी एक-सा हुए बिना नहीं रहेगा। यह हाल फ्रांस में (या दूसरे देशों में) उसी हद तक नहीं है, क्योकि फ्रांस अभीतक कृषि-प्रधान ज्यादा और औद्योगिक दृष्टि से कम उन्नत है।

"रूजवेल्ट ने १९३३ के मार्च के शुरू में राष्ट्रपति का ओहदा सम्हाला। काम सम्हालते ही उसे बैंको की जबरदस्त उथल-पुथल का सामना करना पड़ा। भयंकर मन्दी तो पहले से थी ही। काम सम्हालने के वक्त देश की जो हालत थी, कुछ सप्ताह के बाद उसका वर्णन करते हुए उसने कहा था कि देश इस समय "धीरे-धीरे मर रहा है।"

रूजवेल्ट ने तुरन्त निश्चित कार्रवाई की। उसने अमेरिका की कांग्रेस से बैंको, कारखानो और किसानो के सम्बन्ध में कार्रवाई करने के लिए अधिकार मांगे। कांग्रेस उथल-पुथल यानी अर्थ-संकट से बिलकुल घबराई हुई थी और रूजवेल्ट के पक्ष में लोगों की भावनाओ का उसपर असर था, इसलिए उसने उसे अधिकार देदिये। रूजवेल्ट सर्वेसर्वा बन गया। सब उसकी ओर देखने लगे कि वह उन्हे विपत्ति से बचाने के लिए कोई-न-कोई कारगर उपाय फौरन करेगा। हुआ भी वैसा ही। उसने बडी तेजी से काम किया और महीने-बीस दिन के भीतर-भीतर अपने अलग-अलग तरह के कामो से सारे संयुक्तराष्ट्र को हिला दिया। उसका आत्मविश्वास भी खूब बढ़ गया।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जो अनेक निर्णय किये उनमें से ये भी थे'—

(१) सोने का विनिमय छोड दिया और डालर का भाव गिर जाने दिया। इससे कर्जदारो का बोझा हलका होगया।

(२) विशेष सहायता देकर किसानो का कष्ट दूर किया और कृषि का बोझा हलका करने के लिए दो अरब डालर का बडा भारी कर्ज जारी करवाया।

(३) जगलात के लिए और बाढो के रोकने के काम के लिए तुरन्त ढाई लाख मजदूर भर्ती किये। इसका उद्देश्य बेकारी कम करना था।

(४) बेकारी घटाने के लिए कांग्रेस ने अस्सी करोड डालर मांगे। ये मजूर होगये।

(५) लगभग तीन अरब डालर की जबरदस्त रकम अलग रखदी। यह

लोगो को काम देने के लिए उधार लेकर सार्वजनिक कामो मे लगाने के लिए थी ।

(६) मदिरा-निषेध का कानून रद करने की कार्रवाई जल्दी से पूरी करली ।

ये बडी-बडी रकमें धनवान लोगो से उधार ली जानेवाली थी । रूजवेल्ट की सारी नीति यही थी और यही है कि लोगो की खरीद करने की शक्ति बढाई जाय । उनके पास रुपया होगा तो वे खरीदेंगे और व्यापारिक मन्दी अपनेआप कम हो जायगी । इसी उद्देश्य से वह सार्वजनिक कामो की बडी-बडी योजनायें हाथ में ले रहा है, ताकि उनमें मजदूर लगाये जासके और वे रुपया कमा सके । इसी उद्देश्य से वह मजदूरो की मजदूरी बढाने और उनके काम के घण्टे घटाने की कोशिश कर रहा है । रोजाना काम के घण्टे जितनें कम होगे उतने ही अधिक आदमियो को काम मिलेगा ।

यह रवैया उस रवैये से बिलकुल उलटा है जो संकट और मन्दी के समय कारखानें के मालिको का रहा करता है । वे प्रायः उत्पत्ति का खर्च कम करने के लिए मजदूरी घटाने और काम के घण्टे बढाने की कोशिश किया करते है । मगर रूजवेल्ट का कहना यह है कि अगर हमें फिर से सामूहिक रूप से माल पैदा करना है तो हमें सामूहिक रूप से ऊँची मजदूरी देकर जनता में उस माल को खरीदने की शक्ति पैदा करनी चाहिए ।

रूजवेल्ट की सरकार ने सोवियट रूस को भी अमेरिका की रुई खरीदने की गरज से कर्ज दिया । दोनो सरकारो में इस बात की भी चर्चा चल रही है कि दोनों देशो में बडे पैमाने पर माल का लेन-देन कैसे होसकता है ।

अबतक अमेरिका की सरकार विशुद्ध पूंजीवादी सरकार रही है । वहाँ पूरी अबाधित स्पर्धा यानी बेरोक लाग-डाँट रही है । वह 'व्यक्तिवादी' राज्य (Individualistic State) कहलाता रहा है । रूजवेल्ट की नई नीति का इसके साथ मेल नही बैठता, क्योकि वह कई तरह व्यवसाय में दखल देरहा है । इसलिए वह एक प्रकार से उद्योग-धन्धो पर राज्य का बहुत-कुछ नियंत्रण स्थापित कर रहा है । मगर वह इसे दूसरे नाम से पुकारता है ।

असल में ये कार्रवाइयाँ सरकारी समाजवाद की है । यानी सरकार इस बात की व्यवस्था कर रही है कि काम के घण्टे कितने हो और मजदूरी की शर्तें क्या हो और उद्योगो पर सरकार का नियंत्रण रहे और भयंकर प्रतिस्पर्धा या लाग-डाँट बन्द हो । इसे वह यो कहता है कि "योजना में सब शामिल हो और सब उसे पूरी करने की कोशिश करे ।"

यह काम अब अमेरिका वाले अपने स्वभाव के अनुसार पूरे जोर और जोश के साथ कर रहे है । बच्चो से काम लेने की प्रथा उठादी गई है । (मजदूरी के मामले

में बच्चो की उम्र सोलह साल तक की मानी गई है)। अधिक मजदूरी, ज्यादा वेतन और कम घण्टे काम, यही मूल मंत्र बने हुए है। खुशहाली के इस आन्दोलन में, कहते है, सारा देश एक बड़ा भर्ती का विज्ञापन-केन्द्र बना हुआ है। हवाई जहाज इधर से उधर दौड़ते और कारखाने के मालिको और दूसरे लोगो से बेतार के तार द्वारा अपीले करते फिरते है। प्रत्येक बडे-बडे उद्योग को प्रेरणा की गई है कि वे ऊँची मजदूरी देने के अलग-अलग नियम बनावे और उनपर अमल करने की प्रतिज्ञा करे। जो उचित ढंग के नियम नहीं बना पाते है उन्हे हलकी-सी धमकी देदी जाती है कि वे नहीं बनावेगे तो सरकार बना देगी। मालिको से अलग-अलग प्रतिज्ञा-पत्रो पर भी हस्ताक्षर कराये जारहे है कि वे अपने-अपने नौकरों की तनख्वाहे बढ़ायेंगे और काम के घण्टे घटायेंगे। जो मालिक इस मामले में आगे बढ़कर काम करेंगे उन्हे सरकार सम्मान के बिल्ले देना चाहती है और जो पीछे रहेगे उन्हे शर्माने के लिए हर शहर के डाकखाने में सम्मान-प्राप्त लोगो की सूची रक्खी जायगी।

इन सब उपायो से भावो और व्यापार में कुछ सुधार हुआ है, लेकिन असली और मार्के का सुधार यह हुआ है कि व्यवसाय की भावना और साहस बढ गया है। हार का खयाल बहुत कुछ जाता रहा है और आमतौर पर साधारण जनता में और खासतौर पर मध्यमवर्ग में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रति खूब श्रद्धा है। अभी से ही लोग उसकी तुलना अमेरिका के महान् वीर राष्ट्रपति लिंकन से करने लगे है। उसने भी बडे सकट यानी गृह-युद्ध के समय काम सम्भाला था।

योरप तक में बहुत लोग रूजवेल्ट की तरफ देखने लगे थे और यह आशा करने लगे थे कि मन्दी को दूर करने के लिए वह दुनिया को रास्ता दिखायगा। मगर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद के समय दूसरे देशो के प्रतिनिधियो में उसकी लोकप्रियता जरा घट गई, क्योकि उसने अपने प्रतिनिधियों को यह हिदायत करदी थी कि वे डालर का भाव सोने के साथ बाँधने या और कोई ऐसा काम करने से इन्कार करदें जिससे सयुक्तराष्ट्र में उसकी बडी-बडी योजनाओ में बाधा पड़ने की सम्भावना हो।

रूजवेल्ट की नीति निश्चित रूप से आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति है और वह अमेरिका की स्थिति सुधारने पर तुला हुआ है। योरप की कुछ सरकारो को यह पसन्द नहीं है और बैंक वाले, खासतौर पर फ्रास के बैंक वाले, इस बात पर नाराज है कि उनके सोने के विनिमय को खतरा है। अग्रेज लोग उसको ध्यान से देख रहे है।

फिर भी रूजवेल्ट अपने पहले के राष्ट्रपति की बनिस्बत ससार के मामलो में ज्यादा अमली हिस्सा लेरहा है। नि शस्त्रीकरण और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में उसका रवैया इंग्लैण्ड से आगे बढा हुआ और निश्चित है। उसकी मीठी चेतावनी से

हिटलर नरम पड गया है। वह सोवियट रूस के साथ भी सम्पर्क बढा रहा है।

आज अमेरिका में और दूसरे देशो में भी बडा सवाल यह है, "क्या रूजवेल्ट को कामयाबी मिलेगी ?" वह बडी बहादुरी से पूंजीवाद को क़ायम रखने की कोशिश कर रहा है, लेकिन उसकी सफलता का अर्थ यह है कि बडे-बडे व्यवसायियो की गद्दी छिन जावे। और यह मुमकिन नही दीखता कि बडे व्यवसायी इसे चुपचाप बर्दाश्त करलें। अमेरिका के इन बडे व्यवसायियो के स्थायी स्वार्थ आज की दुनिया में सबसे प्रबल समझे जाते है, और ये लोग राष्ट्रपति रूजवेल्ट के कहने से ही सत्ता और विशेष अधिकार छोडनेवाले नहीं है। अभी तो लोग लोकमत को देखकर चुप है और राष्ट्रपति की लोकप्रियता के कारण दबे हुए-से है। परन्तु वे अपने मौके की घात में ज़रूर है। अगर कुछ महीनो के भीतर हालत में कुछ सुधार नही हुआ तो यह उम्मीद रक्खी जाती है कि लोकमत रूजवेल्ट के ख़िलाफ हो जायगा और उस समय ये बडे व्यवसायी खुलकर सामने आयेंगे। बहुत-से अधिकारपूर्ण राय रखनेवालो का ख़याल है कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने असम्भव कार्य हाथ में लिया है और उसे सफलता नहीं मिलेगी। वह असफल हुआ तो संसार की मन्दी और भी बढ़ जायगी और अमेरिका में बडे व्यवसायियो की सत्ता फिर सर्वोपरि होजायगी। शायद उनका बल पहले से भी बढ़ जाय, क्योकि रूज़वेल्ट सरकारी समाजवाद का जो ढाँचा खड़ा कर रहा है वह उस वक़्त बडे व्यवसायियो के व्यक्तिगत लाभ के लिए काम में लाया जायगा। अमेरिका में मज़दूर-आन्दोलन तो ज़ोरदार है ही नही, उसे आसानी से दबाया जा सकता है।

दूसरा ख़याल यह है कि अमेरिका (और शायद इंग्लैण्ड भी) जर्मनी की राह पर जायगा और फ़ैसिस्ट प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी। रूजवेल्ट के सिक्के का भाव घटा देने की नीति से कई समुदायो को फायदा है, लेकिन मध्यमवर्ग के लोगो को नुक्सान है; क्योकि उनकी आमदनी बंधी हुई है और डालर की कीमत घटने पर भी इन्हे तो वही तनख्वाह मिलती है। इस तरह 'सफेद कॉलर' वाली जनता बढती जा रही है और मज़दूरो से भी कहीं अधिक क्रान्तिकारी बनती जा रही है। मध्यमवर्ग के ये क्रान्तिकारी अंग किसानो के साथ मिलकर अमेरिका में फैसिस्ट परिस्थितियाँ पैदा कर सकते है। इसका यह अर्थ नही है कि जर्मनी के हालात की नकल की जायगी, लेकिन यह सम्भावना है कि बेचारे हब्शियो की और भी कमबख़्ती आयगी, विदेशी और यहूदी लोगो के प्रति सहिष्णुता कम होगी और दमन बढ जायगा। यानी भाषण देने और समाचारपत्र निकालने वगैरा के नागरिक अधिकार छीन लिये जायेंगे। उडरो विल्सन के बाद अमेरिका में रूजवेल्ट जैसा उदार और सुसंस्कृत राष्ट्रपति नहीं हुआ है। मगर वह ऐसी शक्तियो का प्रतिनिधि मालूम होता है जो उथल-पुथल तीव्र होने के साथ-साथ

अधिकाधिक फैसिज्म की ओर झुक सकती है। लेकिन अभी तो वह एक तरह से संयुक्तराष्ट्र का सर्वेसर्वा है और नीचे पडे हुए लोगो को ऊपर उठाने की भरसक कोशिश कर रहा है। संसार उसके महान् प्रयोग को देख रहा है।

: १६३ :

पार्लमेण्टों की असफलता

६ अगस्त, १९३३

हाल की घटनाओं की हमने ज़रा तफसील के साथ देख-भाल की है और बहुत-सी ऐसी शक्तियो और प्रवृत्तियो पर विचार किया है जो हमारी आज की बदलती हुई दुनिया का रंग-रूप बना रही है। दो बाते खास तौर पर सामने आई है, जिनका जिक्र तो मै पहले ही कर चुका हूँ लेकिन उनपर ज्यादा विचार करने की जरूरत मालूम होती है। इनमें से एक तो है लड़ाई के बाद के वर्षो में मजदूर-आन्दोलन और पुराने ढंग के समाजवाद की असफलता, और दूसरी बात पार्लमेण्टो की असफलता या उनका ह्रास है।

मै तुम्हे बता चुका हूँ कि किस तरह जब १९१४ में महायुद्ध छिडा उस समय संगठित मजदूर दल कुछ न कर सका और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ (Second International) छिन्न-भिन्न होगया। इसका कारण यह बताया गया था कि अचानक लड़ाई का धक्का लगने से भयंकर राष्ट्रीय भावनायें उत्तेजित होगई थीं और लोगो पर थोडे समय के लिए पागलपन सवार होगया था। पिछले चार सालो में जो घटनायें हुई है, वे बिलकुल दूसरी और कही ज्यादा आँखें खोलनेवाली है। इन चार वर्षो में जितनी महान् मन्दी रही है उतनी पूंजीवादी संसार ने पहले कभी नहीं देखी थी। इसलिए मजदूरो पर मुसीबत का बोझ बढ़ता जा रहा है। फिर भी साधारण तौर पर कहीं भी और विशेषकर इंग्लैण्ड और सयुक्तराष्ट्र में साधारण मजदूरो में सच्ची क्रान्तिकारी भावना पैदा नहीं होपाई।

यह जाहिर है कि पुराने ढंग के पूंजीवाद का ढांचा बिखर रहा है। जहातक बाहरी बातो का ताल्लुक है वहांतक स्थितियां समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की शक्ल में तब्दील होने के बिलकुल मुआफिक मालूम होती है, मगर जिन लोगो को क्रान्ति की सबसे ज्यादा इच्छा होसकती है उन मजदूरो में से ही ज्यादातर का ऐसा कोई इरादा नहीं मालूम होता। क्रान्तिकारी भावनायें मजदूरो से कहीं ज्यादा अमेरिका के पुराने खयाल के किसानो में दिखाई देती है और, जैसा मै तुम्हे कई बार बता चुका हूँ,

ज्यादातर देशो मे मजदूरो की वनिस्वत नीचे दर्जे के मध्यमवर्ग के लोग ज्यादा उग्र हैं। यह बात सबसे ज्यादा जर्मनी में और उससे कम इंग्लैण्ड और सयुक्तराष्ट्र और दूसरे देशो में दिखाई देती है। कमी-वेशी का कारण यह है कि राष्ट्रो के स्वभाव अलग-अलग है और अर्थ-सकट भी अलग-अलग मात्रा में आया है।

लड़ाई के वाद के कुछ वर्षों तक जो मजदूर-आन्दोलन इतना उग्र और क्रान्तिकारी था, वह इतना नरम और भाग्यवादी क्यो बन गया ? जर्मनी का लोकसत्तात्मक समाजवादी दल बिना लोहा लिये ही क्यो टूट गया और उसने नाजियो के हमले से अपनेआपको चूर-चूर क्यो होजाने दिया ? अंग्रेजी मजदूर दल इतना नरम और प्रतिगामी क्यो है ? मजदूर दल के नेताओ पर अक्सर यह दोष लगाया जाता है कि वे अयोग्य होते है और मजदूरो को धोखा देते है। उनमें से बहुत-से जरूर इस दोष के पात्र है और यह देखकर दु:ख होता है कि उनमें से कई लोग दुश्मन से मिल जाते है और मजदूर-आन्दोलन को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का साधन बनाते है। बदकिस्मती से इन्सान के सभी कामो में मौका देखकर काम निकालने की प्रवृत्ति मौजूद है। लेकिन यह प्रवृत्ति उस हालत में बहुत ही खेदजनक होजाती है जब अपनी भलाई के लिए लाखो पददलित और दु:खी मनुष्यो की आशाओ, आदर्शों और कुर्वानियो से अनुचित लाभ उठाया जाता है।

नेताओं का दोष होसकता है। मगर नेता भी तो आखिर मौजूदा हालत की ही पैदावार होते है। आमतौर पर कोई देश जिस योग्य होता है वैसे ही उसे शासक मिलते है और किसी आन्दोलन को नेता भी वैसे ही मिलते है जैसी कि अनुयायियो की सच्ची इच्छा होती है। असल बात यह है कि इन साम्राज्यवादी देशो में न तो मजदूर नेता और न उनके अनुयायी ही समाजवाद को एक जीवित धर्म के रूप में मानते थे और न यह समझते थे कि यह कोई तुरन्त चाहने लायक चीज है। उनका समाजवाद पूंजीवादी प्रणाली के साथ बहुत ज्यादा उलझ गया और बँध गया। पराधीन देशो के शोषण से जो फायदा हुआ उसका थोड़ा-सा हिस्सा उन्हे भी मिल गया और वे यह समझते रहे कि रहन-सहन के ऊँचे ढंग के लिए पूंजीवाद का कायम रहना जरूरी है। समाजवाद एक दूर का आदर्श बन गया। वह एक ऐसा स्वर्ग होगया जिसके सपने देखते रहे और वर्तमान से उसका कोई ताल्लुक न हो। स्वर्ग की पुरानी कल्पना की तरह समाजवाद भी पूंजीवाद का दास होगया।

इस तरह मजदूर दल, श्रमजीवी संघ, लोकतत्तात्मक समाजवादी लोग, दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ और इस तरह के सारे संगठन सुधार के छोटे-छोटे प्रयत्नों में इतने फँस गये कि पूंजीवाद की सारी इमारत अछूती रह गई। उनका आदर्शवाद

जाता रहा और वे बडे-बडे नौकरशाही संगठन होगये। उनमें न प्राण रहा, न सच्चा बल।

नये साम्यवादी दल की दूसरी स्थिति थी। यह मजदूरो के लिए ऐसा सन्देश लेकर आया था, जिसमें अधिक जीवन और प्रेरणा थी और उसके साथ सोवियट-सघ की आकर्षक पार्श्वभूमि थी। मगर इतना होते हुए भी उसे बहुत कम सफलता मिली। यह योरप या अमेरिका के साधारण मजदूरो को अपने साथ न ले सका। इंग्लैण्ड और संयुक्तराष्ट्र में इसकी ताकत इतनी कम थी कि देखकर ताज्जुब होता है। जर्मनी और फ़्रांस में इसका कुछ जोर था। फिर भी हम देख चुके है कि कम-से-कम जर्मनी में यह अपनी ताकत से कितना कम फायदा उठा सका। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से साम्यवादी दल की दो वडी हार हुई,—एक तो १९२७ में चीन में और दूसरी १९३३ में जर्मनी में। व्यापारिक मन्दी, वार-वार के अर्थ-संकट, थोडी मजदूरी और वेकारी के इस जमाने में साम्यवादी दल क्यो असफल हुआ, यह कह सकना कठिन है। कुछ लोग कहते है कि कार्यकुशलता की कमी थी और काम करने का तरीका गलत था। दूसरे लोग यह वताते है कि यह दल सोवियट सरकार से वहुत ज्यादा वंधा हुआ था और उसकी नीति होनी चाहिए थी अन्तर्राष्ट्रीय परन्तु रह गई अधिकतर राष्ट्रीय। सम्भव है वात यही हो। परन्तु इस स्पष्टीकरण से सन्तोष नही होता।

साम्यवादी दल का मजदूरो में तो जोर नही बढ़ा, परन्तु साम्यवादी विचार दूर-दूर तक और खास तौर पर पढे-लिखे लोगो में फैले। सव जगह, यहाँतक कि पूंजीवाद के समर्थको में भी, इस तरह की आशा और आशंका होने लगी कि संकट से शायद किसी-न-किसी रूप में साम्यवाद की स्थापना होकर रहेगी। आम तौर पर यह मान लिया गया कि पुरानें ढंग के पूंजीवाद के दिन लद गये। जिसके जो हाथ लगा वही ले भागनें की नीति, कोई योजना नहीं, विनाश और सघर्ष का सदा वना रहना और वार-वार उथल-पुथल होना, यह हालत अव कायम नहीं रह सकती। इसके स्थान पर किसी-न-किसी रूप में एक योजना के अनुसार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या सहयोग-प्रणाली कायम करनी पडेगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे मजदूर-वर्ग की जीत हो ही, क्योकि मालिक-वर्ग के फायदे के लिए भी शासन का संगठन अर्द्ध-समाजवादी ढंग पर किया जा सकता है। सरकारी समाजवाद और सरकारी पूंजीवाद एक-सी ही वात हैं। असली सवाल यह हैं कि राज्य में चलती किसकी है और लाभ किसको पहुँचता है, सारे समाज को या एक खास मालिक-वर्ग को?

पढे-लिखे लोग वहस ही करते रहे और पश्चिम के उद्योग-प्रधान देशो में निम्न-श्रेणी के मध्यमवर्ग व छोटे अमीर काम कर गये। इन वर्गो को धुंधला-सा अनुभव

होता था कि पूंजीवाद और पूंजीपति उनका शोषण करते है और इसलिए इन्हे उनपर थोड़ा गुस्सा आता था। लेकिन उन्हे मजदूर-वर्ग का और साम्यवादियो के हाथ में सत्ता आजाने का कही अधिक डर था। पूंजीपति लोग आम तौर पर इस फैसिस्ट लहर के साथ समझौता कर लेते थे क्योकि उन्हे ऐसा लगता था, कि साम्यवाद को रोकने का और कोई उपाय नही है। धीरे-धीरे जिस किसी को भी साम्यवाद का भय था वह इस फैसिज्म के साथ मिल जाता। इस तरह से कही कम और कही ज्यादा, जहाँ कही पूंजीवाद को खतरा है और साम्यवाद के मुकाबिले की सम्भावना दिखाई देती है, वही फैसिज्म का प्रचार होजाता है। फैसिज्म या उग्र राष्ट्रवाद और कम्यूनिज्म या साम्यवाद चक्की के दो पाट है जिनके बीच में पार्लमेण्टरी सरकारो या प्रतिनिधि-शासन का कचूमर निकल रहा है।

अव हम उस दूसरी मुख्य वात तक आपहुँचे है जिसका मैंने इस खत के शुरू में जिक्र किया है। वह बात है पार्लमेण्टो की असफलता या उनका ह्रास। पिछले खतो में सर्वेसर्वा शासको के बारे में और पुराने ढंग की लोकसत्ता की असफलता के बारे में मैं तुम्हे काफी वाते बता चुका हूँ। यह बात रूस, इटली और मध्य-योरप में खूब अच्छी तरह जाहिर होगई है। जर्मनी में तो नाजियो के हाथ में सत्ता आने से पहले ही प्रतिनिधि-शासन का खातमा होचुका था। संयुक्तराष्ट्र में हम देख चुके है कि किस तरह कॉंग्रेस राष्ट्रपति रूजवेल्ट को पूरे अधिकार देचुकी है और एक तरह से उसे सर्वेसर्वा वना चुकी है। यह सिलसिला फ्रास और इंग्लैण्ड में भी दिखाई देने लगा है। ले-देकर योरप में यही दो देश ऐसे है जहाँ लोकसत्ता की लम्बी-से-लम्बी और मजबूत परम्परा रही है। आओ, पहले इंग्लैण्ड का ही विचार करे।

योरप के दूसरे देशो से इंग्लैण्ड का काम करने का तरीका विलकुल जुदा ही है। अंग्रेज लोग सदा पुरानी सूरते कायम रखने की कोशिश किया करते है और इसीलिए उनके यहाँके परिवर्तन साफ नहीं दिखाई देते। साधारण दृष्टि से देखनेवाले को ऐसा लगता है कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट का वही हाल है जो पहले था। मगर सच्ची वात यह है कि उसमें वहुत परिवर्तन हो गया है। पुराने जमाने में कामंस सभा अपनी सत्ता को सीधे तौर पर काम में लाती थी और उसके हरेक सदस्य की हर मामले में कुछ-न-कुछ चलती थी। अव मन्त्रि-मण्डल या सरकार ही वडे-वडे सवाल तय करती है और कामस सभा केवल 'हॉं' या 'न' कह सकती है। अवश्य ही सभा 'न' कहकर सरकार को खदेड़ सकती है, मगर यह कार्रवाई इतनी गम्भीर है कि वहुत ही कम होती है, क्योकि इससे वडी झझट पैदा होती है और आम चुनाव करना पड़ता है। इस तरह किसी सरकार का कामस-सभा में वहुमत हो तो वह जो चाहे सो कर

जाता रहा और वे बडे-बडे नौकरशाही संगठन होगये। उनमें न प्राण रहा, न सच्चा बल।

नये साम्यवादी दल की दूसरी स्थिति थी। यह मजदूरो के लिए ऐसा सन्देश लेकर आया था, जिसमें अधिक जीवन और प्रेरणा थी और उसके साथ सोवियट-सघ की आकर्षक पार्श्वभूमि थी। मगर इतना होते हुए भी उसे बहुत कम सफलता मिली। यह योरप या अमेरिका के साधारण मजदूरो को अपने साथ न ले सका। इंग्लैण्ड और संयुक्तराष्ट्र में इसकी ताकत इतनी कम थी कि देखकर ताज्जुब होता है। जर्मनी और फ़्रांस में इसका कुछ जोर था। फिर भी हम देख चुके है कि कम-से-कम जर्मनी में यह अपनी ताकत से कितना कम फायदा उठा सका। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से साम्यवादी दल की दो बडी हार हुईं,—एक तो १९२७ में चीन में और दूसरी १९३३ में जर्मनी में। व्यापारिक मन्दी, बार-बार के अर्थ-संकट, थोडी मजदूरी और बेकारी के इस ज़माने में साम्यवादी दल क्यो असफल हुआ, यह कह सकना कठिन है। कुछ लोग कहते है कि कार्यकुशलता की कमी थी और काम करने का तरीका गलत था। दूसरे लोग यह बताते है कि यह दल सोवियट सरकार से बहुत ज्यादा बँधा हुआ था और उसकी नीति होनी चाहिए थी अन्तर्राष्ट्रीय परन्तु रह गई अधिकतर राष्ट्रीय। सम्भव है बात यही हो। परन्तु इस स्पष्टीकरण से सन्तोष नहीं होता।

साम्यवादी दल का मजदूरो में तो जोर नहीं बढ़ा, परन्तु साम्यवादी विचार दूर-दूर तक और खास तौर पर पढ़े-लिखे लोगो में फैले। सब जगह, यहाँतक कि पूंजीवाद के समर्थको में भी, इस तरह की आशा और आशंका होने लगी कि सकट से शायद किसी-न-किसी रूप में साम्यवाद की स्थापना होकर रहेगी। आम तौर पर यह मान लिया गया कि पुराने ढंग के पूँजीवाद के दिन लद गये। जिसके जो हाथ लगा वही ले भागने की नीति, कोई योजना नहीं, विनाश और सघर्ष का सदा बना रहना और बार-बार उथल-पुथल होना, यह हालत अब कायम नहीं रह सकती। इसके स्थान पर किसी-न-किसी रूप में एक योजना के अनुसार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या सहयोग-प्रणाली कायम करनी पडेगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे मजदूर-वर्ग की जीत हो ही, क्योकि मालिक-वर्ग के फायदे के लिए भी शासन का संगठन अर्द्ध-समाजवादी ढंग पर किया जा सकता है। सरकारी समाजवाद और सरकारी पूंजीवाद एक-सी ही बात है। असली सवाल यह है कि राज्य में चलती किसकी है और लाभ किसको पहुँचता है, सारे समाज को या एक ख़ास मालिक-वर्ग को ?

पढे-लिखे लोग बहस ही करते रहे और पश्चिम के उद्योग-प्रधान देशो में निम्न-श्रेणी के मध्यमवर्ग व छोटे अमीर काम कर गये। इन वर्गो को धुंधला-सा अनुभव

होता था कि पूंजीवाद और पूंजीपति उनका शोषण करते है और इसलिए इन्हे उनपर थोडा गुस्सा आता था। लेकिन उन्हे मजदूर-वर्ग का और साम्यवादियो के हाथ में सत्ता आजाने का कही अधिक डर था। पूंजीपति लोग आम तौर पर इस फैसिस्ट लहर के साथ समझौता कर लेते थे क्योकि उन्हे ऐसा लगता था, कि साम्यवाद को रोकने का और कोई उपाय नही है। धीरे-धीरे जिस किसी को भी साम्यवाद का भय था वह इस फैसिज्म के साथ मिल जाता। इस तरह से कही कम और कही ज्यादा, जहाँ कही पूंजीवाद को ख़तरा है और साम्यवाद के मुकाबिले की सम्भावना दिखाई देती है, वही फैसिज्म का प्रचार होजाता है। फैसिज्म या उग्र राष्ट्रवाद और कम्यूनिज्म या साम्यवाद चक्की के दो पाट है जिनके बीच में पार्लमेण्टरी सरकारो या प्रतिनिधि-शासन का कचूमर निकल रहा है।

अव हम उस दूसरी मुख्य बात तक आपहुँचे है जिसका मैंने इस खत के शुरू में जिक्र किया है। वह बात है पार्लमेण्टो की असफलता या उनका ह्रास। पिछले खतो में सर्वेसर्वा शासको के बारे में और पुराने ढंग की लोकसत्ता की असफलता के बारे में मै तुम्हे काफी बाते बता चुका हूँ। यह बात रूस, इटली और मध्य-योरप में ख़ूब अच्छी तरह जाहिर होगई है। जर्मनी में तो नाजियो के हाथ में सत्ता आने से पहले ही प्रतिनिधि-शासन का ख़ात्मा होचुका था। सयुक्तराष्ट्र में हम देख चुके है कि किस तरह कॉग्रेस राष्ट्रपति रूजवेल्ट को पूरे अधिकार देचुकी है और एक तरह से उसे सर्वेसर्वा बना चुकी है। यह सिलसिला फ़्रांस और इंग्लैण्ड में भी दिखाई देने लगा है। ले-देकर योरप में यही दो देश ऐसे है जहाॅ लोकसत्ता की लम्बी-से-लम्बी और मजबूत परम्परा रही है। आओ, पहले इंग्लैण्ड का ही विचार करे।

योरप के दूसरे देशो से इंग्लैण्ड का काम करने का तरीका बिलकुल जुदा ही है। अग्रेज लोग सदा पुरानी सूरते कायम रखने की कोशिश किया करते है और इसीलिए उनके यहाँके परिवर्तन साफ नहीं दिखाई देते। साधारण दृष्टि से देखनेवाले को ऐसा लगता है कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट का वही हाल है जो पहले था। मगर सच्ची बात यह है कि उसमें बहुत परिवर्तन हो गया है। पुराने जमाने में कामंस सभा अपनी सत्ता को सीधे तौर पर काम में लाती थी और उसके हरेक सदस्य की हर मामले में कुछ-न-कुछ चलती थी। अब मन्त्रि-मण्डल या सरकार ही बडे-बडे सवाल तय करती है और कामस सभा केवल 'हाँ' या 'न' कह सकती है। अवश्य ही सभा 'न' कहकर सरकार को खदेड़ सकती है, मगर यह कार्रवाई इतनी गम्भीर है कि बहुत ही कम होती है, क्योकि इससे बडी झंझट पैदा होती है और आम चुनाव करना पड़ता है। इस तरह किसी सरकार का कामस-सभा में बहुमत हो तो वह जो चाहे सो कर

सकती है, सभा से भी करवा सकती है और कानून बना सकती है। इस प्रकार सत्ता धारासभा के हाथ से निकलकर शासन-विभाग के हाथ में चली गई है और चली जा रही है।

दूसरे, आजकल पार्लमेण्ट को इतना काम करना पड़ता है, और उसके सामने इतने पेचीदा सवाल रहते हैं, कि परिपाटी यह पड़ गई है कि पार्लमेण्ट तो सिर्फ किसी कानून या प्रस्ताव के साधारण सिद्धान्त-मात्र निश्चय करदे और बाकी की सारी तफ़सील पूरी करने का काम सरकार या उसके किसी विभाग के लिए छोड़दे। इस तरह शासन-विभाग के हाथ में जबरदस्त अधिकार आगये हैं और विशेष परिस्थिति में वह जो चाहे सो कर सकता है। यो शासन के महत्वपूर्ण कार्यों के साथ पार्लमेण्ट का सम्पर्क दिन-दिन घटता जा रहा है। उसका मुख्य काम अव यह रह गया है कि सरकार के काम-काज की टीका करती रहे, पूछताछ और जाँच-पड़ताल करती रहे और सरकार की सामान्य नीति का समर्थन करती रहे। जैसा हेराल्ड जे० लास्की नामक प्रसिद्ध लेखक कहता है—"हमारी सरकार शासन-विभाग की निरंकुश सत्ता होगई है, उसे सिर्फ पार्लमेण्ट के विद्रोह का किंचित् डर है।"

सितम्बर (या शायद अक्तूबर) १९३१ में मजदूर सरकार का अचानक पतन होगया। यह जिस अजीब ढंग से हुआ उससे मालूम होता है कि इस मामले में पार्लमेण्ट का कितना कम हाथ था। आमतौर पर इंग्लैण्ड में सरकार का पतन कामन्स सभा में हार होने पर हुआ करता है। १९३१ में कोई बात सभा के सामने ही नहीं आई। किसीको, यहाँतक कि मन्त्रि-मण्डल के अधिकाश सदस्यो तक को, मालूम नहीं हुआ कि क्या हो रहा है। प्रधानमंत्री रैमजे मैक्डानल्ड की दूसरे दलों के नेताओ से कुछ गुप्त बातचीत हुई। वह राजा से मिले, पुराना मंत्रिमण्डल बात-की-बात में गायब हो गया और नये की अखबारो में घोषणा हो गई! पुराने मन्त्रिमण्डल के कुछ सदस्यो को यह सारा हाल पहले पहल अखबारो से मालूम हुआ। यह सारी कार्रवाई असाधारण और लोकसत्तात्मक प्रणाली के बिलकुल खिलाफ थी। आखिरकार कामन्स-सभा ने इसकी ताईद करदी। इससे स्थिति में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। तरीका तो निरंकुशता का ही रहा।

इस तरह रातो रात मजदूर सरकार के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार आगई। रैमजे मैकडानल्ड साहब प्रधानमंत्री बने रहे और उदार और अनुदार दल उनके साथ शरीक होगये। 'राष्ट्रीय सरकार' का सीधा अर्थ है ऐसी सरकार जिसमें मालिकवर्ग यानी सम्पत्ति के स्वामी अपने आपस के झगड़े भूलकर समाजवादी परिवर्त्तनो का मुका-बिला करने के लिए एक होजाते हैं। ऐसी सरकार उस वक्त कायम होती है जब इन

तरह के परिवर्तन बहुत दूर तक मार करनेवाले दीखते हो और स्वामी-वर्ग की स्थिति डावाडोल होने का या उसपर बहुत बड़ा बोझा आपड़ने का अन्देशा हो। सितम्बर १९३१ में इंग्लैण्ड में यही हालत हो गई थी। उस वक्त संकट शुरू होगया था और उसके कारण आगे चलकर पाउण्ड को सोने का विनिमय छोड़ना पडा। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि समाजवाद के ख़िलाफ पूंजीवाद की सारी ताकतें एक होगई। मध्यम-वर्ग की जनता को यह भय दिखाकर कि अगर मजदूर दल की जीत हुई तो तुम्हारी सब बचत ज़ब्त कर ली जायगी, राष्ट्रीय सरकार ने इन छोटे अमीरो को पूरी तरह भयभीत कर दिया और भारी बहुमत से चुनाव जीत लिया। मैकडानल्ड और उसके समर्थको ने कहा कि राष्ट्रीय सरकार न रहेगी तो साम्यवाद आवेगा। असल बात यह है कि ब्रिटिश मजदूर दल की नरमी मशहूर है। वह प्रतिष्ठित संस्था है। उसे जितना डर साम्यवाद का लगता है उतना और किसी का नहीं लगता।

इस तरह इंग्लैण्ड में भी पुरानी लोकसत्ता की कमर टूट गई है और पार्लमेण्ट का पतन होरहा है। लोकसत्ता का दिवाला उस समय निकलता है जब जीवन-मरण के सवाल यानी लोगो के हृदगत भावो को उभाड़नेवाले सवाल सामने आते है। जैसे धार्मिक सघर्ष हो या राष्ट्रीय और जातीय संघर्ष हो (उदाहरणार्थ आर्य-जर्मन बनाम यहूदी) या इनसे भी अधिक आर्थिक संघर्ष हो (मिसाल के लिए गरीब-अमीर का संघर्ष)। तुम्हे याद होगा कि जब आयर्लैण्ड में अल्स्टर और दूसरे भागों के बीच १९१४ में ऐसा ही धार्मिक और राष्ट्रीय सवाल खड़ा हुआ था तो ब्रिटिश अनुदार दल ने सचमुच पार्लमेण्ट के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया था और गृह-युद्ध तक को उत्तेजन दिया था। इस तरह जबतक जाहिरा तौर पर लोकसत्तात्मक कार्रवाई से अमीरवर्ग का काम बनता है, तबतक वह अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए उसे काम में लेकर फायदा उठाता रहता है। जब इससे बाधा होने लगती है और उसके विशेषाधिकारो और स्वार्थो को धक्का पहुँचने का अन्देशा होता है तो वह लोकसत्ता को ताक में रखकर निरंकुश उपाय करने लग जाता है। यह बिलकुल सम्भव है कि भविष्य में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में आमूल सामाजिक परिवर्तनो के पक्ष में बहुमत होजाय। ऐसा हो और वह बहुमत स्थायी स्वार्थों पर हमला करे तो इन स्वार्थों के मालिक पार्लमेण्ट की बात मानने से भी इन्कार कर सकते है और उसके निर्णय के खिलाफ बगावत का झण्डा खड़ा करवा सकते है। अल्स्टर के सवाल पर १९१४ में उन्होने यही तो किया था।

तो हमने समझ लिया कि अमीर लोगो की दृष्टि से पार्लमेण्ट और लोकसत्ता तभीतक वाञ्छनीय समझी जाती है जबतक कि वह मौजूदा हालत को कायम रखती है। अवश्य ही यह सच्ची लोकसत्ता नहीं होती। यह तो लोकसत्ता के विपरीत उद्देश्यो के

लिए लोकसत्ता की कल्पना का दुरुपयोग करना हुआ। अबतक सच्ची लोकसत्ता को तो अवसर ही नहीं मिला है, क्योंकि पूँजीवादी प्रणाली और लोकसत्ता में मौलिक विरोध है। लोकसत्ता का कोई अर्थ होसकता है तो समानता होसकता है, और समानता भी केवल मताधिकार की ही नही बल्कि आर्थिक और सामाजिक समानता भी। पूँजीवाद का अर्थ इससे बिलकुल उलटा है। उसमें मुट्ठी भर लोगो के हाथ में आर्थिक सत्ता होती है और वे अपने ही फायदे के लिए उसका इस्तेमाल करते हैं। वे अपनी विशेषाधिकार-पूर्ण स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए कानून बनाते हैं और जो कोई इन कानूनो को तोड़ता है वह शक्ति और व्यवस्था का भंग करने वाला ठहराया जाकर समाज के दण्ड का पात्र बनता है। इस तरह इस प्रणाली में समानता का नामोनिशान तक नही होता और जितनी-सी आज़ादी दी जाती है वह पूंजीवादी क़ानूनो की सत्ता के भीतर ही दीजाती है। इन कानूनो का उद्देश्य पूँजीवाद की रक्षा करना होता है।

पूँजीवाद और लोकसत्ता के बीच का संघर्ष आन्तरिक और स्थायी है। अक्सर भ्रमपूर्ण प्रचार और पार्लमेण्ट वग़ैरा लोकसत्ता के बाहरी स्वरूप के कारण यह संघर्ष छिपा रहता है। मालिक-वर्ग के लोग दूसरे वर्गों को थोड़ा बहुत सन्तुष्ट रखने के लिए टुकडे भी फेंकते रहते हैं। ऐसा समय भी आजाता है कि फेंकने के लिए टुकडे नहीं बचते। उस वक़्त दोनो दलो में संघर्ष खूब जोर का होता है। क्योंकि उस समय युद्ध असली चीज के लिए, यानी शासन में आर्थिक सत्ता हासिल करने के लिए, होता है। जब यह नौबत आती है तो पूँजीवाद के सारे हिमायती, जो अबतक अलग-अलग दलो के साथ खिलवाड़ करते रहे हैं, अपने स्थायी स्वार्थो के खतरे का मुकाबिला करने के लिए एक होजाते हैं। उदार और इसी तरह के दूसरे दल गायब होजाते हैं और लोकसत्ता के कायदे ताक में रख दिये जाते हैं। योरप और अमेरिका में यह नौबत आ पहुँची है, फैसिज्म का अधिकांश देशो में किसी-न-किसी रूप में बोलवाला हो चला है और यह उस नौबत की निशानी है। मजदूर-दल सब जगह अपना बचाव कर रहा है। उसमें पूंजीवादी शक्तियो के इस नये और जबरदस्त सगठन का मुकाबिला करने की ताकत नहीं है। फिर भी अजीब बात यह है कि पूँजीवाद की इमारत खुद लडखडा रही है और वह अपनेआपको नई दुनिया के अनुकूल नहीं बना सकती। यह निश्चित दिखाई देता है कि पूँजीवाद किसी तरह जीवित रह भी गया तो उसका स्वरूप बहुत ही बदला हुआ और कठोर होगा। यह भी लम्बे संघर्ष में एक दूसरी मंजिल होगी; क्योंकि पूँजीवाद के किसी भी रूप में आधुनिक उद्योग ही क्या, आधुनिक जीवन तक ऐसा युद्धक्षेत्र रहेगा जिसमें सेनाओ की आपस में सदा भिड़न्त होती रहेगी।

कुछ लोग समझते हैं कि अगर थोडे-से समझदार आदमियो के हाथ में अलग-अलग शासन दे दिये जावे तो यह सारा झगड़ा, सघर्ष और दु ख मिट जाय। वे यह भी समझते हैं कि इस सारे झगडे की जड राजनीतिज्ञो की मूर्खता या दुष्टता है। उनका खयाल है कि भले आदमी इकट्ठे हो तो वे सदाचार के उपदेश देकर और भूल सुझाकर दुर्जनो की कायापलट कर सकते हैं। यह कल्पना बडी भ्रमपूर्ण है, क्योंकि दोष व्यक्तियो का नही है, बुरी प्रथा का है। जबतक यह प्रथा बनी हुई है, इन व्यक्तियो का आचरण वैसा ही रहेगा जैसा अबतक रहा है। सत्ताधारी समूह दो तरह के होते हैं। एक तो विदेशी होकर दूसरे राष्ट्रो पर शासन करते हैं। दूसरे राष्ट्र के भीतर आर्थिक साधनोवाले लोग होते है। ये लोग अजीब आत्म-वचना और दम्भ से यह विश्वास कर लेते है कि उनके विशेषाधिकार उनकी योग्यता का उचित पुरस्कार हैं। जो कोई इस स्थिति को मानने से इन्कार करता है वह उन्हे दुष्ट, बदमाश और शान्ति भग करनेवाला मालूम होता है। किसी प्रभुता-प्राप्त समूह को यह समझा सकना असम्भव है कि उसके विशेष अधिकार अन्यायपूर्ण हैं, और उन्हे उसे शान्तिपूर्वक छोड़ देना चाहिए। व्यक्ति फिर भी कभी और वह भी क्वचित् ही यह विश्वास कर सकते हैं, परन्तु समूह कभी नही कर सकते। इसलिए भिड़न्त, सघर्ष और क्रान्ति और साथ-ही-साथ अनन्त कष्ट और दु ख भी अनिवार्य रूप से आते हैं।

: १९४ :

दुनिया पर एक आख़िरी नज़र

७ अगस्त, १९३३

जबतक कलम, कागज और स्याही है तबतक चिट्ठियाँ लिखने का कोई अन्त नहीं। और संसार की घटनाओ पर लिखनें का भी कोई अन्त नहीं; क्योंकि यह घटना-चक्र तो चलता ही रहता है और स्त्री, पुरुष और बच्चो का हँसना और रोना, आपस में प्रेम और घृणा करना और लड़ना-झगड़ना कभी बन्द नहीं होता। यह कहानी जारी रहती है, उसका ख़ातमा ही नहीं होता। आज जिस जमाने में हम रहते हैं, जीवन का प्रवाह और भी गतिशील, उसकी रफ्तार और भी तेज है और एक के बाद दूसरे परिवर्तन जल्दी-जल्दी होते हैं। मेरे लिखते-लिखते परिवर्तन होरहे है और जो कुछ मै आज लिख रहा हूँ वह शायद कल ही पुराना पड़ जाय। जीवन की नदी कभी स्थिर नहीं रहती। वह तो बहती ही रहती है। आज की भाँति कभी-कभी वह बहुत जोर से, निर्दयता से, राक्षसी शक्ति से हमारे छोटे-छोटे इरादो और मनोरथो

की उपेक्षा करती हुई, हमारी तुच्छताओ का निर्दय उपहास करती हुई, और हमें अपनी उत्ताल तरंगो पर तिनको की तरह इधर-उधर फेंकती हुई आगे बढ़ती है। यह जीवन की नदी आगे कहाँ जायगी, इसका किसीको पता नही। किसी बडी और पैनी चट्टान से टकराकर सहस्र धाराओं में बँट जायगी या उस विशाल, गम्भीर, गौरवशाली, शान्त, सदापरिवर्तनशील और फिर भी कभी न बदलनेवाले समुद्र में जा समावेगी?

जितना लिखने का मैंने कभी इरादा किया था, या जितना मुझे लिखना चाहिए था, उससे कहीं ज्यादा मैं अवतक लिख चुका हूँ। मेरी लेखनी चलती ही रही है। अव हम अपना लम्बा चक्कर काट चुके है और आख़िरी मंज़िल तय कर चुके है। आज के बीच में पहुँच चुके है और कल के किनारे पर खडे हुए अचरज कर रहे है कि जब इस कल की भी आज बनने की बारी आयगी तव इसकी क्या शक्ल होगी? जरा देर ठहरकर संसार पर एक दृष्टिपात करे। १९३३ के साल के अगस्त मास के सातवे दिन इसका क्या हाल है?

हिन्दुस्तान में बापू फिर गिरफ़्तार होगये है और सजा पाकर यरवडा-जेल में वापस पहुँच गये है। सीमित रूप में ही सही, सविनयअवज्ञा फिर शुरू होगई है और हमारे साथी फिर जेल जा रहे है। एक वीर और प्रिय साथी और मित्र हमें अभी-अभी छोड़कर चल बसा। वह ब्रिटिश सरकार की कैद में मरा है। उससे मैं पहलेपहल २५ वर्ष पहले, जब मैं केम्ब्रिज में गया-ही-गया था, मिला था। वह थे यतीन्द्रमोहन सेनगुप्त। जीवन मृत्यु में समा जाता है, परन्तु भारतवासियो के लिए जीवन को जीनें योग्य बनाने का महान कार्य जारी है। हिन्दुस्तान के हज़ारो अत्यन्त जोशीले और प्रतिभाशाली पुत्र और पुत्रियाँ जेल या नजरबन्दी में पडे है। वे लोग अपना यौवन और बल हिन्दुस्तान को गुलाम बनानेवाली वर्तमान प्रणाली से जूझने में खर्च कर रहे है। यह जीवन और शक्ति निर्माण में, रचनात्मक कार्य में लगी होती! इस दुनिया में कितना काम बाकी पडा है। परन्तु रचना से पहले नाश करना ही पड़ता है, ताकि नई इमारत के लिए जमीन साफ होजाय। हम किसी घूरे की कच्ची दीवारो पर बढिया इमारत खडी नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान की आज की स्थिति का अन्दाजा इस बात से बहुत अच्छी तरह लगाया जा सकता है कि बगाल के कुछ भागो में कपडे भी सरकारी आज्ञा के अनुसार पहनने पड़ते है। दूसरी तरह की पोशाक पहनने का अर्थ होता है जेलख़ाने जाना। चटगांव में बारह-बारह बरस और उनसे ऊपर के छोटे-छोटे लड़को को (और शायद लड़कियो को भी) जहां कहीं जाना होता है वहा अपनी शिनाख्त के कार्ड ले जाना पड़ता है। मुझे मालूम नहीं कि ऐसी असाधारण आज्ञा और भी कहीं जारी की गई है या नहीं। ऐसा तो शायद नाज़ियों के

जर्मनी या शत्रु-सेना के अधिकार में हारे हुए युद्ध-क्षेत्र में भी नही हुआ है। आज ब्रिटिश राज्य में सचमुच हमारी ऐसी हालत होगई है कि हमें जाने-आने के लिए भी छुट्टी का परवाना लेना पड़ता है और हमारे सीमाप्रान्त के उसपार हमारे पडोसियो पर ब्रिटिश वायुयान बम-वर्षा कर रहे है।

दूसरे देशो में हमारे देशवासियो की कोई इज्जत नहीं की जाती। उनका शायद ही कहीं स्वागत हो। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नही है; क्योकि जिनका आदर घर पर ही न हो उनका बाहर कैसे हो सकता है? दक्षिण-अफरीका में वे जन्मे और पले और वहांके कुछ हिस्सो को, ख़ास तौर पर नेटाल को, उन्होने अपनी मेहनत से बनाया था; पर वहाँसे भी उन्हे निकाला जा रहा है। रंग-भेद, जातीय द्वेष और आर्थिक संघर्ष, सबने मिलकर दक्षिण अफरीका के इन हिन्दुस्तानियो को ऐसा अछूत-सा बना दिया है, जिनका न कोई घर है और न जिन्हे कही शरण मिल सकती है। दक्षिण-अफरीका की यूनियन सरकार उन्हे कहती है कि दक्षिण-अफरीका को सदा के लिए छोड़ दो। तुम्हे जहाज में बिठाकर कही दूसरी जगह भेज दिया जायगा। फिर भले ही तुम ब्रिटिश गायना में जाओ, हिन्दुस्तान में वापस जाओ, या और कही जाओ, और भले ही भूखो मरो।

पूर्वी अफरीका में केनिया और चौतरफ के इलाको को बनाने में हिन्दुस्तानियो का बड़ा हिस्सा रहा है। लेकिन वहाँ भी उनका रहना पसन्द नही किया जाता। इस-लिए नही कि अफरीका के बाशिन्दो को आपत्ति है, बल्कि इसलिए कि मुट्ठीभर यूरो-पियन बगीचेवाले नही चाहते। वहांके अच्छे-से-अच्छे यानी पहाडी प्रदेश इन बगीचे-वालो के लिए सुरक्षित है। वहाँ अफरीकन और हिन्दुस्तानी जमीन नहीं खरीद सकते। बेचारे अफरीकनो की तो बहुत ही बुरी हालत है। शुरू में सारी जमीन उनके कब्जे में थी और यही उनकी आमदनी का जरिया था। इस जमीन के बडे-बडे टुकडे सरकार ने जब्त कर लिये और योरप से आकर बसनेवालो को मुफ्त देदिये। आजकल ये बगीचे-वाले बडे-बडे जमींदार होगये है। उन्हे आय-कर नही देना पड़ता और दूसरे कर भी ये शायद ही देते हो। कर का लगभग सारा भार गरीब पददलित अफरीकनो पर पड़ता है। उनपर कर लगाना आसान काम नहीं है, क्योकि उनके पास कुछ होता ही नहीं। इसलिए आटा और कपडे जैसी जिन्दगी की कुछ जरूरी चीजो पर कर लगाया गया और जब वे उन्हे खरीदते तो अप्रत्यक्ष रूपसे उन्हे यह कर भी चुकाना पड़ता। लेकिन सबसे गैरमामूली टैक्स, और वह भी सीधा टैक्स, यह था कि प्रत्येक घर और १६ वर्षसे ऊपर के हरेक स्त्री-पुरुष पर कर लगा दिया गया। कर लगाने का उसूल यह है कि लोग जो कमावें या जो कुछ उनके पास हो उसपर कर लगाया जाय। अफरीकनो के पास

और तो प्रायः कुछ नहीं था, इसलिए उनके शरीर पर ही टैक्स लगा दिया गया। मगर उनके पास रुपया न हो तो यह फी आदमी १२ शिलिंग सालाना का कर वे कहाँसे देते ? बस, इसी में इस कर की मक्कारी भरी थी, क्योकि यूरोपियनो के बगीचो में काम करके उन्हे कुछ-न-कुछ रुपया कमाना पड़ता और उससे वे कर चुकाते। यह न सिर्फ रुपया वसूल करने की बल्कि बगीचो के लिए सस्ते मजदूर हासिल करने की भी तरकीब थी। इस तरह इन अभागे अफरीकनो को कभी-कभी बडी दूर से सफर करके देश के भीतरी हिस्से में से समुद्र-तट के पास सात-आठसौ मील चलकर बगीचो में आना पड़ता है (भीतरी भाग में रेलें नहीं है और जो थोडी-सी है वे समुद्र के किनारे के पास है)। इस तरह कमाई करके इन लोगो को शरीर-कर चुकाना पड़ता है।

इन गरीब शोषित अफ़रीकनो के बारे में मै तुम्हे और भी बहुत-सी बातें कह सकता हूं। इन्हे इतना तक मालूम नही कि अपनी पुकार बाहरी दुनिया को किस तरह सुनाई जाती है। इनकी दुख-गाथा लम्बी है और ये चुपचाप कष्ट सह रहे है। इनकी अच्छी-अच्छी जमीनें इनके हाथ से छीन कर और यूरोपियनो को मुफ्त देदी गई है। अब उन्ही ज़मीनों पर उन्हीं यूरोपियनो के कर-दाता बनकर इन बिचारे अफरीकनो को काम करना पड़ता है। ये यूरोपियन जमींदार मध्यकालीन जागीरदार बने हुए है और कोई भी प्रवृत्ति जो उन्हे नापसन्द होती थी, दबा दी गई है। अफ़रीकन लोग सुधार-कार्य के लिये भी कोई मण्डल नही बना सकते। क्योकि रुपया जमा करने की मनाई है। नाचने की मनाई का भी एक विशेष कानून या आर्डिनेन्स है क्योकि अफरीकन कभी-कभी अपने नाच-गान में यूरोपियन रहन-सहन की नकल किया करते है और उसकी हँसी उड़ाया करते है। किसान बहुत दरिद्र है और उन्हे चाय या कहवे की खेती नहीं करने दी जाती क्योकि इससे यूरोपियन बगीचो वालो के साथ स्पर्धा होती है। तीन वर्ष हुए ब्रिटिश सरकार ने शपथपूर्वक घोषणा की थी कि वह अफरीकन लोगो की रक्षक है और भविष्य में उनकी जमीन नहीं छीनी जावेगी। अफ़्रीकनो के दुर्भाग्य से केनिया में सोना निकल आया। बस, पवित्र वचन भुला दिया गया। यूरोपियन बगीचे वाले इस जमीन पर टूट पडे। उन्होने अफ्रीकन किसानो को खदेड़ दिया और सोने की खुदाई शुरू कर दी। अंग्रेजो के वादे ऐसे होते है। हमसे कहा जाता है कि अन्त में तो इस सारी कार्रवाई से अफ़रीकनो का फायदा ही होने वाला है और वह अपनी जमीन खोकर बिलकुल सुखी है।

स्वर्ण-प्रदेश से लाभ उठाने का यह पूंजीवादी तरीका बड़ा अजीब है। एक निश्चित स्थान से लोगो को सचमुच वहां तक दौड़ाया जाता है और हरेक उस प्रदेश के कुछ हिस्से पर अधिकार कर लेता है। फिर वहां काम शुरू कर देता है। उस

ख़ास टुकडे में बहुत सोना मिले, या न मिले यह उसके भाग्य पर निर्भर है। यह तरीका पूंजीवाद का नमूना है। वैसे होना तो यह चाहिए कि देश की सरकार सोने के क्षेत्र को अपने हाथ में लेले और सारे राज्य के फायदे के लिए उसपर काम करावे। ताजि-किस्तान और दूसरी जगहो के अपने यहाँके सोने के क्षेत्रों के बारे में सोवियट सरकार ऐसा ही कर रही है।

इस अन्तिम विहगावलोकन में मैंने तुम्हे केनिया का कुछ हाल बताया है, क्योकि इन ख़तो में हमने अफरीका की उपेक्षा की है। याद रहे कि यह एक विशाल महादेश है और इसमें अफ्रीकन जातियाँ भरी पडी है। इन जातियों का विदेशी लोग सैकडो वर्षो से आजतक निर्दय शोषण कर रहे है। ये बुरी तरह पिछडी हुई जातियाँ है। लेकिन उन्हे दबाकर रक्खा गया है और आगे बढने का मौका नही दिया गया है। जहाँ उन्हे अवसर दिया गया है, जैसा कि पश्चिमी किनारे पर स्थापित एक विश्वविद्यालय में अभी-अभी हुआ है, वहाँ उन्होने अच्छी तरक्की की है।

पश्चिमी एशिया के देशो का हाल तो मै तुम्हे काफी बता चुका हूँ। वहाँपर और मिस्र में आज़ादी की लड़ाई मुख्तलिफ सूरतो में और भिन्न-भिन्न स्थितियो में चल रही है। यही हाल दक्षिण-पूर्वी एशिया का, भारत के उसपार के देशो का और इण्डोनेशिया यानी स्याम, इण्डोचीन, जावा, सुमात्रा, डचइण्डीज़ और फिलिपाईन द्वीपो का है। इनमें से स्याम तो स्वतंत्र है। उसके सिवा इन सब देशो में आन्दोलन के दो पहलू है। एक तो विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना और दूसरा सामाजिक समानता या कम-से-कम आर्थिक सुधार के लिए दलित-वर्ग की तड़प।

एशिया के सुदूरपूर्व में विशाल चीन हमला करनेवालो के सामने निस्सहाय हो रहा है और भीतरी फूट के कारण उसके टुकडे-टुकडे होरहे है। उसका एक अंग तो कुछ करना चाहता है और दूसरे ने इस ओर से मुँह फेर रक्खा है। इस बीच में जापान आगे बढता जारहा है। उसे कोई रोकनेवाला नही दीखता और वह चीन के बडे-बडे इलाको पर अपना पंजा जमाता जारहा है। लेकिन चीन के लम्बे इतिहास में उसपर कितनी ही बार जबर्दस्त हमले हुए है और बडी आफते आई है, फिर भी उसकी हस्ती कायम रही है। अवश्य ही जापानी हमले के बाद भी चीन ज़िन्दा रहेगा।

साम्राज्यवादी जापान विश्वव्यापी साम्राज्य के बडे-बडे सपने देख रहा है। वहाँ एक तरफ सामन्तशाही और सैनिकवाद का ज़ोर है और दूसरी ओर उसके उद्योग-धन्धे बहुत बढे-चढे है। वह नये और पुराने की अजीब खिचडी है। परन्तु इन सपनो में एक असली ख़तरा छिपा हुआ है, और वह यह है कि उसकी बढती हुई आबादी भयंकर कष्ट में है और उसकी आर्थिक स्थिति गिरती जारही है। इस आबादी को

दक्षिण अमेरिका की इन लड़ाइयो या 'संघर्षों' में से एक संघर्ष वोलीविया और पेरागुए के वीच में है। झगड़ा चाको नामक एक छोटे-से जंगली इलाके के कारण है। एक विनोदप्रिय फ्रांसीसी ने कहा है—"चाको जंगल के वारे में वोलीविया और पेरागुए के वीच जो झगड़ा चल रहा है उससे मुझे उन दोनों गंजो की याद आती है जो कंघे के लिए झगड़ रहे थे।" झगडा तो है, लेकिन वह इतना ही वेहूदा तो नहीं है। इस विशाल जंगली इलाके में तेल-सम्वन्धी स्वार्थ गुंथे हुए है और पेरागुए नदी जो इसमें वहती है वह वोलीविया को अटलाण्टिक महासागर से मिलाती है। दोनों देशो ने राज़ीनाम नहीं किया और अभीतक हजारो जाने कुरवान कर चुके है।

दूसरी भिड़न्त कोलम्विया और पेरू के वीच होरही है। यहाँ झगडे की जड लटीशिया नामक छोटा-सा गाँव है। इसपर पेरू ने वडे अनुचित ढंग से कब्जा कर लिया था। मेरा ख़याल है कि राष्ट्र-संघ ने भी पेरू की कडी टीका की थी। शायद यह झगड़ा अव तय होगया है।

लैटिन अमेरिका (और इसमें मैक्सिको शामिल है) धर्म से कैथलिक है। मैक्सिको में राज्य और कैथलिक पादरियों के वीच में वडी ज़ोर की टक्करें हुई है। स्पेन की तरह मैक्सिको की सरकार भी शिक्षा और लगभग सभी वातो में रोमन पादरियो की वडी शक्ति को दवा देना चाहती थी।

दक्षिण अमेरिका की भाषा स्पेनिश है। सिर्फ़ ब्रेज़ील में पुर्तगाली सरकारी भाषा है। चूंकि इस विशाल प्रदेश में स्पेनिश भाषा का ही वोलवाला है, इसलिए यह संसार की वडी-से-वडी भाषाओ में से एक है। शायद तादाद के लिहाज़ से अंग्रेज़ी के वाद इसीका दर्जा है। यह एक सुन्दर आनुनासिक भाषा है। इसमें वढ़िया आधुनिक साहित्य है और अव तो दक्षिण अमेरिका के कारण यह एक वहुत महत्वपूर्ण व्यापारिक भाषा भी वन गई है।

: १६५ :

युद्ध की छाया

८ अगस्त, १९३३

पिछले खत में हमने एशिया, अफरीका और दोनो अमेरिका के महादेशों पर सरसरी नज़र डाली थी। योरप वाकी रह गया था। योरप में झगडे-टण्टे वहुत हैं; पर उसमें अनेक गुण भी हैं।

इंग्लैण्ड अवतक संसार का मुखिया राष्ट्र था। मगर अव उसका पुराना प्रभुत्व

जाता रहा, और जो कुछ बच रहा है उसकी हिफाजत के लिए वह खूब कोशिश कर रहा है। उसकी समुद्री ताकत जैसी पहले थी, अब नही रही। इसीके कारण उसकी रक्षा थी और दूसरे राष्ट्रो पर उसकी प्रधानता रहती थी। इसीके सहारे वह अपना साम्राज्य बना पाया था। बहुत वक्त नही गुजरा, एक दिन ऐसा था कि उसकी जल-सेना किन्हीं दो बडे राष्ट्रो की जल-सेना से बडी और ज्यादा ताकतवर थी। आज तो वह सयुक्तराष्ट्र की जल-सेना के साथ सिर्फ बराबरी का दावा कर सकती है और जरूरत पडे तो सयुक्तराष्ट्र के पास इग्लैण्ड से बडी जल-सेना जल्दी से बना लेने के साधन है। आज समुद्री ताकत से भी हवाई ताकत का महत्व ज्यादा है। इस बारे में इंग्लैण्ड और भी कमजोर है। कई राष्ट्रो के पास उससे ज्यादा जगी हवाई जहाज है। उसकी व्यापारिक प्रभुता भी चली गई और उसके लौटकर आने की कोई उम्मीद नही है। उसका विशाल निर्यात-व्यापार दिन-दिन गिरता जारहा है। अब तो वह ऊँची चुगी और संरक्षण-कर लगाकर अपने माल के लिए साम्राज्य के बाजार की रक्षा करने की कोशिश कर रहा है। इसका अर्थ यह है कि उसने साम्राज्य के बाहर संसार-व्यापी व्यापार के हौसले छोड़ दिये हैं। इस सीमित क्षेत्र में उसे कामयाबी मिल भी गई तो इससे उसकी पुरानी प्रभुता थोडे ही वापस आजाती है। वह तो सदा के लिए जाती रही। साम्राज्य के भीतर भी उसे कितनी सफलता मिलेगी और वह कितने दिन टिकेगी, इसमें सन्देह ही है।

अमेरिका के साथ भयंकर द्वन्द्व-युद्ध होजाने के बाद भी इंग्लैण्ड संसार के व्यापार का सराफा-केन्द्र और लन्दन नगर हुण्डी की मण्डी बना हुआ है। लेकिन जैसे-जैसे संसार का व्यापार घटता और मिटता जा रहा है वैसे-वैसे इस आर्थिक प्रधानता का खिचाव और मूल्य भी कम होता जा रहा है। इग्लैण्ड और दूसरे देश खुद अपने आर्थिक राष्ट्रवाद और चुगी वगैरा की नीति से ससार के व्यापार के इस तरह घटने में मदद कर रहे हैं। संसार का बहुत-सा व्यापार बना रहा और मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली कायम रही तो भी इसमें सन्देह नही कि संसार का आर्थिक नेतृत्व अन्त में लन्दन के हाथ से निकलकर न्यूयार्क के हाथ में चला जायगा। मगर शायद उससे पहले पूँजीवादी प्रणाली में विशाल परिवर्तन हो चुके होगे।

इग्लैण्ड की यह तारीफ है कि वह अपने-आपको बदलते हुए हालात के अनुकूल बना लेता है। लेकिन यह गुण उसी वक्त तक है जबतक कि उसकी सामाजिक बुनियाद नही हिलती और उसके सम्पन्नवर्ग की विशेष स्थिति बनी हुई है। अनुकूल बन जाने की यह ताकत मौलिक सामाजिक परिवर्तनो के बीच भी कायम रहेगी या नहीं, यह आगे ही देखा जायगा। इनकी बहुत कम सम्भावना मालूम होती

है कि इस तरह के परिवर्तन चुपचाप और शान्तिपूर्वक होजायँगे। क्योंकि जिनके पास सत्ता और विशेष अधिकार होते हैं वे उन्हे राजी-खुशी से नहीं छोड़ा करते।

अभी तो इंग्लैंड बडी दुनिया से सिकुड़कर अपने साम्राज्य में सीमित हो रहा है। इस साम्राज्य को बचाकर रखने के लिए उसने इसकी रचना में बडी-बडी तब्दीलियाँ मञ्जूर करली है। उपनिवेश कितनी ही तरह से ब्रिटेन की अर्थ-प्रणाली से बँधे हुए है, फिर भी उन्हें एक हद तक आज़ादी मिल गई है। इंग्लैण्ड ने अपने बढते हुए उपनिवेशों को सन्तुष्ट रखने के लिए बहुत-सा त्याग किया है, फिर भी उनमें सघर्ष हो ही जाता है। आस्ट्रेलिया बैंक आफ इंग्लैण्ड से बुरी तरह बँधा हुआ है और जापानी हमले के डर के कारण इंग्लैण्ड के साथ उसका मजबूत गठ-बन्धन है। कनाडा के बढते हुए उद्योगों की इंग्लैण्ड के कुछ उद्योगो के साथ लाग-डाँट है और वह इस मामले में इंग्लैण्ड के सामने झुकने को तैयार नहीं है। कनाडा के अपने पडोसी संयुक्तराष्ट्र के साथ भी कई तरह के ताल्लुकात है। दक्षिणी अफरीका में पुरानी कटुता तो अब नहीं रही, पर वहाँ साम्राज्य के लिए बहुत प्रेम भी नहीं है। इंग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड के माल पर कर लगाये तो इसलिए थे कि वह डरकर घुटनें टेक देगा, मगर नतीजा उलटा ही हुआ। इन करो से आयर्लैण्ड के कारखानो और खेती को खूब उत्तेजन मिला है और आयर्लैण्ड को स्वावलम्बी राष्ट्र बनने में बडी कामयाबी मिल रही है। वहाँ नये-नये कारखाने खडे होगये है और जहाँ पहले घास उगती थी वहाँ अब अनाज की खेती होने लगी है। हल फिर से चलने लगा है। जो खाद्य-पदार्थ पहले इंग्लैण्ड भेज दिये जाते थे उन्हें लोग खुद काम में लेने लगे है और उनके रहन-सहन का ढंग ऊँचा होरहा है। इस तरह डि वेलरा ने सफल होकर अपनी नीति को ठीक साबित कर दिया है। आज आयर्लैण्ड उग्र और मुकाबिले के लिए तैयार होकर ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति में काँटे की तरह चुभ रहा है। ओटावा-सरीखे समझौते के साथ उसका बिलकुल मेल नहीं बैठता।

इस तरह उपनिवेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखकर इग्लैण्ड को कोई फायदा नहीं होरहा है। हिन्दुस्तान से वह बहुत फायदा उठा सकता था, क्योंकि यहाँ फिर भी उसके लिए लम्बा-चौड़ा बाजार था। लेकिन हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति और यहांका आर्थिक कष्ट ब्रिटिश व्यापार के लिए अनुकूल नहीं है। लोगो को जेल भेजकर ब्रिटिश माल खरीदने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता।

श्री स्टैनली बाल्डविन ने हाल ही में मैंचेस्टर में कहा था:—

"The day when we could dictate to India and tell her when and where to buy her goods was gone The safeguard for trade was

goodwill We should never sell goods to India by cotton streamers on the end of a bayonet "

अर्थात् "वे दिन लद गये जब हम हिन्दुस्तान को आज्ञा देकर कह सकते थे कि उसे कब और कहाँ से माल खरीदना है। व्यापार की रक्षा सद्भाव से ही हो सकती है। सगीनो के सहारे जहाज भर-भरकर हिन्दुस्तान को कपडा वेचने की आशा नही रखनी चाहिए।"

हिन्दुस्तान की अन्दरूनी हालत की बात छोड़दें तो भी इंग्लैण्ड को यहाँ, पूर्व के सभी देशो में और कुछ उपनिवेशो में जापान की भयकर लाग-डॉट का सामना तो करना ही पडेगा।

इसलिए इंग्लैण्ड जो उसके पास बच रहा है उसे बनाये रखने की खूब कोशिश कर रहा है। इसके लिए वह अपने साम्राज्य को एक आर्थिक इकाई बना रहा है और उसमें डेनमार्क या स्कैण्डिनेविया सरीखे और भी छोटे-छोटे देश जो उससे समझौता कर लेते हैं उन्हे भी अपनेमें मिला रहा है। यह नीति उसे घटना-चक्र से मजबूर होकर इख्तियार करनी पड़ रही है। उसके लिए और कोई मार्ग ही नहीं है। युद्ध में अपनी हिफाजत करने के लिए भी उसे अधिक स्वावलम्बी बनना पडेगा। इसलिए वह अब अपनी खेती की भी तरक्की कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रवाद की यह साम्राज्यव्यापी नीति कहाँतक कामयाब होगी, यह अभी कोई नही बता सकता। मैंने कई कठिनाइयाँ बताई है, जो इसकी सफलता में बाधक होगी। अगर असफलता हुई तो साम्राज्य का सारा ढाँचा ही बैठ जायगा और अग्रेज लोगों को बहुत ग़रीबी से रहना पडेगा। इस नीति की कामयाबी भी खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि इसके कारण बहुत-से यूरोपियन देशो की बर्बादी होसकती है। वह इस तरह से कि इन देशो के व्यापार को तो काफी बाजार नहीं मिलेगा और इंग्लैण्ड के कर्जदार देशो का दिवाला निकलने से खुद इंग्लैण्ड की हालत को ठेस पहुँचे बिना नहीं रह सकती।

जापान और अमेरिका के खिलाफ भी आर्थिक संघर्ष पैदा होकर रहेगे। संयुक्तराष्ट्र के साथ कई बातो में स्पर्धा मौजूद है और, जैसी दुनिया की आज हालत है और संयुक्तराष्ट्र के पास जितने विशाल साधन है उनको देखते हुए, ज्यो-ज्यो इंग्लैण्ड की अवनति होगी त्यो-त्यो अमेरिका की उन्नति होगी। इस क्रिया का परिणाम यही होसकता है कि या तो इस झगडे में इंग्लैण्ड चुपचाप हार मानले या जो कुछ उसके पास रह गया है उसके भी हाथ से निकल जाने से पहले और अपने बराबरीवालो का मुकाबिला करने की ताकत खो देने के पहले अपनी रक्षा के लिए युद्ध की जोखिम उठावे।

इंग्लैण्ड का दूसरा बड़ा प्रतिस्पर्धी सोवियट-संघ है। इन दोनो की नीति में

पिछली सारी प्रवृत्ति यह रही है कि राष्ट्र एक-दूसरे पर अधिक निर्भर रहे और अन्तर्राष्ट्रीय भावना बढ़े। यद्यपि अलग-अलग स्वतंत्र राज्य रहे, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और व्यापार की एक बडी भारी और पेचीदा इमारत खडी होजाय। यह सिलसिला यहाँतक पहुँचा कि राष्ट्रीय राज्यो और खुद राष्ट्रवाद के साथ इसका संघर्ष होने लगा। इसके आगे की सीढ़ी कुदरती तौर पर यही है कि समाजवाद की अन्तर्राष्ट्रीय रचना की जाय। पूँजीवाद के दिन पूरे हो चुके और वह एक ऐसी मजिल पर पहुँच गया है, जहाँ उसे समाजवाद के लिए जगह खाली कर देनी चाहिए। लेकिन बदकिस्मती से इस तरह अपने-आप कोई संन्यास नही लेता। संकट के कारण मौत नजदीक आती देखकर पूँजीवाद अपनी खोल में घुस गया है और वहाँ बैठा-बैठा सहयोग की वृत्ति को उलट देने की कोशिश कर रहा हैं। आर्थिक राष्ट्रवाद का यही कारण है। सवाल यह है कि क्या इसमें कामयाबी मिलेगी और मिलेगी तो वह कब तक टिकेगी?

सारी दुनिया एक अजीव खिचडी वन गई है। संघर्ष और ईर्षा-द्वेष का भयकर ताना-वाना लगा हुआ है और नई-नई प्रवृत्तियो के कारण संघर्ष के क्षेत्र का विस्तार वढ़ता जारहा है। प्रत्येक महादेश में और हरेक मुल्क में कमजोर और पीड़ित लोग जीवन की अच्छी चीजो में हिस्सा वँटाना चाहते है। इन्हें वे ही तो पैदा करते हैं। वे कहते हैं कि हमसे कर्जा लिए वहुत दिन होगये, अव वह चुका दिया जाय। कहीं यह माँग वहुत जोर की, कर्कश और उग्र भाषा में की जारही है, और कही जरा शान्त शब्दो में। उनके साथ इतने दिन जैसा व्यवहार किया गया है और जिस तरह उनका शोषण हुआ है उसपर उनके हृदय में रोष और कटुता हो और वे कोई अवाञ्छनीय व्यवहार करे तो क्या हम उन्हे दोष दे सकते हैं? वे तो उपेक्षा और तिरस्कार के शिकार रहे हैं। उन्हे ड्राइंग रूम यानी वैठक की सभ्यता सिखाने की तकलीफ किसने गवारा की?

गरीवो और पीड़ितो में यह उथल-पुथल देखकर सभी जगह के सम्पन्न वर्ग घवरा उठे हैं और मिलकर इसे दवाने की कोशिश कर रहे हैं। फैसिज्म की वृद्धि इसी तरह होरही है और साम्राज्यवाद विरोध मात्र को इसी तरह कुचल रहा है। लोकमत्ता, लोक-कल्याण और ट्रस्टीशिप यानी थाती की अच्छी-अच्छी वाते ताक में धरी जा रही हैं और स्थापित स्वार्थ रखनेवाले सम्पन्न वर्ग का निरकुश शासन असली रूप में सामने आरहा है। वहुत जगहो पर उसकी जीत भी होती दिखाई देरही है। एक ज्यादा कठोर युग—उग्र हिंसा का एक युग—अपना मुंह निकाल रहा है, क्योकि सर्वत्र नये और पुराने में जीवन-मरण का युद्ध चल रहा है। योरप, अमेरिका या हिन्दुस्तान कहीं

भी चले जाओ, ऊँची-ऊँची बाजियाँ लगी हुई है और भले ही पुरानी प्रणाली की जड़ थोडी देर के लिए मजबूत जमी हुई मालूम देती हो फिर भी उसे शनि की दशा लग गई है। आज तो साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की सारी इमारत की जड हिल चुकी है और उसपर जो कर्ज चढा हुआ है और उससे जो माँगें की जारही है उनका निपटारा करने की भी उसमें ताकत नही है। ऐसी हालत में छोटे-मोटे सुधारो से आज की समस्या हल नहीं होसकती।

इन वेशुमार राजनैतिक, आर्थिक और जातीय संघर्षों ने आज ससार को अन्धकारमय बना रक्खा है और युद्ध के काले बादल इनके साथ है। कहा जाता है कि सबसे बड़ा और मौलिक सघर्ष साम्राज्यवाद और फैसिज्म की सम्मिलित शक्ति और साम्यवाद के बीच में है। इन दोनो का दुनिया-भर में मुकाबिला है और इनके बीच समझौते की कोई गुजाइश नहीं है।

सामन्तशाही, पूँजीवाद, समाजवाद, संघवाद, अराजकतावाद और साम्यवाद इन सब 'वादो' की आड़ में अपना काम बनाने की प्रवृत्ति भी जारी है। मगर एक आदर्शवाद और भी है। यह उन्ही लोगो के लिए है जो सचमुच इसे चाहते हो। यह आदर्शवाद कोरी कल्पनाओ और खयाली पुलावो का खेल नही है, बल्कि किसी बडे मानवीय उद्देश्य के लिए काम करनें का आदर्शवाद है—एक महान् आदर्श जिसे हम वास्तविक बनाना चाहते है। जार्ज बर्नार्ड शा ने कही कहा है :—

> "जीवन का सच्चा आनन्द यह है कि जिसे तुम कोई महान् उद्देश्य मानते हो उसीमे जीवन को लगादो, कचरे मे फेक दिये जाने से पहले अपने शरीर का कण-कण इस काम मे जर्जर हो जाने दो और प्रकृति के हाथ मे एक शक्ति बनकर रहो। इसमे क्या धरा है कि तुम विकार और स्वार्थ के पुतले बनकर अपने दु ख-दर्द रोते रहो और यह शिकायत करते रहो कि दुनिया तुम्हारे सुख के लिए नही खप रही है ?"

इतिहास की खोज से मालूम होता है कि किस तरह संसार एक होता आया है। किस प्रकार भिन्न-भिन्न भाग मिलते रहे हैं और एक-दूसरे पर निर्भर रहते आये है। दुनिया सचमुच एक ऐसी चीज बन गई है कि उसके टुकडे नहीं किये जा सकते और उसके सब हिस्सो का आपस में असर पड़ता है। अब राष्ट्रो का अलग-अलग इतिहास बनाना बिलकुल असम्भव है। वह मंजिल पार होचुकी। अब तो ऐसे ही इतिहास से कोई लाभ होसक्ता है जो सारे संसार को एक समझकर लिखा जाय, जिसमें सारे राष्ट्रो के अलग-अलग सूत्र आपस में मिलाये जायें और जिसमें राष्ट्रो को प्रेरणा करनेवाली असली शक्तियो की खोज की जावे।

प्राचीन काल में भी राष्ट्र अनेक भौतिक और दूसरी रुकावटो के कारण एक-

दूसरे से जुदा रहते थे; परन्तु हम देख चुके है कि उस समय भी अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्देशीय सामान्य शक्तियाँ कितना असर डालती थीं। महान् व्यक्तियो का इतिहास में सदा ही महत्त्व रहा है, क्योंकि भाग्य-चक्र में मनुष्य वडी चीज है ही। परन्तु वडे-से-बडे व्यक्तियो से भी वडी वे प्रबल और सक्रिय शक्तियाँ होती है जो अन्धी और निर्दय होकर हमें इधर-उधर धकेलती हुई आगे वढ़ाती रहती है।

हमारा भी आज यही हाल है। करोडो मनुष्यो के हृदयो में जबरदस्त शक्तियां काम कर रही है और वे भूचाल या कुदरत की और किसी उथल-पुथल की तरह आगे बढ़ रही है। हम लाख कोशिश करे तो भी उन्हे नहीं रोक सकते। फिर भी हम अपनी दुनिया के छोटे-छोटे कोनो में उनकी गति या दिशा में कुछ अन्तर कर सकते है। हम उन शक्तियो का सामना अपने अलग-अलग स्वभाव के अनुसार करते है। कुछ लोग उनसे डर जाते है, कुछ उनका स्वागत करते है। कुछ उनके साथ लड़ने की कोशिश करते है, और कुछ लाचार होकर भाग्य के प्रबल हाथो के सामने हथियार डाल देते है। कुछ लोग उन शक्तियो का सीधा सामना करते है और उनपर काबू करके एक खास दिशा में उन्हे लेजाने की कोशिश करते है। ये लोग उन तमाम आपत्तियो को खुशी से वर्दाश्त करते है जो किसी वडी क्रिया में प्रत्यक्ष सहायता करने के काम में आती है। इसका आनन्द भी वे ही भोगते है। यह बीसवीं सदी अशान्ति और कोलाहल का युग है। इसमें हमारे लिए कहीं अमन-चैन नहीं है। इस सदी का तीसरा भाग बीत चुका है और उसमें युद्ध और क्रान्तियो की भरमार रही है। महान् फैसिस्ट मुसोलिनी कहता है कि 'सारी दुनिया में क्रान्ति होरही है। घटनाओ में इतनी जबरदस्त शक्ति है कि वह अटल भाग्य की तरह हमें आगे धकेलती लेजा रही है।' महान् साम्यवादी ट्राटस्की भी हमें सचेत करता है कि इस शताब्दी से आराम और शान्ति की वहुत आशा नहीं रखनी चाहिए। वह कहता है—"यह साफ है कि इतनी अशान्ति पिछली किसी सदी में नहीं हुई जितनी वीसवीं सदी में होरही है। अगर हमारे समय का कोई आदमी और सब वातो से पहले सुख और शान्ति चाहता है तो उसने संसार में जन्म लेने के लिए बुरा वक्त चुना है।"

सारा ससार प्रसव-पीड़ा भोग रहा है। सब जगह युद्ध और क्रान्ति के काले बादल छाये हुए है। अगर यह सब कुछ होना ही है और इससे बचने का कोई उपाय ही नहीं, तो इसका सामना कैसे किया जाय? क्या शुतुरमुर्ग की तरह मुंह छिपाले? या यह कि वीरो की भाँति घटना-चक्र को बनाने की कोशिश करें, जरूरत हो तो जोखिम और विपत्ति उठायें, एक बड़ा, पवित्र और साहस का काम करने का आनन्द भोगें और यह अनुभव करे कि "हमारे कदम भी इतिहास के साथ मिल रहे है?"

हम सभी, या कम-से-कम जो विचारशील हैं वे, भावी पर आशा लगाये देख रहे हैं कि आगे चलकर क्या-क्या होता है और भविष्य का वर्तमान कैसे बनता है। जो कुछ होनेवाला है उसकी कुछ लोग आशा के साथ और दूसरे लोग भयभीत होकर बाट जोह रहे हैं। क्या यह आनेवाला संसार अधिक सुन्दर और अधिक सुखी होगा और उसमें जीवन की अच्छी-अच्छी चीजें मुट्ठीभर लोगो के लिए ही सुरक्षित न रह-कर आजादी के साथ आम लोगो के काम भी आयेंगी ? या वह संसार आज से भी ज्यादा कठोर होगा और मौजूदा सभ्यता की दी हुई बहुत-सी सुख-सामग्री भयंकर और नाशकारी युद्ध में खप जायगी ? इन दोनो बातो में जमीन-आसमान का अन्तर है और इनमें से कोई भी होसकती है। यह तो मुमकिन नहीं दिखाई देता कि कोई बीच का रास्ता निकल आयगा।

हम ध्यान से देखते और इन्तजार करते हैं और साथ ही हम जिस प्रकार का ससार चाहते हैं उसके लिए काम भी करते हैं। पशु की हालत से निकलकर मनुष्यत्व की दिशा में प्रगति इस तरह नहीं हुई है कि प्रकृति के सामने लाचार होकर सिर झुका दिया जाय, बल्कि अक्सर इस प्रकार हुई है कि प्रकृति का सामना किया जाय और मनुष्यो के हित के लिए प्रकृति पर हावी होने की इच्छा रक्खी जाय।

आज की हालत तो यह है। कल का बनना और बिगड़ना तुम्हारे और तुम्हारी पीढ़ी के लाखो लडको और लड़कियो के हाथ में है, जो दुनियाभर में बडे हो-होकर कल के काम में भाग लेने के लिए तालीम पा रहे हैं।

: १९६ :

आख़िरी ख़त

९ अगस्त, १९३३

लो बेटी, हमारा काम ख़त्म हुआ। यह लम्बी कहानी समाप्त हुई। अब मुझे और नहीं लिखना है। लेकिन ख़त्म करते-करते सारी बात को सँवारने के ढग पर एक ख़त और लिख डालने की इच्छा होती है। यह आख़िरी खत है।

वैसे ख़त्म करने का समय भी होचुका, क्योंकि मेरी दो साल की मियाद भी पूरी होने आई। आज से तेतीस दिन में मै छूट जाऊँगा। जेलर तो कभी-कभी यह धमकी भी देता है कि शायद इससे पहले ही छोड़ दिया जाऊँ। अभी पूरे दो बरस तो नहीं हुए हैं, मगर अच्छी चाल-चलनवाले कैदियो को जो छूट मिलती है उसके अनुसार मेरी सजा में भी साढ़े तीन महीने घट गये हैं। मैं जेलखाने में भलामा-

नुष समझा जाता हूँ, हालाकि मैने यह नाम कमाने के लिए सचमुच कुछ नही किया है। इस तरह मेरी छठी सजा पूरी होती है और मैं विशाल संसार में यहाँसे निकलकर फिर आऊँगा। मगर किस लिए ? उससे फायदा क्या ? (Quoi Bon ?) जब मेरे ज्यादातर साथी और दोस्त जेलों में पडे हुए है और सारा देश एक बड़ा जेलख़ाना-सा दिखाई देता है, तो मैं ही बाहर क्या करूँगा ?

मैंने खतो का पहाड़-सा खड़ा कर दिया ! और कितने स्वदेशी कागज पर कितनी स्वदेशी स्याही फैलादी ! आश्चर्य होता है कि यह काम इस लायक था या नही ? क्या इस सारे कागज और स्याही से तुम्हे कोई रोचक सन्देश मिलेगा ? तुम जरूर 'हाँ' कहोगी क्योकि, तुम समझोगी कि और किसी जवाब से मेरा जी दुखेगा और तुम्हारा मेरे साथ इतना पक्षपात तो है ही कि तुम इस तरह का जोखिम नही उठा सकतीं। मगर तुम्हे यह अच्छा लगे या न लगे, तुम्हे इतना तो ख़याल होगा ही कि दो साल की इस लम्बी अवधि में रोज-रोज इन्हे लिखकर मैं सुखी हुआ हूँ। जब मैं यहाँ आया था, जाडे के दिन थे। सर्दी के बाद थोडे दिनों के लिए वसन्त-ऋतु आई और फिर गर्मी के मौसम ने उसकी जल्दी ही हत्या कर डाली। बाद में जब जमीन सूख गई और गर्मी के मारे मनुष्य और पशुओ का साँस लेना मुश्किल होगया तब वर्षा-ऋतु आई और उसने सब जगह ताजा और ठण्डा पानी-ही-पानी बरसा दिया। उसके बाद फिर जाड़ा आया और आकाश निहायत साफ़ और नीला होगया और तीसरे पहर का वक़्त सुहावना मालूम होने लगा। वर्ष का चक्र ख़त्म होकर फिर शुरू हुआ। जाडे के बाद वसन्त, वसन्त के बाद गर्मी और गर्मी के बाद वर्षा—यही दौर रहा। मैं यहाँ बैठा-बैठा तुम्हे लिखता रहा हूँ, तुम्हारी याद करता रहा हूँ, ऋतुओ को आते और जाते देखता रहा हूँ और अपनी बैरक की छत पर मेंह की तड़ातड़ सुनता रहा हूँ :

> "O doux bruit de la pluie
> Par terre et sur les toit's!
> Pour un Coeur quis'ennuie,
> Oh! le chant de la pluie !"

अर्थात्—"पृथ्वी और छतों पर होनेवाले वर्षा के ऐ मुलायम शब्द ! एक हृदय, जो प्यासा और उत्सुक है, उसके लिए हे वर्षा के संगीत !"

बेंजमिन डिजरेली उन्नीसवीं सदी का एक बड़ा अंग्रेज राजनीतिज्ञ था। उसने लिखा है कि "और लोग अगर देश-निकाले और क़ैद की सजा भुगतने के बाद जिन्दा रहते है तो निराश होजाते है। लेकिन साहित्यिक लोग उन्हीं दिनो को जीवन का सबसे मधुर काल समझ सकते है।" वह ह्यूगो ग्रोटिज के बारे में लिख रहा था, जो

सत्रहवीं सदी का एक मशहूर कानून-दाँ और तत्त्वज्ञानी था। उसे उमर-क़ैद की सजा हुई थी, लेकिन वह किसी तरह दो वर्ष वाद ही निकल भागा था। उसने ये दोनों साल जेल में तत्त्वज्ञान और साहित्य-सम्बन्धी काम में विताये थे। और भी बहुत-से प्रसिद्ध साहित्यिक लोग जेल की हवा खा चुके हैं। शायद इनमें से सबसे मशहूर दो आदमी हुए हैं। एक तो स्पेन-निवासी सर्वेंटीज़ जिसने "डॉन क्विग्ज़ोट" लिखा, और दूसरा जॉन वनियन अंग्रेज था जिसने "दि पिल्ग्रिम्स प्रॉग्रेस" लिखा था।

मैं कोई साहित्यिक आदमी नहीं हूँ और यह कहने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मैंने जो अनेक वर्ष जेलखाने में काटे हैं वे मेरे जीवन के सबसे मधुर वर्ष थे। मगर मैं यह जरूर कहूँगा कि यह वक्त गुज़ारने में मुझे लिखने-पढने के काम से अद्भुत सहायता मिली। मैं साहित्यकार भी नहीं और इतिहासकार भी नही। तो मैं असल में हूँ क्या ? मुझे इस सवाल का जवाब देने में कठिनाई होती है। मैं वहुत वातो में दखल देता रहा हूँ। मैंने कालेज में विज्ञान शुरू किया, फिर कानून पास किया, और अन्त में जीवन की भिन्न-भिन्न वातो में रस लेने के वाद जेल जाने का घन्धा ग्रहण कर लिया। हिन्दुस्तान में यह पेशा वहुत लोग करने लगे हैं !

इन चिट्ठियो में मैंने जो कुछ लिखा है उसे तुम किसी भी विषय पर आखिरी वात न समझना। राजनीतिज्ञ लोग हर विषय पर कुछ-न-कुछ कहा चाहते हैं और उन्हे दर-असल जितना ज्ञान होता है उससे अधिक दिखाया करते हैं। इसलिए उनपर कडी नजर रखने की जरूरत है। मेरी इन चिट्ठियो में अलग-अलग विषयो का सिर्फ ऊपरी खाका खीचा गया है और एक हलका-सा सिलसिला मिला दिया गया है। मैं तो जो जी में आया लिखता गया हूँ। कहीं तो मैंने सदियो का और अनेक महत्वपूर्ण घटनाओ का थोडा-सा जिक्र कर दिया है और कहीं किसी एक ही घटना पर मुझे दिलचस्पी हुई तो वहुत समय लगा दिया है। तुमने देखा होगा कि यह वात खूव स्पष्ट है कि कौनसी वातें मुझे पसन्द हैं और कौनसी वातें मुझे नापसन्द हैं। इसी तरह से मुझपर जेल में कभी कुछ और कभी कुछ धुन सवार होती रही है। मैं नही चाहता कि तुम ये सब वातें ज्यो-की-त्यो मान लो। मुमकिन है मेरे वर्णन में सचमुच वहुत भूलें हो। जेल में न पुस्तकालय होता है और न ऐसी पुस्तकें पास होती हैं जिन्हे देखकर आदमी अपनी जानकारी को सही या ताजा कर सके। इसलिए इतिहास के विषय पर लिखने के लिए वह जगह वहुत अनुकूल नहीं होती। मुझे वहुत-कुछ उन याददाश्तों पर निर्भर रहना पड़ा है जो मैंने वारह वर्ष पहले जेल-यात्रा शुरू करने के समय से ही इकट्ठी कर रक्खी थीं। मेरे पास यहाँ वहुत-सी किताबें भी आई, लेकिन वे जैसी आई वैसी ही चली गई, क्योकि मैं यहाँ उन्हे इकट्ठी नहीं रख सकता था। मैंने उन किताबो में से विचार

और अंक निःसंकोच होकर लिये हैं। मैंने जो कुछ लिखा है उसमें कुछ भी म
है, शायद कहीं-कहीं मेरे पत्र समझ सकना तुम्हें मुश्किल भी पड़ता होगा। उन
जल्दी-जल्दी देख जाना और कोई ख़याल न करना। कभी-कभी मुझपर अ
उम्र का असर ज्यादा रहा और मैं यह भूल गया कि मैं ये चिट्ठियाँ एक
लिए लिख रहा हूँ। इस कारण मैं कहीं-कहीं इस ढंग से लिख गया, जिसमें कि
लिखना चाहिए था।

मैंनें तुम्हारे सामने सिर्फ रूप-रेखा रखदी है। यह इतिहास नही है।
लम्बे भूतकाल की केवल उड़ती हुई झलक दिखाई गई है। अगर तुम्हे इतिहास
हो और तुमपर उसका कुछ भी जादू होता हो, तो तुम्हे बहुत-सी ऐसी कित
जायँगी जिनसे तुम्हे प्राचीन काल का सिलसिला बाँधने में मदद मिले। मग
किताबें पढ़ने से ही काम न चलेगा। अगर तुम्हे प्रचीन काल का हाल जानने कं
हो तो तुम्हे उसे सहानुभूति और समझ की दृष्टि से देखना होगा। जो आदम
समय पहले हुआ हो उसे समझने के लिए तुम्हे यह समझना होगा कि वह कैसे
वरण और कैसी परिस्थिति में रहा था और उसके दिमाग में क्या-क्या विचार
थे। प्राचीन काल के मनुष्यो के बारे में इस तरह से राय बनाना मानो वे आज
है और उनके विचार भी हमारे ही जैसे है, बेहूदा बात है। आज गुलामी का स
कोई नहीं मिल सकता। मगर महान् अफलातून समझता था कि दास-प्रथा जरूर
बहुत समय नहीं हुआ, जब संयुक्तराष्ट्र में गुलामी की रक्षा के लिए हजारो आदमि
अपने प्राण देदिये थे। हम आज की नाप से पुरानी बातो का निर्णय नहीं कर स
यह बात हर शख्श खुशी से मञ्जूर करेगा। लेकिन सब लोग यह कबूल नहीं करेंगे
वर्तमान के बारे में पुराने समय की नाप से राय बनाना भी उतनी ही बेहूदा आदत
खासतौर पर विभिन्न धर्मो ने भी पुराने विश्वासो और रीति-रि[illegible] दिया
इनका देश-काल के अनुसार उपयोग रहा होगा, मगर हमारे
यह जरा भी अनुकूल नहीं है।

इसलिए तुम पुराने इतिहास को हम
पर मास और खून चढ जायगा और तुम्हे
इसमें हर मुल्क और हर जमाने के स्त्री-पु
भी हम-जैसे ही होगे और वे ही मानवीय
इतिहास कोई जादू का खेल नहीं है,
[illegible] है।

के अजायबघर के बेशु[illegible]

हमारा भविष्य के प्रति भी कुछ कर्तव्य है, और शायद यह कर्तव्य उससे भी बड़ा है जो हमारा प्राचीन काल के प्रति है; क्योंकि जो बात हो चुकी, सो हो चुकी उसे हम बदल नहीं सकते। भविष्य तो अब आयगा। मुमकिन है हम उसे थोड़ा बना सकें। अगर भूतकाल ने हमें सत्य के कुछ दर्शन कराये हैं तो भविष्य के गर्भ में भी उसके कुछ पहलू छिपे हुए हैं और वह हमें उनकी खोज का आमंत्रण देता है। मगर अक्सर गुजरे हुए जमाने को आनेवाले समय से ईर्षा होती है और वह अपने पंजे में हमें जकड़े रखना चाहता है। हमारा काम है कि हम उससे अपनेआपको छुड़ाकर भविष्य से मिलने और उसकी ओर बढ़ने की कोशिश करें।

कहते हैं कि इतिहास हमें अनेक पाठ पढ़ाता है। दूसरी कहावत यह है कि इतिहास बार-बार अपने-आपको नहीं दोहराता। ये दोनों कहावतें सच हैं, क्योंकि हम न तो पुरानी बातों की अन्धे होकर नकल करने से ही कुछ सीख सकते हैं और न यह उम्मीद रखकर कोई लाभ उठा सकते हैं कि इतिहास अपनेको दोहरायगा या जहां-का-तहां रहेगा। हम थोड़ा-बहुत सीख सकते हैं तो इसी तरह सीख सकते हैं कि हम भूतकाल के भीतर घुसकर देखें और जो शक्तियाँ उसमें काम कर रही थीं उनकी खोज करें। इतना सब कुछ करने पर भी हमें सीधा उत्तर नहीं मिलनेवाला है। कार्ल मार्क्स कहता है--"इतिहास तो उत्तर देने का एक ही तरीका जानता है, और वह है पुराने सवालों के जवाब में नये सवाल पेश कर देना।"

पुराना जमाना श्रद्धा का, अन्धविश्वास का, बिना पूछे-ताछे मान लेने का जमाना था। अगर कारीगरों, बनानेवालों और साधारणतः सभी लोगों में श्रद्धा न होती, तो क्या पिछली सदियों के ये अद्भुत मन्दिर, मस्जिद और गिरजे बन सकते थे? जिन पत्थरों को उन्होंने भक्ति-भाव से एक-दूसरे पर चुना था जिनके उन्होंने सुन्दर चित्रण किये, वे उस श्रद्धा के बोलते-चालते प्रमाण हैं। पुराने मन्दिरों के शिखर, मस्जिदों की नाजुक मीनारें, गोथिक ढंग के गिरजे एक ऐसी गहरी भक्ति-भावना का प्रमाण दे रहे हैं जिसे देखकर हम चकित रह जाते हैं और ऐसा मालूम होने लगता है मानो ये पत्थर और संगमरमर आकाश की तरफ मुंह करके प्रार्थना कर रहे हों। भले ही उनके जैसी श्रद्धा हममें न हो, पर इन्हें देखकर हमें रोमाञ्च हो आता है। लेकिन उस श्रद्धा के दिन गये, और उनके साथ ही पत्थर का वह मुंह-बोलता जादू भी चला गया। हजारों मन्दिर, मस्जिद और गिरजे बन रहे हैं, मगर उनमें वह भावना कहाँ है जो मध्ययुग के पूजास्थानों को सजीव करती थी? उनमें और हमारे युग के निशान व्यापारिक दफ्तरों में बहुत कम अन्तर है।

हमारा युग दूसरी ही तरह का है। यह तो शंका और तर्क का युग है। इसने

बहुत-से भ्रम दूर होगये हैं और कोई बात निश्चित नहीं है। हमारा बहुत-सी पुरानी बातों पर विश्वास नहीं रहा। एशिया, योरप, अमेरिका, सभी जगह पुराने विश्वासों और रीति-रिवाजों को स्वीकार नहीं किया जाता। इस तरह हम अपनी परिस्थिति के अनुकूल सत्य के नये तरीकों और नये पहलुओं की खोज करते हैं। हम एक-दूसरे से सवाल करते हैं, बहस करते हैं, झगड़ा करते हैं और बेशुमार 'वाद' और दर्शन बना लेते हैं। सुकरात के जमाने की तरह हम भी पूछताछ के युग में रहते हैं, मगर यह पूछताछ एथेन्स जैसे एक शहर में ही महदूद नहीं है, यह दुनिया भर में फैली हुई है।

कभी-कभी दुनिया के अन्याय, दुःख और पाशविकता से हमारा जी दुखता है, हमारे मस्तिष्क में अँधेरा छाजाता है और हमें कोई रास्ता नहीं सूझता। मैथ्यू आर्नाल्ड की तरह हमें भी लगता है कि इस संसार में कोई आशा नहीं है, हम इतना ही कर सकते हैं कि एक-दूसरे के प्रति सच्चे रहें :

"For the world which seems
To lie before us, like a land of dreams,
So various, so beautiful, so new,
Hath really neither joy, nor love, nor light,
Nor certitude, nor peace, nor help for pain,
And we are here, as on a darkling plain
Swept with confused alarms of struggle and flight,
Where ignorant armies clash by night"

अर्थात्—"यह दुनिया जो हमारे सामने स्वप्नों के एक देश के समान फैली हुई है—इतनी विविध, इतनी सुन्दर, इतनी नवीन—इसमें न आनन्द है, न प्रेम है, न प्रकाश है, न स्थिरता है, न शान्ति है, न दुःख-दर्द में सहायता है। और हम मानो अन्धकार से घिरते हुए मैदान में, युद्ध और पलायन की अस्पष्ट ध्वनियों के बीच, लड़खड़ा रहे हैं—उस अन्धेरे मैदान में जहाँ अज्ञानी सेनायें रात के अन्धकार में लड़ती हैं।"

फिर भी हम इस तरह की निराशाभरी निगाह रक्खें तो कहना होगा कि हमनें जीवन या इतिहास किसीसे भी ठीक-ठीक शिक्षा ग्रहण नहीं की है। इतिहास तो हमें यह सिखाता है कि वृद्धि और उन्नति होती रहती है और मनुष्य की प्रगति कितनी होसकती है इसका तो अन्त ही नहीं। इसी प्रकार जीवन भी भिन्न-भिन्न तत्त्वों से भरा हुआ है। जहाँ उसमें बहुत जगह दलदल और कीचड़ है, वहाँ उसमें महासागर, पर्वत, बर्फ, बर्फ की नदियाँ और (खासकर जेल में!) तारों-भरी अद्भुत रातें हैं, कुटुम्ब और मित्रों का प्रेम है, एक ही उद्देश्य के लिए काम करनेवाले साथियों का साथ है, संगीत है, पुस्तकें हैं और विचारों का साम्राज्य है। इन सब चीजों को देखकर हम कह सकते हैं कि—

"Lord, though I lived on earth, the child of earth,
Yet was I fathered by the starry sky"

अर्थात्—"हे प्रभु, यद्यपि मैं पृथ्वी की सन्तति हूँ और पृथ्वी पर ही पला हूँ, पर मुझे तारिका-जटित आकाश का वात्सल्य प्राप्त हुआ।"

विश्व के सौन्दर्य की तारीफ करना और विचार और कल्पना के जगत् में रहना आसान है। मगर इस तरह औरो के दुःखो से जी चुराना, उनका क्या हाल है इसकी परवा न करना, साहस या हमदर्दी की निशानी नही है। विचार की अच्छाई और सचाई इसीमें है कि उसके अनुसार अमल किया जाय। हमारे मित्र रोम्याँ रोलाँ कहते है—"कार्य विचार का अन्त है। जिस विचार की दृष्टि कार्य की ओर नहीं होती वह, कैसा भी हो, निरर्थक है और धोखाधडी है। इसलिए हमें अगर विचार के सेवक बनना है तो कार्य के सेवक भी बनना ही होगा।"

अक्सर लोग कार्य से इसलिए कन्नी काटते है कि उन्हे नतीजे का डर होता है, क्योकि कार्य का अर्थ है जोखिम और खतरा। खतरा दूर से ही भयानक दीखता है। नजदीक से देखने पर वह इतनी बुरी चीज नहीं है; ज्यादातर तो वह सुहावना साथी ही होता है और उससे जीवन का स्वाद और आनन्द बढ़ता है। कभी-कभी जीवन का साधारण क्रम बड़ा सुस्त होजाता है। हमें बहुत-सी चीजें योही मिल जाती है और उनसे हमें कोई आनन्द नही मिलता, परन्तु जब उन मामूली चीजो के बिना हम थोडे दिन रह लेते है तब हमें उनकी कितनी कद्र होजाती है! बहुत लोग ऊँचे-ऊँचे पहाडो की चढ़ाई करते है और चढाई का आनन्द लेने के लिए प्राण और शरीर को जोखिम में डालते है। जब वे किसी कठिनाई को पार कर लेते है, किसी खतरे को जीत लेते है, तब उन्हे कितनी खुशी होती है! जिन खतरो से वे चारो ओर घिरे रहते है उनके कारण उनकी इन्द्रियां कितनी तेज होजाती है, और जो जीवन कच्चे धागे से लटकता रहता है उसका आनन्द कितना तीव्र होजाता है!

हम सबके सामने दो मार्ग है। हम जिसे चाहे पसन्द करले। एक तो नीची घाटियो में रहना, जहां धुन्ध और कोहरे से तग होना पड़ता है परन्तु जहां शरीर की रक्षा ठीक-ठीक होती है। दूसरा ऊँचे पर्वतो पर चढना, जोखिम और खतरे में पडना और साथियो को डालना, आकाश का शुद्ध वायु सेवन करना, दूर-दूर दृश्यो का मजा लूटना और उगते हुए सूर्य का स्वागत करना।

मैंने इस खत में कवियो और दूसरे लेखको के कई उद्धरण दिये है। अन्त में एक और दे देता हूँ। यह गीताञ्जलि का है। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता या प्रार्थना है:

"Where the mind is without fear and the head is held high,
Where knowledge is free,
Where the world has not been broken up into fragments by narrow domestic walls,
Where words come out from the depth of truth,
Where tireless striving stretches its arms towards perfection,
Where the clear stream of reason has not lost its way into the dreary desert sand of dead habit,
Where the mind is led forward by thee into ever-widening thought and action—
Into that heaven of freedom, my Father, let my country awake."[१]

"जहाँ मन निर्भय है और सिर ऊँचा उठा हुआ है,
जहाँ ज्ञान बन्धन-मुक्त है,
जहाँ सकुचित घरेलू दीवारो से दुनिया तुच्छ टुकडो मे विभाजित नही है,
जहाँ शब्द सत्य की गहराई से आते है,
जहाँ परिपूर्णता के लिए निरन्तर चेष्टा अपनी भुजाये फैला रही है;
जहाँ विवेक का उज्ज्वल सोता निर्जीव प्रथा के शुष्क मरुस्थल मे सूखकर नष्ट नही होगया है,
जहाँ तेरे द्वारा मन प्रतिक्षण विकसित होते हुए विचार और कार्य की ओर जा रहा है,
हे मेरे पिता ! उस मुक्ति के स्वर्ग मे मेरे देश को जाग्रत कर ।"

१. श्री सुधीन्द्र ने इस गीत का अनुवाद यो किया है .—

स्वतत्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
अशक मन हो, उठा हुआ शिर,
स्वतत्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमे
जहाँ घरो की न भित्तियाँ ये करे जगत् खण्ड-खण्ड न्यारा
स्वतत्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
सदैव ही सत्य के तले से
जहाँ पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए वढा हाथ पूर्णता को जहाँ परिश्रम अथक हमारा
स्वतत्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
छिपे भटक कर सुबुद्धि-धारा
न रूढ़ियो के दुरन्त मरु मे
विशाल-विस्तृत विचार-कृति मे लगे जहाँ चित्त, पा सहारा
स्वतत्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !

तो अपना काम ख़त्म हुआ और यह आख़िरी ख़त भी। आख़िरी ख़त ! हरगिज़ नहीं ! मैं तुम्हें और भी बहुत-से ख़त लिखूंगा। परन्तु यह सिलसिला यहीं समाप्त होता है और इसीलिए—

तमाम शुद !

परिशिष्ट—१

विश्व-इतिहास का तिथि-क्रम

[१]

मानवी इतिहास के बहुत शुरू के जमाने की तिथियाँ कभी-कभी बिलकुल अन्दाज-ही-अन्दाज होती है। कभी-कभी वे इतनी अनिश्चित होती है कि विशेषज्ञो में एक-दूसरे से हजार वर्षो का मतभेद होता है। मानव-संस्कृति के सबसे प्रारम्भिक जो चिन्ह मिलते है वे हमें ईस्वी सन् के ५००० वर्ष पूर्व यानी अबसे लगभग ७००० वर्ष पूर्व तक लेजाते है। खयाल किया जाता है कि मिस्र के इतिहास का आरम्भ उस समय हुआ था। यह प्रस्तर-युग का अन्त था। उस समय मिस्र कई छोटे राज्यो में बँटा हुआ था। प्राचीन वस्तु-विद्या के पण्डितो ने भी कैल्डिया अथवा एलम (मेसोपोटामिया) में एक ऐसी सभ्यता के भग्नावशेषो का पता लगाया है जो ईसा के पांच हजार वर्ष पहले शुरू हुई थी। इसका राजनगर सूसा था। प्राचीन वस्तुओ के सम्बन्ध में ज्यादातर खोज मिस्र और मेसोपोटामिया में ही हुई है, क्योंकि ज्यादातर खुदाई भी वही हुई है। सम्भवत. इतनी ही पुरानी तिथि वाली खोज दूसरे देशो में भी की जायगी। प्राचीन वस्तुओं के दूसरे समूह का पता लगने से भी, जिनकी तिथि लगभग ३५०० वर्ष ईसा के पूर्व बताई जाती है, इस धारणा की पुष्टि होती है। ये खोजें हमें एशिया के आर-पार—मिस्र, कैल्डिया, पूर्वी फारस, भारत की सिन्धु घाटी, पश्चिमी तुर्किस्तान से चीन की ह्वांगहो या पीत नदी तक ले जाती है। इन सब स्थानो पर विकास की एकसी अवस्था का पता चलता है। यह पालिश किये हुए पत्थरो के युग के अन्त की बात है, जब कि ताँबे का इस्तेमाल शुरू होरहा था। इनमें कृषि है, घरेलू एवं पालतू चौपाये है, व्यापार है, एक ही तरह के औजार है, सोने-चाँदी के सुन्दर आभूषण है और कई तरह के समान चित्रो से चित्रित मिट्टी के रंगीन पात्र है। लेखन-कला या लिपि का आरम्भ होचुका था। जान पड़ता है इस जमाने में, लगभग ५५०० वर्ष पहले, मिस्र से उत्तर-भारत और चीन तक एक ही सभ्यता का प्रसार था। मिट्टी के एक-से पात्रो के मिलने से इस सभ्यता को "मिट्टी के रंगीन वर्तनो की सभ्यता" (Painted Pottery Civilization) कहते है। यह सभ्यता इस वक्त भी इतनी उन्नत थी, इसकी संस्कृति और ललित कलायें इतनी विकसित होचुकी थी, कि इसके पीछे संस्कृति की वाढ के हजारो वर्ष पहले ही वीत चुके होगे। हिन्दुस्तान में यह मोहेनजोदारो का युग था जिसमें सुन्दर भवनो, सड़कों और कला के विकास का दर्शन हमें होता है। इस समय मिस्र में फरोहाओ यानी देव-

सम्राटों की मातहती में अलग-अलग राज्य एक बड़े राज्य में मिल जाते हैं। इसी वक्त के करीब कैल्डिया में सुमेर और अक्कद नाम के दो शक्तिमान और ऊँची संस्कृतिवाले राज्यो का जन्म होता है। फुरात (Euphrates) नदी के तटो पर 'उर' नाम का मशहूर शहर उठ खड़ा होता है, जिसे बाइबल में 'कैल्डिया का उर' कहा गया है। इसी 'मिट्टी के रंगीन बर्तनो की सभ्यता' से मिस्री, मेसोपोटामियन या इराकी (इसमें फ़ारसी अथवा ईरानी सभ्यता भी शामिल है), भारतीय और चीनी नामक पूर्व की चार महान् सभ्यतायें निकलती है और अलग-अलग विकसित होती हैं। इस तरह हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है :—

तिथि (ईसा के पूर्व)	मिस्र	कैल्डिया या एलम (मेसोपोटामिया)	भारत	चीन
	मिट्टी के रंगीन बर्तनो की सभ्यता			
ल० ३५०० वर्ष ल० ३३०० वर्ष	फरोहाओं की मातहती में एक राज्य बन जाता है।	सुमेर और अक्कद नामक दो शक्ति-शाली राज्य। उर नगर	सिंधु की घाटी में मोहेन-जोदारो और हरप्पा (ईसा के ३३०० वर्ष पूर्व से २७ वर्ष पूर्व तक के ऊपर एक करके तीन नगर।)	ह्वांगहो या पीत नदी के तटों की बस्तियां

यह संभव है कि पूर्व की 'मिट्टी के रंगीन बर्तनो की सभ्यता' के ही समकालिक उसी तरह की सभ्यता पूर्वी भूमध्यसागर में यूनानी टापुओ में और एशिया-माइनर के पश्चिमी किनारों पर रही हो। इस प्रारम्भिक भूमध्यसागरीय सभ्यता से २००० ईसापूर्व से १५०० वर्ष ईसापूर्व की नोसॉस लोगो की ऊँची मिनोयन सभ्यता निकली जो धीरे-धीरे नष्ट होगई और ग्रीक द्वीपो की माई-सीनियन (Mycenean) या एजियन (Aegean) सभ्यता में बदल गई, जिसका समय ईसा पूर्व १६०० से ११०० तक बताया जाता है। इसी समय के लगभग (ल० १३०० वर्ष ईसा पूर्व के बाद) प्राचीन पश्चिमी दुनिया के महान् व्यापारी सेमिटिक फोनिशियन प्रधानता प्राप्त करते है और भूमध्यसागर के तट पर सब जगह उनकी बस्तियां बस जाती हैं। एशिया-माइनर में टायर नामक नगर इन बस्तियों में सबसे प्रधान बस्ती थी। इसी समय के लगभग आर्य लोग योरप में फैले। ये यही आर्य यूनानी, हेलेनीज, थे जिन्होंने ईसा के पहले की बारहवीं शताब्दी में ट्राय का घेरा डाला था। धीरे-धीरे हेलेनिक सभ्यता का विकास हुआ और एशिया-माइनर, दक्षिण-

इटली, सिसली, सोर और फ्रास के दक्षिणी भाग में हेलेनिक उपनिवेश खडे होगये। होमर ने अपने महाकाव्य ईसा-पूर्व की ग्यारहवी शताब्दी में लिखे थे।

इस बीच पूर्व में सभ्यता के प्राचीनतर केन्द्रो में बहुतेरी घटनायें घट गई थी। मिस्र और कैल्डिया में साम्राज्यो का विकास भी हुआ और पतन भी होगया। भारत में उत्तर में आर्यो का प्रभुत्व स्थापित होचुका था और वे दक्षिण की ओर बढ़ रहे थे। जब वे यूनान में पहुँचे, उससे बहुत पहले वे भारत में आ चुके थे। यहाँ आने पर उन्होने सभ्य और सस्कृत द्रविडो को इस देश में बसा हुआ पाया और उन्हे दक्षिण-भारत की तरफ खदेड़ दिया था। वेद आर्यो के आक्रमण के प्रारम्भिक दिनो में लिखे गये थे और वेदो के बहुत दिनों बाद महाकाव्य—रामायण आदि—लिखे गये थे। चीन सगठित होरहा था और एक महान् राज्य विकसित होरहा था। रेशम के कीडे पालने और रेशम निकालने की कला निकल चुकी थी।

अब हमें अपने नकशे पर आना चाहिए। लेकिन याद रक्खो कि सभ्यताओ और ऐतिहासिक युगो के विभिन्न नामो (जैसे मिनोयन, माईसीनियन, एजियन इत्यादि) को एक-दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र अथवा स्पष्टतः निश्चित युगो के रूप में ग्रहण नही करना चाहिए। ये अस्पष्ट शब्द हैं जिनका उपयोग आजकल के प्राचीन वस्तु-विद्या के विशेषज्ञ और इतिहासकार विभिन्न सभ्यताओ और युगो को एक-दूसरे से अलग करने या एक-दूसरे की अलग पहचान के लिए करते हैं, पर ये सभ्यतायें और युग अक्सर एक-दूसरे की सीमा में मिल या प्रवेश कर जाते हैं। यह भी याद रक्खो कि चार्ट या नकशे में तिथियो को समान अन्तर से यानी एक काल को समान ही जगह देना असम्भव है। ऐसी माप रखना बहुत अच्छी और ज्यादा सही चीज होगी, क्योकि इससे इतिहास के बारे में ज्यादा सही धारणा बनाई जा सकेगी, पर ऐसा नकशा बहुत ज्यादा लम्बा होजायगा, क्योकि इतिहास की प्रारम्भिक अवस्थाओ में हमें हजारो वर्षो से काम पडेगा और प्रागैतिहासिक अथवा इतिहास के पहले के काल तो बहुत ज्यादा बडे-बडे हैं। इसलिए हमें एक ही माप का खयाल छोड़ देना पडेगा। कभी तो एक इन्च हजार वर्षों या उससे भी ज्यादा समय के प्रति कर्त्तव्य-पालन करेगा और दूसरी जगह वही एक इंच सिर्फ दस वर्षो या उससे भी कम समय का काम देगा।

नोट—किसी तिथि के पूर्व 'ल०' का का मतलब यह है कि वह तिथि बिलकुल निश्चित नही है, बल्कि लगभग है। यह लगभग का सक्षिप्त रूप है।

सम्राटो की मातहती में अलग-अलग राज्य एक बड़े राज्य में मिल जाते है। इसी वक्त के करीब कैल्डिया में सुमेर और अक्कद नाम के दो शक्तिमान और ऊँची संस्कृतिवाले राज्यो का जन्म होता है। फुरात (Euphrates) नदी के तटो पर 'उर' नाम का मशहूर शहर उठ खड़ा होता है, जिसे बाइबल में 'कैल्डिया का उर' कहा गया है। इसी 'मिट्टी के रंगीन बर्तनो की सभ्यता' से मिस्री, मेसोपोटामियन या इराकी (इसमें फ़ारसी अथवा ईरानी सभ्यता भी शामिल है), भारतीय और चीनी नामक पूर्व की चार महान् सभ्यतायें निकलती है और अलग-अलग विकसित होती है। इस तरह हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है :—

तिथि (ईसा के पूर्व)	मिस्र	कैल्डिया या एलम (मेसोपोटामिया)	भारत	चीन
	मिट्टी के रंगीन बर्तनो की सभ्यता			
ल० ३५०० वर्ष ल० ३३०० वर्ष	फरोहाओ की मातहती में एक राज्य बन जाता है।	सुमेर और अक्कद नामक दो शक्तिशाली राज्य। उर नगर	सिंधु की घाटी में मोहेन-जोदारो और हरप्पा (ईसा के ३३०० वर्ष पूर्व से २७ वर्ष पूर्व तक के ऊपर एक करके तीन नगर।)	ह्वांगहो या पीत नदी के तटो की बस्तियां

यह संभव है कि पूर्व की 'मिट्टी के रंगीन बर्तनो की सभ्यता' के ही समकालिक उसी तरह की सभ्यता पूर्वी भूमध्यसागर में यूनानी टापुओ में और एशिया-माइनर के पश्चिमी किनारो पर रही हो। इस प्रारम्भिक भूमध्यसागरीय सभ्यता से २००० ईसापूर्व से १५०० वर्ष ईसापूर्व की नोमॉस लोगो की ऊँची मिनोयन सभ्यता निकली जो धीरे-धीरे नष्ट होगई और ग्रीक द्वीपो की माई-सीनियन (Myceneau) या एजियन (Aegean) सभ्यता में बदल गई, जिसका समय ईसा पूर्व १६०० से ११०० तक बताया जाता है। इसी समय के लगभग (ल० १३०० वर्ष ईसा पूर्व के बाद) प्राचीन पश्चिमी दुनिया के महान् व्यापारी सेमिटिक फोनिशियन प्रधानता प्राप्त करते है और भूमध्यसागर के तट पर सब जगह उनकी बस्तियां बस जाती है। एशिया-माइनर में टायर नामक नगर इन बस्तियो में सबसे प्रधान बस्ती थी। इसी समय के लगभग आर्य लोग योरप में फैले। ये यही आर्य यूनानी, हेलेनीज, थे जिन्होंने ईसा के पहले की बारहवीं शताब्दी में ट्राय का घेरा डाला था। धीरे-धीरे हेलेनिक सभ्यता का विकास हुआ और एशिया-माइनर, दक्षिण-

इटली, सिसली, सोर और फ्रान्स के दक्खिनी भाग मे हेलेनिक उपनिवेश खडे होगये। होमर ने अपने महाकाव्य ईसा-पूर्व की ग्यारहवीं शताब्दी मे लिखे थे।

इस बीच पूर्व में सभ्यता के प्राचीनतर केन्द्रो में बहुतेरी घटनायें घट गई थीं। मिस्र और कॅल्डिया में साम्राज्यो का विकास भी हुआ और पतन भी होगया। भारत में उत्तर में आर्यो का प्रभुत्व स्थापित होचुका था और वे दक्षिण की ओर बढ रहे थे। जब वे यूनान में पहुँचे, उससे बहुत पहले वे भारत में आ चुके थे। यहाँ आने पर उन्होने सभ्य और सस्कृत द्रविडो को इस देश में बसा हुआ पाया और उन्हे दक्षिण-भारत की तरफ खदेड दिया था। वेद आर्यो के आक्रमण के प्रारम्भिक दिनो में लिखे गये थे और वेदो के बहुत दिनो बाद महाकाव्य—रामायण आदि—लिखे गये थे। चीन संगठित होरहा था और एक महान् राज्य विकसित होरहा था। रेशम के कीडे पालने और रेशम निकालने की कला निकल चुकी थी।

अब हमें अपने नकशे पर आना चाहिए। लेकिन याद रक्खो कि सभ्यताओ और ऐतिहासिक युगो के विभिन्न नामो (जैसे मिनोयन, माईसीनियन, एजियन इत्यादि) को एक-दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र अथवा स्पष्टतः निश्चित युगो के रूप में ग्रहण नही करना चाहिए। ये अस्पष्ट शब्द हैं जिनका उपयोग आजकल के प्राचीन वस्तु-विद्या के विशेषज्ञ और इतिहासकार विभिन्न सभ्यताओ और युगो को एक-दूसरे से अलग करने या एक-दूसरे की अलग पहचान के लिए करते हैं, पर ये सभ्यतायें और युग अक्सर एक-दूसरे की सीमा में मिल या प्रवेश कर जाते हैं। यह भी याद रक्खो कि चार्ट या नकशे में तिथियो को समान अन्तर से यानी एक काल को समान ही जगह देना असम्भव है। ऐसी माप रखना बहुत अच्छी और ज्यादा सही चीज होगी, क्योंकि इससे इतिहास के बारे में ज्यादा सही धारणा बनाई जा सकेगी, पर ऐसा नकशा बहुत ज्यादा लम्बा होजायगा, क्योंकि इतिहास की प्रारम्भिक अवस्थाओ में हमें हजारो वर्षो से काम पडेगा और प्रागैतिहासिक अथवा इतिहास के पहले के काल तो बहुत ज्यादा बडे-बडे हैं। इसलिए हमें एक ही माप का खयाल छोड़ देना पडेगा। कभी तो एक इञ्च हजार वर्षो या उससे भी ज्यादा समय के प्रति कर्त्तव्य-पालन करेगा और दूसरी जगह वही एक इंच सिर्फ दस वर्षो या उससे भी कम समय का काम देगा।

नोट—किसी तिथि के पूर्व 'ल०' का का मतलब यह है कि वह तिथि बिलकुल निश्चित नही है, बल्कि लगभग है। यह लगभग का सक्षिप्त रूप है।

तिथि या काल	भूमध्यसागर-तट यूनान-कार्थेज-रोम	मिस्र
(ई० पू०) २८००		मेम्फाइट साम्राज्य २८००-२३०० चियोपो-द्वारा महान् पिरामिडो का निर्माण। गिजेह का महान् स्फिंक
२३००	भूमध्यसागर की प्रारम्भिक सभ्यता	... मिस्र पर हाइक्सो-आक्रमण। २१६०से १६६०तक प्रथम थीवन-साम्राज्य
२१००		रैमेसेस द्वितीय द्वारा कर्नाक और लक्सर मन्दिरो का निर्माण
२०००	नोसॉस की मिनोयन सभ्यता (ल० २०००-१५००)	...
१७००		
	माईसीनियन सभ्यता (ल० १६००-११००)	१५८० द्वितीय थीवन साम्राज्य (११०० तक)
१५००		
१३००	एशिया-माइनर का टायर नगर। भूमध्य-सागर की फोनीशियन बस्तियां	

पश्चिमी एशिया कैल्डिया-फिलस्तीन-फारस	भारत	चीन, कोरिया और जापान
...	उत्तर-पश्चिम में सिंधु की घाटी की सभ्यता।	
		२३५६ याओ सम्राट।
	भारत के अधिकांश भागों में द्रविड।	२२०५ हसिया वंश का आरंभ (१७६५ तक) रेशम की उत्पत्ति।
२१०० हम्मूरब्बी द्वारा बेबिलोनियन साम्राज्य की स्थापना। बेबिलन नगर।		
...		
१९२५ हिट्टाइट लोग बेबिलोनियन साम्राज्य को नष्ट कर देते हैं।	उत्तर-पश्चिम से आर्यों का निरन्तर प्रवाह आता है और उत्तरमें बसता जाता है	
	वैदिक काल।	१७६५ शांग अथवा यीन वंश (११२२ तक)
...	महाकाव्य काल—रामायण और महाभारत (परन्तु ये पुस्तकें लिखी बहुत बाद में गईं)	
...	दक्षिण भारत का आर्यकरण	
असीरियनो का उत्थान—सम्राट तिगलल्थ—पिलेसर।		

तिथि या काल	यूनान, रोम और कार्थेज	मिस्र
(ई० पू०)		
	कार्थेज महान् व्यापारिक केन्द्र—भूमध्यसागर में प्रधान शक्ति	
६००		
	समोस में पाइथागोरस ल० ५७०—५०४	५५२ फ़ारस का सम्राट् कैम्बिसेस मिस्र विजय कर लेता है।
५००	रोमन प्रजातंत्र का आरम्भ ल० ५०० ४९० मैराथान का युद्ध—यूनानी फारसियो को खदेड़ देते हैं ४८० थर्मापोली और सेलेमिस्स	...
	यूनान का सुवर्ण-युग : सुकरात, यूरीफाइड्स, मेरीक्लिस, एस्किलस, सोफोक्स, प्लेटो, पिण्डार, अरिस्टोफेनिस फीडियास।	...
४००	४०४ स्पार्टा द्वारा एथेंस का विनाश। ३५९ मेसीडोनिया का बादशाह फिलिप ३३६ सिकन्दर महान्	३३२ मिस्र में सिकन्दर मिस्र पर यूनानी टालमी का राज्य

तिथि या काल (ई० पू०)	यूनान, रोम और कार्थेज	मिस्र
३००		यूनानी सभ्यता का एक महान् केंद्र अलेग्जेंड्रिया
	२६४ (से २४१ तक) प्रथम प्यूनिक युद्ध। कार्थेज के विरुद्ध रोम।	
	२१९ (से २०२ तक) द्वितीय प्यूनिक युद्ध। हैनीबाल। रोमन साम्राज्य का स्पेन, यूनान, एशिया-माइनर में विस्तार।	
२००		
	१४९ तृतीय प्यूनिक युद्ध। कार्थेज नष्ट कर दिया जाता है।	
१००		
	९१ इटली में गृह-युद्ध।	
	७३ रोम में स्पार्टकस के नेतृत्व में गुलामों का विद्रोह। गॉल-विजय। जूलियस सीजर द्वारा ब्रिटेन और पाम्पी द्वारा पूर्वी प्रदेशों की विजय।	
	४८ सीजर फार्सेलू स्थान पर पाम्पी को हरा देता है।	अन्तिम टाल्मी क्लियोपेट्रा का राज्य।
	४८ रोम में सीजर मारा गया।	३० मिस्र रोम साम्राज्य का एक प्रान्त हो जाता है।

तिथि या काल	रोमन साम्राज्य	पश्चिमी एशिया
(ई० पू०) १००	२७ ई० पूर्व। आक्टेवियन सीजर सरदार या प्रिंसेप् बन गया है। प्रिंसेप् और सम्राट्। रोमन साम्राज्य का आरम्भ।	
ईसा-पूर्व ईसा के पश्चात्		फिलस्तीन में नेजरेथ स्थान पर ईसा की पैदाइश
ई०-प० १००	१४-१८० सम्राट् टाइबेरियस, कैलीगुला, क्लाडियस, नीरो, वेसपैशियन, टीटस, डोमीशियन, नर्वा, ट्रेजन, हेड्रियन, एण्टोनियस, मार्कस ऑरेलियस।	
२००	[माया और अजटेक सभ्यतायें ईसा की दूसरी सदी में अमेरिका में विकसित होती है। मजबूती के साथ सगठित राज्य कायम होते हैं। अनेक नगर—कला—शिल्प इत्यादि।]	२२४ फारस में सासानी साम्राज्य का आरम्भ। अपनी प्रवृत्ति में पूर्णत रा-ष्ट्रीय ईरानी और जरथुस्त्री (६५२ तक चलता है।) २७२ पालमीरा में अरब रेगिस्तानी राज्य का अन्त। रानी जेनोबिया।

भारत	वृहत्तर भारत; मलाया इत्यादि	चीन	जापान और कोरिया
बौद्धधर्म का महान् कलह—महायान और हीनयान			
मलाया और पूर्वी द्वीपो में उपनिवेशो की स्थापना के लिए पल्लवो की सगठित यात्रायें। समुद्री व्यापार का विकास।	महत्वपूर्ण भारतीय (पल्लव) उपनिवेशो की विशेषत कम्बोडिया में स्थापना। सुमात्रा में श्रीविजय। दक्षिण मलाया मध्य जावा पूर्वी वोर्नियो		
	......	चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश। उत्तरकाल के हन् सम्राट तातारियो को पश्चिम में भगा देते हैं (और ये वाद में हूण की शक्ल में योरप और भारत में जाते हैं)।	
		२२१ हन् राजवंश का पतन। तीन राज्य।	

तिथि या काल	रोमन साम्राज्य	पश्चिमी एशिया
(ई० पू०) ३००	३०६ महान् सम्राट् कांस्टैण्टाइना राजधानी विज़ैण्टियम ले जाई गई, जिसका नाम कुस्तुन्तुनिया हो जाता है। ईसाई धर्म साम्राज्य का राजधर्म वन जाता है। साम्राज्य पश्चिमी और पूर्वी दो भागो में वँट जाता है।	
४००	ल० ४०० रोम पर वर्वरो के हमले। ४१० एलेरिक के नेतृत्व में गॉथ लोग रोम पर कब्ज़ा कर लेते और उसे तवाह करते हैं। ४५०ल एटिला के नेतृत्व में हूण गाल और इटली को पामाल करते है और ४५७ ई० में फ़्रांस में शालो के युद्ध में अन्तिम रूप में पराजित होते हैं। ४५५ जेनसेरिक के नेतृत्व में वण्डाल लोग रोम को तवाह करते हैं। ४७६ पश्चिमी साम्राज्य की हस्ती ख़तम हो जाती है। गॉथ ओडोका इटली का राजा। अन्य गॉथ वादशाह। ४८१ फ़्रांस का क्लोविस।	
५५०	वर्वरों और हूणों के हमलो मे वहुत कमज़ोर हो जाने पर भी पूर्वी रोमन साम्राज्य कायम रहता है। उसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया है। जस्टीनियन के समय में, जो ५२७ से ५६५ तक राज्य करता है, वह फिर सबल होता है।	

भारत	बृहत्तर भारत; मलाया इत्यादि	चीन	जापान और कोरिया
३२० उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य का आरम्भ। राष्ट्रीय पुनरुत्थान । राजधानी अयोध्या । संस्कृत का सुवर्ण काल । ३२० चन्द्रगुप्त । ३३५ समुद्रगुप्त । दूर-दूर तक विजय । ३८० विक्रमादित्य । कवि कालिदास			यामातो (जापान) ३५० के लगभग फैलता है ।
चीनी यात्री फाहियान का भारत में आगमन । ल० ४५० भारत में हूणो का आक्रमण ।			
४९५ हूण तोरमान उत्तरी भारत पर कब्जा करलेता है			
हूण मिहिरगुल ५१०-५२८ ५२५ चीन में आवाद होने के लिए भारतीय वौद्धधर्म के प्रधान धर्माध्यक्ष वोधिधर्म का भारत से प्रस्थान ।	हिन्दीचीन में हिंदू राज्य ।	वोधिधर्म कैण्टन पहुँचते हैं ।	

तिथि या काल	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप	पश्चिमी एशिया
ई. सन् ५५०		विजेण्टाइन (कुस्तुनतुनिया) साम्राज्य और ससानी (फारसी) साम्राज्य के बीच अक्सर लड़ाइयाँ जिनसे दोनों कमजोर होजाते हैं।	५७० मक्का में मुहम्मद का जन्म (मृत्यु ६३२); खुसरो द्वितीय के राज्य में ससानी साम्राज्य मिस्र, सीरिया, एशिया माइनर, फारस तक फैल जाता है। ६१९
६००		अरबों द्वारा विजेण्टाइन साम्राज्य की पराजय। पर वह अपने को सुरक्षित रखता है।	६२२ हिजरत। मुहम्मद साहब की मदीना यात्रा ६३२ अबूबकर खलीफा। ६३४ उमर खलीफा। ६३२—६७० अरब लोग विजेण्टाइन साम्राज्य को हराते और फ़ारस, मिस्र, उत्तरी अफरीका और मध्य एशिया के कुछ भागों को विजय कर लेते हैं। राजधानी दमिश्क। उम्मैया खलीफे (अरबों की विजय से ससानी साम्राज्य का अन्त)।
७००	७११ उत्तरी अफरीका से अरबों की स्पेनविजय। फ्रान्स पर आक्रमण		

तिथि या काल	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप	पश्चिमी एशिया
ई सन्	७३२ फ़्रांस में टूर्स का युद्ध। चार्ल्स मार्टल अरबों को हरा देता और अरब हमले को रोक देता है। ७५० स्पेन में कारडोवा का अरब राज्य। प्रसिद्ध नगर और विश्वविद्यालय		७५० उम्मैया खलीफा अधिकारच्युत कर दिये गये। अब्बासी खलीफों का आरम्भ। स्पेन स्वतंत्र हो जाता है। वहां का अरब-राज्य उम्मैयों के कब्जे में। अरब साम्राज्य छोटा पर संगठित होजाता है। राजधानी बग़दाद चली जाती है। ७८६ (से ८०९ तक) खलीफा हारूनल रशीद। उज्ज्वल शासन। चीन और शार्लमेन के पास राजदूतों का भेजा जाना।
८००	८०० पश्चिमी पवित्र रोमन साम्राज्य आरम्भ होता है और शार्लमेन उसका सम्राट बनता है।	पूर्वी रोमन (बिज़ेण्टाइन) साम्राज्य चारों तरफ से कठिनाइयों में पड़जाने के बावजूद निकुड़े रूप में कायम रहता है।	८५० अब्बासी खलीफाओं और अरब साम्राज्य का ह्रास। स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों का उदय।
९००	९६२ जर्मनी का महान् ओटो पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट बन जाता है ९८७ ह्यूकैपेट फ्रान्स का राजा बन जाता है।		पश्चिमी एशिया में सेल्जूक तुर्क ९६९ मिस्र स्वतंत्र होजाता है। [illegible] फातिमी [illegible] पश्चिम एशिया पर सेल्जूक तुर्कों का प्रभुत्व

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ईस्वी सन् १०००	[मध्य अमेरिकाः महान् नगर उक्षमल का उदय : १००० तीन मध्य अमेरिकन राज्यो के संघ—मायापान संघ—का निर्माण]	
	१०६६ नार्मण्डी के विलियम द्वारा इंग्लैण्ड पर विजय।	
	१०७३ हिल्डेब्रैण्ड ग्रेगोरी सप्तम के नाम से पोप बनता है।	ईसाई जिहादी (क्रूसेडर्स) पूर्वी योरप को लूटते और वहां अत्याचरण करते हैं।
	१०९६ प्रथम क्रूसेड। (जिहाद) बहुत ज्यादा आदमी मारे गये। ग्यारहवी-बारहवीं सदियो में पश्चिमी योरप में गाथिक शिल्प।	
११००		
	११४७ दूसरा क्रूसेड। ११४७ कार्डोवा के मुसलमान राज्य से पुर्तगाल जीत लिया जाता और वहां ईसाई राज्य कायम किया जाता है।	
	११५२ होहेनस्टाफन वंश का फ्रेडरिक बार्बरोसा। पवित्र रोम साम्राज्य का सम्राट ११८९ तीसरा क्रूसेड। इंग्लैण्ड का शेरदिल रिचर्ड प्रथम [मध्य अमेरिका: ल० ११९० मायापान का विनाश]	

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ईस्वी सन् १२००	१२०२ चौथे क्रूसेड द्वारा पूर्वी (बिजेण्टाइन) साम्राज्य पर हमला १२१२ लड़कों का क्रूसेड १२१५ इंग्लैण्ड के राजा जॉन द्वारा मैग्नाचार्टा पर हस्ताक्षर। १२२१ पांचवाँ क्रूसेड (जिहाद)। १२२८ होहेनस्टाफन वंश का फ्रेडरिक द्वितीय, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट, (१२१२-१२५०) छठे क्रूसेड का नेतृत्व करता है यद्यपि पोप उसे समाज से बहिष्कृत कर देता है। १२३३ स्पेनिश 'इनक्वीजिशन' की स्थापना	१२०४ क्रूसेडवाले कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लेते हैं और एक लैटिन सम्राट खड़ा कियाजाता है (१२६१ तक)। चंगेज के नेतृत्वमें मंगोल दक्षिण रूस पर हमला करते हैं। १२४० रूस, पोलैंड पर मगोलो का हमला। रूस मगोलो को खिराज देता है। १२४१ साइलेशिया के लिगनिज में मगोलो की विजय।
१२५०	१२५० फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु। होहेनस्टाफन वंश का अन्त। १२५० स्पेन के कार्डोवा राज्य का अन्त। दक्षिण स्पेन में ग्रेनाडा नामक छोटे अरब राज्य का आरंभ। १२६५ दाते का जन्म। १२७३ हैप्सबर्ग का रूडोल्फ पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट चुना जाता है। १३ वीं–१४ वीं सदियों में यूरोपियन नगरों का विकास: वेनिस, जिनोआ, फ्लोरेन्स, बोलोन, पीसा, मिलन, नेपल्स, पेरिस, एन्टवर्प, हैम्बर्ग, फ्रैंकफुर्ट, कोलोन, म्यूनिच आदि प्रजातन्त्र।	१२६१ यूनानी लैटिनों से कुस्तुन्तुनिया फिर छीन लेते हैं।
१३००		रूस के अधिकांश हिस्से में सुनहरे पर्दे के मगोलों की स्थापना

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ई० सन् १३००		
	[मध्य अमेरिका और मैक्सिको। ल० १३२५ अजटेक लोग माया देश को जीत लेते हैं और 'टेनोच्लेटन' नामक महानगरी वसाते हैं]	
	ल० १३४८ योरप, उत्तरी अफरीका और एशिया के कुछ हिस्सों में महाप्लेग—'काली मौत'। इन देशो में आवादी का भयंकर विनाश।	दक्षिण रूस में महाप्लेग।
१३५०		१३५३ उस्मानी तुर्क योरप में घुस जाते, वालकन विजय करलेते और एड्रियानोपुल को राजधानी वनाते हैं।
		कुस्तुन्तुनिया में विजेण्टाइन साम्राज्य अव भी कायम रहता है।
	१३७८ पश्चिमी ईसाई धर्म में महाविभेद। दो पोप—एक रोम में, दूसरा फ्रास के एविग्नन में। १४१७ में समझौते से झगड़ा समाप्त होता है।	
१४००		

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ई० सन्		
	१४३० रून में अंग्रेजों द्वारा जोन ऑफ़ आर्क का जलाया जाना।	
१४५०	१४७३ कोपरनिकस की पैदाइश।	१४५३ उस्मानी तुर्क कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा करलेते हैं। पूर्वी रोमन (बिज़ेण्टाइन) साम्राज्य का अन्त।
	१४८६ डायज़ गुडहोप के अंतरीप के गिर्द घूमकर जाता है।	
	१४९२ ग्रेनाडा के अरब राज्य का अंत। मूर (मुसलमान) स्पेन के बाहर खदेड़ दिये जाते हैं।	दक्षिण-पूर्व योरप में उस्मानी साम्राज्य का प्रसार।
	१४९२ कोलम्बस अटलाण्टिक पार करके अमेरिका पहुँचता है।	...
१५००	१४९८ गुडहोप के अंतरीप होता हुआ वास्को डि गामा भारत पहुँचता है। इटली में 'रिनैसाँ' (पुनर्जागरण) का आरंभ : ल्यूनार्डो दविन्सी, माइकेल एंजेलो, राफेल।	
	१५१३ बलबोआ प्रशांत सागर में पहुँचता है।	
	१५१९ मैगेलन दुनिया की परिक्रमा करता है	
	१५१९ कोर्टे मैक्सिको के अज़टेकों को विजय कर लेता है।	१५२० उस्मानी साम्राज्य का सुल्तान सुलेमान। उस्मानी साम्राज्य फैलता है और हंगरी एवं बाल्कन उसमें आजाते हैं।
१५३०	१५३० पेरू के 'इनका' पर पिज़ारो की विजय। स्पेनी अमेरिकन साम्राज्य का उदय।	
	१५३० हैप्सबर्ग चार्ल्स पंचम : पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट, स्पेन, निदरलैण्ड, अमेरिकन राज्य इत्यादि का राजा।	

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन् १५३०		मार्टिन लूथर (मृत्यु १५४६)। उत्तर-पश्चिम योरप में रिफार्मेशन और प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का आरम्भ।	
१५५०	—	१५५८ (से १६०३ तक) इंग्लैण्ड में एलिजावेथ का राज्य।	...
		१५६४ शेक्सपीयर का जन्म।	
		१५६७ स्पेन के खिलाफ़ निदरलैण्ड्स की वगावत।	
	१५७७ फ्रांसिस ड्रेक जहाजी विश्वभ्रमण आरम्भ करता है।		ल १५८१ रूसी डाकू यरमक अपने कज्जाक सिपाहियों के साथ यूरल पार करता और पूर्व की ओर बढ़ता है। ...
१६००		१६०० ब्रिटिश ईस्ट-इंडिया कम्पनी की स्थापना।	
		१६०२ डच ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की स्थापना।	
	१६२० 'मेफ्लावर' इंग्लैण्ड से उत्तरी अमेरिका को प्यूरिटन (कट्टर ईसाई) लोगों को बसने के लिए लाता है।		बालकन, हंगरी आदि पर उस्मानी साम्राज्य। १६३९ रूसी पूर्व की ओर बढ़ते हैं और प्रशान्त सागर तक पहुँच जाते हैं।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन्			
१६५०		१६४२ फ़्रांस का 'महान् बादशाह' चौदहवाँ लुई अपने ७२ वर्ष लम्बे राज्यकाल का आरम्भ करता है। १६४८ वेस्टफेलिया की संधि। हालैण्ड और स्वीजरलैण्ड स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत कर लिये जाते हैं। १६४९ इंग्लैंड में गृहयुद्ध। बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय। चार्ल्स प्रथम को फांसी। अंग्रेज़ी प्रजातन्त्र १६६० तक। ओलिवर क्रामवेल।	१६८३ वियेना के फाटकों पर उस्मानी तुर्क रोक लिये जाते हैं। १६८९ रूस में महान् पीटर १६८९ से १७२५ तक राज्य करता है।
१७००	उत्तरी अमेरिका के पूर्वी समुद्र-तट पर यूरोपियन बस्तियों का बढ़ना। ब्राज़ील के अतिरिक्त सारे दक्षिण-अमेरिका में स्पेनी साम्राज्य। ब्राज़ील में पोर्चुगीज़ों का राज्य।	१६८८ ब्रिटिश क्रान्ति ...	चीन से सन्धि। चीन को राजदूतों का भेजा जाना। पीटर रूसी स्त्रियों का परदा छुड़वा देता है।
१७३०			१७३० रूसी-तुर्की युद्ध (सारी अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी भर होनेवाली लड़ाइयों में से एक)

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप
ई० सन् १७३०		
१७५०	यूरोपियन देशो द्वारा सारी अठारहवी सदी भर अफरीकन गुलामो का व्यापार होता रहा। अठारहवी सदी के अंत में यह व्यापार पूरे जोर पर था। लिवरपूल और न्यूयार्क इस व्यापार के केन्द्र थे।	१७४० प्रशा के फ्रेडरिक महान् के राज्य-काल का आरम्भ। वाल्टेयर (१६९४-१७७८) गेटे (१७४९–१८३२)। १७५६–१७६३ सप्तवर्षीय युद्ध—प्रभुत्व के लिए अंग्रेजो और फ्रासीसियो के बीच होनेवाले विश्वव्यापी संघर्ष में अंग्रेजो की विजय।
	१७६३ फ्रांस इंग्लैण्ड को कनाडा दे देता है। १७७५ उत्तरी अमेरिकन उपनिवेशो का इंग्लैण्ड से युद्ध। १७७६ अमेरिकन क्राति। स्वतंत्रता की घोपणा। जॉर्ज वाशिंगटन।	बीथोवेन, महान् सगीतकार (१७७०-१८२७) १७८९ पेरिस में बैस्तील पर धावा। फ्रेंच राज्यक्रान्ति का आरम्भ। १७९२ फ्रास प्रजातंत्र बन जाता है। १७९९ नेपोलियन बोनापार्ट। प्रथम कौंसल।
१८००	दक्षिण अमेरिका में क्रान्तियां। स्वतंत्र प्रजातनो पी स्थापना। साइमन बोलिवर।	१८०४ नेपोलियन सम्राट्। १८०६ 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का बाकायदा अन्त। १८१५ वाटरलू का युद्ध। वियेना की संधि।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप
ई० सन्		
		इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति (अठारहवीं सदी के अन्त से आगे)।
	स्पेनी और पुर्तगाली अमेरिकन साम्राज्यो का अन्त।	
	अधिकांश देशो द्वारा अफरीकन गुलामों के व्यापार का निषेध, पर ग़ैरकानूनी तरीके पर वह काफी वडे रूप में चलता रहता है और अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र के दक्षिणी राज्यो तक हवशी पकड़कर लेजाये जाते हैं।	१८२५ पहली रेलवे (इंग्लैण्ड में)। १८३० योरप में क्रान्तियां। लुई फिलिप फ्रांस का वादशाह होजाता है। बेलजियम स्वतंत्र होजाता है। १८३२ व्रिटिश रिफार्म विल।
	संयुक्तराष्ट्र अमेरिका पश्चिम की तरफ फैलता है और केलीफोर्निया लेलेता है।	कार्लमार्क्स (१८१८–१८८३)। १८४८ योरप में क्रान्ति-वर्ष। फ्रान में प्रजातंत्र की स्थापना।
१८५०		चार्ल्स डार्विन (१८०९–१८८२) १८५२ द्वितीय फ्रेंच प्रजातंत्र का अन्त। फ्रांसीसियो का सम्राट् नेपोलियन तृतीय।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन् १८६०	१८६१-६५ अमेरिकन गृह-युद्ध, हवशियो का उद्धार। राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन।	१८६१ इटली संयुक्त और स्वतंत्र हो जाता है। मैजिनी-गेरीवाल्डी-कावूर।	बालकन में राष्ट्रीयता। तुर्की की अधीन जातियाँ धीरे-धीरे अपनेको स्वतंत्र करती है।
	सारी उन्नीसवीं सदी भर खास तौर से उत्तरी अमेरिका और उत्तर-पश्चिमी योरप में तथा थोडी-बहुत दूसरी जगहो में विज्ञान, उद्योग तथा यान्त्रिक आयात-निर्यात की उन्नति। प्रजासत्तावाद, पूंजीवाद, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद का विकास।		१८७६ सुलतान तुर्की को विधान देता और फिर उसे स्थगित कर देता है।
		१८७०–१८७१ फ्रांस-प्रशा युद्ध—फ़्रांस की हार। वर्साई में जर्मन साम्राज्य की घोषणा। बिस्मार्क। फ़्रांस प्रजातंत्र बनता है। पेरिस की अल्पजीवी पंचायत।	१८७७ रूस–तुर्की युद्ध।
		१८७८ रूस-तुर्की युद्ध के बाद बर्लिन की सन्धि। विशेषत. उत्तर-पश्चिमी योरप में मजदूर-आन्दोलन की वृद्धि। मजदूर-संघ—अन्तर्राष्ट्रीय संघ—समाजवाद। कार्ल मार्क्स।	१८७८ बलगेरिया, सर्बिया, रूमानिया और माण्टेनिग्रो तुर्की शासन से स्वतंत्रता प्राप्त कर लेते है।
	१८९८ स्पेनी-अमेरिकन युद्ध। संयुक्त-राष्ट्र फिलिपाइन पर कब्जा कर लेता है। क्यूबा स्वतंत्र हो जाता है।	१९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अमेरिका पर कब्जे के लिए पाश्चात्य शक्तियों की भाग-दौड।	१९०५ जापान द्वारा रूस की हार के कारण रूस में असफल क्रान्ति होती है। ड्यूमा की स्थापना।
१९००		१८९९–१९०२ दक्षिण अफ़्रीका में अंग्रेज और बोअरो का युद्ध।	१९०८ तुर्की-क्रान्ति। १८७६ के विधान की पुनः स्थापना। [illegible] और [illegible] की सन्धि।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिणी अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन्	१९१७ संयुक्तराष्ट्र महायुद्ध में शामिल होता है । १९१९–१९२९ संयुक्त राष्ट्र में महान् वैभव के दस वर्ष । १९२९ अर्थ-संकट या मंदी । १९३० दक्षिण अमेरिका में अर्जेण्टाइन, ब्राज़ील, चाइल इत्यादि में क्रान्तियाँ । सरकारो का दिवाला ।	१९१४–१९१८ महायुद्ध । १९१८ जर्मनी, आस्ट्रिया आदि में क्रान्तियाँ । राजवंशो का अन्त । प्रजातंत्रो की स्थापना । १९१९ वर्साई की सुलह । योरप में अनेक नये राष्ट्र । हर्जनिशासनादेश-राष्ट्रसघ । मजदूरो की हलचले, हडताले, आर्थिक कठिनाइयाँ—मुद्रा का पतन—अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंसे । १९२०–२२ एंग्लो-आयरिश युद्ध । सिनफीन 'आयरिश फ्री स्टेट की स्थापना । १९२२ इटली में फैसिज्म की विजय : वेनिटो मुसोलिनी । योरप के अनेक देशो में डिक्टेटरशिप । १९२६ ग्रेट ब्रिटेन में आम हड़ताल । १९२९ समस्त विश्व में महान् व्यापारिक मदी और संकट का आरभ । भावो का गिरना । सरकारो का दिवाला । बैंको का टूटना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नाश (अभीतक मदी है) । १९३१ स्पेन में क्रान्ति । प्रजातन्त्र की स्थापना ।	१९११ ट्रिपोली के सम्बन्ध में तुर्की से इटली का युद्ध । १९१२ बालकन युद्ध । तुर्की प्रायः योरप से खदेड़ दिया जाता है । १९१४-१९१८ महायुद्ध १९१७ दो रूसी क्रान्तियाँ । बोलशेविक राज्य पर कब्जा कर लेते है । गृह-युद्ध । रूस और साइबेरिया में हस्तक्षेप की लड़ाइयाँ । १९२३ यू. एस एस. आर की स्थापना । १९२९ तेज़ी से औद्योगीकरण के लिए सोवियट सघ की पंचवर्षीय योजना ।
१९३३	१९३३ मंदी और अर्थ-संकट का मुकाबला करने के लिए कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को सर्वसत्ता दिया जाना । राष्ट्रपति मजदूरी की वृद्धि का महान् कार्य शुरू करते हैं । उद्योगों पर राज्य का नियंत्रण ।	१९३३ जर्मनी में नाज़ी-विजय । एडोल्फ हिटलर । प्रजातन्त्र को दबा दिया गया । मजदूरो और यहूदियो पर अत्याचार । योरप के अनेक देशो में फैसिज्म की वृद्धि ।	१९३३ सोवियट की द्वितीय पंचवर्षीय योजना का आरंभ ।

तिथि-क्रम की सूची

निर्देशिका

अं-अ

आ

ओ-औ

क

ख

घ

च-छ

न

म

य

कुल पृष्ठ-संख्या

१४९६ + ३२ (पृष्ठ १३५८ से १३७३ तक तिथिक्रम के नकशो मे ज्यादा लगे)
= १५२८

'सस्ता साहित्य मण्डल' के प्रकाशन

सस्ता साहित्य मण्डल के ये उच्चकोटि के सस्ते और जीवन निर्माणकारी प्रकाशन, १) प्रवेश फीस देकर स्थायी ग्राहक बन जाने पर सबको पौने मूल्य में मिल सकते हैं। ग्राहकों को प्रत्येक पुस्तक की एक-एक ही प्रति मिल सकती है। विशेष जानकारी के लिए बड़ा सूचीपत्र मँगाइए।

—व्यवस्थापक

१—**दिव्य जीवन**। प्रसिद्ध लेखक श्री स्वेट मार्डेन के The Miracle of Right Thought का अनुवाद। जीवन की कठिन समस्याओं से निराश युवक के लिए संजीवनी विद्या। मूल्य ।=)

२—**जीवन-साहित्य**। गुजराती के महान् विचारक काका कालेलकर के शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति आदि महत्वपूर्ण विषयों पर लिखे निबन्धों का संग्रह। दो भागों में। १।)

३—**तामिलवेद**। दक्षिण के अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर का उत्तम और उत्कृष्ट नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षाओं से भरा हुआ ग्रंथ। मूल्य ।।।)

४—**भारत में व्यसन और व्यभिचार**। [शैतान की लकड़ी] भारत में व्यसन और व्यभिचार सम्बन्धी हिन्दी की सर्वोत्तम पुस्तक। इन दुर्व्यसनों में फँसे देश का नग्न दर्शन तथा उन व्यसनों को दूर करने का उपाय। मूल्य ।।।=)

५—**सामाजिक कुरीतियाँ**। [जब्त अप्राप्य] मूल्य ।।।)

६—**भारत के स्त्री-रत्न**। प्राचीन भारतीय देवियों के आदर्श जीवन चरित्र, तीन भागों में। मूल्य ३)

७—**अनोखा**! फ्रान्स के प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के 'लाफिंग मैन' नामक उपन्यास का अनुवाद। राजाओं तथा दरबारियों की कुटिल क्रीडाओं का नग्न दर्शन। मनोरंजक, करुण और गम्भीर। मूल्य १।=)

८—**ब्रह्मचर्य-विज्ञान**। ब्रह्मचर्य पर अत्युत्तम पुस्तक। उपनिषदों, पुराणों तथा बहुत से अन्य धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त। मूल्य ।।।=)

९—**योरप का इतिहास**। अर्थात् बलिदान, राजनीति, देशप्रेम तथा स्वाधीनता का इतिहास। तीन भागों में। मूल्य २)

१०—**समाज-विज्ञान**। समाज की रचना उसके विकास तथा निर्माण पर लेखक ने

बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। 'समाज-शास्त्र' पढ़नेवाले विद्यार्थियों के लिए यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। मूल्य १॥)

११—**खद्दर का संपत्तिशास्त्र**। खादी के अर्थशास्त्र पर श्री० रिचर्ड बी० ग्रेग लिखित The Economics of Khaddar का हिन्दी अनुवाद। खादी की उपयोगिता आपने वैज्ञानिक तथा आर्थिक ढंग से सिद्ध की है। मूल्य ॥।=)

१२—**गोरों का प्रभुत्व**। इसमें बतलाया गया है कि संसार की सवर्ण जातियाँ अपनी आजादी के लिए किस प्रकार गोरी जातियों के शोषण से लड़ रही हैं और अपने को स्वतन्त्र कर रही हैं। मूल्य ॥।=)

१३—**चीन की आवाज़**। [अप्राप्य] मूल्य ।-)

१४—**दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास**। सत्याग्रह की उत्पत्ति तथा उसके प्रयोग का स्वयं गाँधीजी द्वारा लिखा इतिहास पढ़े कि किस प्रकार इस शस्त्र द्वारा अफ्रीका वासियों ने अपने अधिकारों की बहादुरी से और बिना दूसरों को तकलीफ पहुँचाते हुए रक्षा की। मूल्य १।)

१५—**विजयी बारडोली**। [अप्राप्य] मूल्य २)

१६—**अनीति की राह पर**। ब्रह्मचर्य तथा अप्राकृतिक संतति-निरोध पर लिखी गई महात्मा गांधीजी की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक। मूल्य ॥=)

१७—**सीता की अग्नि परीक्षा**। लंका विजय के बाद सीताजी की अग्नि-शुद्धि का यह वैज्ञानिक विश्लेषण है। इसमें विज्ञान का हवाला देकर यह बताया है कि वह घटना सच्ची है। मूल्य ।-)

१८—**कन्या शिक्षा**। इसमें बताया गया है कि छोटी बालिकाओं को अपने बाल्य जीवन के विषय में किस तरह शिक्षा देनी चाहिए। मूल्य ।)

१९—**कर्मयोग**। श्री अक्षयकुमार मैत्रेय लिखित गीता के कर्मयोग का सरल विवेचन। मूल्य ।=)

२०—**कलवार की करतूत**। महर्षि टाल्स्टाय की सरल भाषा में शराब के आविष्कार की मनोरंजक कहानी। मूल्य =)

२१—**व्यावहारिक सभ्यता**। युवकों, बच्चों तथा अवस्थाप्राप्त लोगों के लिए रोज के व्यवहार में आनेवाली शिक्षाओं की पोथी। बोधप्रद शिक्षाप्रद तथा ज्ञानप्रद। मूल्य ॥)

२२—**अँधेरे में उजाला**। महर्षि टाल्स्टाय के नाटक का अनुवाद। हृदय-मन्थन की अनुपम कहानी। मूल्य ॥)

२३—**स्वामीजी का बलिदान**। [अप्राप्य] मूल्य ।-)

२४—हमारे ज़माने की गुलामी। [जब्त अप्राप्य] मूल्य ।)

२५—स्त्री और पुरुष। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध तथा ब्रह्मचर्य पर टाल्स्टाय के उत्तम विचार। मूल्य ॥)

२६—सफाई। घर, गाँवों तथा शरीर की सफाई पर उत्तम पुस्तक। मूल्य ।=)

२७—क्या करें? टाल्स्टाय की मशहूर पुस्तक What to do? का अनुवाद। गरीबों एवं पीड़ितों की समस्यायें और उनका हाल। मूल्य १॥=)

२८—हाथ की कताई-बुनाई। [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

२९—आत्मोपदेश। यूनान के प्रसिद्ध विचारक महात्मा एपिक्टेटस के उत्तम और महत्वपूर्ण उपदेशों का संग्रह। मूल्य ।)

३०—यथार्थ आदर्श जीवन। [अप्राप्य] मूल्य ॥-)

३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे—तब भारत हरा-भरा था। भारत की दुर्दशा तो अंग्रेजों के यहां आने के बाद से शुरू हुई है। पार्लमेण्ट द्वारा नियुक्त रिपोर्ट के आधार पर लिखित। मूल्य ।)

३२—गंगा गोविन्दसिंह। [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

३३—श्रीरामचरित्र। श्री० चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित रामायण की कहानी। करुण और मधुर। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का उत्तम जीवन-चरित्र। मूल्य १।)

३४—आश्रम-हरिणी। पौराणिक उपन्यास। विधवा-विवाह-समस्या पर पौराणिकों के विचार। मूल्य ।)

३५—हिन्दी-मराठी-कोष। मराठी भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में बड़े काम की चीज़ है। मूल्य २)

३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त। आयर्लैण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मेक्स्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद। आज़ादी की इच्छावालों की नसों में नया खून, नया जोश और स्फूर्ति भरने वाली पुस्तक। मूल्य ॥)

३७—महान् मातृत्व की ओर। स्त्री-जीवन की प्रारम्भिक कठिनाइयों का दिग्दर्शन कराती हुई मातृत्व की जिम्मेदारी का दिग्दर्शन करानेवाली स्त्री-उपयोगी उत्तम पुस्तक। मूल्य ॥।=)

३८—शिवाजी की योग्यता। छत्रपति शिवाजी का चरित्र-विश्लेषण। मूल्य ।=)

३९—तरंगित हृदय। गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री देवशर्माजी के अनुपम विचार। मूल्य ॥)

४०—**हालैण्ड की राज्यक्रान्ति [नरमेध]** डच-प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमांचकारी इतिहास। हृदय में उथल-पुथल मचा देने वाली क्रान्तिकारी पुस्तक। मूल्य १॥)

४१—**दुखी दुनिया**। गरीब और पीड़ित मानवी दुनिया के करुण चित्र। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओं पर लिखी कहानियाँ। मधुर, करुण और सुन्दर। नया और सस्ता संस्करण। मूल्य ।=)

४२—**जिन्दा लाश**। टाल्स्टाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद। मूल्य ॥)

४३—**आत्म-कथा**। महात्मा गांधी लिखित। संसार के साहित्य का एक रत्न। उपनिषदों की भांति पवित्र और उपन्यासों की भांति रोचक। चरित्र को ऊँचा उठानेवाली। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। दो खण्डों में। बढ़िया जिल्द, सुन्दर छपाई। मूल्य १।)

४४—**जब अंग्रेज़ आये**। [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १।=)

४५—**जीवन-विकास**। विकासवाद को विशद रूप से समझाने वाली हिन्दी की एक ही पुस्तक। मूल्य १।) १॥)

४६—**किसानों का बिगुल**। [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य =)

४७—**फाँसी**। विक्टर ह्यूगो लिखित। फाँसी की सज़ा पाये हुए एक युवक के मनोभावों का चित्रण। करुण और रुलानेवाला। मूल्य ।=)

४८—**अनासक्तियोग** और **गीता-बोध**। गीता पर गांधीजी की व्याख्या। मूल श्लोक, अनुवाद तथा महात्माजी के गीता के तात्पर्य—गीताबोध—सहित ३५० पृष्ठों में मूल्य केवल ।=) केवल **अनासक्तियोग** =), सजिल्द ।) **गीताबोध** -)॥

४९—**स्वर्ण विहान** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य ।=)

५०—**मराठों का उत्थान और पतन**। मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान श्री गो० दा० तामसकर लिखित। मराठी भाषा में भी मराठों का ऐसा इतिहास नहीं है। मूल्य २॥)

५१—**भाई के पत्र**। स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालने वाली, उनकी घरेलू एवं रोजमर्रा की कठिनाई में पथप्रदर्शक बहनों के हाथों में दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। अपनी बहनों, बहुओं और बेटियों को इसकी एक प्रति अवश्य दें। मूल्य १॥) २)

५२—**स्वगत**। (हरिभाऊ उपाध्याय) चरित्र को गढनेवाले उच्च तथा युवकों को सच्चा रास्ता दिखानेवाले उत्तम विचार। मूल्य ।=)

५३—**युगधर्म** । [जब्त : अप्राप्य] मूल्य १=)

५४—**स्त्री-समस्या** । नारी-जीवन की जटिल समस्याओ का गम्भीर अध्ययन । मूल्य १॥) २)

५५—**विदेशी कपड़े का मुकाबला** । प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री मनमोहन गाधी लिखित । इसमे बताया गया है कि किस प्रकार भारत अपनी आवश्यकतानुसार पूरा कपड़ा तैयार कर सकता है । मुल्य ॥=)

५६—**चित्रपट** । श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के गद्य-गीतो का सग्रह । भावनामय, करुण और मधुर । मुल्य ।=)

५७—**राष्ट्रवाणी** । [अप्राप्य] मुल्य ॥=)

५८—**इंग्लैण्ड मे महात्माजी** । श्री महादेव देसाई का लिखा हुआ महात्मा गाधी की इग्लैण्ड की यात्रा का सुन्दर, सरस और सुबोध वर्णन । हिन्दी मे अपने ढग का सर्वोत्तम यात्रा-वृत्तान्त । मूल्य १)

५९—**रोटी का सवाल** । मशहूर रूसी क्रातिकारी लेखक प्रिस क्रोपाटकिन की अमर कृति Conquest of Bread का सरल अनुवाद । समाजवाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन । मूल्य १)

६०—**दैवी-सम्पद्** । सर्वोत्तम नैतिक एव धार्मिक पुस्तक । 'दैवी-सम्पद् से मनुष्य को मोक्ष होती है ।' गीता की इस उक्ति का सुन्दर विवेचन है । मनुष्य को मोक्ष का रास्ता वतानेवाली पुस्तक । मूल्य ।=)

६१—**जीवन-सूत्र** । अग्रेजी मे थॉमस केम्पिस लिखित सर्व प्रसिद्ध पुस्तक 'इमिटेशन ऑफ क्राइस्ट' का अनुवाद । जीवन को उन्नत और विचारो को सात्विक बनानेवाली । मूल्य ॥)

६२—**हमारा कलंक** । अस्पृश्यता-निवारण पर महात्माजी के विचारो एव लेखो का सग्रह, उनके महान् उपवास की कहानी । महात्माजी के आशीर्वाद सहित । मूल्य ॥=)

६३—**बुद्बुद** । (हरिभाऊ उपाध्याय) अपने आदर्शो से जीवन का मेल मिलानेवाले युवको के लिए विचारणीय पुस्तक । मूल्य ॥)

६४—**संघर्ष या सहयोग ?** प्रिस क्रोपाटकिन की Mutual Aid नामक पुस्तक का अनुवाद । इसमे दिखलाया है कि पशु और पक्षियो से लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है, सघर्ष नही, एकता है, लडाई नही । मूल्य १॥)

६५—**गाँधी-विचार दोहन** । श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला, इसमे महात्माजी के

सारे राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एव नैतिक विचारो का वडा सुन्दर दोहन किया है। मूल्य ।।।)

६६—**एशिया की क्रान्ति।** [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १।।।)

६७—**हमारे राष्ट्र- निर्माता।** लो० तिलक, स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्मा जी, दास वावू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेन्ट पटेल की जीवनियाँ—उनके सस्मरण, जीवन की झाँकिया एव व्यक्तित्व के विश्लेषण के साथ—लिखी गई है। हिन्दी मे अपने किस्म की एक पुस्तक, मूल्य २।।) ३)

६८—**स्वतन्त्रता की ओर**—(हरिभाऊ उपाध्याय) इसमे वताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम उस लक्ष्य—स्वतत्रता—को किस प्रकार और किन साधनो से प्राप्त कर सकते है। हमारा समाज कैसा हो, हमारा साहित्य कैसा हो, हमारा जीवन कैसा वने जिससे हम स्वतत्रता की ओर वढते चले जाते। हिन्दी मे इस पुस्तक का वडा आदर हुआ है। मूल्य १।।)

६९—**आगे बढ़ो।** स्वेट् मार्डेन के Pushing to the Front का सक्षिप्त अनुवाद। कठिनाई मे पडे युवको को सच्चे साथी के समान रास्ता वतानेवाली। मूल्य ।।)

७०—**बुद्ध-वाणी।** (वियोगीहरि) भगवान् बुद्ध के चुने हुए वचनो का सग्रह। बुद्धधर्म का सार तत्त्व। वौद्ध-धर्म के हिन्दी मे मिले सव ग्रन्थो का सार। मूल्य ।।=)

७१—**काँग्रेस का इतिहास।** डॉ० पट्टाभिसीतारामैया की लिखी तथा कॉग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती पर प्रकाशित अग्रेजी पुस्तक History of the Congress का यह प्रामाणिक अनुवाद है। इसकी भूमिका राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र वावू ने लिखी है। हिन्दी अनुवाद तथा सपादन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। यह दूसरा सस्करण है। वडे आकार के ६५० पृष्ठो की सजिल्द पुस्तक। मूल्य केवल २।।)

७२—**हमारे राष्ट्रपति।** कांग्रेस के पहले अधिवेशन से अवतक के तमाम सभापतियो के जीवन-परिचय सक्षेप मे इस पुस्तक मे दे दिये गये है। हिन्दी मे अपने विषय की यह उत्तम तथा एक-मात्र पुस्तक है। इसकी भूमिका श्री राजेन्द्र वावू ने लिखी है। सव सभापतियो के चित्रो के साथ, पृष्ठ सख्या ४०० मूल्य १)

७३—**मेरी कहानी।** प० जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा। हिन्दी अनुवाद और सपादन हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। इस पुस्तक के प्रकाशित होने से हिन्दी और अग्रेजी साहित्य मे एक जीवन पैदा हो गया है। वर्तमान समय की एक ही पुस्तक। वडे आकार मे, पृष्ठ—सख्या ७७५। सजिल्द मूल्य ४)

७४—**विश्व-इतिहास की झलक।** पण्डित जवाहरलालजी के अपनी पुत्री इदिरा के नाम लिखे पत्रो का सग्रह। इसमे १९६ पत्र है और इसमे उन्होने सारी

दुनिया का इतिहास बड़ी सरलता से बताया है। हिन्दी साहित्य का एक बेजोड़ ग्रन्थ। दो भागो मे। मूल्य ८)

७५—हमारे किसानों का सवाल। भूमिका लेखक पण्डित जवाहरलाल नेहरू। ले० डा० अहमद। इसमे हमारे गरीब किसानो के सवाल और उसके हल को बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। मूल्य केवल ।)

आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ

१—गांधीवाद समाजवाद—सम्पादक आचार्य काका कालेलकर।
२—विनाश या इलाज—ले० म्यूरियल लिस्टर।
३—गीता-मंथन—ले० किशोरलाल मशरूवाला।
४—राजनीति का परिचय—ले० हेराल्ड लास्की।
५—जब से अंग्रेज़ आये—ले० डॉ० अहमद।
६—महाभारत के पात्र (५ भागो मे)—ले० नानाभाई।
७—संतवाणी—वियोगी हरि।
८—गांधी साहित्य माला। (१५ भागो मे)
९—भारत का नया शासन-विधान।
(प्रांतीय स्वराज्य)—ले० हरिश्चन्द्र गोयल
१०—हमारे गाँवों की कहानी—ले० स्व० रामदास जी गौड।

———०———